जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत



No

प्रथम खंड

THE ACADE... OF SA... RESEARCH
KARNATAKA ...

प्रस्तोता

आचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्काचार्य पीठ

१२, महाजनी टोला

प्रयाग

ankurnagpal108@gmail.com

मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्री निम्बार्क पीठ
१२ महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : इक्यावन रुपये मात्र

51-00

6847

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय, इलाहाबाद

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकाशकोय:

भगवान श्री रामानुजाचार्य कृत श्री भाष्य की सानुवाद प्रस्तुति से हमें अपार हर्ष है। पूज्य चरण स्वामी ललित कृष्ण जी महाराज ने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ प्रसिद्ध चारो वैष्णव सम्प्रदाय के भाष्यों की व्याख्या सरल सुगम मार्मिक भाषा में प्रस्तुत की है। सं० २०२० में श्री निम्बार्काचार्य चरण प्रणीत वेदान्त पारिजात सौरभ और वेदान्त कामधेनु को हम सानुवाद, वृहद भूमिका सहित प्रकाशित कर चुके हैं, जो कि प्रादेशिक सरकार द्वारा पुरस्कृत भी है, उसका नव संस्करण तथा मध्व और वल्लभ संप्रदाय के पूर्णप्रज्ञ और अणुभाष्य भी हम इसके साथ प्रकाशित कर रहे हैं। समस्त वैष्ण समाज निश्चित ही इससे लाभान्वित होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आदरणीय पं० भगवानदत्त जी जोशी, श्रीमान नृसिंह दास जी बाँगर, बैकुण्ठवासी श्रीमान गजाधर जी सोमाणी, श्रीमान जयदयाल जी डालमिया, श्रीमान गंगाधर जी डालमिया आदि महानुभावों की सदभावना और आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है इसके लिए हम अत्यन्त आभारी हैं। कल्याण के सम्पादक पूज्य चिम्मन लाल जी गोस्वामी की आज्ञा से गीता प्रेस के प्रबन्धकों ने आचार्य चरण के चित्रपट भेजे हैं उसके लिये हम गोस्वामी जी को साभार नमन करते हैं।

श्री सम्प्रदाय के आचार्यों, विद्वानों और वैष्णवों का भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें पूर्ण सौहार्द प्राप्त हुआ है इस ग्रन्थ की गरिमा जगत् प्रसिद्ध है, इसके संबंध में कुछ लिखना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए असंभव है। विज्ञजन इसे अपनाकर हमें कृतार्थ करेंगे।

मकरसंक्रान्ति, २०३०

मुनि लाल
(भगवानदास मुन्नीलाल, बाँदा, उत्तर प्रदेश)

ankurnagpal108@gmail.com

ग्रन्थकार परिचिति:

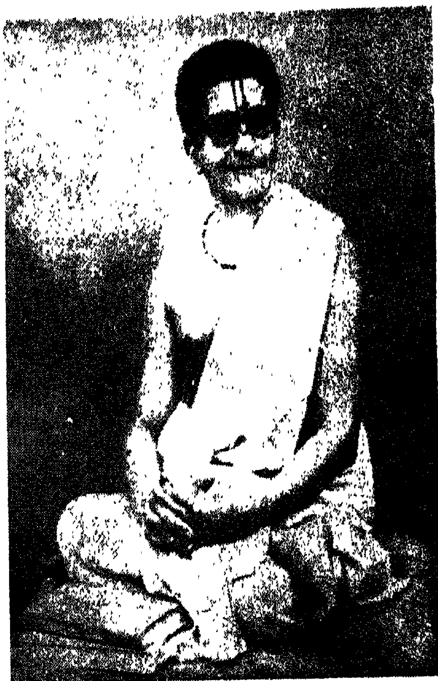
**श्री माधवाङ्घ्रि जलजद्वय नित्यसेवा प्रेमाविलाशय पराङ्कुश पादभक्तम् ।
कामादिदोषहरमात्मपदाश्रितानां रामानुजं यतिपतिं प्रणमामि मूर्ध्ना ।।**

सर्वत्र पूर्ण रूप से व्याप्त, तीनो कालो में विद्यमान तथा सब प्राणियो और पदार्थों के स्वरूपभूत ब्रह्म को जो महापुरुष पवित्र, एकाग्र वेदान्त सम्कार युक्त अन्त.करण से अभेद भाव से स्पष्ट अनुभव करते है वे महापुरुष ब्रह्म वेत्ता कहे जाते है । ऐसे ब्रह्मविद् महापुरुषो का अवतार इस पवित्र देव भूमि भारत मे समय समय पर होता रहता है श्री रामानुजाचार्य इसी श्रेणी के अन्यतम महापुरुष है । विक्रम सवत् १०७४ मे दक्षिण भारत मे भूतपुरी वर्त्तमान पेरम्बुदूरम स्थान पर श्री केशव जी सोमयाजी के घर माता कान्तिमता जी के गर्भ से मेष राशि के सूर्य और आर्द्रा नक्षत्र मे आचार्य चरण का प्रादुर्भाव हुआ । प्रसिद्धि है कि ससाराग्नि से प्रदीप्त जीवों के उद्धार के लिए भगवान विष्णु की आज्ञा से शेष जी ने ही आचार्य रूप से अवतार धारण किया था पिता की आज्ञा से यज्ञोपवीत के बाद आप काची मे यादव प्रकाश जी के पास विद्याध्ययन के लिए गए, आचार्य की कुशाग्र बुद्धि और शास्त्र विवेचन की अद्भूत शैली से यादव प्रकाश जी को अमर्ष होना स्वाभाविक था । आगे चल कर उसने वैमनस्य का रूप धारण किया । यादव प्रकाश जी ने आचार्य की हत्या करने का प्रयास किया, अन्तत श्री रामानुज गुरुकुल मे अधिक दिन नही ठहर सके । अल्पवय में ही माता की आज्ञा से इन्होने विवाह किया, किन्तु इनका गार्हस्थ्य जीवन भी कलहपूर्ण रहा । कटुभाषिणी स्त्री के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर आचार्य ने त्रिदण्ड सन्यास ग्रहण कर अपने को वैष्णव धर्म के प्रचार मे पूर्णतः अर्पित कर दिया । उन्ही दिनो श्रीरगम् में श्री यामुनाचार्य जी वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य मे लगे हुए थे, उन्होंने आचार्य रामानुज की प्रशस्ति श्रवण की और अपने शिष्य महापूर्ण स्वामी को आचार्य को काची से लिवा लाने के लिए भेजा, आचार्य भी श्री यामुनाचार्य जी से मिलने के लिए बहुत दिनो से उत्सुक थे, वे जब तक श्रीरगम पधारे तब तक दुर्भाग्य से यामुनाचार्य जी का परलोक हो गया अतः आचार्य ने महापूर्ण स्वामी से ही दीक्षा ग्रहण की । आचार्य की सन्यास दीक्षा गोष्ठीपूर्णस्वामी द्वारा हुई । यामुनाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना, दिल्ली के तत्कालीन शासको के महल से भगवान श्रीराम के श्री विग्रह का उद्धार और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने की प्रबल कामना की थी, आचार्य रामानुज ने इन तीनो को पूर्ण किया । भाष्य रचना के लिए वे अपने अभिन्न सहयोगी कूरेश स्वामी को लेकर काश्मीर पधारे, वहाँ उन्होने सरस्वती पीठ मे बोधायन वृत्ति देखी, कूरेश स्वामी ने प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ को कठस्थ कर लिया, उसी के आधार पर आचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य की रचना की जो कि श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे आज आपके समक्ष लोक भाषा विवर्त्त के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है । दिल्ली के शासकों से श्रीराम के श्रीविग्रह को सम्पत् कुमार कह कर आचार्य जी ने ग्रहण किया । आचर्य को एक हयग्रीव का विग्रह कश्मीर में भी प्राप्त हुआ था जिसकी आराधना से ही आचार्य को वाग्वैभव प्राप्त हुआ । आजकल यह विग्रह, मैसूर के परकाल मठ मे विराजमान है ।

ankurnagpal108@gmail.com



ankurnagpal108@gmail.com



स्वामी ललित कृष्ण जी महाराज

ankurnagpal108@gmail.com

श्री यामुनाचार्य को वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य में सबसे बड़ी कठिनाई चोल देश के राजा कुलतुङ्ग शैव की कट्टरता और बर्बरता थी, इसीलिए उन्हें श्रीरामानुज के सहयोग की अपेक्षा थी। आचार्य ने बड़े संघर्ष और धैर्य से उस बर्बर शासक का सामना किया। उसने श्री रामानुज को शासकीय अधिकार से दरबार में बुलाकर समाप्त करने का ही निश्चय कर लिया, किन्तु कूरेश स्वामी ने आचार्य को चुपचाप मसूर रवाना कर दिया और स्वयं दरबार में उपस्थित हो गए। उस क्रूर धर्मान्ध शासक ने कूरेश स्वामी की आँखें निकलवाली थीं। यह भारत के सांस्कृतिक समाज की लज्जास्पद घटना है जिसे वैष्णव समाज आज तक नहीं भुला पाता। अभी भी वैष्णवों का अन्तःकरण उक्त संकीर्ण विचार वाले उपासकों के प्रति क्षुब्ध है। आचार्य ने मैसूर के राजा वितस्तिदेव को प्रभावित कर वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया और उसके सहयोग से अपनी अभीष्ट सिद्धि की। १११८ ई० में कुलतुङ्ग की मृत्यु हो जाने के बाद आचाय पुनः श्री रंगम आ सके, वहाँ उन्होंने आलवार सन्त की मूर्तियों की स्थापना की। आचार्य के बढ़ते हुए प्रभाव से श्री रङ्गम के अर्चक भी आचार्य श्री से ईर्ष्या करते थे, एकबार उन्होंने आचार्य को समाप्त करने की भी योजना बनाई किन्तु अर्चक की पत्नी ने जो कि आचार्य की लीला से अभिभूत थीं आचार्य को आगाह कर दिया जिससे उनका षड्यंत्र विफल हो गया। आचार्य ने तिरुपति में गोविन्द राज की मूर्ति की स्थापना की। आचार्य चरण ने ७४ शिष्य बनाए। आचार्य श्री का जीवन अत्यन्त संघर्षमय था, दक्षिण भारत के प्रचलित शैव सम्प्रदाय से ही आचार्य को संघर्ष नहीं करना पड़ा अपितु पूर्व प्रचलित अन्यान्य वैष्णव मतावलम्बियों से भी उनका संघर्ष हुआ। जिसका आजतक अंशतः प्रभाव चला आ रहा है। आचार्य श्री रामानुज का सा संघर्षमय जीवन किन्हीं भी अन्य का नहीं था आचार्य श्री ने जो कार्य किया है वह वैष्णव सम्प्रदाय के ऐतिह्य में चिरस्मरणीय रहेगा, इनकी असीम कृपा से श्री वैष्णव सम्प्रदाय उपकृत है, अन्यथा दक्षिण भारत तो वैष्णवता विहीन हो जाता।

प्रयागस्थ श्री निम्बार्काचार्य पीठाधीश, जगद्गुरु स्वामी श्री राधाकृष्ण जी महाराज के बालक स्वामी ललित कृष्ण जी ने श्री भाष्य का हिन्दी रूपान्तर कर वैष्णव समाज के समक्ष श्लाघ्य आदर्श प्रस्तुत किया है। आशा है वैष्णवजन परम्परित तथा पारस्परिक कथितभेदभाव को अनादृत कर समादर पूर्वक इसको ग्रहण करेंगे। आचार्य ललित कृष्ण जी ने कई वर्ष पूर्व श्री निम्बार्काचार्य जी के भाष्य वेदान्त पारिजात सौरभ का भी लोकभाषा में रूपान्तर किया है। श्री बल्लभाचार्य के अणुभाष्य तथा श्री मध्वाचार्य के पूर्णप्रज्ञभाष्य के हिन्दी रूपान्तर भी इस भाष्य के साथ प्रकाशित हुए हैं। निश्चित ही समस्त वैष्णव सम्प्रदाय के लिए यह गौरव की बात है, ब्रह्मसूत्र के परम्परित वैष्णव भाष्यों को हिन्दी भाषियों के समक्ष प्रस्तुत कर जो स्तुत्य प्रयास किया है उसके लिए लेखक धन्यवादार्ह हैं।

श्री रामानुज जयन्ती सं० २०३०

गतश्रम नारायण मंदिर **रामानुज आचार्य**

विश्रान्त घाट

मथुरा

ankurnagpal108@gmail.com

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमते वेदान्त महादेशिकाय नमः

अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य स्वामी श्री राधाकृष्ण जं महाराज के बालक स्वामी श्री ललित कृष्ण जी महाराज ने श्री भाष्य का हिन्दी में विवर्त्त (अनुवाद) किया है, हमने इसको देखा है, अनुवाद में मूल का आशय स्पष्ट किया गया है। साम्प्रदायिक अर्थ परम्परा क भंग कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता।

सनातन भागवत धर्मरूपी एक ही बटवृक्ष की श्री निम्बार्क श्री रामानुज, श्री माध्व, श्री वल्लभ आदि अनेक शाखायें हैं, स: शाखाओं में जो व्यापक भावना है, इस अनुवाद में उसी का दर्शन हो रहा है। अनुवादक ने निम्बार्क सम्प्रदायी होते हुए भी श्री भाष्य क अनुवाद किया है यह भागवत धर्म की व्यापकता का ही दर्शन है। इस रे सब शाखाओं के वैष्णवों को समन्वय भाव का समादर करने की प्रेरण मिलती है।

हिन्दी में भगवान श्री रामानुजाचार्य जी के श्री सूक्तिस्नप अमृ के पान करने की अभिलाषा रखने वाले जनों को इससे आत्मतृप्ति मिलेगी। इसके लिए अनुवाद कर्त्ता धन्यवादार्ह हैं। इसका प्रचार स अधिकारियों में हो ऐसी हमारी कामना है।

अनिरुद्धाचार्य वेङ्कन्टाचार्य

(चाँदोद, बड़ौदा, गुजरात)

ankurnagpal108@gmail.com

प्रस्तावना :

नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे ॥

चेतनाचेतन विभागविशिष्ट ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादक सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। श्री यमुनाचार्य ने अपने ग्रन्थों में इसी सिद्धान्त को युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। इसी मत को आचार्य श्री रामानुज ने आगे बढ़ाया किन्तु आचार्य चरण के प्रतिपादन का आधार बोधायन टीका और श्री द्रविडाचार्य के भाष्य थे। वेदान्त सूत्रों के प्रथम भाष्यकार आचार्य द्रविड ही के सर्वमान्य सिद्धान्त को प्रायःस भी परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनाया है। आचार्य शकर माण्डूक्योपनिष्द् भाष्य में द्रविडाचार्य को 'आगमविद्' तथा वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य मे 'सम्प्रदाय विद्' कहते है। जहाँ कहीं भी आचार्य का उल्लेख किया है वहाँ सम्मानपूर्वक ही किया है। श्री यामुनाचार्य ने भी द्रविडाचार्य के भाष्य की महत्ता स्वीकार की है—वे सिद्धित्रय में लिखते हैं कि—"भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित गम्भीर भाष्यकृता" अर्थात् भाष्यकार आचार्य द्रविड ने जिस परिमित और गम्भीर शैली में वेदात सूत्रों का विवरण प्रस्तुत किया है लगता है भगवान बादरायण ने उसी अर्थ में सूत्रों की रचना की है। आचार्य रामानुज भी इस परिमित गम्भीर भाष्य को अपने भाष्य का उपजीव्य बतलाते हुए कहते हैं "पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण' इत्यादि आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में यत्रतत्र यथाह द्रविड भाष्यकारः कहकर उनके उपनिषद् भाष्यों के वाक्य भी उद्धृत किये हैं बल्लभ सम्प्रदाय में भी पूर्वाचार्य के रूप में श्री द्रविडाचार्य का स्मरण किया गया है। प्रसिद्ध सभी भाष्यों का आधार श्री द्रविडाचार्य कृत भाष्य ही है। प्रायः सभी आचार्यों ने मीमांसा को पूर्व, उत्तर दो भागों में स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य रामानुज, बोधायन टीका के आधार पर "अथातो धर्म जिज्ञासा" से लेकर "अनावृत्तिः शब्दात्" सूत्र तक बीस अध्यायों का एक ही वेदार्थ विचार करने वाला मीमांसा दर्शन मानते है। उनके मत से धर्म मीमांसा, देवमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा नामक तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड जैमिन का रचा हुआ है, जिसमें बारह अध्याय हैं। दूसरा काण्ड-काशकृत्स्नाचार्य-रचित है जिसमें चार-अध्याय हैं। तीसरा काण्ड बादरायणाचार्य रचित है, इसमें भी चार अध्याय है। इस संपूर्ण मीमांसा शास्त्र की वृत्ति बोधनाचार्य ने बनाई थी।

ankurnagpal108@gmail.com

आचार्य रामानुज ने पूर्व प्रचलित अद्वैतवाद को ही अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" आदि श्रुतिवाक्य ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। केवलाद्वैतवाद में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार की गई है, तद्भिन्न कुछ भी नही है। किन्तु रामानुज जी "बृहबृंहिवृद्धौ' धातु के साथ "मनिन्" प्रत्यय के संयोग से 'ब्रह्म' शब्द की निष्पत्ति करते है अतः वे एक में तीन का समावेश मानते है। इसके प्रमाण में वे "बृहतिबृंहयति इतितत्परं ब्रह्म" ऐसा रहस्याम्नाय ब्राह्मण वा तथा "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते" ऐसा विष्णुपुराण का वाक्य प्रस्तुत करते है। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ब्रह्म एक है जो स्वयं बृहत् होने और दूसरे को बृहत् करने में समर्थ है। ब्रह्म से अन्य पदार्थ भी हैं जो कि उसी के द्वारा बृहत् किए जाते हैं। रामानुजाचार्य जी का अद्वैत, परमात्मा का दो अन्य वस्तुओं से विशिष्ट एकत्व है। इस मत की पुष्टि के लिए आचार्य चरण ने भाष्य मे अनेक स्थलो पर अन्तर्यामी ब्राह्मण का यह वाक्य प्रस्तुत किया है—

"यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद, यः पृथिवीमन्तरो यमयति यस्यात्मा-शरीरं यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति" इत्यादि।

इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा, आत्मा और जड पदार्थ दोनों में है। वह चिन्मय, आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट है। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत कहा गया है। इस मान्यता का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि केवला-द्वैत वाद को जो एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य सिद्ध करने के लिए जगत को मिथ्या तथा ब्रह्म में अविद्या की कल्पना करनी पड़ी जिससे कि ब्रह्म अपने में विविध नाम रूपात्मक जगत को देखता है, वह थोथापन नही है। विशिष्टाद्वैत में एक ब्रह्म में जो तीन पदार्थों की समिष्ट है उससे उसे अद्वैत के लिए उक्त कल्पना करने की आवश्यकता नही पडी। इस मत में शास्त्र वाक्यो से निश्चित कर दिया गया है कि विश्व ब्रह्म में लीन है और ईश्वर विश्व में अन्तर्हित, अतः बिना मिथ्या कल्पना के ही ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य रामानुज भारतीय परम्परा के अनुरूप ही ब्रह्म को प्रमाणित करने में शब्द अर्थात् वेद को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। क्योंकि वेद सनातन हैं, प्रत्येक कल्प में इनकी उसी पदक्रम से आवृत्ति होती है, इनका कोई रचयिता नहीं है ये अपौरुषेय हैं, अतः मानव के मन बुद्धि में संभावित संशय विपर्यय आदि दोषों की इनमें संभावना नहीं है। ये स्वतः प्रमाण हैं इसलिए इनके स्वरूप के विपरीत किसी को कुछ भी निर्णय देने या किसी अंश को अप्रामाणिक कहने का

ankurnagpal108@gmail.com

कोई अधिकार नहीं है । यदि कोई भी बात वेदों में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के विपरीत प्रतीत होती है तो उसमें मनुष्य की समझ की ही कमी है उनकी कोई त्रुटि नहीं है । उन समस्याओं को मीमांसा शास्त्र ने सुलझाया है । वेदों मे प्रतीत होने वाले विरोधाभास का वास्तविक अभिप्राय मीमासा शास्त्र से ही ज्ञात होता है, हमें अपने भ्रम की निवृत्ति के लिए इसी के सहारे की आवश्यकता है । वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् ही वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है वे भी वैसे ही प्रमाण हैं । वेदान्त वाक्यों में तीन पदार्थों का स्पष्टतया उल्लेख है, जड पदार्थ अथवा जड़ प्रकृति जिसे प्रधान प्रकृति, माया या अविद्या कहते है । दूसरा चेतन आत्मा जो कि अणु प्रमाण है । तीसरा ईश्वर जो कि विभु और सर्वनियन्ता हैं तथा सत्य ज्ञान आनन्द आदि कल्याण गुणों से विशिष्ट है । ब्रह्म में ये तीनो पदार्थ एक साथ रहते है । प्रत्येक शरीर में हम देखते हैं कि उसमें रहने वाला एक चेतन आत्मा होता है ठीक उसी प्रकार ईश्वर आत्मा तथा ईश्वर और जड पदार्थ का भी संबध है । ब्रह्म और ईश्वर एक ही है । उक्त तीन पदार्थों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म का अद्वैत है । संसार में स्थावर और जगम दो प्रकार के जीव हैं । जंगम जीव अधिक प्राण शक्ति समन्वित हैं, स्थावर जीवों में प्राण शक्ति कम होती है । प्रत्येक सत् वस्तु उपर्युक्त अद्वैत में ही है । कोई भी जड पदार्थ आत्मा और ईश्वर बिना नहीं रह सकता । कोई भी आत्मा प्रकृति और ईश्वर के बिना नहीं रह सकता तथा ईश्वर भी प्रकृति और आत्मा के बिना नहीं रह सकता । उदाहरण के लिए मनुष्य ही को लें मनुष्य का अर्थ आपाततः शरीर ही होता है, अधिक विचार करने पर अर्थ होता है शरीर में रहने वाला आत्मा, वेदात का कथन है कि आत्मा जैसे शरीर का संचालन करता है वैसे ही ईश्वर आत्मा का नियन्त्रण करता है अतः ईश्वर प्रत्येक पदार्थ का अन्तर्यामी आत्मा है । इससे निश्चित होता है कि शरीर तथा शरीर को धारण पोषण करने वाला चैतन्य आत्मा तथा उस आत्मा को भी धारण पोषण और नियन्त्रण करने वाला ईश्वर, इन तीनों की समष्टि ही यथार्थ अद्वैत है । इस वेदात सिद्धान्त से परिणामवाद ही प्रमाणित होता है विवर्तवाद नही अर्थात् कारण ही कार्य बन जाता है । जैसे कि घट की कारण मृत्तिका और घट एक ही वस्तु है ऐसे ही ब्रह्म और जगत भी एक है । कारण के गुण ही कार्य के गुण हैं । यदि हमें इस संसार रूप कार्य में तीन पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं तो इसके कारण में भी तीनों का होना आवश्यक है । जब वेद कहते है कि ब्रह्म जगत के कारण हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि एक में तीन छिपे हैं और वे ही एक के अन्तर्गत तीन के रूप में प्रकट होते हैं । परिणामवाद वेद सम्मत है जैसे

ankurnagpal108@gmail.com

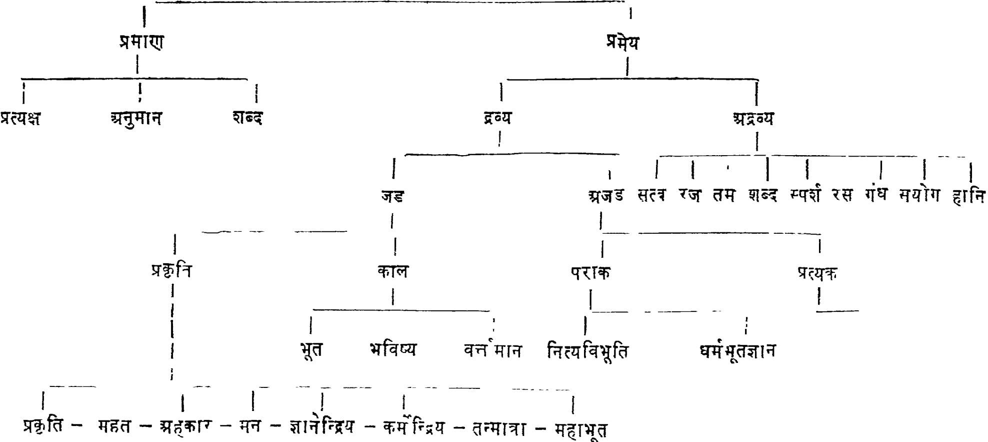
कि–"यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात भवति" इत्यादि।

ससार का कारण ससार के सदृश ही होना चाहिए यह स्वतः सिद्ध है। कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म समान है, कारण ही कार्य बन जाता है, अन्तर केवल इतना ही है कि कारण को हम योगजन्य ज्ञान से ही देख सकते है जब कि कार्य को इन नेत्रो से ही देखते हैं। कारणरूप ब्रह्म अव्यक्त जड प्रकृति अव्यक्त चेतन्य और ईश्वर इन तीनों की समष्टि है। यही अगोचर सूक्ष्म ब्रह्म कार्यरूप स्थूल ब्रह्म बन जाता है। अतः तत्त्वतः कारण और कार्य ब्रह्म में कोई भेद नही है।

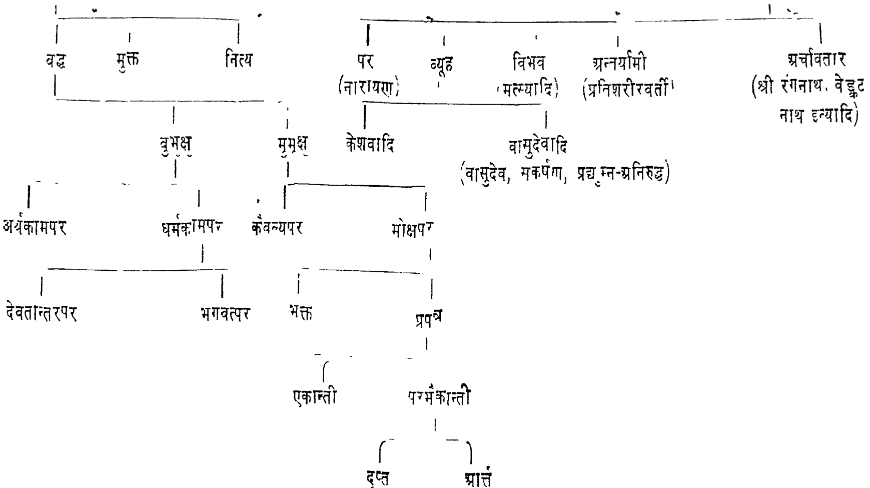
जड और चेतन शरीरी ब्रह्म मे ससारी पदार्थों की तरह "अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति" आदि परवर्त्तन नही होते, श्रुतियों में ब्रह्म को अविकार्य बतलाया गया है। जैसे कि बच्चा जन्म लेकर क्रमशः यौवन प्रौढ़ता और वार्धक्य को प्राप्त होता है किन्तु ये सारी अवस्थायें शरीर की ही होती हे आत्मा की नही वैसे ही कारण ब्रह्म जब कार्य रूप मे परिणत होता है तो उसमे भी विकार नही होता, प्रकृति बदलती है तथा आत्मा का ज्ञानस्वरूप बदल जाता है, यद्यपि वह तत्त्वतः सदा एक सा रहता हैं। ब्रह्म की विविध नामरूपात्मक जगद् रूप परिणति मे जो परिवर्तन होता भी है यह समस्त स्थूल शरीरो मे अनुप्रविष्ट होने की इच्छा से होती है अतः उसे किसी भी दृष्टि से विकार नही कह सकते। एकता ही ईश्वर का स्वरूप है, जड प्रकृति और चेतन आत्मा, उसका शरीर है अतः जगत सत्य है और अद्वैत भी सत्य है। ब्रह्माद्वैत का तात्पर्य है कि इसकी बराबरी का कोई नही है। संसार ब्रह्म से ओत-प्रोत है अतः ब्रह्माद्वैत कहने का यह तात्पर्य कदापि नही हो सकता कि जगत है ही नही। श्रुतियो मे इसी लिए अनेक स्थलो पर आत्मा और ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट उल्लेख है और एकता का भी। केवलाद्वैत मतानुसार अभेद प्रतिपादक श्रुति ही सही और प्रामाणिक है तथा भेद प्रतिपादक श्रुति काल्पनिक और मिथ्या हैं। किन्तु वैष्णव मतावलम्बियो के मत में दोनों ही प्रकार की श्रुतियाँ सही और प्रामाणिक हैं। इनका कथन है कि जैसे मनुष्य को एक कहते हुए भी आत्मा और शरीर के रूप में भिन्न माना जाता है वैसे ही ब्रह्म, जड प्रकृति और चेतन आत्मा से भिन्न होते हुए भी एक है। श्रीरामानुज के मत मे अभेद प्रतिपादक श्रुति एक में तीन का वर्णन करती है तथा भेद प्रतिपादक श्रुति तीनों का भिन्न-भिन्न वर्णन करती हैं। इस प्रकार दोनो ही प्रामाणिक हैं। इसी प्रकार सगुण और निर्गुण प्रतिपादक श्रुतियो का भी तात्पर्य है देखने मे तो ये परस्पर

ankurnagpal108@gmail.com

५ (ब)



ankurnagpal108@gmail.com



श्री रामानुज संप्रदाय में इस समय दो प्रकार से उपासना होती है एक प्रकार के लोग कर्मकाण्ड प्रधान वैधी भक्ति को महत्व देते है रे अनुरागात्मिका प्रपत्ति को ही प्रधान मानते है। इन दोनों को बन्दर और बिल्ली के बच्चों की उपमा दी जाती है, कार्मकाण्डी, बन्दर बच्चे की तरह स्वयं भगवान से चिपटने का प्रयास करते है जबकि प्रपन्न भक्त बिल्ली के बच्चे की तरह प्रभु के आश्रित रहते हैं प्रभु को ही की देखभाल करनी पड़ती है। ये बड़गल और तिंगल नाम से जाने जाते हैं। इनमें कतिपय प्रभेद हैं, वैसे ये है, एक ही। ये प्रभेद हैं ासना की दृष्टि से ही।

ankurnagpal108@gmail.com

विरुद्ध प्रतीत होता है किन्तु निर्गुणश्रुति का तात्पर्य है कि ब्रह्म में कोई प्राकृत गुण नहीं है सगुण श्रुति में सत्यसकल्प सत्यकाम आदि उन अलौकिक गुणों का उल्लेख है जो कि एकमात्र परमात्मा में ही है, जीव या जड़ में कदापि संभव नहीं है। श्रुतियों में कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि ब्रह्म में कोई अवगुण नहीं हैं अपितु अनेक कल्याण गुण हैं। श्रुतियों के उल्लेख्य निर्विकार आदि शब्द जगत के आदि कारण रूप ब्रह्म के ज्ञापक है "जीव ब्रह्म भिन्न है" जीव ब्रह्म एक है 'ब्रह्म निर्गुण है" ब्रह्म सगुण है "इत्यादि वाक्यों का संदर्भानुसार अलग-अलग अभिप्राय है। जहाँ एकता की बात है वहाँ जीव ब्रह्म और जीव प्रकृति में भेद है ये प्रकृति और जीव, ब्रह्म के शरीर से भिन्न कुछ और नहीं है इस कथन में वदतोव्याघात नहीं होता। यही विशिष्टाद्वैत का अभिप्राय है। इस मत के समर्थन में आचार्य रामानुज ने अनेक प्रकार से विचार किया है जो कि संक्षेप में इस प्रकार है।

आचार्य के मत में ब्रह्म जिज्ञासा का वही अधिकारी है जिसे कर्म और कर्मफल की अनित्यता का यथोचित ज्ञान हो चुका हो। उसे प्रथम शास्त्र चिन्तन करना होगा तभी उसे कर्मफल की अनित्यता का परिज्ञान हो सकेगा तभी उसे उससे मुक्त होने की अभिलाषा होगी तथा स्थिर फ़लावाप्ति की इच्छा के फलस्वरूप ब्रह्म की जिज्ञासा होगी। अविद्या की निवृत्ति ही वास्तविक प्रयोजन है। उपासना द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर ही अज्ञान से छुटकारा संभव है। मुक्त जीव ईश्वर के दास के रूप में ईश्वर की नित्यलीला में अपार आनन्द का उपभोग करता है। ध्यान और उपासना ही मुक्ति के साधन हैं, ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है. ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब बन्धन पारमार्थिक है तब इस प्रकार के ज्ञान से उसकी निवृत्ति कैसे संभव है। वेदन, ध्यान' उपासना आदि शब्द भक्ति के ही सूचक हैं। भक्ति, साधन और फल दो प्रकार की है।

जिज्ञास्य ब्रह्म, सगुण और सविशेष हैं उसकी शक्ति माया है। वह अशेष कल्याणकारी गुणों के आलय हैं उनमें हेयता नहीं है। सर्वेश्वरत्व सर्वशेषितत्व सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्तद्रव्य शरीरत्व आदि उनके लक्षण है। चिदचिच्छरीरत्व उनका मुख्य लक्षण है। समस्तचिदचिद् विशेष रूप में वे जगत के उपादान कारण हैं, संकल्प विशिष्ट रूप में निमित्त कारण है। भगवान नारायण, सृष्टिकर्त्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी है। पर, व्यूह, विभव अन्तर्यामी और अर्चावतार भेद से वे पाँच प्रकार के

ankurnagpal108@gmail.com

हैं। शंख चक्र गदा पदम्धारी चतुर्भुज, किरीटादि दिव्य आभूषणों से सुज्जित वे श्री, भू, लीला देवी सहित विराजते है। मत्स्य, कूर्म, सिंह, वराह, परशुराम श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण, और कल्कि उनके मुख्य अवतार है। इनमें भी मुख्य, गौण, पूर्ण, अंश आदि अनेक भेद है। भगवदवतार कर्म प्रयोजन से नहीं होते स्वेच्छा से होते है। दुष्कृतों का विनाश और साधुओं का परित्राण ही अवतार संबंधिनी इच्छा है।

जीव, ब्रह्म के ही समान चेतन है और ब्रह्म का शरीर है, किन्तु ब्रह्म विभु हैं जीव अणु है। ब्रह्म जीव में सजातीय विजातीय भेद नहीं हैं अपितु स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है, ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है। मुक्त जीव भी ईश्वर का दास है। जीव कार्य है, ईश्वर कारण है, दोनों ही स्वयं प्रकाश, चेतन ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप हैं। जीव देहेन्द्रिय मन प्राणादि से भिन्न है। जीव नित्य है उसका स्वरूप भी नित्य है। जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न है,। स्वाभाविक रूप में सुखी है किन्तु उपाधिवश उसे संसार भोग प्राप्त होते है।

भगवान के दासत्व की प्राप्ति ही जीव की मुक्ति है बैकुण्ठ में श्री, भू लीला सहित नारायण की सेवा करना ही परमपुरुषार्थ है। प्राकृत देह विच्युत हो जाने पर अप्राकृत देह से नारायण के समान भोग प्राप्त करना ही मुक्ति है। ब्रह्म के साथ अभिन्नता प्राप्त करना कदापि संभव नहीं है, क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य, नित्यदास, नित्य अणु है। मुक्त जीव में आठों गुणों का आविर्भाव होता है।

भगवान नारायण भूमा है उनके श्री चरणों में आत्म-समर्पण करने से ही जीव को वास्तविक शान्ति मिल सकती है। सर्वस्व निवेदन करने से ही प्रभु की कृपा प्राप्त हो सकती है तभी वे जीव का वरण करते हैं (अपनाते है) प्रभु के अनुकूल, आचरण करने का संकल्प, प्रतिकूल आचरण का वर्जन तथा सब विधियों का त्याग कर उनकी शरण होना ही समर्पण संन्यास या प्रपत्ति है। ऐसी प्रपत्ति या न्यासविद्या से भगवदावाप्ति होती है।

इस समय इस सम्प्रदाय में बड़गल और तिङ्गल दो मत दृष्टिगत होते है जो कि— वैष्णवों मे विवाद रूप से प्रचलित है। दोनों ही अपने को प्रथम का हो का दावा करते है और उस पक्ष में अपने प्रमाण प्रस्तुत करते है, किन्तु गंभीर दृष्टि से विचार करने पर और आचार्य चरण के सिद्धान्त का मनन भीर करने पर दोनों ही विचारधाराओं की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है,

ankurnagpal108@gmail.com

आचार्य चरण ने प्रपत्ति भक्ति की महत्ता के साथ पूर्व मीमांसा को भी जब उत्तर मीमांसा का ही अंग माना है तब कर्मकाण्ड की महत्ता भी तो उनको स्वीकृत थी, अतः दोनों ही धारायें प्राचीन है यह तो कालान्तर में तिलक धारण आदि कुछ परिवर्त्तनों के साथ दोनों ने अपने को पृथक करके विवाद प्रारम्भ कर दिया है। सही बात तो यह है कि वैष्णव संप्रदायों की नींव तो रागात्मिका भक्ति ही है उसी पर इनके प्रासाद खड़े हैं, आचार्य श्री रामानुज के प्रथम जितने भी आलवार सन्त हुए वे सभी गाढानुरागी थे आचार्य चरण उनसे पूर्णतः प्रभावित थे। कुमारिल आदि मीमांसकों के मत जब प्रबल हुए तो कर्मकाण्ड की अर्हता भक्तों को स्वीकारनी पड़ी। पंद्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में पूरे भारत में सभी वैष्णव संप्रदायों में पुनः उनकी असली प्रकृति उभड़ी और वे सारे के सारे प्रभु चरणों की गाढानुरक्ति में निमग्न हो गए अतः कर्मकाण्ड में शिथिलता आना स्वाभाविक ही था। भक्तिमार्ग तो समन्वयात्मक है उसमें सभी का निर्वाह सदा से होता रहा है इसलिए भगवान ने स्वयं ही श्रीमद्भगवत में उद्धव को उपदेश देते हुए भक्ति मार्ग के इस वैशिष्ट्य का स्पष्ट उल्लेख किया है—"न निर्विण्णः नातिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः" अर्थात् भक्ति योग उसी को लाभदायी होता है जो कि न तो एकदम ही कर्म का त्याग कर देता है और न एकदम ही कर्म में आसक्त हो जाता है। इस भगवदाज्ञा को मानकर पारम्परिक मतभेद को त्यागकर विनम्रतापूर्वक प्रभु कृपा प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए, यही भक्ति मार्ग की शोभा है विशिष्टाद्वैत तो माया को भी भगवान का ही अंग मानता है, तभी तो वह वास्तविक अद्वैत वादी होने का दावा करता है इसमें भेद भाव का अवसर ही नहीं है।

आचार्य चरण ने अपने सिद्धान्त और उपासना की पुष्टि के लिए लगभग पचास ग्रन्थों की रचना की है जो कि इस प्रकार हैं—

(१) श्री भाष्य (२) विशिष्टाद्वैत भाष्य (३) वेदान्त संग्रह (४) वेदान्त सार (५) वेदान्त दीप (६) वेदान्त तत्त्वसार (७) वेदार्थ संग्रह (८) गीताभाष्य (९) श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य (१०) मुण्डकोपनिषद् भाष्य (११) प्रश्नोपनिषद् भाष्य (१२) ईशोपनिषद् भाष्य (१३) विष्णु सहस्रनाम भाष्य (१४) न्यास परिशुद्धि (१५) न्याय सिद्धाञ्जन (१६) पाञ्चरात्र रक्षा (१७) योग सूत्र भाष्य (१८) मणि दर्पण (१९) रत्न प्रदीप (२०) न्याय रत्नमाला (२१) गुण रत्नकोष (२२) मति मानुष (२३) देवता पारम्य (२) चक्रोल्लास (२५) कूट संदोह (२६) वार्ता माला (२७) शत दूषणी (२८) गद्य त्रय (२९) शरणागति गद्य (३०)

ankurnagpal108@gmail.com

वैकुण्ठ गद्य (३१) विष्णु विग्रह (३२) संशन स्तोत्र (३३) पंच पटल (३४) अष्टादश रहस्य (३५) कण्टकोद्धार (३६) नित्य पद्धति (३७) नित्याराधन विधि (३८) नारायण मंत्रार्थ (३९) संकल्प सूर्योदय टीका (४०) सच्चरित्र रक्षा (४१) राम पटल (४२) राम पद्धति (४३) राम पूजा पद्धति (४४) राम रहस्य (४५) रामार्चापद्धति (४६) रामायण व्याख्या (४७) दिव्य सूरि प्रभाव दीपिका (४८) सर्वार्थ सिद्धि (४९) भगवदाराधन क्रम, इत्यादि।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य श्री ने ७२ वाक्यों का उपदेश भक्तों को दिया था किन्तु उनका पालन कलिकाल में असंभव मानकर आचार्य चरण ने ६ विशेष वाक्यों का उपदेश दिया जिनका सारांश इस प्रकार है—

(१) कर्मानुष्ठान को भगवत्कैङ्कर्य समझ कर करना चाहिए, और फलेच्छा रहित होकर भगवन्मन्त्र का जप करना चाहिए। श्री भाष्य को आदर से श्रवण-मनन करना चाहिए। इस भाष्य का लोक में प्रचार करने से ईश्वर कैङ्कर्य हो जाता है।

(२) यदि इसमें असमर्थ हों तो द्राविड ग्रन्थों का अहर्निश पाठ करना चाहिए।

(३) यदि यह भी न हो सके तो दिव्य देशों में भगवत्कैङ्कर्य करना चाहिए और भगवन्मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

(४) यदि यह भी न हो तो अर्थ के सहित निरन्तर मन्त्रद्वय का अनुसन्धान करना चाहिए।

(५) यदि इसमें भी गति न हो तो दिव्य देशों में कुटी बनाकर निरन्तर वास करना चाहिए।

(६) यदि ऐसा भी न कर सके तो, ज्ञान भक्ति वैराग्य युक्त शरणागति धर्म के मर्मज्ञ अहंकार ममता मुक्त भगवद् भक्तों के आश्रय में सदा रहना चाहिए'

यह सम्प्रदाय श्री (लक्ष्मी) के नाम से प्रसिद्ध है, इस सिद्धान्त की आद्या-चार्या श्री जी ही थीं। श्री पराशर व्यास पराङ्कुश, आदि इस सप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य है। कहा जाता है, आचार्य श्री रामानुज ने कांचीपूर्ण स्वामी से छः प्रश्न किये थे कि—परम तत्त्व क्या है ? सिद्धान्त क्या है ? मोक्ष के अनेक उपाय है परन्तु कौन सा सुलभ है ? अन्तिम कर्त्तव्य क्या है ? प्रपन्न का मोक्ष कब होगा ? मैं किन आचार्य से शिष्यता ग्रहण करूँ ? काचीपूर्ण स्वामी ने, भगवान वरदराज से इन प्रश्नों की जिज्ञासा की, भगवान ने आकाशवाणी द्वारा इनका उत्तर दिया कि—समस्त जगत का कारण मै नारायण ही परंतत्त्व । ईश्वर जीव का भेद ही सिद्धान्त है। शरणागति ही मोक्षोपाय है। अन्तकाल में यदि मेरे भक्त मेरा स्मरण न भी कर सकें तो भी उनकी मुक्ति होती है। प्रपन्न भक्त का मोक्ष व कर्त्ता मैं हूँ महापूर्णाचार्य की शिष्यता ग्रहण करो।

कहा जाता है कि श्री रामानुजाचार्य ने ७४ पीठों की स्थापना की थी। कालान्तर में श्री बरबर मुनि स्वामी ने ८ पीठों की स्थापना की। इन पीठस्थ आचार्यों और श्रीमन्तो के द्वारा ही इस सम्प्रदाय की श्रीवृद्धि हो रही है।

स्वामी ललित कृष्ण

ankurnagpal108@gmail.com

अवतरणिकाः

प्रथम अध्याय

(प्रथम पाद)

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्र की प्रधानता तथा सगुणवाक्य की अपेक्षा निर्गुण बोधक वाक्य की प्रधानता का समर्थन। "सत्यज्ञानमनन्तं" आदि पदों की निर्विशेष वस्तु मात्र बोधकता का निरूपण और लक्षणा वृत्ति विचार। सामानाधिकरण्य विचार। भेद प्रतीति की सत्यता का खण्डन। अनुभूति की सद्रूपता, स्वप्रकाशता, नित्यता, निर्विकारता, एकता और आत्मता का समर्थन। विषय विज्ञाता और व्यावहारिक "अहं" पदार्थ की अनात्मकता का विश्लेषण।

महा सिद्धान्त

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्र और प्रत्यक्ष के विरोध में शास्त्र की प्रधानता या प्रामाणिकता का खण्डन भेदवासना की दोषरूपता का निराकरण। असत्य या मिथ्या पदार्थ जन्य सत्य-ज्ञान की उत्पत्ति का खण्डन स्फोटवाद का निराकरण।

४. वेदांत वाक्यों की निर्विशेष वस्तुमात्र बोधकता खण्डन पूर्वक सविशेष वस्तु बोधकता का स्थापन। पराविद्या की सविशेष वस्तु बोधकता का समर्थन। "सत्यं ज्ञानमनन्तं" श्रुति के सत्य आदि पदों की अखंडार्थता में सामानाधिकरण की अनुपपत्ति का प्रदर्शन तथा सविशेपार्थकता का निरूपण। सगुण और निर्गुण बोधक श्रुतियों की भिन्न भिन्न विषयों की सार्थकता निरूपण पूर्वक विरोध का परिहार। ब्रह्म की ज्ञातृता एवं ज्ञेयता के निषेध का खण्डन। ब्रह्म की भेद प्रतिपादक एवं भेद निषेधिका श्रुतियों की स्वमतानुसार व्याख्या और अविरोध स्थापन। ब्रह्म के निर्विशेष भाव के प्रतिपादन में परपक्ष द्वारा प्रस्तुत श्रुति स्मृति वाक्यों का स्वमतानुसार सविशेष भाव से प्रतिपादन तथा उन वाक्यों की उपबृंहण विधि का निरूपण।
जीव और ब्रह्म के भेद उपपादन के लिए "द्वासुपर्णा" आदि श्रुति का निरूपण तथा मुक्तावस्था में भी दोनों की पृथकता का विवेचन।

५. अविद्या कल्पना में दोष प्रदर्शन:— (i) अविद्या की ब्रह्माश्रयता का निराकरण (ii) अविद्या द्वारा ब्रह्म तिरोभान की अनुपपत्ति (iii) अविद्या की दोष रूपता की अनुपपत्ति (iv) अविद्या की अनिर्वच-नीयता की अनुपपत्ति (v) तम या अन्धकार की द्रव्यता का समर्थन (vi) अज्ञान की भावरूपता का विवेचन (vii) अविद्या की भावरूपता के खण्डन

ankurnagpal108@gmail.com

के प्रसंग में अविद्या की प्रत्यक्ष विषयता की स्थापना अविद्याऽनुमान का खण्डन, अनिर्वचनीय ख्याति और असत्ख्याति आदि का दूषण ज्ञापन एव सत्ख्याति का समर्थन।
तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ निरूपण के प्रसंग में अभेदवाद तथा औपाधिक एवं स्वाभाविक भेदाभेद वाद में सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। मनुष्यादि शरीरों मे आत्म विशेषणता का समर्थन। चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं की ब्रह्म शरीरता एवं ब्रह्म की ही कार्य कारणात्मक अवस्था का प्रतिपादन। ब्रह्मतत्त्वविज्ञान मे अज्ञान निवृत्ति की अनुपपत्ति। सूत्रार्थ योजना और ब्रह्म विचार की व्यर्थता का संशय।

६. ब्रह्म विचार की आवश्यकता का प्रतिपादन, शब्द और अर्थ संबंधी प्रतीति के नियम का निरूपण, वेद की कार्यपरता के पक्ष मे भी ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता का प्रतिपादन। शब्द की कार्यपरता का खण्डन। "शेष" के लक्षण और विषय तथा कृत्युद्देश्यता एवं "नियोग" पर विचार। पृ० ४६–२२८

२ जन्माद्यधिकरण (सूत्र २)

१. सूत्रार्थ निरूपण, जगज्जन्मादि के लक्षण में आपत्ति, तथा विशेषण, विशेष्य भाव पर विचार।
२. [सिद्धान्त] ब्रह्म की जगज्जन्मादिलक्षणता का समर्थन, "सत्य-ज्ञान-अनन्त" शब्दों की व्याख्या
३. निर्विशेष ब्रह्मवाद में "ब्रह्मजिज्ञासा" और "जन्माद्यस्य यतः" इन सूत्रों की अनर्थकता का प्रदर्शन। पृ० २२८–३६

३ शास्त्र योनित्वधिकरण (सूत्र ३)

१. सूत्रार्थ निरूपण।
२. पूर्वपक्ष—ब्रह्म की शास्त्रयोनिता पर आपत्ति।

ankurnagpal108@gmail.com

३. उत्तरपक्ष—ब्रह्म के संबंध में प्रत्यक्ष की अविषयता एवं ब्रह्म की अनुमेयता का समर्थन।

४. [सिद्धान्त]—ब्रह्म की शास्त्रयोनिता का प्रतिपादन और अनुमेयता का खण्डन। पृ०२३६-५३

४ समन्वयाधिकरण (सूत्र ४)

१. सूत्रार्थ निरूपण, ब्रह्मबोधक वेदांत वाक्यों की व्यर्थता और ब्रह्म की शास्त्रप्रमाणकता पर संशय।

२. वेदांत वाक्यों की व्यर्थता का परिहार और नियोग विधि पर विचार मोक्ष की उत्पत्ति प्राप्ति आदि साध्य विलक्षणता का प्रतिपादन, शब्द आदि विधियों पर की गई शंका का परिहार तथा शब्द द्वारा अपरोक्ष ज्ञानोत्पत्ति का समर्थन।

३. जीवन्मुक्ति सिद्धान्त का खण्डन। मोक्ष की ध्यान नियोग साध्यता का समर्थन।

४. भेदाभेदवाद का निराकरण, जीवब्रह्म के स्वाभाविक अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन।

५. [सिद्धान्त]—ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता, और सिद्ध वस्तु प्रतिपादन में शब्द शक्ति का समर्थन। —पृ०२५३—६२

५ ईक्षत्यधिकरण (सूत्र ५-१२)

१. सांख्योक्त प्रधान की जगत् कारण अनर्हता ज्ञापन, प्रधान की जगत्कारणता पर संशय और समर्थन, प्रधान की अशब्दता का प्रतिपादन और जगत् कारणता का खण्डन।

२. ईक्षणश्रुति की गौणार्थता की कल्पना करते हुए, प्रधान में ईक्षणता की संभावना, तथा उसकी ईक्षणता का निराकरण।

३. प्रधान की सत्शब्द प्रतिपादकता का खण्डन।

ankurnagpal108@gmail.com

४. हेयता वचन के अभाव हेतुक प्रधान की सन् शब्द प्रतिपादकता का निराकरण। प्रधान की सत् शब्द वाच्यता के समर्थन में प्रतिज्ञा विरोध का निर्देश। जीव की सुषुप्तावस्था में प्राप्त सत् स्वरूपता के आधार पर, प्रधान के लिए प्रयुक्त सत् शब्दकता का खण्डन।

५. समस्त वेदांत वाक्यों की ब्रह्मकारणावगति के आधार पर प्रधान की जगतकारणता का निराकरण एवं ब्रह्म की जगत् कारणता का प्रतिपादन। सत्य संकल्प आदि श्रुति के आधार पर सगुणब्रह्म की जगत्कारणता का उपपादन तथा निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मवाद का खण्डन। —पृ०२९२—३०६

६ आनन्दमयाधिकरण (सूत्र १३-२०)

१. अधिकरण की भूमिका।

२. वेदात वाक्योक्त "आनन्दमय" शब्दार्थ के सम्बन्ध में संशय एवं उसकी जीवार्थता की कल्पना, शाखाचन्द्र आदि दृष्टान्त से आनन्दमय के जीवत्व का प्रतिपादन। शंकर सम्मत 'पुच्छ ब्रह्म' श्रुति पर विचार।

३. [सिद्धान्त]—आनन्दमय की परब्रह्मता का निरूपण तथा उसके जीवत्व पक्ष का निरसन।
परब्रह्म के जीवभाव और जगत्कारणभाव के मिथ्यात्व का निराकरण। तत्त्वमसि आदि वाक्यों में लक्षणा तथा उनके औपलक्ष्य समानाधिकरण्य पर विचार, प्रासंगिक रूप से जैमिनीय "अरुणाधिकरणन्याय" से सूत्र का उपसंहार।

४. मयट् प्रत्यय के विकारार्थ का निराकरण तथा प्राचुर्यार्थ का समर्थन। आनन्द हेतुता से परमात्मा की आनन्दमयता तथा मांत्रवर्णिक हेतुता से आनन्दमय की परमात्मकता का समर्थन।

ankurnagpal108@gmail.com

५. बद्ध, मुक्त आदि अवस्थाओं वाले जीव की आनन्दमयता से अनुपपत्ति तथा आनन्दमय से उसका भेद दिग्दर्शन। सृष्टि विषयक संकल्प वाले सृष्टा का आनन्दमय के रूप में समर्थन और उसी हेतु से जीवात्मा की पृथकता का प्रतिपादन। आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति से जीव के आनन्दी होने के आधार पर जीव की भिन्नता का उपपादन। —पृ३०६-५४

७ अन्तराधिकरण (सूत्र २१—२२)

१. पूर्वपक्ष—आदित्य मण्डलस्थ और नेत्रस्थ पुरुष की जीवभाव और देवभाव आदि रूपों में संभावना।

२. (सिद्धान्त)—आदित्य और नेत्रमध्यवर्ती पुरुष की परब्रह्मता की उपस्थापना। परब्रह्म की सगुणता तथा भक्तानुग्रह से विचित्र जगदाकार के रूप में आविर्भावता का वर्णन। भेदोक्ति के आधार पर अक्षि और आदित्यपुरुष की जीव से पृथकता का विवेचन। —पृ०३५४-६३

८ आकाशाधिकरण (सूत्र २३)

१. पूर्वपक्ष—आकाश शब्द की भूताकाश रूपक शंका।

२. (सिद्धान्त) आकाश शब्द की परब्रह्मता का प्रतिपादन। —पृ०३६३-७०

९ प्राणाधिकरण (सूत्र २४)

आकाश के दृष्टान्त से प्राण शब्द की परमार्थता का निरूपण। —पृ०३७०-७१

१० ज्योतिरधिकरण (सूत्र २५—२८)

१. ज्योति शब्द की आदित्य आदि अर्थों में शंका।

२. (सिद्धान्त) ज्योति शब्द की परब्रह्मता का उपपादन। गायत्री छन्दोल्लेख्य ज्योति शब्द की अब्रह्मता की शंका का निरास। भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय

ankurnagpal108@gmail.com

आदि गायत्री के चार रूपों का निरूपण तथा गायत्री का ब्रह्म के रूप में उपपादन। सप्तमी एवं पंचमी विभक्ति से निर्दिष्ट ज्योति शब्द की अब्रह्मार्थता का निरास। —पृ० ३७१-७६

११. ऐन्द्रप्राणाधिकरण (सूत्र २६-३२)

१. ऐन्द्र प्रोक्त "प्राण" शब्द की जीवादि अर्थ में शंका तथा परमात्मार्थ रूप से उसका समाधान।

२ जीवार्थ रूप से पुनः शंका तथा प्राण की अध्यात्म उपदेश के रूप से बहुल चर्चा होने से उसकी ब्रह्म रूपता का सुदृढ़ उपपादन।

३. शास्त्रलब्ध ज्ञान के अनुसार ऐन्द्र कृत उपदेश की परमात्मपरता का समर्थन। प्राण शब्द की मुख्य प्राणार्थ रूप से की गई शंका का सतर्क समाधान। —पृ० ३७६ ८५

(द्वितीय पाद)

विषय, भूमिका, प्रथम पाद से संबंध, प्रथम पाद के विषय का संक्षिप्त विवरण, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के वक्तव्य विषयों की पूर्व पीठिका। —पृ० ३८५-८६

१ प्रसिद्ध्यधिकरण (सूत्र १-८)

१. पूर्वपक्ष—श्रुत्युक्त मनोमयादि विशिष्ट पदार्थ की जीवता तथा ब्रह्म शब्द की जीवार्थता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—मनोमयादि शब्द और ब्रह्म शब्द की परब्रह्मार्थता का निरूपण। मनोमयादि वाक्योक्त गुणराशि का ब्रह्म संबधी उपपादन। जीव कर्त्तृता और कर्मता का विरोध, ब्रह्म संबंधी अनुकूल शब्द विशेष तथा स्मृति प्रमाणों का प्रदर्शन। हृदय में ब्रह्म की स्थिति का प्रतिपादन तथा हृदयस्थ ब्रह्म की संभाव्य भोग प्रसक्ति का प्रत्याख्यान। —पृ० ३८६-४०५

२. अत्ताधिकरण (सूत्र ९-१२)

१. ब्राह्मण आदि समस्त की जीवता का समर्थन, सर्व-भोक्ता हेतुक उनकी ब्रह्मता का प्रतिपादन।

ankurnagpal108@gmail.com

२. कर्म फलोल्लेख होने से भोक्ता की ब्रह्मता में संशय गुहा प्रविष्ट आत्माओं की जीवता और ब्रह्मता का समर्थन कठोपनिषद् के वाक्यों की पर्यालोचना द्वारा ब्रह्म पक्ष का समर्थन। —पृ०४०५-१४

३. अन्तराधिकरण (सूत्र १३-१८)

१. पूर्वपक्ष—नेत्र पुरुष की जीवता का अनुमोदन।
२. (सिद्धान्त)अक्षि पुरुष की परमात्मकता का निरूपण। जगत की स्थिति परिचालन आदि के आधार पर अक्षि पुरुष की परमात्मकता का उपपादन। "कं खं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति कथित सुखविशिष्टाभिधान के अनुसार परमात्मा का निर्धारण। उपकोशल उपाख्यान वर्णित मुक्ति संवाद द्वारा परमात्मा का उपपादन। नियति, स्थिति और तदसंभवता हेतु से छायात्मा और जीवात्मा की अक्षि पुरुषता का प्रतिषेध। —पृ०४१४-२४

४. अन्तर्याम्यधिकरण (सूत्र १९-२१)

१. पूर्वपक्ष—अन्तर्यामी शब्द का पृथ्वी आदि की अधिष्ठात्री देवता के अर्थ में समर्थन।
२. (सिद्धान्त)—अन्तर्यामी शब्द की ब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन अन्तर्यामी शब्द से सांख्योक्त प्रधान और जीव के अर्थ के संशय का समाधान। काण्व और माध्यन्दिन शाखीय पाठ के अनुसार जीव और अन्तर्यामी का भेद प्रदर्शन। —पृ०४२४-३१

५. अदृश्यत्वाधिकरण (सूत्र २२-२४)

१. पूर्वपक्ष—शास्त्रोक्त अदृश्यत्व आदि गुण युक्त पदार्थ की जीवता या प्रधानता के विषय में विचार।
२. (सिद्धान्त)—अदृश्यतादि गुण सम्पन्न पदार्थ की ब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन।

ankurnagpal108@gmail.com

एक विज्ञान से सर्वं विज्ञान रूप विशिष्ट फल निधान तथा जीव की अपेक्षा श्रेष्ठत्वाभिधान के आधार पर अन्तर्यामी शब्द की जीव और प्रधानार्थकता का निराकरण।

३. परापरा भेद से द्विविध विद्या का निरूपण। ब्रह्म प्राप्ति के उपाय भूत अपरोक्ष ज्ञान की भक्तिरूपता का प्रतिपादन तथा अंगहीन और अयथानुष्ठित कर्म की निष्फलता ज्ञापन। —पृ०४३१-४०

६. वैश्वानराधिकरण (सूत्र २५-३३)

१. पूर्वपक्षः—वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि, भूताग्नि और देवता अर्थ की संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त) परमात्मा के विशेषधर्मों के आधार पर वैश्वानर की परमात्मकता का प्रतिपादन। अग्निमूर्धा इत्यादि के निर्देश से वैश्वानर की परमात्मकता का निरूपण। पूर्व सूत्रीय युक्ति से देवता और भूताग्नि की वैश्वानरता का खण्डन। वैश्वानर की ब्रह्मता का जैमिनि के मतानुसार अविरोध और उपपत्ति। आश्मरथ्य और बादरि आचार्यों के मत से अविरोध का उपपादन जैमिनि मतानुसार वैश्वानर उपासना तथा उपासक के देह में उपास्य का विवेचन। —पृ०४४०-५५

(तृतीय पाद)

१. द्युभ्वाद्यधिकरण (सूत्र १-६)

१. पूर्वपक्ष—द्यु भूलोक आदि के आश्रय के रूप में अभिहित पदार्थ की जीवता की संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त)—लोकाभिहित पदार्थ की परमात्मकता की, उपस्थापना, भेद निदश हेतुक जीवता का खण्डन, प्रकरणानुसार ब्रह्मार्थकता का समर्थन। —पृ०४५६-६१

२. भूमाधिकरण (सूत्र ७-८)

१. भूमा शब्द की व्याख्या

ankurnagpal108@gmail.com

२. पूर्वपक्ष---भूमा की जीवता का संशय

३- (सिद्धान्त)–भूमा की परमात्मकता का निरूपण तथा उसकी सुखरूपता आदि विशिष्ट गुणों का उपपादन। —पृ०४६२–७७

३. अक्षराधिकरण (सूत्र ६-११)

१. पूर्वपक्ष---वेदोक्त अक्षर शब्द की प्रधान, जीव और पर ब्रह्म अर्थों में अभिशंका उत्थापन पूर्वक प्रधान और जीव के अर्थ में संभावना का संशय।

२. (सिद्धान्त) सर्व जगत् विधारकता, सर्वशास्ता और अच्युतत्व के आधार पर अक्षर तत्त्व की परब्रह्मार्थकता का प्रतिपादन। —पृ०४७७–८३

४. ईक्षति कर्माधिकरण (सूत्र १२)

१. त्रैमात्रिक प्रणवोपासना की प्रतिपादक श्रुति के अर्थ का विवेचन। उपास्य"पर पुरुष"की जीवार्थकता का निरास, ईक्षणीय "पर पुरुष" की ब्रह्मात्मकता का प्रतिपादन। —पृ०४८३–८७

५. दहराधिकरण (सूत्र १३-२२)

१. पूर्वपक्ष---"दहराकाश" की जीवात्मकता और भूताकाशता का संशय।

२. (सिद्धान्त) सत्यकामता आदि विशिष्ट गुणों के आधार पर दहर की परब्रह्मता का निरूपण।

३. सुषुप्ति में जीवों की दहराकाश गति की प्रकाशिका श्रुति, दहर के लिए प्रयुक्त ब्रह्मलोक शब्द के उल्लेख तथा दहरके ब्रह्म संबधीय गुणों के आधार पर उसकी परमात्मकता का समाधान।

४. गति श्रुति के अन्यार्थ का निरूपण। विश्वधारण महिमा, अपहतपाप्मता आदि विशिष्ट गुण, के अनुसार दहर की ब्रह्मात्मकता का उपपादन।

५. दहर की जीवताविषयक संभावना का समाधान जीव की अविद्या रहित अवस्था के प्रदर्शन के निमित्त

ankurnagpal108@gmail.com

दहृर की जीवोल्लेखना का निरूपण। अल्पत्व श्रुति के आधार पर अब्रह्मभाव संबन्धी शंका का समाधान। दहृर के अनुरूप अवस्था वाले जीव को ही दहृर स्वीकारने का निराकरण तथा स्मृत्यानुसार भी दहृर की ब्रह्मरूपकता का निरूपण। —पृ०४८७–५०६

६. प्रमिताधिकरण [सूत्र २३-४१]

१. पूर्वपक्ष——अंगुष्ठ परिमित पुरुष की जीवात्मकता और परमात्मकता के विचार में जीवात्मकता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)——अंगुष्ठ परिमित पुरुष की परमात्मकता का उपस्थापन तथा मानव हृदय के परिमाणानुसार पुरुष की अंगुष्ठ परिमिति की सिद्धि। —पृ०५०६–९

१. प्रासंगिक देवताधिकरण [सूत्र २५-२९]

१. पूर्वपक्ष——मनुष्य भिन्न जीवों का उपासना में अनधिकार प्रदर्शन।

२, (सिद्धान्त)——मनुष्येतर देवतादिकों के उपासनाधिकार का प्रतिपादन तथा उनकी शरीरता का समर्थन। देवताओं की शरीरता स्वीकारने में, अनेकों यज्ञों में उनकी युगपद उपस्थिति की असंभावना का निराकरण तथा वैदिक शब्द के विरोध का परिहार। देवादिसृष्टि की शब्द पूर्वकता का प्रतिपादन तथा मंत्रमय वेद की नित्यता का समर्थन। प्रत्येक प्रलय के अन्त में समानाकार सृष्टि का समर्थन। —पृ०५०९–२१

(ii) प्रासंगिक मध्वधिकरण (सूत्र ३०-३२)

१. पूर्वपक्ष—मधु आदि विद्याओं में, वसु आदि देवताओं के उपासना अधिकार के असंभव होने से जैमिनी के मतानुसार उपासना में देवताओं के अनधिकार का विवेचन। ज्योतिर्मय ब्रह्मोपासना मात्र में अधिकार का ज्ञापन।

ankurnagpal108@gmail.com

२. (सिद्धान्त)—बादरायण के मतानुसार देवताओं के उपासनाधिकार का प्रतिपादन। —पृ० ५२१–२५

(iii) प्रासंगिक अपशूद्राधिकरण (३३-३९)

१. पूर्वपक्ष—ब्रह्मविद्या में शूद्रों के अधिकार का समर्थन

२. (सिद्धान्त)—ब्रह्म विद्या में शूद्रों के अनधिकार का उपस्थापन. ब्रह्म विद्यार्थी जानश्रुति की क्षत्रियता का प्रतिपादन चित्ररथ वंशीय राजा अभिप्रतारी के साहचर्य निर्देश से जानश्रुति की क्षत्रियता की पुष्टि। ब्रह्मविद्या में उपनयन अपेक्षित होने से शूद्रों के वेद श्रवण, अध्ययन और अधिकार रहित होने की पुष्टि। स्मृति प्रमाणों से भी अनधिकार का समर्थन। निर्विशेष ब्रह्मवादी मत से शूद्र के अनधिकार की अनुपपत्ति। अधिकरण की परिसमाप्ति—ज्योति शब्द से उल्लेख परिमित पुरुष की परब्रह्मता का प्रतिपादन तथा अन्य संभावना का निरास। —पृ० ५२५–४३

७ अर्थान्तरत्वधिकरण (सूत्र ४२-४४)

१. पूर्वपक्ष—नामरूप निर्वाहक आकाश शब्दोक्त आत्मा में मुक्तात्मा और परमात्मा की संभावना की तुलना में मुक्तात्मा का समर्थन।

२ (सिद्धान्त)—सुषुप्ति और उत्क्रमण काल में आकाश और जीव के स्पष्ट भेद उल्लेख होने से तथा आकाश के लिए प्रयुक्त पति शब्द के प्रयोग से आकाश की परमात्मकता की पुष्टि। —पृ० ५४३–४६

(चतुर्थपाद)

१. आनुमानिकाधिकरण (सूत्र १-७)

१. पूर्वपक्ष—कठोपनिद् के "महतः परमव्यक्तम्" मंत्र के आधार पर सांख्य परिकल्पित प्रधान की जगत्कारणता की कल्पना।

ankurnagpal108@gmail.com

२. (सिद्धान्त)—अव्यक्त शब्द से रथरूप से परिकल्पित शरीर के निर्देश से, अव्यक्त शब्द की सूक्ष्म शरीरता का समर्थन तथा रथरूपक की सार्थकता का विवेचन ज्ञेयता के अभाव में प्रधान का निराकरण। प्रधान मे ज्ञेयता की सभावना का खडन करते हुए प्राज्ञ आत्मा की ज्ञेयता की पुष्टि। परम पुरुष, उसके उपासक तथा उपासना प्रणाली संबन्धी प्रश्नोत्तरों का उल्लेख। महत् शब्द के दृटान्त से सांख्योक्त प्रधान की सभावना का निराकरण। —पृ०५५०-६५

२ चमसाधिकरण सूत्र (८ १०)

१. पूर्वपक्ष—वेदोक्त अजा शब्द की सांख्योक्त प्रधानार्थता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—चमस दृष्टान्त से प्रधान के अपरिग्रह का निरूपण। ब्रह्मोत्पन्न अजा ग्रहण के हेतु तथा आदित्य की मधुत्व कल्पना के समान, ब्रह्मकारणिका प्रकृति की अजत्व कल्पना की संगति का प्रदर्शन। अजा शब्द की शांकर मतोक्त तेज, जल और अन्नार्थ प्रतिपादकता का निराकरण। —पृ०५६५-७६

३. संख्योपसंग्रहाधिकरण सूत्र (११-१३)

१. पूर्वपक्ष—"पंच पंचजना." श्रुति से सांख्योक्त प्रधान के पचीस तत्त्वों की परिकल्पना।

२. (सिद्धान्त) श्रौत और सांख्य के पच्चीस तत्त्वों की नितान्त भिन्नता से उक्त मत का निराकरण। पंचजन शब्द से प्राण आदि पांच का तथा काण्व शाखा के अनुसार ज्योति शब्द से विषय प्रकाशिका इन्द्रियों की पच सख्या का निरूपण! —पृ०५७६-८२

४. कारणत्वाधिकरण सूत्र (१४-१५)

१. पूर्वपक्ष—"तदैक्षत" श्रुति की प्रधान कारणपरता का समर्थन।

२. (सिद्धान्त)—आकाश आदि की कारणता के रूप से अवधारित, परब्रह्म की जगत्कारणता का समर्थन

ankurnagpal108@gmail.com

ankurnagpal108@gmail.com

द्वितीय अध्याय

(प्रथम पाद)

१. स्मृत्यधिकरण (सूत्र १—२)

सांख्य आदिदर्शनों से ब्रह्मैक कारणतावादी वेदांत का विरोध प्रदर्शन मनु आदि स्मृतियों की सहायता से ब्रह्मकारणतावाद की निर्दोषता का समर्थन। सर्वज्ञ मनु आदि से अनुमोदित न होने से सांख्योक्त तत्त्वों की अप्रमाणिकता का निरूपण। —पृ० ६३६—४४

२. योग प्रत्युक्ति अधिकरण [सूत्र ३]

योग साधना से अतिरिक्त सिद्धान्त विषय में पातञ्जल दर्शन की अप्रामाणिकता का निरूपण। —पृ० ६४४—४५

३. विलक्षणत्वाधिकरण [सूत्र ४—१२]

१. पूर्वपक्ष-विलक्षणताहेतुक अचेतन जगत की चेतन ब्रह्मोपादानकता का प्रतिषेध तथा पृथिव्यादि के चेतनाधिष्ठान का प्रतिपादन।

२. (सिद्धान्त)—दृष्टान्त और युक्ति द्वारा विलक्षण दो पदार्थों के कार्य कारणभाव का समर्थन। उत्पत्ति के पूर्व भी ब्रह्म में जगत् की विद्यमानता का प्रतिपादन। प्रलयकाल में विलीन जगत के दोषों से ब्रह्म कलुषता की संभावना की शंका का दृष्टांत द्वारा समाधान। पृ० ६४५—६४

४. शिष्ट परिग्रहाधिकरण [सूत्र १३]

सांख्य स्मृति की तरह, वेदबाह्य सभी स्मृतियों की अप्रमाणिकता का निरूपण। पृ० ६६४—६५

५ भोक्तापत्त्याधिकरण [सूत्र १४]

चेतन अचेतन शरीरधारी ब्रह्म में भी जीव के समान भोग प्राप्ति की कल्पना का निराकरण। पृ० ६६५—६६

ankurnagpal108@gmail.com

६ आरम्भणाधिकरण [सूत्र १५-२०]

१. असद्कार्यवादी कणाद आदि के मतों का दिग्दर्शन स्वमतानुसार कार्य कारण के अभेद का समर्थन। शंकरादि सम्मत जीव ब्रह्मादि विषयक सिद्धान्त का दिग्दर्शन शकरादिमतों का निराकरण। अपने मत और सिद्धान्त का उपसंहार।

२. कार्माधीन करणोपलब्धि के आधार पर कार्य कारण की अभिन्नता का समर्थन। वेदोक्त "असत्" शब्द के अर्थान्तर का विवेचन। कार्य कारण के अभेद में पटादि के दृष्टान्त का प्रदर्शन। एक ही वायु के प्राण अपान आदि भेद के दृष्टान्त से एक ही ब्रह्म की विचित्र जगद्कारणता का उपपादन। —पृ० ६६९–७२४,

७. इतरव्यपदेशाधिकरण (सूत्र २१–२३)

१. पूर्वपक्ष—जीव और ब्रह्म की एकता के मत में, सर्वज्ञ ब्रह्म ने अपने लिए अहितकर दुःखमय जगत रचना की, इस असंगति की आशंका।

२. (सिद्धान्त)—श्रुति स्मृति पुराणों के आधार पर जीव ब्रह्म के भेद का उपपादन। जड़ और जीव की ब्रह्मभावानुपपत्ति का प्रदर्शन। स्थूल-सूक्ष्म, चेतनाचेतन शारीरक ब्रह्म की कारण और कार्यावस्था का निरूपण। पाषाण आदि के द्रष्टान्त से उसकी पुष्टि। अविद्या के हेतु से जीव, ब्रह्म के विभागवादी मत का खण्डन। —पृ० ७२४–३०,

८. उपसंहार दर्शनाधिकरण (सूत्र २४–२५)

१. पूर्वपक्ष—साधन निरपेक्ष ब्रह्म की जगत्कर्तृत्वानुपपत्ति का दिग्दर्शन।

२. (सिद्धान्त)—क्षीर जल आदि के द्रष्टान्त से साधन निरपेक्ष ब्रह्म की कर्तृता का प्रतिपादन। —पृ० ७३०–३३,

ankurnagpal108@gmail.com

९. कृत्स्न प्रसक्ति अधिकरण (सूत्र २६–३१)

१. पूर्वपक्ष—निरवयव ब्रह्म के सर्वांश की जगदाकार परिणति की संभावना में संशय तथा उसकी निराकारता स्वीकारने में आपत्ति।

२. (सिद्धान्त)—ब्रह्म की निराकारता के होते हुए भी शास्त्रानुसार असंपूर्ण परिणाम का समर्थन। ब्रह्मनिष्ठ शक्ति वैचित्र्य के आधार पर परिणाम वैचित्र्य का उपपादन। त्रिगुणात्मिका प्रकृति कारणतावादी सांख्यमत में दोष प्रसक्ति परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता बोधक श्रुति का दिग्दर्शन उपयुक्त साधनों के अभाव में भी ब्रह्म की सर्वकारणता का पुष्टि पुष्ट समाधान। —पृ० ७३३–३८

१०. प्रयोजनवत्वाधिकरण (सूत्र ३२-३६)

१. निष्प्रयोजन सृष्टि कार्य में पूर्ण काम ब्रह्म की अप्रवृत्ति का समर्थन। ब्रह्म कृत जागतिक सृष्टि की लीलारूपता का वर्णन।

२. सृष्टि कार्य में ब्रह्म की विषम दर्शिता और निर्दयता की शंका। जीव के कर्मानुसार जगत् सृष्टि वैचित्र्य के सिद्धान्त से ब्रह्म प्रसक्त वैषम्य और नैघृण्य दोषों का परिहार। सृष्टि के आदि में कर्माभाव की शंका। सृष्टि की अनादिता के हेतु से कर्म के सद्भाव का प्रतिपादन। ब्रह्म सृष्टि की अनादिता के हेतु से कर्म के कारणत्वोपपादक धर्म सद्भाव का निरूपण। —पृ० ७३८–४३,

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्यधिकरण (सूत्र १-९)

१. सांख्यमत तत्त्व वर्णन और प्रकृति की जगत् कारणता का समर्थन स्वमतानुसार प्रकृति की जगत्कारणता की अनुपपत्ति दिखलाते हुए सांख्य मत खंडन।

ankurnagpal108@gmail.com

जल और दूध के द्रष्टान्त से प्रकृति जगत्कारणता के किए गए समर्थन का निराकरण।

२. ब्रह्म की सृष्टिकर्त्तृता में जीव के पुण्यपापानुसार प्रकृति की कारणता का समर्थन। पुण्य पाप की शास्त्रगम्यता, परमेश्वर की दयालुता, और निग्रहानुग्रह के आधार पर प्रकृति की जगत्कारणता का खंडन।

३. धेनु भुक्त तृण आदि की दुग्धाकार परिणिति की तरह, ईश्वर प्रेरणा निरपेक्ष प्रकृति की जगताकार परिणिति के सिद्धान्त का खंडन।

४. पंगु सहायक अंध तथा लौह सन्निहित चुम्बक मणि की तरह, पुरुष निकटस्थ प्रकृति स्फुरण सिद्धान्त का खंडन। सत्त्व, रज और तमोगुण में गुण प्रधान भाव की अनुपपत्ति।

५. प्रधान में ज्ञान शक्ति के अभाव के आधार पर तत्संबंधी अन्यान्य अनुमानों की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। अनुमान के साहाय्य से प्रधान की स्थिति की सिद्धि होते हुए भी उसकी व्यर्थता ज्ञापन। परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर सांख्यमत की असमंजसता का दिग्दर्शन।

६. शांकर सम्मत निर्विशेष चिन्मात्र की असत् बंध मोक्ष भागित सिद्धान्त का खंडन। —७४३–६६

२. महद्दीर्घाधिकरण [सूत्र १०-१६]

१. वैशेषिक परमाणु कारणवाद का वर्णन एवं उसकी अनुपपत्ति का प्रदर्शन। १०वें सूत्र की शांकर व्याख्या में दोष दिग्दर्शन।

२. परमाणुगत प्राथमिक क्रियोत्पत्ति की असंभवता का वर्णन। समवाय संबंध का खंडन। युत सिद्धि और अयुतसिद्धि का विचार तथा समवाय स्वीकृति में अनवस्था दोष की शंका। समवाय संबंध की नित्यता

ankurnagpal108@gmail.com

के हेतु से तत्सबंधी जगत् नित्यता की संभावना का ज्ञापन। रूप रस आदि गुण संबद्ध होने से परमाणु में अनित्यता, स्थूलता आदि दोषों की सभावना की विज्ञप्ति। परमाणुगत, रूप रस आदि की स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों में दोष प्रदर्शन। शिष्टो से अपरिग्रहीत परमाणु कारणवाद की उपेक्षणीयता।— पृ० ७६५-७३.

३. समुदायाधिकरण [सूत्र १७-२६]

१. चार प्रकार के बौद्धों के अभिमत सिद्धान्तो का वर्णन

२. परमाणुजात और पृथिव्यादि जात संघातों की उत्पत्ति की अनुत्पपत्ति अविद्या आदि परम्पर कारण कार्य भाव से समुदायों की उत्पत्ति सिद्धांत का स्वमतानुसार निराकरण।

३. क्षणिकवाद में पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती क्षण के कारण कार्यवाद की असंभावना का प्रदर्शन, तथा कारण के बिना कार्योत्पत्ति की स्वीकृति में प्रतिज्ञा हानि का वर्णन। प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध की अनुपपत्ति का प्रदर्शन। तुच्छ कारण से कार्योत्पत्ति तथा उत्पन्न पदार्थ की तुच्छता के सिद्धान्त का खण्डन। आकाश की तुच्छता का खण्डन। प्रतिभिज्ञा प्रमाण का खण्डन।

४. सौतांत्रिकाभिमत विज्ञानवाद का खण्डन तथा प्रयत्न के अभाव में कार्योत्पत्ति की संभावना का समर्थन। —पृ० ७७३—८८,

४. उपलब्ध्यधिकरण [सूत्र २७-२९]

१. योगाचार मत से विज्ञानातिरिक्त बाह्यवस्तु मात्र के असद् भाव का समर्थन। विज्ञानमात्रास्तित्ववाद का खंडन।

२. स्वप्न दृष्ट पदार्थ के साथ बाह्य पदार्थ की विलक्षणता का प्रदर्शन। बाह्य पदार्थ के असद्भाव का खंडन।

ankurnagpal108@gmail.com

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरण [सूत्र ३०]

सर्वशून्यवादी माध्यमिक सिद्धान्त का वर्णन।
स्वमतानुसार सर्वशून्यत्ववाद का निराकरण। —पृ० ७८६-९३,

६. एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण [सूत्र ३१-३३]

१ जैनाभिमत सिद्धान्त का निरूपण। सप्तभंगी न्याय की असंगति।

२ आत्मा की देह परिमितता, तथा संकोच विकास स्वभाव का खंडन। आत्मा की मोक्ष कालीन परिणाम की स्थिरता के आधार पर उक्त स्वभाव का निराकरण। —पृ० ७९३-८०२,

७. पशुपत्यधिकरण [सूत्र ३५-३८]

पाशुपत मत का वर्णन। पाशुपत की असमंजसता का विवेचन अशरीर ईश्वर के प्राकृतिक अधिष्ठान की असंभवता प्रदर्शन। अशरीर जीव के इन्द्रियाधिष्ठान की तरह परमेश्वराधिष्ठान की स्वीकृति से ईश्वर में सुखदु:खादि भोग प्रसक्ति की संभावना प्रदर्शन। पशुपति में पुण्य पाप की स्वीकृति से अनित्यतादि दोषों की संभावना का दिग्दर्शन। —पृ० ८०२-८,

उत्पत्त्यसंभवाधिकरण [सूत्र ३९-४२]

१. पांचरात्र सात्वतदर्शन के सिद्धान्त का विवेचन।

२. पूर्वपक्ष-कर्त्तास्वरूप संकर्षण से कारणरूप प्रद्युम्न की उत्पत्ति का विरोध प्रदर्शन।

३. उत्तरपक्ष-संकर्षण आदि की विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपता हेतुक जीवोत्पत्ति के विवेचक पांचरात्र मत की प्रामाणिकता ज्ञापन। पांचरात्र शास्त्रानुसार ही जीव की स्वरूपत: उत्पत्ति का निषेध तथा पांचरात्र शास्त्र की वेद सम्मतता का प्रतिपादन।

४. (सिद्धान्त)—"न च कर्त्तु: करणम्" इत्यादि सूत्रों की शंकराचार्य कृत व्याख्या का निराकरण। सांख्य

ankurnagpal108@gmail.com

आदि शास्त्रों के साथ पांचरात्र शास्त्र का अविरोध ज्ञापन। उक्त शास्त्र की स्वाभिमत स्वीकृति। —पृ० ८०८–१६,

(तृतीय पाद)

१. वियदधिकरण [सूत्र १-६]

१. पूर्वपक्ष–आकाश की अनुत्पत्ति का संशय।

२. (सिद्धान्त)–आकाश की उत्पत्ति का समर्थन तथा आकाशोत्पत्ति बोधक श्रुति की गौणार्थता के संशय का निराकरण।

३. पूर्वपक्ष–ब्रह्म शब्द की तरह "संभूत" शब्द के गौण मुख्य दोनों ही अर्थों का समर्थन।

४. (सिद्धान्त)–एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा के आधार पर आकाशोत्पत्ति के सिद्धान्त का श्रौत शब्दों से ही समर्थन। जन्य पदार्थ मात्र की ब्रह्म कार्यता का समर्थन। आकाशोत्पत्ति से वायु की उत्पत्ति का वर्णन तथा सद्ब्रह्म की अनुपपत्ति का निरूपण। —पृ० ८११–२६,

२. तेजोधिकरण (सूत्र १०-१७)

१. पूर्वपक्ष–शुद्ध वायु से तेजोत्पत्ति की शंका, तेज से जलोत्पत्ति की शंका, जल से पृथिवी उत्पत्ति की शंका श्रौत "अन्न" शब्द के पृथिवी परक अर्थ का हेतु प्रदर्शन।

२. (सिद्धान्त)–आकाशादि शरीरधारी ब्रह्म से वायु आदि की उत्पत्ति का समर्थन, ब्रह्म से साक्षात् आकाश आदि की उत्पत्ति का प्रतिपादन। इन्द्रिय और मन की उत्पत्ति के आधार पर ब्रह्म की साक्षात् कारणता का समर्थन। स्थावर जंगम सभी पदार्थों की ब्रह्म शब्द की मुख्यार्थता प्रदर्शन। —पृ० ८२६–३२,

३. आत्माधिकरण (सूत्र १८)

१. पूर्वपक्ष–आकाश आदि की तरह जीवोत्पत्ति की शंका

ankurnagpal108@gmail.com

२. (सिद्धान्त)–श्रुति और युक्ति के आधार पर जीव की नित्यता का समर्थन तथा एक विज्ञान से सर्व विज्ञान का उपपादन। —पृ० ८३३–३६,

४. ज्ञाधिकरण सूत्र (१९-३२)

१. जीवात्मा का स्वरूप निरूपरण।

२, पूर्वपक्ष—जीवात्मा की चैतन्य रूपता का समर्थन।

३. (सिद्धान्त]–आत्मा की ज्ञानरूपता का निराकरण तथा ज्ञान विशिष्टता का प्रतिपादन। जीव की लोकान्तर गमनागमना बोधक श्रुति के आधार परसर्वव्यापकता का खंडन। जीव की अणु परिमाणता का प्रतिपादन लोकान्तर गमनागमन में जीव के कर्त्तृत्व का समर्थन।

४ विज्ञानमय शब्द से जीव एवं उसकी सर्वव्यापकता मानने वाले सिद्धान्त का निराकरण, उसकी ब्रह्मार्थता का निरूपण। अणु परिमाण बोधक शब्द तथा द्रष्टान्त के आधार पर जीव की अणुता का समर्थन। अणु जीव की सर्वांगीण उपलब्धि का समर्थन। जीव की हृदयस्थिति का समर्थन। एक स्थित प्रदीपादि की तरह जीव की भी सर्वांगीण ज्ञानरूप अनुभूति का प्रतिपादन। आत्म गुण ज्ञान की आत्मातिरिक्तता का प्रदर्शन। ज्ञान और आत्मा के पृथक निर्देश का समर्थन। ज्ञान प्राधान्यता के आधार पर ही, आत्मा में ज्ञान शब्द की व्यवहार्यता का सम्मोदन। ज्ञान और आत्मा के नित्य साहचर्य के कारण आत्मा के लिए प्रयुक्त विज्ञान शब्द के प्रयोग का उपपादन। सुषप्ति आदि अवस्थाओं में ज्ञान की अप्रतीति होते हुए भी ज्ञान की आत्मगुणता का समर्थन। आत्मा की सर्वव्यापकता और ज्ञानमयता में दोष प्रदर्शन।—पृ० ८३९–५०,

५. कर्त्ताधिकरण (सूत्र ३३–३९)

जीवात्मा के कर्तृत्व का निरूपण। इन्द्रियग्रहण और परिभ्रमण में आत्मा के कर्तृत्व का निरूपण

ankurnagpal108@gmail.com

बुद्धि की कर्तृता स्वीकारने में दोष प्रदर्शन। बुद्धि की कर्तृता में भोगशांकर्य का उपपादन बुद्धिकर्तृता में समाधिसाधन की असंभवता तथा उसकी भोगकर्तृता का समर्थन। जीव की कर्तृता होते हुए भी सामयिक कर्मानुष्ठान का उपपादन। —पृ० ८५०–५६,

६. परायत्ताधिरकण (सूत्र ४०–४१)

जीव की ब्रह्माधीन कर्तृता का तथा जीव की चेष्टानुसार ईश्वर प्रेरणा का निरूपण। —पृ० ८५६–६०,

७ अंशाधिकरण (सूत्र ४२–५२)

१. पूर्वपक्ष—ब्रह्म से जीव की अत्यन्त भिन्नता की शंका।

२. (सिद्धान्त)—जीव की ब्रह्मांशता का प्रतिपादन। श्रुति और स्मृति प्रमाणों से अंशता का उपपादन। ब्रह्म में जीवगत दोष संसर्गता संभावना के प्रसंग में आदित्य आदि द्रष्टान्तों की प्रस्तुति देहभेद से जीवों के अधिकार भेदों का प्रतिपादन। देहभेद और जीव भेद के कारण एक के भोग का दूसरे में अभाव प्रदर्शन। जीव और ब्रह्म की अभेद समर्थक आभासता का उपपादन। अदृष्ट की भोग नियामकता का वर्णन। भोगाभिसंधि से जीव की अनियामकता का वर्णन। अंशभेद के अनुसार भोगादि व्यवस्था का खंडन। —पृ० ८६०–७१,

[चतुर्थ पाद]

१. प्राणोत्पत्ति अधिकरण [सूत्र १–३]

१. पूर्वपक्ष—इन्द्रियों की उत्पत्ति की शंका।

२. (सिद्धान्त)—इन्द्रियों की उत्पति का समर्थन, तथा अनुत्पति बोधक श्रुतियों की गौणार्थता निरूपण। आकाशादि से भिन्न वायु आदि की सृष्टि का उपपादन। —पृ० ८७१–७५,

ankurnagpal108@gmail.com

ankurnagpal108@gmail.com

१. पूर्वपक्ष--त्रिवृत्कृत आकाश आदि भूत समुदाय के पृथक् पृथक् व्यवहार की संभावना की शंका।

२. (सिद्धान्त)—अधिकता के अनुसार आकाश आदि नाम की व्यवहारिकता का उपपादन। —पृ० ८८७–८६,

[तृतीय अध्याय]

[प्रथम पाद]

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरण [सूत्र १-७]

शरीर त्याग करते समय जीव भावी देह के उपादान भूतसूक्ष्म को ले जाता है या नहीं, इस पर विचार

१. पूर्वपक्ष—भूतसूक्ष्म को न ले जाने की शंका।

२. (सिद्धान्त)—जीव के साथ भतसूक्ष्म के गमन का प्रतिपादन प्रयाण काल में वागादि इन्द्रियो की अग्नि आदि में लीनता बतलाने वाली श्रुति के आधार पर उक्त शंका का समाधान। पंचाग्निविद्या के प्रकरण में जल होम का उल्लेख न होने से सूक्ष्मभूतों के सहगमन पर उद्भूत संशय का समाधान। जीवोल्लेख संबंधी संशय का समाधान। —पृ०८६६–६०६,

२. कृतात्ययाधिकरण (सूत्र ८-११)

कर्मयोगी जीवों के चन्द्रमण्डल से लौटते समय प्राक्तन कर्म अवशिष्ट रहते हैं या नहीं, इस पर विचार।

१. पूर्वपक्ष—जो कर्म फलभोग के लिए जीव के साथ जाते हैं, उनका चन्द्रमण्डल में ही भोग समाप्त हो जाता है।

२. (सिद्धान्त)—कर्म के अवशिष्ट फलभोग के लिए ही पृथिवी में पुनरागमन होता है, इस मत का प्रतिपादन।

१. पूर्वपक्ष— संचित शुभाशुभ कर्मानुसार जीव के जन्म का समर्थन

ankurnagpal108@gmail.com

४. (सिद्धान्त)—वैदिक "चरण" शब्द के आधार पर अवशिष्ट कर्मानुसार ही जन्म का समर्थन।

५. पूर्वपक्ष—स्मृतिशास्त्र विहित आचार की व्यर्थता ज्ञापन।

६. (सिद्धान्त)—स्मृति शास्त्रोक्त आचार की कारणता का प्रतिपादन बादरि आचार्य के मतानुसार "चरण" शब्द की पुण्य पापार्थता का निरूपण। —पृ० ६०६-११,

३. अनिष्टादिकार्याधिकरण (सूत्र १२-२१)

१. यागादिकर्म विहीन पापी जीवों की भी चान्द्रमसी गति की संभावना का निरूपण। प्रथम यमालय में पापफल का भोग बाद में चान्द्रमसी गति की संभावना प्रदर्शन।

२. सात प्रकार के प्रधान नरकों का ज्ञापन। नरक में यम की प्रधानता वर्णन। कर्मी और कर्मांग विद्या संपन्न व्यक्तियों की चान्द्रमसी गति का निरूपण। पापपुण्य रहित अज्ञ जीवों की दंशमशकादि गति का वर्णन। स्वेदज में उद्भिज का अन्तर्भाव। —पृ० ६११-१६,

४. तत्स्वाभाव्यापत्ति अधिकरण (सूत्र २२)

चन्द्रमंडल से लौटते समय कर्मयोगियों की आकाशादि स्वभाव प्राप्ति का निरूपण। —पृ० ६१६-१७,

५. नातिचिराधिकरण (सूत्र २३)

आकाश आदि स्वभाव के परित्याग की त्वरा का विवेचन। —पृ० ६१७-१८,

६. अन्याधिष्ठिताधिकरण (सूत्र २४-२७)

अन्य जीवों से अधिष्ठत जीव का शस्य प्रवेश वर्णन। यज्ञीय हिंसा में निष्पापता का प्रतिपादन। जीव का शस्य से, रेत सेचनक्षम शरीर में प्रवेश वर्णन। स्त्री देह में रेत सिंचन द्वारा जीव का गर्भ प्रवेश तथा योनि द्वारा जन्म वर्णन। —पृ० ६१८-२१,

ankurnagpal108@gmail.com

(द्वितीय पाद)

१. संध्यधिकरण (सूत्र १-६)

१. पूर्वपक्ष—स्वप्नदृष्ट पदार्थों की जीवकर्त्तता का श्रौत प्रमाणों से समर्थन।

२. (सिद्धान्त) स्वप्नदृश्य की मायिकता का वर्णन। परमेश्वर की इच्छानुसार ही जीव की ज्ञानैश्वर्यादि शक्ति के तिरोधान और बंधन मुक्ति का प्रतिपादन। देह संबंध को जीव की शक्ति तिरोधान का कारण ज्ञापन। स्वप्नदर्शन की शुभाशुभ सूचकता का वर्णन। —पृ० ६२४–२६,

२. तमसाधिकरण (सूत्र ७ ८)

१. पूर्वपक्ष—हित नामक नाड़ी और आत्मा इन दोनों स्थानों में यथा संभव सुषुप्ति की संभावना का सशय।

२. (सिद्धान्त)—नाड़ी, पुरीतत और आत्मा तीनों स्थानों में सुषुप्ति का निरूपण। सुषुप्ति भग के समय ब्रह्म से जीव के उत्थान का वर्णन। —पृ० ६२६–३१,

३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण (सूत्र ६)

जागरण के समय जीव के पुनरुत्थान का निरूपण।

४. मुग्धाधिकरण (सूत्र १०)

मुग्धावस्था का स्वरूप निरूपण। —पृ० ६३१–३४,

५. उभयलिंगाधिकरण (सूत्र ११-२५)

१. पूर्वपक्ष—जाग्रत आदि अवस्थाओं से संबद्ध ब्रह्म में दोष प्रसक्ति संभावना की शंका।

२. (सिद्धान्त)—तीनों अवस्थाओं से संबद्ध होते हुए भी ब्रह्म की निर्दोषता तथा उसकी उभयलिंगता का निरूपण। कठशाखीय मत से एकस्थानस्थित ब्रह्म की निर्दोषता तथा शरीर स्थित होते हुए भी उसकी निराकारता का उपपादन।

ankurnagpal108@gmail.com

३. ब्रह्म की स्व-प्रकाशता एवं ज्ञान स्वभावता का उपपादन उक्त विषय में जलसूर्यादि प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत।

४. पूर्वपक्ष—जल सूर्यादि के साथ देहस्थ परमात्मा की विषय दृष्टान्तता का दिग्दर्शन।

५. (सिद्धान्त)—वृद्धि ह्रास आदि द्रष्टान्त द्वारा उक्त आपत्ति का परिहार।

६. 'नेति नेति" श्रुति का तात्पर्य निरूपण ब्रह्म के अव्यक्त भाव का वर्णन। भक्ति स्वरूप निदिध्यासन की अवस्था में ब्रह्म की अभिव्यक्ति का विवेचन। प्रकाश आदि की तरह ब्रह्म के मूर्त्तामूर्त्तरूप का वर्णन। ब्रह्म के कल्याणमय अनन्त गुणों के सद्भाव का निरूपण। —पृ० ६३४-५१,

६. अहिकुण्डलाधिकरण (सूत्र २६-२६)

अहिकुण्डल के द्रष्टान्त से ब्रह्म के भेदाभेद रूप का प्रतिपादन। तेज के दृष्टान्त एवं प्रकारान्तर से भी भेदाभेद का उपपादन। जड़धर्म विधेयक श्रुति के आधार पर ब्रह्म के अंशांशी भाव का निरूपण।—पृ० ६५१-५५,

७. पराधिकरण (सूत्र ३० ३६)

१. पूर्वपक्ष—श्रुति में ब्रह्म को सेतु और परिमित कहे जाने से, उससे अतिरिक्त तत्त्व के अस्तित्व की आशंका।

२. (सिद्धान्त)—सादृश्यता बोधकरूप से सेतु शब्द का प्रतिपादन। उपासना के औचित्य से सेतु शब्द के प्रयोग का उपपादन। स्थान विशेष से संबद्ध होने से ब्रह्म के परिमाण निर्देश का सयुक्ति प्रतिपादन। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य बृहत् पदार्थ की सत्ता का निराकरण। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का समर्थन। —६५५-६२,

ankurnagpal108@gmail.com

८ फलाधिकरण [सूत्र ३७-४०]

१. हर प्रकार के फल प्रदान में ब्रह्म की कर्तृता का वर्णन।

२. जैमिनि के मत से धर्म से फलप्राप्ति का वर्णन।

३. बादरायण के मतानुसार परमेश्वर की फल प्रदानता का उपपादन। —पृ० ६६२–६६,

(तृतीय पाद)

१. सर्ववेदांत प्रत्ययाधिकरण [सूत्र १-५]

विभिन्न वैदिक शाखाओं में विहित एक जातीय ब्रह्मोपासना की एकता का वर्णन। उपासना की एकता के संबंध में की गई शंका का समाधान। यज्ञांग स्नान के द्रष्टान्त से शिरोव्रत की अध्ययनांगता का निरूपण। श्रुति के आधार पर विद्या की एकता का समर्थन। एक उपासना में कथित गुणों का तत्समान जातीय उपासना में उपसंहार के प्रयोजन का निरूपण। —पृ० ६६७–७२,

२. अन्यथात्वाधिकरण [सूत्र ६-९]

१. पूर्वपक्ष—छांदोग्य और वृहदारण्यक में वर्णित उद्‌गीथ विद्या की भिन्नता का संशय।

२. (सिद्धान्त)—छांदोग्य और वृहदारण्योक्त उद्‌गीथोपासना के स्वरूपगत भेद के आधार पर दोनों की पृथकता और विद्याभेद का प्रतिपादन। उद्‌गीथ की प्रणवार्थता का निरूपण। —पृ० ६७२–७९,

३. सर्वभेदाधिकरण [सूत्र १०]

ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि गुणों के योग से प्राणोपासना की एकता प्रतिपादन। —पृ० ६७९–८३,

४. आनन्दाधिकरण [सूत्र ११-१७]

आनन्द आदि ब्राह्म गुणों का सभी उपासनाओं में चिन्तन का उपदेश। प्रियशिर आदि गुणों का सभी

ankurnagpal108@gmail.com

ankurnagpal108@gmail.com

ankurnagpal108@gmail.com

१९. लिंगभूयस्त्वाधिकरण (सूत्र ४३)

तैत्तरीय प्रोक्त नारायण शब्द का सभी विद्याओं के उपास्य ब्रह्मरूप से ग्रहण करने का स्वाभिमत प्रकाशपृ०१०३६-३९

२०. पूर्व विकल्पाधिकरण (सूत्र ४४-५०)

१. पूर्वपक्ष—वाकचित् मनश्चित आदि वेदोक्त अग्नियों के प्राकृतरूप होने में संशय प्रकाश। वाक्चित् आदि की वैकल्पिता निरूपण।

२. (सिद्धान्त) वाक्चित् आदि की विद्यारूपता का प्रतिपादन। श्रुति लिंगादि प्रमाण के आधार पर उनकी विद्यांगता का समर्थन। मनश्चिदादि क्रियामय यज्ञांगता की असंभावना प्रकाशन। मनश्चिदादि का क्रियामय यज्ञ प्रकरण में उल्लेख के प्रयोजन का निरूपण। —पृ०१०३९–४६

२१. शरीरभावाधिकरण (सूत्र १-५२)

१. पूर्वपक्ष—शरीरावस्थित आत्मा की जीवधर्म उपासना का वर्णन

२. (सिद्धान्त)—शरीरावस्थित आत्मा की मुक्तधर्म उपासना का प्रतिपादन। —पृ०१०४७–५०

२२. अंगावबद्धाधिकरण (सूत्र ५३-५३)

यज्ञांग संबंधी उद्गीथ आदि उपासनाओं पर विचार, मंत्र आदि के द्रष्टान्त से उक्त विचार की पुष्टि। पृ०१०५०–५२

२३. भूमज्यायस्त्वधिकरण (सूत्र ५५)

द्युलोक आदि समस्त अवयव विशिष्ट ब्रह्मोपासना का निरूपण। —पृ०१०५२–५६

२४. शब्दादिभेदाधिकरण (सूत्र ५६)

सद्विद्या,भूमाविद्या आदि की भिन्नता का निरूपण।पृ०१०५६--५७

२५. विकल्पाधिकरण (सूत्र ५७-५८)

ब्रह्म प्राप्ति की साधन रूप सद्विद्या आदि के विकल्पानुष्ठान का निरूपण। काम्य उपासनाओं में

ankurnagpal108@gmail.com

एक या अनेक के अनुष्ठान की कर्त्तव्यता निरूपण।

१. पूर्वपक्ष—कर्मांगाश्रित उपासना में कर्मांग के साथ उपासनानुष्ठान की आवश्यकता का शास्त्र सम्मत युक्तिपूर्ण प्रतिपादन। —पृ० १०५७–६१

२६. यथाश्रयभावाधिकरण (सूत्र ५९-६४)

२. (सिद्धान्त)—कर्मांगानुष्ठान के साथ तदाश्रित उपासना की अवश्य कर्त्तव्यता का खंडन, उक्त मत की पुष्टि में शास्त्र समर्थन। —पृ० १०६१–६६

(चतुर्थ पाद)

१. पुरुषार्थाधिकरण (सूत्र १-२०)

१. बादरायण के मतानुसार विद्या से मुक्ति लाभ का निरूपण।

२. जैमिनि के मतानुसार विद्या की मुक्ति साधनता की अर्थवादिता का प्रदर्शन, उक्त मत में शिष्ट सम्मति प्रदर्शन। प्रकारान्तर से विद्या की कर्मांगता का समर्थन।

३. बादरायण मत से सिद्धान्त निरूपण। विद्या की कर्मांगता के विरुद्ध प्रमाण प्रदर्शन। विद्या की कर्मांगता का खंडन मृत व्यक्ति के साथ विद्या और कर्म के पृथक गमन का वर्णन विद्या की कर्मांगता विषयक जैमिनि की युक्ति का सतर्क खंडन जैमिनि प्रदर्शित नियम श्रुति का अर्थान्तर कथन, प्रकारान्तर से नियम श्रुति का प्रतिपादन। वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति के गृह त्याग विषय में श्रुति प्रमाण प्रस्तुति। विद्या की कर्मोपमर्दकता प्रदशन। कर्मत्यागी संन्यासी के विद्यानुशीलन का समर्थन।

४. आचार्य जैमिनि के मतानुसार सन्यासाश्रम की अवैधता।

५. बादरायणचार्य के मत से संन्यासाश्रम का सद्भाव तथा वैधता प्रतिपादन। —पृ० १०६७–८६

ankurnagpal108@gmail.com

२. स्तुतिमात्राधिकरण (सूत्र २१-२२)

१. पूर्वपक्ष—यज्ञांग उद्गीथ आदि के विषय में उपदिष्ट रसतमत्व आदि के प्रशंसामात्र तात्पर्य का निरूपण।

२. (सिद्धान्त)—यज्ञांग उद्गीथादि के विषय में रसतमत्वादि दृष्टि की विधेयता का प्रतिपादन। —पृ० १०८६–८८

३. पारिप्लवाधिकरण (सूत्र २३-२४)

१. पूर्वपक्ष—उपनिषदुक्त सभी आख्यायिकाओं की पारिप्लव प्रयोगांगता का प्रदर्शन।

२. (सिद्धान्त)—आख्यायिकाओं के विद्यामाहात्म्य प्रकाशन तात्पर्य का समर्थन, एकवाक्यता द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन। —पृ० १०८८–८९

४. अग्नीन्धनाद्यधिकरण (सूत्र २५)

ऊर्ध्वरेताओं का यज्ञांग विद्या में अधिकार प्रतिपादन पृ० १०८९–९०

५. सर्वापेक्षाधिकरण (सूत्र २५)

कर्म निरत ग्रहस्थों की विद्योपासना में अग्निहोत्र कर्मानुष्ठान की आवश्यकता प्रतिपादन। पृ० १०९०–९२

६. शमाद्यधिकरण (सूत्र २६)

ग्रहस्थों के लिए शमदमादि आवश्यकता का प्रतिपादन। —पृ० १०९२–९४

७. सर्वान्ननुमत्यधिकरण (सूत्र २८-३१)

आपत् काल में प्राणात्मदर्शी के लिए सर्वान्नभक्षण की शास्त्रानुमति समर्थन। विशुद्ध आचार से चित्त शुद्धि निरूपण। यथेच्छ आहार निषेध। —पृ० १०९४–९७

८. विहितत्वाधिकरण (सूत्र ३२-३५)

मुक्ति की अभिलाषा से रहित ग्रही के लिए आश्रमोचित कर्मानुष्ठान की अनिवार्यता का निर्देश। विद्या के सहकारी साधन के रूप में कर्मानुष्ठान की कर्त्तव्यता का निरूपण। यज्ञांग और आश्रमांग कर्मों

ankurnagpal108@gmail.com

की एकरूपता का विश्लेषण। आश्रमोचित कर्म के साथ विद्या के अविरोध का प्रतिपादन। —पृ० १०६७–६६

६. विधुराधिकरण (सूत्र ३६-३६)

अनाश्रमी व्यक्तियों के लिए भी ब्रह्मविद्या में अधिकार प्रदर्शन प्रकारान्तर से उक्त मत का प्रतिपादन। अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी की श्रेष्ठता प्रतिपादन। —पृ० १०६६–११०२

१०. तद्भूताधिकरण (सूत्र ४०-४३)

ब्रह्मचर्य आदि नैष्ठिकों के लिए निज आश्रम परित्याज्यता का निषेध, नैष्ठिकों के स्वधर्माच्युत होने पर प्रायश्चित्ताभाव का निरूपण। स्वधर्माच्युत नैष्ठिकों का विद्या में अनधिकार प्रदर्शन। —पृ० ११०२-५

११. स्वाम्यधिकरण (सूत्र ४४-५४)

१. आत्रेय के मतानुसार कर्मांग उपासना में यजमान कर्त्तृता का निरूपण।

२. औडुलोमि के मत से ऋत्विक् कर्त्तृत्व निरूपण —पृ० ११०५–८

१२. सहकार्यन्तरविधि अधिकरण (सूत्र ४६-४८)

ब्रह्मविद्या में मौन की सहकारिता का निरूपण। मौन के समान अन्यान्य आश्रमधर्मों का उपदेश। पृ० ११०८–१३

१३. अनाविष्काराधिकरण (सूत्र ४६)

वेदोक्त बाल्य शब्द के अर्थ का विवेचन। —पृ० १११३–१५

१४. ऐहिकाधिकरण (सूत्र ५०)

प्रतिबंधक के अभाव में इहलोक में ही विद्या के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्गिक सुखों की प्राप्ति का प्रदर्शन। —पृ० १११५–१६

१५. मुक्तिफलाधिकरण (सूत्र ५१)

प्रतिबन्धक न होने से विद्याफल से मुक्ति प्राप्ति

ankurnagpal108@gmail.com

(चतुर्थ अध्याय)

(प्रथम पाद)

१. आवृत्यधिकरण (सूत्र १-२)

१. ब्रह्म प्राप्ति की उपाय उपासना के एक बार अनुष्ठान मात्र से फलप्राप्ति संभावना प्रदर्शन।
२. जीवन पर्यन्त उपासना की कर्त्तव्यता निरूपण, अनुकूल प्रमाणों के आधार पर उक्त सिद्धान्त का निरूपण। —पृ० १११७-२०

२. आत्मत्वोपासनाधिकरण (सूत्र ३)

१. पूर्वपक्ष—आत्मरूप से ब्रह्म की उपासना का निषेध।
२. (सिद्धान्त)—आत्मभाव से उपासना की कर्त्तव्यता का निरूपण। —पृ० ११२०-२३

३. प्रतीकाधिकरण (सूत्र ४-५)

१. पूर्वपक्ष--मन आदि प्रतीक की आत्मारूप से उपासना का समर्थन।
२. (सिद्धान्त) मन आदि प्रतीक की आत्मारूप से उपासना का खंडन मन आदि प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि की कर्त्तव्यता का प्रतिपादन। —पृ० ११२३-२४

४. आदित्यादिमत्याधिकरण (सूत्र ६)

१. पूर्वपक्ष—कर्मांग उद्गीथ आदि की उपासना में आदित्य आदि में उद्गीथादि दृष्टि कर्त्तव्यता का निरूपण।
२. (सिद्धान्त)—कर्मांग उद्गीथ आदि में आदित्य दृष्टि का समर्थन। —पृ० ११२४-२५

५. आसीनाधिकरण (सूत्र ७-११)

आसनविशेष में ही उपासना करने का उपपादन। ध्यानात्मक उपासना में आसन की अनिवार्यता ज्ञापन। उपासना की स्थिरतासापेक्षता का प्रतिपादन। उपासना में एकाग्रता के अनुकूल देश, काल की प्रयोजनीयता का समर्थन। —पृ० ११२५-२७

ankurnagpal108@gmail.com

६. आप्रयाणाधिकरण (सूत्र १२)

मृत्युकाल पर्यन्त उपासना की प्रयोजनीयता का प्रतिपादन। —पृ० ११२८—

७. तदधिगमाधिकरण (सूत्र १३)

१. पूर्वपक्ष—ब्रह्म विद्या अभ्यास से पूर्वोत्तरपापों के विनाश का अस्वीकरण।

२. (सिद्धान्त)—ब्रह्मविद्या अभ्यास से पूर्वोत्तर पापों का विनाश तथा उत्तरीय पापपुण्यों के असंस्पर्श का प्रतिपादन। —पृ० ११२८—३२

८. इतराधिकरण (सूत्र १४)

ब्रह्मविद्या के उदय से पूर्वोत्तर पुण्य के विनाश और असंस्पर्श का प्रतिपादन। —पृ० ११३२—३३

९. अनारब्धकार्याधिकरण (सूत्र १५)

१. पूर्वपक्ष— ब्रह्मविद्या प्राप्ति से प्रारब्धकर्म के विनाश का प्रतिपादन।

२. (सिद्धान्त)—प्रारब्धकर्म रहित अन्य कर्मों के क्षय का प्रतिपादन। —पृ० २११३—३४

१०. अग्निहोत्राद्यधिकरण (सूत्र १६-१८)

१. पूर्वपक्ष—अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मों की अनुष्ठेयता का प्रदर्शन।

२. सिद्धान्त—अग्निहोत्र आदि की अवश्य कर्त्तव्यता का प्रतिपादन विद्या सहकारी कृत कर्मों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन। —पृ० ११३४—३६

११. इतरक्षपणाधिकरण (सूत्र १८)

भोगद्वारा ही प्रारब्ध कर्मों के क्षय का प्रतिपादन। पृ० ११३६—३८

(द्वितीय पाद)

१. वागाद्यधिकरण (सूत्र १-२)

१. पूर्वपक्ष—वाक् आदि इन्द्रियों की वृत्तिलय का प्रदर्शन।

ankurnagpal108@gmail.com

२. सिद्धान्त- उत्क्रमण काल में इन्द्रियों का मन से मिलने का प्रतिपादन तथा इन्द्रियों की अगाता का उपपादन। —पृ० ११३९–४१

२. मनोधिकरण (सूत्र ३)

मरण काल में इन्द्रियों सहित मन का प्राण से मिलने का वर्णन। —पृ० ११४१–४२

३. अध्यक्षाधिकरण (सूत्र ४)

देहाध्यक्ष जीव की प्राण संबद्धता का निरूपण। —पृ० ११४२–४३

४. भूताधिकरण (सूत्र ५-६)

जीव समन्वित प्राण की भूतसंबद्धता का निरूपण। भूतों से प्राण संयोग का समर्थन। —पृ० ११४३–४५

५. आसृत्युपक्रमाधिकरण (सूत्र ७-१३)

१. पूर्वपक्ष—विद्वान और अविद्वान के भेद से उपक्रमण के पार्थक्य की संभावना का संशय।

२ सिद्धान्त—उपक्रमण में विद्वान अविद्वान की समानता का प्रतिपादन। ब्रह्म प्राप्ति न होने तक संसारगति का समर्थन। देह त्याग के उपरान्त भी जीव का सूक्ष्म शरीर से संबन्ध निरूपण। सूक्ष्म शरीर के सद्भाव से ही दैहिक उष्णता की उपलब्धि ज्ञापन। पृ० ११४५–५३

६. पर संपत्त्यधिकरण (सूत्र १४)

जीव समन्वित भूतों की परमात्म लीनता का वर्णन। —पृ० ११५३–५४

७. अविभागाधिकरण (सूत्र १५)

जीव समन्वित भूतों की परमात्मा से अविभक्त स्थिति का निरूपण —पृ० ११५४–५५

८. तदोऽकोधिकरण (सूत्र १६)

मृत्युकाल में उपासक के हृदयाग्रभाग में ज्वलन का वर्णन। —पृ० ११५५–५७

ankurnagpal108@gmail.com

९. रश्म्यनुसाराधिकरण (सूत्र १७)

सूर्य रश्मियों के सहारे उपासक के ऊर्ध्वगमन का विश्लेषण। —पृ०११५७–५८

१०. निशाधिकरण (सूत्र १८)

दक्षिणायन में भी मृत उपासक की ब्रह्म प्राप्ति का निरूपण।
दक्षिणायन और दोनों मार्गों की नित्यस्मरणीयता का प्रतिपादन। —पृ०११५८–६३

(तृतीय पाद)

१. अर्चिराद्यधिकरण (सूत्र १)

मृत्यु के बाद उपासक की अर्चिरादि गति का निरूपण। —पृ०११६४–६५

२. वाय्वधिकरण (सूत्र २)

संवत्सरगति के बाद आदित्य पूर्व वायु प्राप्ति का वर्णन। —पृ०११६७–७०

३. वरुणाधिकरण (सूत्र ३)

विद्युत्प्राप्ति के पूर्व वारुणी गति का समर्थन। —पृ०११७०–७२

४. आतिवाहिकाधिकरण (सूत्र ४-५)

अर्चिरादि शब्दों का आतिवाहिक अर्थ निरूपण, —पृ०११७२–७४

५. कार्याधिकरण (सूत्र ६-१६)

विद्युत लोक के वैद्युत पुरुषों द्वारा उपासक की ब्रह्म प्राप्ति का निरूपण।
१ बादरि आचार्य के मत से उपासकों की हिरण्यगर्भ लोक प्राप्ति का निरूपण। हिरण्यगर्भ में ब्रह्म शब्द की गौणार्थता का निरूपण। कर्त्तव्य के अवसान में हिरण्यगर्भ सहित ब्रह्मलोक वासियों की मुक्ति का समर्थन।

ankurnagpal108@gmail.com

२. जैमिनि के मत से ब्रह्म शब्द की मुख्यार्थता समर्थन
३. का बादरायण के मत से प्रतीकोपासना रहित उपासकों का निरूपण। —पृ० ११७४-८३

(चतुर्थ पाद)

१. संपद्याविर्भावाधिकरण (सूत्र १-३)

परज्योति परब्रह्म की प्राप्ति के अनन्तर जीव के स्वरूपाविर्भाव का निरूपण प्रकरणानुसार आत्मा की स्वाविक निष्पापता का समर्थन। —पृ० ११८४-८७

२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण (सूत्र ४)

मुक्त पुरुष की अभिन्नरूप से ब्रह्मानुभूति का समर्थन।

—पृ० ११८७-९२

३. ब्राह्माधिकरण (सूत्र ५-७)

१. जैमिनि के मत से अपहतपाप्मता आदि गुणविशिष्ट ब्रह्म रूप से मुक्तात्मा के आविर्भाव का निरूपण।
२. औडुलोमि के मत से चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप में स्वरूपाविर्भाव का निरूपण।
३. बादरायण के मत से दोनों स्वरूपाविर्भाव का प्रतिपादन। —पृ० ११९२-९५

४. संकल्पाधिकरण (सूत्र ८-९)

मुक्त पुरुष के स्वेच्छानुसार ज्ञाति प्रिय समागम का निरूपण। मुक्त पुरुष की पराधीनता का निराकरण।

—पृ० ११९६-९७

५. अभावाधिकरण (सूत्र १०-१६)

१. बादरि के मत से मुक्त पुरुष के शरीरादि अभाव का प्रतिपादन।
२. जैमिनि के मत से मुक्त पुरुष के शरीरादि सद्भाव का समर्थन।

ankurnagpal108@gmail.com

३. मुक्ति के समय देहाभाव में भी स्वेच्छा से भगवान के लीलारस आस्वादन का प्रतिपादन। मुक्त पुरुष की देहादि के सद्भाव में जाग्रतानुभूति का निरूपण। मुक्तावस्थ अणु स्वरूप आत्मा की अन्यत्र भोग संभावना का समर्थन। नित्य जीवात्मा की सर्वज्ञता का समर्थन। —पृ०११९७–१२०२

६. जगद्व्यापारवर्जाधिकरण (सूत्र १७-२२)

१. मुक्त पुरुष का जगत् सृष्टि आदि ईश्वरीय कार्यों से भिन्न कार्यों में अधिकार निरूपण।

२. मुक्त पुरुष के निर्विकार ब्रह्मभोग का वर्णन।

३. मुक्त पुरुष की संसार पुनरावृत्ति का निराकरण पृ०१२०२–११



ankurnagpal108@gmail.com

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

शारीरक मीमांसा श्रीभाष्य

अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले,
विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे ।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे,
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥

समस्त विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय रूप लीला करने वाले, शरणागत भक्त की रक्षा के लिए प्रतिश्रुत, उपनिषद् शास्त्र प्रतिपादित परब्रह्म श्रीनिवास वासुदेव मे मेरी सतत भक्तिमयी मति हो ।

पाराशर्यवचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृतां
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनीम् ।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थता–,
मानीतान्तु निजाक्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम् ॥

उपनिषद् शास्त्र रूप समुज्ज्वल क्षीरसागर मे प्रकट, संसार रूप अग्नितap से तप्त, परमात्मज्ञान हीन संतप्त जनो की सजीवनी, पूर्वाचार्य (श्री द्रविडाचार्य) से सुरक्षित, मतमतान्तरों के व्याघात से दुर्बोध, वेदांताचार्यों के व्याख्यानों से प्राप्त. पराशरपुत्र बादरायण की अमृतमय वाणी का भूलोक वासी विद्वज्जन निरन्तर पान करे ।

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते ।

भगवान् बोधायन कृत विस्तृत ब्रह्मसूत्र वृत्ति को पूर्वाचार्य (श्री द्रविड) ने संक्षिप्त किया, मैं उन्हीं के मतानुसार सूत्राक्षरों की व्याख्या कर रहा हूँ ।

ankurnagpal108@gmail.com

प्रथम अध्याय, प्रथम पाद

१ अधिकरण

अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा । १।१।१।।

अत्रायमथशब्द आनन्तर्ये भवति, अतश्शब्दो वृत्तस्य हेतुभावे । अधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्याधिगताल्पास्थिरफल-केवलकर्मज्ञानतया संजातमोक्षाभिलाषस्याऽनन्तास्थिरफल-ब्रह्मजिज्ञासा ह्यनन्तरभाविनी ।

इस सूत्र में "अथ" शब्द आनन्तर्य अर्थ का बोधक तथा "अतः" शब्द पूर्वविगत विषय का सूचक है, अर्थात् पूर्ववर्त्ती कर्मकाण्ड से अवगत कर्म-फल की अस्थिरता, अनित्यता आदि का अवबोध ही ब्रह्मजिज्ञासा की उपस्थिति का मुख्य हेतु है। जिस व्यक्ति ने वेद वेदांग, उपनिषद् शास्त्र के अध्ययन से यह बात समझ ली है कि केवल कर्म का फल अल्प, अस्थिर और नाशवान् है तथा ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त और अक्षर है, तो निश्चित ही उसके मन में मोक्षलाभ की अभिलाषा जाग्रत होती है, और फिर उसके अनन्तर उसके मन में ब्रह्म संबन्धिनी जिज्ञासा होती है।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा इति कर्मणि षष्ठी "कर्तृकर्मणोः कृति" इति विशेषविधानात् । यद्यपि संबन्धसामान्यपरिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्मापेक्षत्वेन कर्मार्थित्वसिद्धिः, तथाप्याक्षेपतः प्राप्तादाभिधानिकस्यैव ग्राह्यत्वात् कर्मणि षष्ठी गृह्यते । न च "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते" इति कर्मणि षष्ठयाः समासनिषेधः शङ्कनीयः । "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते" इति प्रतिप्रसवसद्भावात् ।

ब्रह्म जिज्ञासा का तात्पर्य है ब्रह्म के जानने की इच्छा । "कर्तृ कर्मणोः कृतिः" इस व्याकरणीय नियमानुसार "ब्रह्मणः" पद कर्मवाच्य षष्ठी विभक्ति का है। यद्यपि सामान्य संबंध रूप अर्थ स्वीकारने से भी जिज्ञासा कर्म की अपेक्षित कर्मार्थिता सिद्ध है, तथापि आक्षेप लब्ध (प्रकारान्तर से प्राप्त) अर्थ की अपेक्षा आभिधानिक

ankurnagpal108@gmail.com

(शब्द लब्ध) अर्थ ग्राह्य होता है इसलिए यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति मानते हैं।

"प्रतिपद (कर्म विहित) षष्ठी विभक्ति में समास नहीं होता" इस नियमानुसार यहाँ समास निषेध की शंका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि "कृद्योगा षष्ठी समस्यते" इस नियम से कृत् प्रत्यय के योग में विहित षष्ठी के साथ समास का पुनः विधान किया गया है।

ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते, सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः, बृहत्त्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः। स च सर्वेश्वर एव, अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः। तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशयोगादौपचारिकः, अनेकार्थकल्पनायोगाद् भगवच्छब्दवत्। तापत्रयातुरैरमृतत्वाय स एव जिज्ञास्यः। अतस्सर्वेश्वर एव जिज्ञासाकर्मभूतं ब्रह्म।

ब्रह्म शब्द से स्वभावतः समस्त दोषों से रहित, निरवधि, असंख्येय, कल्याणमय गुणों से युक्त पुरुषोत्तम कहे गये हैं। ब्रह्म शब्द सभी जगह "बृहत्त्व" गुणवाला कहा गया है। स्वरूपतः और गुणानुसार असीमता और अतिशायिता ही बृहत्त्व का सही अर्थ है। उक्त विशेषताओं से युक्त सर्वेश्वर ही हैं, इसलिए ब्रह्म शब्द से वे ही अभिहित हैं। उक्त गुणों से आंशिक संबंध होने से अन्यों के लिए प्रयुक्त ब्रह्म शब्द भगवत् शब्द की तरह औपचारिक मात्र है। त्रितापों से तप्त और आतुर संसारी जीवों को अमरता और शांति प्राप्त करने के लिए वह सर्वेश्वर ही जिज्ञास्य हैं। जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है वह सर्वेश्वर ही हैं।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधीयते। मीमांसापूर्वभागज्ञातस्य कर्मणोऽल्पास्थिरफलत्वादुपरितनभागावसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्यानन्ताक्षय फलत्वं च पूर्ववृत्तात् कर्मज्ञानादनन्तरं तत एव हेतोर्ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तं भवति। तदाह वृत्तिकारः—"वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं, इच्छा क्रिया में इष्यमाण वस्तु प्रधान होती है, जिज्ञासा पद में इष्यमाण वस्तु ज्ञान है; इसलिए ब्रह्म जिज्ञासा का तात्पर्य है, ब्रह्म ज्ञान। मीमांसा के पूर्व भाग से ज्ञात कर्म की अल्प और अस्थिर फलता तथा उत्तर भाग से ज्ञात ब्रह्म ज्ञान की अनन्त और अक्षय फलता से मन में निर्वेद होता है, जिसके फलस्वरूप कर्म तत्त्व को भली भाँति जानकर ब्रह्म तत्त्व को भी जानना चाहिए ऐसा भाव होता है। ऐसा ही वृत्तिकार ने कहा भी है—"कर्मतत्त्व को भली भाँति जानने के बाद ब्रह्म ज्ञान की इच्छा होती है।"

वक्ष्यति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरैकशास्त्र्यम्—"संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः" इति। अतः प्रतिपिपादयिषितार्थभेदेन षट्कभेदवदध्यायभेदवच्च पूर्वोत्तर-मीमांसयोर्भेदः। मीमांसाशास्त्रम्—"अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्या-रभ्य "अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्" इत्येवमन्तं संगति-विशेषेणाविशिष्टक्रमम्।

वृत्तिकार कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा दोनों को एक ही शास्त्र बतलाते हैं—"यह शारीरक मीमांसा, जैमिनि कृत धर्म मीमांसा के सोलह अध्यायों से मिलकर ही संपूर्ण एक शास्त्र के रूप में पूरी होती है।" प्रतिपाद्य विषय को जैसे पाद और अध्यायों में बाँटकर अलग-अलग वर्णन किया गया है, वैसे ही मीमांसा के पूर्व और उत्तर दो भेद हैं। मीमांसा शास्त्र पूर्व मीमांसा के आदिम सूत्र "अथातो धर्म जिज्ञासा" से लेकर उत्तर मीमांसा के अंतिम सूत्र "अनावृत्तिश्शब्दात्" में जाकर संगति विशेष के विशिष्ट क्रम से पूरा हुआ है।

तथाहि प्रथमं तावत् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति अध्ययनेनैव स्वाध्यायशब्दवाच्यवेदाख्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते।

सर्व प्रथम विद्यार्थी को आदेश होता है "स्वाध्योऽध्येतव्यः", तथा अध्ययन से स्वाध्याय शब्द वाच्य वेद नामक अक्षर राशि को ग्रहण करने का विधान बतलाया जाता है।

ankurnagpal108@gmail.com

तच्चाध्ययनं किंरूपम् ? कथं च कर्तव्यम् ? इत्यपेक्षायाम्— श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्" इत्यनेन "युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान्।" इत्यादिव्रतनियमविशेषोपदेशैश्चापेक्षितानि विधीयन्ते । एवं सत्संतानप्रसूतसदाचारनिष्ठात्मगुणोपेतवेदविदाचार्योपनीतस्य व्रतनियमविशेषयुक्तस्याचार्योच्चारणानुच्चारणरूपमक्षरराशिग्रहणफलमध्ययनमित्यवगम्यते ।

उस अध्ययन का क्या रूप है ? वह कैसे किया जाता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर "आठ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करके उसे पढ़ाओ", "श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा को यथा विधि उपाकर्म करके साढे चार महीने तक स्थिर चित्त से वेद पढ़ना चाहिए।" इत्यादि व्रत और नियम विशेष के उपदेश द्वारा अपेक्षित अध्ययन की विधि का निरूपण किया गया है। इस प्रकार कुलीन, सदाचार निष्ठ, आत्म गुण संपन्न वेदज्ञ आचार्य द्वारा उपनीत, विशेष व्रत नियम संम्पन्न (बटु) शिक्षा के उद्देश्य से जब अक्षर राशि को गुरुमुख से श्रवण कर स्वयं मुखरित करता है, उसे ही अध्ययन मानते हैं।

अध्ययनं च स्वाध्यायसंस्कारः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति स्वाध्यायस्य कर्मत्वावगमात्। संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम्। संस्कार्यत्वं च स्वाध्यायस्य युक्तम्, धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयतत्साधनावबोधितत्वात्, जपादिना स्वरूपेणापि तत्साधनत्वाच्च । एवमध्ययनविधिर्मन्त्रवन्नियमवदक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्यवस्यति ।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य से अध्ययन स्वाध्याय क्रिया का कर्म निश्चित होता है; अध्ययन से स्वाध्यायरूप संस्कार दृढ होता है। कार्यान्तर योग्यता संपादन करने वाले को संस्कार कहते हैं। अधीत अक्षरराशि प्रतिपाद्य ज्ञानार्जन से धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय

ankurnagpal108@gmail.com

का संपादन होता है तथा अक्षर राशि के जाप आदि रूप से भी पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि होती है, इसलिए स्वाध्याय की सस्कार्यता युक्ति युक्त है। वेद की अध्ययन विधि मंत्र की तरह अक्षर राशि के ग्रहण मात्र मे पर्यवसित है।

अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावत एव प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात् । गृहीतात् स्वाध्यायादवगम्यमानात् प्रयोजनवतोऽर्थानापाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमीमासाश्रवणे अधीतवेदः पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते ।

अध्ययन-गृहीत अक्षर राशि रूप स्वाध्याय के प्रयोजनीय (यज्ञ, उपासना आदि) अर्थावबोध की प्रवृत्ति स्वत ही होती है तथा वेद के विधिवत् कण्ठस्थ हो जाने पर प्रयोजनीय विषयो को वेदो मे आदि से अन्त तक देखकर उनके स्वरूप, प्रकार विशेष आदि के निर्द्धारण के लिए वेदवाक्य विचारात्मक मीमासा शास्त्र के श्रवण मे वेद पढ़ा हुआ व्यक्ति स्वयमेव उन्मुख होता है।

तत्र कर्मविधिस्वरूपे निरूपिते कर्मणामल्पास्थिरफलत्वं दृष्ट्वा अध्ययनगृहीतस्वाध्यायोपनिषद्वाक्येषु च अमृतस्वरूपानन्तस्थिरफलापातप्रतीतेः तन्निर्णयफलवेदान्तविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरोति ।

कर्म मीमांसा के कर्म विधि के स्वरूप निरूपण प्रकरण में कर्मों की अल्प अस्थिर फलता को देखकर तथा अध्ययन के सिलसिले में अधीत उपनिषद् वाक्यो मे ब्रह्मज्ञान की अनन्त स्थिर फलता की प्रतीति होने पर ब्रह्मतत्त्व निर्णायक वेदांत विचार रूप शारीरक मीमांसा में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। विचारक स्वत ही शारीरक मीमांसा का अध्ययन करता है।

तथाच वेदान्तवाक्यानि केवलकर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानस्य चाक्षयफलत्व दर्शयन्ति—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एव-

ankurnagpal108@gmail.com

मेवात्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते", "अन्तवदेवास्य तद् भवति", "नह्यध्रुवैः प्राप्यते", "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः", "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।" इति। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्", "न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति", "न पश्योमृत्युं पश्यति", "स स्वराड्भवति", "तमेव बिद्वानमृत इह भवति", "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते", "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इत्यादीनि।

वेदान्त वाक्य ज्ञानरहित कर्मफल की क्षीणता तथा ब्रह्मज्ञान की अक्षय फलता का ऐसा विवेचन करते है—"इस लोक की वस्तुएँ जैसे नाशवान् है वैसे ही पारलौकिक वस्तुएँ भी नाशवान् हैं"—"सकाम कर्मों का फल नाशवान् ही होता है"—"क्षण भंगुर कर्मो से नित्य फल कभी नहीं मिलता"—"यज्ञादि कर्म संसार से पार करने वाली दृढ नौकाएँ नहीं हैं" —"लौकिक कर्मों का भली भाति पर्यवेक्षण करके, कर्मों की अक्षमता समझ कर ब्राह्मण को सांसारिक कर्मों की ओर से निर्वेद होता है, वह ब्रह्म तत्व की जिज्ञासा से हाथ में कुश आदि पूजन सामग्रियों को लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट उपस्थित होता है, गुरु अपने निकट उपस्थित प्रशान्तचित्त संयतेन्द्रिय शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दें जिससे कि वह अक्षर तथा सत्य से अवगत हो जाय"—"ब्रह्मवेत्ता पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है"—"पुनः मृत्यु को प्राप्त नहीं करता"—"वह एक ही वस्तु को देखता है, जागतिक कामनाओं को न देखने वाला मृत्यु को नही देखता"—"वह स्वतंत्र हो जाता है" "उसको जानने वाला अमृत हो जाता है"—"उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है,—इसके अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा उपाय नहीं है"—"प्रेरक आत्मा को भिन्न मानकर उसका कृपा पात्र होता है और उसी सें, अमृतत्व प्राप्त करता है।" इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च साङ्गवेदाध्ययनादेव कर्मणां स्वर्गादिफलत्वं स्वर्गादीनां च क्षयित्वं ब्रह्मोपासनस्यामृतफलत्वं च ज्ञायत एव। अनन्तरं मुमुक्षुर्ब्रह्मजिज्ञासायामेव प्रवर्तताम्, किमर्था धर्मविचारापेक्षा ? एवं तर्हि शारीरकमीमासायामपि न प्रवर्तताम् साङ्गाध्ययनादेव कृत्स्नस्य, ज्ञातत्वात्।

सत्यम्, आपातप्रतीतिर्विद्यत एव, तथापि न्यायानुगृहीतस्य वाक्यस्यार्थनिश्चायकत्वादापातप्रतीतोऽप्यर्थ. संशयविपर्ययौ नातिवर्तते; अतस्तन्निर्णयाय वेदान्तवाक्यविचार. कर्तव्य इति चेत्; तथैव धर्मविचारोऽपि कर्तव्य:, इति पश्यतु भवान्।

(शका) वेद वेदाग के अध्ययन से ही कर्मो की स्वर्गादि फलता. स्वर्गादि की क्षीणता एव ब्रह्मोपासना की अमृतफलता ज्ञात हो जाती है तो मोक्ष की इच्छा वालो की ब्रह्म जिज्ञासा में ही प्रवृति होगी, उन्हे धर्म विचार की अपेक्षा ही क्या है ? (उत्तर) यदि ऐसी ही बात है कि वेदाध्ययन से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है तो शारीरक मीमासा मे ही क्यो प्रवृत्ति होगी। (पूर्वपक्ष) उक्त विषयो की सामान्य प्रतीति अध्ययन से हो जाती है ऐसा सत्य है; फिर भी न्यायानुमोदित वाक्य के अर्थनिर्णायक होने से अविचारित रूप से प्रतीत होने वाला सामान्य अर्थ संशय और विपर्यय (भ्रम) की निवृत्ति नही कर पाता, इसलिए अर्थ निर्णायक वेदान्त वाक्यों का विचार आवश्यक है। (उत्तर पक्ष) आपके उक्त मत के अनुसार ही धर्म विचार भी आवश्यक हो जाता है।

(लघु पूर्वपक्ष) ननु च ब्रह्मजिज्ञासा यदेव नियमेनापेक्षते, तदेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम्। न धर्मविचारापेक्षा ब्रह्मजिज्ञासाया:, अधीतवेदान्तस्यानधिगतकर्मणोऽपि वेदान्तवाक्यस्यार्थविचारोपपत्ते:। कर्माङ्गाश्रयाणि उद्गीथ-आदि उपासनानि अत्रैव चिन्त्यन्ते, तदनधिगतकर्मणो न शक्यं कर्तुमिति चेत्, अनभिज्ञो भवान् शारीरकशास्त्रविज्ञानस्य। अस्मिन् शास्त्रे अनाद्यविद्याकृतविविधभेद-

ankurnagpal108@gmail.com

दर्शननिमित्तजन्मजरामरणादिसांसारिकदु:खसागरनिमग्नस्य निखिल-दु:खमूलमिथ्याज्ञाननिवर्हणायात्मैकत्वविज्ञानं प्रतिपिपादयिषितम्। अस्यहि भेदावलम्बिकर्मज्ञानं क्वोपयुज्यते ? प्रत्युत विरुद्धमेव। उद्गीथादिविचारस्तु कर्मशेषभूत एव ज्ञानरूपत्वाविशेषादिहैव क्रियते। स तु न साक्षात् संगत:, अतो यत् प्रधानं शास्त्रं तदपेक्षित-मेव पूर्ववृत्त किमपि वक्तव्यम्।

(वाद) ब्रह्म जिज्ञासा में जिस नियम की अपेक्षा होती है, उस पूर्व-वर्त्ती कारण के विषय में कुछ कहना है। ब्रह्म जिज्ञासा, मैं धर्म विचार अपेक्षित नहीं है। वेदांत का ज्ञाता कर्म के विधि निषेधात्मक नियमों को न जानकर भी वेदांतवाक्यों के तत्त्वों पर विचार कर सकता है। यदि आप कहें कि वेदांत में तो कर्माङ्गाश्रित उद्गीथ आदि विद्याओं का भी निरूपण है, कर्मकांड के विचार बिना उन पर विचार नहीं हो सकता। तो मेरी समझ में आप शारीरक मीमांसा शास्त्र प्रणाली से अनभिज्ञ हैं। इस शास्त्र में अनादि अविद्याजन्य भेद दृष्टि के फलस्वरूप होने वाले जन्म जरा मरण आदि सांसारिक दु:ख सागर में निमग्न व्यक्ति की दु:खराशि की मूलकारण मिथ्याभ्रान्ति के निवारणार्थ, आत्मैकत्व ज्ञान का प्रति-पादन किया गया है। इस विवेक में भेद पर अवलंबित कर्म ज्ञान की क्या उपयोगिता हो सकती है ? यह तो इसमें विरुद्ध कार्य ही करेगा। उद्गीथ आदि उपासना कर्माङ्ग होते हुए भी ज्ञान स्वरूप हैं इसीलिए उनका उत्तरमीमांसा में विवेचन किया गया है, कर्म का उन उपासनाओं से साक्षात् संबन्ध नहीं है। शास्त्र के प्रधान प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध विषय को ही उस शास्त्र का पूर्ववर्त्ती कारण कह सकते हैं, अन्य किसी को नहीं (अत: कर्म ज्ञान ब्रह्मजिज्ञासा में अपेक्षित नहीं है)।

बाढम् ; तदपेक्षितं च कर्मविज्ञानमेव, कर्मसमुच्चिताद् ज्ञानादपवर्गश्रुते:। वक्ष्यति च "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति। अपेक्षिते च कर्मण्यज्ञाते केन समुच्चय: केन नेति विभागो न शक्यते ज्ञातुम्, अतस्तदेव पूर्ववृत्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

(प्रतिवाद) ब्रह्मज्ञान में कर्म ज्ञान ही अपेक्षित पूर्व कारण हो सकता है। कर्मसमुच्चित ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ऐसा मोक्ष प्रतिपादक श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है। ऐसा सूत्रकार भी "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" मे प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानापेक्षित कर्मकाड का विशेष ज्ञान न होने से कौन सा कर्म ज्ञानसमुच्चित हो सकता है, कौन सा नही? ऐसा निर्णय करना कठिन है। इसलिए समस्त कर्ममीमांसा को ब्रह्ममीमांसा का पूर्ववर्त्ती मानना होगा।

नैतद् युक्तम्; सकलविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तेः, अविद्यानिवृत्तेरेव हि मोक्षः। वर्णाश्रमविशेषसाध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताद्यनन्तविकल्पास्पदं कर्म सकलभेददर्शननिवृत्तिरूपाज्ञाननिवृत्तेः कथमिव साधनं भवेत्? श्रुतयश्च कर्मणामनित्यफलत्वेन मोक्षविरोधित्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं च दर्शयन्ति— "अन्तवदेवास्य तद् भवति", "तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते", "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति", "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इत्याद्याः।

(वाद) उक्त कथन सगत नही है, सर्वविध भेदों से रहित शुद्ध चिन्मय ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है, अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। वर्ण और आश्रमगत भेद, साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता आदि अनन्त भेद सापेक्ष कर्म समस्त भेद दर्शन निवृत्तिरूप अज्ञान निवृत्ति के साधन कैसे हो सकते है? 'अज्ञानी का कर्म निश्चित ही नाशवान् होता है", "इस लोक में कर्मलब्ध वस्तुएं जैसे अशाश्वत होती है; वैसे पुण्यचित् स्वर्गादि भी नश्वर है", "ब्रह्मवेत्ता ही पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है", "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है।" इत्यादि श्रुतियाँ भी अनित्य फल वाले कर्मों को मोक्ष विरोधी तथा ज्ञान को ही मोक्ष साधक बतलाती हैं।

यदपि चेदमुक्तम्—यज्ञादिकर्मापेक्षाविद्येति, तद् वस्तुविरोधात् श्रुत्यक्षरपर्यालोचनया चान्तःकरणनैर्मल्यद्वारेण विविदिषोत्पत्तावुपयुज्यते, न फलोत्पत्तौ, "विविदिषन्तीति" श्रवणात्, विविदिषा-

ankurnagpal108@gmail.com

यां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमादीनामेव अन्तरङ्गोपायतां श्रुतिरेवाह "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति । तदेवं जन्मान्तरशतानुष्ठितानभिसंहितफलविशेषकर्ममृदितकषायस्य विविदिषोत्पत्तौ सत्याम् "सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्", "अयमात्मा ब्रह्म", "तत्त्वमसि" इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानादविद्या निवर्त्तते ।

यद्यपि "विद्या यज्ञादि कर्म सापेक्ष है" ऐसा कहा गया है। श्रुति के अक्षरों की पर्यालोचना से स्पष्ट होता है कि अन्तःकरण की निर्मलता द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा की उत्पत्ति में ही यज्ञादि कर्म की उपयोगिता है, फलोत्पत्ति में नहीं। यदि इसे फलोत्पत्ति में उपयोगी मानेंगे तो वह ज्ञान वस्तु का विरोधी सिद्ध होगा। "विविदिषन्ति" इस श्रुतिवाक्य से भी उक्त बात की पुष्टि होती है। विविदिषा के होने पर ज्ञानोत्पत्ति में शम दम इत्यादि ही अन्तरंग साधन श्रुति में बतलाये गये हैं—"शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु व्यक्ति ही समाहित होकर स्वयं अपने आत्मा को देखता है।" इत्यादि । इस प्रकार सैकड़ों जन्मों के निष्काम कर्मों के अनुष्ठान द्वारा कर्मवासना के समाप्त हो जाने पर विविदिषोत्पत्ति होने से—"हे सौम्य ! यह समस्त जगत् एक अद्वितीय सत् ही था", "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है", "वह निष्कल निष्क्रिय और शान्त है", "यह आत्मा ही ब्रह्म है", "तू वही है", इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान से अविद्या निवृत्त होती है।

वाक्यार्थज्ञानोपयोगीनि च श्रवणमनननिदिध्यासनानि, श्रवणं नाम—वेदान्तवाक्यानि आत्मैकत्वविद्याप्रतिपादकानि इति तत्त्वदर्शिन आचार्याद् न्याययुक्तार्थग्रहणम्। एवं आचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं मननम्। एतद्विरोध्यनादिभेदवासनानिरसनायास्यैवार्थस्यानवरतभावना निदिध्यासनम्। श्रवणादिभिर्निरस्तसमस्तभेदवासनस्य

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्यार्थज्ञानमविद्यां निवर्त्तयतीत्येवंरूपस्य श्रवणस्यापेक्षितमेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम् । तच्च नित्यानित्यवस्तुविवेक:, शमदमादि-साधनसम्पत्, इहामुत्र फलभोगविराग., मुमुक्षुत्वं चेत्येतत्साधन-चतुष्टयम् । अनेन विना जिज्ञासानुपपत्ते., अर्थस्वभावादेवेदमेव पूर्ववृत्तमिति ज्ञायते ।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन वाक्यार्थज्ञान के उपयोगी साधन है । तत्वदर्शी आचार्य से "समस्त वेदान्त वाक्य अभेद विद्या के प्रतिपादक है" ऐसे युक्तियुक्त वाक्यार्थ ग्रहण को श्रवण कहते है । ऐसे आचार्योपदिष्ट तथ्य को युक्ति सगत मानकर आत्मसात् करने के अभ्यास को मनन कहते है । एकत्व ज्ञान की विरोधी अनादि भेद बुद्धि और उसके संस्कारों को दूर करने के लिए आचार्योपदिष्ट तत्व की अनवरत भावना को निदिध्यासन कहते है । इस प्रकार श्रवण मनन आदि द्वारा जिसकी समस्त भेदवासना निरस्त हो चुकी है, (तत्वमसि आदि) वाक्य जनित ज्ञान उसी की अविद्या की निवृत्ति कर सकता है । इस प्रकार का श्रवण रूप कर्म ही वाक्यार्थ ज्ञान का पूववर्त्ती अपेक्षित कर्म है, ऐसा कहना चाहिए । नित्य अनित्य वस्तु का विवेक, शम दम आदि साधन, ऐहिक और पारलौकिक फल भोग से वैराग्य तथा मुमुक्षता ये चार साधन है, इनके बिना ब्रह्म जिज्ञासा हो नही सकती । श्रुतियो के वास्तविक अर्थ से ये चारो ही अपेक्षित पूर्ववृत्त ज्ञात होते है ।

एतदुक्तं भवति—ब्रह्मस्वरूपाच्छादिकाऽविद्यामूलमपारमार्थिकं भेददर्शनमेव बन्धमूलम् । बन्धश्चापारमार्थिक: स च समूलोऽपा-रमार्थिकत्वादेव ज्ञानेनैव निवर्त्यते । निवर्त्तकं च ज्ञानं तत्त्व-मस्यादिवाक्यजन्यम् । तस्यैतस्य वाक्यजन्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपो-त्पत्तौ कार्ये वा कर्मणो नोपयोग:, विविदिषायामेव तु कर्मणामुपयोग: स च पापमूलरजस्तमोनिवर्हणद्वारेण सत्त्वविवृद्धया भवती-ममुपयोगमभिप्रेत्य "ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्युक्तमिति । अत: कर्मज्ञानस्यानुपयोगादुक्तमेव साधनचतुष्टयं पूर्ववृत्तमिति वक्तव्यम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

कथन यह है कि ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाली अविद्या से प्रसूत असत्य भेद दर्शन ही (जीवों के) बन्धन का कारण है, वह बन्धन भी अवास्तविक है, और वह समूल अवास्तविक होने से ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान ही उक्त बन्धन का निवारक है। इस प्रकार के वाक्य जन्य ज्ञान में कार्य या कर्म की कोई उपयोगिता नहीं है, विविदिषा में ही एक मात्र कर्मों की उपयोगिता है। वह विविदिषा, पाप के हेतु रज और तम गुणों की निवृत्ति तथा सत्त्व गुण की अत्यधिक वृद्धि में ही होती है। इसकी इस उपयोगिता के आशय से ही "ब्राह्मणाः विविदिषन्ति" ऐसा निर्देश किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान में कर्मज्ञान की कोई उपोगिता नहीं है, पूर्वोक्त साधन चतुष्टय ही पूर्ववर्ती उपयोगी साधन हैं।

(लघु सिद्धान्त)—अत्रोच्यते—यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवति, इति। तदभ्युपगम्यते, अविद्यानिवृत्तये वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्, किं वाक्याद् वाक्यार्थज्ञानमात्रम्, उत तन्मूलमुपासनात्मकं ज्ञानम्? इति।

(प्रतिवाद) आपने जो यह कहा कि "अविद्या निवृत्ति ही मोक्ष है और वह ब्रह्मज्ञान से ही होती है", तो मैं पूछता हूँ कि अविद्या निवृत्ति के लिए वेदान्त वाक्यों के विधित्सित ज्ञान का रूप क्या है, यह विवेचन का विषय है। वह ज्ञान वाक्य जन्य वाक्यार्थ ज्ञान मात्र है अथवा वाक्यार्थ ज्ञान मूलक उपासना का बोधक है?

न तावद् वाक्यजन्यं ज्ञानं तस्य विधानमन्तरेणापि वाक्यादेव सिद्धेः, तावन्मात्रेणाविद्यानिवृत्त्यनुपलब्धेश्च। न च वाच्यम् भेदवासनायामनिरस्तायां वाक्यमविद्यानिवर्त्तकं ज्ञानं न जनयति, जातेऽपि सर्वस्य सहसैव भेदज्ञानानिवृत्तिः न दोषाय, चन्द्रैकत्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रज्ञानानिवृत्तिवत्। अनिवृत्तमपि छिन्नमूलत्वेन न बन्धाय भवति, इति।

वाक्य जन्य ज्ञान तो अविद्या निवृत्ति का कारण हो नहीं सकता,

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञान के विधान के अतिरिक्त केवल वाक्य से तो उसकी सिद्धि हो नहीं सकती, केवल उतने होने मात्र से अविद्या निवृत्ति देखी भी नहीं जाती। ऐसा भी नहीं कह सकते कि भेदवासना के निवारण के बिना "तत्त्वमसि" आदि वाक्य अविद्या निवारक ज्ञानोत्पादक नहीं होते। क्योंकि चन्द्र एक है ऐसी जानकारी होते हुए भी दृष्टि दोष से दो चन्द्रों की जो भ्रान्ति होती है, वह निराधार ही तो है, उसका निराकरण तो होता नहीं, निराकृत न होने पर भी निर्मूल होने से उसका कोई महत्व भी नहीं है। उसी प्रकार भेद ज्ञान भी भ्रान्ति मूलक ही तो है, उसका कोई सत्य आधार तो है नही, फिर वह भेदज्ञान बन्धन का कारण भी नही हो सकता, उसका निराकरण सहसा न भी हो तो उसमें हानि ही क्या है ? वाक्य-जन्य ज्ञान का कुछ असर तो होना ही चाहिए।

सत्यां सामग्र्यां ज्ञानानुत्पत्त्यनुपपत्तेः, सत्यामपि विपरीत-वासनायामाप्तोपदेशलिङ्गादिभिर्बाधकज्ञानोत्पतिदर्शनात्। सत्यपि वाक्यार्थज्ञाने अनादिवासनया मात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते वक्तुम्, भेदज्ञानसामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वात्, ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तौ निवर्त्तकान्तराभावात् कदाचिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः। वासनाकार्यं भेदज्ञानं छिन्नमूलमथ चानुवर्त्तत इति बालिशभाषितम्। द्विचन्द्रज्ञानादौ तु बाधकसन्निधावपि मिथ्याज्ञानहेतोः परमार्थ-तिमिरादिदोषस्य ज्ञानबाध्यत्वाभावेन अविनष्टत्वाद् मिथ्याज्ञान-निवृत्तिरविरुद्धा। प्रबलप्रमाणबाधितत्वेन भयादिकार्यं तु निवर्त्तते। अपिच भेदवासनानिरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिमभ्युपगच्छतां कदा-चिदपि ज्ञानोत्पत्तिः न सेत्स्यति। भेदवासनाया अनादिकालोप-चितत्वेनापरिमितत्वात् तद्विरोधिभावनायाश्चाल्पत्वादनया तन्नि-रासानुपपत्तेः।

प्रायः ज्ञानोत्पादक साधनों के रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती तथा विरुद्ध संस्कारों के होते हुए भी महात्माओ के उपदेश और आक-स्मिक घटनाओं से सहसा ज्ञानोत्पत्ति होती देखी जाती है।

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्यार्थ ज्ञान के होने पर भी अनादि वासना के कारण थोड़ी बहुत भेद दृष्टि बनी ही रहती है, ऐसा तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि आपके मत से भेदवासना मिथ्या है अतः भेदोत्पादक साधनों के रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति से ही उस मिथ्यावासना की निवृत्ति हो जानी चाहिये। यदि ज्ञानोत्पत्ति होने पर भी मिथ्यारूप उस वासना की निवृत्ति नहीं होती तो, उसकी निवृत्ति का ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय तो है नहीं, फिर वासना की निवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। भेद दृष्टि की मूल कारण वासना नष्ट हो जाय और उसका कार्य भेदज्ञान फिर भी बना रहे, ऐसा तो मूर्ख ही कह सकता है। "चन्द्र दो हैं" ऐसा जो ज्ञान होता है उसमें भ्रम के निवारक यथार्थ ज्ञान के होते हुए भी, भ्रम के यथार्थ कारण तिमिर आदि दोष (नेत्र रोग विशेष) की स्थिति रहती है, जिसे यथार्थ स्वानुभूत ज्ञान से दूर नहीं किया जा सकता, इस स्थिति में दो चन्द्र संबंधी मिथ्या भ्रान्ति होती भी है तो कोई विरुद्ध बात नहीं है; किसी प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा दो चन्द्र देखने वाले व्यक्ति की भ्रान्ति निवारण की जाती है तो उसके भ्रम जन्य भय आदि की निवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार वाक्यार्थ जन्य ज्ञान से भेदवासना की निवृत्ति हो जाने पर भेददृष्टि की भी निवृत्ति हो जानी चाहिये, यदि भेददृष्टि बनी रहती है तो निश्चित· ही भेदवासना भी है, वह वाक्यार्थ जन्य ज्ञान से कदापि निवृत्त नहीं होती ऐसा मानना पड़ेगा।

भेदवासना के निराकरण से ही ज्ञानोत्पत्ति को चाहने वालों की भी ज्ञानोत्पत्ति कभी हो नहीं सकती, क्योंकि भेदवासना अनन्त काल-संचित होने से अपरिमित है तथा उसके विपरीत भावना (ज्ञानवासना) बहुत ही अल्प है, उसके द्वारा प्रबल भेदवासना का निराकरण सम्भव नहीं है।

अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्। तथा च श्रुतयः—"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत", "अनुविद्य विजानाति", "ओमित्येवात्मानं ध्यायथ", "निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते", "आत्मानमेव लोकमुपासीत", "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"—इत्येवमाद्याः।

ankurnagpal108@gmail.com

इससे यह निश्चित होता है कि वाक्यार्थ ज्ञान से भिन्न ध्यान, उपासना आदि शब्दगम्य ज्ञान ही वेदांत वाक्यों का अभीप्सित तात्पर्य है, ऐसा ही "अच्छी तरह जानकर प्रज्ञा (ध्यान) करनी चाहिये", "भली भांति (वेदांतवाक्यों की) पर्यालोचना करके जानने की चेष्टा करो", "आत्मा का प्रणव रूप से चिन्तन करो", "उपासक उस परमात्मा को देखकर मृत्यु मुख से मुक्त होते है", "आत्मा की ही उपासना करो" "आत्मा ही श्रोतव्य, द्रष्टव्य, मंतव्य और निदिध्यासितव्य है", "वही अन्वेष्टव्य और जिज्ञास्य है"—इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी तात्पर्य है।

अत्र निदिध्यासितव्य इत्यादिनैकार्थ्यात् "अनुविद्य विजानाति", "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्येवमादिभिर्वाक्यार्थज्ञानस्य ध्यानोपकारकत्वात् "अनुविद्य" "विज्ञाय" इत्यनूद्य "प्रज्ञां कुर्वीत" "विजानाति" इति ध्यानं विधीयते। "श्रोतव्य" इति चानुवादः, स्वाध्यायस्यार्थपरत्वेनाधीतवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्त्तते इति श्रवणस्य प्राप्तत्वात्। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य "मन्तव्य" इति चानुवादः, तस्माद् ध्यानमेव विधीयते। वक्ष्यति च "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति।

उपर्युक्त श्रुति वाक्यो में निदिध्यासन आदि सभी उपाय एक ही अर्थ के द्योतक हैं। "अनुविद्य विजानाति", "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यादि वाक्यों से वाक्यार्थ ज्ञान की ध्यानोपकारकता ही बतलाई गई है, "प्रज्ञा कुर्वीत", "विजानाति" आदि शब्दों में ध्यान का ही विधान बतलाया गया है। "श्रोतव्य" शब्द भी ध्यान का अनुवाद है, अधीत अक्षर राशि का अर्थावबोध ही स्वाध्याय का सही तात्पर्य है, वेदों को पढ़ा हुआ व्यक्ति शब्द के प्रयोजनीय अर्थ को जानकर उसके निर्णय के लिए स्वयं ही श्रवण के लिए प्रस्तुत होता है। इस प्रकार श्रवण भी ध्यान का ही एक प्रकार सिद्ध होता है। श्रवण को स्थिर करना ही मनन का प्रयोजन है, "मनन" 'श्रवण' अपेक्षित उपाय है, इसलिए "मन्तव्य" को भी ध्यान का ही अनुवाद मानना चाहिये, इससे भी ध्यान का ही विधान किया गया है। "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" सूत्र में सूत्रकार भी उक्त तथ्य का प्रतिपादन करते है।

ankurnagpal108@gmail.com

तदिदमपवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनम् इत्यवगम्यते। विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात् "मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यत्र "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद", "न स वेद अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत", "यस्तद् वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्यत्र "अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इति।

मोक्ष के उपाय के रूप में वेदन और उपासना शब्द का श्रुति वाक्यों में आगे पीछे उलट पलट कर विधान वर्णन किया गया है। जैसे—"मन की ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिए", "जो उसे इस प्रकार जानता है वह कीर्ति (पराक्रम जन्य प्रतिष्ठा), यश (दान जन्य प्रतिष्ठा) और ब्रह्मतेज से उद्दीप्त होकर सबको अभिभूत करता है", "वे पूर्ण आत्मा को नहीं जानते. ये सब तो उसके अंशमात्र हैं", "आत्मा इन अंशों में व्याप्त है, ऐसा मानकर ही उपासना करनी चाहिए", "जो उसे जानता है वही वास्तविक ज्ञाता है", "भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं मुझे उन्हीं का उपदेश दें।" इत्यादि।

ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपम्। "ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिः दर्शनसमाकारा "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" इत्यनेनैकार्थ्यात्। एवं सति "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनसमानाकारता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद् दर्शनरूपता। वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम् "वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणात्" इति। सर्वासूपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहितं वेदनमुपासनमित्युक्तम् "सकृत् प्रत्ययं कुर्यात् शब्दार्थस्य कृतत्वात्प्रयाजादिवत्" इति पूर्वपक्षं कृत्वा "सिद्धन्तूपासनशब्दात्" इति वेदनम् असकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति

ankurnagpal108@gmail.com

निर्णीतम्। "उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिदर्शनान्निर्वचनाच्च" इति। तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।

तैल धारा की तरह अखंड प्रवाहमयी स्मृति परम्परा ही ध्यान है। "स्मृति के आश्रय से हृदयस्थ समस्त ग्रन्थियाँ भंग हो जाती हैं।" इस वाक्य में ध्रुवा स्मृति को मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। वह स्मृति आत्मदर्शन के समान रूप वाली है, "उस परावर सर्वोत्तम पुरुष का दर्शन करके हृदयस्थ ग्रन्थियों का मोचन, संशयों का उच्छेद तथा कर्मों का क्षय हो जाता है" इस वाक्य से स्मृति और दर्शन की एकार्थता सिद्ध होती है। इसी प्रकार "आत्मा वा अरे" इत्यादि वाक्य से निदिध्यासन की दर्शन रूपता दिखलायी गयी है। स्मृति भावना के प्रकर्ष से इसकी दर्शन रूपता होती है। वाक्यकार ने इस सबका विस्तृत विवेचन इस प्रकार किया है—"वेदन ही उपासना है ऐसा श्रुति से ही ज्ञात होता है।" सभी उपनिषदों में मोक्ष के उपाय रूप से विहित "वेदन" को ही "उपासना" रूप बतलाया गया है। प्रयाजादि याग की तरह ज्ञानानुशीलन भी एक बार करना चाहिए" इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करके "सिद्धन्तूपासनशब्दात्" इस सूत्र से "वेदन" की प्रवाहमयी आवृत्ति का मोक्ष साधन के रूप में निर्णय किया गया है। तथा "उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च" इस सूत्र से उस उपासना रूप वेदन की प्रवाहमयी आवृत्ति को ध्रुवा स्मृति बतलाया गया है।

सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥" इति। अनेन केवलश्रवणमनननिदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा "यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्यः" इत्युक्तम्।

उक्त स्मृति की दर्शन रूपता का प्रतिपादन किया गया है, दर्शन रूपता को ही साक्षात्कार कहते है। ऐसी साक्षात्कार रूपता को प्राप्त

ankurnagpal108@gmail.com

मोक्ष की साधन रूपा स्मृति का विश्लेषण श्रुति में इस प्रकार करते हैं—"इस आत्मा को प्रवचन, मेधा या अधिक शास्त्र ज्ञान से नहीं प्राप्त कर सकते, यह आत्मा ही जिसको वरण करता है, उसे ही वह प्राप्त होता है, उसके समक्ष अपना रूप प्रकट कर देता है।" इस वाक्य से केवल श्रवण मनन निदिध्यासन को आत्मप्राप्ति में असमर्थ बतला कर "वही जिसे वरण करता है उसके समक्ष प्रकट होता है" ऐसी साक्षात्-कार रूपा स्मृति का वर्णन किया गया है।

प्रियतम एव वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयं प्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति, यथायं प्रियतमात्मानं प्राप्नोति तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तम्—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" इति। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।" इति च। अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः स्मर्यमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परेणात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तं भवति; एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते। उपासनपर्यायित्वाद् भक्तिशब्दस्य। अत एव श्रुतिस्मृभिरेवमभिधीयते "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति", "तमेवं विद्वानमृत इह भवति", "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते", "नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥", "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया॥" इति।

प्रियतम व्यक्ति ही वरणीय होता है, जिस व्यक्ति के ये प्रभु अत्यन्त प्रिय होते हैं वही उनका प्रियतम होता है। जिस प्रकार यह प्रियतम उन्हें प्राप्त होता है वैसा प्रयास भगवान स्वयं ही करते हैं। ऐसा भगवान का ही कथन है—"प्रीतिपूर्वक निरन्तर भजन करने वालों को मैं ऐसी

ankurnagpal108@gmail.com

वुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें।" "ज्ञानी भक्तों का मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वे मेरे प्रियतम हैं।"

अत्यन्त प्रिय प्रभु ही स्वयं स्मृतिमार्ग में प्रकट होकर साक्षात्कार के अनुरूप अपनी प्रिय स्मृति प्रदान करते हैं, जिससे उपासक परमात्मा का वरणीय होता है, उसी से वह परमात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार की ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति शब्द से कही गयी है, उपासना शब्द भक्ति शब्द का पर्यायवाची है, इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। श्रुति-स्मृतियों से भी ऐसा ही ज्ञात होता है, जैसे—"उसको इस प्रकार जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है", "उसको जानकर मुक्त हो जाता है", "इसको जानने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "जैसा तुमने मुझे देखा है, मेरे इस रूप को वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ किसी भी साधन से नहीं देखा जा सकता", "मेरी अनन्य भक्ति द्वारा ही मेरे इस रूप को देखा और समझा जा सकता है", "केवल भक्ति द्वारा ही पर पुरुष को प्राप्त किया जा सकता है।" इत्यादि।

एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेः साधनानि यज्ञादीनि कर्माणि इति "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इत्यभिधास्यते। यद्यपि विविदिषन्तीति यज्ञादयो विविदिषोत्पत्तौ विनियुज्यन्ते, तथापि तस्यैव वेदनस्य ध्यानरूपस्याहरहरनुष्ठीयमानस्याभ्यासाधेयातिशयस्याप्रयाणादनुवर्तमानस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात्तदुत्पत्तये सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि। वक्ष्यति च "आ प्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्"। "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शननात्।" "सहकारित्वेन च" इत्यादिषु। वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह—"तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः संभवान्निर्वचनाच्च" इति।

इस प्रकार ध्रुवा स्मृति के साधनरूप यज्ञादि कर्म हैं, ऐसा "यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" सूत्र में बतलावेंगे। यद्यपि "विविदिषन्ति" इस श्रुति में यज्ञादि कर्मों को विविदिषोत्पत्ति में साधन बतलाया गया है, तथापि नित्य निरन्तर मरणपर्यन्त अनुष्ठीयमान, अभ्यास द्वारा उत्कृष्टता को प्राप्त ध्यान-

ankurnagpal108@gmail.com

रूप वेदन ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है, उसी की उत्पत्ति के लिए आश्रम विहित समस्त कर्मों का जीवन पर्यन्त अनुष्ठान करना चाहिए। सूत्रकार भी इसी बात का समर्थन "अप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्", "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्", "सहकारित्वेन च" इत्यादि सूत्रों में करते हैं। वाक्यकार विवेक आदि से ध्रुवानुस्मृति की निष्पत्ति कहते हैं—"विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से ध्रुवानुस्मृति होती है, शास्त्र भी इसका समर्थन करते हैं।"

विवेकादीनां स्वरूपंचाह—"जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् कायशुद्धिर्विवेकः" इति। तत्र निर्वचनम्—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति। "विमोकः कामानभिष्वङ्गः" इति। "शान्त उपासीत" इति निर्वचनम्, "आरम्भणः संशीलनं पुनः पुनरभ्यासः" इति। निर्वचनं च स्मार्त्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—"सदा तद्भावभावितः" इति। "पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया" इति। निर्वचनं "क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः", "तमे तंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेम तपसाऽनाशकेन" इति च। "सत्यार्जवदयादानाहिंसानभिध्याः कल्याणानि" इति। निर्वचनं "सत्येन लभ्यः", "तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः" इत्यादि। "देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः" इति। "तद्विपर्ययोऽनवसादः"। निर्वचनं "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति। "तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः" इति। तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः, अतिसंतोषश्च विरोधीत्यर्थः। निर्वचनमपि "शान्तो दान्तः" इति। एवं नियमयुक्तस्याश्रमविहितकर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं भवति।

विवेक आदि का स्वरूप भी बतलाते हैं— जाति आश्रय निमित्त दोषों से रहित अन्न से शरीर की रक्षा करना विवेक है। इस पर शास्त्र-प्रमाण जैसे—"आहार शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण की शुद्धि से ही ध्रुवा स्मृति होती है।" काम्य विषयों में आसक्ति न होना

ankurnagpal108@gmail.com

विमोक है। इस पर शास्त्र प्रमाण जैसे—"शान्त चित्त से उपासना करनी चाहिए।" अवलम्बनपूर्वक शुभ विषय के पुनः पुनः अनुशीलन को अभ्यास कहते हैं। शास्त्र प्रमाण में भाष्यकार इसमें स्मृतिवाक्य प्रस्तुत करते हैं—"सदा उस परमात्मभाव में निमग्न रहता है।" यथाशक्ति पंचयज्ञों के अनुष्ठान को क्रिया कहते हैं। शास्त्र प्रमाण जैसे—"ब्राह्मण वेदाध्ययन यज्ञ, दान, तप द्वारा भोगतृष्णारहित होकर परमात्मा को जानने की इच्छा करते है।" सत्य, सरलता, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या (सफल चिन्ता) को कल्याण कहते है। शास्त्र प्रमाण—"इस विरज (निर्दोष) ब्रह्मलोक को सत्य से प्राप्त करते हैं।" देश काल आदि की विपरीतता तथा शोक के कारणों की स्मृति से होने वाली मन की दुर्बलता और अप्रसन्नता को अवसाद कहते है, इनका न होना अनवसाद है। शास्त्र प्रमाण—"यह आत्मा बलहीन (दुर्बल मन वाले) व्यवित से लभ्य नही है।" उक्त अवसाद से होने वाले असंतोष को उद्धर्ष कहते हैं, उसकी विपरीत स्थिति है। "शान्तदान्त' आदि वाक्य इसका उदाहरण है। इन नियमो से युक्त आश्रम विहित कर्मानुष्ठान से ही विद्या की निष्पत्ति हो सकती है; यही वक्तव्य का साराश है।

तथाच श्रुत्यन्तरम् "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥" इति। अत्राविद्याशब्दाभिहितं वर्णाश्रमविहितं कर्म। अविद्यया कर्मणा, मृत्युं ज्ञानोत्पत्ति-विरोधि प्राचीनं कर्म, तीर्त्वा अपोह्य, विद्यया ज्ञानेन, अमृतं ब्रह्म, अश्नुते प्राप्नोति इत्यर्थः। मृत्युतरणोपायतया प्रतीता अविद्या विद्येतराद् विहितं कर्मैव, यथोक्तम्—"इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय ततुं मृत्युमविद्यया॥" इति।

एक दूसरी श्रुति भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती है—"जो प्रसिद्ध विद्या और अविद्या दोनों को जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण करके विद्या से अमृतत्व प्राप्त करते हैं।" यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ वर्णाश्रम विहित कर्म है। अर्थात् अविद्या—वर्णाश्रम कर्म द्वारा ज्ञानोत्पत्ति विरोधी प्रारब्ध कर्म से,—छुटकारा पाकर, विद्या—ज्ञान

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञान से, अमृत – ब्रह्म को प्राप्त करते है। मृत्युतरण के उपायरूप से प्रतीत अविद्या का तात्पर्य विद्याभिन्न वर्णाश्रम विहित कर्म ही है। जैसा कि कहा गया—"ज्ञान संपन्न उन्होंने भी ब्रह्मबुद्धि अवलंबनपूर्वक, अविद्या द्वारा ज्ञानविरोधी प्राक्तन कर्मों के निवारणार्थ बहुत से यज्ञों का अनुष्ठान किया।"

ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम् । ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति-विरोधित्वेनानिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम् । अस्य च ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविवृद्धि-द्वारेण । पापस्य च ज्ञानोदयविरोधित्वम्—"एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति श्रुत्या अवगम्यते । रजस्तमसोर्यथार्थज्ञानावरणत्वं सत्त्वस्य च यथार्थज्ञानहेतुत्वं भगवतैव प्रतिपादितं सत्त्वात्संजायते ज्ञानमित्यादिना । अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्, तन्निरसनञ्च अनभिसंहित-फलेनानुष्ठितेन धर्मेण । तथा च श्रुतिः—"धर्मेण पापमपनुदति" इति । तदेवं ब्रह्मप्राप्तिसाधनं ज्ञानं सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्, अतो अपेक्षितकर्मस्वरूपज्ञानं केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्व ज्ञानं च कर्म-मीमांसावसेयम् इति, सैवापेक्षिता ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्ता वक्तव्या ।

पुण्य-पाप रूप कर्म ही ज्ञान विरोधी हैं। ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी होने से दोनों ही अनिष्ट फलदायी हैं, इसलिए दोनों का ही पाप शब्द से कथन किया गया है। चित्तशुद्धि से ज्ञानोत्पत्ति होती है, रज और तम गुणों की वृद्धि करने वाला पाप उसके प्रतिकूल है, इसलिए वह ज्ञान-विरोधी है। पाप की ज्ञानोदय-विरोधिता "जिसको अधोगति देना चाहते हैं उससे भगवान ही पाप कराते हैं।" इस श्रुति से ज्ञात होती है। रज और तम की ज्ञानावरणता तथा सत्त्व की यथार्थ ज्ञानहेतुता का प्रतिपादन स्वयं भगवान ने ही "सत्वात्संजायतेज्ञानम्" इत्यादि से किया है, इसलिए ज्ञानोदय के लिए पाप कर्म का निरसन आवश्यक है, उसका निराकरण अनासक्त फल वाले कर्मानुष्ठान से ही हो सकता है। जैसा कि श्रुति-वाक्य भी है—"धर्म से पापों का निरसन होता है।"

ankurnagpal108@gmail.com

"इस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान आश्रमकर्म अपेक्षित सिद्ध होता है। अपेक्षित कर्म का स्वरूप तथा उपासना रहित कर्मों की अल्प अस्थिर फलता का स्वरूपज्ञान कर्ममीमासा से ही होता है, इसीलिए कर्ममीमासा को ब्रह्ममीमासा का पूर्वापेक्षित कहा गया है।

अपिच नित्यानित्यवस्तुविवेकादयश्च मीमांसाश्रवणमन्तरेण न संपत्स्यते, फलकरणेतिकर्त्तव्यताधिकारिविशेषनिश्चयादृते कर्मस्व-रूपतत्फलतास्थिरत्वास्थिरत्वात्मनित्यत्वादीनां दुरवबोधत्वात्। एषां साधनत्वं च विनियोगावसेयम्, विनियोगश्च श्रुतिलिङ्गादिभ्यः, स च तार्तीयः। उद्गीथाद्युपासनानि कर्मसमृद्धयर्थान्यपि ब्रह्मदृष्टि-रूपाणि, ब्रह्मज्ञानापेक्षाणीति इहैव चिन्तनीयानि। तान्यपि कर्माणि अनभिसंहितफलानि ब्रह्मविद्योत्पादकानीति तद्साद्गुण्यापादना-न्येतानि सुतरामिहैव संगतानि। तेषां च कर्मस्वरूपाधिगमापेक्षा सर्वसम्मता।

नित्य अनित्य वस्तु का विवेक आदि कर्ममीमासा के सुने बिना हो नही सकता, स्थिरतर फल साधन विषयक कर्त्तव्यता के लिए विशेष निश्चय आवश्यक है, उसके बिना कर्म का स्वरूप तथा उसके फल की स्थिरता और अस्थिरता रूपी नित्यता और अनित्यता जानना कठिन होगा। शम आदि ब्रह्मज्ञान के साधनों के विनियोग का ज्ञान भी इसी कर्ममीमांसा से हो सकता है, कर्ममीमांसा शास्त्र के तृतीय अध्याय में वर्णित श्रुतिलिंग आदि के आधार पर ही विनियोग का ज्ञान होता है। उद्गीथ आदि उपासनाएँ कर्मसमृद्धि की द्योतिका होते हुए भी ब्रह्मदृष्ट रूप होने से ब्रह्मज्ञान में अपेक्षित हैं, इसका विचार भी कर्ममीमांसा में ही किया गया है। वे कर्म भी निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर ब्रह्मविद्यो-त्पादक होते है, उद्गीथ आदि उपासनाएँ उन निष्काम कर्मों में उत्कर्ष प्रदान करती हैं, इसलिए उन सबकी इस ब्रह्म मीमांसा में संगति है तथा उन उद्गीथ आदि की कर्मसापेक्षता भी सर्वसम्मत सिद्ध होती है।

(महापूर्वपक्षः)—यदप्याहुः—अशेषविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः, तदतिरेकिनानाविधज्ञातृज्ञेयतत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं

ankurnagpal108@gmail.com

तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम्—"सदेव सौम्येदमग्र आसोदेकमेवाद्वितीयम्", "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते", "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्", "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्", "न दृष्टेर्द्रष्टारंपश्येः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः", "आनन्दो ब्रह्म", "इदं सर्वं यदयमात्मा", "नेह नानास्ति किंचन", "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति", "यत्र हि द्वैतम् इव भवति, तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्", "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्", "यदा हि एवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति", "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि", "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्", "प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्॥", "ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः । तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥", "परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते ।", "यदेतद् दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव । भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ॥", "ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः । अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥", "ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् । ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥", "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥", "यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम । तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते॥", "वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः । अभेदव्यापिनो वायोस्तथासौ परमात्मनः ॥",

ankurnagpal108@gmail.com

"सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् । इतीरितस्तेन स राजवर्यः तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ॥", "विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदम असन्तं कः करिष्यति ॥", "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।" "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।" "न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ।" इत्यादिभिर्वस्तुस्वरूपोपदेशपरैः शास्त्रैः निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम् अन्यत् सर्वं मिथ्या इत्यभिधानात् ।

महापूर्वपक्ष (शाकरमत)——सर्व प्रकार के विशेष धर्मो से रहित चिन्मय ब्रह्म ही यथार्थ सत्य है । उसके अतिरिक्त ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान आदि सभी प्रकार के भेद उस ब्रह्म मे ही कल्पित है, सभी मिथ्या है, जैसा कि "हे सौम्य ! यह सब कुछ पहले एक अद्वितीय सत् ही था,—बाद मे परा से अक्षर की अभिव्यक्ति हुई, जो बुद्धीन्द्रिय, अगम्य, कर्मेन्द्रिय, अगम्य, मूल कारण रहित, स्थूलता शुक्लता आदि अवस्थाओ से रहित, नेत्र-कान-हाथ पर रहित, नित्य, विभु, सूक्ष्म, अव्यय और भूतो के कारण है, उनको धीर लोग सभी ओर देखते है, ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है—वह अखड निष्क्रिय शात निर्दोष और निर्मल है, जो सोचते है कि हम ब्रह्म को नही जानते वस्तुत वे ही यथाथ ज्ञाता है, ब्रह्म विशेषज्ञो से अज्ञात तथा अज्ञो से ज्ञात है—वह दृष्टा की दृष्टि से दृष्ट तथा मनन करने वाले के मन से मननीय नही है —ब्रह्म आनन्द है,–यह सब कुछ आत्म-स्वरूप है, इसमे कोई विभिन्नता नही है,—जो इसमे भेद देखता है वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है,—जब द्वैत भाव में रहता है तभी दूसरे को दूसरा समझता है,—जब सब कुछ आत्मभूत है तो कौन किसे देखे, कौन किसे जाने ?—घट आदि केवल कहने मात्र के है, एक मात्र मिट्टी ही यथार्थ है,—जिस समय इसमें भेद देखता है तभी जीव भयभीत होता है, किसी भी उपाधि से परब्रह्म में दोनों बातें (सविशेषता और निर्विशेषता) नही हो सकती, सर्वत्र इसकी निर्विशेष, रूपता ही बतलाई गई है,—स्वप्न दृष्ट वस्तु मायामय है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति नही होती — भेद रहित, सत्ता मात्र, अगोचर, वाणी और अन्तः करण से संवेद्य ज्ञान ही ब्रह्म नाम वाला है —नितान्त निर्मल ज्ञानस्वरूप वह भ्रमवश विकारों

ankurnagpal108@gmail.com

के रूप में परिलक्षित होता है,—हे प्रभु ! एक मात्र आप ही परमार्थ सत्य है, और सब कुछ मिथ्या है, आप ज्ञानमय है, यह दृश्यमान जगत आपकी ही मूर्ति है, योग रहित व्यक्ति ही इस जगत को आपसे भिन्न देखता है, जो शुद्ध चित्त ज्ञाता है वे समस्त जगत को ज्ञानात्मक आपका ही रूप मानते हैं जो अपने और दूसरे शरीरों मे एक मात्र सत् को देखते है, उनका ऐसा विज्ञान ही परमार्थ है,द्वैत वादी वस्तुतः तथ्य नही जानते। जैसे एक व्यापक वायु वेणुरंध्रो मे प्रवेश करके षड्ज आदि नाम प्राप्त करता है, वैसे ही परमात्मा में भी भेद है। यदि मुझसे कुछ भिन्न है तब तो यह मैं हूं; अमुक दूसरा है ऐसा कहा जा सकता है, जो मैं हूं, वही तुम हो, तुम्हीं सब कुछ हो, तब भेदभ्रम छोड़ दो—इस प्रकार कहने पर उस राजा ने परमार्थ दृष्टि से भेद भाव का त्याग कर दिया। भेद के मूल कारण भ्रमात्मक वृत्ति के नष्ट हो जाने पर, आत्मा और ब्रह्म के भेद की बात कौन कर सकता है। मैं ही समस्त भूतों का हृदयस्थ आत्मा हूं। मुझे सब क्षेत्रों में क्षेतज्ञ जानो। मेरे अतिरिक्त स्थावर जंगम कुछ भी नहीं है।" इत्यादि वस्तु स्वरूप का निरूपण करने वाले शास्त्र वचनों से 'निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है और सब कुछ मिथ्या है" ऐसा सिद्ध होता है।

मिथ्यात्वं नाम प्रतीयमानत्वपूर्वकयथावस्थितवस्तुज्ञाननिवर्त्यत्वम्। यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादेः। दोषवशाद् हि तत्र तत्कल्पनम्। एवं चिन्मात्रवपुषि परे ब्रह्मणि दोषपरिकल्पितमिदं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदं सर्वं जगद् यथावस्थितब्रह्मस्वरूपावबोधबाध्यं मिथ्यारूपम्, दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधविचित्रविक्षेपकरी सदसद्-अनिर्वचनीया अनाद्यविद्या एव। "अनृतेन हि प्रत्यूढाः, तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्।", "नासदासीन्नो सदासीत्तदानी तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्।", "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।", "मम माया दुरत्यया।", "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धयते।" इत्यादिभिर्निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैवानाद्यविद्यया सदसदनिर्वाच्यया तिरोहितस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यति इत्यवगम्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

जिसकी पहले प्रतीति हो, यथार्थता का ज्ञान हो जाने पर जिस प्रतीति की निवृत्ति हो जाये, उस प्रतीत ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहते हैं जैसे कि रज्जु आदि अधिकरणो में सर्प आदि की भ्रान्ति। भ्रान्ति-वश ही रज्जु आदि मे सर्प आदि की परिकल्पना होती है। इसी प्रकार चिन्मात्र शरीर ब्रह्म मे देव, पशु पक्षी, मनुष्य, स्थावर आदि भेद वाला सारा जगत परिकल्पित है, जिससे कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप में बाधा रूप मिथ्यात्व की प्रतीति होती है। उक्त दोष की उत्पादिका, स्वरूप को तिरोहित करने वाली, विभिन्न विचित्र विक्षपकारणी, सत् असत् से विलक्षण, अकथ्य, अनादि अविद्या ही है। "अनृत (मिथ्या) द्वारा आवृत वह सत्य होते हुए भी असत्य है,—सृष्टि के पूर्व सत् असत् कुछ नही था एकमात्र तम (प्रकृति) ही था, उस समय प्रकेत (जीव—जगत) तम से ही आच्छादित था, माया को प्रकृति तथा मायावान् को महेश्वर जानो, ईश्वर माया द्वारा अनेक रूपों मे व्यक्त होता है, मेरी माया दुरतिक्रमणीया है, अनादि माया से सुप्त जीव जब उठता है।" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होना है कि निर्बिशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही स्वयं, सद् असद् अनिर्वचनीया माया से आवृत होकर अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है।

यथोक्तम्—"ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः। ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥ यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वकर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम्। तदा हि संकल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः॥ तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित् कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्। विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम्॥ ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसंगम्। एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥ सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्। एतत्तु यत् संव्यवहारभूतं तथापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥" इति। अस्याश्चाविद्याया निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन निवृत्तिं वदन्ति—"न पुनर्मृत्यवे

ankurnagpal108@gmail.com

तदेकं पश्यति।", "न मृत्यो मृत्युं पश्यति।", "यदा हि एवैष एतस्मिन्न-दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति ॥", "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥", "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।", "तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः।" इत्याद्याः श्रुतयः। अत्र मृत्युशब्देन अविद्याऽभिधीयते। यथा सनत्सुजातवचनम्—"प्रमादं वै मृत्यु-महं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि।" इति। "सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म।" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।" इत्यादि शोधकवाक्यावसेयनि-र्विशेषस्वरूपब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं च। "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽ-न्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद।", "अकृत्स्नो हि एष आत्मेत्येवो-पासीत।", 'तत्त्वमसि।", "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्व-मसि भगवो देवते तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमस्मि।" इत्यादि-वाक्यसिद्धम्। वक्ष्यति च एतदेव—"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति। तथा च वाक्यकारः—"आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः।" इति अनेन च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तिर्युक्ता।

जैसा कि—"यह अनंत भगवान ज्ञानस्वरूप हैं, वस्तुरूप नहीं, इसलिए शैल, सागर, पृथिवी आदि भेदों को विज्ञान का स्फुरण मात्र समझो। जब समस्त कर्म और उनके संस्कारों का क्षय हो जाता है तभी शुद्ध (अविद्या रहित), निर्दोष (रागादिशून्य), भेददृष्टि रहित ज्ञान का अपना वास्तविक रूप प्रकट होता है। इस निर्दुष्ट स्थिति में कल्पना रूपी वृक्ष के वस्तुभेदमय फल आदि का उद्गम नहीं होता। विज्ञान के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं है, अपने अपने कर्मों के भेद से जीव, एक विज्ञान को अनेक रूपों में देखते हैं। विशुद्ध, विमल, शोक लोभादि रहित, सदा एक, ज्ञान स्वरूप वे वासुदेव ही एक मात्र तथ्य हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ज्ञान ही सत्य है और सब कुछ असत्य है, ऐसे सत्य तथा जागतिक व्यवहारों का मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ।" इत्यादि श्रुतियों

ankurnagpal108@gmail.com

से ज्ञात होता है कि निर्विशेष शुद्ध चिन्मय ब्रह्म और आत्मा के अभेद ज्ञान मात्र से अविद्या की निवृत्ति होती है। "पुनः मृत्यु के लिए ही एकता नहीं देखता। अद्वैतदर्शी मृत्यु नहीं देखता। यह जीव जब अदृश्य, अनात्म्य (अशरीर), अकथ्य, निराधार ब्रह्म में निर्भय होकर प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसकी अभय गति होती है। परावर ब्रह्म कोदेखकर हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सारे संशय उच्छिन्न हो जाते हैं, समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। उन्हें इस प्रकार जानकर अमरता प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त मत की पुष्टि करती हैं। यहाँ मृत्यु शब्द अविद्यावाची है। सनत्सुजात संहिता में भी—"प्रमाद को ही मैं मृत्यु मानता हूँ तथा प्रमाद के अभाव को अमरता। ब्रह्म विज्ञान और आनंद स्वरूप है" इत्यादि वाक्यों से निर्विशेष ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता ज्ञात होती है। "यह दूसरा है, मैं दूसरा हूँ, ऐसा मानकर जो देवता की उपासना करता है, वह उपासना नहीं जानता, उपास्य को आत्मा मानकर उपासना करनी चाहिए। तुम वही हो। हे भगवन्, तुम मैं हूँ और मैं तुम हो; जो मैं हूँ सो वह है, जो वह है सो मैं हूँ।" इत्यादि वाक्यों से भी उक्त बात सिद्ध होती है। सूत्रकार भी "आत्मेति तूपगच्छन्ति" में ऐसा ही कहते हैं, तथा वाक्यकार—"ब्रह्म को आत्मा मानकर ग्रहण करो, क्योंकि सब कुछ उसी से निष्पन्न होता है" ऐसा कहकर उक्त बात की ही पुष्टि करते हैं। ऐसे ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से मिथ्या भ्रांति और उसकी मूल कारण अविद्या की निवृत्ति होती है, यह युक्तिसंगत बात है।

ननु च सकलभेदनिवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा, कथमिव शास्त्रजन्यविज्ञानेन क्रियते? कथं वा "रज्जुरेषा न सर्पः" इति ज्ञानेन प्रत्यक्षविरुद्धा सर्पनिवृत्तिः क्रियते? तत्र द्वयोः प्रत्यक्षयोर्विरोधः, इह तु प्रत्यक्षमूलस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य चेति चेत्; तुल्ययोर्विरोधे वा कथं बाध्यबाधकभावः? पूर्वोत्तरयोर्दुष्टकारणजन्यत्वतदभावाभ्यामिति चेत्; शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समानमेतत्।

(प्रश्न) समस्त भेद की निवृत्ति तो कहीं भी नहीं देखी जाती, शास्त्र जन्य ज्ञान से उसे कैसे निवृत्त किया जा सकता है? (उत्तर)

ankurnagpal108@gmail.com

"यह रज्जु है, सर्प नहीं" ऐसे ज्ञान से प्रत्यक्ष विरुद्धा सर्पभ्रांति की निवृत्ति कैसे कर लेते हो ? यदि कहो कि रज्जु और सर्प की प्रत्यक्षता में तो नितांत विपरीतता है और ब्रह्म-जगत संबंध में तो प्रत्यक्ष मूलक शास्त्र और प्रत्यक्ष का स्पष्ट विरोध है, (तो मैं पूछता हूँ कि) दोनों की तुलना और विरोध में तुमने बाध्य-बाधक भाव कैसे किया ? यदि कहो कि पूर्व बाध्यज्ञान दुष्ट कारणोत्पन्न होता है तथा पर बाधकज्ञान अदुष्ट कारण जन्य होता है (इस आधार पर हमने बाध्य-बाधक ज्ञान किया), (तो मैं कहता हूँ कि) अद्वैत बोधक शास्त्र तथा प्रत्यक्ष जागतिक भेद में भी उक्त सिद्धान्त लागू हो सकता है । दोनों एक सी ही बातें हैं ।

एतदुक्तं भवति—बाध्यबाधकभावे तुल्यत्वसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वादि न कारणम्, ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्दायोगात् । तत्र हि ज्वालैक्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते । एवं च सति द्वयोः प्रमाणयोः विरोधे यत् संभाव्यमानान्यथासिद्धिः, तद् बाध्यम्, अनन्यथासिद्धिमनवकाशमितरद् बाधकमिति सर्वत्र बाध्यबाधकभावनिर्णयः । तस्मादनादिनिधनाविच्छिन्नसंप्रदायासंभाव्यमानदोषगन्धानवकाशशास्त्रजन्यनिर्विशेषनित्यशुद्धमुक्तबुद्धस्वप्रकाशचिन्मात्रब्रह्मात्मभावावबोधेन संभाव्यमान दोषसावकाश प्रत्यक्षादि सिद्धविविधविकल्परूप बन्धनिवृत्तिर्युक्तैव । संभाव्यते च विविधविकल्पभेद प्रपञ्चग्राहिप्रत्यक्षस्य अनादिभेदवासनादिरूपाऽविद्याख्यो दोषः ।

बाध्य बाधक भाव में (प्रमाण की) तुल्यता, सापेक्षता या निरपेक्षता नहीं होती, जैसे कि—अग्नि शिखाओं के भेद से अग्नि की प्रत्यक्ष एकता में तो कोई बाधा नही होती; वहाँ एक ही ज्वाला की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है उसी प्रकार दो भावों की विरोधस्थिति में संभाव्य अन्यथा सिद्धि (जो प्रकारान्तर से सिद्ध हो सके) ही बाध्य कहलाती है तथा अनन्यथा सिद्ध बाधक कहलाती है । यही बाध्य बाधक भाव का सामान्य सिद्धान्त है । इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति विनाश रहित, अखंड, निर्दोष, प्रयोजनान्तर रहित, शास्त्रजन्य, निर्विशेष, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्व

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकाश चिन्मात्र ब्रह्म में एकात्म भाव होने से, संभावित दोषों की प्रत्यक्ष सिद्ध भेद कल्पना रूपी बंधन की विमुक्ति शास्त्र सम्मत है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में तो किसी न किसी प्रकार के दोष की संभावना रहती है, जिससे इस प्रपंचमय जगत् में विभिन्न भेदों की कल्पना ; अनादि भेदवासना रूपी अविद्या नामक दोष से होती है।

ननु अनादिनिधिनाविच्छिन्नसंप्रदायतया निर्दोषस्यापि शास्त्रस्यज्योतिष्टोमेन स्वर्ग "कामो यजेत्" इत्येवमादेर्भेदावलंबिनो बाध्यत्वं प्रसज्येत्। सत्यम् पूर्वापरापच्छेदे पूर्वशास्त्रवत् मोक्षशास्त्रस्य निरवकाशत्वात्तेन बाध्यत एव। वेदांतवाक्येष्वपि सगुणब्रह्मोपासनपराणां शास्त्राणामयमेव न्यायः निर्गुणत्वात्परस्यब्रह्मणः।

(शंका) यदि उक्त बात मान लेंगे तो — उत्पत्ति विनाश रहित, परंपरित, निर्दोष "स्वर्ग की कामना से ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि भेदावलम्बी शास्त्र वाक्य भी बाधित हो जायगा। (समाधान) पूर्व और परवर्त्ती वाक्य में अपच्छेद (व्याघात) होने पर पूर्व शास्त्र दुर्बल माना जाता है, इसलिऐ निरवकाश मोक्ष शास्त्र द्वारा — भेदावलंबी पूर्व शास्त्र का बाधित होना स्वाभाविक है। वेदांत वाक्यों में भी सगुण ब्रह्मोपासना के उपदेशक शास्त्रों में भी यही नियम है, क्योंकि परब्रह्म निर्गुण है।

ननु च "स सर्वज्ञः सर्ववित्", "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च", "सत्यकामः सत्य संकल्पः" इत्यादि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपराणां शास्त्राणां कथं बाध्यत्वं निर्गुणवाक्यसामर्थ्यादिति ब्रूमः। एतदुक्तं भवति—"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्", "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म," "निर्गुणं निरंजनम्" इत्यादिवाक्यानि निरस्तसमस्तविशेषकूटस्थनित्यचैतन्यं ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ति, इतराणि च सगुणम्। उभयविधवाक्यानां विरोधे तेनैवापच्छेदन्यायेन निर्गुणवाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद् बलीयस्त्वमिति न किंचिदपहीनम्।

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है"—"पर की ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं"— 'वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प है" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक शास्त्रों को बाध्य कैसे करोगे ? (उत्तर) निर्गुण विधायक वाक्यों के सामर्थ्य से । बात यह है– "ब्रह्म स्थूल महान् और दीर्घ नहीं है"—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है"—"वह निर्गुण निरंजन है"—इत्यादि वाक्य निर्विशेष नित्य चैतन्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं; और कुछ वाक्य सगुण के प्रतिपादक हैं। दोनों प्रकार के परस्पर विरुद्ध वाक्यों में उक्त अपच्छेद न्याय से निर्गुण विधायक वाक्यों की ही बलवत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि निर्गुण विधायक वाक्य गुण विधायक वाक्यों से पूर्ववर्त्ती होने से बलीय हैं। इसलिए हमारे मत में किसी प्रकार की हानि नहीं होती ।

ननु च–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्र सत्यज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते । नेत्युच्यते सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतेः । अनेक गुण-विशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धम्, इतिचेत्; अनभिधानज्ञो देवानां प्रियः । एकार्थत्वं नाम सर्वपदानामर्थैक्यम्; विशिष्टपदार्थाभिधाने विशेषणभेदेन पदानामर्थभेदोऽवर्जनीयः; ततश्चैकार्थत्वं न सिध्यति एवं तर्हि सर्वपदानां पर्यायिता स्यात् अविशिष्टार्थाभिधायित्वात् । एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायित्वमवहितमनाः शृणु । एकत्वतात्पर्य-निश्चयात् एकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यनीकत्वपरत्वेन सर्व-पदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायिता च ।

(शंका) "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इस वाक्य में सत्य ज्ञान आदि परमात्मा के गुण प्रतीत होते हैं। (समाधान) उक्त कथन ठीक नहीं है, इनमें परस्पर विशेषण विशेष्य भाव से एकार्थता प्रतीत होती है। यदि कहो कि अनेक गुण विशिष्ट मानने पर भी तो एकार्थता भंग नहीं होती। तो संभवतः आपको "देवानां प्रियः" वाक्य संबंधी नियम का ज्ञान नहीं है। समस्त पदों के अर्थैक्य की ही एकार्थता होती है; विशिष्ट पदों के अभिधान में तो विशेषण के भेद से पदों के अर्थ का भेद आवश्यक होता है, इसलिए उनमें एकार्थता की सिद्धि नही होती। (शंका) यदि

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसी बात है तो सभी पदो की पर्यायता सिद्ध होती है, क्योंकि सभी पदों में सामान्य अर्थ का अभिधान रहता है। (समाधान) पदों के एकार्थाभिधायी होने पर भी उनमें पर्यायता नही होती, इस बात को आप ध्यान देकर सुन ले कि पदो का एक ही अर्थ मे निश्चित तात्पर्य होता है जो कि अन्य से नितांत विपरीत होता है , जिससे समस्त पदों की सार्थकता , एकार्थता और अपर्यायता सिद्ध होती है।

एतदुक्तं भवति—लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतरपदार्थविरोधिरूपम्। तद् विरोधिरूपं सर्वमनेन पदत्रयेण फलतो व्युदस्यते। तत्र सत्यपदं विकारास्पदत्वेनासत्याद् वस्तुनो व्यावृत्त ब्रह्मपरम्, ज्ञानपदं चान्याधीनप्रकाशजडरूपाद् वस्तुनो व्यावृत्तपरम्, अनन्त पदं च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नव्यावृत्तपरम्। न च व्यावृत्तिर्भावरूपोऽभावरूपो वा धर्मः, अपितु सकलेतरविरोधि ब्रह्मैव। यथा शौक्ल्यादेः कार्ष्ण्यादिव्यावृत्तिस्तत्पदार्थस्वरूपमेव, न धर्मान्तरम्। एवमेकस्यैव वस्तुनः सकलेतरविरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरमेकार्थमपर्यायं च पदत्रयम्।

कथन यह है कि लक्षण से जानने योग्य ब्रह्म, अन्य समस्त पदार्थों से विलक्षण रूप वाला है। उसका यह विलक्षण रूप सत्य, ज्ञान और अनंत पदों से स्पष्ट हो जाता है, उसे समस्त पदार्थों से अलग कर देता है। "सत्य" पद विकारास्पद असत् वस्तुओं से अलग करने वाला, "ज्ञान" पद अन्य से प्रकाशित जड़ रूप से अलग करने वाला तथा "अनंत" पद देश काल और वस्तु की परिच्छिन्नता से अलग करने वाला है। उक्त व्यावृत्ति कोई भाव रूप या अभाव रूप वस्तु नहीं है अपितु ब्रह्म को सबसे विरोधी बतलाने की सूचक मात्र है। जैसे कि "शुक्लता दुर्बलता "आदि लक्षण उन उन पदार्थों के स्वरूप के सूचक पद हैं, उन पदार्थों के किसी अन्य गुण के ज्ञापक नही हैं। इसी प्रकार उक्त तीनों पद एक ही वस्तु (ब्रह्म) को अन्य सभी पदार्थो से विलक्षण आकार वाला प्रतीत कराते हैं, इस प्रकार उनकी सार्थकता, एकार्थता और अपर्यायता तीनों बातें संगत हो जाती हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

तस्मादेकमेव ब्रह्म स्वयंज्योतिर्निर्धूत निखिलविशेषमित्युक्तं भवति। एवं वाक्यार्थ प्रतिपादने सत्येव "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिभिरैकार्थ्यम्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिभिर्जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति। तत्र सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्येषु सर्वेषु सजातीयविजातीयव्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्मावगतम्, जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयस्य प्रतिपिपादयिषितं स्वरूपं तदविरोधेन वक्तव्यम्, अद्वितीयत्वश्रुतिगुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते। अन्यथा "निरञ्जनं निर्गुणम्" इत्यादिभिश्च विरोधः, अतश्चैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति।

इसीलिए उस अद्वैत ब्रह्म को स्वयं प्रकाश और प्रकार भेद रहित कहा गया है, (निर्विशेषता बोधक) वाक्य के अर्थ से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। "हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सब एक अद्वितीय सत् ही था" इत्यादि से एकार्थता तथा "जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं"—"पहिले सब सत् ही था"—"पहिले सब कुछ आत्मा ही था" इत्यादि से परमात्मा की जगत्कारणरूपता का निरूपण करके, उसके स्वरूप को इस प्रकार वर्णन किया गया कि—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है।"

सर्वशाखा प्रत्ययन्याय (उपनिषद् की एक शाखा में जो नियम निर्द्धारित किया गया, उसे सभी शाखाओं में सामंजस्य करने) के अनुसार कारणता बोधक सभी वाक्यों से सजातीय विजातीय सभी पदार्थों से विलक्षण अद्वैत ब्रह्म की अवगति होती है। जगतकारण रूप से उपलक्षित अद्वैत ब्रह्म के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वह निर्विरोध है ऐसा मानना चाहिए, अद्वैतता की प्रतिपादक श्रुति किसी भी प्रकार सगुण रूप को प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के आधार पर द्वैतभाव को सहन नहीं करती, अन्यथा "ब्रह्म निरंजन निर्गुण है" इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य तत्त्व से वह विरुद्ध सिद्ध हो जायगी, इससे सिद्ध होता है कि

ankurnagpal108@gmail.com

स्वरूप लक्षण बोधक (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म) वाक्य अखंड, एकरस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादक है।

ननु च—सत्यज्ञानादिपदानां स्वार्थप्रहाणेन स्वार्थविरोधिव्यावृत्तवस्तुस्वरूपोपस्थापनपरत्वे लक्षणा स्यात्। नैष दोषः, अभिधानवृत्तेरपि तात्पर्यवृत्तेर्बलीयस्त्वात्। सामानाधिकरण्यस्य हि ऐक्य एव तात्पर्यमिति सर्वसम्मतम्।

(शंका) सत्य ज्ञान आदि पद यदि अपने शब्दार्थ का परित्याग कर स्वार्थ विरुद्ध किसी विशेष वस्तुस्वरूप का स्थापन करते है तो, उन पदों में लक्षणा करनी होगी।

(समाधान) उक्त दोष नही होगा, क्योकि अभिधा वृत्ति (शब्द के मुख्यार्थ) से तात्यर्थ वृत्ति (तात्पर्यार्थ) बलवान होती है। सामानाधिकरण्य (अभेद विशेषण विशेष्य मानने) में ऐसा ही तात्पर्य होता है, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

ननु च—सर्वपदानां लक्षणा न दृष्टचरी। ततः किम्? वाक्यतात्पर्याविरोधे सत्येकस्यापि न दृष्टा, समभिव्याहृतपदसमुदायस्यैतत्तात्पर्यमिति निश्चिते सति द्वयोस्त्रयाणां सर्वेषां वा तदविरोधाय एकस्यैव लक्षणा न दोषाय, तथा च शास्त्रस्थैरभ्युपगम्यते। (कार्यवाक्यार्थवादिभिर्लौकिकवाक्येषु सर्वेषां पदानां लक्षणा समाश्रीयते, अपूर्वकार्य एव लिंगादेर्मुख्यवृत्तत्वात् लिंगादिभिः क्रियाकार्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते। कार्यान्वितस्वार्थाभिधायिनां चेतरेषां पदानामपूर्वकार्यान्वित एव मुख्यार्थं इति क्रियाकार्यान्वितप्रतिपादनं लाक्षणिकमेव। अतो वाक्यतात्पर्याविरोधाय सर्वपदानां लक्षणापि न दोषः, अत इदमेवार्थजातं प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः प्रमाणम्।)

(शंका) सभी पदों की लक्षणा तो कही भी नहीं देखी जाती। (उत्तर) इससे क्या होता है? वाक्य के विरुद्ध तात्पर्य होने पर तो एक पद की

ankurnagpal108@gmail.com

लक्षणा भी नहीं देखी जाती। वस्तुतः एक साथ प्रयुक्त पदों के वाक्य का यही तात्पर्य है, ऐसा निश्चित हो जाने पर दो या तीन या सभी पदों की, उनके अविरुद्धार्थ प्रकाशन के लिए, एक जैसी लक्षणा करना दोष नही है, ऐसा शास्त्रज्ञ भी स्वीकार करते हैं। कार्य वाक्यार्थ-वादी तो लौकिक वाक्यों में सभी पदों की लक्षणा स्वीकार करते हैं। उनके मत में लिंग आदि (विविध प्रत्यय) का मुख्य अर्थ "अपूर्व कार्य" ही है, इससे ज्ञात होता है कि लिंग आदि से यज्ञादि क्रिया का जो कार्य निश्चित होता है, वह भी लक्षणा द्वारा ही होता है। अन्यान्य यज्ञादि क्रिया बोधक वाक्यों से संबद्ध पदों का ज़ब अपूर्वकार्य संबद्ध अर्थ ही मुख्यार्थ होता है तो, जो पद एक मात्र अनुष्ठेय कर्म संबंधी अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं, वे तो लाक्षणिक ही होंगे। इसलिए वाक्य तात्पर्य के विरोध निवारण के लिए सभी पदों की लक्षणा भी दोषावह नहीं होगी। इस पूर्व मीमांसा के सिद्धांत का प्रतिपादन करने से ही वेदांत वाक्य प्रामाणिक हैं।

प्रत्यक्षादि विरोधे च शास्त्रस्य बलीयस्त्वमुक्तम्, सति च विरोध बलीयस्त्वं वक्तव्यम्, विरोध एव न दृश्यते, निर्विशेषसन्मात्र-ब्रह्मग्राहित्वात्प्रत्यक्षस्य।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के पारस्परिक विरोध होने पर शास्त्र प्रमाण की बलवत्ता कही गयी है। विरोध होने पर ही बलवान प्रमाण की बलबत्ता माननी चाहिए, यहाँ तो कोई विरोध ही नहीं दीखता, निर्विशेष सत् स्व-रूप ब्रह्म ही एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य है।

ननु च—घटोऽस्ति पटोऽस्तीति नानाकारवस्तुविषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्रग्राहीत्युच्यते। विलक्षणग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिकविज्ञानवदेकव्यवहारहेतुतैव स्यात्।

(उक्त मत पर आपत्ति) घट और पट के अस्तित्व के समान अनेक जागतिक आकारों की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, तो यह कैसे कहा कि—

ankurnagpal108@gmail.com

"निर्विशेष सत् ही एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ग्राह्य है ? यदि उक्त बात ही सही होती, कि समस्त जगत में विभिन्नताओं की प्रतीति का अभाव तथा एक मात्र सत् की ही प्रतीति होती, तो जगत् संबंधी सारी प्रतीतियाँ एक ही प्रकार की होतीं, सभी में सदा प्रवाहमय एक सी ही प्रतीति होती रहती तथा सभी पदार्थों में एक सा ही व्यवहार होता रहता [सो तो है नहीं अतः उक्त कथन निराधार है] ।

सत्यम्; तथैवात्र विविच्यते। कथम्? घटोऽस्तीत्यत्र अस्तित्वं तद्भेदश्च व्यवह्रियते; न द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्षमूलत्वम् संभवति तयोः भिन्नकालज्ञानफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानस्य चैकक्षणवर्त्तित्वात् तत्र स्वरूपं वा भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति विवेचनीयम्। भेदग्रहणस्य स्वरूपग्रहणतत्प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वादेव स्वरूप विषयत्वमवश्यमाश्रयणीयमिति। न भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते, अतो भ्रान्तिमूल एव भेदव्यवहारः।

(उक्त आपत्ति का निराकरण) ठीक है, आपकी शंकानुसार हम यहाँ उक्त विचार का विवेचन करते है। में पूछता हूँ कि "घट है" इस प्रतीत में उस वस्तु के अस्तित्व और उस वस्तु की अन्य वस्तु से भिन्नता का व्यवहार किस आधार पर करते हो ? दो वस्तुओं का एककालिक व्यवहार प्रत्यक्ष मूलक तो हो नहीं सकता (अर्थात् दो वस्तुएं एक साथ ही देख कर समझी नहीं जा सकतीं) क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षण में एक ही वस्तु का सभंव है तथा दो वस्तुओं की भिन्न काल में ही प्रतीति होती है। इसलिए वस्तु का स्वरूप या भेद प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है या नहीं ; यह विवेचन का विषय है। वस्तु की स्वरूपानुभूति और जिस वस्तु से उसका भेद करना है, ऐसी प्रतियोगी वस्तु को भूल जाने के बाद तो कभी भेद निर्धारण किया नहीं जा सकता, इसलिए वस्तु के स्वरूप को ही केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय मानना चाहिए, भेद को नहीं, क्योंकि भेद की प्रत्यक्ष प्रतीति तो होती नहीं ; इससे सिद्ध होता है कि भेद का व्यवहार भ्रान्ति मूलक ही है।

किंच—भेदो नाम कश्चित् पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूपयितुं न शक्यते। भेदस्तावन्न वस्तुस्वरूपम्, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहार

ankurnagpal108@gmail.com

वत् सर्वस्माद् भेदव्यवहार प्रसक्तेः। न च वाच्यम्—स्वरूपे गृहीतेऽपि भिन्न इति व्यवहारस्य प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वात्, तत्स्मरणाभावेन तदानीमेव न भेदव्यवहार इति। स्वरूपमात्रभेदवादिनो हि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा, स्वरूपभेदयोः स्वरूपत्वाविशेषात्। यथा स्वरूपव्यवहारो न प्रतियोग्यपेक्षः, भेदव्यवहारोऽपि तथैव स्यात् हस्तः कर इतिवत् घटोभिन्न इति पर्यायत्वं च स्यात्। नापि धर्मः धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद् भेदोऽवश्यमाश्रयणीयः अन्यथा स्वरूपमेव स्यात्। भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मः तस्यापीत्यनवस्था। किं च, जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणं, भेदग्रहणे सति जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणमित्यन्योन्याश्रयणम् अतो भेदस्य दुर्निरूपत्वात् सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम्।

नैयायिक विद्वान भेदनामक किसी पदार्थ विशेष का निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि भेद कोई वस्तु रूप तो है नही, यदि उसे वस्तु रूप मान लेंगे तो, स्वरूप व्यवहार की तरह, सभी पदार्थों से सभी का भेदव्यवहार सिद्ध हो जायगा। यह नहीं कह सकते कि स्वरूप का ग्रहण होने पर भी "यह वस्तु अमुक से भिन्न है" ऐसी प्रतीति में प्रतियोगी वस्तु की स्मृति अपेक्षित है, क्योंकि उस वस्तु की यदि विस्मृति हो गई तो उस समय भेद करना कठिन हो जाता है। जो लोग केवल स्वरूप में ही भेद मानते हैं वे भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना भेद का निर्णय नहीं कर सकते, क्योंकि स्वरूप भेद में कोई विशेष स्वरूपता तो होती नहीं (अर्थात् एक घट से दूसरे घट का भेद करने में भी यह स्मरण रखना आवश्यक हो जाता है कि अमुक घट, अमुक घट से अमुक कारण से भिन्न है, अन्यथा घटों का स्वरूप तो प्रायः समान ही होता है उसमें भेद करना कठिन होगा) जैसे स्वरूप के व्यवहार में प्रतियोगी वस्तु अपेक्षित नहीं है, केवल उसकी स्मृतिमात्र अपेक्षित है, उसी प्रकार भेद व्यवहार में भी स्मृतिमात्र अपेक्षित है। हाथ और कर के पर्याय के समान, दो भिन्न घट भी एक दूसरे के पर्याय मात्र ही हैं; [भिन्न वस्तु नहीं हैं] भेद कोई धर्म भी नहीं है, यदि उसकी धर्मता हो

ankurnagpal108@gmail.com

जायगी तो उस धर्म का स्वरूप से भी भेद मानना पडेगा (क्योकि धर्म और धर्मी मे भेद होता है), अन्यथा भेद ही वस्तु का स्वरूप हो जायेगा, और फिर भेद मे भेद होते चले जायेगे जिससे अव्यवस्था (गडवड़ घोटाला) हो जायगी। घट आदि एक जाति मे शुक्लता आदि विशेष गुणो के आधार पर ही उनके स्वरूपगत भेद की प्रतीति होती है उस भेद प्रतीति से ही जाति विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष घटित होता है। इस तरह भेद का विवेचन दुरूह है, [स्वरूप, जाति आदि भेदो को एक मिथ्या भ्रान्ति ही मानना चाहिए] वस्तुत: सत् वस्तु ही प्रत्यक्ष लब्ध है [समस्त विभिन्नताये उसी की रूपान्तरमात्र है]

किं च—घटोऽस्ति पटोऽस्ति, घटोऽनुभूयते पटोऽनुभूयते इति सर्वे पदार्था: सत्तानुभूतिघटिता एव दृश्यन्ते। अत्र सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमनुवर्त्तमान दृश्यत इति तदेव परमार्थं.। विशेषास्तु व्यावर्त्त-मानतया अपरमार्था. रज्जुसर्पादिवत्। यथा रज्जुरधिष्ठानतयाऽनु-वर्त्तमाना परमार्थसती; व्यावर्त्तमानास्सर्पभूदलनाम्बुधारादयो अपरमार्था.।

घट है—पट है, घट की अनुभूति होती है—पट की अनुभूति होती है इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तित्व और अनुभवगम्य प्रतीत होते है। इन सबकी प्रतीति मे एक अस्तित्ववान् सन् वस्तु अनुस्यूत है, ऐसा निश्चित है; वह अनुस्यूत सत् ही परमार्थ है, यह मानना चाहिए। बाकी जो वस्तु-गत विशेषतायें है, जो कि एक दूसरे से भिन्न प्रतीति कराने वाली है; वे सब, रज्जु सर्प की तरह मिथ्या है। जैसे कि सर्प की अधिष्ठान रज्जु सत्तावाली होने से सत्य मानी जाती है तथा परिवर्तन शील सर्प, भ्रू भ्रंश रेखा और जलधारा आदि भ्रामक होने से असत्य माने जाते है।

ननु च रज्जुसर्पादौ रज्जुरियं न सर्प इत्यादिरज्ज्वाद्यधिष्ठा-नयाथार्थ्यज्ञानेन बाधितत्वात् सर्पादिरपारमार्थ्यम्, न व्यावर्त्तमान-त्वात्, रज्ज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्त्तमानतया, किन्तु अबाधितत्वात्। अत्र त घटादीनामबाधितानां कथमपारमार्थ्यम् ?

ankurnagpal108@gmail.com

(आपत्ति) आपने जो रज्जुसर्प का उदाहरण प्रस्तुत किया उसमें तो—"यह रज्जु है सर्प नही" इत्यादि अवगति मे रज्जु आदि अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सर्प आदि सबधी असत्य भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है, परिवर्तन शील होने से उक्त भ्रान्ति का निराकरण होता हो सो तो है नही। रज्जु आदि की जो यथार्थ रूप से सर्व प्रतीति है, वह सत्तात्मक नही है अपितु अबाधित है (अर्थात सर्पाकृति रज्जु मे जिस समय सर्प प्रतीति होती है, उस समय यथार्थ ज्ञान रूपी बाधा तो उपस्थित होती नही जिससे रज्जु की रज्जुता का ज्ञान हो सके उस समय तो रज्जु मे सर्प की ही यथार्थ प्रतीति होती है जो कि तात्कालिक भ्रान्तिमात्र है) पर घट आदि वस्तुओ मे जो भिन्नता की प्रतीति होती है वह तो नितान्त अबाधित है (अर्थात इसमे तो रज्जु मे सर्प प्रतीति की भाति कोई दूसरी प्रकार की प्रतीति होती नही जो बाध्य होने पर भ्रान्त सिद्ध हो सके' यहाँ तो प्रारंभ से अ त तक घट मे घट की ही प्रतीति होती है) इसलिए इन पदार्थो की भेद प्रतीति को कैसे मिथ्या कहते है ?

उच्यते—घटादौ दृष्टा व्यावृत्तिः सा किंरूपेति विवेचनीयम्। किं घटोऽस्तीत्यत्र पटाद्यभावः ? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन पटादीनां बाधितत्वम्; अतो बाधफलभूता विषयनिवृत्तिर्व्यावृत्तिः। सा व्यावर्त्तमानानामपारमार्थ्यं साधयति। रज्जुवत्सन्मात्रमबाधितमनुवर्त्तते। तस्मात्सन्मात्रातिरेकि सर्वमपरमार्थः। प्रयोगश्च भवति—सत् परमार्थः, अनुवर्त्तमानत्वात्, रज्जुसर्पादौ रज्ज्वादिवत्, घटादयोऽपरमार्थाः व्यावर्त्तमानत्वात्, रज्ज्वाद्यधिष्ठान सर्पादिवत् इति। एवं सति अनुवर्त्तमानाऽनुभूतिरेव परमार्था, सैव सती।

(उक्त आपत्ति का निराकरण) घट आदि में दीखने वाली भिन्नता किस प्रकार की है, यह विवेचनीय विषय है। "घट है" ऐसी प्रतीति में, क्या पट आदि के अभाव का बोध होता है? यदि ऐसी बात है तो,—"घट है" इतना कहने से ही पट आदि के अस्तित्व में बाधा उपस्थित हो जाती है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि—पटादि विषयक निषेधात्मक जो व्यावृति (भिन्नता) है वह पट आदि की बाधता के फल स्वरूप ही

ankurnagpal108@gmail.com

जो कि पट आदि की व्यावर्तमान असत्यता को व्यक्त करती है। रज्जु की तरह अबाधित सत्ता मात्र का अनुवर्त्तन (अनुसरण) करती है (कोई नई बात तो करती नही) इससे सिद्ध होता है कि—सत् के अतिरिक्त बाकी सब कुछ असत्य है। ऐसा कहा भी जाता है कि-"सत्" ही एक मात्र सत्य है, इसी की हर जगह अनुवृत्ति होती है, जैसे कि रज्जु सर्प में रज्जु सत्ता की अनुवृत्ति है। घट आदि पदार्थ मिथ्या है, क्यो कि वे भी रज्जु आदि आश्रयो मे व्यावर्त्तित सर्प की भाति व्यावर्त्तमान है। इस से निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु में होने वाली अनुभूति वास्तविक सत्य है, और वही सत् है।

ननु च—सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततो भिन्नम्। नैवम्; भेदो हि प्रत्यक्षाविषयत्वाद्दुर्निरुपत्वाच्च पुरस्तादेव निरस्तः। अत एव सतोऽनुभूतिर्विषयभावोऽपि न प्रमाणपदवीमनुसरति; तस्मात्सदनुभूतिरेव। सा च स्वतः सिद्धा अनुभूतित्वात्। अन्यतः सिद्धौ घटादिवदननुभूतित्वप्रसंगः। किं च अनुभवापेक्षा चानुभूतेर्न शक्या कल्पयितुम्, सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्। न हि अनुभूतिर्वर्त्तमाना घटादिवदप्रकाशा दृश्यते येन परायत्तप्रकाशाऽभ्युपगम्येत।

(आपत्ति) यदि आपके मत से एकमात्र सत् ही अनुभूति का विषय है तब वह भिन्न रूप वाला ही है (क्योकि—जागतिक अस्तित्व वाले पदार्थो मे भिन्नता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है)

(निराकरण) ऐसी बात नही है; प्रत्यक्ष का अविषय तथा दुर्बोध होने से भेद का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। सत् अनुभूति का विषय होते हुए भी प्रमाणित नही किया जा सकता, सत् की अनुभूति ही उसका स्वतः प्रमाण है क्योंकि उसकी अनुभूति होती है यदि सत् की अनुभूति अन्य प्रमाणों से सिद्ध होने लगे तो उसकी घट आदि स्थूलों की सी अनुभूति होगी, जो कि उसके अपने वास्तविक स्वरूप से नितान्त विपरीत होगी। अस्तित्व की अनुभूति अपनी सत्ता से ही स्वयं प्रकाशित होती है, इसके लिए अन्य प्रकार की अनुभूति की कल्पना भी शक्य नही है। घट आदि की अनुभूति की तरह, इस अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रकाश

ankurnagpal108@gmail.com

भी नहीं होता, जिससे उसके प्रकाश को परायत्त (पराश्रित) कहा जा सके।

अथैवं मनुषे—उत्पन्नायामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते घटोऽनुभूयते इति। न हि कश्चिद् घटोऽयमिति जानन् तदानीमेवाविषयभूतामनिदम्भावामनुभूतिमप्यनुभवति। तस्माद् घटादिप्रकाशनिष्पत्तौ चक्षुरादिकरणसन्निकर्षवदनुभूतेः सद्भाव एव हेतुः। तदनन्तरमर्थगतकादाचित्कप्रकाशातिशयलिंगेनानुभूतिरनुमीयते।

यदि ऐसा मानें कि—अनुभूति के होने पर केवल विषय की ही प्रतीति होती है, जैसे कि घट अनुभूत होता है, सो तो है नहीं। घट की अनुभूति में नेत्र आदि इन्द्रियों का संपर्क रहता है वैसा इस अलौकिक सद् अनुभूति में तो होता नहीं यह तो अतीन्द्रिय अनुभूति है, इसका अस्तित्व मात्र ही अवभासित होता है। घट आदि अनुभूतियों से विलक्षण, जागतिक पदार्थों के क्रियाकलापों के अन्दर ही आकस्मिक अलौकिक प्रकाश के रूप में सत् की अनुभूति की अनुमिति होती है।

एवं तर्हि अनुभूतेरजडाया अर्थवज्जडत्वमापद्यत इति चेत्; किमिदमजडत्वं नाम? न तावत् स्वसत्तायाः प्रकाशाकाभिचारः, सुखादिष्वपि तत्संभवात्, नहि कदाचिदपि सुखादयस्सन्तो नोपलभ्यन्ते, अतोऽनुभूतिः स्वयमेव नानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽङ्गुल्यग्रस्य स्वात्मस्पर्शवदशक्यत्वादिति।

यदि कहो कि उक्त मत स्वीकारने से, घट आदि विषयों की तरह, चिन्मय अनुभूति भी जड़ हो जायगी तो उसकी अजड़ता (चिन्मयता) का स्वरूप क्या है? स्वयं प्रकाशित शुद्ध अस्तित्व को तो चिन्मयता कह नहीं सकते, यदि ऐसा मानेंगे तो सुखादि में भी चिन्मयता की संभावना हो जायेगी; सुख आदि अनुभूतियाँ कभी भी अनुपलब्ध तो होती नहीं (उनकी तो सदा उपलब्धि होती है) अनुभूति स्वयं ही अपना भान नहीं कर पाती जैसे कि—अंगुली के अग्रभाग से समस्त पदार्थों की स्पर्शानुभूति होती है, पर स्वयं अपने को स्पर्श करने की क्षमता अंगुली में नहीं होती।

ankurnagpal108@gmail.com

तदिदमनाकलितानुभवविभवस्य स्वमतिविजृम्भितम्, अनुभूतिव्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः उभयाभ्युपेतानुभूत्यैवाशेषव्यवहारोपपत्तौ प्रकाशस्य धर्मकल्पनानुपपत्तेश्च। अतो नानुभूतिरनुमीयते, नापि ज्ञानान्तरसिद्धा, अपितु सर्व साधयन्त्यनुभूतिः स्वयमेव सिद्ध्यति। प्रयोगश्च अनुभूतिरन्याधीनस्वधर्मव्यवहाराः, स्वसंबन्धादर्थान्तरे तद्धर्मव्यवहारहेतुत्वात्, यः स्वसंबन्धादर्थान्तिरे यद्धर्मव्यवहारहेतुः स तयोः स्वस्मिन्ननन्याधीनो दृष्टः, यथा रूपादिश्चाक्षुषत्वादौ। रूपादिर्हि पृथिव्यादौ स्व संबन्धाच्चाक्षुषत्वादि जनयन् स्वस्मिन् न रूपादि संबन्धाधीनश्चाक्षुषत्वादौ, अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे च स्वयमेव हेतुः।

उक्त प्रकार की आपत्तियां, अनुभूति के महत्व को न जानने वालों की मनगढन्त कल्पनामात्र हैं। अनुभूति से भिन्न, स्थूल विषयों की, रूप आदि धर्मो से जैसी अभिव्यक्ति होती है, वैसी उपलब्धि अनुभूति की तो होती नही। यदि (वादी-प्रतिवादी) दोनों की अनुभूति चिन्तन के आधार पर ही सारे व्यवहारों की सिद्धि हो जायतो विषय प्रकाशक नामक अतिरिक्त धर्म कल्पना की आवश्यकता ही क्या है? अनुभूति का अनुमान नहीं किया जा सकता और न किन्ही अन्य प्रकार के ज्ञान से ही उसे सिद्ध किया जा सकता है, अपितु सभी व्यवहारों की साधिका अनुभूति स्वयं सिद्ध वस्तु है। इसके लिए ऐसा कहा जा सकता है कि—अनुभूति अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति में किसी अन्य के अधीन नहीं है, अनुभूति तो अपने से संबद्ध अन्य विषयों के व्यवहार की कारण है। जो अन्य विषयों के व्यवहार का हेतु है, वह अपने धर्म और व्यवहार में दूसरे के अधीन नहीं हो सकती। जैसे कि—श्वेत पीत आदि रूप, जो स्वसंबंधी पृथिवी आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष कराते हैं, वे स्वयं किसी पृथक् कारणों की अपेक्षा नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि—अनुभूति स्वयं प्रकाश होने से, "प्रकाशते" इस व्यवहार की स्वयं ही कारण है।

ankurnagpal108@gmail.com

सेयं स्वयंप्रकाशाऽनुभूतिर्नित्या च, प्रागभावाद्यभावात् । तदभावश्च स्वतस्सिद्धत्वादेव । न हि अनुभूतेः स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावः स्वतोऽन्यतो वाऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिः स्वाभावमवगमयन्ती, सती तावन्नावगमयति । तस्याः सत्त्वे विरोधादेव तदभावो नास्तीति कथं सा स्वाभावमवगमयति ? एवमसत्यपि नावगमयति, अनुभूतिः स्वयमसती स्वाभावे कथं प्रमाणं भवेत् । नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते, अनुभूतेरनन्यगोचरत्वात् । अस्याः प्रागभावे साधयत् प्रमाणम् "अनुभूतिरियम्" इति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत् । स्वतस्सिद्धत्वेन इयमिति विषयीकारानर्हत्वात्, न तत्प्रागभावोऽन्यतः शक्यावगमः, अतो अस्याः प्रागभावाभावात् उत्पत्तिर्न शक्यते वक्तुम् इति, उत्पत्ति प्रतिबद्धाश्चान्येऽपि भावविकारास्तस्या न सन्ति ।

ऐसी स्वयं प्रकाशा अनुभूति नित्या है क्योंकि इसमें प्रागभाव आदि अभावों का अभाव है । यह स्वतः सिद्ध है, इसीलिए इसमें किसी प्रकार के अभाव नहीं हैं । स्वतः सिद्ध अनुभूति का प्रागभाव,स्वयं यां किसी अन्य साधन से जाना नहीं जा सकता । अनुभूति अपने अभाव को जानती हुई भी स्वयं उतना नहीं जानती । क्योंकि, अनुभूति के अस्तित्व में तो उसका अभाव रहता नहीं,इसलिए वह अपने अभाव को जाने भी कैसे? इसी प्रकार वह अपने अनस्तित्व को भी नहीं जान सकती। अनुभूति जब स्वयं अस्तित्व हीन होती है उस समय अपने अभाव को प्रमाणित भी कैसे कर सकती है ? उसके अभाव को किसी अन्य साधन से भी नहीं जान सकते, क्यों कि-अनुभूति किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है । कोई भी प्रमाण इसके प्रागभाव को बतलाने के प्रथम "वह अनुभूति है" ऐसा अस्तित्व का अनुभव करके ही उसका अभाव बतला सकता है; पर जो स्वयं सिद्ध वस्तु है, उसे "यह" कहकर संबोधित करना भी शक्य नहीं है । इसलिए अनुभूति के प्रागभाव को अन्य किसी भी प्रमाण से प्रमाणित नहीं कर सकते । इस प्रकार जब इसका प्रागभाव ही नहीं सिद्ध होता, तो इसकी उत्पत्ति की बात भी कैसे कही जा सकती है, और जब इसकी उत्पत्ति असिद्ध हो जाती है, तब अन्य

ankurnagpal108@gmail.com

(बृद्धिक्षय आदि) होने वाले विकार भी इसमें नही है यह भी निश्चित बात है।

अनुत्पन्नेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहते, व्यापकविरुद्धोपलब्धेः। न हि अनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टम्। भेदादे..मनुभाव्यत्वेन च रूपादेरिवानुभूतिधर्मत्वं न संभवति, अतोऽनुभूतेरनुभवस्वरूपत्वादेवान्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नास्या धर्मः यतो निर्द्धूतनिखिलाभेदा संवित्। अतएव नास्याः स्वरूपातिरिक्त आश्रयो ज्ञाता नाम कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपा सैवात्मा अजडत्वाच्च। अनात्मत्वव्याप्तं जडत्वं संविदि व्यावर्त्तमानमनात्मत्वमपि हि संविदि व्यावर्त्तयति।

जन्म रहित यह अनुभूति अपने मे अनेकता भी नही सह सकती' क्योकि अनेकता होने से उसकी व्यापक उपलब्धि से विरूद्धता होती है। जन्म रहित वस्तु की अनेकता देखी भी नही जाती। अनुभव से होने वाले भेद आदि की, रूप रस आदि की तरह अनुभूति धर्मता नही हो सकती (अर्थात रूप रस आदि विषयो की जैसी विभिन्न प्रकार की प्रतीति होती है, वैसी अनुभूति लब्ध भेद प्रतीति नही होती अनुभूति की अपनी निराली ही प्रतीति होती है)स्वय अनुभव स्वरूप होने से अनुभूति का अनुभावक कोई अन्य नही हो सकता क्योकि–यह सवित समस्त भेदों से रहित स्वच्छ स्वरूपा है। इसीलिए इसके स्वरूप के अतिरिक्त इसका कोई नामी जानकार नही है; स्वय प्रकाशरूपा वह स्वयं ही अपनी ज्ञाता है क्योकि वह चैतन्य है। जडता अनात्म वस्तुओ मे ही व्याप्त है, अनुभूति जडता रहित है, इसलिए उसकी अनात्मता भी बाधित हो जाती है (अर्थात अनुभूति आत्मरूप है)

ननु च—अहं जानामीति ज्ञातृता प्रतीतिसिद्धा। नैवम्—सा भ्रान्तिसिद्धा; रजततेव शुक्तिशकलस्य; अनुभूतेः स्वात्मनि कर्तृत्वायोगात्, अतो मनुष्योऽहमित्यन्तबहिर्भूतमनुष्यत्वादिविशिष्ट-

ankurnagpal108@gmail.com

पिण्डात्माभिमानवत् ज्ञातृत्वमपि अध्यस्तम्। ज्ञातृत्वं हि ज्ञानक्रिया-कर्तृत्वम्, तच्च विक्रियात्मकं जडं विकारिद्रव्याहंकारग्रन्थिस्थम् अविक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथमिव संभवति ?

(संशय)–"मैं जानता हूं" ऐसी ज्ञातृता तो प्रतीति सिद्ध है (फिर कैसे कहते हैं कि–अनुभूति स्वयं सिद्ध वस्तु है, किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है ?) (समाधान) बात ऐसी नहीं है सीप के टुकड़े में जैसी चांदी की भ्रांति होती है, वैसी ही" मैं जानता हूं" इस प्रतीति में आत्मज्ञान की भ्रांति होती है। आत्मा में स्वतंत्र अनुभूति करने का अभाव है। मैं मनुष्य हूं" ऐसी जो प्रतीति होती है, वह आत्मा से अत्यन्तभिन्न, मनुष्यता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त पांचभौतिक शरीर में होती है जो कि वस्तुतः आत्मा नहीं है; शरीर में अहं की प्रतीति आत्माभिमान मात्र है जो कि भ्रांति है। उसी तरह" मैं जानता हूं" यह प्रतीति भी मिथ्या भ्रांति है। ज्ञान क्रिया कर्तृत्व ही तो ज्ञातृता है, जो कि विक्रियात्मक, जड, विकारी द्रव्य अहंकार ग्रन्थि में स्थित है, अविकृत साक्षिस्वरुप चिन्मात्र आत्मा में ऐसी विकृत ज्ञातृता कैसे संभव है ? (अर्थात विकारी अहंकार ग्रन्थि में स्थित ज्ञातृता अनात्म है, इसलिए वह भ्रांत और अप्रामाणिक है। अनुभूति आत्म स्वरुप है अतः वही सत्य और प्रामाणिक है)

दृश्यधीनसिद्धित्वादेव रूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्मधर्मत्वम् सुषुप्ति-मूर्च्छादौ अहं प्रत्ययापाये अपि आत्मानुभवदर्शनेन नात्मनोऽहंप्रत्यय-गोचरत्वम्। कर्तृत्वेऽहंप्रत्ययगोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जडत्वपराक्त्वानात्मत्वादिप्रसङ्गो दुष्परिहरः। अहंप्रत्यय-गोचरात् कर्तृतया प्रसिद्धात् देहात् तत्क्रियाफलस्वर्गादेः भोक्तुः आत्मनोऽन्यत्वं प्रामाणिकानां प्रसिद्धमेव। तथाऽहमर्थात् ज्ञातुरपि विलक्षणः साक्षी प्रत्यगात्मेति प्रतिपत्तव्यम्।

ज्ञानाधीन रूप रस आदि की प्रतीति जैसे आत्मा का धर्म नहीं है वैसे ही ज्ञानाधीन प्रतीति के विषय कर्तृत्व आदि भी आत्मा के धर्म नहीं है। सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में "अहं" प्रत्यय का अभाव रहने

ankurnagpal108@gmail.com

से आत्मानुभूति नहीं होती, इससे स्पष्ट है कि "अहं" प्रतीति का विषय आत्मा नही है। आत्मा में कर्तृता, अहं प्रतीति विषयता, मानने से देह की तरह जडता, वाह्यपदार्थता ओर अनात्मता आदि दोष उसमें घटित हो जावेगे, जिन्हें उसमें से अलग करना कठिन हो जायेगा अहं बुद्धि के विषय, कर्त्ता रूप से प्रसिद्ध देह से, उसकी क्रियाओं के फलस्वरुप प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलो के भोक्ता आत्मा का, जो अभेद है, उसे प्रमाण ज्ञाता लोग जानते ही है उसी प्रकार "अह" अर्थात ज्ञाता (अहंकार) से भी विलक्षण, साक्षी प्रत्यगात्मा (जीव) है, ऐसा जानना चाहिए।

एवमविक्रियाऽनुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यंजको जडोऽप्यहंकार: स्वाश्रयतयातमभिव्यनक्ति। आत्मस्थतयाऽभिव्यंग्याभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभाव:। दर्पणजलखंडादिर्हि मुखचंद्रबिंबगोत्वादिकं आत्मस्थतयाऽभिव्यनक्ति। तत्कृतोऽयंजानाम्यहमिति भ्रम:। स्वप्रकाशाया अनुभूते: कथमिव तदभिव्यंग्यजडरूपाहंकारेण अभिव्यंगत्वमिति मावोच:, रविकरनिकराभिव्यंग्यकरतलस्य तदभिव्यंजकत्वदर्शनात् जालकरंध्रनिष्क्रान्त द्युमणिकिरणानां तदभिव्यंगेनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशो हि द्रष्टचर:। यतोऽहं जानामीति ज्ञाताऽयमहमर्थ: चिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्म:। अतएव सुषुप्तिमुक्त्यो: न अन्वेति। तत्र हि अहमर्थोल्लेखविगमेन स्वाभाविकानुभवमात्ररूपेण आत्माऽवभासते। अतएव सुप्तोत्थित: कदाचिन्मामप्यहं न ज्ञातवानिति परामृशति, तस्मात् परमार्थतो निरस्तसमस्तभेद विकल्पनिर्विशेष चिन्मात्रैकरसकूटस्थ नित्य संविदेव भ्रान्त्या ज्ञातृज्ञेयज्ञान रूप विविध विचित्रभेदा विवर्त्तत इति, तन्मूलभूता अविद्या निवर्हणाय नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावब्रह्मात्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता: आरभ्यन्ते इति।

इसी प्रकार अविकृत अनुभव के स्वरूप का अभिव्यजक, अहकार स्वयं जड होते हुए भी, अपने आश्रय से उस अनुभव को, अभिव्यक्त

ankurnagpal108@gmail.com

करता है। अभिव्यंग्य वस्तु को आत्मस्थरूप से अभिव्यंजित करना ही अभिव्यंजक का स्वभाव होता है। दर्पण, जल आदि मुख, चन्द्र आदि को आत्मस्थ रूप से ही अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार "मैं जानता हूं" ऐसी प्रतीति भी व्यंग्यव्यंजक भाव कृत भ्रममात्र है।

स्वयं प्रकाश अनुभूति अपने अभिव्यंग्य जड रूप अहंकार से कैसे अभिव्यंजित हो सकती है ? ऐसा संशय नहीं करना चाहिए क्यों कि–सूर्य किरणों से अभिव्यंग्य करतल की अभिव्यंजकता देखी जाती है। खिड़की के छिद्रों से आने वाली सूर्य किरणों से करतल प्रकाशित होता है, उस करतल से वे किरणें और अधिक प्रकाशित होती हैं।

"मैं जानता हूं" इस प्रतीति का ज्ञाता "अहं" आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, उसलिए सुषुप्ति और मुक्ति में वह संबद्ध नहीं रहता; उन परिस्थितयों में "अहं" प्रतीति नहीं रहती, आत्मा केवल स्वभाव सिद्ध अनुभव के रुप में स्वयं प्रकाशित रहता है। इसीलिए प्रगाढ निद्रा से उठा हुआ व्यक्ति कभी "मैं अपने को भी नहीं जानता" ऐसा परामर्श (संदेहात्मक विचार) करता है।

इससे सिद्ध होता है कि–सब प्रकार की भेद कल्पनाओं से रहित निर्विशेष, चिन्मयमात्र एकरस, कूटस्थ नित्य संवित (अनुभूति) ही भ्रांतिवश ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप अनेक विभिन्न भेदो में विवर्तित होती हैं (अर्थात स्वभाव से उसी प्रकार रहते हुये केवल रूपान्तरित होती रहती है) उक्त अनुभूति विवर्त्त की मूल कारण अविद्या की निवृत्ति के लिए ही, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्मात्मा के अद्वैत ज्ञान को बतलाने के लिए समस्त वेदांत वाक्य प्रयास करते हैं।

महासिद्धान्तः—तदिदमौपनिषद परमपुरुष वरणीयता हेतु गुण विशेष विरहिणामनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणामनधिगतपद वाक्यस्वरूपतदर्थं याथात्म्य प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्ततदितिकर्त्तव्यता रूप समीचीन न्यायमार्गाणां विकल्पासहविविधकुतर्क कल्ककल्पितमिति न्यायानुग्रहीत प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणवृत्तयाथात्म्यविद्भिः अनादरणीयम्।

ankurnagpal108@gmail.com

महामिद्धान्त (शांकरमत निरसन) उपनिषद प्रतिपाद्य परम पुरुष की प्राप्ति हेतु उनके गुण ही है' अनादि पाप वासना से दूषित' खोखली बुद्धि वाले लोग ही उन्हे निर्गुण मानकर' शास्त्र वचनों की साररहित, कुतर्क पूर्ण काल्पनिक व्याख्या करते है; उन्हे शास्त्र के प्रकृत पद, वाक्य, वाक्यार्थ तात्पर्य, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और तज्जन्य ज्ञान के रूप और उनकी इतिकर्त्तव्यता आदि का यथार्थ ज्ञान नही रहता । जो लोग न्यायानुसार समस्त वाक्य और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से लब्ध ज्ञान के यथार्थ मर्म को जानते है, उनकी दृष्टि मे उनका मत अनादरणीय है ।

तथा हि निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्विशेषे वस्तुनि इदं प्रमाणम् इति न शक्यते वक्तुम । सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वं प्रमाणानाम् । यस्तु स्वानुभवसिद्ध इति स्वगोष्ठी निष्ठः समयः सोऽप्यात्मसाक्षिक सविशेषानुभवादेव निरस्तः । इदमहमदर्शमिति केनचिद् विशेषेण विशिष्टविषयत्वात् सर्वेषामनुभवानां स विशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः केनचिद् युक्तयाभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्ताऽतिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः निष्क्रष्टव्यः, इति निष्कर्ष हेतुभूतैः सत्ताऽतिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एवावतिष्ठते । अतः केश्चिद् विशेषैर्विशिष्टस्यैववस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यंत इति न क्वचिन्निर्विशेषवस्तु सिद्धिः ।

निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने वाले, निर्विशेष की वस्तु सिद्धि में'' अमुक प्रमाण है'' ऐसा नही कह सकते । क्यों कि—शास्त्र के समस्त प्रमाण सविशेष वस्तु परक ही हैं । और जो उस निर्विशेष वस्तु को'' स्वानुभव सिद्ध'' ही अपने मत का परम्परित सिद्धान्त बतलाते है, वह भी आत्म प्रतीति सिद्ध सविशेष के अनुभव से निरस्त हो जाता है । ''मैने इसे देखा है'' ऐसे अनुभव में किसी विशेषण से विशिष्ट वस्तु की ही प्रतीति होती है (अर्थात अनुभव सगुण वस्तु पर ही आधारित रहता है, जो वस्तु कभी भी दृश्य संभव नहीं है' उसके लिए'' अनुभवसिद्ध'' कैसे कह सकते है) अनुभव गम्य सविशेष

ankurnagpal108@gmail.com

THE ACADEMY OF ... MELKOTE ... (KARNATAKA STATE)

वस्तु को यदि किसी थोथी युक्ति से निर्विशेष सिद्ध किया जाय तो वैसा करने में भी अस्तित्व हीन उस वस्तु को अपने से विलक्षण स्वभाव विशेष विशेषित मानना पड़ेगा और तब वह अस्तित्वहीन वस्तु अपने से विलक्षण स्वभाव विशेष से विशेषित होने पर स्वतः ही सविशेष सिद्ध हो जायगी। वस्तु के, किसी भी विशेषण से विशेषित होने पर उस वस्तु की अन्य विशेषतायें निरस्त हो जाती हैं इसलिए किसी भी प्रकार निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती [अर्थात वस्तु की सत्ता मानने पर, उसमें कोई न कोई विशेषता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी अन्यथा उसकी सत्ता सिद्ध न हो सकेगी, सत्ता मानना ही उसे सविशेष स्वीकारना है]

धियो हि धीत्वं स्वप्रकाशता च ज्ञातुर्विषय प्रकाशनस्वभावतयोपलब्धेः। स्वापमदमूर्च्छासु च सविशेषएवानुभवः इति स्वावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः। स्वाभ्युपगताश्च नित्यत्वादयो हि अनेके विशेषाः सन्त्येव। ते च न वस्तुमात्रम् इति शक्योपपादनाः, वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेद विवाददर्शनात् स्वाभिमततद् विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात्, अतः प्रामाणिक विशेषैर्विशिष्टमेव वस्तु इति वक्तव्यम्।

Acc No 6892

ज्ञातव्य विषय को प्रकाशित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण, ज्ञाता की ज्ञातव्यता और स्वप्रकाशता सदा बनी रहती है। निद्रा मद मूर्च्छा आदि में जो अनुभूति होती है वह भी सविशेष ही होती है' इन विषयों के विवेचन के अवसर में भलीभाँति सतर्क विवेचन करेंगे। वस्तु में अपनी अभिन्न नित्यता आदि अनेक विशेषतायें तो रहती ही हैं। वे विशेषतायें वस्तुमात्र में ही नहीं रहतीं (सभी जगह रहती हैं) ऐसा प्रतिपादन करने की चेष्टा करोगे तो सामान्य वस्तुओं में जो विभिन्नभेद देखे जाते हैं वे सभी भेद तुम्हारी स्वीकृत अपनी वस्तु में भी घटित होंगे जिससे यह सिद्ध हो जायगा कि तुम अपने मत में विभिन्न भेदों को भी स्वीकारते हो। फिर तो तुम्हें "वस्तु प्रामाणिक विशेषताओं से विशिष्ट है" ऐसा भी कहना पड़ेगा।

Accn. No. 6896

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एवं वस्तुनि अभिधान सामर्थ्यम् पदवाक्यरूपेणप्रवृत्तेः। प्रकृति प्रत्यययोगेन हि पदत्वम्। प्रकृतिप्रत्यययोरर्थ भेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादमवर्जनीयम्। पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः, पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यात् न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्।

शब्द की, विशेष रूप से, सविशेष वस्तु के प्रतिपादन में ही, अभिधा शक्ति होती है (अर्थात् शब्द सविशेष वस्तु का ही बोध करा सकता है) क्यों कि-वह पद और वाक्यों के रूप से ही वस्तु का वर्णन करता है। प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही शब्द पदरूप प्राप्त करता है। प्रकृति और प्रत्यय में स्वाभाविक अर्थ भेद रहता है, जिससे पद को विशिष्ट अर्थ प्रतिपादकता अनिवार्य हो जाती है (अर्थात पद विशिष्ट का ही प्रतिपादन करता है, ऐसा निश्चित हो जाता है क्यों कि विशेषण और विशेष्य भाव में दोनों पदों का अर्थ भिन्न होता है, जैसे नील कमल, यहाँ कमल पद विशेष्य और नील पद विशेषण है, दोनों पद क्रमशः पुष्प और वर्ण विशेष के बोधक हैं। "जलज" पद में "जल" प्रकृति और "ज" प्रत्यय है, ये दोनीं ही विभिन्न अर्थावबोधक हैं, दोनों प्रकृति के संहित रूप "जलज" पद का अर्थ जल से उत्पन्न होने वाला होता है) अर्थ भेद से ही पद भेद होता है, तथा अनेक पदों का संहित रूप वाक्य होता है जोकि अनेक पदों के अर्थो का बोध कराता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्य भी विशेष अर्थावबोधक होता है, उसमें निर्विशेष वस्तु के प्रतिपादन की क्षमता नहीं है। इसलिए निर्विशेष वस्तु में शब्द प्रभाव नहीं है; यह निश्चित बात है।

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकसविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेष बस्तुनि प्रमाणभावः। सविकल्पकं जात्यादि अनेकपदार्थविशिष्ट विषयत्वादेव सविशेष विषयम्। निर्विकल्पकमपि सविशेषविषयमेव, सविकल्पके स्वस्मिन्ननुभूतपदार्थविशिष्टप्रतिसंधान हेतुत्वात्। निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, नसर्वविशेष

ankurnagpal108@gmail.com

रहितस्य, तथाभूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनादनुपपत्तेश्च केनचिद् विशेषेण इदमित्थमिति हि सर्वा प्रतीतिरुपजायते, त्रिकोण सास्नादि संस्थान विशेषेण विना कस्यचिदपि पदार्थस्य ग्रहणायोगात्-अतोनिर्विकल्पकमेकजातीय द्रव्येषु प्रथम पिण्ड ग्रहणम् । द्वितीयादि पिण्डग्रहणं सविकल्पमित्युच्यते । तत्र प्रथम पिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते । द्वितीयादि पिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः प्रथम प्रतीत्यनुसंहितवस्तुसंस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मं विशिष्टत्वं द्वितीयादि पिण्ड ग्रहणावसेयमिति, द्वितीयादि ग्रहणस्य सविल्कपकत्वं सास्नादिवस्तुसंस्थानरूप गोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथम पिण्ड ग्रहणे गृह्यत इति, प्रथम पिण्ड ग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम् । नपुनः संस्थानरूप जात्यादेरग्रहणात् संस्थान रूप जात्यादेरपि-ऐन्द्रियकत्वाविशेषात्, संस्थानेन विना संस्थानिनः प्रतीतित्यनुपपत्तेश्च प्रथम पिण्ड ग्रहणेऽपि तसंस्थानमेव वस्तु इत्थम् इति गृह्यते, अतोद्वितीयादि पिण्ड ग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टता संस्थानिवत् संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यत इति तेषु सविकल्पकत्वमेव । अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेष विषयत्वम् ।

निर्विकल्पक सविकल्पक भेद वाले प्रत्यक्ष की निर्विशेष वस्तु में प्रमाणता नहीं हो सकती । सविकल्प प्रतीति, जाति आदि अनेक विशेषताओं से विशिष्ट विषय वाली होती है, इसलिए वह तो सविशेष विषयक ही है । निर्विकल्पक भी सविशेष विषयक ही है क्यों कि -सविकल्पक प्रतीति में जात्यादि विशिष्ट विषयों की, निर्विकल्पक प्रतीति, की स्मृति होती है । किसी एक विशिष्ट विशेषता से रहित वस्तु, संबंधी ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं, समस्त सामान्य विशेषताओं से रहित को नहीं । समस्त सामान्य विशेषताओं से रहित वस्तु तो कभी उपलब्ध हो ही नहीं सकती । "अमुक वस्तु" ऐसी प्रतीति में किसी न किसी प्रकार की विशेषता से युक्त वस्तु की ही उपलब्धि होती है । सास्ना आदि चिन्ह विशेष के बिना गो पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । एक जातीय द्रव्य

ankurnagpal108@gmail.com

में सर्व प्रथम जो स्वरूप ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक तथा द्वितीय स्वरूप ज्ञान सविकल्पक होता है। प्रथम बार स्वरूप देखने पर गाय के परिचायक समस्त चिन्हों की सहसा प्रतीति नही होती, द्वितीय आदि दृष्टियों में समस्त विशेषताओ की प्रतीति हो जाती है। प्रथम प्रतीति में वस्तु की संस्थान (अवयव संयोजन रूप) जिस गोत्व की प्रतीति होती है द्वितीय आदि दृष्टियो में उस संस्थान की पूर्ण उपलब्धि हो जाती है, वही सविकल्पकता है। सास्ना लांगूल ककुद खुर विषाण आदि चिन्हों वाली गौ प्रथम दृष्टि मे ही प्रतीत नही हो पाती, यही निर्विकल्पकता है। संस्थान (आकृति) की जाति आदि की प्रतीति न होने से निर्विकल्पकता होती हो सो बात नही है; जात्यादि की प्रतीति भी इन्द्रियवेद्य ही होती है, आकृति प्रतीति के विना ,आकृति विशेष की प्रतीति तो संभव है नहीं प्रथम आकृति दर्शन में भी आकृति ही "यह वस्तु ऐसी है" उस वस्तु विशेष की प्रतीति होती है। द्वितीय तृतीय आदि गोपिड दर्शनों में जैसे संस्थान (अवयव विन्यास) और सस्थानी (गौ) की प्रतीति होती है, वैसी ही धर्मानुगत गोत्व प्रतीति सदा होती है यही सविकल्पक विषयक प्रतीति है। इससे सिद्ध होता है, कि प्रत्यक्ष कभी भी निर्विशेष विषयक नही होता।

अत एव सर्वत्रभिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम्। इदमित्थं इति प्रतीतौ इदमित्थम्भावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते ? तत्रेत्थंभावः सास्नादिसंस्थानविशेषः, तदविशेष्यंद्रव्यमिदमंशइत्यनयोरैक्यं प्रतीतिपराहतमेव। तथाहि प्रथममेव वस्तु प्रतीयमानं सकलेतर व्यावृत्तमेव प्रतीयते। व्यावृत्तिश्च गोत्वादिसंस्थानविशेष विशिष्टतयेत्थमिति प्रतीतेः। सर्वत्र विशेषणविशेष्यभाव प्रतिपत्तौ तयोरत्यन्तभेदः प्रतीत्यैव सुव्यक्तः। तत्र दंड कुंडलादयः पृथक् संस्थान संस्थिताः स्वनिष्ठाश्च कदाचित् क्वचित् प्रकान्तर विशेषण तयावतिष्ठन्ते। गोत्वादयस्तु द्रव्यसंस्थानतथैव पदार्थभूतास्संतो द्रव्यविशेषणतया अवस्थिताः। उभयत्र विशेषणविशेष्यभावः समानः तत एव तयोर्भेद प्रतीतिश्च।

ankurnagpal108@gmail.com

इयांस्तु विशेषः पृथक्स्थिति प्रतिपत्तियोग्या दंडादयः, गोत्वादयस्तु नियमेन तदनर्हाः इति। अतो वस्तु विरोधः प्रतीतिपराहत एव प्रतीतिप्रकार निह्नवोच्यते। प्रतीतिप्रकारो हि इदंमित्थं इत्येव सर्वं सम्मतः। तदेत्सूत्रकारेण "नैकस्मिन्न संभवात्" इति सुव्यक्त-मुपपादितम्। अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादि दृष्ट संबंधविशिष्टविषयत्वादनुमानमपि सविशेषविषयमेव। प्रमाण-संख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगत प्रमाणानामयमेव विषय न केनापि प्रमाणेन निर्विशेष वस्तुसिद्धिः। वस्तुगतस्वभावविशेषैस्तदेव वस्तु निर्विशेमिति वदन् जननीवंध्यात्व प्रतिज्ञायामिव स्ववाग्विरोध-मपि न जानाति।

जो लोग सब जगह भेदाभेद संबंध मानते हैं, उक्त विचार के आधार पर, वह मत भी परास्त हो जाता है। "इदं—इत्थं" इस प्रकार की प्रतीति में "इदं और इत्थं" इन दो भावों की एकता कैसे कही जा सकती है? सास्नादि संस्थान विशेष "इत्थं" पद वाच्य तथा उससे अविशिष्ट द्रव्य "इदं" पद वाच्य है, इन दोनों की ऐक्य प्रतीति असंभव ही है। जब वस्तु की प्राथमिक प्रतीति होती है, वह सबसे विलक्षण होती है। गोत्वादि संस्थान विशेष विशिष्टता ही विलक्षणता का कारण है जो कि "इत्थं" रूप से प्रतीत होती है। सब जगह विशेषणविशेष्य भाव की प्रतिपत्ति में, विशेषणविशेष्य के अत्यन्त भेद की सुस्पष्ट प्रतीति होती है। दंड कुंडल आदि, पृथक संस्थान संस्थित और स्वनिष्ठ आकृतियाँ हैं, कभी कहीं दूसरे द्रव्य के विशेषण के रूप से भी स्थित रहती हैं। तथा गोत्व आदि द्रव्य संस्थान, पदार्थ भूत होकर उसी द्रव्य के विशेषण रूप से स्थित रहते हैं। दोनों ही जगह विशेषणविशेष्य भाव समान है तथा उसी प्रकार विशेषणविशेष्य भाव की भेद प्रतीति भी समान है विशेषता केवल इतनी ही है कि—दंड कुंडल आदि पृथक् पृथक् संस्थान संस्थित होने से, प्रतिपत्ति करने योग्य हैं गोत्व आदि एक संस्थान में नियमित होने से, प्रतिपत्ति योग्य नहीं है। इसलिए वस्तु की भिन्नता की बात, परास्त हो जाती है; प्रतीति का प्रकार जरा छिपा कर

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकारान्तर से बतलाया गया है; वस्तुतः कोई भेद नही है। "इदं—इत्थं" ही सर्व सम्मत प्रतीति का प्रकार है। इस तथ्य को सूत्रकार "नैकस्मिन्न संभवात्" में सुस्पष्ट रूप से समर्थन करते है। प्रत्यक्ष की सविशेषप्रमाणता निश्चित हो जाने से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात संबन्ध विशेष वाले अनुमान की भी सविशेष प्रमाणता निश्चित हो जाती है, प्रमाणों की संख्या के विषय में शास्त्रकारों का मतभेद है, पर जितने भी भेद है; सभी सविशेष वस्तु को ही प्रमाणित करते है; किसी भी प्रमाण से निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नही हो सकती। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशेष स्वभाव होता है, यदि ऐसी विशेष स्वभाव वाली वस्तु को निर्विशेष कहा जाता है तो वह वैसी ही अज्ञानता है, जैसे कोई प्रतिज्ञा करे कि "मै बन्ध्या का पुत्र हूँ"। इस बेचारे को अपने वाग् विरोध तक का ज्ञान नही होता।

यत्तु प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेदविषयम्, भेदश्च विकल्पासहत्वाद् दुर्निरूपः इत्युक्तम्, तदपि जात्यादिविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वाज्जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनः स्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्त्वाच्च दूरोत्सारितम् संवेदनवद् रूपादिवच्च परमव्यवहारविशेषहेतोः स्वस्मिन्नपि तद् व्यवहार हेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि संभवत्येव; अत एव च मानवस्थान्योन्याश्रयणंच। एकक्षणवर्त्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेवक्षणे वस्तुभेदरूप तत्संस्थानरूप गोत्वावेगृहीतत्वात् क्षणान्तर ग्राह्यं न किंचिदिह तिष्ठति।

जो यह कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण सद्वस्तु मात्र ग्राही होता है, इसलिए भेद विषयक नही है, तथा भेद विकल्प को न सहने से दूर्निरूप है। सो इसमें भी, कथन यह है कि—जात्यादि विशिष्ट वस्तु की ही प्रत्यक्ष विषयता होती है वे जाति आदि ही उस वस्तु की अन्य वस्तुओं से भिन्नता ज्ञापन करते है। संवेदन और रूपरस आदि जैसे आश्रय के परिचय विशेष का ज्ञापन करके अपना भी परिचय ज्ञापन करते हैं उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी अपरवस्तु के व्यवहार विशेष का ज्ञापन करके

ankurnagpal108@gmail.com

तदनुरूप अपने व्यवहार का भी ज्ञापन करते हैं, इससे तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्ष, भेद को भी प्रमाणित करता है। इस प्रकार भेद ग्रहण में न तो अनवस्था दोष होता है और न अन्योन्याश्रय दोष। प्रत्यक्ष ज्ञान एक क्षणवर्त्ती होते हुए भी, उसी क्षण में उस वस्तु का भेद, आकृति, धर्म आदि सभी वस्तुओं का ग्राहक होता है, दूसरे क्षण उसके लिए ग्रहण करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

अपि च—सन्मात्र इति ग्राहित्वे घटोऽस्ति पटोऽस्तिइति विशिष्ट विषयाप्रतीतिर्विरूध्यते। यदि च सन्मात्रातिरेकवस्तुसंस्थानरूप जात्यादिलक्षणोभेदः प्रत्यक्षेणन गृहीतः किमित्यश्वार्थी महिष दर्शने निवर्त्तते ? सर्वासुप्रतिपत्तिषु सन्मात्रमेव विषयश्चेत् तत् तत्प्रतिपतिविषयसहचारिणः सर्वेशब्दाः एकैकप्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते ?

तथा प्रत्यक्ष को सन्मात्र ग्राही मानेंगे तो "घट है" "पट है" ऐसी विशिष्ट विषयक प्रतीति के विरुद्ध होगा। यदि सन्मात्र के अतिरिक्त, वस्तु संस्थान रूप जाति आदि लक्षक भेदों की प्रतीति, प्रत्यक्ष से संभव न होती तो, घोड़ा को चाहने वाला कोई व्यक्ति घुडसाल में बंधे भैंसे को देखकर लौट नही सकता। यदि कहो कि—सभी प्रतीतियाँ सन्मात्र विषयक ही होती है ; तो फिर भिन्न भिन्न प्रतीति विषयक शब्द, हर प्रतिपत्ति में स्मृत क्यों नहीं होजाते ?

किं च अश्वे हस्तिनि च संवेदनयोरेक बिषयत्वेनोपरितनस्य गृहीत ग्राहित्वात् विशेषाभावाच्च स्मृति वैलक्षण्यं न स्यात्। प्रति संवेदनं विशेषाभ्युपगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थ बिषयत्वमेवभ्युपगतं भवति सर्वेषां संवेदना नामेकविषयतायामेकेनैव संवेदनेनाशेषग्रहणा दंधबधिराद्यभावश्च प्रसज्येत्।

घोड़ा और हाथी की प्रतीतियां यदि एक प्रकार ही मानली जाएं तो ग्रहीत, ग्राहिता तथा विशेषता के अभाव से किसी प्रकार की स्मृति विलक्षणता न रह जाएगी [अर्थात् घोड़ा संबंधी प्रतीति के समान ही यदि हाथी

ankurnagpal108@gmail.com

की भी प्रतीति हो जाय तो घोड़ा के समान हाथी को भी चाबुक से हाँकने की चेष्टा हो सकती है तथा घोड़े को अंकुश से। क्यों कि भिन्न प्रकार की स्मृति तो रहेगी नहीं] यदि प्रत्येक संवेदन को एक विशेष संवेदन मानेंगे तो प्रत्यक्ष की विशिष्टार्थ विषयता माननी पड़ेगी। सभी प्रतीतियों की एक विषयता मानने में एक ही प्रतीति से सभी विषयों की प्रतीति हो जानी चाहिए जिसके फलस्वरूप अंधे, बहरे आदि भेदों का अभाव हो जाना चाहिए [पर ऐसा होता नहीं, इसलिए उक्त सभी संभावनाये शक्य नहीं हैं]

न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते, तस्यरूपरूपिरूपैकार्थ ग्राहित्वात् नापि त्वचा, स्पर्शवद् वस्तुविषयत्वात्। श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्र विषयाणि; किन्तु शब्दरसगंधलक्षणविशेषविषयाण्येव। अतः सन्मात्रस्य ग्राहकं न किंचिदिह दृश्यते।

शुद्ध सद् वस्तु नेत्र से तो देखी नहीं जा सकती क्यों कि नेत्र रूप और रूप युक्त वस्तु को ही देख पाते हैं। त्वचा से भी ग्राह्य नहीं है क्यों कि त्वचा स्पर्शवान वस्तु को ही ग्रहण करतीहै। कान, नाक जिह्वा-आदि ज्ञानेन्द्रियाँ भी सद्वस्तु को नहीं जान सकतीं, क्योंकि उनसे शब्द, गंध, रस आदि विषयों की ही प्रतीति होती है। इसलिए सद्वस्तु का ग्राहक यहाँ तो कोई दीखता नहीं।

निर्विशेषसन्मात्रस्यप्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद् विषयागमस्य प्राप्त-विषयत्वेनानुवादकत्वमेव स्यात्। सन्मात्र ब्रह्मणः प्रमेयभावश्च। ततो जडत्वनाशित्वादयस्त्वयैवोक्ताः। अतोवस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणभेदविशिष्टविषयमेव प्रत्क्षम्; संस्थानातिरेकिणोऽनेकेषु एकाकार बुद्धिबोध्यस्यादर्शनात्, तावतैव गोत्वादि जाति व्यहारोपपत्तेः। अतिरेक वादोऽपि संस्थानस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः। संस्थाननाम साधारणरूपमिति; यथावस्तु संस्थानमनुसंधेयम् जातिग्रहणेनैव भिन्न इति व्यवहार संभवात्, पदार्थान्तरादर्शनात् अर्थान्तरवादिनाप्यभ्युतगतत्वाच्च गोत्वादिरेव भेदः।

ankurnagpal108@gmail.com

निर्विशेष सन्मात्र को प्रत्यक्ष से ही ग्राह्य प्रमाणित करने वाला, शास्त्र अनुवादक मात्र ही है, क्योंकि—उक्त विषय की प्राप्ति की जानकारी तथा सन्मात्र ब्रह्म का प्रमेय भाव, उसमें बतलाया गया है। उक्त शास्त्र को सही मान लेने से, उस संन्मात्र ब्रह्म में जड़ता क्षीणता आदि दोष तुम्हीं बतलाने लगोगे। इससे सिद्ध होता है कि, वस्तु संस्थान रूप जाति आदि लक्षण भेदों वाला विशिष्ट विषय ही प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित है। भिन्न आकृति वाली अनेक वस्तुओं में एकाकार बुद्धि विषयक ज्ञान नहीं हुआ करता, तभी गोत्व आदि जातियों का व्यवहार उपपन्न होता है। संस्थान से अतिरिक्त जातिवाद मानने से भी संस्थान की स्थिति पूर्व वत् रहती है, इसलिए संस्थान ही एक जाति होती है। अपने असाधारण विशिष्ट रूप को ही संस्थान कहते हैं। वस्तु के स्वरूपानुसार उसके संस्थान को जानने की चेष्टा करनी चाहिए। जाति संबंधी ज्ञान से ही भिन्नता के व्यवहार का परिज्ञान होता है। संस्थान के अतिरिक्त वस्तु को जाति मानने पर भी; संस्थान के अतिरिक्त, जाति नामक किसी वस्तु की प्रतीति न होने से तथा एक मात्र संस्थान में ही जाति की प्रतीति होने से गोत्व आदि भेदों की प्रतीति होती है।

ननुच जात्यादिरेव भेदश्चेत्, तस्मिन् गृहीते तद्व्यवहारवद् भेदव्यवहारः स्यात्। सत्यम् भेदश्च व्यवह्रियत एव गोत्वादि व्यवहारात्। गोत्वादिरेव हि सकलेतरव्यावृत्तिः, गोत्वादौ गृहीते सकलेतरसजातीयबुद्धिव्यवहारयोर्निवृत्तेः। भेदग्रहणेनैव हि अभेद निवृत्तिः। "अयम् अस्मात् भिन्नः,, इति व्यवहारे प्रतियोगी निर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोगि अपेक्षा भिन्न इति व्यवहार इत्युक्तम

(शंका) जाति आदि ही भेद हैं ऐसा मनाने से तो यह भी मानना पड़ेगा कि जाति आदि व्यवहार की तरह, भेद का भी व्यवहार होता है। (समाधान) ठीक है; गोत्व आदि के व्यवहार से ही भेद व्यवहृत होता है। गोत्व आदि ज्ञान ही अन्य वस्तुओं से उसकी विभिन्नता बतलाता है; गोत्वादि में जानकारी हो जाने पर अन्यान्य समस्त वस्तुओं में, सजातीय बुद्धि और व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है। भेद ज्ञान से ही अभेद भाव की निवृत्ति होती है। "यह वस्तु अमुक वस्तु से भिन्न

ankurnagpal108@gmail.com

है" ऐसे व्यवहार मे भेद प्रतीति के लिए ही वस्तु के प्रतियोगी "अमुक" का निर्देश किया जाता है, तभी "अमुक प्रतियोगी से यह वस्तु भिन्न है" ऐसा व्यवहार किया जाता है।

यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणा व्यावर्त्तमनत्वेनापारमार्थ्यमुक्तं तदा-नालोचितबाध्यबाधकभावव्यवहारवृत्यनुवृत्तिविशेषस्य भ्रांति परिकल्पितम्। द्वयोर्ज्ञानयोर्विरोधे हि बाध्यबाधक भाव.। बाधितः स्यैव्यावृत्तिः। अत्र घट पटादिषु देश काल भेदेन विरोध एव नास्ति। यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्यसद्भाव. प्रतिपन्न. तस्मिन् देशे तस्निन् काले तस्याभाव. प्रतिपन्नश्चेत् तत्र विरोधात् बलवतो बाधकत्वं बाधितस्य च निवृत्ति.। देशान्तर कालान्तर सबधितयानुभूतस्यान्य-देशकालयोरभावप्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधक भाव.?अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा कथमुच्यते ? रज्जुसर्पादिषु तु तद्देशकालसंबधितयैवाभाव प्रतीतेर्विरोधोबाधकत्व व्यावृत्तिश्चेति देशकालान्तर व्यावर्त्तमानत्व मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति, व्यावर्त्त मानत्वमात्रमपारमार्थ्य हेतु.।

और जो, आप घट आदि विशेष पर्दाथो को व्यावर्त्तमान होने से, अपारमार्थिक कहते है वह भी, बाध्यबाधक भाव, तथा व्यावृति, अनु-वृति आदि की सही पर्यालोचना न करने के कारण आपकी भ्रान्त धारणा है। दो ज्ञानो के पारस्परिक विरोध होने में ही बाध्यबाधक होता है। बाधित पर्दाथ की ही व्यावृति होती है। घट पट आदि की प्रतीति में तो देश काल का भेद है, अतः विरोध का प्रश्न ही नही उठता। जिस स्थान मे, जिस समय जिस वस्तु के अस्तित्व की प्रतीति होती है, उसी स्थान मे उसी समय, उस वस्तु का अभाव हो जाय, तभी विरोध उप-स्थित होता है और तभी वलवान बाधक वस्तु से बाधिक पदार्थ की निवृति होती है। जो वस्तु भिन्न स्थान और भिन्न समय में अनुभूत हो, उसकी अन्य स्थान और अन्य समय में अभाव प्रतीति हो, उसमें विरोध का प्रश्न ही नही है, घट पट आदि की प्रतीति में भी यही स्थिति

ankurnagpal108@gmail.com

है, तो बाध्य बाधक भाव कैसे घटित होगा ? एक स्थान के अभाव को, दूसरे स्थान का कैसे कह सकते हैं ? रज्जुसर्प आदि दृष्टान्त में तो, एक ही स्थान और एक ही समय में, सर्प रज्जु का व्यार्तक है, इसीलिए रज्जु के अभाव की प्रतीति होती है, तभी विरोध, बाधक भाव होते हैं, और व्यावृति होती है। स्थान और समय की भिन्नता में व्यावृति, मिथ्यात्व और व्याप्ति का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता। इसलिए केवल व्यावृत्ति ही अपारमार्थिकता की हेतु नहीं है ।

यत्तु अनुवर्त्तमानत्वात् सत्परमार्थ इति, तत् सिद्धमेवेति न साधनमर्हति अतो न सन्मात्रमेव वस्तु अनुभूति सद्विषययोश्च विषयविषयिभावेन भेदस्यप्रत्यक्षसिद्धत्त्वात् अवाधितत्वाच्च अनुभूतिरेवसतीत्येतदपि निरस्तम् ।

और जो, अनुवर्त्तमान होने से सत् की परमार्थता है वह तो सिद्ध ही है, उसको प्रमाणित करने की कोई आवश्यता नहीं है, इसलिए सत् ही एक मात्र वस्तु है, ऐसा नहीं कह सकते। अनुभूति और सत् में विषय और विषयी का भाव होने से उन दोनों का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, जो किसी भी प्रकार बाधित नहीं हो सकता। इसलिए, अनुभूति ही सत् है, यह बात भी कट जाती है।

यत्त्वनुभूतेः स्वयम्प्रकाशत्वमुक्तं, तद्विषयप्रकाशनवेलायां-ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वश तथैवेति नियमोऽस्ति परानु-भवस्य, हानोपानादिलिंगकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्या-प्यतीतस्य अज्ञासिषमितिज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च, अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतःस्सिद्धेति वक्तुं न शक्यते ।

और जो, अनुभूति की स्वयं प्रकाशता बतलाई सो, विषय प्रकाशन के समय ज्ञाता की स्वतः जैसी स्थिति होती है; सभी की सदा वैसी ही स्थिति हो ऐसा कोई नियम नहीं है। क्यों कि, परकीय अनभव तो प्रवृत्ति निवृत्ति लिंगक होने से केवल अनुमान प्रमाण का विषय होता है तथा स्वानुभव भी (अनुभव के) द्वितीय क्षण में "मैंने जान लिया"

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसे ज्ञान का विषय होता है। इसलिए अनुभूति स्वतः सिद्ध वस्तु है, ऐसा नहीं कह सकते।

अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम्, स्वगतातीतानुभावनां परगतानुभवानांच अनुभाव्यत्वेन अननुभूतित्वप्रसंगात्। परानुभवानुमानानभ्युपगमे च शब्दार्थसंबंधग्रहणाभावेन समस्तशब्दव्यवरोच्छेद प्रसंगः। आचार्यस्य ज्ञानवत्वं अनुमाय तदुपसत्तिश्च क्रियते, सा च नोपपद्यते। न च अन्यविषयत्वेऽननुभूतित्वम्, अनुभूतित्वं नाम वर्त्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं, स्वसत्तयैव, स्वविषय साधनत्वं वा। ते च अनुभवान्तरानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभवसिद्धेनापगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति घटादेस्त्वननुभूतित्वमेतत्स्वभाव विरहात् नानुभाव्यत्वात्। तथा अनुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि अननुभूतित्वप्रसंगो दुर्वारः गगनकुसुमादेरननुभाव्यस्याननुभुतित्वात्।

अनुभूति, अनुभाव्य है; इसलिए अनुभूति कोई वस्तु नही है, ऐसा कहना भी कठिन है। अपने अतीत तथा दूसरों के अनुभवों के अनुभाव्य होने से अननुभूति की बात उठती है (अर्थात जो अपने अतीत अनुभव है, तथा दूसरों के अनुभवों को हम अननुभूति कहते है) परंतु अपने बीते हुए अनुभवों के अनुमान तथा दूसरों के अनुभवों को अस्वीकार करने से (जो कि शाब्दिक ही होते हैं) शब्दार्थ संबंध के ग्रहण का अभाव हो जायेगा जिसके फलस्वरूप, स्वानुभव और परानुभव पर आधारित जितना भी वाङ्मय है उसकी महत्ता ही समाप्त हो जायेगी तथा आचार्य के वैदुष्य का, अनुमान कर जो छात्र समुदाय, आचार्य के निकट विद्याभ्यास के लिए जाया करता है, वह भी समाप्त हो जायगा।

अन्य विषयता होने से भी अननुभूति की बात नही उठाई जा सकती क्योंकि—वर्तमान दशा में अपनी सत्ता से ही जो अपनी आश्रय वस्तु को प्रकाशित करे अथवा अपनी सत्ता से अपने विषय को सिद्ध करे उसे अनुभूति कहते है। अन्यान्य अनेक अनुभूतियो के होते हुए भी, जो अनुभूति

ankurnagpal108@gmail.com

पहले हो चुकी हैं, उन स्वानुभूतियों का अभाव कभी नहीं होता। घट आदि पदार्थ स्वयं अनुभूति नहीं कर पाते, वे सब जीव रहित जड़ हैं, पर वे अनुभाव्य तो हैं ही। अनुभूति स्वयं अनुभाव्य नहीं हैं, फिर भी उसकी अनुभूति नहीं होती, ये नहीं कहा जा सकता। आकाश पुष्प आदि असंभव वस्तुएँ तो अनुभाव्य ही नही है, इसलिये उनका अनुभव नहीं होता।

गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्वप्रयुक्तम् नानुभाव्यत्वप्रयुक्त-मिति चेत्, एवं तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूतित्वनिबन्धनम् नानुभाव्यत्वमित्यास्थीयताम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अज्ञानाविरोधित्वमपि तस्याः घटादेरिव प्रसज्यते इति चेत्, अननुभाव्यत्वेपि गगनकुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यते एव अतोऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमिति उपहास्यम्।

गगन कुसुम आदि में जो अनुभूति राहित्य है, वो तो, असत् प्रयुक्त है, अनुभाव्य प्रयुक्त नहीं है, यदि ऐसा मानते हो तो घट आदि की जो अननुभूतिता है, वह अज्ञान के कारण है, अनुभाव्यता से नहीं है, ऐसा भी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि— अनुभूति की अनुभाव्यता स्वीकारने से, घट आदि को तरह उसमें भी अज्ञान की बात लागू हो सकती है [तो मैं कहता हूँ कि अनुभूति कोई गगनकुसुम की तरह असंभव वस्तु नही है जो उसकी अनुभाव्यता न मानी जाय] यह कथन नितान्त हास्यास्पद है कि अनुभूति अनुभाव्य है, इसलिए अनुभूति नाम की कोई वस्तु नहीं है।

यत्तु संविदः स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावाद्यभावात् उत्पत्तिर्निरस्यते। तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते। प्रागभावस्य ग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्, अनुभूत्यैव ग्रहणात् कथमनुभूतिस्सती तदानीमेव स्वाभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत्; न हि अनुभूतिः स्व समकालवर्त्तिनमेव विषयीकरोतीत्यस्ति नियमः अतीतानागतयोरविषयत्वप्रसंगात्।

ankurnagpal108@gmail.com

और जो, प्रागभाव आदि के न होने से, स्वयं सिद्धा अनुभूति, की उत्पत्ति का खंडन किया, वह भी ऐसी ही बात है जैसे कोई जन्मान्ध, दूसरे अन्धे को लाठी का सहारा दे। प्रागभाव इसलिए अभाव है, कि उसमें ग्राहकता का अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुभूति का ग्रहण उसमें होता है (अर्थात् अनुभूति अतीत भी होती है) अनुभूति स्वयं स्थित रहकर उसी समय अपने अभाव को कैसे बतला सकती है, यह विरुद्ध भाव है? ऐसी शंका भी नहीं कर सकते क्योंकि—अनुभूति समकालीन विषयक ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि ऐसा मान लेगें तो अतीत और अनागत विषयक अनुभूति की बात तो एक दम ही समाप्त हो जायगी।

अथमन्यसे—अनुभूति प्रागभावादेः सिद्ध्यतः तत् समकालभावनियमोऽस्तीति; किं त्वयाक्वचिदेवं दृष्टं? यन्नियमंब्रवीषि। हन्त तर्हि तत् एव दर्शनात् प्रागभावादिः सिद्ध इति, न तदपह्नवः। तत् प्रागभावं च तत् समकालवर्त्तिनं, अनुन्मत्तः कोब्रवीति?

यदि अपने बचाव के लिए यह मानों कि—उपलब्धि के बिना किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती, इसलिए अनुभूति प्रागभाव आदि सभी में रहती है ऐसा नियम है; तो क्या तुमने कहीं ऐसा देखा है? जो नियम बतला रहे हो। यदि देखा है, तो बड़ी प्रसन्नता की बात है, तुम्हारे उस दर्शन से ही अनुभूति के प्रागभाव आदि सिद्ध हो जाते हैं, जिन्हें तुम छिपा नहीं सकते। अभाव और उसके साथ उस अनुभूति का भाव, दोनों एक साथ रहते है, ऐसा पागल के अतिरिक्त दूसरा और कौन कह सकता है?

इन्द्रिय जन्मनः प्रत्यक्षस्य हि एष स्वभाव नियमः, यत् स्वसमकालवर्त्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्, न सर्वेषांज्ञानानां प्रमाणानाञ्च, स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्त्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात्। अतएव च प्रमाणस्य प्रमेयाविनाभावः, नहि प्रमाणस्य स्वसमकालवर्त्तिनाऽविनाभावोऽर्थ संबंधः, अपितु यत् देशकालादि

ankurnagpal108@gmail.com

संबंधितया योऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकारमिथ्यात्वप्रत्यनीकता, अत इदमपि निरस्तम् "स्मृतिर्नवाह्यविषया" नष्टेत्यर्थे स्मृति दर्शनात् इति ।

इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का ही यह स्वाभाविक नियम है कि, उसमें समकालीन पदार्थ की प्रतीति होती है, सभी ज्ञानों और प्रमाणों का ऐसा नियम नहीं है; स्मरण, अनुमान, आगम, योगिप्रत्यक्ष आदि में कालान्तरवर्त्ती वस्तु का साक्षात्कार भी होता है। इसी से प्रमाण का प्रमेय के साथ अविनाभाव (नियत संबंध) सिद्ध होता है। अपनी समकालीन वस्तु के साथ ही प्रमाण का अविनाभाव संबंध होता हो ऐसा कोई नियम नहीं है, अपितु जिस किसी भी देश काल आदि से संबंधी जो भी पदार्थ प्रतिभासित होता है, उसकी उसी प्रकार के मिथ्यात्व की निबृत्ति करना प्रमाण का कार्य है। इससे बौद्धों का यह मत भी निरस्त हो जाता है कि—"स्मृति वाह्य पदार्थ विषयक नहीं होती" नष्ट पदार्थ की भी स्मृति हुआ करती है।

अथोच्येत, न तावत् संवित् प्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः लिंगाद्यभावात्। न हि संवित् प्रागभावव्याप्तिमिहलिंगमुपलभ्यते, न चागमस्तद् विषयो दृष्टिचरः। अतस्तत्प्रागभावः प्रमाणाभावात् एव न सेत्स्यति, इति। यद्येवं स्वतस्सिद्धत्वविभवं परित्यज्य प्रमाणाभावेऽवरूढ़श्चेत् योग्यानुपलब्ध्यैवाभावः समर्थितः इत्युपशाम्यतु भवान्।

यदि कहो कि—संवित् का प्रागभाव, लिंग आदि के अभाव के कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निरूपित नही हो सकता। न प्रागभाव में संवित् की व्याप्ति ही रहती है जिससे उसका लिंग उपलब्ध हो सके, और न उसके विषय में कोई शास्त्र वचन ही मिलता है। इसलिए संवित् का प्रागभाव, प्रमाणों के अभाव से सिद्ध नहीं होता [उत्तर] यदि ऐसा ही है कि आप अनुभूति की स्वतः सिद्धता को छोड़कर प्रमाणों के अभाव पर ही अड़ गये हैं तो प्रमाणों की अनुपलब्धि ही ऐसा प्रमाण है, जिससे अभाव का समर्थन हो जाता है, अतः आपका चुप रहना ही हितकर है।

ankurnagpal108@gmail.com

किंच प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले संतं साधयत्तस्य न सर्वदा सत्तामवगमयत् दृश्यत इति घटादेः पूर्वोत्तरकाल सत्ता न प्रतीयते। तदप्रतीतिश्च संवेदनस्य कालपरिच्छिन्नतया प्रतीतेः। घटादिविषयमेव संवेदनं स्वयंकालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत्; संवेदन विषयो घटादिरपि कालानवच्छिन्नः प्रतीयतेति नित्यः स्यात्। नित्यं चेत् संवेदनं स्वतस्सिद्धं नित्यमित्येव प्रतीयेत, न च तथा प्रतीयते।

देखा जाता है, कि—प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय घट आदि जब तक रहते है तभी तक उनका अस्तित्व रहता है, प्रत्यक्ष ज्ञान ही उस अस्तित्व का ज्ञापक होता है, फिर भी वह, उनकी सत्ता को सर्वकालीन नहीं बतलाता, इसी से घट आदि की अतीत और आगत सत्ता की प्रतीति नही होती। सवेदन (अनुभव) की कालपरिच्छिन्नता से ही उस प्रतीति का भान होता है [अर्थात् संवेदन कालान्तर में बदलता रहता है इसी से पदार्थों की अप्रतीति होती है अर्थात् घट बनने के पूर्व का अनुभव और घटध्वंस के बाद का अनुभव, घटस्थिति के अनुभव से भिन्न होता है, जिससे अभाव की प्रतीति होती है, अतः मनुष्य की प्रतीति घटनाओं के आधार पर समय-समय पर बदलती रहती है] घट आदि निषयक संवेदन यदि स्वयं ही, काल से अनवच्छिन्न हों, तो संवेदन के विषय घट आदि भी काल से अनवच्छिन्न प्रतीत हों, इस प्रकार नित्य हो जाएं। स्वतः सिद्ध संवेदन यदि नित्य होता तो, उसकी प्रतीति भी नित्य होती, पर वैसा होता नहीं [इससे सिद्ध होता है कि संवित् नित्य वस्तु नहीं है]

एवं अनुमानादि संविदोऽपि कालानवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत् स्वविषयानपि कालानवच्छिन्नान् प्रकाशयन्तीति, तेच सर्वकालानवच्छिन्ना नित्याः स्युः, संविदनुरूपस्वरूपत्वात् विषयाणाम्। न च निर्विषया काचित् संविदस्ति, अनुपलब्धेः। विषय प्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि संविदः स्वयम्प्रकाशिता समर्थिता। संविदो विषयप्रकाशनता

ankurnagpal108@gmail.com

स्वभावविरहेसति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः अनुभूतेरनुभावन्तराननु-भाव्यत्वाच्च संविदस्तुच्छतयैव स्यात्। न च स्वापमदमूर्च्छादिषु सर्वविषयशून्या केवलैव संवित्परिस्फुरतीति वाच्यम्, योगानुपलब्धि-पराहतत्वात्। तावपि दशास्वनुभूतिरनुभूता चेत्, तस्याः प्रबोध समयेऽनुसंधानं स्यात् न च तदस्ति।

इसी प्रकार अनुमान आदि जन्य संविद् भी यदि काल से अनवच्छिन्न प्रतीत होती तो अपने विषयों को भी काल से अनवच्छिन्न ही प्रकाशित करती, जिससे वे सारे ही विषय काल से अनवच्छिन्न (अवाध्य) नित्य होते, क्योंकि विषयों का स्वरूप संविद के अनुरूप ही होता है। कोई भी संवित् निर्विषयक नहीं होती; ऐसा प्रमाण भी नहीं मिलता। विषय प्रकाशन से ही उपलब्धि होती है तथा संविद् की स्वयम्प्रकाशिता सिद्ध होती है। संविद का विषय प्रकाशनता का स्वभाव यदि समाप्त हो जाय तो, उसकी स्वयं प्रकाशता ही असिद्ध हो जायगी। तथा अनुभूति के लिए एक दूसरी अनुभूति की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे संवित् एक तुच्छ वस्तु हो जायगी।

निद्रा, मद, मूर्च्छा आदि में सब विषयों की शून्यता रहती है, एक मात्र संवित् ही परिस्फुरित रहती है, ऐसा नही कह सकते, यह कथन तो योगानुपलब्धि से ही कट जाता है। उन दशाओं में यदि अनुभूति, होती तो, निद्राभंग होने पर उसका स्मरण रहता, पर ऐसा नहीं होता।

ननु अनुभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टिचरः अतः स्मरणाभावः कथं अनुभवाभावं साधयेत्? उच्यते—निखिलसंस्कार तिरस्कृतकरदेहविगमादिप्रबलहेतुविरहेप्यस्मरण नियमोऽनुभवा-भावमेव साधयति, न केवल स्मरण नियमादनुभवाभावः। सुप्तो-त्थितस्य इयन्तं कालं न किंचिदहमज्ञासिषमिति प्रत्यवमर्शेनैव सिद्धेः। न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरणनियमो विषयावच्छेदविरहादहंकार-

ankurnagpal108@gmail.com

विगमाद्वेति शक्यते वक्तुम्। अर्थान्तराननुभवस्यार्थान्तराभावस्य चानुभूतार्थान्तरास्मरण हेतुत्वाभावात्। तास्वपि दशासु अहमर्थोऽनुवर्त्तत इति न वक्ष्यते।

(शका) अनुभूत पदार्थों का स्मरण सदा रहे ही ऐसा तो कोई नियम है नही, और जिस वस्तु की स्मृति ही नही रहेगी, तो अनुभव हुआ ही नही, ऐसा निर्णय कैसे किया जा सकता है !

(उत्तर) निद्रा आदि अवस्थाओं मे देह आदि से असबद्ध होने के कारण सारे संस्कार तिरोहित हो जाते है, उससे भी विस्मृति होती है इससे भी अनुभव का अभाव सिद्ध होता है। केवल स्मरणाभाव के नियम से ही अनुभव का अभाव ज्ञात होता हो, ऐसी बात नही है अपितु "मुझे इतनी देर कुछ भी ज्ञात नही रहा" ऐसे सोकर उठे हुए व्यक्ति के कथन से भी अनुभव का अभाव सिद्ध होता है।

यह भी नही कह सकते कि—निद्रा आदि अवस्थाओं में अनुभव तो होता है, पर विषय निर्धारण के अभाव और अहंकार के विगम (प्रतीति न होने) से विस्मृति हो जाती है। अन्य वस्तु की अनुभूति का अभाव और अन्य वस्तु का विनाश कभी अन्य अनुभूत पदार्थ के विस्मरण का हेतु नहीं हो सकता। निद्रा आदि दशाओं में भी अहंकार रहता है, ऐसा आगे बतलावेंगे।

ननु—स्वापादिदशास्वपि सविशेषोऽनुभवोऽस्तीति पूर्वमुक्तम्। सत्यमुक्तम्, सत्वात्मानुभवः। स च विशेष एवेति स्थापयिष्यते। इह तु सकलविषयविरहिणी निराश्रया च संविद् निषिध्यते। केवलैव संविदात्मानुभव इति चेत् न, सा च साश्रयेतिहि उपपादयिष्यते। अतोऽनुभूतिः सती स्वयं स्वप्रागभावं न साधयति इति प्रागभावासिद्धिर्नशक्यते वक्तुम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वसंभवोपपादने नान्यतोऽप्यसिद्धिर्निरस्ता; तस्मात् न प्रागभावाद्यासिद्ध्या संविदोऽनुत्पत्तिरुपपत्तिमती।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहो कि—पहिले तो कहा था कि निद्रा आदि दशाओं में सविशेष अनुभव रहता है ? (उत्तर) ठीक है, कहा था, वह तो आत्मानुभव का प्रसंग था। उसमें तो सविशेष अनुभव होता ही है इस बात को तो आगे भी कहूँगा। यहाँ तो समस्त विषयों से रहित निराश्रित संवित् के निषेध का प्रसंग है। केवल संविद ही आत्मानुभव है, ऐसा नहीं है; आत्मानुभवरूप संवित् तो साश्रया है, इसका आगे उपपादन करूँगा।

अनुभूति स्वयं स्थित रहते हुए अपने प्रागभाव को सिद्ध नहीं कर सकती अतः अनुभूति का प्रागभाव सिद्ध नहीं होता ऐसा नहीं कह सकते। अनुभूति की अनुभाव्यता के उपपादन से भी तथा अन्य युक्तियों से भी अनुभूति की नित्यता की सिद्धि की बात निरस्त हो जाती है। प्रागभाव आदि की असिद्धि से संवित् की अनुत्पत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता।

यदप्यस्यानुत्पत्त्या विकारान्तरनिरसनम्, तदप्यनुपपन्न, प्रागभावे व्यभिचारात्। तस्य हि जन्माभावेऽपि विनाशोदृश्यते। भावेष्विति विशेषणे तर्ककुशलताऽविष्कृता भवति। तथा च भवदभिमताऽविद्यानुत्पन्नैव, विविधविकारास्पदं तत्त्वज्ञानोदयादन्तवती चेतितस्यामनैकान्त्यम्। तद्विकाराः सर्वे मिथ्याभूता इति चेत्; किं भवतः परमार्थभूतोऽप्यस्ति विकारः ? येनैतद् विशेषणमर्थवद् भवति। न हि असावभ्युपगम्यते।

यद्यपि संविद् की अनुत्पत्ति की स्वीकृति से, संविद् में संभावित अन्यान्य विकारों का भय समाप्त हो जाता है, फिर भी अनुत्पत्ति की बात सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि संविद् का प्रागभाव सिद्ध हो चुका है। इसके जन्म के अभाव को मान लेने पर भी, प्रत्यक्ष ज्ञात होने वाला इसका जो विनाश है, उसको अस्वीकार नहीं कर सकते। [जो वस्तु विनाशशील है, वह उत्पत्तिशील भी निश्चित है।]

यदि कहो कि, उक्त बात तो संविद् की नित्यता के विषय में भी कही जा सकती है; मेरी समझ में तो ऐसा नहीं आता, हाँ तर्क कुशलता

ankurnagpal108@gmail.com

अवश्य लक्षित होती है। दूसरी बात ये है कि, आपकी अभिमत अविद्या जन्म रहित होते हुए भी अनेक विकारों वाली और तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाने वाली है, संविद् की नित्यता भी इसी से मिलती जुलती है क्या ? यदि कहें कि अविद्या के सारे विकार तो मिथ्या होते हैं; तो आपकी दृष्टि में कोई विकार सत्य भी हैं क्या ? जिससे आपका उक्त विशेषण सार्थक हो सके, सो इसे आप स्वीकार नहीं करेंगे।

यदपि, अनुभूतिरजत्वात् स्वस्मिन् विभागं न सहते इति, तदपिनोपपद्यते, अजस्यैवात्मनोदेहेन्द्रियादिभ्यो विभक्तत्वात् अनादित्वेन चाभ्युपगतायाअविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्य अवश्याश्रयणीयत्वात्। स विभागो मिथ्यारूप इति चेत्, जन्मप्रतिबद्धः परमार्थ विभागः किं क्वचिद् दृष्टः त्वया ? अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे वस्तुतो हि अविद्यैवस्यादात्मा अबाधित प्रतिपत्तिसिद्ध दृश्यभेद समर्थनेन दर्शनभेदोऽपि समर्थित एव छेद्यभेदाच्छेदनभेदनवत्।

"अनुभूति अजन्मा होने के कारण अपने में भेद को सहन नहीं करती" आपका यह कथन भी सही नही है, क्योंकि—जन्मरहित परमात्मा भी देह इन्द्रियादि भागों में विभक्त होता है, अविद्या को अनादि मानकर उसकी परमात्मा से भिन्नता माननी ही पड़ेगी। यदि कहो कि—वह भेद तो काल्पनिक मिथ्या है तो जन्म से प्रतिबद्ध वास्तविक भेद की कहीं आपने देखा है क्या ? अविद्या से आत्मा का वास्तविक भेद न मानने से, वह अविद्या वस्तु ही आत्मा हो जायगी। प्रत्यक्ष सिद्ध दृश्य घट पट आदि भेदों के समर्थन से दर्शन भेद भी समर्थित ही है, जैसे कि—छेद्य वृक्ष आदि के भेदानुसार छेदन की क्रियायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

यदपि—"नास्या दृशेद्‌शिस्वरूपाया दृश्यः कश्चिदपिधर्मोऽस्ति, दृश्यत्वादेवतेषां न दृशिधर्मत्वं" इति च। तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैः नित्यत्व स्वयंप्रकाशत्वादिधर्मैरुभयमनैकांतिकम्। न

ankurnagpal108@gmail.com

च ते संवेदनमात्रम्, स्वरूपभेदात् । स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद् विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम् । स्वयं प्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता । प्रकाशश्च चिदचिदशेषपदार्थ साधारणं व्यवहारानुगुण्यम् ।

जो यह कहा कि—"अनुभूति स्वयं दृष्टि स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) है इसके लिए कोई भी दृश्य धर्म नहीं है, तथा इसकी जो नित्यता स्वयं प्रकाशता आदि विशेषतायें हैं यदि उन्हें ही दृश्य कहा जाय तो वे भी उक्त मतानुसार दृष्टि स्वरूप अनुभूति से दृश्य नहीं हो सकतीं" आपकी यह उक्ति भी अनुभूति की स्वीकृत प्रमाण सिद्ध नित्यता और स्वयं प्रकाशता आदि धर्मों से अनिश्चित हो जाती है । नित्यता, स्वयं प्रकाशता आदि संवेदन ही हैं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि इनसे संवेदन का स्वरूप भेद है । अपनी सत्ता से अपने आश्रित पदार्थ में किसी विषय को प्रकाशित करना संवेदन है तथा अपनी सत्ता से ही अपने आश्रित पदार्थ को प्रकाशित करना स्वयं प्रकाशता है तथा प्रकाश जड़ चेतन सभी सामान्य पदार्थों के व्यवहार के अनुरूप होता है ।

सर्वकालवर्त्तमानत्वं हि नित्यत्वम् । एकत्वमेक संख्यावच्छेद इति । तेषां जडत्वादिभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतैः तैरनैकान्त्यमपरिहार्यम्, संविदि तु स्वरूपातिरेकेण जडत्वादि प्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपोभावरूपो वा धर्मोनाभ्युपेतश्चेत्; तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं भवेत् ।

सर्वकाल वर्त्तमानता ही नित्यता है एक संख्या से परिमित होना ही एकत्व है । इन सबका जड़ता आदि भाव रूप होते हुए भी ये चैतन्य के धर्म है; इस प्रकार चैतन्य धर्मता को प्राप्त इन सबकी एकता अनिवार्य हो जाती है । संवित् में तो, स्वरूप से भिन्न जड़ता आदि उक्त समस्त धर्म भाव रूप हों या अभाव रूप, यदि उनका संवित के साथ संबंध नहीं मानेंगे तो, उन सबकी अनुभूति धर्मता का प्रत्याख्यान करना कठिन होगा ।

ankurnagpal108@gmail.com

अपि च—संवित् सिद्ध्यति वा न वा ? सिद्ध्यति चेत् सधर्मता स्यात् । न चेत्तुच्छता गगनकुसुमादिवत् । सिद्धिरेव संविदिति चेत्, कस्य कं प्रति वक्तव्यम्, यदि न कस्यचित् कंचित् प्रति सा तर्हि न सिद्धिः । सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित् कंचित् प्रति भवति । आत्मनि इति चेत्, कोऽयमात्मा ? ननु संविदेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् दुरुक्तंतत् । तथाहि, कस्यचित् पुरुषस्य किंचिदर्थजातं प्रति सिद्धिरूपतया तत्संबंधिनी सा संवित् स्वयं कथमिवात्मभाव-मनुभवेत् ? एतदुक्तं भवति, अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचित् वस्तुनोव्यवहानुगुण्यापादनस्वभावो ज्ञानावगति संवि-दाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो, घटमहं जानामीममर्थमवगच्छामि पटमहं संवेद्मीति सर्वेषामात्मसाक्षिकः प्रसिद्धः । एतत् स्वभावतया हि तस्याः स्वयंप्रकाशता भवताप्युप-पादिता । अस्यसकर्मकस्य कर्तृधर्मविशेषस्य कर्मत्ववत् कर्तृत्वमपि दुर्घटमिति ।

वह संवित् प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है या नही ? यदि होती है, तो वह सधर्मा है । यदि नहीं तो वह गगन कुसुम आदि की तरह तुच्छ काल्पनिक वस्तु है । यदि कहो कि सिद्धि ही सवित् है, तो किसके प्रति किसकी सिद्धि है ? यदि वह किसी के प्रति नही है, तो वह सिद्धि नहीं है । सिद्धि तो पुत्रता की तरह, किसी की किसी के प्रति होती हैं । यदि कहो कि आत्मा में होती है, तो बतलाओ उस आत्मा का क्या स्वरूप है ? यदि कहो कि सिद्धि ही संवित् का आत्मा है, तो ठीक ही कहा, उसी बात को पुनः दुहरा दिया । जरा विचारो तो, किसी पुरुष की किसी विषय की सिद्धि रूप, उससे सबंधिनी वह अनुभूति, स्वयं अपने भाव का अनुभव कैसे कर सकेगी ? कथन यह है कि—अनुभूति अपने सद्भाव से अपनी आश्रित किसी वस्तु को व्यवहार योग्य कर देती है । ज्ञान, अवगति, सवित् आदि सब उसी के दूसरे नाम है, वह बिना कर्म के स्थिर नही रहती, इसलिए वह सकर्मक है, अनुभव कर्त्ता आत्मा का धर्म

ankurnagpal108@gmail.com

विशेष ही अनुभूति है "मैं घट को जानता हूँ"—इस विषय का मैं ज्ञाता हूँ—"पट का अनुभव करता हूँ" इत्यादि सभी आत्माओं की प्रतीति के रूप में अनुभूति की प्रसिद्धि है आपभी इसके इस स्वभाव के कारण, इसकी स्वयं प्रकाशता का प्रतिपादन करते हैं। कर्तृगत धर्म विशेष, कर्मसापेक्ष अनुभूति, जैसे स्वयं कर्म नहीं हो सकती, वैसे ही इसमें कर्तृता भी असंभव है।

तथाहि, अस्यकर्त्तुः स्थिरत्वं कर्तृधर्मस्य संवेदनाख्यस्य सुख दुःखादेरिवोत्पत्तिस्थितिनिरोधाश्च प्रत्यक्षमीक्षन्ते। कर्तृस्थैर्यंतावत् स एवायमर्थः पूर्वमयानुभूत इति प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षसिद्धम्। अहं जानामि अहमज्ञासिषम्, ज्ञातुरेव ममेदानींज्ञानंनष्टमिति च संवित् उत्पत्त्यादयः प्रत्यक्षसिद्धा इति कुतस्तदैक्यम्। एवं क्षणभंगिन्याः संविदः आत्मत्वाभ्युपगमे पूर्वेद्युर्दृष्टमपरेद्युरिदमदर्शमिति प्रत्यभिज्ञा च न घटते, अन्येनानुभूतस्य न हि अन्येय प्रतिज्ञान संभवः।

तथा, संवित् का कर्त्ता स्थिर होता है, कर्त्ता के संवेदन नामक धर्म के सुख दुःख आदि की तरह, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश प्रत्यक्ष दीखते हैं। कर्त्ता की स्थिरता "यह वही पदार्थ है जिसकी मैंने पहिले अनुभूति की थी इस प्रत्यभिज्ञा से प्रत्यक्ष सिद्ध है।" मैं जानता हूँ—"मैं इस विषय का ज्ञाता हूँ"—"यह वस्तु मेरी जानी हुई है, इस समय मैं इसे भूल रहा हूँ" ऐसी अनुभूतियों से अनुभूति की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए ज्ञाता और ज्ञान की एकता कैसे संभव है? ऐसी क्षणस्थायी संविद् को यदि आत्मा मान लिया जाय, तो पहिले दिन के दृष्ट पदार्थ की दूसरे दिन "मैंने इसे देखा था" ऐसी प्रतीति संभव नहीं हैं। अन्य की अनुभूत वस्तु की कोई अन्य व्यक्ति तो प्रत्यभिज्ञा कर नहीं सकता।

किं च अनुभूतेरात्मत्वाभ्युपगमे तस्या नित्यत्वेऽपि प्रतिसंधान असंभवस्तदवस्थः। प्रतिसंधानं हि पूर्वापरकाल स्थायिनमनुभवितार-मुपस्थापयति, नानुभूतिमात्रम्।

ankurnagpal108@gmail.com

अहमेवेदं, पूर्वमप्यन्वभूवमिति । भवतोऽप्यनुभूतेर्नहि अनुभवितृत्वमिष्टम् अनुभूतिरनुभूतिमात्रमेव । संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वा अत्यंतानुलब्धेर्न संभवतीत्युक्तम् । उभयाभ्युपेता संविदेवात्मेत्युपलब्धि पराहतम् । अनुभूतिमात्रमेव परमार्थ इति निषकर्षक हेत्वाभासाश्च निराकृता: ।

अनुभूति को आत्मा मानकर उसकी नित्यता हो भी जाय फिर भी उसमें प्रत्यभिज्ञा की असंभावना तो बनी ही रहेगी । प्रत्यभिज्ञा, अनुभव करने वाले की, पूर्व पर कालीन उपस्थिति बतलाती है; केवल अनुभूति की ही स्थिति नही बतलाती । "मैने इसे पहिले भी जाना था" ऐसी अनुभूति को अनुभविता कहना तो संभवत; आपको भी अभिप्रेत न होगा; अनुभूति केवल अनुभूति ही है । निराश्रय और निर्विषय संवित् कभी सभव नही है, उसकी ऐकातिक उपलब्धि नही होती । "आश्रय और विषय युक्त संविद ही आत्मा है" ऐसा सिद्धान्त प्रतीति सिद्ध भेदानुभव द्वारा पराभूत हो गया तथा "अनुभूति मात्र ही परमार्थ है" इस मत की स्थापना में उपस्थित किये जाने वाले गलत तर्क भी निराकृत हो गए ।

ननु च—अहंजानामीत्यस्यस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंश: प्रकाशैकरस: चित् पदार्थ: स आत्मा । तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया युष्मदर्थलक्षणोऽहं जानामीति सिद्ध्यन्नहमर्थ: चिन्मात्रातिरेकी युष्मदर्थ एव । नैतदेवं, अहंजानामि इति धर्मधर्मितया प्रत्यक्ष प्रतीति विरोधादेव ।

(वाद) "मैं जानता हूँ" इस कथन में जो "अहं" रूप चैतन्यांश प्रकाशैकरस पदार्थ है वही आत्मा है ।" मैं जानता हूँ "इस प्रतीति मैं जो अर्थ निहित है वह, उस चैतन्य आत्मा द्वारा ही समुद्भासित होता है, अत: "अहं" का तात्पर्य चिन्मात्र अखंड आत्मा ही है ।

(विवाद) "मै जानता हूँ" इस प्रत्यभिज्ञा में, धर्म और धर्मी की प्रत्यक्ष भिन्न प्रतीति हो रही है इसी से आपकी उक्त बात कट जाती है ।

ankurnagpal108@gmail.com

किं च—अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत् । अहम्बुद्ध्या परागर्थात् प्रत्यगर्थोहि भिद्यते । निरस्ताऽखिल दुःखोऽह मनन्तानन्दभाक् स्वराट् । भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्त्तते । अहमर्थं विनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति । अपसर्पेदसौ मोक्षकथा-प्रस्ताव गन्धतः । मयिनष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचित्ज्ञप्तिरवस्थिता, इति प्राप्तयेयत्नः कस्यापि न भविष्यति । स्वसम्बन्धितयाह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादि च, स्वसम्बन्ध वियोगेतुज्ञाप्तिरेव न सिद्ध्यति । छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्य-गात्मेति निश्चितम् । विज्ञातारमरे केन जानात्येवेति च श्रुतिः, एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति च स्मृतिः । नात्माश्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति, ज्ञोऽत एवेत्यतोनात्मा ज्ञप्तिमात्रमितिस्थितम् ।

अहं का अर्थ आत्मा नहीं है, तथा प्रत्यगात्मा परमात्मा नहीं हो सकता, अहं बुद्धि से एक दूसरी ही वस्तु की प्रतीति होती है, अहं के अर्थ से प्रत्यगात्मा का भिन्न अर्थ है । "मैं समस्त दुःखों से मुक्त हो गया, अनंत आनंद युक्त स्वच्छन्द हूँ" ऐसे मोक्ष की कामना वाला श्रवण आदि नवधा भक्ति में संलग्न होता है । "अहं अर्थ का विनाश ही मोक्ष है" ऐसे मोक्ष कथा के प्रस्ताव की गंध भी जहाँ हो, वहाँ से दूर ही भागना चाहिए । "अहंता" के नष्ट हो जाने पर भी यदि "अहं" से भिन्न किसी प्रकार की ज्ञप्ति होती है तो, ऐसी प्राप्ति के लिए प्रयास किसी में भी नहीं हो सकता । ज्ञान की सत्ता और विज्ञप्ति आदि सब जीव की सत्ता पर ही निर्भर है, यदि इन सबका जीव से संबंध विच्छेद हो जाय तो, ज्ञप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती जैसे कि—वृक्ष और वृक्ष के काटने वाले के अभाव में काटना आदि कार्य नहीं हो सकते । इसलिए "अहं" अर्थ का ज्ञाता जीवात्मा ही निश्चित होता है । "विज्ञातारमरे केन जानाति एव" ऐसा श्रुति वचन तथा "एतद्योवेत्तितं प्राहुः क्षेत्रज्ञः" ऐसा गीता स्मृति का वचन उक्त कथन में प्रमाण है सूत्रकार भी "नात्माश्रुतेः" से लेकर "ज्ञोऽतएव" सूत्र तक, आत्मा ज्ञप्ति मात्र ही नहीं हैं, ऐसा निर्णय करतें हैं ।

ankurnagpal108@gmail.com

अहं प्रत्यय सिद्धो हि अस्मदर्थः युष्मत प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः। तत्राहं जानामीति सिद्धोऽज्ञाता युष्मदर्थं इति वचनं जननी मे बन्ध्या इतिवत् व्याहतार्थंच । न चासौज्ञाता अहमर्थो अन्याधीन प्रकाशः स्वयंप्रकाशत्वात् । चैतन्य स्वभावता हि स्वयं प्रकाशता । यः प्रकाश स्वभावः सो न अन्याधीन प्रकाशः दीपवत् । न हि दीपादेः स्वप्रभा-बलनिर्भासितत्वेनाप्रकाशत्वमन्याधीन प्रकाशत्वंच । किं तर्हि ? दीपः प्रकाशस्वभावः स्वयमेव प्रकाशते । अन्यानपि प्रकाशयति स्वप्रभया ।

"अहं" प्रत्यय की सिद्धि अस्मत् शब्द से तथा "त्वं" प्रत्यय की सिद्धि युष्मद् शब्द से होती है । मैं जानता हूँ" इस प्रतीति का ज्ञाता युष्मद्वाची को कहा जाय तो वह कथन "मेरी माता बन्ध्या है" के समान मूर्खतापूर्ण होगा । उक्त प्रतीति का ज्ञाता "अहं" वाची व्यक्ति उक्त प्रतीति में स्वयं प्रकाश है, इसलिए उसे उक्त प्रतीति में अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं कह सकते । व्यक्ति स्वभाव से चैतन्य है, इसलिए उसमें स्वयं प्रकाशता है । स्वयं प्रकाशता दीपक के समान स्वाभाविक और स्वायत्त होती है । दीप आदि अपनी प्रकाश शक्ति से ही उद्भासित होते है, दूसरे के प्रभाव से उनमें प्रकाश नही होता, अधिक क्या ? वह स्वयं तो प्रकाशित होते ही हैं, अपनी प्रभा से अन्यों को भी प्रकाशित करते हैं ।

एतदुक्तं भवति—यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभा प्रभावद् रूपेण अवतिष्ठते । यद्यपि प्रभा प्रभावद् द्रव्यगुणभूता, तथापि तेजो द्रव्यमेव, न शौक्ल्यादिवद् गुणः । स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्त्तमानत्वात् रूपवत्वाच्च शौक्ल्यादिधर्म वैधर्म्यात् प्रकाशवत्वाच्च तेजोद्रव्यमेव नार्थान्तरम् । प्रकाशवत्वंच स्वस्वरूपस्यान्येषांच प्रकाशकत्वात् । अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्व निबंधनः । न चाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते, मणिद्युमणि प्रभृतीनां विनाश प्रसंगात् ।

ankurnagpal108@gmail.com

कथन यह है कि—जैसे एक ही ज्योति, प्रभा और प्रभावान होती है वैसे ही आत्मा चित्स्वरूप और चैतन्यता दोनों से संपन्न है। यद्यपि प्रभा की प्रभावत्ता उसका गुण है, फिर भी है वह ज्योति रूप ही, शुक्लता, पीतिमा आदि की तरह कोई प्रथक् गुण नहीं है। वह ज्योति अपने आश्रय दीप से दूर रहते हुए भी, अपने रूप में उद्भासित होती है, शुक्लता आदि गुणों की तरह न होकर, तेजोमय द्रव्य ही रहती है, कुछ और नहीं। स्वयं को और अपने स्वरूप से दूसरों को प्रकाशित करना ही उसकी प्रकाशता है। ज्योति को रूपवाली होने से रूप गुण संपन्न कहा जाता है। प्रभा की आश्रय दीप ज्योति के अवयव जो इधर-उधर फैलते हैं, उन्हें ही प्रभा कहते हों सो बात नहीं है, यदि ऐसा मानेगे तो मणि और सूर्य की तो सत्ता ही न रह जायगी।

दीपेऽप्यवयवि प्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात्, न हि विशरण-स्वभावावयवा दीपाश्चतुरंगुलमात्रं नियमेन पिंडीभूता ऊर्ध्वमुद्गम्य ततः पश्चाद् युगपदेव तिर्यगूर्ध्वमधश्चैकरूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति शक्यंवक्तुम्, अतः सप्रभाकाएवदीपाःप्रतिक्षणं उत्पन्ना विनश्यन्तीति पुष्कलकारणक्रमोपनिपातात् तद् विनाशे विनाशाच्चावगम्यते। प्रभायाः स्वाश्रयसमीपे प्रकाशाधिक्यम् औष्ण्याधिक्यम् इत्यादि उपलब्धि व्यवस्थापि अयमग्न्यादीनां औष्ण्यादिवत्, एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्यगुण इति, चिद्रूपता हि स्वयं प्रकाशता।

दीप की ज्योति में अवयव अवयवी की बात लागू नहीं हो सकती, और न इसके अवयव फैलने वाले हैं, ऐसा ही कह सकते हैं, क्योंकि दीप की चार अंगुल वाली ज्योति पहिले ऊपर उठकर प्रायः आड़ी तिरछी ऊपर नीचे होती हुई भी एक ही प्रकार की बनी रहती है। रुई तेल आदि वस्तुओं के संयोग से प्रकाशवान दीप, उन वस्तुओं की स्थिति से सत्तावान तथा उनके विनाश से विनष्ट होते देखे जाते हैं। अग्नि के सामीप्य में जैसी ऊष्मा की प्रतीति होती है, ज्योति भी. अपने आश्रय दीप के निकट, वैसी ही ऊष्मा और प्रकाश देती है इसे स्वयं अनुभव करके जाना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा भी चिद्रूप होता हुआ ही चैतन्य गुणवाला है, उसकी चिद्रूपता ही स्वयं प्रकाशता है।

ankurnagpal108@gmail.com

यथाहि श्रुतयः—"सयथां सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वाअरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव"–विज्ञानघन एव"–अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" "न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्येते"—"अथयोवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा—"कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदयान्तर्ज्योतिः पुरुषः–"एष द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मंता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः"—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"—"जानात्येवायं पुरुषः" "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्"—"स उत्तमः पुरुषः" "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्"—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"—"तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः"—इत्याद्याः। वक्ष्यतिच "ज्ञोऽत एव" इति।

श्रुतियाँ भी उक्त विषय का प्रतिपादन करती हैं—"जैसे सेंधे नमक की डली बाहर से भीतर तक रसघन है, वैसे ही यह आत्मा बाहर से भीतर तक प्रज्ञानघन (ज्योतिर्मय) है।" यह विज्ञान घन ही है। यह पुरुष स्वयं ज्योतिरूप होता है। इस विज्ञाता का विज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। जो ऐसा अनुभव करता है कि सूंघ रहा हूँ वही आत्मा है। आत्मा कौन है ? जो विज्ञानमय, प्राणों में स्थित, हृदयान्तर्ज्योति है। वह विज्ञान मय आत्मा ही, मनन करने वाला, कर्त्तव्य निर्द्धारक, स्वाद लेने वाला, सूंघने वाला और कर्त्ता है। अरे ! उस विज्ञाता को और कैसे जानोगे। जो जानता है वही आत्मा है। जो उसे देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता और न रोग तथा दुःखों को भोगता है। वह उत्तम पुरुष है। उसे जानकर निकटस्थ इस शरीर का भी भान नहीं रहता। आत्मदर्शी पुरुष के आश्रित इस सोलह कला वाले पुरुष को प्राप्त कर तृप्त हो जाता है। इस मनोमय कोष का अन्तरवर्त्ती विज्ञानमय आत्मा है" इत्यादि। सूत्रकार भी "ज्ञोऽत एव" सूत्र में उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

अतः स्वयं प्रकाशोऽयमात्मा ज्ञातैव, न प्रकाशमात्रम्। प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेव भवेत्प्रकाशः दीपादि प्रकाशवत् तस्मान्नात्मा भवितुर्महति संवित्, संविदनुभूतिज्ञानादिशब्दाः संबन्धि शब्दा इति च शब्दार्थविदः, न हि लोक वेदयोर्जानाति इत्यादेरकर्मकस्याकर्तृकस्य च प्रयोगो दृष्टिचरः।

उक्त शास्त्र वाक्यों से ज्ञात होता है कि—स्वयं प्रकाशमय आत्मा केवल प्रकाश ही नहीं है, ज्ञाता भी है। प्रदीप आदि के प्रकाश की तरह, इसकी प्रकाशता भी अन्याधीन नहीं है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है, इसलिए आत्मा संवित् नहीं हो सकता। शब्द वेत्ताओं का कथन है कि—संवित्, अनुभूति, ज्ञान आदि शब्द, किसी से संबंध रखने वाले शब्द हैं। लोक या वेद में कहीं भी "जानता है" इत्यादि पदों का कर्म रहित या कर्त्ता रहित प्रयोग नहीं देखा जाता।

यच्चोक्तम्—अजडत्वात् संविदेवात्मेति, तत्रेदं प्रष्टव्यम् अजडत्वमिति किमभिप्रेतम्? स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वमिति चेत्, तथासति दीपादिष्वनैकान्त्यम्, संविदतिरिक्तप्रकाशधर्मानभ्युपगमेनासिद्धिर्विरोधश्च। अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकत्वमति सुखादिषु व्यभिचारान्निरस्तम्।

जो यह कहा कि—जड न होने से संवित् ही आत्मा है; उस पर प्रश्न यह है कि, अजडता से आपका क्या तात्पर्य है? यदि कहें कि—स्वयं प्रकाशता ही अजडता है, सो तो दीप आदि अनेकों में विद्यमान है। जब तक संवित् से भिन्न, प्रकाश नामक किसी धर्म विशेष को नहीं मानोगे, तब तक तुम्हारा अभिप्राय सिद्ध नहीं हो सकेगा अपितु विरोध ही होगा। यदि कहो कि जिसकी कभी भी प्रकाश रहित सत्ता नहीं होती, वही अजडता है, सो यह बात भी सुख दुःख आदि के विनाश से कट जाती है।

यदि उच्येत, सुखादिरव्यभिचरितप्रकाशो अपि अन्यस्मै प्रकाशमानतया घटादिवज्जडत्वेन अनात्मेति। ज्ञानंवा किं स्वस्मै

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकाशते ? तदपि हि अन्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासते, अहं सुखीतिवज्जानाम्यहमिति, अतः स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूपजडत्वं संविदयसिद्धम्, तस्मात्स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थं एवात्मा। ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्सम्बन्धायत्ता; तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेरिव स्वाश्रयचेतनंप्रतिप्रकटत्वं इतरंप्रत्यप्रकटत्वं च, अतो न ज्ञप्तिमात्रमात्मा अपितुज्ञातैवाहमर्थः ।

यदि कहो कि—सुख आदि का निरन्तर होने वाला प्रकाश भी दूसरे से प्रकाशमान होने से, घट आदि की तरह जड़ है इसलिए वे अनात्म तन्व है । मै पूछता हूँ कि—ज्ञान क्या स्वत: प्रकाशित होता है ? "मै सुखी हूँ" की तरह "मै जानता हूँ" ऐसी ज्ञानात्मक प्रतीति भी, "अहं" पद से विख्यात ज्ञाता द्वारा ही उद्भासित होती है । इसलिए स्वत· प्रकाशता ही संवित् की अजडता है, यह बात असिद्ध हो जाती है । अपनी सत्ता से अपने में स्वयं सिद्ध "अहं" पद वाच्य आत्मा ही अजड है । ज्ञान की प्रकाशता भी उसी से संबद्ध होने से, उसी के अधीन है । इसीलिए ज्ञान, सुख आदि की तरह, अपने आश्रय चेतन आत्मा के समक्ष व्यक्त तथा अन्यों के समक्ष अव्यक्त रहता है । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ही आत्मा नही है, अपितु ज्ञान करने वाला "अहं" वाच्य ज्ञाता, आत्मा है ।

अथ यदुक्तम्—"अनुभूतिः परमार्थतो निर्विषया निराश्रया च सती भ्रान्त्या ज्ञातृतयाऽवभासते, रजततयेवशुक्तिर्निरधिष्ठान भ्रमानुपपत्तेः" इति। तदयुक्तम्—तथा सत्यनुभवसामानाधिकरण्येनानुभविताऽहमर्थः प्रतीयेत, अनुभूतिरहमिति पुरोऽवस्थित भास्वर द्रव्याकारतया रजतादिरिव अत्रतु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिरर्थान्तरमहमर्थं विशिनष्टि, दंड इव देवदत्तं, तथा हि अनुभवाम्यमहमिति प्रतीतिः, तदेवमस्मदर्थमनुभूतिविशिष्टं प्रकाशयन्ननुभवाम्यहमिति प्रत्ययो दडमात्रे दंडी देवदत्त इति प्रत्ययवद् विशेषणभूतानुभूतिमात्रावलंबनः कथमिव प्रतिज्ञायेत ?

ankurnagpal108@gmail.com

और जो यह कहा कि--"सीप जैसे भ्रांतिवश रजत रूप में प्रतीत होती है, निर्विशेष निराश्रित अनुभूति भी, उसी प्रकार ज्ञाता रूप से अवभासित होती है।" यह कथन भी असंगत है—ऐसा होने से, सामने पड़ी हुई समुज्वल सीप में जैसे रजत की अभेद प्रतीति होती है, उसी प्रकार "अहं" पद वाच्य अनुभावक और अनुभूति दोनों एक प्रतीत होंगे, अतः अनुभावक भ्रांतिवश यह भी कह सकता है कि "मैं अनुभूति हूँ।" "अहं" से पृथक् अवभासमान होने से, अनुभूति "अहं" से निश्चित ही भिन्न है। जैसे कि "दंडी देवदत्त:" कहने से देवदत्त और उसके दंड की प्रथकता स्पष्ट भिन्न प्रतीत होती है, वैसे ही 'मैं अनुभव करता हूँ" ऐसी प्रतीति होती है। "मैं अनुभव करता हूँ" इस कथन में अनुभूति, "अहं" पदवाच्य आत्मा की विशेष्य, ज्ञात होती है। ऐसी अनुभूति "अहं" पद वाच्य आत्मा के विशेषण के रूप से कैसे ज्ञात हो सकती है?

यदप्युक्तम्---"स्थूलोऽहमित्यादि देहात्माभिमानवत् एव ज्ञातृत्व प्रतिभासमानात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्येति।" तदयुक्तम्---आत्मतया अभिमतया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात् तद्वत एव प्रतीते: सकलेतरोपमर्दिततत्वज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेर्नमिथ्यात्वमिति चेत् हन्तैवं सति तदबाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या।

और जो यह कहा कि—"मैं मोटा हूँ" इत्यादि भान जैसे देहात्माभिमानी व्यक्ति मे ज्ञातृत्वरूप से प्रतिभासित होता है, वैसे ही ज्ञातृता भी मिथ्या है।" यह कथन भी असंगत है—यदि ऐसा कहोगे तो तुम्हारे द्वारा आत्मा रूप से मानी हुई अनुभूति भी मिथ्या हो जायगी, और उसकी प्रतीति भी मिथ्या हो जायगी। यदि कहो कि---समस्त दोषों को नष्ट करने वाले तत्त्वज्ञान से अनुभूति बाधित नहीं होती इसलिए वह मिथ्या नहीं है; यदि ऐसी बात है तो, तत्त्वज्ञान से बाधित न होने वाली ज्ञातृता भी मिथ्या नहीं है।

यदप्युक्तम्---"अविक्रियस्यात्मनो ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूपे ज्ञातृत्वं न संभवति, अतो ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं जडे विकारास्पदाव्यक्त परिणामाहंकारग्रन्थिस्थमिति न ज्ञातृत्वमात्मन: अपितु अन्त:करण

ankurnagpal108@gmail.com

रूपस्याहंकारस्य, कर्तृत्वादिर्हि रूपादिवत् दृश्यधर्मः कर्तृत्वेऽहंप्रत्यय गोचरत्वे चात्मानोभ्युपगम्यमाने देहस्येवानात्मत्वपराक्त्वजडत्वादि-प्रसंगश्चेति ।"

नैतदुपपद्यते––देहस्येवाचेतनत्वप्रकृतिपरिणामत्वदृश्यत्वपरा-क्त्वपरार्थत्वादि योगादन्तःकरणरूपस्याहंकारस्य, चेतना साधारण स्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य ।

जो यह कहा कि—"निर्विकार आत्मा की, ज्ञानक्रिया कर्तृत्व रूप ज्ञातृता नहीं हो सकती । वह ज्ञातृता, विक्रियात्मक जड़ विकारों वाली, प्रकृति की परिणति अहंकार ग्रंथि में स्थित रहती है, ज्ञातृता आत्मा का धर्म नहीं है । अपितु अन्तःकरण रूप अहंकार की कर्तृता आदि भी, रूप रस आदि की तरह दृश्य धर्म है । आत्मा में कर्तृत्व धर्म और अहं बुद्धि की विषयता मान ली जाय तो, देह की तरह उसमें भी अनात्मता, वाह्यदार्थता और जडता आदि दोष घटित हो जावेगे ।"

तुम्हारा यह कथन भी सुसंगत नहीं है––देह की तरह जडता प्रकृति परिणामता, दृश्यता, वाह्यपदार्थता आदि अन्तःकरण रूप अहंकार के धर्म हैं तथा ज्ञातृता आदि भाव चेतन के असाधारण स्वाभाविक धर्म है ।

एतदुक्तंभवति––यथा देहादिः दृश्यत्वपराक्त्वादिहेतुभिः तत् प्रत्यनीकद्रष्टृत्वप्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाऽहंकारोऽपितद्द्रष्यत्वादेव तैरेवहेतुभिस्तस्माद् विविच्यत इति । अतोविरोधादेव न ज्ञातृत्वमहंकारस्य, दृशित्ववत् । यथा दृशित्वं तत्कर्मणोऽहंकारस्य नाभ्युपगम्यते, तथा ज्ञातृत्वमपि न तत्कर्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम् । ज्ञानंचास्य नित्यस्य स्वाभाविक धर्मत्वेन नित्यम् । नित्यत्वंचात्मनो "नात्माश्रुतेः" इत्यादिषु, वक्ष्यति "ज्ञोऽतएव" इत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वंच

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाभाविकमपि वक्ष्यति । अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमपि अविरुद्धमित्युक्तम् । स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः ।

कथन यह है कि—देह आदि जैसे दृश्यता परार्थता आदि कारणों से विपरीत, दृष्टता आदि धर्मों से विवेचित होते हैं वैसे ही अन्तःकरण रूप अहंकार भी दृश्यता, अचेतनता, परिणामता आदि से उन्हीं कारणों से विवेचित हो सकता है । दृश्यता और दृष्टता की तरह, ज्ञातृता और अहंकार की भी एकता नहीं है । जैसे दृश्यता (ज्ञान) अपने कर्म अहंकार का धर्म नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञातृता भी अपने कर्म का धर्म नहीं हो सकता । और न ज्ञातृता विकारात्मक ही है, अपितु ज्ञान गुणाश्रयता ही ज्ञातृता है । इस नित्यज्ञातृता का, ज्ञान स्वाभाविक धर्म है, इसलिए वह भी नित्य है । आत्मा की नित्यता "नात्माश्रुतेः" इत्यादि में तथा "ज्ञोऽतएव" में ज्ञ के उल्लेख से आत्मा की स्वाभाविक ज्ञान गुणाश्रयता सूत्रकार ने भी बतलाई है । इसकी ज्ञान स्वरूपता मणि आदि की स्वाभाविक प्रभा की तरह अविरुद्ध और स्वाभाविक है । ज्ञान स्वयं निस्सीम होते हुए भी संकोच और विकासशील है, इस तथ्य का उपपादन आगे करूँगा ।

अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचित स्वरूपंतत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेनवर्त्तते, तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम्, तमिममिन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्त्तते ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वमस्त्येव । तच्च न स्वाभाविकम्, अपितु कर्मकृतम् इति अविक्रियस्वरूप एवात्मा । एवंरूप विक्रियात्मकंज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याहंकारस्य ज्ञातृत्व संभवः ।

क्षेत्रज्ञ (जीव) की अवस्था में ज्ञान यथायोग्य कर्म के अनुसार तारतम्य से रहता है, यह तारतम्य इन्द्रिय द्वारा ही प्रकट होता है, इन्द्रियों में जो ज्ञान की वृद्धि और क्षीणता होती है वह किसी चेतन वस्तु की अपेक्षा रखती है, इससे सिद्ध होता है कि—ज्ञान के प्रसार में आत्मा

ankurnagpal108@gmail.com

की कर्तृता निश्चित है, पर वह कर्तृता आत्मा का स्वाभाविक धर्म नही है, अपितु कर्मानुसार उसके साथ संलग्न है, आत्मा तो निर्विकार ही है। उक्त प्रकार की विकारात्मक ज्ञातृता ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही है, जड अहंकार की ज्ञातृता कभी भी संभव नहीं है।

जडस्वरूपस्याप्यहंकारस्य चित्संनिधाने न तच्छायापत्या तत्संभव इति चेत्, केयं चिच्छायापत्तिः ? किमहंकारछायापत्तिः संविदः ? उत् संविच्छायापत्तिरहंकारस्य ? य तावत् संविदः, संविदि ज्ञातृत्वानभ्युपगमात्। नाप्यहंकारस्य उक्तरीत्या तस्य जडस्य ज्ञातृत्वायोगात् द्वयोरप्यचाक्षुषत्वाच्च न हि अचाक्षुषाणां छाया द्रष्टा। अथ-अग्नि संपर्कात् अयः पिंड औष्ण्यवत् चित् संपर्कात् ज्ञातृत्वोपलब्धिरिति। नैतत् संविदि वास्तव ज्ञातृत्वान-भ्युपगमादेव तत्संपर्कादहंकारे ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा। अहंकारस्यतु अचेतनस्य ज्ञातृत्वासंभवादेव सुतरां न तत्संपर्कात् संविदि ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा।

यदि कहो कि—जड स्वरूप अहंकार का चित् से संपर्क होने से चित् की छाया पड़ने से अहंकार में ज्ञातृता हो सकती है, तो विचारना होगा कि यह चित् छाया किसकी है ? अहंकार की छाया संवित् पर पड़ती है, या संवित् की छाया अहंकार पर पड़ती है ? संवित् की तो हो नहीं सकती, क्योंकि संवित् में ज्ञातृता आपको ही स्वीकार नहीं है। अहंकार की छाया भी संभव नही है, क्योंकि पूर्वोक्त नियमानुसार जड़ अहंकार का ज्ञातृता से कोई सम्बन्ध नही है। दोनों ही अप्रत्यक्ष वस्तु है, अप्रत्यक्ष वस्तु की छाया पड़ती देखी नही जाती। अग्नि संपर्कित लोहे की उष्णता की तरह, चित् संपर्क से ज्ञातृता की उपलब्धि होती हो, सो भी नहीं है; जब संवित् में ही वास्तविक ज्ञातृता का अभाव है तो उसके संपर्क से अहंकार में ज्ञातृता की उपलब्धि होगी ही कैसे ? जड़ अहंकार में तो ज्ञातृता असंभव ही है, इसलिए उसके संपर्क से संवित् की ज्ञातृता हो, इसका कोई प्रश्न ही नहीं है।

ankurnagpal108@gmail.com

तदप्युक्तम्—"उभयत्र न वस्तुतो ज्ञातृत्वमस्ति। अहंकारस्त्वनुभूतेरभिव्यंजकः स्वात्मस्थामेवानुभूतिमभिव्यनक्ति, आदर्शादिवत् इति। "तदयुक्तम्—आत्मनः स्वयं ज्योतिषो जडस्वरूपाहंकाराभिव्यंग्यत्वायोगात्। तदुक्तम्—"शान्तांगार इवादित्यमहंकारो जडात्मकः, स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत्।" स्वयंप्रकाशानुभवाधीन सिद्धयो हि सर्वपदार्थाः। तत्र तदायत्तप्रकाशोऽचिदहंकारोऽनुदितानस्तमितस्वरूप प्रकाशमशेषार्थसिद्धिहेतुभूतमनुभवमभिव्यनक्ति इति आत्मविदः परिहसंति।

उस पर जो कहो कि—"दोनों मे वास्तविक ज्ञातृता नही है। अहकार तो स्वयं अनुभूति का अभिव्यंजक है, जो कि दर्पण आदि की तरह अपने में ही अनुभूति को अभिव्यक्त करता है।"

यह भी नितांत असंगत बात है—स्वयं प्रकाश आत्मा, जड स्वरूप अहंकार से कभी अभिव्यंजित नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है—"अग्निरहित अंगारे की तरह जड अहंकार, सूर्य की तरह स्वयं प्रकाश आत्मा को व्यंजित करता है, यह बात युक्ति संगत नहीं है।" सारे पदार्थ स्वयं प्रकाश अनुभव के अधीन सिद्ध हैं ' उसका वह स्वाधीन प्रकाश उदय अस्त रहित जड अहंकार से अभिव्यक्त होता है. इस बात को सुनकर, आत्मवेत्ता लोग हंसते हैं।

किं च—अहंकारानुभवयोः स्वभावविरोधात् अनुभूतेरननुभूतित्व प्रसंगाच्च नव्यङ्क्तृ व्यंग्यभावः यथोक्तम्—

"व्यङ्क्तृव्यंग्यत्वमन्योन्यं न चस्यात् प्रातिकूल्यतः।
व्यंग्यत्वे अननुभूतित्वंमात्मनि स्यात् यथा घटः॥" इति

न च रविकरनिकराणां स्वाभिव्यंग्यकरतलाभिव्यंग्यत्ववत् संविद्भिव्यंग्याहंकाराभिव्यंग्यत्वं संविदस्साधीयः, तथापि रविकरनिकराणां करतलाभिव्यंग्यत्वाभावात्, करतलप्रतिहतगतयो हि

ankurnagpal108@gmail.com

रश्मयो बहुला: स्वयमेव स्फुटतरमुपलभंते, इति तद्बाहुल्यमात्रहेतुत्वात् करतलस्य नाभिव्यंजकत्वम् ।

अहंकार और अनुभव के स्वाभाविक विरोध तथा व्यंग्य होने पर अनुभूति, अनुभूति न रह जायगी, इन दोनों ही बातों से सिद्ध होता है कि—दोनों में व्यंजक व्यंग्य भाव नहीं है । जैसा कि कहा भी गया है—'स्वाभाविक विरोध तथा वैलक्षण्य होने से दोनों में परस्पर व्यंग्य व्यंजक भाव नहीं है, यदि व्यंग्य भाव होगा तो, घट की तरह, आत्मा में अनुभूति का अभाव हो जायगा ।"

सूर्य किरणें जैसे करतल को अभिव्यक्त करके, स्वयं भी उससे अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार संविद् भी अहंकार को अभिव्यक्त करके उससे अभिव्यक्त हो, ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि—सूर्य रश्मियां करतल से व्यंजित नहीं होतीं, अपितु करतल में प्रतिहत वे रश्मियां, इधर उधर फैलकर अधिक स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष दीखने लगती हैं, उनकी विस्तृति के आधार पर ही, करतल को उनकी अभिव्यक्ति का कारण नहीं कहा जा सकता ।

किं च—अस्य संवित् स्वरूपस्यात्मनोऽहंकारनिर्वर्त्याभिव्यक्ति: किं रूपा ? न तावदुत्पत्ति:, स्वस्सिद्धतयाअनन्योत्पद्यत्वाभ्युपगमात् नापि तत्प्रकाशनम्, तस्या अनुभवान्तराननुभाव्यत्वात्, ततएव च न तदनुभवसाधनानुग्रह: । स हि द्विधाज्ञेयस्येन्द्रिसंबंधहेतुत्वेनवा, यथा जाति निजमुखादिग्रहणे व्यक्ति दर्पणादीनां नयनादीन्द्रिय संबंधहेतुत्वेन, बोद्धृगतकल्मषापनयनेन वा, यथा परतत्त्वावबोधन, साधनस्य शास्त्रस्य शमदमादिना । यथोक्तम्—"करणानामभूमित्वान्न तत्संबंध हेतुता" इति ।

इस संवित् स्वरूप आत्मा की अहंकार द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, उसका क्या रूप है ? वह अभिव्यक्ति, उत्पत्ति रूप है, ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि, स्वयंसिद्धता के आधार पर उसकी किसी अन्य के

ankurnagpal108@gmail.com

-द्वारा उत्पत्ति नही हो सकती, ऐसा निर्णय कर चुके है। वह अभिव्यक्ति, प्रकाश रूप भी नही हो सकती, क्योकि--सवित् स्वय प्रकाश है, उसे प्रकाश मे किसी अन्य की अपेक्षा नही होती। इससे सिद्ध होता है कि— ज्ञानानुभूति मे, अहकार द्वारा अभिव्यक्ति की सहायता अपेक्षित नही है। सहायता दो ही प्रकार से हो सकती है (१) ज्ञेय की, इन्द्रिय सबधी कारणो से होने वाली, जैसे कि--मनुष्य आदि जाति के जानने के लिए, उस जाति के साथ चाक्षुष सबध वाले व्यक्ति द्वारा दी गई अथवा अपनी आकृति की जानकारी मे दर्पण की सहायता, (२) ज्ञाता के (हृदयगत) दोषों के अपनयन द्वारा दी जाने वाली, जैसे कि—परतत्व परमेश्वर को बतलाने वाले शास्त्रो से सम्मत, शम दम आदि उपायो द्वारा दी जाने वाली सहायता। जैसा कि—कहा गया है--"वह अधोक्षज है (इन्द्रिय गम्य नही है) इसलिए इन्द्रियो की उससे कोई सबध हेतुता नही है।"

किच—अनुभूतेरनुभाव्यत्वाभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभव साधनानुग्रहः सुवचः, स हि अनुभाव्यानुभवोत्पत्तिप्रतिबंधनिरसनेन भवेत्। यथा रूपादिग्रहणोत्पत्तिनिरोधितमसनिरसनेन चक्षुषो दीपादिना। न चेह तथाविधं निरसनीयं संभाव्यते। न तावत्संविदाऽत्मगतं तज्ज्ञानोत्पत्तिनिरोधि किंचिदप्यहंकारापनेयमस्ति। अस्तिहि अज्ञानमिति चेत्, न अज्ञानस्याहंकारापनोद्यत्व अनभ्युपगमात्। ज्ञानमेव हि अज्ञानस्य निवर्त्तकम्।

अनुभूति की अनुभाव्यता मान लेने पर भी, अहकार को, अनुभूति का सहयोगी साधक नही कहा जा सकता। ऐसा तो तभी सभव है, जब कि—अनुभाव्य के, अनुभवोत्पत्ति के अन्य प्रतिबन्धकों का, निराकरण कर दिया जाय। जैसे कि---प्रदीप आदि का आलोक, रूप आदि प्रत्यक्ष के विरोधी घने अधकार का निराकरण कर, नेत्रों का सहायक होता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति में उस प्रकार के निवारण की संभावना ही नहीं है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा की ज्ञान प्रतिबन्धक ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे अहंकार दूर कर सके यदि कहो कि—अज्ञान, ज्ञान का प्रतिबंधक है; सो अज्ञान का निराकरण, अहंकार से हो नहीं सकता।

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक हो सकता है, अज्ञान, ज्ञान का निवर्त्तक नहीं है।

न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य सम्भवति, ज्ञानसमानाश्रयत्वात्तत्समानविषयत्वाच्च ज्ञातृभाव विषयभाव विरहिते, ज्ञानमात्रेसाक्षिणि नाज्ञानं भवितुमर्हति। यथा ज्ञानाश्रयत्वप्रसक्तिशून्यत्वेन घटादेर्नाज्ञानाश्रयत्वम् तथा ज्ञानमात्रेऽपि ज्ञानाश्रत्वाभावेन नाज्ञानाश्रयत्वं स्यात्। संविदोऽज्ञानाश्रयत्वाभ्युपगमेऽपि आत्मतयाऽभ्युपगतायास्तस्याज्ञानविषयत्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गता ज्ञान निवृत्तिः। ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्त्तयति, यथारज्ज्वादौ, अतो न केनापि कदाचित्संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्येत्। अस्य च सदसदनिर्वचनीयस्याज्ञानस्य स्वरूपमेव दुर्निरूपमित्युपरिष्टाद् वक्ष्यते। ज्ञान प्रागभाव रूपस्यचाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्ति विरोधित्वाभावेन न तन्निरसनेन तज्ज्ञानसाधनानुग्रहः अतो न केनापि प्रकारेण अहंकारेणानुभूतेरभिव्यक्तिः।

और न; संविद्, अज्ञान का आश्रय हो सकता है, क्योंकि— अज्ञान के आश्रय और विषय, ज्ञान के समान ही होते हैं। ज्ञातृता और विषयभाव रहित, साक्षि स्वरूप शुद्ध ज्ञान में, अज्ञान का प्रवेश हो ही नहीं सकता। जैसे ज्ञानाश्रयता की संभावना से शून्य घट आदि में अज्ञान का आश्रय नहीं होता, वैसे ही ज्ञानाश्रय की संभावना से रहित अज्ञान के आश्रय में, ज्ञान की संभावना भी नहीं है। संविद् को अज्ञान का आश्रय मान भी लें, पर संवित् को ही जब आत्मा मान चुके हो, इसलिए संवित् कभी ज्ञान का विषय (ज्ञेय) तो हो नहीं पावेगा, जिसके फलस्वरूप, संवित् के आश्रित अज्ञान की निवृत्ति का होना कठिन हो जायगा (क्योंकि–ज्ञेय वस्तु ही, स्वाश्रित भ्रांति रूप अज्ञान की निवारक होती है) ज्ञान ही स्वविषयक अज्ञान की निवृत्ति करता है, जैसे कि— रज्जु में हुई सर्प की भ्रांति की निवृत्ति स्वतः ज्ञान से ही होती है। इस प्रकार अज्ञान को ज्ञानाश्रित मान लेने पर, कभी भी, किसी उपाय से ज्ञानाश्रित उस अज्ञान की निवृत्ति न हो सकेगी। सद् असद् अनिर्वच-

ankurnagpal108@gmail.com

नीय अज्ञान के स्वरूप का निरूपण दुर्बोध है, इसे आगे बतलावेंगे। ज्ञान के प्रागभाव रूप अज्ञान को ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबंधक नही कह सकते, इसलिए अज्ञान द्वारा ज्ञान का निराकरण भी साध्य नही है। इसलिए किसी भी प्रकार अहंकार को, अनुभूति का अभिव्यजक नही कह सकते।

न च स्वाश्रयतयाभिव्यंग्याभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभावः, प्रदीपादिष्वदर्शनात्। यथावस्थितपदार्थ प्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याच्च ज्ञानतत्साधनयोरनुग्राहकस्य च। तच्च स्वत. प्रामाण्य न्यायसिद्धम्।

यह भी नही कह सकते कि—अभिव्यजक पदाथो का यह स्वाभाविक गुण है कि, वे, स्वाश्रित अभिव्यग्य वस्तु की ही अभिव्यक्ति करते है। प्रदीपादि मे तो ऐसा गुण देखा नही जाता। ज्ञान और ज्ञान की साधक अनुकूल वस्तुओ का तो ऐसा स्वाभाविक गुण होता है कि, वह, यथार्थवस्तु की प्रतीति मे सहायक होती है। यह, स्वतः प्रामाण्य की, न्यायसिद्धबात है।

न च दर्पणादि मुखादेरभिव्यंजकः, अपितु चाक्षुषतेजः प्रतिफलं न रूपदोष हेतुः, तद्दोषकृतश्च तत्रान्यथावभासः। अभिव्यंजकस्तु आलोकादिरेव।

और न दर्पण आदि, मुख आदि के अभिव्यजक है, अपितु चाक्षुष तेज ही उस अभिव्यक्ति का कारण है, यदि नेत्र की ज्योति मे किसी प्रकार की विकृति होती है, तो विपरीत अवभास होता है। मुखादि के अभिव्यंजक तो आलोक आदि ही है।

न चेह तथाऽहंकारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषोपपादनं संभवति। व्यक्तेस्तु जातिराकार इति तदाश्रयतया प्रतीतिः, नतु व्यक्ति व्यंग्यत्वात्। अतोऽन्त.करणभूताहंकारस्थतया स विदुपलब्धेर्वस्तुतो दोषतो वा न किंचिदिह कारणमिति, नाहंकारस्य ज्ञातृत्वं तथोपलब्धिर्वा। तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतया सिद्धयन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहम्भावविनिर्गमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिः इत्युक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वयं प्रकाश सांविद् मे, अहंकार के द्वारा उस प्रकार के दोष का उपपादन संभव नही है। जाति या आकार व्यक्तिगत वस्तु है, जिससे उसकी तदाश्रित प्रतीति होती है, व्यक्ति द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नही होती। इसी प्रकार अन्तःकरण भूत अहंकार मे स्थित होने से संवित् की उपलब्धि, वस्तुगत या दोष हेतुक नही है, क्योकि—अहंकार में स्वय ही ज्ञातृता और उस प्रकार की उपलब्धि का अभाव है। इसलिए स्वयं ज्ञातृरूप से प्रसिद्ध "अहं" पदवाच्य ही जीवात्मा है, "अहं" का अर्थ केवल ज्ञप्ति नही है। अहं भाव के अभाव मे तो ज्ञप्ति की भी जीवात्मता सिद्ध नही हो सकती।

तमोगुणाभिभवात् परागर्थानुभवाभावाच्चाहमर्थस्य विविक्त स्फुट प्रतिभासाभावेऽप्यप्रबोधादहमित्येकाकारेणात्मनः स्फुरणात् सुषुप्तावपि नाहम्भावविगमः। भवदभिमता या अनुभूतेरपि तथैव प्रथेति वक्तव्यम्।

सुषुप्ति अवस्था मे तमोगुण से अभिभूत होने तथा किसी भी बाह्य पदार्थ की प्रतीत न होने से, अहंभाव की सुस्पष्ट प्रतीति नही होती यह दूसरी बात है, पर अहं का एकदम लोप ही हो जाता हो, ऐसा नही है, जागरण होने तक अहं आकार वाली आत्मस्फूर्त्ति रहती है। तुम्हे भी स्वाभिमत (आत्मारूप से स्वीकृत) अनुभूति के ऐसे स्फुरण को स्वीकारना होगा।

न हि सुप्तोत्थितः कश्चिदहंभाववियुक्तार्थान्तर प्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितयाऽवतिष्ठत इत्येवंविधां स्वापसमकालानुभूति परामृशति। एवं हि सुप्तोत्थितस्य परामर्शः सुखमहं अस्वाप्समिति अनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्वं ज्ञातृत्वं च ज्ञायते।

कोई भी व्यक्ति सोकर उठने पर ऐसा नहीं सोचता कि—"अहं-भाव या अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से रहित हूं" अर्थात् ज्ञातृ ज्ञेय आदि विशेष भावों से रहित, ज्ञान स्वरूप वाला मैं, अज्ञान के साक्षी रूप से

ankurnagpal108@gmail.com

सो रहा था। अपितु सोकर उठा हुआ व्यक्ति, यही कहता है कि—"मैं बडे सुख से सोया।" जागने वाले व्यक्ति की इस प्रतीति के आधार पर निश्चित होता है कि—निद्राकाल में भी अहं पदवाची आत्मा की सुख प्रतीति और ज्ञातृता विद्यमान रहती है।

न च वाच्यम्, यथेदानीं सुखंभवति, तथा तदानीमस्वाप्स-मित्येषाप्रतिपत्तिरिति, अतद्रूपत्वात्प्रतिपत्तेः। न चाहमर्थस्यात्मनोऽस्थिरत्वेन तदानीमहमर्थस्य सुखित्वानुसंधानानुपपत्तिः, यतः सुषुप्तिदशायां प्रागनुभूतंवस्तु सुप्तोत्थितो—"मयेदंकृतं मयेदमनुभूतम-हमेतदवोचम्" इति परामृशति "एतावंतंकालं न किंचिदहमज्ञा-सिषम्" इति च परामृशतीति चेत्; ततः किम्? न किंचिदिति-कृत्स्न प्रतिषेध इति चेत् न, नाहमवेदिषमितिवेदितुरहमर्थस्यैवानुवृत्तेः वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः। न किंचिदिति निषेधस्य कृत्स्न विषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिषिद्धास्यात्। सुसुप्तिसमयेत्वनुसंधीय मानमहमर्थमात्मानं ज्ञातारमहमिति परामृश्य न किंचिदवेदिषमिति वेदने तस्य प्रतिषिध्यमाने तस्मिन काले निषिध्यमानाया वित्तेः सिद्धिमनुवर्त्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चासिद्धिमनेनैव "न किंचिद-हमवेदिषम्" इति परामर्शेन साधयंस्तमिममर्थं देवानामेव साधयतु।

यह नहीं कह सकते कि—जागरित अवस्था में जैसा सुख होता है, वैसा निद्रा अवस्था में भी हुआ होगा, ऐसी अनुभूति मात्र होती है (स्मृति नही) सो यह प्रतीति का स्वरूप नही है, (स्मृति का ही है) और न यही कह सकते हैं कि—अहं पदार्थ आत्मा ही जब क्षणभगुर है, तब जागने के बाद उसे सुख की स्मृति हो ही कैसे सकती है? सो सोकर उठा हुआ व्यक्ति सोने के पूर्व जिन वस्तुओं की अनुभूति किये रहता है, उन्हें ही "मैंने ही अमुक कार्य किया था—मैंने ऐसा अनुभव किया था—मैंने ही अमुक बात कही थी" विचार करता है। यदि कहो कि—"मैंने अब तक कुछ भी नहीं जाना" ऐसा परामर्श भी तो करता है तो क्या इस परामर्श से उक्त परामर्श की बात कट जायगी? यदि कहो कि "मैंने अब

ankurnagpal108@gmail.com

तक कुछ भी नहीं जाना" इस परामर्श का तात्पर्य "कुछ नही जानता" ऐसा निषेधात्मक है, सो बात नही है, अपितु उक्त परामर्श करने वाला ज्ञाता, अहं पदार्थ की ही अनुवृत्ति है, इसलिए उक्त परामर्श केवल ज्ञेय विषयक ही है, सर्वविषयक नही। सर्वविषयक मानने से तो तुम्हारी अभिमत अनुभूति का ही प्रतिषेध हो जायगा। अर्थात् सुषुप्ति के समय ज्ञाता आत्मा को अहं पद वाची मानकर "मैने कुछ नही जाना" इस परामर्श से यदि उसी अह पदार्थ का प्रतिषेध स्वीकारोगे तो तुम्हारे स्वाभिमत निराकृत ज्ञान के अनुगत अनुभूति स्वरूप आत्मा का भी प्रतिषेध हो जायगा आपका उक्त कथन तो (मिट्टी के) देवताओ के समक्ष ही शोभित हो सकता है (जो कि—उत्तर नही दे सकते)

मामप्यहं न ज्ञातवानित्यहमर्थस्यापि तदानीमननुसंधानं प्रतीयत इति चेत्, स्वानुभवस्ववचनयोर्विरोधमपि न जानंति भवन्तः। अहं मा न ज्ञातवानितिर्हि अनुभववचने। मामिति किं निषिध्यत इति चेत्, साधुपृष्टं भवता। तदुच्यते-अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेर्न स्वरूपं निषिध्यते, अपि तु प्रबोध समयेऽनुसंधीयमानस्य अहमर्थस्य वर्णाश्रमादि विशिष्टता। अहं मां न ज्ञातवानित्युक्ते विषयोविवेचनीयः। जागरितावस्थानुसंहितजात्यादिविशिष्टो अस्मदर्थो मामित्यंशस्य विषयः। स्वाप्ययावस्थाप्रसिद्धाविशदस्वानुभवैकतानश्चाहमर्थोऽहमित्यंशस्य विषयः। अत्र सुप्तोऽहं ईदृशोऽहमिति च मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभवप्रकारः।

यदि कहो कि—सुषुप्ति के समय "अपने को भी मै नही जान सका" इस कथन मे तो अह पदार्थ आत्मा की प्रतीति का अभाव भी प्रतीति होता है ? (उत्तर) वाह ! आप अपने अनुभव और उक्ति के विरोध को भी नही समझते, "मै अपने को भी न जान सका" इस कथन में अनुभव और उसकी अभिव्यजक उक्ति ही है (अर्थात् यदि अहं पदार्थ आत्मा न होता तो "न जान सका" ऐसी अनुभूति की बात कैसे कहता) यदि कहो कि—फिर "माम्" से किसका निषेध किया गया है ? (उत्तर) यह तो आपने अच्छा प्रश्न किया ? सुनिये—सुषुप्ति दशा में अहं पद

ankurnagpal108@gmail.com

वाच्य ज्ञाता की अनुवृत्ति रहती है, इसलिए उसके स्वरूप का निषेध नहीं हो सकता, अपितु जागरित दशा में वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मों की जो प्रतीति होती है, सुषुप्ति में उन्हीं का अभाव हो जाता है। "मैं स्वयं को न जान सका" इस उक्ति का विषय विवेचनीय है। जागरितावस्था में अनुभूत जाति वर्णाश्रम आदि धर्म युक्त अहं पदवाच्य आत्मा ही "माम्" अंश का विषय है, तथा निद्रावस्था में प्रसिद्ध अस्फुट अनुभवमात्रगम्य "अहं" पदार्थ ही "अहं" अंश का विषय है। इसलिए उक्त उक्ति में "मैं सोया", मैं ऐसा हूँ, "मुझे भी भान न हुआ" इतने प्रकार के अनुभव निहित है।

किंच सुषुप्तावात्माऽज्ञानसाधित्वेनास्त इति हि भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वंच साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव। न हि अजानतः साक्षित्वम्। ज्ञातैव हि लोकवेदयोः साक्षीति व्यपदिश्यते, न ज्ञानमात्रम्। स्मरति च भगवान् पाणिनिः "साक्षाद्दृष्टरि संज्ञायाम्" इति साक्षाज्ज्ञातर्येव साक्षिशब्दम्। स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमनोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तानीमहमर्थो न प्रतीयेत। आत्मने स्वयमवभासमानो अहमित्येवावभासत इति स्वाप्याद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाशमानो अहमित्येवावभासत इति सिद्धम्।

आत्मा सुप्तावस्था में अज्ञान के साक्षी के रूप में रहता है ऐसा आपको अभिमत है। साक्षात् ज्ञातृत्व ही साक्षित्व है, अज्ञातवस्तु का साक्षित्व संभव नहीं है। ज्ञातवस्तु को ही लोक और वेद में साक्षी कहा जाता है, केवल ज्ञान को साक्षी नहीं कहते। जैसा कि भगवान पाणिनि "साक्षाद् दृष्टिरि संज्ञायाम्" सूत्र में साक्षात् दृष्टा को साक्षी का ही निर्देश करते हैं। "मैं जानता हूँ" ऐसी प्रतीति रूप साक्षी अस्मत् पदार्थ (आत्मा) के अतिरिक्त किसी और की नही है, इसलिए सुप्तावस्था में "अहं" अर्थ की प्रतीति क्यों न होगी ? स्वयं प्रकाशमान आत्मा "अहं" रूप में ही अवभासित होता है, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में, सोने वाला आत्मा, प्रकाशमान "अहं" के रूप में ही अवभासित होता है।

यत्तु मोक्षदशायां अहमर्थो नानुवर्त्तते इति, तदपेशलम्। तथा सत्यात्मनाशएवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। न च

ankurnagpal108@gmail.com

अहमर्थो धर्ममात्रम्, येन तद्विगमेप्यविद्यानिवृताविव स्वरूपमवतिष्ठेत। प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः ज्ञानं तु तस्य धर्मः, "अहं जानामि, ज्ञानं मे जातम्" इति चाहमर्थधर्मतया ज्ञानप्रतीतिरेव।

मोक्षदशा में अहं अर्थ की अनुवृत्ति नहीं होती; यह भी रुखाई की बात है। ऐसा कहना तो प्रकारान्तर से आत्मविनाश को ही मोक्ष मानना है। अहं अर्थ केवल धर्म ही नहीं है जो, अविद्या की तरह, अहंभाव के अपगम हो जाने पर भी, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित रहा आवे; अपितु अहं पदार्थ आत्मा का ही स्वरूप है, ज्ञान ही उसका धर्म है। "मैं जानता हूँ" मुझे ज्ञान हो गया" इत्यादि प्रतीतियाँ, अहं अर्थ आत्मा के धर्म स्वरूप ज्ञान की ही हैं।

अपि च यः परमार्थतो भ्रान्त्या वाऽध्यात्मिकादि दुःखैदुःखितया स्वात्मानमनुसंधत्ते "अहं दुःखी" इति। सर्वमतेद् दुःखजातमपुनर्भवमपोह्य "कथमहमनाकुलः स्वस्थो भवेयम्" इति उत्पन्नमोक्षरागः स एव तत्साधने प्रवर्त्तते। स साधनानुष्ठानेन "यदि अहमेव न भविष्यामि" इत्यवगच्छेत्, अपसर्पेदेवासौ मोक्षकथा प्रस्तावात्। ततश्चाधिकारिविरहादेव सर्वं मोक्षशास्त्रमप्रमाणंस्यात्।

तदहमुपलक्षितं प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति चेत्; किमनेन? मयिनष्टेऽपि किमपि प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इतिमत्वा न हि कश्चित् बुद्धिपूर्वकारी प्रयतते। अतोऽहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मत्वम्। स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्, यो यः स्वस्मै प्रकाशते स सर्वोऽहमित्येव प्रकाशते, यथा तथावभासमानत्वेनोभयवादि सम्मत संसार्य्यात्मा। यः पुनरहमिति न चकास्ति, नासौ स्वस्मै प्रकाशते, यथा घटादिः। स्वस्मै प्रकाशते चायं मुक्तात्मा, तस्मादहमित्येव प्रकाशते।

ankurnagpal108@gmail.com

यथार्थ में या भ्रांतिवश जो लोग आध्यात्मिक आदि दुःखों से कातर होकर "मैं दुःखी हूँ" ऐसा अनुभव करते है, वे लोग पुनः ये दुःख प्राप्त न हों, कैसे इन दुःखों का नाश कर सकूँ, ऐसा विचार कर मुक्त होने के लिए, मोक्ष प्राप्ति के साधनों में संलग्न होते हैं। उन साधनानुष्ठानों से यदि उन्हें यह प्रतीति होने लगे कि "मैं ही समाप्त हो जाऊँगा" तो वे लोग ऐसे मोक्ष की बात को सुनकर ही भाग खड़े होंगे इस तरह कोई मोक्ष का अधिकारी दृष्टिगत ही न होगा, सारे मोक्ष के उपदेशक शास्त्र जहाँ के तहाँ रक्खे रह जावेंगे।

यदि कहो कि—मोक्षदशा में (अहं के नष्ट हो जाने पर भी) अहंकारोपलक्षित आत्म प्रकाश विद्यमान रहता है। तो इससे क्या होता है ? मैं नष्ट होकर केवल प्रकाशमान रह जाऊँगा, ऐसा जानकर भी कोई बुद्धिमान मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए मानना होगा कि—ज्ञाता रूप से प्रसिद्ध अहं पदार्थ, जीवात्मा ही है। जो कि मुक्ति दशा में भी "अहं" रूप से प्रकाशित रहता है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है, जो जो वस्तुएं स्वयं प्रकाश होती हैं वे सब अहं से ही प्रकाशित होती हैं, जैसे कि संसारी आत्मा "अहं" आकार में ही अवभासित होता है, यह बात तो हम आप दोनों को ही स्वीकार्य है। जो अहं रूप से प्रकाशित नही होते, वे स्वप्रकाश नही हैं, जैसे कि घट आदि जड़ पदार्थ। मुक्तात्मा स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश अहं रूप में ही प्रकाशित रहता है।

न चाहमिति प्रकाशमानत्वेन तस्याज्ञत्व संसारित्यादि प्रसङ्गः। मोक्षविरोधात् अज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहम्प्रत्ययस्य। अज्ञानंनाम स्वरूपाज्ञानमन्यथाज्ञानं विपरीत ज्ञानं वा। अहमित्येवात्मनः स्वरूपमिति स्वरूप ज्ञानरूपोऽहंप्रत्ययो नाज्ञत्वमापादयति, कुतः संसारित्वं, अपितु तद् विरोधित्वात् नाशयत्येव।

अहंरूप से प्रकाशमान रहने से (मुक्तात्मा में) संसारी आत्माओं की सी अज्ञता हो सकती है, ऐसा संशय भी नही कर सकते। मोक्षदशा स्वयं ही अज्ञता की विरोधी स्थिति है (जब तक अज्ञता है तब तक मोक्ष

ankurnagpal108@gmail.com

नहीं हो सकता, मोक्ष की स्थिति में अज्ञता संभव नहीं है) तथा अहं प्रत्यय अज्ञता का हेतु भी नहीं है। स्वरूप का अज्ञान, अन्यथा या विपरीत ज्ञान ही अज्ञान है। अहं प्रत्यय आत्मा का ही स्वरूप है ऐसा स्वरूप-ज्ञान रूपी अहं प्रत्यय, अज्ञानता को प्राप्त नहीं हो सकता, उसमें संसारी-पन कैसे संभव है, अपितु उसका विरोधी होने से वह सांसारिकता का नाश ही करता है।

ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्यनिर्धूतनिरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामहमित्येवात्मानुभवदर्शनाच्च। श्रूयते हि—"तद्वैतत्पश्यत् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति "अहमेकः प्रथममास वर्त्तामि च भविष्यामि च" इत्यादि। सकलेतराज्ञानविरोधिनः सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परस्य ब्रह्मणो व्यवहारोऽप्यमेव—"हंताहमिमास्त्रिस्रो देवताः—"बहुस्यां प्रजायेय"—स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"; तथा "यस्माच्क्षरमतीतोऽमक्षरादपि चोत्तमः, अतोऽस्मि लोक वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"—अहमात्मा गुडाकेश—"नत्वेवाहं जातुनासम्"—अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते"—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात्"—"अहंबीजप्रदः पिता"—"वेदाहंसमतीतानि" इत्यादिषु।

ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति से जिनकी अविद्या निर्मूल हो चुकी थी, ऐसे वामदेव आदि का भी "अहंकार" युक्त अनुभव पाया गया। श्रुति में कहा है कि—"उन वामदेव ऋषि ने तत्त्व दर्शन करके विचार किया कि, मैं ही मनु और सूर्य हुआ था "तथा" मैं ही पहिले था, इस समय हूँ और भविष्य में भी रहूँगा" इत्यादि।

अन्यान्य सभी अज्ञानों के विरोधी "सत्" शब्द प्रत्यय से ही ज्ञात परब्रह्म के लिए भी ऐसा ही व्यवहार किया गया है—जैसे—"मैं ही इन तीनों देवताओं का रूप लूं—मैं बहुत होकर जन्म लूं—"उसने सोचा

ankurnagpal108@gmail.com

कि—मैं लोकों का सर्जन करूँ"—"क्षर से अतीत और अक्षर स उत्तम होने से ही मैं लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ"—"गुडाकेश ! मै ही आत्मा हूँ"—ऐसा नहीं है कि—मैं कभी नही था"—"मैं ही समस्त जगत का प्रभव और प्रलय स्थान हूँ"—"मैं ही सबका प्रभव हूँ मुझसे सबका प्रवर्त्तन होता है"—"मैं ही सबको मृत्यु रूपी संसार सागर से पार करने वाला हूँ"—"मैं ही बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ"—मैं सभी प्रतीतों का ज्ञाता हूँ" इत्यादि ।

यद्यहमित्येवात्मनःस्वरूपम्, कथंतर्हि अहंकारस्य क्षेत्रान्तभावो भगवतोपदिश्यते—"महाभूतान्यहंकारोबुद्धिरव्यक्तमेव च" इति ।

(संशय)—यदि अहं ही आत्मा का स्वरूप है, तो भगवान ने अहंकार का क्षेत्रान्तर भाव क्यों बतलाया ?"—महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मन" इत्यादि ।

उच्यते—स्वरूपोपदेशेषुसर्वेष्वहमित्येवोपदेशात् तथैवात्म स्वरूपपतिपादेश्च अहमित्येव प्रत्यगात्मनः स्वरूपम् । अव्यक्त परिणामभेदस्याहंकारस्य क्षेत्रान्तरभावो भगवतैवोपदिश्यते । स तु नात्मनि देहेऽहंभावकरण हेतुत्वेन अहंकार इत्युच्यते । अस्यतु अहंकार शब्दस्य अभूततद्भावेऽर्थेच्विप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । अयमेव तु अहंकारः, उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वापरनामा शास्त्रेषु बहुशो हेयतया प्रतिपाद्यते ।

(समाधान)—जहाँ जहाँ भी आत्मा के स्वरूप का उपदेश है, वहाँ सभी जगह, अहं रूप से ही आत्मा का निर्देश किया गया है, उसी प्रकार जीवात्मा के स्वरूप के विश्लेषण में जीवात्मा का भी "अहं" स्वरूप बतलाया गया है । अव्यक्त (प्रकृति) के परिणाम विशेष अहंकार का क्षेत्रान्तर भाव भगवान ने ही बतलाया है । अनात्म देह में अहंभाव

ankurnagpal108@gmail.com

का उत्पादक होने से उसे अहंकार कहते है, अहंकार शब्द, अभूततद्भाव अर्थ मे "च्वि" प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न बतलाया गया है। यह अहंकार ही श्रेष्ठ मनुष्यों के अपमान का हेतु, शास्त्रों में प्राय: गर्व के नाम से हेय रूप से दिखलाया गया है,

तस्मात् बाधकापेताऽहंबुद्धिः साक्षात् आत्मगोचरैव। शरीर-गोचरा तु अहं बुद्धिः अविद्यैव। यथोक्तं भगवता पराशरेण—"श्रूयतां चाप्यविद्यान्या:स्वरूपं कुलनन्दन! अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या"—इति। यदि ज्ञप्तिमात्रमेवात्मा तदाऽनात्मन्यात्माभिमाने शरीरे ज्ञप्तिमात्र प्रतिभासः स्यात् न ज्ञातृत्व प्रतिभासः। तस्मात् ज्ञाताऽहमर्थ एवात्मा—यदुक्तम्—"अत: प्रत्यक्ष सिद्धत्वादुक्त न्यायागमान्वयात्, अविद्यायोगतश्चात्मा ज्ञाताऽहमितिभासते।"—"देहेन्द्रियमन. प्राणधीभ्योऽनन्य साधन. नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नस्त्वतस्सुखी।" इति अनन्यस्साधन. स्वप्रकाश:। व्यापी अति सूक्ष्मतया सर्वाचेतनांत. प्रवेशन स्वभाव:।

किसी भी समय जिसकी बाधा न हो सके ऐसी अहं बुद्धि निश्चित ही साक्षात् संबंध से आत्म विषयक है, तथा शरीर विषयक अहं बुद्धि अविद्या है। जैसा कि भगवान पराशर ने कहा है—"अनात्म मे जो आत्म बुद्धि होती है, उस अविद्या के स्वरूप को सुनो।" यदि आत्मा ज्ञप्ति मात्र ही है तो, अनात्म शरीर मे आत्माभिमान के समय केवल ज्ञप्ति की ही प्रतीति होनी चाहिए, ज्ञातृता की प्रतीति नही होनी चाहिए, सो तो होती नही, इससे निश्चय होता है कि—"अहं" पदवाच्य ही ज्ञाता आत्मा है। जैसा कि कहते भी है—"प्रत्यक्ष, न्याय (युक्ति) और शास्त्र प्रमाण के अनुसार तथा अविद्यावश, ज्ञाता आत्मा, अहं रूप में ही भासित होता है"—"देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से पृथक् अनन्य साधन, नित्य और व्यापी आत्मा प्रतिदेह मे भिन्न, स्वभाव से सुखी है।" यहाँ अनन्य साधन शब्द स्वप्रकाश अर्थ का बोधक है। अतिसूक्ष्म रूप से समस्त जड़ पदार्थो मे जो अनुस्यूत है उसे व्यापी कहते है।

ankurnagpal108@gmail.com

यदुक्तम्-"दोषमूलत्वेनान्यथासिद्धिसंभावनया, सकलभेदावलंबिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वम्" इति। कोऽयं दोषवक्तव्यम्, यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः? अनादिभेदवासनैव हि दोष इति चेत्; भेदवासनाया. तिमिरादिवत् यथावस्थितवस्तु विपरीतज्ञानहेतुत्वं किमन्यत्र ज्ञातपूर्वम्? अनेनैवशास्त्र विरोधेन ज्ञास्यत इतिचेत्; न अन्योन्याश्रयणात्, शास्त्रस्यनिरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्व निश्चये सति भेदवासनाया. दोषत्वनिश्चय, भेदवासनायां: दोषत्व निश्चिते गति शास्त्रस्यनिरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्व निश्चय इति। किंच यदि भेदवासनामूलत्वेन प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वं शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैव स्यात्।

जो यह कहा कि—"दोषमूलक, भ्रम, आशंकापूर्ण, भेदावलंबी समस्त प्रत्यक्ष, शास्त्रबाध्य हैं" तो बतलाइये कि वे दोष कौन से है जिनसे प्रत्यक्ष की भ्रांतता संभावित होती है? यदि कहें कि, अनादिभेदवासना ही वह दोष है; ऐसा मानने से तो, नेत्रों के तिमिर आदि दोनों की तरह, भेदवासना भी, प्रकृति वस्तु से विपरीत भान कराने वाली हो जायगी। आपने ऐसी वासना कहीं देखी भी है क्या? यदि कहो कि—शास्त्र विरोध से ही ऐसी वासना का ज्ञान होता है; सो बात नहीं है, क्योंकि शास्त्र का उससे अन्योन्याश्रय संबंध है। शास्त्र, समस्त विशेषताओं से रहित वस्तु के प्रतिपादक हैं', ऐसा निश्चित होने से भेदवासना दोषपूर्ण निश्चित हो जाती है, तथा भेदवासना की दोषपूर्णता निश्चित होने से, शास्त्र की समस्त विशेषताओं से रहित, वस्तु प्रतिपादकता निश्चित हो जाती है। यदि भेदवासनामूलक होने से ही प्रत्यक्ष की विपरीतार्थता होती है तब तो शास्त्र भी, तन्मूलक होने से वैसे ही सिद्ध हो जावेंगे।

अथोच्येत—दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगत सकलभेदनिरसनज्ञान हेतुत्वेन परत्वात्ततप्रत्यक्षस्य बाधकम् इति। तन्न दोषमूलत्वेज्ञाते सति परत्वमकिंचित्करम्। रज्जुसर्पज्ञाननिमित्त भयेसति भ्रांतोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित् "नायं सर्पो मा भैषीः"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युक्तेऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात्। शास्त्रस्य च दोषमूलत्वं श्रवणवेलायामेव ज्ञातम्। श्रवणावगतनिखिलभेदोपमर्दिब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाभ्यासरूपत्वात् मननादे.।

जो यह कहो कि—शास्त्र दोषमूलक होते हुए भी, प्रत्यक्ष दृष्ट समस्त भेदों का निवारक ज्ञान उत्पन्न करते है; सो तो हो नहीं सकता, क्योंकि दोषमूलकता के निश्चित हो जाने पर उसका परत्व बल अकिंचित्कर हो जाता है। जैसे कि—रज्जु में सर्प की भ्रांति होने पर, किसी के द्वारा कहा जाय कि "यह सर्प नही है मत डरो" इतना कहने पर भी भय दूर नही होता। शास्त्र की दोषमूलकता तो श्रवण के समय ही ज्ञात होती है। शास्त्र श्रवण के बाद संपूर्ण भेदों के उन्मूलक ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के पुन: पुन: अनुशीलन रूप मनन आदि की व्यवस्था ही उक्त बात की पुष्टि करती है।

अपि च इदं शास्त्रम्, एतच्चासंभाव्यमानदोषम्; प्रत्यक्षंतु संभाव्यमान दोषमिति केनावगतं त्वया? नतावत् स्वत:सिद्धा निर्धूतनिखिलविशेषानुभूतिरिममर्थमवगमयति, तस्या: सर्वविषय विरक्तत्वात् शास्त्रपक्षपात विरहाच्च। नाप्यैन्द्रिकियंप्रत्यक्षं, दोष मूलत्वेन विपरीतार्थत्वात्। तन्मूलत्वादेव नान्यान्यपि प्रमाणानि। अत: स्वपक्ष साधन प्रमाणानभ्युपगमात् न स्वाभिमतार्थं सिद्धि:

ये शास्त्र, दोषों की संभावना से रहित हैं तथा प्रत्यक्ष प्रमाण में दोष संभाव्य है; यह बात तुम्हें कहाँ से ज्ञात हुई? स्वयं सिद्ध निर्विशेष अनुभूति तो उक्त अर्थ बतला नहीं सकती, क्योंकि वह समस्तविषयों से विरक्त है, तथा उसे शास्त्र का कोई पक्षपात भी नहीं है। किसी इन्द्रिय से उक्त बात जानी हो ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि जब प्रत्यक्ष ज्ञान दोषमूलक ही है, उसकी तो विपरीत ही प्रतीति होगी। अनुमान आदि अन्यान्य प्रमाण सब प्रत्यक्ष सापेक्ष ही होते हैं, अत: उनसे भी जानना कठिन है। तुम्हें अपने उक्त मत के साधन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, इसलिए तुम्हारे अभिमत की सिद्धि नही हो सकती।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु व्यावहारिक प्रमाणप्रमेयव्यवहारो अस्माकमपि अस्ति एव; कोऽयं व्यावहारिको नाम ? आपात् प्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरुपितो न तथावस्थित इति चेत्; किंतेन प्रयोजनं ? प्रमाणतया प्रतिपन्नेऽपि यौक्तिकबाधादेव प्रमाणकार्यभावात् । अथोच्येत-शास्त्र-प्रत्यक्षयोः द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेनऽपि प्रत्यक्षविषयस्य शास्त्रेण बाधोदृश्यते; शास्त्रविषयस्य सदद्वितीयब्रह्मणः पश्चात्तनबाधादर्शनेन निर्विशेषानुभूतिमानं ब्रह्मैव परमार्थः इति । तदयुक्तम् अबाधितस्यापि दोषमूलस्यापारमार्थ्यनिश्चयात् ।

आपके मत में व्यावहारिक प्रमाण प्रमेयभाव तो स्वीकृत ही है, तो आप का वह व्यावहारिक स्वरूप क्या है ? यदि कहें कि—हर प्रकार से प्रतीतिसिद्ध, युक्तियों से जो भलीभाँति निरूपित न हो सके। वाह ! ऐसी वस्तु का प्रयोजन ही क्या है ? जो वस्तु प्रमाण से सिद्ध हो जाय, फिर भी युक्तियों से सिद्ध न हो सके, वस्तुतः वो प्रमाणित नहीं मानी जायगी। यदि कहें कि—"शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों के अविद्यामूलक होते हुए भी, प्रत्यक्ष विषय का शास्त्र से बाध दिखलाई देता है। शास्त्र विषय के प्रतिपाद्य सत् स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म के विषय मे कोई बाधा नही दीखती, इसलिए निर्विशेष अनुभूतिमान ब्रह्म ही परमार्थ है ऐसा निश्चित होता है। "आपका यह कथन भी असंगत है—जो दोषप्रसूत वस्तु है, वह निर्बाध होते हुए भी अपरमार्थ ही मानी जाती है।

एतदुक्तं भवति—यथा सकलेतरकाचादिदोष रहित पुरुषांतरागोचरगिरिगुहासु वसतः तैमरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य तिमिरदोषाविशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते। न तत्र बाधक प्रत्ययोऽस्तीति न, तन्मिथ्या न भवतीति, तद्विषय भूतं द्विचंद्रत्वमपि मिथ्यैव। दोषो हि, अयथार्थज्ञानहेतुः। तथा ब्रह्मज्ञानं अविद्या मूलत्वेन बाधतज्ञानरहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सह मिथ्यैव इति। भवंति चात्र प्रयोगाः :—"विवाध्यासितं ब्रह्ममिथ्या

ankurnagpal108@gmail.com

अविद्यावत् उत्पन्न ज्ञानविषयत्वात् प्रपंचवत् "ब्रह्मज्ञानविषयत्वात् प्रपंचवत्" ! ब्रह्ममिथ्या असत्यहेतुजन्य ज्ञान विषयत्वात् प्रपंचवदेव ।

कथन यह है कि—जैसे, समस्त नेत्र रोग विहीन, पर्वत गुहावासी कोई व्यक्ति, गुहा के घोर अंधकार में निरन्तर रहने के कारण तिमिर रोग (रतौंधी) से ग्रस्त हो जाता है; पर अपने उस रोग को नहीं जान पाता उसके लिए वह सामान्य सी बात है; उस व्यक्ति को दो चन्द्र दिखलाई देते है, उसके लिए उस जानकारी में वहाँ कोई बाधक ज्ञान भी नहीं है (क्योंकि उसे गुहा के अतिरिक्त बाहर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता) इसलिए वह अपने द्विचन्द्र ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता; पर उसका वह ज्ञान है तो मिथ्या ही। दोष तो तभी हो, जब कि वह अयथार्थ ज्ञान हेतुक हो। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान अविद्या मूलक होने से बाधक के न रहते हुए भी ब्रह्म ज्ञान सहित मिथ्या ही है। ऐसे प्रयोग भी किये जाते हैं—"ब्रह्म, मिथ्या ज्ञान का विषय होने के कारण, प्रपंचमय जगत की तरह मिथ्या है—"जो विवादास्पद है वह ब्रह्म मिथ्या है"—"असत्य के हेतु शास्त्र ज्ञान का विषय होने के कारण, प्रपंचमय जगत की तरह, ब्रह्म मिथ्या है।" (इत्यादि चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि कहते हैं)।

न च वाच्यं स्वाप्नस्य हस्त्यादिविज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थ शुभाशुभप्रतिपत्ति हेतु भाववदविद्यामूलत्वेनासत्यस्यातिशास्त्रस्य परमार्थभूतब्रह्मविषयप्रतिपत्तिहेतुभावो न विरुद्धः इति। स्वप्नज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम् तेषामेव हि बाधोदृश्यंते, न ज्ञानस्य, न हि मया स्वप्नवेलायामनुभूत ज्ञानमपि न विद्यत इति, कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते। दर्शनं तु विद्यते, अर्था न संतीति हि बाधक प्रत्ययः। मायाविनो मंत्रौषधादिप्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेवप्रीतिर्भयस्य च हेतुः। तत्रापि ज्ञानस्य अबाधितत्वात् विषयेन्द्रियादि दोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादिविज्ञानं सत्यमेव, भयादि हेतुः। सत्येवादष्टेऽपि स्वात्मनि सर्पसन्निधानात् दष्ट बुद्धिः सत्यैव

ankurnagpal108@gmail.com

शंकाविषबुद्धिर्मरण हेतुभूता। वस्तुभूत एव जलादौ मुखादि प्रतिभासो वस्तुभूत मुखगत विशेष निश्चय हेतुः। एषां संवेदनानां उत्पत्तिमत्वात् अर्थक्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते। हस्त्यादीनां अभावेऽपिकथं तद्बुद्धयः सत्याभवंतीति चेत् नैतत् बुद्धीनां सालम्बनत्वमात्र नियमात्।

यह नहीं कह सकते कि—"स्वप्न में द्रष्ट, हस्ति आदि ज्ञान, असत्य होते हुए भी, शुभाशुभ वास्तविक फलदायी होते हैं, उसी प्रकार अविद्या मूलक असत्य होते हुए भी, शास्त्र का ब्रह्मविषयक फल वास्तविक ही होता है। "स्वाप्न ज्ञान असत्य नहीं होता, अपितु स्वप्न में देखे गए पदार्थ ही मिथ्या होते हैं क्योंकि जागने पर वे दीखते नहीं ऐसा तो कोई नहीं कह सकता कि, स्वप्न में मुझे प्रतीति नहीं हुई। स्वप्न में दीखता तो निश्चय ही है, पर स्वप्नदृष्ट विषय नहीं होते यही बाधकता है। मायावी (जादूगर) मंत्र और औषधि के प्रभाव से जो चमत्कार दिखलाता है, वह प्रीति और भयोत्पादक होता है, वह ज्ञान भी सत्य है क्योंकि वह ज्ञान भी अबाधित होता है। विषय और इन्द्रियादि जन्य रस्सी में होने वाली सर्प प्रतीति भी भयोत्पादक होने के कारण सत्य ही है, उस रस्सी रूपी सर्प से दंशित न होते हुए भी, दंशन का भय तो होता ही है, क्योंकि—उसमें मरण के हेतु विष की शंका रहती है। जल दर्पण आदि में मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दीखता है, वह मुखगत वास्तविकता का निर्णायक होता है। इस प्रकार की प्रतीतियों में उत्पत्तिशीलता और कार्य संपादन शक्ति होने से सत्यता निश्चित होती है। यदि कहो कि—"स्वप्न दृष्ट हस्ति आदि जब रहते नहीं तो तद्विषयक बुद्धि ही कैसे सत्य हो सकती है?" बुद्धि को तो एक अवलम्बन चाहिए, वह तो वस्तु के प्रतिभासित होने मात्र से उस पर आधारित हो जाती है।

अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव हि आलम्बनत्वेऽपेक्षितम्, प्रतिभासमानता च अस्त्येव दोषवशात्। सतु बाधितोऽसत्य इत्यवसीयते अबाधिता हिं बुद्धिः सत्यैवेत्युक्तम्।

हस्ति आदि विषय की प्रतीति होती तो है ही, क्योंकि वह आलम्बन सापेक्ष होती है, इसलिए उसकी प्रतिभासमानता होती है। जागने पर

ankurnagpal108@gmail.com

उस प्रतीतिगत वस्तु की असत्यता ज्ञात हो जाती है, पर उस प्रतीति बुद्धि का तो बाध होता नहीं, इसलिए उसे तो सत्य ही कहना होगा।

रेखयावर्णप्रतिपत्तावपि नासत्यात्सत्यबुद्धिः, रेखायास्सत्यत्वात् ननु वर्णात्मनाप्रतिपन्नारेखा वर्णबुद्धिहेतुः, वर्णात्मतात्वसत्या। मैवम् वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वायोगात्। असतो निरूपा-ख्यस्य हि उपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नं च। अथतस्या वर्णबुद्धेरुपाय-त्वं एवंतर्हि असत्यात् सत्यबुद्धिर्नस्यात् बुद्धेः सत्यत्वादेव। उपायो पेययोरेकत्वप्रसंगश्च उभयोर्वर्णबुद्धित्वाविशेषात्। रेखाया अविद्य मानवर्णात्मनोपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमानसर्ववर्णात्मक त्वस्य सुलभत्वादेकरेखादर्शनात्सर्ववर्णप्रतिपत्तिस्स्यात्।

रेखाओं से जो वर्ण बनते हैं उनमें भी सत्यता की ही प्रतीति होती है असत्यता से सत्य बुद्धि नहीं होती, क्योंकि रेखायें तो सत्य हैं हीं। रेखा वर्ण का स्वरूप मानकर ही रेखा में वर्णबुद्धि होती है, वस्तुतः रेखा तो वर्ण है नहीं ऐसा संशय भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि—यदि रेखा की वर्णात्मकता को असत्य मान लेगें तो, वह वर्ण बोध की उपाय नहीं रह जायगी असत् वस्तु की निरूपण शक्ति और उपायता कहीं भी देखी नहीं जाती और न होती ही है। यदि रेखा में होने वाली वर्णबुद्धि को ही वर्ण बोध का उपाय मान लें तो, बुद्धि तो सत्य ही है, फिर असत्य से सत्य बुद्धि हो रही है, ऐसा नहीं कह सकते। साथ ही रेखा और वर्ण दोनों में ही वर्णबुद्धिता मानने से, उपाय और उपेय दोनों एक हो जावेंगे। रेखा यदि वस्तुतः वर्णात्मक न होकर केवल उपाय मात्र ही हैं तो, प्रत्येक रेखा से, सारी वर्णमाला का सरलता से ज्ञान हो जाना चाहिए, तथा एक ही रेखा को देखने से वर्णमाला की प्रतीति हो जाती चाहिए। सो तो होती नहीं।

अर्थपिडविशेषे देवदत्तादिशब्द संकेतवत् चक्षुग्राह्यरेखा विशेषे श्रोत्रग्राह्यवर्णविशेषोसंकेतवशाद् रेखाविशेष वर्णविशेष बुद्धि हेतुरिति। हन्त तर्हि सत्यादेव सत्यप्रतिपत्तिः रेखायाः संकेत

ankurnagpal108@gmail.com

स्य च सत्यसत्वात्। रेखागवयावपि सत्यगवयबुद्धिः सादृश्यनिबंधना सादृश्यं च सत्यमेव।

यदि कहो कि—पिंडविशेष मे जैसे देवदत्त आदि शब्द का संकेत किया जाता है वैसे ही चक्षुर्ग्राह्य रेखा विशेष में श्रोत्र ग्राह्यवर्ण विशेष के संकेत से, रेखा विशेष मे वर्ण विशेष की बुद्धि होनी है। ठीक है, यह तो सत्य से ही सत्य की प्रतीति हुई, क्योकि रेखा और सकेत दोंनो ही सत्य है। रेखा (चित्रित) गाय में भी, सत्य गाय की बुद्धि, सादृश्य के कारण होती है, सादृश्य तो सत्य है ही।

न चैकरूपस्य शब्दस्य नादविशेषेणार्थ भेदबुद्धि हेतुत्वेऽप्यसत्यात्सत्यप्रतिपत्तिः नानानादाभिव्यक्तस्यैकस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यंग्यस्वरूपेणार्थविशेषैः सह संबंधग्रहणवशात् अर्थभेदबुद्धि उत्पत्ति हेतुत्वात्। शब्दस्यैकरूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेवोधकस्यैव श्रोत्राग्राह्यत्वेन शब्दत्वात्। अतोअसत्यात् शास्त्रात् सत्यब्रह्म विषय प्रतिपत्तिदुरुपपादा।

एक आकार के शब्द की, उच्चारण के भेद से विभिन्न अर्थगत भेद बुद्धि होती है, इसलिए असत्य से सत्य बुद्धि होती हो सो भी नही है, क्योंकि—एक ही शब्द अनेकों ध्वनियों के अनुसार अभिव्यक्त होकर उन ध्वनियों में अभिव्यंजित होकर भिन्न-भिन्न अर्थो से संबध, भिन्न-भिन्न विषयों की प्रतीति कराता है। अर्थ बोधक ग आदि वर्ण जब श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होते हैं, तभी शब्द कहलाते हैं, इसलिए विभिन्न वर्णमय शब्दों की एक रूपता भी युक्ति संगत नही है। उक्त द्रष्टान्तों से सिद्ध होता है कि—असत्य शास्त्र से सत्य स्वरूप ब्रह्म की सिद्धि करना कठिन है।

ननु न शास्त्रस्य गगनकुसुमवत् असत्यत्वम्। प्रागद्वैतज्ञानात् सद्बुद्धिबोध्यत्वात्। उत्पन्ने तत्त्वज्ञाने हि असत्यत्वं शास्त्रस्य। न तदा शास्त्रं निरस्तनिखिलभेदचिन्मात्रब्रह्मज्ञानोपायः। यदोपायः

ankurnagpal108@gmail.com

तदा अस्त्येव शास्त्रम् अस्तीति बुद्धेः। नैवम्, असति शास्त्रे, अस्ति शास्त्रमिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात्। ततः किम्? इदं ततः मिथ्या भूत शास्त्रजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्यापि ब्रह्मणो मिथ्यात्वम्, यथा धूमबुद्धयाग्रहीत वाष्पजन्याग्निज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद् विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वम्। पश्चात्तनबाधादर्शनंचासिद्धम्, शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्येन तस्यापि बाधदर्शनात्। तत्तु भ्रांतिमूलमिति-चेत् एतदपि भ्रांतिमूलम् इति त्वयंवोक्तम्। पाश्चात्यबाधा दर्शनं तु तस्यैवेत्यलमप्रतिष्ठित कुतर्कपरिहसनेन।

अद्वैत ज्ञान के पूर्व शास्त्र यदि सद्बुद्धि बोधक हैं; तो उन शास्त्रों को गगनकुसुम की तरह मिथ्या तो कह नहीं सकते? तत्व ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर ही शास्त्र की असत्यता होती है। उस स्थिति में शास्त्र, चिन्मय अद्वैत ब्रह्म, विषयक ज्ञानोत्पादन में सहायक भी नहीं होते। जिस समय वे ब्रह्म प्राप्ति के साधन रहते हैं उस समय तो शास्त्र सत्य ही हैं, तब तक तो उनकी सत्ता व्याहत होती नहीं।

(वादी) उक्त बात ठीक नहीं है शास्त्र को असत्य मानने से' शास्त्र में जो सत्यता की बुद्धि है, वह भी मिथ्या हो जायगी (प्रतिवादी) तो उससे क्या होगा? (वादी) फिर इस मिथ्या शास्त्र-जन्य ज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध होने से, ज्ञान का विषय ब्रह्म भी मिथ्या हो जायगा। जैसे कि कोई जलीयवाष्प को देखकर धुआँ समझ कर अग्नि का अनुमान करे, वह तो उसका मिथ्या ज्ञान ही होगा तथा उस धुआँ का विषय अनुमित अग्नि भी मिथ्या होगी। तथा परवर्त्ती किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न होने से शास्त्र प्रतिपादित ब्रह्म सत्य है; यह कथन भी प्रमाण सिद्ध नहीं है, क्योंकि "शून्य ही एक मात्र सत्य है" यह वाक्य ही उसका बाधक है। यदि कहो कि यह वाक्य भ्रांति मूलक है, तो शास्त्र को भी तो भ्रांतिमूलक तुम्हीं ने कहा है। उक्त शून्यवादी वाक्य का परवर्ती कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अस्तु अब अधिक, अव्यवस्थित कुतर्क रूपी परिहास से क्या होगा? सही मार्ग पर आना चाहिए।

यदुक्तं - वेदांतवाक्यानि निर्विशेषज्ञानैकरसवस्तुमात्र प्रतिपादनपराणि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीनि।

ankurnagpal108@gmail.com

तदयुक्तम् - एक विज्ञानसर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनमुखेन सत् शब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं जगन्निमित्तत्वं, सर्वज्ञता, सर्वशक्तियोग, सत्यसंकल्पत्वं, सर्वान्तरत्वम् , सर्वाधारत्वं, सर्वनियमनम् इत्यादि अनेक कल्याणगुण विशिष्टतां कृत्स्नस्य जगतस्तदात्मकतां प्रतिपाद्य, एवंभूत ब्रह्मात्मकस्त्वमसीतिश्वेतकेतुं प्रत्युपदेशाय प्रवृत्तत्वात्प्रकरणस्य । प्रपंचितश्चायमर्थो वेदार्थ संग्रहे, अत्रप्यारम्भणाधिकरणो निपुणतरमुपपादयिष्यते ।

"सदेव सौम्यमिदमग्र आसीत" इत्यादि वेदांत वाक्य निर्विशेष ज्ञानैकरस वस्तु के ही प्रतिपादक हैं। यह कथन भी भ्रामक है— एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञा के आधार पर सत् पदवाच्य परब्रह्म की जगत् उपादानता, जगत् निमित्तता, सर्वज्ञता, सर्वशक्ति योगता, सत्य संकल्पता, सर्वान्तरयामिता, सर्वनियामकता सर्वाधारता आदि अनेक कल्याणमय विशिष्ट गुणों और उनकी सर्व जगदात्मकता का प्रतिपादन करके, ऐसा परब्रह्म "तू है" इस प्रकार श्वेतकेतु को तत्वोपदेश देने के लिए उक्त प्रकरण प्रस्तुत है। अपने वेदार्थ संग्रह में इसका विस्तृत विवेचन किया है। इस वेदांत सूत्र के आरम्भाधिकरण में भी दृढ़ता के साथ प्रतिपादन करूँगा।

"अथ परा यथा तदक्षरम्" इत्यत्रापि प्राकृतान् हेयगुणान् प्रतिषिध्य नित्यत्व विभुत्व सूक्ष्मत्व सर्वगतत्वाव्ययत्वभूतयोनित्वसार्वज्ञादि कल्याणगुणयोग. परस्यब्रह्मणः प्रतिपादितः ।

"अब पराविद्या का वर्णन करेंगे जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है" इस श्रुति में प्रकृति संभूत हेयगुणों का निराकरण करके, परब्रह्म की नित्यता, व्यापकता, सूक्ष्मता,सार्वजनीनता,निर्विकारता, सर्वभूतकारणता, और सर्वज्ञता आदि कल्याण गुणों का प्रतिपादन किया गया है।

"सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेक विशेषणविशिष्टैकार्थाभिधानव्युत्पत्त्या न निर्विशेषवस्तु सिद्धिः

ankurnagpal108@gmail.com

प्रवृत्ति निवृत्तिभेदनैकार्थं वृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम्। तत्र सत्यं ज्ञानादिपदमुख्यार्थैगुणैस्तत्तदगुणविरोध्याकार प्रत्यनीकाकारैर्वैक-स्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्याश्रणीयः । इयांस्तु विशेषः एकस्मिन्, पक्षे पदानां मुख्यार्थता, अपरस्मिश्च तेषां लक्षणा। न च अज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव, एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात्। तथा सति सामानधिकरण्यासिद्धश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमामानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात्। न च एकस्यैवार्थस्य विशेषणभेदेन विशिष्टताभेदादनेकार्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि, एक स्यैववस्तुनो अनेकविशेषणविशिष्टता प्रतिपादन परत्वात्सामाना-धिकरण्यस्य "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इतिहिशाब्दिकाः।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप है" इस श्रुति में भी ब्रह्म के साथ सत्य आदि पदों का सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्यभाव का अभेद) होने से ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती। अनेक गुण युक्त एक वस्तु का प्रतिपादन करना ही, सामानाधिकरण्य का कार्य है। विभिन्न अर्थों में प्रयोज्य शब्दों की एकार्थपरता को ही सामानाधिकरण्य कहते हैं। इसलिए सत्य ज्ञान आदि शब्दों का मुख्यार्थ, सत्यता आदि गुण रूप हो, अथवा उसके विरोधी गुण के आकारवाला हो, इन दोनों में से किसी भी एक अर्थ के ज्ञापक होने से, पदों की प्रवृत्ति, भिन्न निमित्तक स्वीकारनी होगी। यही एक विशेषता होगी कि, पदों का पहिला अर्थ मुख्य तथा दूसरा अर्थ लाक्षणिक होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य आदि पदों का, अज्ञान आदिविपरीत अर्थ ही वस्तु (ब्रह्म) का स्वरूप है। क्योंकि एक ही पद से जब स्वरूप सिद्ध हो जाता है तो अन्य पदों का प्रयोग करना व्यर्थ है। उक्त बात मानने से तो सामानाधिकरण्य असिद्ध हो जायगा, क्योंकि एक वस्तु में वर्त्तमान पदों का निमित्त भेद न होगा (सामानाधिकरण्य में निमित्त भेद आवश्यक है) यदि कहो कि-विशेषण के भेदानुसार एक ही वस्तु का गुणगत भेद तो रहेगा ही; इससे तो

ankurnagpal108@gmail.com

विशिष्ट पदों की एकार्थता स्वीकारने वाले सामानाधिकरण्य से विरोध होगा, एक ही वस्तु के अनेक विशेषणों वाली विशिष्टता का प्रतिपादन करने वाला सामानाधिकरण्य होता है, ऐसा-वैय्याकरणों का भी मत है कि "भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक शब्दों की एक अर्थ में योजना करना सामानाधिकरण्य का कार्य है।"

यदुक्तम्- "एकमेवाद्वितोयम्" इत्यत्र अद्वितोयपदं गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते, अतः सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानां अद्वितीय वस्तु प्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयम् कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणोलक्षणमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म" इति। अतो लिलक्षयिषितंब्रह्म निर्गुणमेव, अन्यथा निर्गुणं निरंजनं इत्यादिभिर्विरोधश्च इति। तदनुपपन्नं-जगदुपादानस्यब्रह्मणः स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्र शक्तियोग प्रतिपादन परत्वात् अद्वितीय पदस्य तथैव विचित्रशक्तियोगमेवावगमयति "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि।

जो यह कहा कि—"एकमेवाद्वितीयं" इस वाक्य में प्रयुक्त अद्वितीय पद, किसी भी गुण से ब्रह्म की द्वैतता नहीं स्वीकारता, इसलिए" सर्वशाखा प्रत्यय न्याय" से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही समस्त वेदांत वाक्यों का तात्पर्य स्वीकारना चाहिए। कारण रूप से उल्लेख्य उस अद्वैत ब्रह्म को "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" कहा गया है। उक्त लक्षण वाला ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण ही हो सकता है, सगुण नहीं, यदि सगुण स्वीकारेगे तो, "निर्गुण निरंजन" इत्यादि निर्गुणता बोधक श्रुति के साथ विरुद्धता होगी। यह कथन भी असंगत है—अद्वितीय पद से ज्ञात होता है कि जगत के उपादान कारण ब्रह्म में ऐसी विचित्र अद्वितीय शक्ति है कि, उसे जगत के संचालन में किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती। ऐसी ही विचित्र शक्ति योग की बात इस श्रुति से पुष्ट होती है—"उसने विचार किया एक से अनेक हो जाऊँ" उसने फिर तेज की सृष्टि की" इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्ते निमित्तान्तरमात्रनिषेधः कथं ज्ञायत इति चेत्, सिसृक्षोर्ब्रह्मण उपादानकरणत्वं "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इति प्रतिपादितम्। कार्योत्पत्तिस्वाभावेन बुद्धिस्थं निमित्तान्तरमिति तदेवाद्वितीयपदेन निषिध्यते इत्यवगम्यते। सर्वं निषेधे हि स्वाभ्युपगताः सिषाधयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्यु.। सर्वंशाखा प्रत्ययन्यायश्चात्र भवतो विपरीतफलः सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वज्ञत्वादीनां गुणानामत्रोपसंहार हेतुत्वात्। अतः कारणवाक्य स्वभावादपि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इ-यनेन सविशेषमेव प्रतिपाद्यते, इति विज्ञायते

यदि कहो कि—सामान्य अद्वितीय पद से, निमित्तान्तर मात्र के निषेध का अर्थ कहाँ से ज्ञात कर लिया ? सो वह तो,सृष्टि करने के इच्छुक ब्रह्म की उपादान कारणता के बोधक—"हे सौम्य ! यह जगत सृष्टि के पूर्व एक मात्र सद्‌ही था" इस वाक्य में प्रतिपादित तत्त्व से निश्चित हो जाता है। इस जगत् के निर्माण कार्य में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कारण की संम्भावना का "अद्वितीय" पद से निषेध प्रतीत होता है। यदि "अद्वितीय" पद से सभी का निषेध स्वीकारेंगे तो नित्यता आदि जिन धर्मों का प्रतिपादन आवश्यक है, उनका भी निषेध हो जायगा। इस प्रसंग में सर्वशाखाप्रत्ययन्याय की चर्चा तो आपके विपरीत प्रतिफलित होगी क्यों कि आपको वेदों की समस्त शाखाओं में वर्णित जगत कारण के प्रतिपादक सर्वज्ञता आदि गुणों का यही उपसंहार करना पड़ेगा। इसलिए, कारणता का प्रतिपादक वाक्य स्वाभाविक रूप से "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" ऐसा सविशेष का ही प्रतिपादन करता प्रतीत होता है।

न च निर्गुणवाक्य विरोधः, प्राकृतहेयगुणविषयत्वात् तेषां "निर्गुणं, निरंजनं, निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तम्" इत्यादीनाम्। ज्ञान-मात्रस्वरूपवादिन्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेवतत्त्वम्, ज्ञातुरेव ज्ञान स्वरूपत्वात्।

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणिदीपादिवत् उक्तमेव इत्युक्तम् ।

ऐसा मानने से, ब्रह्म की निर्गुणता मानने वाले वाक्यों से किसी प्रकार की विरुद्धता भी नही होती । "निर्गुण, सपर्क रहित अखंड, क्रिया-हीन, शान्त'' आदि वाक्य, प्राकृत हेय गुणो से राहित्य के सूचक है । ज्ञानमात्र स्वरूप की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी ब्रह्म की ज्ञानस्वरूपता को बतलाती है । वह जो ज्ञान स्वरूपता है, वह केवल निर्विशेष ज्ञान सूचक नहीं है, अपितु ज्ञाता की ही ज्ञानस्वरूपता की सूचक है । ज्ञान स्वरूप उस ब्रह्म की ज्ञान स्वरूपता, मणि, सूर्य प्रदीप आदि की तरह (प्रकाश गुण विशिष्ट) मानना ही सुसगत है, ऐसा पहले कह भी चुके है ।

ज्ञातृत्वमेव हि सर्वश्रुतयोवदंति- यः सर्वज्ञः सर्ववित्-तदैक्षत- ' सेयंदेवतैक्षत—सईक्षतिलोकान्नु सृज इति नित्योनित्यानां चेतनश्चेतमानां एको बहूनाथो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौद्वावजावी-शनीशौ— तमीश्वराणां परमंमहेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् पतिपतीनां परमं परस्तात् विदामदेवं भुवनेश मीड्यम् नतस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, परास्य शक्तिर्विविधैश्च श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च—एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।'' इत्याद्याः श्रुतयः ज्ञातृत्व प्रमुखान् कल्याणगुणान् ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वाभाविकान्वदंति, समस्त हेय रहितांच । निर्गुणवाक्यानां सगुण वाक्याना च, विषयमपहत-पाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य 'सत्यकामः सत्य संकल्प'' इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान् विधतीयं श्रुतिरेव विविनक्तीति सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावादन्यतरस्य मिथ्याविषयताश्रयण-मपि नाशंकनीयम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म की ज्ञातृता तो सभी श्रुतियाँ बतलाती हैं।" जो सर्वज्ञ और सर्वविद है—उसने विचारा—उस देवता ने विचारा—उसने विचार किया कि लोकों की सृष्टि करूँ—जो नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन है वह अकेला अनेकों की कामना पूर्ण करता है—ज्ञाता और अज्ञाता वो अजन्मा, ईश और अनीश हैं—ईश्वरों के ईश्वर देवताओं के परम देवता, पतियों के परम पति, उन भुवनेश्वर स्तवनीय देव की आराधना करते हैं—उसका कोई कार्य कारण नहीं हैं, न उससे कोई अधिक है, और न समान है, उसकी पराशक्ति स्वाभाविकी, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक प्रकार की सुनी जाती है—वह आत्मा निष्पाप अजर, अमर, अशोक, भूख-प्यास रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प है।" इत्यादि श्रुतयाँ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के स्वाभाविक ज्ञातृता आदि गुणों का प्रतिपादन करती है तथा उसे समस्त हेय गुणों से रहित बतलाती है। निर्गुण वाक्य और सगुण वाक्य के विषय की प्रतिपादिका "अपहतपाप्मता से अपिपास:" तक हीन गुणों का प्रतिषेध करके "सत्यकाम: सत्यसंकल्प:" से कल्याणमय गुणों का एक साथ विवेचन करती हुई श्रुति, सगुण निर्गुण वाक्यों के विरोध का अभाव बतलाती है। इससे अन्य श्रुतियाँ मिथ्या प्रतिपादिका है, ऐसी शंका नही करनी चाहिए।

"भीषाऽस्माद्वात: पवते" इत्यादिना ब्रह्मगुणानारभ्य 'ते ये शतम्" इत्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशयमुक्त्वा "यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह आनन्दंब्रह्मणो विद्वान्" इति ब्रह्मण: कल्याणगुणानन्त्यमत्यादरेण वदतोयं श्रुति:।

इसी प्रकार—"इसके भय से वायु चलती है" इत्यादि से ब्रह्म के गुणो को प्रारम्भ करके "उससे शतगुण" इस क्रम से क्षेत्रज्ञ की आनन्दातिशयिता को बतलाकर "जिसे न पाकर वाणी मन सहित लौट कर आ जाती है, उस आनन्द ब्रह्म को जानकर" इत्यादि से ब्रह्म के कल्याणमय अनन्तगुणों का बड़े आदर के साथ उक्त श्रुति उल्लेख करती है [यह आनन्द बल्ली श्रुति की चर्चा है]

"सोऽनुश्तो सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" इति ब्रह्म वेदन फलमगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति

ankurnagpal108@gmail.com

विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् समश्नुते। काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः। ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वाश्नुते। दहरविद्यायां "तस्मिन्यदन्तन्वेष्टव्यम्" इतिवद् गुणप्राधान्यं वक्तुं सह शब्दः। फलोपासनयोः प्रकारैक्यम्—"यथा, क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति श्रुत्यैव सिद्धम्।

"ब्रह्मज्ञ पुरुष विशेषज्ञ ब्रह्म के साथ, समस्त काम्यफलों का भोग करता है" ब्रह्मज्ञानफल को बतलाने वाला यह वाक्य, परब्रह्म के अनन्त गुणों का प्रकाश करता है। ब्रह्मज्ञ, ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को भोगता है अर्थात् जिनकी कामना की जाय ऐसे कल्याणमय गुण ही काम्य हैं, ब्रह्म के साथ उन कल्याणमय गुणों को ही प्राप्त करता है। दहरविद्या में "उसमें जो अन्तर है, वह अन्वेषणीय है" कहे गये इस वाक्य की तरह, गुण प्राधान्य को बतलाने वाला सह शब्द है। फल और उपासना के प्रकार की एकता "इस लोक में पुरुष, जैसा प्रयास करता है, मरने पर भी वैसा ही होता है" इस श्रुति से ही सिद्ध है।

"यस्यामतं तस्यमतम्, अविज्ञातं विजानताम्" इति ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वं उक्तं चेत; "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" —ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, इति ज्ञानान् मोक्षोपदेशो न स्यात्। असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेदचेत् अस्ति ब्रह्मेति चेत्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्मविषय ज्ञानासद्भावसद्भावाभ्यामात्मनाशमात्मसत्तां च वदति। अतो ब्रह्मविषय वेदन मेवापवर्गोपायं सर्वाः श्रुतयोविदधति। ज्ञानं चोपासनात्मकम्। उपास्यं च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम्। "यतोवाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" इति ब्रह्मणोऽनन्तस्यापरिच्छिन्न गुणस्य वाङ्मनसयोरेतावदिति परिच्छेदायोग्यत्वश्रवणेन ब्रह्मैतावदिति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञानवतां ब्रह्माविज्ञातममतम् इत्युक्तम्, अपरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मणः। अन्यथा "यस्यामतं तस्य मतम्" "विज्ञातमविजानताम्" इति मतत्वविज्ञातत्व वचनं तत्रैव विरुद्ध्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

"जो यह विचार करते हैं कि—विचार से अतीत है, वेही उसे जानते हैं, विशेष रूप से जानने का दावा करने वाला कुछ भी नहीं जानता" इस वाक्य में ब्रह्मज्ञान की अविषयता कही गई है, यदि ऐसा मान लोगे तो "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि ज्ञानपरक उपदेश वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे।

"जो ब्रह्म को अस्तित्वहीन मानता है, मानों वह स्वयं ही अपने अस्तित्व पर शका करता है, तथा जो उसका अस्तित्व स्वीकारता है, उसे ही वास्तविक ज्ञाता जानों" इस श्रुति में ब्रह्मविषयक ज्ञान के सद्भाव और अभाव से आत्मनाश और आत्मसत्ता की बात कही गई है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मविषयक ज्ञान को ही मोक्ष के लिए सारी श्रुतियाँ स्वीकारती हैं। ज्ञान को उपासनात्मक तथा उपास्य को सगुण कहा जा चुका है।

"जिसको न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है" इस श्रुति में ब्रह्म के अपरिमित अनन्त गुणों की निस्सीमता की अकथ्यता और अमननीयता बतलाकर, गुण और परिणाम से सीमित परिछिन्न मानने वाले लोगों को ब्रह्म तत्व से अज्ञात बतलाया गया है। ब्रह्म तो स्वभाव से ही अपरिच्छिन्न और अनन्त हैं। उक्त श्रुति का यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो, उसी जगह "यस्यामतं तस्यमतं विज्ञातमविजानताम्" इस वाक्यांश में जो मतता और विज्ञातता बतलाई गई है, वह प्रकरण विरुद्ध सिद्ध होगी।

यत्तु "न द्रष्टेर्दृष्टारं न मतेर्मन्तारम्" इति श्रुतिर्दृष्टेर्मते व्यतिरिक्तं द्रष्टारं मन्तारंच प्रतिषेधति इति तदागन्तुक चैतन्यगुणयोगितया ज्ञातुरज्ञान स्वरूपतां कुतर्क सिद्धां मत्वा न तथात्मानं पश्येः न मन्वीथाः, अपितु द्रष्टारं मंतारमप्यात्मानं दृष्टिमति रूपमेव पश्येरित्यमिदधाति इति परिहृतम्। अथवा दृष्टेर्दृष्टारं, मंतेर्मन्तार जीवात्मानं प्रतिषिध्य सर्वभूतान्तरात्मानं परमात्मानमेवोपास्येति वाक्यार्थः। अन्यथा "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादि ज्ञातृत्व श्रुतिविरोधश्च।

और जो—"दृष्टि (अनुभूति) के साक्षी और मति (चिन्तन) के प्रकाशक को नहीं जानता"—इति श्रुति में अनुभूति और मनन के द्रष्टा

ankurnagpal108@gmail.com

और प्रकाशक ब्रह्म के अतिरिक्त, किसी अन्य का निषेध किया गया है, उसका तात्पर्य ये है कि—जो कुतर्की आत्मा को स्वतः चैतन्य न मानकर, इन्द्रियों की विशेष चेष्टाओं से उसमें चैतन्यता मानते हैं, उनके मत में आत्मा चेतन होते हुए भी अचेतन है। ऐसी कुतर्क बुद्धि से जो, आत्मदर्शन और मनन करने की चेष्टा न करके अपनी दृष्टि और मति को ही द्रष्टा और मन्ता समझते हैं, उनका निराकरण किया गया है। दृष्टि के द्रष्टा, मति के प्रकाशक जीवात्मा का निराकरण करके, परमात्मा ही उपास्य हैं; यह तात्पर्य बतलाया गया है। उक्त श्रुति का यदि ऐसा अर्थ नहीं स्वीकारोगे तो "विज्ञाता को और किससे जानोगे ?" इस श्रुति में कही गई, परमात्मा की ज्ञातृता से विरुद्धता होगी।

"आनंदो ब्रह्म" इति आनंदमात्रमेव ब्रह्मस्वरूपं प्रतीयत इति यदुक्तम्, तत् ज्ञानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव हि अनुकूलमानंद इत्युच्यते।" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म "इत्यानंदस्वरूपमेव ज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थः,। अतएव भवतामेकरसता। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि श्रुतिशतसमधिगत इत्युक्तम्। तद्वदेव "स एको ब्रह्मण आनन्दः"—"आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्" इति व्यतिरेक-निर्देशाच्च नाऽनन्दमात्रंब्रह्म, अपित्वानन्दि। ज्ञातृत्वमेव हि आनंदित्वम्।

"ब्रह्म आनन्द स्वरूप है" यह श्रुति, आनन्दमात्र ही ब्रह्म के स्वरूप की प्रतिपादिका है ऐसा प्रतीत होता है; यह कथन तो ज्ञानाश्रय ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप, बतलाने वाली श्रुतियों से ही कट जाता है। अनुकूल भाव को प्राप्त ज्ञान ही आनन्द नाम से कहा गया है। "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इस श्रुति का तात्पर्य है कि आनन्द स्वरूप विज्ञान ही ब्रह्म है। इससे आपका अभिमत एकरसता का सिद्धान्त भी संगत हो जाता है। इस ज्ञान स्वरूप की ज्ञातृता भी सैकड़ों श्रुतियों से ज्ञात है। उसी प्रकार "वह एक ब्रह्म आनन्द है" आनन्द ब्रह्म का ज्ञाता" इत्यादि आनन्द के व्यतिरेक के निर्देश से ज्ञात होता है कि, ब्रह्म केवल आनन्द स्वरूप ही नहीं हैं, अपितु आनंदी भी है। ज्ञातृता ही उसका आनन्दीपन है।

ankurnagpal108@gmail.com

यदिदमुक्तम्––"यत्र हि द्वैतमिव भवति"–नेह नानाऽस्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति––"यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्" इतिभेदनिषेधो बहुधा दृश्यत इति; तत्कृत्स्नस्यजगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात्, तत्प्रत्यनीक नानात्वं प्रतिषिध्यते। न पुनः "बहुस्यां प्रजायेय" इति बहुभवन संकल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुति सिद्धं प्रतिषिध्यत इति परिहृतम्। नानात्वनिषेधादियमपरमार्थ विषयेति चेत्; न प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणानवगतं नानात्वं दुरारोहं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहासास्पदमिदम्।

जो यह कहा कि—"जब द्वैतमत होता है"—"जगत में नानातत्व कुछ भी नहीं है, विभिन्नता देखने वाला बारबार मरता है"—"दृश्यमान सब कुछ ही जब आत्म स्वरूप है, तब किससे किसे देखोगे?" इत्यादि भेद निषेधक वाक्य देखे जाते हैं; सो सारा जगत ब्रह्म का कार्य है, ब्रह्म उन सब में अन्तर्यामी और तदात्मक है, इसलिए वह इस भाव से उससे अभिन्न है उक्तभाव से विपरीत जो भिन्नता का भाव है उसका प्रतिषेध उक्त श्रुतियाँ करती हैं। (समाधान) "बहुत होकर जन्म लूंगा" ऐसे ब्रह्म के संकल्प की बाहुल्यता परक भिन्नता का निषेध नहीं किया गया है। इस संकल्प श्रुति से ही उक्त प्रतिषेध की बात का निराकरण हो जाता है। यदि कहो कि अन्यान्य श्रुतियों में जहाँ कही भी ब्रह्म के नानात्व का प्रतिषेध किया गया है वह अपरमार्थ विषयक ही है, सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतियाँ प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से अज्ञात दुरूह भिन्नता वाले ब्रह्मण का प्रतिपादन करके, उसी का निषेध कर दें यह तो उपहासास्पद बात है।

"यदाहि एवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथतस्य भयं भवति" इति ब्रह्मणिनानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्, तदसत् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इति तन्नानात्वानुसंधानस्य शांति हेतुत्वोपदेशात्। तथा हि सर्वस्य जगतदुत्पत्तिस्थिति-

ankurnagpal108@gmail.com

लँयकर्मतया यदात्मकत्वानुसंधानेनात्र शान्तिर्विधीयते । अतो यथावस्थित देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदभिन्नं जगत् ब्रह्मात्मकमिति अनुसंधानस्य शांति हेतुतया अभय प्राप्ति हेतुत्वेन न भय हेतुत्व प्रसंगः । एवं तर्हि "अथ तस्य भयंभवति" इति किमुच्यते ? इदं उच्यते—"यदाहि एवैष एतस्मिन्नदृष्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सो भयं गतो भवति" इत्यभय प्राप्ति हेतुत्वेन ब्रह्मणि या प्रतिष्ठा अभिहिता, तस्या विच्छेदेभयं भवतीति । यथोक्तं महर्षिभिः—"यन्मुहूर्त्तंक्षणं वाऽपिवासुदेवो न चिन्त्यते, साहानिस्तन्महच्छिद्र साभ्रांतिस्सा च विक्रिया ।" इति । ब्रह्मणि प्रतिष्ठाया अन्तरमवकाशो विच्छेद एव ।

"साधक जब इस ब्रह्म में थोड़ा भेद करता है, तभी उसे भय होता है" इस श्रुति में, ब्रह्म में भेद देखने वाले व्यक्ति की जो भय प्राप्ति बतलाई गई है वह वास्तविक नहीं । है "यह सब कुछ ब्रह्म ही है, सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है । इसलिए उसकी शान्त भाव से उपासना करो" इस श्रुति में, उस ब्रह्म में जो विभिन्नता ढूढते हैं, उसकी शान्ति के लिए उपदेश दिया गया है । तथा, समस्त जगत की उत्पत्ति स्थिति और संहार कर्म उसी पर ब्रह्म के ही स्वरूप हैं, ऐसा अनु संधान करने से ही शान्ति मिलेगी ऐसा उक्त वाक्य का तात्पर्य है । इसलिए देव, पशु, मनुष्य स्थावरादि भेदों वाला समस्त जगत् ब्रह्मात्मक ही है, ऐसा अनुसंधान ही शांति का कारण बतलाया गया है, उसी से अभयता प्राप्ति होती है, भय प्राप्ति का तो प्रसंग ही नहीं है । यदि ऐसी ही बात है तो "अथ तस्य भयं भवति" ऐसा क्यों कहा ? ऐसी जिज्ञासा होती है—ऐसा कहने का तात्पर्य ये है कि—"यह साधक जब अदृश्य अनिर्वाच्य, स्वप्रतिष्ठ ब्रह्म में सर्वभय निवारक निष्ठा करता है, तब वह निर्भय हो जाता है" इस श्रुति में ब्रह्म निष्ठा का, भय शांति के उपाय के रूप से जो उपदेश दिया गया है, उसके विच्छेद से भय बतलाया गया है । जैसा कि महर्षि वेदव्यास ने कहा भी है—"जिस मुहूर्त्त या क्षण मे वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता, वही सबसे बड़ी क्षति अनिष्ट

ankurnagpal108@gmail.com

प्राप्ति का मार्ग, भ्रांति और चित्त का विकार है"। वस्तुतः ब्रह्म प्रतिष्ठा से विलग होना ही विच्छेद है।

यदुक्तम्—"न स्थानतोऽपि" इति सर्वविशेषरहितं ब्रह्मेति च वक्ष्यतीति; तन्न सविशेषं ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति। "मायामात्रं तु" इति च स्वप्नामध्यर्थानां जागरितावस्थानुभूत पदार्थवैधर्म्येण माया मात्रात्वमेवमुच्यत इति जागरितावस्थाऽनुभूतानामिव पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति।

जो यह कहा कि—सूत्रकार "न स्थानतोऽपि" सूत्र में ब्रह्म को निर्विशेष ही सिद्ध करते है; सो बात नहीं है, वहाँ तो सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। तथा "मायामात्रं हि" इस सूत्र में स्वप्नदृष्ट विषयों को, जागरित अवस्थानुभूत पदार्थों से विपरीत होने के कारण मायामात्र बतलाते हैं, एवं जागरित अवस्थानुभूत विषयों की तरह होने से उनकी पारमार्थिकता वतलाते हैं।

स्मृतिपुराणयोरपि निर्विशेषज्ञानमात्रमेव परमार्थोऽन्यदपारमार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितं, तदसत्—"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्'—मत्स्थानि सर्वभूतानि सचाहं तेस्ववस्थितः—न च मत् स्थानिभूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्, भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः"—"अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा'—मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय, मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्"—"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः"—"यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः"—"ससर्वभूत प्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुनेव्यतीतः अतीवसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनांतराले"—'समस्तकल्याण गुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृत

ankurnagpal108@gmail.com

भूतसर्गः इच्छगगृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेष जगद्धितोऽसौ"–तेजोबलैश्वर्यं महावबोध सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः परः पराणां सकलानयत्र क्लेशादयस्संति परावरेशे"–'स ईश्वरो व्यक्तिसमष्टि-रूपोऽव्यक्तरूपः प्रकट स्वरूपः सर्वेश्वरस्सर्वदृक्सर्ववेत्ता समस्त शक्तिः परमेश्वराख्यः"–"संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मल मेकरूपम्, संदृष्यते वाऽप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्"–शुद्धे महा-विभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते मैत्रेय भगवच्छब्द सर्वकारण कारणे"–"संभर्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थ द्वयान्वितः नेतागमयिता स्रष्टा गकारार्थः तथामुने"–"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्ययशसश्श्रियः ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा"––"वसंति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि, सच भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः"––"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यंतेजांस्यशेषतः, भगवच्छब्दवाच्यानिविना हेयैर्गुणादिभिः"––"एवमेव महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति, परब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः"–"तत्रपूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषा समन्वितः, शब्दोऽयंनोपचारेणअन्यत्र हिउपचारतः"––समस्तश्शक्तयश्चैतानृप यत्र प्रतिष्ठिताः तद्विश्वरूपवैरूप्यंरूपमन्यद्धरेर्महत्" समस्त शक्ति रूपाणि तत्करोतिजनेश्वर देवतिर्यङ् मनुष्याख्याचेष्टावंतिस्वलीलया जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा चेष्टातस्याप्रमेयस्य व्यापिन्य व्याहतात्मिका"––एवं प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयं समस्त हेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्" परः पराणां परमः परमाऽत्मात्म-संस्थितः रूपवर्णादिनिर्देश विशेषण विवर्जितः"–– अपक्षय विनाशा-भ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः। वर्जितश्शक्यतेवक्तुं यस्सदाऽस्तीतिकेवलम् –– सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वैयतः ततस्सवासुदेवेति वि-द्वद्भिः परिपठ्यते"–– तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षरमव्ययम् एक स्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलं"––तदेव सर्वमेवेतद्व्यक्ता-

ankurnagpal108@gmail.com

व्यक्त स्वरूपवत् तथा पुरुषरुपेण च स्थितम्"—प्रकृतिर्या मयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि"—परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः विष्णुनामा स वेदेषु वेदांतेषु च गीयते"— द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तं चामूर्त्तमेव च, क्षराक्षरस्व रूपेते सर्वभूतेषु च स्थिते"—अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं-जगत् एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्सिना विस्तारिणी यथा परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्"—'विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ताक्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते"—यथा क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टितानृप सर्वगा संसारतापानखिलान् अवाप्नोति अतिसंततान्"—तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्त्तते"—प्रधानं च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया विष्णुशक्त्या महाबुद्धे वृतौ संश्रयधर्मिणौ"—तयोरसैव पृथग्भाव-कारणं संश्रस्य च यथासक्तं जलेवातो विभर्ति वाणिकाशतम्"—शक्तिस्साऽपितथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मनः"—तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् अविर्भावतिरोभावजन्मनाश विकल्पवत्"।
इत्यादिना परंब्रह्म स्वभावतएव निरस्तनिखिलदोषगंध समस्त कल्याण गुणात्मकं जगत्उत्पत्तिस्थितिसंहारान्तः प्रवेशनियमनादि-लीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः सर्वावस्थावस्थितस्य परमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणः शरीरतया रूपत्वम् शरीररूपतन्वः शक्तिविभूत्यादिशब्दैः तत्तच्छब्द सामानाधिकरण्येन चाभिधाय तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुनः स्वरूपेणवस्थितिमन्मिश्रतया क्षेत्रज्ञरुपेण स्थितिं चोक्त्वा क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपा अविद्यावेष्टित्वेन स्वाभाविकज्ञानरूपत्वाननुसंधानमचिद्रूपार्था कारतयाऽनुसंधानं च प्रतिपादितमिति परंब्रह्म सविशेषम् तद् विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञयते ।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मृति और पुराणों में भी निर्विशेष ज्ञान मात्र को ही परमार्थ तथा अन्य को अपारमार्थिक बतलाया गया है, यह कथन भी असत् है (निम्नांकित उदाहरणों से उक्त कथन का निराकरण हो जायेगा)

"जो लोग मुझे अजन्मा और अनादि जानते हैं—समस्त प्राणी मुझमें अवस्थित हैं ,मैं उनमें अवस्थित हूँ—ऐश्वर्य योग से मुझमें स्थिति प्राणियों को देखो, जो कि मुझ भूतभावन, भूतरक्षक में विद्यमान है—मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ—मुझसे अधिक कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है—जैसे मणियाँ सूत्र में ग्रथित रहती हैं वैसे सारा जगत मुझमें ग्रथित है—मैं एकांश से सारे जगत में व्याप्त हूँ—मैं श्रेष्ठ पुरुष परमात्मा नाम से प्रसिद्ध हूँ—मैं तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर रक्षा करने वाला ईश्वर हूँ—क्षर और अक्षर से अतीत और उत्तम मैं लोक वेद में पुरुषोत्तम नाम वाला हूँ"

"सर्वभूत, अव्यक्त प्रकृति, प्राकृतविकारों तथा गुण दोषों से रहित ,हर प्रकार के आवरणों से रहित, समस्त जगत के आत्मा वे ही ,भुवनगत समस्त वस्तुओं के आवरण के रूप में स्थित हैं'—वे समस्त उत्कृष्ट गुणों से परिपूर्ण, अपने अंश से समस्त जगत की सृष्टि करने वाले स्वेच्छा से विराट रूप धारण करके समस्त जगत का कल्याण साधन करते हैं मानस तेज ,शारीरिक बल अणिमादि ऐश्वर्य ,समुन्नत ज्ञान ,वीर्य एवं शक्ति आदि गुणों के वे ही एक मात्र आश्रय हैं—बुद्धि मन जीव आदि से परात्पर उन परमेश्वर में क्लेश आदि कोई दोष नहीं हैं—वे व्यष्टि और समष्टि व्यक्त और अव्यक्त से अवस्थित, सर्वेश्वर, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ ,सर्वशक्ति और परमेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं'—जिनके आश्रय से लोक ज्ञान पाता है, वह स्वभावतः निर्दोष, विशुद्ध, महत्, निर्मल और एक रूप हैं—वे दीखते हैं या प्रतीतिगम्य हैं (भक्त को दीखते हैं, ज्ञानी को उनकी प्रतीति होती है) ऐसा ज्ञान ही यथार्थ, बाकी सब कुछ अज्ञान है।

"सब कारणों के कारण, शुद्ध महाविभूति परब्रह्म के लिए भगवान शब्द का प्रयोग किया जाता है; इसमें भ के दो अर्थ हैं, संभर्त्ता (शासक) और भर्त्ता (धारक) ग के अर्थ है, नेता और प्रापक। संपूर्ण ऐश्वर्य (अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता और कामावसायिता) वीर्य (शक्ति)यश श्री (भाग्यसंपत ज्ञान, और वैराग्य इन

ankurnagpal108@gmail.com

छः को भग कहते हैं । व का अर्थ है अव्यय और निर्विकार , ऐसे भगवत शब्द वाले वे सर्वभूतों के आत्मा, सर्वात्मक है, उन्हीं में सारे भूत स्थित है । हीन गुणों से रहित, समस्त ज्ञान-शक्ति-वल-ऐश्वर्य-वीर्य और तेज ये छः भगवत शब्द वाच्य है । ऐसे अत्युत्तम भगवान वासुदेव से भिन्न और कोई नहीं है । पूज्यार्थ बोधन में परिभाषित यह भगवत् शब्द उसी (वासुदेव) मे मुख्यभाव से प्रयुक्त होता है, अन्य जगत गौण रूप से होता है । पूर्वोक्त छः शक्तियाँ जिनमें प्रतिष्ठित है, वही हरि का, जगत् विलक्षण, अप्राकृत महत् रूप है । वे ही अपनी लीला के प्रभाव से देव, मनुष्य पशु पक्षी आदि की सृष्टि के लिए चेष्टावान होते है । जगत के उपकार के लिए उन अप्रमेय भगवान की जो सृष्टि लीला होती है, वह कर्म निमित्तक नहीं होती अपितु अयत्नभूत , व्यापक और अव्याहत होती है । विष्णु नामक परंपद ही निर्मल, नित्य, व्यापक अक्षर और हीनगुणों से रहित है । उत्तम ब्रह्मा आदि से अति उत्तम, स्व प्रतिष्ठ, रूप, वर्ण आदि गुणों से रहित परमात्मा, क्षय–नाश–परिणाम–वृद्धि और जन्म से रहित है । वे एकमात्र "अस्ति" शब्द से ही ज्ञेय है । सर्वव्यापक उनमें, समस्त वस्तुएं वास करती हैं, इसीलिए विद्वान उन्हें वासुदेव कहते है । उस परब्रह्म का स्वरूप, नित्य–अज–अक्षर–अव्यय–,सदाएक, हीन गुण रहित निर्मल है । वे स्थूल–सूक्ष्म स्वरूप, पुरुष रूप और काल में अवस्थान करते हैं ।

"व्यक्त और अव्यक्त रूप जिन पुरुष प्रकृति की बात कही गई, वे दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं । उन ब्रह्म के दो रूप, मूर्त्त और अमूर्त्त, क्षर और अक्षर नामसे प्रसिद्ध, प्राणिमात्र में अवस्थित हैं । वह पर ब्रह्म अक्षर और सारा जगत क्षर है । एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्वाला जैसे विस्तृत हो जाती है वैसे ही परब्रह्म की शक्ति भी समस्त जगत के रूप में विस्तृत होती है । विष्णु पराशक्ति हैं तथा क्षेत्रज्ञ अपराशक्ति है, कर्म का प्रवर्त्तन करने वाली अविद्या शक्ति तृतीय है । क्षेत्रज्ञ शक्ति स्वभाव से सर्वगामिनी होने से अविद्यामय कर्म से बेष्टित होकर निरन्तर संसार के संतापों का भोग करती है । क्षेत्रज्ञ (जीव) शक्ति, अविद्या से आवृत होकर ज्ञान के तारतम्यानुसार सब भूतों में निवास करती है । प्रधान और पुरुष दोनो ही समस्त भूतों की आत्मा के रूप से स्थित, विष्णु शक्ति-द्वारा समावृत है । विष्णु

ankurnagpal108@gmail.com

शक्ति के प्रभाव से ही दोनों संसार में प्रविष्ट होकर, परस्पर भिन्न-भाव से, उसके आश्रय में स्थित रहते हैं। वायु जैसे जल को अपने सपर्क से कणों के रूप में बिखेर देता हैं, उसी प्रकार विष्णु शक्ति भी, प्रधान - पुरुष और तदात्मक विष्णु शक्ति को भिन्न कर देती है। यह सारा जगत नित्य है, केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप जन्म और नाश वाला होता है।

इत्यादि वाक्य परब्रह्म को, स्वभाव से दोष रहित कल्याणमय गुणों वाला, जगत की सृष्टि स्थिति और संहार का कर्त्ता, अन्तर्यामी और नियन्ता बतलाकर – जिस किसी भी स्थिति में स्थित जगत की जड चेतन रूप पारमार्थिकता तथा परब्रह्म शरीररूपता को स्पष्ट करने के लिए शरीर रूप-तनु अंश और विभूति शब्दों की तत् शब्द से विशेषण विशेष्यभाव वाली सामानाधिकरण्यता का निरूपण कर—उस ब्रह्म की विभूति रूप चित् वस्तु की स्वरूपावस्थिति को' अचित् मिश्रित क्षेत्रज्ञ रूप से बतलाकर-क्षेत्रज्ञ अवस्था में पुण्यपामात्मक कर्म रूपा अविद्या से आवेष्टित उसकी स्वाभाविक ज्ञानरूपता और अचिन् रूपाकारता के अनुसंधान की बात कही गई है, जिससे परब्रह्म, सविशेष ही प्रतिपादित होता है तथा उसका विभूतिरूप जगत भी पारमार्थिक ज्ञात होता है।

"प्रत्यस्तमितभेदम्" इत्यत्र देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणाम विशेष संसृष्टस्याध्यात्मनस्वरूपं तद्गतभेदरहितत्वेन तद्भेद-वाचिदेवादिशब्दागोचरं ज्ञानसत्तैकलक्षणं स्वसंवेद्यं योगयुङ्मनसो न गोचर इत्युचत इति। अनेन न प्रपंचापलापः। कथमिद-मवगम्यत इति चेत्; तदुच्यते अस्मिन् प्रकरणेसंसारैकभेषजतया योगामभिधाय योगावयवान् प्रत्याहारपर्यंन्तोश्चोक्त्वा धारणा-सिद्ध्यर्थं शुभाश्रयं वस्तुं परस्यब्रह्मणो विष्णोश्शक्ति शव्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्त्तमूर्त्त विभागेन प्रतिपाद्य, तृतीयशक्ति रूपकर्माख्या विद्यावेष्टितं अचिद्विशिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्त्ताख्यविभागं भावना त्रयान्वयादशुभमित्युक्त्वा, द्वितीयस्य कर्माख्या विद्याविरहिणोऽ-

ankurnagpal108@gmail.com

हो सकते, क्योंकि—उनकी बोध शक्ति स्वतः सिद्ध नही होती, अन्य से लब्ध होती है। इसलिए स्वभावसिद्ध ज्ञानसंपन्न निर्मल ब्रह्म ही एक मात्र ध्येय है।" इत्यादि परब्रह्म विष्णु के स्वरूप को अपने से श्रेष्ठ ध्येय शुभाश्रय बतलाया गया है। इस वाक्य का प्रतिपाद्य भेद अप लाप (बकवास) नही प्रतीत होता।

"ज्ञानस्वरूपम्" इत्यत्रापि ज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो देवमनुष्यादि अर्था-कारेणावभासो भ्रांतिरित्येतावन्मात्र वचनात्। नहि शुक्तिकाया रजततयाऽवभासो भ्रांतिरित्युक्ते जगति कृत्स्नं रजतजातम् मिथ्या भवति। जगद्ब्रम्हणोः समामाधिकरण्येनैक्य प्रतीते., ब्रम्हणो. ज्ञान स्वरूपस्यार्थाकारता भ्रातिरित्युक्ते सति अर्थ जातस्य कृत्स्नस्य मिथ्या त्वमुक्त स्यादिति चेत्; तदसत् अस्मिन् शास्त्रे परस्यब्रम्हणोः विष्णो निरस्ताज्ञानादिनिखिलदोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य महा विभूतेः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रांतिदर्शनासंभवात्। सामानाधिकर-ण्येनैक्य प्रतिपादनं च बाधासहम्, अविरुद्धं चेत्यनन्तरमेवोपपादा यिश्यते। अतोऽयमपि श्लोको नार्थस्वरूपस्य बाधकः।

"ज्ञानस्वरूपं" इस वाक्य में भी, ज्ञान से भिन्न सभी पदार्थो के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नही किया गया है। ज्ञानमय आत्मा देव,मनुष्य आदि आकारो से अवभासित मात्र ही, है ऐसा समझना भ्रांति है। औरन शुक्ति में होने वाली रजत भ्रांति के कारण जगत की सारी रजत राशि ही मिथ्या है। "रजत और ब्रह्म की सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्य) भाव परक ऐक्य प्रतीति होने से ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप की जडजगदाकारता रूप प्रतीति भी भ्रांति ही है, इसीलिए सारे ही जागतिक पदार्थों का मिथ्यात्व है।" तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि—इस वेदान्त शास्त्र में अज्ञान आदि समस्त दोषों से रहित, कल्याणमय गुणोंवाले पर ब्रह्म विष्णु की महाभूति से प्रतिपन्न सारे जगत को बतलाया गया है, इसलिए उसमें मिथ्यात्व देखना सभव नही है (अर्थात् यह जगत महामा-

ankurnagpal108@gmail.com

हिम विष्णु की शक्ति का विलासमात्र है ऐसे जगत को मिथ्या कैसे कह सकते हो ?) सामानाधिकरण्य परक ऐक्य प्रतीति की बात भी असंगत है, यदि तुम कहो कि,-नहीं अविरुद्ध है; तो हम इसका अभी सयुक्तिक उत्तर देंगे। पर "ज्ञानस्वरूपं" आदि श्लोक प्रभु के जागतिक रूप का बाधक नहीं सिद्ध होता।

तथाहि—"यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्याभिसंविशंति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म" इति जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मे त्यवसिते सति; "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रतरिष्यति" इति शास्त्रे सार्थस्य इतिहास पुराणाभ्यामुपवृंहणं कार्यमिति विज्ञायते। उपवृंहण नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्वार्थानांवाक्यैः स्वावगतभेदवाक्यार्थ व्यक्तीकरणम्। सकल शाखागतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणात् दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपवृंहणं हि कार्यमेव।

तथा—"जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवित रहते हैं, तथा मृत्यु के समय जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उन्हीं को जानो, वही ब्रह्म है" इस श्रुति से जगत के जन्मादि के कारण, परब्रह्म हैं, ऐसा निश्चित हो जाने पर—"इतिहास और पुराणों से वेद का उपवृंहण करना चाहिए अल्पज्ञपुरुष मेरे तत्व को क्षत विक्षत कर देगा, इससे वेद सदा भयभीत रहता है" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—वेद के अर्थ का इतिहास और पुराण से उपवृंहण करना चाहिए। वेद और वेदार्थ से अवगत, योग महिमा से, वेद तत्व को साक्षात्कार करने वाले महापुरुषों के वाक्यों से अपने ज्ञात वेदार्थ को सुस्पष्ट कर लेना ही उपवृंहण है। वेद के एकांश मात्र के अध्ययन से, अनेकानेक वेद शाखाओं से संबद्ध वेद वाक्यों का अर्थ निर्णय करना संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रकार का वेदोपवृंहण आवश्यक है।

तत्र पुलस्त्य वशिष्ठ वरप्रदानलब्ध परदेवतापारमार्थ्य ज्ञानवतो भगवतः पराशरात् स्वावगत वेदार्थोपवृंहणामिच्छन्मैत्रेयः

ankurnagpal108@gmail.com

परिप्रच्छ––"सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुंतत्त्रोयथा जगत् बभूवभू-यश्चयश्च यथा महाभाग भविष्यति। यन्मयं च जगद् ब्रम्हन् यतश्चैतच्चराचरम् लीनमासीद् यथा, लयमेष्यति यत्र च।" इत्यादिना।

पुलस्त्य और वशिष्ठ के प्रदत्त वर के प्रभाव से परमात्मा के पारमार्थिक तत्व के ज्ञाता भगवान पराशर से, अपने ज्ञात पदार्थ के उपबृंहण की इच्छा से मैत्रेय ने प्रश्न किया––"हे धर्मज्ञ! यह जगत जैसे उत्पन्न होता है, भविष्य में जैसा रहता है, चराचरात्मक इस जगत का वह स्वरूप क्या है? जिससे यह उत्पन्न होता है, जिसमें यह लीन होता है, वह रूप कौन सा है? इस तत्व को आप से जानना चाहता हूँ।"

अत्र ब्रह्मस्वरूपविशेषतद्विभूतिभेद प्रकारतदाराधन स्वरूप फलविशेषाश्च पृष्टाः। ब्रह्मस्वरूपविशेष प्रश्नेषु यतश्चैतच्चराचरमिति निमित्तोपादानयोः पृष्टत्वात् यन्मयमित्यनेन सृष्टिस्थितिलयकर्मभूतं जगत् किमात्मकमिति पृष्टम्। तस्य चोत्तरं जगच्च स इति। इदं च तादात्म्य अन्तर्यामिरूपेणात्मतया व्याप्तिकृतम्। नतुव्याप्यव्यापकयोर्वस्तुऐक्यकृतम्। यन्मयमिति प्रश्नस्योत्तरत्वाज्जगच्च स इति सामानाधिकरण्यस्य यन्मयमिति मयडत्र न विकारार्थः, प्रथक् प्रश्नवैयर्थ्यात्। नापि प्राणमयादिवत् स्वार्थिकः, जगच्च स इत्युत्तरानुपपत्तेः तदाहि विष्णुरेवेति इत्युत्तरमभविष्यत्। अतः प्राचुतर्यार्थ एव। "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति मयट्। कृत्स्नं च जगत्तच्छरीरतया तत्प्रचुरमेव। तस्मात् यन्मयं इत्यस्य प्रतिवचनं जगच्च स इति सामानाधिकरण्यं जगद्-ब्रह्मणोः शरीरात्मभावनिबन्धनमिति निश्चीयते। अन्यथा निर्विशेष वस्तु प्रतिपादन परे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वाण्येतानि प्रश्न प्रति वचनानि च न संगच्छन्ते। तद् विवरणरूपं कृत्स्नं च शास्त्रं न

ankurnagpal108@gmail.com

संगच्छन्ते । तथाहि सति प्रपंचभ्रमस्य किमधिष्ठानमित्येवं रूपस्यैकस्यप्रश्नस्य निर्विशेषज्ञानमात्रमित्येवंरूपमेकमेवोत्तरं स्यात्। जगद्ब्रह्मणोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्यसंकल्पत्वादि कल्याणगुणैकतानता निखिलहेयप्रत्यनीकता च बाध्येत। सर्वाशुभास्पदं च ब्रह्म भवेत्।

यहाँ ब्रह्म का विशिष्ट स्वरूप, उनकी विभूति प्रकार भेद, तथा उनके आराधन स्वरूप, और उसके फल-विशेष को पूछा गया है। ब्रह्म के स्वरूप विषयक प्रश्न में "जिससे यह चराचर उत्पन्न होता है" ऐसी निमित्तऔर उपादान कारण विषयक जिज्ञासा की गई है, तथा "तन्मयः" पद से सृष्टि, स्थिति और लय के कर्मभूत इस जगत् के स्वरूप की जिज्ञासा की गई है। 'जगच्च सः" पद से उक्त जगत् संबंधी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जगत् की जो ब्रह्म से तादात्म्य उक्ति है, वह अन्तर्यामी रूप से आत्मा में ब्रह्म की व्याप्ति-परक है। व्याप्य व्यापक वस्तु की एकता-परक नहीं है। "यन्मयं" प्रश्न का उत्तर "जगच्च सः" सामानाधिकरण्य (विशेषण विशेष्य) भाव संबंधी है। "यन्मयं" पद में प्रयुक्त मयट् प्रत्यय विकारात्मक नहीं है। यदि ऐसा होता तो पृथक प्रश्न करना ही व्यर्थ होता। और न "प्राणमय" आदि की तरह, मयट् स्वार्थिक ही हैं। स्वार्थिक होता तो "जगच्च सः" उत्तर व्यर्थ हो जाता। स्वार्थिक मयट् में तो "यह जगत् विष्णु ही है" ऐसा उत्तर होता। इसलिए "तत्प्रकृतवचने-मयट्" सूत्र के अनुसार प्राचुर्य्यार्थक मयट् ही समीचीन प्रतीत होता है। सारा जगत् उसका शरीर है, इसलिए प्राचुर्य्य अर्थ ही संगत है। इस प्रकार "यन्मयं" इस प्रश्न का उत्तर "जगच्च सः" सामानाधिकरण्य-परक है जो कि जगत् और ब्रह्म के शरीरात्मभाव का द्योतक है, ऐसा निश्चित होता है। ऐसा अर्थ न मानकर, शास्त्र को निर्विशेष वस्तु-प्रतिपादन-परक मानेंगे तो, उक्त सारे ही प्रश्नोत्तर असंगत हो जायेंगे तथा उक्त विवरण प्रस्तुत करने वाला सारा शास्त्र असंगत हो जायगा। ऐसा मानने से यह प्रश्न भी उठ खड़ा होगा कि इस जगत् को जिसे भ्रांत-परिकल्पित मिथ्या कहते हो, उसका अधिष्ठान कौन है? यदि उसके उत्तर में कहो कि निर्विशेष ज्ञान की वस्तु ही अधिष्ठान है, तो फिर सामाना-

ankurnagpal108@gmail.com

धिकरण्य द्वारा जगत् और ब्रह्म की एकद्रव्यता, सत्य संकल्प आदि गुणैकतानता, समस्त हेयप्रत्यनीकता आदि का बाध हो जायगा, तथा ब्रह्म, समस्त अशुभों का आस्पद हो जायगा।

आत्मशरीरभाव एवेदं सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते, अतो—"विष्णोःसकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्, स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्चसः।" इति संग्रहेणोक्तमर्थम् "परः पराणाम्" इत्यारभ्यविस्तरेणवक्तुं परब्रह्मभूतं भगवन्तं विष्णुं स्वेनैव स्वरूपेणावस्थितम् "अविकाराय" इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य तमेव हिरण्यगर्भस्वावतारशंकररूपत्रिमूर्तिप्रधानकाल-क्षेत्रज्ञसमष्टिव्यष्टिरूपेणावस्थितं च नमस्करोति। तत्र "ज्ञानस्वरूपं" इत्ययं श्लोकः क्षेत्रज्ञव्यष्ट्यात्मनाऽवस्थितस्य परमात्मनः स्वभावमाह। तस्मान्नात्र निर्विशेष वस्तु प्रतीतिः।

इस जगत् का और परमात्मा का आत्मशरीरभाव है, ऐसा ही, सामानाधिकरण्य से मुख्य तात्पर्य निकलता है, जैसा कि—"यह जगत् विष्णु से ही उत्पन्न होता है, वे ही स्थिति और संयम के कर्त्ता हैं, इसलिए वे ही जगत् स्वरूप हैं।" इस श्लोक में संक्षेपरूप से जो अर्थ है, उसे ही "परंपराणाम्" आदिश्लोक में विस्तृत रूप से कहने के अभिप्राय से, स्वरूपावस्थित परब्रह्मस्वरूप भगवान को "अधिकाराय" इत्यादि श्लोक में प्रणाम करके पुनः हिरण्यगर्भ शंकर, विष्णु, आदि त्रिमूर्तियों, प्रधान (प्रकृति) काल, क्षेत्रज्ञ (जीव) आदि समष्टि-रूप से अवस्थित उन्हीं को प्रणाम करते है। फिर "ज्ञानस्वरूपम्" इस श्लोक में व्यष्टि जीवात्मा के रूप से अवस्थित परमात्मा के स्वभाव का निरूपण किया गया है। इससे यहाँ निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नही होती।

यदि निर्विशेष ज्ञानस्वरूपब्रह्माधिष्ठानभ्रमप्रतिपादनपरं शास्त्रं, तर्हि—"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथंसर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपगम्यते "इति चोद्यम" शक्यः सर्वभावना

ankurnagpal108@gmail.com

अचिन्त्यज्ञानगोचराः, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभाव-शक्तयः, भवंति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" इति परिहारश्च न घटते ।

यदि शास्त्र को निर्विशेष ज्ञानस्वरूप ब्रह्माधिष्ठान प्रतिपादन परक मानते हैं तो—"निर्गुण, निरवच्छिन्न (असीम) विशुद्ध और विमल ब्रह्म को सृष्टि संहार कर्त्ता कैसे स्वीकारा जा सकता है"—ऐसी आपत्ति तथा—जैसे तेजीय वस्तुओं में श्रेष्ठ अग्नि की उष्णता स्वाभाविक होती है, वैसे ही ब्रह्म की सृष्टि संहार आदि अचिन्त्य शक्तियाँ भी बुद्धि अगोचर हैं।" ऐसा परिहार संगत न होगा।

तथाहि सति—"निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं न ब्रह्मणः पारमार्थिकः सर्गः, अपितु भ्रांतिपरिकल्पितः इतिचोद्यपरिहरौ स्याताम्। उत्पत्यादिकार्यं सत्वादिगुणयुक्तापरिपूर्णकर्मवश्येषु दृष्टमिति, सत्वादिगुणरहितस्य परिपूर्णस्याकर्मवश्यकर्मसंबंधानर्हस्य कथंसर्गादिकर्त्तृत्वमभ्युपगम्यते इति चोद्यम्। दृष्टसकलविसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजातीयस्य अग्न्यादेरौष्ण्यादि-शक्तियोगवत् सर्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः।

ऐसी विषम आपत्ति और परिहार की स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न होता है कि फिर-निर्गुण ब्रह्म की सर्गादिकर्त्तृता कैसी है? ब्रह्म की वास्तविक सृष्टि नहीं है अपितु भ्रांति परिकल्पित है। ऐसी आपत्ति और ऐसा परिहार संगत हो जाता है। उत्पत्ति आदि कार्य, सत्व रज, तम आदि गुण-युक्त अपूर्ण कर्मवश्य (कर्मलब्ध सुख दुःख अधीन) वस्तु का ही देखा जाता है, फिर सत्वादिगुण रहित, कर्मबंधन-रहित, परिपूर्ण ब्रह्म सर्गादि का कर्त्ता कैसे हो सकता है? इस शंका का परिहार किया जाता है कि जल आदि पदार्थों से भिन्न अग्नि की जैसे स्वाभाविक उष्णता होती है वैसे ही समस्त जगत् से विलक्षण, निर्गुण आदि स्वभाव संपन्न ब्रह्म का भी सर्वशक्ति संबंध विरुद्ध नहीं है।

ankurnagpal108@gmail.com

"परमार्थस्त्वयमेवैक:" इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं-वदति। अपितु कृत्स्नस्य तदात्मकतया तद्व्यतिरेकेणावस्थितस्य अपारमार्थ्यम्। तदेवोपपादयति-"तवैव महिमा येन व्याप्तमेतच्च-राचरम्" इति। येन त्वयेदम् चराचरं व्याप्तं, अतस्त्वदात्मकमेवेदं सर्वमिति त्वदन्य: कोऽपि नास्ति। अत: सर्वात्मकतया त्वमेवैक: परमार्थ:। अत इदमुच्यते--तवैष महिमा, या सर्वव्याप्ति: इति। अन्यथा तवैषा भ्रांतिरिति वक्तव्यम्। जगत: पते त्वमित्यादीनां पदानां लक्षणा न स्यात्। लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराह-स्य स्तुतिप्रकरणविरोधश्च। यत:कृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वया-ऽत्मतया व्याप्तत्वेन तव मूर्त्तम्। तस्मात्त्वदात्मकत्वानुभवसाधन-योगविरहिण एतत् केवलदेवमनुष्यादिरूपमितिभ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ती-त्याह "यदेतद्दृश्यते" इति।

"एक मात्र आप ही परमार्थ हैं" इत्यादि श्लोक भी समस्त जगत् को असत्य नहीं बतलाता। अपितु समस्त जगत् ब्रह्मात्मक है, इस तादात्म्य भाव को छोड़ने से ही मिथ्या प्रतीति होती है इसी बात का उपपादन करता है। "हे प्रभु! आप की ही महिमा समस्त चराचर में व्याप्त है"—अर्थात् आप से यह चराचर व्याप्त है। इसीलिए यह सब कुछ त्वदात्मक है। आपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सर्वात्मक होने से एक आप ही सत्य हैं। इसी लिए यह कहा गया कि-तुम्हारी ही यह महिमा है जिससे सब जगत् व्याप्त है। यदि श्लोक का उक्त तात्पर्य न होता तो; उक्त बात (तवैष सर्वव्याप्ति) के बजाय "तवैषा भ्रांति" (यह तुम्हारी भ्रांति) ही कहा जाता। 'जगत्पते त्वम्" इत्यादि पदों का लाक्षणिक अर्थ नहीं किया जा सकता, वैसा करने से, लीला ही लीला में पृथिवी को उठाने वाले भगवान महावाराह की स्तुति का सारा प्रकरण ही विरुद्ध सिद्ध होगा। "यदेतद् दृश्यते" का तात्पर्य है कि-सारा जगत् ज्ञानात्मक आप से, आत्मभाव रूप से व्याप्त है, अतएव आपका ही मूर्त्त रूप है, आपके त्वदात्मकभाव की अनुभूति का साधन एकमात्र भक्ति योग है। भक्ति

ankurnagpal108@gmail.com

भाव हीन व्यक्ति ही इस जगत् को केवल देवमनुष्यादि रूप वाला देखते हैं। उनका ऐसा ज्ञान भ्रांति मात्र है।

न केवलं वस्तुतस्त्वदात्मकं जगदेव देवमनुष्याद्यात्मकमिति दर्शनमेव भ्रमः; ज्ञानाकाराणामात्मनां देवमनुष्याद्यर्थाकारत्व दर्शनमपि भ्रम इत्याह "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" इति।

केवल ब्रह्मात्मक जगत् को देव मनुष्य आदि वाला जानना ही भ्रम नहीं है, अपितु देव मनुष्य आदि के ज्ञानात्मक आत्माओं को देव मनुष्य ही के आत्मा के रूप में देखना भी भ्रम है; इस भाव को "यह सब कुछ ज्ञान स्वरूप है" इस श्लोक में दिखलाया गया है।

ये पुनर्बुद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदः सर्वस्य भगवदात्मकत्वानुभवसाधनयोग्यपरिशुद्धमनश्च, ते देव मनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीररूपमिदम् अखिलं जगत् शरीरातिरिक्त ज्ञानस्वरूपात्मकं त्वच्छरीरं च पश्यन्ति इत्याह "ये तु ज्ञानविदः" इति। अन्यथा श्लोकानां पौनरुक्त्यं, पदानां लक्षणा, अर्थविरोधः, प्रकरणविरोधः, शास्त्रतात्पर्यविरोधश्च।

और जो लोग सद्बुद्धि, ज्ञानमय आत्मतत्त्व के ज्ञाता तथा जगत् को भगवद्भाव में देखने के लिए भक्ति योग की साधना में संलग्न और शुद्धचित्त हैं, वे प्राकृत परिणाम देव मनुष्य आदि शरीर रूप समस्त जगत् को ज्ञानस्वरूप परमात्मा के शरीर के रूप में ही दर्शन करते हैं— ऐसा "जो ज्ञानविद् हैं" इत्यादि श्लोक का तात्पर्य है। श्लोकों का अर्थ उक्त क्रम से न करने से, पुनरुक्त दोष, अर्थ-विरोध, प्रकरण-विरोध, तथा शास्त्रतात्पर्य-विरोध होगा, साथ ही पदों का लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा।

"तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयम्" इत्यत्र सर्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देवमनुष्यादि प्रकृतिपरिणाम विशेष

ankurnagpal108@gmail.com

रूपपिण्डसंसर्गकृतमात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतथ्यं इत्युच्यते पिंडगतमात्मगतमपि द्वैतं न प्रतिषिध्यते। देवमनुष्यादिविविध-विचित्रपिण्डेषु वर्त्तमानं सर्वमात्मवस्तु सममित्यर्थः। यथोक्तं भगवता "शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः"—"निर्दोषं हि समम् ब्रह्म" इत्यादिषु; "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि" इति देहातिरिक्ते वस्तुनि स्वपरविभागस्योक्तत्वात्।

"वह दूसरे शरीरो मे आत्मरूप से व्याप्त होते हुए भी एक है" इस वाक्य का तात्पर्य है कि—सभी आत्माओं में ज्ञानैकाकार रूप से वह ब्रह्म समान भाव से व्याप्त है, फिर भी, प्राकृत परिणाम देव मनुष्य आदि विविध विचित्र देहो को जो लोग ब्रह्म से पृथक देखते हैं, वह उनका मिथ्या ज्ञान है। यहाँ पिण्डगत और आत्मगत भेद का प्रतिषेध नही किया गया है। देव मनुष्य आदि विविध विचित्र शरीरों में वर्त्तमान सभी आत्माए समान है, जैसा कि-भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा भी है "आत्म तत्त्वज्ञ, कुत्ता और चाण्डाल में समदृष्टि रखते है" ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान है" इत्यादि। "तस्यात्मपरदेहेषुसतोऽपि" इस वाक्य मे देह से अतिरिक्त आत्म वस्तु मे स्व पर विभाग दिखलाया गया है।

"यद्यन्योऽस्तिपरः कोऽपि" इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते, यदि-मत्तः परः कोऽपि अन्यः इति एकस्मिन्नर्थे पर शब्दान्यशब्दयोः प्रयोगायोगात् तत्र परशब्दः स्वव्यतिरिक्तात्मवचनः। अन्यशब्दः तस्यापि ज्ञानैकाकारत्वादन्याकारत्व प्रतिषेधार्थः। एतदुक्तंभवति—यदिमद्—व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मा मदाकारभूतज्ञानाकारादन्याकारोऽस्ति, तदाऽहमेवमाकारः, अयंच अन्यादृशाकारः, इति शक्यते व्यपदेष्टुम्, न चैवमस्ति; सर्वेषाम् ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति।

"यदि कोई दूसरी अन्य वस्तु भी है" इस वाक्य से भी आत्मैक्य प्रतीति नहीं होती 'यदि मुझसे अतिरिक्त कोई अन्य है," इसकथन में

ankurnagpal108@gmail.com

"अतिरिक्त" और "अन्य" शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि "अतिरिक्त शब्द, अपने से भिन्न आत्मवाची है। "अन्य शब्द उस आत्मा का ज्ञानाकार रूप होने से, अन्याकारता (असमानता) का प्रतिषेधक है। कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि मुझसे भिन्न कोई भी आत्मा मेरे आकार रूप ज्ञानाकार से भिन्न आकार का है तो, वहाँ कहा जायगा कि—"मैं इस आकार का" तथा "यह अन्य प्रकार के आकार का है।" सभी आत्माएं परमात्मा से अनुस्यूत ज्ञानाकार होने से समान आकार वाली हों, ऐसा भी नहीं है [ज्ञानैकाकार होते हुए भी भिन्न-भिन्न वासनाओं से अभिभूत होने के कारण आत्माओं में पार्थक्य का व्यवहार होता है]

"वेणुरंध्रविभेदेन" इत्यत्राप्याकारवैषम्यमात्मनां न स्वरूपकृतं अपितु देवादिपिण्डप्रवेशकृतमित्युपदिश्यते, नात्मैक्यम्। दृष्टान्ते चानेकरन्ध्र वर्त्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम्, अपित्वाकार साम्यमेव। तेषांवायुत्वेनैकाकाराणां रन्ध्रभेदनिष्क्रमणकृतो हि षड्जादिसंज्ञाभेदः। एवमात्मना देवादि संज्ञाभेदः। यथा तैजसाप्यपार्थिवद्रव्यांश भूतानां पदार्थानां तत्तद्रव्यत्वे नैक्यमेव न स्वरूपैक्यम्, तथा वायवीयानामंशानामपि स्वरूपभेदोऽवर्जनीयः।

"वेणुरंध्र के भेद से" इस श्लोक में भी आत्माओं का आकार वैषम्य बतलाया गया है, स्वरूप वैषम्य नहीं। देव आदि पिंड विशेष में प्रवेश करने से भिन्नता बतलाई गई है, आत्मैक्य का उल्लेख नहीं है। दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत वेणु के अनेक रन्ध्रवर्त्ती वायु के, अंशो की ध्वनि विषमता बतलाई गई है वायु के स्वरूप की विषमता का कोई प्रश्न ही नहीं है। एक ही वायु विभिन्न छिद्रों से विभिन्न ध्वनियों में प्रतिध्वनित होकर षड्ज आदि नामों से व्यवहार की जाती है। ऐसे ही देव मनुष्य आदि में प्रविष्ट आत्मा का नामपरक भेद है। जैसे, तैजस, जलीय, पार्थिव द्रव्यों के अंश (कण) भिन्न-भिन्न आकार के हैं एक से नहीं हैं, वैसे ही वायवीय अंश भी स्वरूपतः भिन्न हैं।

"सोऽहं सचत्वम्" इति सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानाकारत्वं तत् शब्देन परामृश्य तत्समानाधिकरण्येनाहं त्वमित्यादीनामर्थानां ज्ञान-

ankurnagpal108@gmail.com

मेवाकार इत्युपसंहरन् देवाद्याकार भेदेनाऽस्मसु भेदमोहं परित्यजेताह। अन्यथा देहातिरिक्त आत्मोपदेश्य-स्वरूपे अहं त्वं सर्वमेतदात्म स्वरूपमिति भेदनिर्देशो न घटते। अहं त्वमादिशब्दानां उपलक्ष्येण सर्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न संगच्छते। सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह "तत्याजभेदं परमार्थं दृष्टिः" इति। कुतश्चैष निर्णय इति चेत् देहात्मविवेकविषयत्वादुपदेशस्य। तच्च "पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरः पाण्यादिलक्षणः" इतिप्रक्रमात्।

"वही मै वही तुम हो" इत्यादि वाक्य में भी तत (सः) शब्द द्वारा समस्त आत्माओं की ज्ञानाकारता का निर्देश करके पुनः ज्ञानाकार उस आत्मा के साथ अहं और त्वं पद का अभेद निर्देश करते हुए उपसंहार किया गया है, इसमें देवादि आकार भेद से आत्माओ में हुई भेद भ्रान्ति को छोड़ने का उपदेश दिया गया है। देहातिरिक्त आत्मा के उपदेश में "अहं त्वं सब कुछ आत्म स्वरूप है" ऐसा भेद संगत न होगा। यदि कहो कि श्लोक मे प्रयुक्त 'अहं त्वं' शब्द केवल उपलक्षण मात्र है, सो जब यह सारा जगत आत्म स्वरूप है, तो जगत और ब्रह्म में सामानाधिकरण्य होने से उपलक्षणता भी संगत नही होती। "वही मै वही तुम हो" इस उपदेश के अनुसार उसने भी वैसा ही किया "उसने परमार्थ दृष्टि प्राप्त कर द्वैत बुद्धि का परित्याग कर दिया" जो यह दिखलाया गया है, ऐसा निर्णय उसने किस आधार पर किया? देहात्मविषयक उपदेश के आधार पर-जैसे कि—"हाथ पैर शिर आदि भेदों वाला शरीर आत्मा से भिन्न है, वैसे ही जगत और ब्रह्म का संबंध है।"

"विभेद जनके ज्ञाने" इति नात्मस्वरूपैक्यपरम्। नापि जीवपरयोः आत्मस्वरूपैक्यमुक्तरीत्या निषिद्धम्। जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यम् देहात्मनोरिव न संभवति। तथा च श्रुतिः—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वस्त्यनश्नन्न्यो

ankurnagpal108@gmail.com

अभिचाकशीति"—"ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्यलोके गुहांप्रविष्टौ परमे पराध्र्ये, छाया तपौ ब्रह्मविदो वदंति पंचाग्नयो येच त्रिणाचिकेता:" —"अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्याद्या: । अस्मिन्नपि शास्त्रे "ससर्वभूतं प्रकृतिं विकारान् गुणादि दोषश्च मुने व्यतीत:, अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनाऽस्तृतं यद्भुवनान्तराले" —"समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ"—"पर: पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्संति परावरेशे"—"अविद्या कर्म संज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते, ययाक्षेत्रज्ञ शक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा" इति भेदव्यपदेशात् । "उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते"—"भेदव्यपदेशाच्चान्य:" —"अधिकंतुभेद निर्देशात्" इत्यादिसूत्रेषु च । "य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरो यमात्मा नवेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त:"—"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ:" इत्यादिभि: उभयोरन्योन्यप्रत्यनीकाकारेण स्वरूप निर्णयात् ।

"विभेदजनके ज्ञाने" इत्यादि वाक्य भी जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता का प्रतिपादक नहीं है । और न जीवात्मा-परमात्मा की स्वरूपगत एकता का उक्त कथनानुसार निषेध ही होता है । जीवात्मा परमात्मा की स्वरूपगत एकता देह और आत्मा की तरह नहीं हो सकती । श्रुति का भी उक्त मत है—"दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हैं, जो कि सहचर सखा हैं, उनमें से एक (जीव) परिपक्व (भोग के उपयुक्त) पिप्पल (कर्म) फल का भोग करता है, और दूसरा (परमात्मा) भोग नहीं करता केवल देखता (साक्षी) मात्र है ।" ब्रह्मविद और पंचाग्नि साधक लोग तथा तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन करने वालों ने कहा है कि-इस लोक (देह) में पुण्य फल भोक्ता छाया और आतप के समान दो स्वरूप (जीवात्मा और परमात्मा) बुद्धि रूप उत्तम गुहा में स्थित हैं । "वह सर्वात्मक सभी के अन्त:करण में स्थित होकर शासन करता है ।" इत्यादि । और शास्त्र (विष्णुपुराण) में भी इसी प्रकार का उपदेश है—"वह (परमात्मा) समस्त भूतों के उपादान प्रकृति और उसके

ankurnagpal108@gmail.com

विकारों एवं हर प्रकार के गुण दोषों से रहित, सभी प्रकार के ज्ञाना-वरणों से रहित, समस्त भूतों के आत्मा हैं, भुवन के अन्तराल में जो कुछ भी है वह उन्हीं से व्याप्त है। वे सब प्रकार के मंगलमय गुणों से पूर्ण, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर हैं। वे सर्वेश्वर क्लेश आदि दोषों से रहित हैं। भगवान की कर्म नामक एक तीसरी अविद्या शक्ति है, जिससे सर्वगत क्षेत्रज्ञ (तटस्थ जीव) शक्ति वेष्टित है। "इत्यादि श्लोकों में परस्पर भेद का निर्देश किया गया है। "उभयेऽपि हि भेदे नैनमधीयते" "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" आदि सूत्रों में सूत्रकार भी उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। "जो आत्मा में स्थित होकर संयम करते हैं, जीवात्मा जिन्हे नहीं जानता, आत्मा ही जिनका शरीर है"—"प्राज्ञ परमात्मा से संसक्त होकर"—"प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" इत्यादि श्रुतियाँ, जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर विलक्षण रूप का निरूपण करतीं हैं।

नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्यपरेण स्वरूपैक्य संभवः अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासंभवात्। यथोक्तम्—"परमात्मा त्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते, मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः" इति। मुक्तस्य तु तद्धर्मतापत्तिरेवेति भगवद्गीतासूक्तम्—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः, सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथयन्ति च।" इति इहापि—"आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म-ध्यायिनं मुने, विकार्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा।" इति।

साधन विशेष के अनुष्ठान द्वारा, अविद्या के क्षय हो जाने के बाद भी जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता संम्भव नहीं है, क्यों कि—अविद्याश्रित जीव की अविद्या से बचे रहने की क्षमता नहीं हैं। जैसा कि कहते हैं—"परमात्मा और जीवात्मा की एकता को सत्य कहना, मिथ्या भ्रम है, क्यों कि—एक द्रव्य कभी दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता।" मुक्तात्मा को भगवान के समान गुण ही प्राप्त होते हैं, ऐसा भगवद्गीता में कहा गया है—"ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे समान गुणों को प्राप्त करते हैं, वे सृष्टि में जन्म नहीं पाते और प्रलय में दुःखी नहीं होते।"

ankurnagpal108@gmail.com

विष्णुपुराण में भी जैसे—"जैसे अग्नि लोहे के विकारों को समाप्त कर देती है, उसी प्रकार, परमात्मा भी अपने ध्यान करने वालों को आकृष्ट कर आत्मभाव प्रदान करते हैं।"

आत्मभावम् आत्मनस्स्वभावम्। नहि आकर्षकस्वरूपापत्तिः आकृष्यमाणस्य। वक्ष्यति च "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"—"भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च"—"भुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च" इति। वृत्तिरपि—"जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा" इति। द्रविडभाष्यकारश्च—"देवता सायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत्सर्वार्थसिद्धस्स्यात्"। इत्याह—श्रुतयश्च—"यःइहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"—"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता"—"एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य, इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्"—"सतत्रपर्येति"—"रसो वै सः, रसह्येवायं लब्ध्वाऽनंदीभवति "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"—"तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्याद्याः।

'आत्मभावम्' का तात्पर्य है, आत्मा का स्वभाव। आकृष्ट होने वाली वस्तु आकर्षक के स्वरूप को प्राप्ति नहीं कर पाती। जैसा कि—सूत्रकार—"जगद्व्यापारवर्जं, भोगमात्र साम्य मुक्तोपसृप्य०" इत्यादि सूत्रों में उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करते हैं। "जगत् रचना की क्षमता न होने से जीवात्मा की ज्योति ही परमात्मा के समान होती है" ऐसी वृत्ति भी है। द्रविडभाष्यकार भी कहते हैं—"भगवत् सायुज्य प्राप्त मुक्तात्मा भी भगवान् के समान सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त करते हैं।" श्रुतियां भी उक्त वस्तु की पुष्टि करती हैं जैसे—"जो परमात्मा के ऐसे स्वरूप तथा सत्य कामनाओं को जानकर, इस लोक से प्रयाण करते हैं, उनकी समस्त

ankurnagpal108@gmail.com

लोकों में अप्रतिहत गति होती है।" ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करते हैं—"वह परमात्मा के साथ समस्त कामनाओं को भोगता है।" इस आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त कर सभी प्रकार के काम्यफलों का भोग करता है। "परमात्मा रस स्वरूप है, उस रस का आस्वाद कर जीवात्मा आनदित होता है।" मुक्तपुरुष वहाँ जाता है। "नदियाँ जैसे समुद्र में मिलने पर अपने नाम रूप का परित्याग कर देती है, वैसे ही जीवात्मा भी अपने नाम रूप से छुटकर उस परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।" ब्रह्मज्ञ पुरुष पुण्य पाप से छुट कर निरंजन परमात्मा की समता प्राप्त करता है।" इत्यादि।

पराविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपास्यम्। फलं चैकरूपमेव। अतो विद्याविकल्प इति सूत्रकारेणैव—"आनन्दादयः प्रधानस्य" "विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात्" इत्यादिषूक्तम्। वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः "युक्तं तद् गुणकोपासनात्" इति। भाष्यकृता व्याख्यातं च "यद्यपि सच्चितः" इत्यादिना। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" इत्यत्रापि—"नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरूषमुपैतिदिव्यम्"——"निरंजनः परमं साम्यमुपैति"——"परंज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिभिरैकार्थ्यात् प्राकृतनाम रूपाभ्यां विनिर्मुक्तस्य निरस्ततत्कृत्भेदस्य ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते। प्रकारैक्ये च तत्वव्यवहारो मुख्यएव, यथा सेयं गौरिति।

सभी ब्रह्मविद्याओं में सगुणब्रह्म को ही उपास्य तथा ब्रह्मसारूप्यता को मोक्ष बतलाया गया है। विद्याओं की समान प्रणाली का "आनन्ददयः प्रधानस्य" बिकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात् "सूत्रों में सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं। वाक्यकार भी सगुण की उपास्यता तथा विद्याओं की समानता का प्रतिपादन" युक्तं तद्गुणकोपासनात्" कह कर करते हैं। "यद्यपि सच्चितः" इत्यादि में भाष्यकार भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं। "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है", नामरूप से विमुक्त परात्पर दिव्य पुरुष

ankurnagpal108@gmail.com

को प्राप्त करता है,"निरंजन की समता प्राप्त करता है", परमात्मा की ज्योति से संपन्न अपने वास्तविक स्वरूप से निष्पन्न होता है,"इत्यादि श्रुतियाँ भी प्राकृत लौकिक, नामरूप के लोप तथा नामरूप जन्य भेद दृष्टि के लुप्त हो जाने पर जो एकाकार ज्ञान होता है, इतने अंशमात्र में ही, जीवात्मा परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करती हैं। एक ही प्रकार की वस्तु में जो एकता का व्यवहार होता है, वह मुख्यता परक ही होता है, जैसे कि—"यह वही गौ है।"

अत्रापि—"विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव, प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणशेषभावनः" इति। परब्रह्मध्यानादात्मा परब्रह्मवत् प्रक्षीणश्शेषभावनः कर्मभावना, ब्रह्मभावना,उभयभावना, इति भावनात्रय रहितः। प्रापणीय इत्यभिधाय—"क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य वै द्विज, निष्पाद्य मुक्तिकार्यं हि कृतकृत्यं निवर्त्तयेत्" इति करणस्य परब्रह्मध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावनात्मस्वरूप प्राप्त्या कृतकृत्यत्वेन निवृत्ति वचनात् सिद्धि अनुष्ठेयम् इत्युक्त्वा—"तद्भावभावमापन्नः तदाऽसौ परमात्मना भवत्यभेदोभेदश्च तस्याज्ञानकृतोभवेत्।" इति मुक्तस्य स्वरूपमाह। तद्भावः ब्रह्मणोभावः स्वभावः। नतु स्वरूपैक्यम्, तद्भावभावमापन्न इति द्वितीयभावशब्दानन्वयात् पूर्वोक्तार्थं विरोधाच्च। यद् ब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं तदापत्तिस्तद् भावभावापत्तिः। यदैवमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मा अभेदी भवति, भेदरहितो भवति। ज्ञानैकाकारतया परमात्मनैक प्रकारस्यास्य तस्माद् भेदो देवादिरूपः।तदन्वयोऽस्य कर्मरूपाज्ञानमूलः। न स्वरूपकृतः, सतु देवादिभेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञानरूपे कर्मणि विनष्टे हेत्वभावात् निवर्त्तते इति अभेदी भवति। यथोक्तम्—"एक स्वरूपभेदस्तु वाह्य कर्म प्रवृत्तिजः देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्तिएवावरणोहि सः। इति।

विष्णुपुराण में भी जैसे—"परब्रह्म ही जीव के लिए एकमात्र प्राप्य है, विज्ञान ही एकमात्र प्रापक (प्राप्ति का उपाय) है तथा समस्त

ankurnagpal108@gmail.com

भावनाओं से रहित आत्मा भी उसी प्रकार प्रापणीय है।' परब्रह्म के ध्यान से जीवात्मा परब्रह्म के समान समस्त भावनाओं से शून्य हो जाता है। भावनायें तीन प्रकार की है, कर्मभावना (शुभाशुभ संस्कार) ब्रह्म भावना तथा कर्मब्रह्म उभयभावना। इन तीनो प्रकार की भावनाओं से रहित होना ही अभिधेय है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति को बतलाकर "क्षेत्रज्ञ जीवात्मा करणी (उपासक) तथा उपासना करण (उपास) है, इसके द्वारा मुक्ति कार्य का सपादन कर कृतकृत्य होना चाहिए।" इस वाक्य मे परब्रह्म ध्यान रूप करण से पूर्वोक्त भावनात्रय रहित आत्म-स्वरूप प्राप्ति की कृतार्थता बतलाई गई है। सिद्ध किया गया है कि—जब तक फल सिद्धि न हो जाय तब तक अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

इसके बाद—"तद्भाव को प्राप्त यह उपासक, परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है, उस स्थिति मे अज्ञान कृत भेद भी रहता है।" इस वाक्य मे मुक्तात्मा का स्वरूप बतलाया गया है तद्भाव का तात्पर्य है, ब्रह्म का भाव अर्थात् स्वभाव। तद्भाव का तात्पर्य स्वरूपैक्य नहीं है। "तद्भावभावमापन्नः" इस वाक्य में द्वितीय भाव शब्द का उक्त प्रकार का अन्वय नही करेंगे तो पूर्वोक्त अर्थ से विरुद्ध होगा। ब्रह्म की जैसी समस्त भावना रहित स्थिति रहती है वैसे ही मोक्षावस्था में जीवात्मा की भी हो जाती है, यही तद्भावभावापत्ति का तात्पर्य है। जीवात्मा उस स्थिति को प्राप्त कर ही परमात्मा के साथ अभिन्न हो पाता है, अर्थात् भेद भाव रहित हो जाता है। मुक्तपुरुष एक मात्र ज्ञानमय आकार प्राप्त कर ही परमात्मा के आकार का होता है, फिर भी देव मनुष्यादि रूप से उसका भेद रहता है उसकी वह भेदावस्था कर्ममय अज्ञान जन्य होती है, स्वरूपतः नहीं होती। जिस समय परब्रह्म के ध्यान से, भेद-कारक अज्ञानरूपी कर्म विनष्ट हो जाता है, उस समय कारण के अभाव से, कार्यरूप देव आदि भेद भी लुप्त हो जाते हैं। वही अभेदरूपता की स्थिति होती है। जैसा कि कहते हैं—"आत्मा स्वरूपतः एक है, केवल वाह्य देहादिकृत कर्ममय आवरण से आवृत्त होने से उसका भेद होता है, देवादि भेदों के नष्ट हो जाने पर आभ्यन्तर आवरण भी नष्ट हो जाता है।"

एतदेव विवृणोति—"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यतिकं गते, आत्मनो ब्रह्मणोभेदमसंतं कः करिष्यति "इति। विभेदः विविधो

ankurnagpal108@gmail.com

भेद:, देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मक: । यथोक्त: शौनकेनापि——"चतुर्विधोऽपिभेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धन: "इति । आत्मनि ज्ञान रूपे देवादिरूपविविधभेदहेतुभूतकर्माख्याऽज्ञाने परब्रह्म ध्यानेनात्यंतिक नाशं गते सति हेत्वभावात् असन्तं परस्मात् ब्रह्मण आत्मनो देवादिरूपभेदं क: करिष्यति इत्यर्थ: । "अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या "इति हि अत्रैवोक्तम् ।

उक्त तथ्य का ही विवेचन करते हुए कहते है—"विभेद जनक अज्ञान के एक दम नष्ट हो जाने पर, आत्मा ब्रह्म के असत् भेद को कौन कर सकेगा। "विभेद का तात्पर्य है ,देव पशु मनुष्य स्थावरादि विविध भेद । जैसा कि शौनक ने भी कहा है– "स्थावर आदि चार प्रकार के भेद , मिथ्या ज्ञान से होते है । "अर्थात् ज्ञान रूप आत्मा में देवादि रूप विविध भेदों के कारणरूपी कर्म नामक अज्ञान के, परब्रह्म की ध्यान रूपी उपासना से एकदम नष्ट होने पर, कारण के अभाव में परमात्मा और जीवात्मा के देवादि रूप भेद को करने वाला कौन शेष रह जाता है। यहीं पर कहा भी गया है—"कर्म नामक अविद्या भेद रूपा है"।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यादिना अन्तर्यामिरूपेण सर्वस्यात्मतयैक्याभिधानमन्यथा "क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते, उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: "इत्यादिनिर्विरोध: । अन्तर्यामिरूपेण सर्वेषामात्मत्वं तत्रैव भगवताऽभिहितम्–"ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" सर्वस्य चाहं हृदिसंन्निविष्ट. "इति च । "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: "इति च तदेवोच्यते । भूतशब्दो-हि आत्मपर्यन्तदेहवचन: । यत: सर्वेषामयमात्मा तत एव सर्वेषा तच्छरीरतया पृथगवस्थानं प्रतिषिध्यते– 'न तदस्ति विनायत्स्यात् "इति, भगवद्विभूत्युपसंहारश्चायमिति तथैवाभ्युपगन्तव्यम् । तत इदमुच्यते –"यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम् "विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो

ankurnagpal108@gmail.com

जगत्'' इति । अतः शास्त्रेषु न निर्विशेष वस्तुप्रतिपादनमस्ति । नाप्यर्थजातस्य भ्रांतत्वप्रतिपादनम् । नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेद निषेधः ।

''क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो'' इस भगवद् वाक्य में अन्तर्यामी रूप से परमात्मा के सर्वात्म भाव ऐक्य को बतलाया गया है; यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो,''सभी भूतों को क्षर, कूटस्थ आत्मा को अक्षर तथा इनसे भिन्न श्रेष्ठ उत्तम पुरुषोत्तम है ''इत्यादि वाक्य से विरुद्ध होगा। अन्तर्यामी रूप से सभी की आत्मता को गीता मे स्वयं भगवान् ने स्वीकारा है– ''अर्जुन ! समस्त प्राणियो के अन्तः करण में ईश्वर विराजमान है ''सभी के अन्तः करणों में, मै प्रविष्ट हूँ ''इत्यादि ।'' गुडाकेश! समस्त प्राणियो के अन्तःकरण में स्थित मैं आत्मा हूँ'' इत्यादि में भी वही बात कही गई है । भूत शब्द आत्मा के देह तक सभी का द्योतक है । जैसे परमात्मा सभी के अन्तर्यामी आत्मा है, उसी प्रकार सारा ही भूतवर्ग उनका शरीर स्थानीय है ,इसलिए समस्त भूतों से उनकी पृथक्ता का निषेध किया गया है । ''जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे परमात्मा से भिन्न कहा जा सके'' यह भगवद् विभूति के उपसंहार का वाक्य है, अतः इसे ही प्रकरण का तात्पर्य मानना चाहिए । इस पर ही कहा गया कि—''जो जो विभूतिमान तथा अलौकिक प्रभा संपन्न हैं ,उन्हें मेरे तेजांश से ही प्रकट समझो, एक अंश से मै ही सारे जगत मे व्याप्त हूँ ।'' इत्यादि से ज्ञात होता है कि– शास्त्रों में निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन नही है और न समस्त जागतिक विषयों के मिथ्यात्व का प्रतिपादन है ' जड चेतन ईश्वरीय विभूतियों के स्वरूप भेद का भी निषेध नही है ।

यदप्युच्यते–निर्विशेषे स्वयंप्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पित-मीशेशितव्याद्यनन्तविकल्पं सर्वं जगत् । दोषश्च स्वरूपतिरोधान विविधविचित्र विक्षेपकारी सदसदनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या । सा च अवश्याभ्युपगमनीया; ''अनृतेन हि प्रत्यूढाः ''इत्यादिभिः श्रुतिभिः, ब्रह्मणस्तत्वमस्यादिवाक्यसामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यानुपपत्त्या च सा तु न सती, भ्रांतिबाधयोरयोगात् । नाप्यसती, ख्यातिबाधयोश्चा-

ankurnagpal108@gmail.com

योगात् । अतः कोटिद्वयविनिर्मुक्तेयमविद्येति तत्त्वविदः इति तद-युक्तम् ।

(वाद) इसपर भी यह कहते हैं कि—"निर्विशेष स्वयं प्रकाश ईश्वर ही एक मात्र शासन कर्त्ता है तथा समस्त जगत उनका शास्य है 'ऐसा मानना दोष परिकल्पित है। स्वरूप को ढंकने वाली—विविध विचित्र विक्षेपों को करने वाली, सद् असद् कुछ भी न कह सकने योग्य, अनादि अविद्या ही दोष है। "अनृतेन ही प्रत्यूढाः "इत्यादि श्रुति के अनुसार उक्त प्रकार की अविद्या का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, अस्वीकार करने से तत्वमसि "इत्यादि वाक्य से जो जीव ब्रह्म की एकता की प्रतीति होती है, वह संगत न हो सकेगी। वह अविद्या सत् पदार्थ भी नहीं है, उसे सत् मानने से उसकी भ्रांतिजनकता और ज्ञानाबाध्यता संभव नहीं होगी। अविद्या असत् भी नहीं है, असत् मानने से उसकी सामयिकी प्रतीति और बाधा नहीं हो सकेगी। इसलिए तत्त्वविदों ने इसे सद् असद् कोटियों से विल-क्षण अविद्या कहा है। इसलिए तुम्हारा उपर्युक्त शास्य शासन वाला कथन असंगत है।

(प्रतिवाद) सा हि किमाश्रित्य भ्रमं जनयति ? न तावज्जीव-माश्रित्यअविद्या परिकल्पितत्वात् जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य तस्य स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्। सा हि ज्ञानबाध्याऽभिमता। "ज्ञानरूपं परंब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम्, अज्ञानंचेत् तिरस्कुर्यात् कः प्रभुः तन्निवर्त्तने"—ज्ञानं ब्रह्मेति चेत् ज्ञानमज्ञानस्य निवर्त्तकम्, ब्रह्मवत् तत्प्रकाशत्वात् अपि हि अनिव-र्त्तकम्"—"ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्ति चेत्स्यात्प्रमेयता, ब्रह्मणोऽननु-भूतित्वं त्वदुक्त्यैव प्रसज्यते"।

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेति ज्ञानंतस्या अविद्यायाः बाधकम्,। न स्व-रूपभूतं ज्ञानमिति चेत्,न, उभयोरपि ब्रह्मस्वरूप प्रकाशत्वे सत्यन्यत-रस्याविद्याविरोधित्वं अन्यतरस्यनेति विशेषानवगमात्।

ankurnagpal108@gmail.com

(प्रतिवाद) वह अविद्या किसके आश्रय से भ्रमोत्पादन करती है ? जीव के आश्रय से तो कर नहीं सकती, क्यों कि जीव भाव स्वयं ही अविद्या परिकल्पित है। ब्रह्म के आश्रय से भी नहीं कर सकती, क्यों कि वह स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है, जो कि अविद्या विरोधी रूप है। वह तो ज्ञान बाध्या ही मानी गई है।

"परब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं, मिथ्यात्मक ज्ञान उनसे निवर्त्य है, अज्ञान यदि ज्ञानमय ब्रह्म को ही आवृत कर लेगा तो उसका निवारण करने में कौन समर्थ है ? यदि ज्ञान ही ब्रह्म है, और वही अज्ञान का निवर्त्तक है, सो ऐसा ज्ञान भी अज्ञान का निवारक नहीं हो सकता क्यों कि, वह भी ब्रह्म की तरह, उसके प्रकाश से प्रकाशित है। यदि कहो कि–ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, ऐसा विशेष ज्ञान होने मात्र से अज्ञान नष्ट हो जायगा, सो ऐसा मानने से ब्रह्म प्रमेय हो जायगा तथा तुम्हारे ही कथन से तुम्हारी अभिमत ब्रह्म की अनुभूतिता बाधित हो जायगी।"

यदि कहो कि––ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, ऐसा ज्ञान ही उस अविद्या का बाधक है, ब्रह्म का स्वरूपगत ज्ञान अविद्या निवर्त्तक नहीं है, सो ऐसा कहना भी उपयुक्त न होगा क्यों कि–दोनों ही प्रकार के ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से प्रकाशित होने के कारण प्रकाश स्वरूप हैं, इसलिए उनमें एक अविद्या का विरोधी हो और दूसरा अविरोधी, यह कैसे संभव है।

एतदुक्तं भवति––ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेत्यनेनज्ञानेनब्रह्मणि यस्स्वभावोऽवगम्यते, स ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशते, इति अविद्या विरोधित्वेन कश्चिद् विशेषस्वरूपस्तद्विषयज्ञानयोः इति किंच अनुभवस्वरूपस्यब्रह्मणोऽनुभवान्तराननुभाव्यत्वेम भवतो न तद्विषयं ज्ञानमस्ति। अतो ज्ञानमज्ञान विरोधि चेत् स्वयमेव विरोधि भवतीति, नास्या ब्रह्माश्रयत्व संभवः। शुक्त्यादयस्तु स्वयाथात्म्यप्रकाशे स्वयमसमर्थास्तु अज्ञानाविरोधिनः तन्निवर्त्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते। ब्रह्म तु स्वानुभवसिद्धस्वयाथात्म्यमिति स्वाज्ञानविरोध्येव। तत एव निवर्त्तकान्तरं च नापेक्षते। अथोच्येत

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानमज्ञान विरोधि इति। न इदं ब्रह्मव्यतिरिक्तंमिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्म याथात्म्य ज्ञान विरोधि? उत् प्रपंच सत्यत्वरूपाज्ञानविरोधीति विवेचनीयम् न तावत्ब्रह्म-याथात्म्यज्ञानविरोधि अतद्विषयत्वात्, ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वेन हि विरोधः। प्रपंच मिथ्यात्वज्ञानं तत् सत्यस्वरूपा ज्ञानेन विरुध्यते। तेन प्रपचसत्यत्वरूपाज्ञानमेव बाधितमिति ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं तिष्ठत्येव। ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं नाम तस्य सद्वितीयत्वमेव। तत्तु तद् व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम्। स्वरूपंतु स्वानुभवसिद्धमिति चेन्न, ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्धमिति तद्विरोधि सद्वितीय-त्वरूपाज्ञानं न बाधश्च न स्याताम्। अद्वितीयत्वंधर्मं इति चेन्न, अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाव्यधर्मं विरहस्य भवतैव प्रतिपा-दित्वात् अतोज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव ना ज्ञानाश्रयत्वं।

कथन यह है कि—"ज्ञान स्वरूप ब्रह्म" ऐसे ज्ञान से ब्रह्म स्वभाव की जो प्रतीति होती है, वह ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने से स्वतः ही प्रकाशित होता है, उसका माहात्म्यज्ञान ही अविद्या का निवारक हो, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। बात दोनों ही एक हैं, स्वरूप ज्ञान और माहात्म्य ज्ञान दोनों ही समान वस्तु हैं। और तुम्हारे मतानुसार ब्रह्म स्वयं ही अनुभव स्वरूप है, उसके लिए किसी दूसरे अनुभव की अपेक्षा नहीं है, इसलिए तद्विषयक कोई ज्ञान नाम की वस्तु भी नहीं है ज्ञान को यदि स्वभावतः अज्ञान का विरोधी कहा जाय तो, वह स्वयं ही विरोधी हो जायगा, फिर भी उस अविद्या की ब्रह्माश्रयता संभव नहीं है। शुक्ति आदि अपनी वास्तविकता की प्रतीति कराने में स्वयं असमर्थ हैं, अज्ञान स्वरूप शुक्ति आदि को उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती है। ब्रह्म तो स्वानुभव सिद्ध है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का स्वयमेव ज्ञान है, इसलिए वह स्वयं ही अज्ञान का विरोधी है। तभी उसे किसी अन्य निवर्त्तक ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इस पर यदि यह कहो कि—ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थ के मिथ्यात्व का ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है, सो बात भी ठीक नहीं है—जिसे तुम

ankurnagpal108@gmail.com

अन्य पदार्थ के मिथ्यात्व का ज्ञान बतला रहे हो, क्या वह ब्रह्म से यथार्थ ज्ञान का विरोधी है ? अथवा जगत सत्यता रूप अज्ञान का विरोधी है ? इस विषय पर विवेचन करना होगा। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान का विरोधी तो हो नहीं सकता, क्यों कि—अज्ञान का ब्रह्मविषयक होना संभव नहीं है। ज्ञान और अज्ञान एकविषयक होते भी नहीं। प्रपंचमय जगत की मिथ्यात्व की प्रतीति, उसकी सत्यस्वरूपा प्रतीति से स्वयं ही विरुद्ध है। इससे प्रपंचमय की सत्यता रूप प्रतीति का बाध हो जाता है, जगत की सत्यता की प्रतीति का बाध ब्रह्म के स्वरूप का बाध है, अद्वैत ब्रह्म में द्वैतभाव भावना ही तो ब्रह्म के स्वरूप से संबंधी अज्ञान है, इस प्रकार जगत की सत्यता की प्रतीति के बाध का तात्पर्य है ब्रह्म जगत के अद्वैत स्वरूप का बाध, ऐसे बाध को स्वीकारने का तात्पर्य है कि ब्रह्म में अज्ञान की स्वीकृति। अद्वैत ब्रह्म में जो द्वैतभाव है, वह ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु के मिथ्यात्व मानने से ही निवृत्त हो सकता है, ब्रह्म संबंधी वस्तु के मिथ्यात्व की स्वीकृति तो द्वैतभाव की ही स्वीकृति है। ब्रह्म का स्वरूप ही केवल स्वानुभव सिद्ध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म से अभिन्न जगत का स्वरूप भी स्वानुभव सिद्ध है। ऐसा मानने से, ब्रह्म के अद्वैत ज्ञान के विरोधी द्वैतरूपी अज्ञान और उस अज्ञान के बाध का प्रश्न ही नहीं रह जाता। यदि कहें कि—द्वैतभाव ब्रह्म का धर्म है, सो कहना तो आपके इस कथन "अनुभव स्वरूप ब्रह्म अनुभाव्य नहीं हो सकता" के सर्वथा विपरीत होगा। इसलिए अज्ञान का विरोधी ब्रह्म कभी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता।

किं च अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता, स्वरूपनाश एवोक्त. स्यात्, प्रकाश तिरोधानं नाम, प्रकाशोत्पत्ति प्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाश तिरोधानं प्रकाश नाश एव।

प्रकाशैक स्वरूप ब्रह्म को अविद्या से तिरोहित कहना, ब्रह्म का स्वरूप नाश ही मानना है। प्रकाशोत्पत्ति का प्रतिबन्ध ही प्रकाश का तिरोधान है, अथवा उसके अस्तित्व का विनाश है। प्रकाश की अनुत्पाद्यता तो हो नहीं सकती, इसलिए प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य, प्रकाश नाश ही कहना होगा।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाश्रयानुपपत्ति

अपि च निर्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिः स्वाश्रय-दोषवशात् अनंताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवतीयत्यत्र किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थ भूत. ? उत् अपरमार्थभूत इति विवेच-नीयम्। न तावत् परमार्थः, अनभ्युपगमात्। नाप्यपरमार्थः, तथा सति हि द्रष्टृत्वेन वा, दृश्यत्वेन वा, दृशित्वेनवाऽभ्युपगमनीयः। न तावद्दृशिः, दृशिस्वरूपाभेदानभ्युपगमात्, भ्रमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षात् दृशेर्माध्यमिक पक्ष प्रसंगेनापारमार्थ्यानभ्युपगमाच्च। द्रष्टृ दृष्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तराऽपेक्षयाऽ-ननवस्था स्यात्। अथैतत्परिजिहीर्षया परमार्थसत्यनुभूतिरेव ब्रह्मरूपा दोष इति चेत्, ब्रह्मैव चेद्दोषः प्रपंचदर्शनस्येव तन्मूलं स्यात्। कि प्रपंचतुल्याऽविद्यान्तर परिकल्पनेन ? ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात्। अतो यावद्ब्रह्मं व्यतिरिक्त पारमार्थिक दोषानभ्युपगमः, न तावद् भ्रांतिरूपपादिता भवति।

निर्विषय और निराश्रय स्वप्रकाश अनुभूति, अपने आश्रय दोष से, अनंत आश्रय, अनंत विषयों का स्वयं अनुभव करती है इस कथन में जो आश्रय दोष की बात है, वह आश्रय दोष परमार्थिक है, या अपारमार्थिक यह विवेचनीय विषय है। पारमार्थिक तो हो नहीं सकता क्योंकि-दोष की सत्यता संभव नहीं है। अपारमार्थिक भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रश्न होता है कि, वह दोष द्रष्टा है, दृश्य है, या दृशि (ज्ञान) है ? दृशि तो हो नहीं सकता क्यों कि उसमें भेद की सम्भावना नही है। यदि भ्रांति के आश्रय भूत दृशि (ज्ञान) के भेद स्वीकार लिए जायें तो, वह बौद्धमद की बात हो जायगी, जिससे उसकी अयथार्थता नहीं मानी जा सकती। द्रष्टा, दृश्य और दृशि जब काल्पनिक हैं, तो उसका मूलभूत कोई दोष अवश्य होना चाहिए, तथा उस मूल दोष का भी कोई मूल दोष होना चाहिए, ऐसी अनवस्था होती है। इस अनवस्था के निवारण के लिए यदि ब्रह्मरूप सत्य अनुभूति को ही दोष माना जाय तो वह ब्रह्म ही दोष हुआ, फिर प्रपंचमय सारे जगत के लिए, जो कि ब्रह्ममूलक ही है,

ankurnagpal108@gmail.com

किसी अन्य अविद्या नाम दोष की कल्पना की आवश्यकता ही क्या है ? ब्रह्म की दोषता सिद्ध हो जाने से, उसकी स्वाभाविक नित्यता के कारण दोष से कभी मोक्ष तो हो न सकेगा। इसलिए जब तक ब्रह्म से भिन्न किसी दोष नामक वस्तु को नहीं माना जाया, तब तक जगत को मिथ्या या भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

अनिर्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम् ? सदसद्विलक्षणत्वमिति चेत्, तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेन अनिर्वचनीयतैव स्यात्। एतदुक्तं भवति—सर्वं हि वस्तुना तं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम्। सर्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा। सदसदाकारायास्तु प्रतीतेः सदसद् विलक्षणं विषय इत्युभ्युपगम्यमाने सर्वं सर्वं प्रतीतेर्विषयस्यात्—इति।

अनिर्वचनीयता से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? सद्‌असद् विलक्षणता को मानते हो तो, ऐसी वस्तु का कोई प्रमाण नहीं मिलता इसलिए वह अनिर्वचनीय तो है ही। कथन यह है कि-सारी वस्तुएं प्रतीति के आधार पर निर्धारित होती हैं, सारी वस्तुएं सद् या असद् रूप में ही होती हैं। सद् असद् आकार वाली यदि सद् असद् विलक्षण वस्तु को ही प्रमाणित करने लगेगी तो कोई भी वस्तु प्रतीति का विषय ही न रह जायगी।

अथस्यात्—वस्तुस्वरूपतिरोधानकरमान्तरवाह्यरूपविविधाध्यासोपादानं सदसदनिर्वचनीयमविद्यानादिपदवाच्यंवस्तुयाथात्म्य ज्ञान निवंर्त्यं ज्ञानप्रागभावातिरेकेण भावरूपमेव किंचिद् वस्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतीयते। तदुपहितब्रह्मोपादानश्चाविकारे स्वप्रकाशचिन्मात्रवपुषि तेनैवतिरोहित स्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहंकार ज्ञानज्ञेय विभागरूपोऽध्यासः। तस्यैवावस्थारूपेणाध्यासरूपे जगति ज्ञानबाध्य सर्परजतादिवस्तु तत्तज्ज्ञानरूपाध्यासोऽपि जायते। कृत्स्नस्यमिथ्यारूपस्य तदुपादनत्वं च मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेव कारणं भवितुमर्हतीति हेतुबलादवगम्यते। कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत् "अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि" इत्यपरोक्षावभासः।

ankurnagpal108@gmail.com

अयं तु न ज्ञान प्रागभावविषयः सहि षष्ठप्रमाणगोचरः। अयन्तु "अहं सुखी" इतिवदपरोक्षः। अभावस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्यय-मनुभवो नात्मज्ञानाभावविषयः। अनुभववेलायामपि ज्ञानस्य विद्यमानत्वात् अविद्यमानत्वे ज्ञानाभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

(पूर्वपक्षतर्क–) बात यह है कि--समस्त वस्तुओं का स्वरूपावरक, वाह्य अभ्यन्तर विविध अभ्यासों का उपादान, सदसद् अनिर्वचनीय वस्तु के यथार्थ ज्ञान का निवर्त्तक, कोई एक भाव पदार्थ तो, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा भी सिद्ध हो सकता है, जो कि-- प्रागभाव से भिन्न, अविद्या और अज्ञान आदि नामों से प्रसिद्ध है. निर्विकार स्वप्रकाश चिन्मयब्रह्म ही जब उक्त अविद्या से आवृत होता है। तभी उस अनुपहित (अज्ञानावृत) वस्तु में "मैं और मेरा" ऐसा अहंकार और ज्ञानज्ञेय आदि विभाग रूप अध्यास होता है। यही अध्यास अवस्था विशेष में अध्या-समय जगत् तथा ज्ञान बाध्य सर्प, रजत आदि वस्तु जन्य' अध्यास के रूप में होता है। समस्त मिथ्या रूपों की उपादानता भी मिथ्या होगी तथा मिथ्या रूप पदार्थों का मिथ्यारूप कारण होगा, ऐसा हेतुबल से ज्ञात होता है। "मैं अज्ञ अपने को और अन्यों को नहीं जानता" इत्यादि रूप से अज्ञान की जो प्रतीति होती है, उसका एक मात्र कारण अज्ञान ही है, प्रागभाव नहीं है। अभाव मात्र, अनुपलब्धि नामक छठे प्रमाण का विषय होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण का नहीं। "मैं अज्ञ" इत्यादि ज्ञान "मैं सुखी" इत्यादि ज्ञान की तरह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होता है। अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य मनाने से "मैं अज्ञ" इत्यादि अनुभव कभी आत्मगत ज्ञानाभाव का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि--अज्ञता की प्रतीति के समय भी आत्मज्ञान विद्यमान रहता है। अन्यथा आत्मा को अपनी अज्ञता की प्रतीति नहीं हो सकती।

एतदुक्तं भवति--"अहमज्ञ" इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य च प्रतियोगितयाऽवगतिरस्तिवान वा? अस्ति चेद्विरोधादेव न ज्ञानानुभवसंभवः। न चेद् धर्मिप्रतियोगि ज्ञानसव्यपेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न संभवति। ज्ञानाभाव-

ankurnagpal108@gmail.com

स्यानुमेयत्वे अभावाख्यप्रमाणविषयत्वे चेयमनुपपत्तिः समाना। अस्याज्ञानस्यभावरूपत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञान सद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवो भावरूपाज्ञान विषय एवाभ्युपगंतव्य इति।

कथन यह है कि—"मैं अज्ञ हूं" इस प्रकार की प्रतीति में "अहं" संज्ञक आत्मा और उसके (अहं) के अभावधर्मीज्ञान की प्रतियोगी के रूप ने अवगति होती है या नही ? यह विचारणीय प्रश्न है। यदि वैसा ज्ञान रहता है, तो अभावात्मक और भावात्मक ज्ञान की सहस्थिति से ऐसा होना संभव नहीं है। यदि नहीं रहता, तब भी उस अभावात्मक ज्ञान की अवगति सभव नही है, क्योकि—अभाव की प्रतीति का सामान्य नियम है कि—जिसका अभाव जानना है तो उसके प्रतियोगी की जानकारी आवश्यक है, बिना प्रतियोगी ज्ञान के अभाव का ज्ञान होता है, न हो सकता है। अभावात्मक ज्ञान चाहे अनुभव विषयक हो या अनुपलब्धि प्रमाण विषयक हो दोनों में ही उक्त असंगति समान रूप से होती है। इस अज्ञान को भावरूप मानने पर धर्मि प्रतियोगी ज्ञान की स्थिति में भी "मैं अज्ञान हूं" ऐसी प्रतीति असंगत नहीं होती, क्योंकि—इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं रहता, इसलिए उक्त प्रकार की प्रतीति (मैं अज्ञ हूं) को भाव रूप अज्ञान विषयक ही मानना चाहिए।

ननु च—भावरूपमप्यज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावभासरूपेण साक्षि चैतन्येन विरुध्यते ? मैवम्—साक्षिचैतन्यं न वस्तुयाथात्म्यविषयं अपितु अज्ञानविषयम् अन्यथामिथ्यार्थावभासानुपपत्तेः। नहि अज्ञान विषयेण ज्ञानेनाज्ञानं निवर्त्यते, इति न विरोधः ननु चेदं भावरूपमप्यज्ञानं विषयविशेषव्यावृत्तमेव साक्षिचैतन्यस्य विषयो भवति। स विषयः प्रमाणानधीन सिद्धिरिति कथमिव साक्षि चैतन्येन अस्मदर्थव्यावृत्तमज्ञानं विषयी क्रियते ? नैष दोषः, सर्वमेववस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षि चैतन्यस्य विषयभूतम् तत्र जडत्वेज्ञाततया सिध्यते एव, प्रमाणव्यवधानापेक्षा। अजडस्य तु प्रत्यग्वस्तुनः स्वयं सिध्यतो न प्रमाणव्यवधानापेक्षेति, सदैवा-

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञानस्य व्यावर्त्तकत्वेनावभासो युज्यते । तस्मात् न्यायोपबृंहितेन प्रत्यक्षेण भावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते । तदिदं भावरूपमज्ञानं अनुमानेनापि सिध्यति । विवादाध्यसितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य स्वदेशगतस्तु अन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थं प्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभावत् इति ।

वस्तु के यथार्थ स्वभाव को प्रकाशित करने वाले साक्षी चैतन्य (अनुभविता जीवात्मा) से, भावरूप अज्ञान की विरुद्धता हो गयी ? ऐसा संशय नहीं करना चाहिए, वस्तु का यथार्थ स्वभाव प्रकाशन साक्षी चैतन्य का विषय नही है, अपितु उसका विषय तो अज्ञान प्रकाशन है' अन्यथा वह मिथ्यार्थविभास न कर सकता । अज्ञान (असत्यवस्तु) विषयक अवभास से अज्ञान का निवारण तो हो नही सकता, इसलिए चैतन्य के साथ अज्ञान का विरोध भी नहीं है ।

"मै अज्ञ हूँ" इस प्रतीति में "अहं" पदार्थ आत्मा के साथ अज्ञान की भी प्रतीति होती है । स्वयं सिद्ध स्वय प्रकाश आत्मा जब किसी भी प्रमाण के अधीन नहीं है, ऐसा साक्षी चैतन्य आत्मा "अहं" पदार्थ को छोड़कर केवल अज्ञान को ही अपना विषय कैसे करता है ? ऐसी आपत्ति भी नही की जा सकती क्योंकि—सभी ज्ञात अज्ञात वस्तुएं साक्षी चैतन्य की प्रतीति की विषय हैं । जडरूप से ज्ञात होने वाली वस्तुओं में प्रमाण अपेक्षित होते हैं । अजड वस्तुएं स्वयं सिद्ध स्वयं प्रकाश होने से, प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखतीं, वो सब तो अज्ञान से भिन्न हैं इसलिए सदा अवभासित हो सकती हैं । इस प्रकार युक्ति सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से अज्ञान की भावरूप प्रतीति सिद्ध होती है ।

अज्ञान पदार्थ भावरूप है, अभावरूप नहीं, यह बात अनुमान से भी प्रमाणित है । प्रमाण समुत्पादित ज्ञान द्वारा अज्ञात विषय प्रकाशित हुआ करता है, ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व, उसके प्रागभाव से भिन्न उसके प्रकाश विषय की आवरक वस्तु स्वयं उसके द्वारा ही निवार्य होती है (अर्थात्—ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व किसी एक ऐसी वस्तु की स्थिति माननी पड़ेगी जो

ankurnagpal108@gmail.com

उस ज्ञानको आवृत किये रहती हैं। जिसे कि ज्ञान निवारण कर सके, आत्मा से समुत्पन्न यह ज्ञान आत्मा के आश्रित तो रहता ही है, इसलिए आवृत करने वाली वस्तु को ज्ञान का प्रागभाव नहीं कह सकते, अर्थात् ज्ञान की स्थिति नित्य है, उसका प्रागभाव होता नहीं, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व वह किसी वस्तु से आवृत रहता है, अभावरूप नहीं रहता) उत्पत्ति के पूर्व वह ज्ञान, अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभा की तरह सदा आत्मा के आश्रित विद्यमान रहता है।

आलोकाभावमात्रं वा रूपं दर्शनाभावमात्रं वा तमो न द्रव्यान्तरम्, तत्कथं भावरूपाज्ञान साधने निदर्शनतयोपन्यस्यते? इति चेत् उच्यते–बहुलत्वविरलत्वाद्यवस्थायोगेन रूपवत्तया चोपलब्धेर्द्रव्यान्तरमेव तम इति निरवद्यम्, इति।

(संशय) यदि कहो कि—आलोक का अभाव या रूप के दर्शन का अभाव ही तो अन्धकार है, अन्धकार कोई वस्तु नहीं है इसलिए उसे भाव-रूप अज्ञान की सिद्धि के लिए द्रष्टान्तरूप से उपस्थित कर रहे है?

(समाधान) हल्के और घने तथा काले रूप से उस अन्धकार की उपलब्धि होती है, इसलिए अन्धकार नाम की कोई वस्तु अवश्य है।

अत्रोच्यते–"अहमज्ञो मामन्यंच न जानामि" इत्यत्रोपपत्ति-सहितेन केवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं प्रतीयते। वस्तु-ज्ञान प्रागभावविषयत्वे विरोध उक्त., सहि भावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः। विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्त्तकया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो वा अप्रतिपन्नो वा? प्रतिपन्नश्चेत् तत्स्वरूपज्ञान निवर्त्यं तद ज्ञानं तस्मिन् प्रतिपन्ने कथमिव तिष्ठति। अप्रतिपन्नश्चेत–व्यावर्त्त-काश्रय विषय ज्ञान शून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत?

(पूर्वपक्ष के उक्त तर्क का समाधान)—

"मैं अज्ञ अपने को तथा अन्यों को नही जानता" ऐसी जो अज्ञान की प्रतीति होती है, युक्ति या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसे भाव रूप से

ankurnagpal108@gmail.com

प्रमाणित नही किया जा सकता। अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव बतलाने वाले सिद्धान्त में जो असंगति बतलाई गई है वह तो भाव रूप अज्ञान में भी रहेगी। आत्मा यदि अज्ञान का विषय या आश्रय है तो आश्रित अज्ञान, विशेष्य और आत्मा विशेषण होगा फिर बतलाओ कि—"अहं-अज्ञ" कहने में आत्मा की प्रतीति रहती है या नहीं? यदि रहती है तो आत्मज्ञान से नष्ट होने वाला वह अज्ञान आत्मा का आश्रित कैसे हो सकता है? यदि नहीं रहती तो किस विषय का अज्ञान कब हुआ, इसका भान न होने से अज्ञान की प्रतीति होगी कैसे?

अथ—विशदस्वरूपावभासोऽज्ञानविरोधी, अविशदस्वरूपं तु प्रतीयते, इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभव विरोधः इति। हन्त तर्हि ज्ञान प्रागभावोऽपि विशदस्वरूप विषयः। आश्रय-प्रतियोगि ज्ञानंतु अविशदस्वरूपविषयमिति न कश्चिद् विशषोऽन्य-त्राभिनिवेशात्। भावरूपस्याज्ञानस्यापि हि अज्ञानमिति सिध्यतः प्रागभावसिद्धाविव सापेक्षत्वमस्त्येव। तथाहि—अज्ञानमिति ज्ञाना-भावः, तदन्यः, तद्विरोधी वा? त्रयाणामपि तत् स्वरूपज्ञानापेक्षाऽ-वश्याश्रयणीया। यद्यपि तमः स्वरूपप्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते तथाऽपि प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेण प्रतिपत्तौ प्रकाश प्रतिपत्ति अपेक्षाऽस्त्येव। भवदभिमताज्ञानं न कदाचित् स्वरूपेण सिध्यति अपितु अज्ञानमित्येव। तथा सति ज्ञानाभाववत् तदपेक्षत्वं समानम् ज्ञानप्रागभावस्तु भवताऽप्यभ्युपगम्यते। प्रतीयते चेत्युभ-याभ्युपेतो ज्ञान प्रागभाव एव "अहमज्ञो मामन्यं च जानामि', इत्यनुभूयते इति अभ्युपगन्तव्यम्।

यदि कहो कि—आत्म विषयक कोई विशेषज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक हो, ऐसा कोई आवश्यक नहीं है, अपितु आत्मा का यथार्थ विशुद्ध स्वरूप विषयक ज्ञान ही उस अज्ञान का निवर्त्तक है। "मैं अज्ञ" में जो प्रतीति होती है, आश्रय और विषय रूप से होने वाली वह प्रतीति विशुद्ध

ankurnagpal108@gmail.com

निर्मल आत्मा की नहीं होती अपितु अज्ञान कलुषित होती है। इसलिए अज्ञान के साथ उसका कोई विरोध नही है।

(उत्तर) बहुत अच्छे; यदि ऐसी ही बात है, तो ज्ञान का प्रागभाव अज्ञान, विशुद्ध आत्म स्वरूप विषयक होगा, तथा आश्रय और विषय रूप से होने वाला आत्मज्ञान, विशुद्ध आत्म विषयक न होगा, इसलिए उक्त प्रकार के आत्मज्ञान की स्थिति में भी प्रागभाव रूपी अज्ञान बना रहेगा। आपके इस कथन में तो सिवा अज्ञान भाव सिद्धि की चेष्टा के, कोई और विशेष बात समझ में नहीं आती, अज्ञान को यदि भावस्वरूप मान भी ले, तब भी वह कहलायेगा तो अज्ञान ही, प्रागभाव की तरह, उसमें भी पूर्वोक्त सापेक्षता तो रहेगी ही।

जरा सोचिये—अज्ञान है क्या वस्तु? क्या वह ज्ञान का अभाव है, या ज्ञान विरोधी अज्ञान है, या ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु विशेष है? इन तीनों की जानकारी के पहिले ज्ञान के स्वरूप की जानकारी आवश्यक है। यद्यपि अन्धकार के स्वरूप की प्रतीति में प्रकाश ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी अन्धकार को जब प्रकाश के विरोधी रूप में जानने की इच्छा होती है तब प्रकाश की प्रतीति की अपेक्षा होती है। आपका अभिप्रेत "अज्ञान" कभी भी स्वरूप से तो प्रतीत होता नहीं, केवल "अज्ञान" इस नाम से ही ज्ञात होता है इस प्रकार ज्ञानाभाव की तरह सापेक्षता इसमे भी रहती है इसलिए ज्ञान का प्रागभाव तो आप भी मानते है ऐसा लगता है। "मैं अज्ञ" इत्यादि प्रतीति में उभय संमत प्राग-भाव स्वीकारना ही संगत है।

नित्यमुक्तस्वप्रकाश चैतन्यैकस्वरूपस्यब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्व-रूपमज्ञानमनुभवतीति चेत्, किमिदं तिरोहित स्वरूपत्वम्? अप्रकाशितस्वरूपत्वमिति चेत्, स्वानुभवस्वरूपस्य कथम प्रकाशित स्वरूपत्वम्? स्वानुभवस्वरूपस्याप्यन्यतोऽप्रकाशित स्वरूपमापद्यत इति चेत्, एवं तर्हि प्रकाशाख्यधर्मानभ्युपगमेन प्रकाशस्यैव स्वरूप-त्वादन्यतः स्वरूपनाश एव स्यात् इति पूर्वमेवमोक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

किंच-ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुभूतमेतदज्ञानं स्वयमनुभूतं सत् ब्रह्मतिरस्करोति, ब्रह्मतिरस्कृत्य स्वयं तदनुभवविषयो भवतीत्य न्योन्याश्रयणम् ।

नित्य मुक्त, एकमात्र स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में तो अज्ञानानुभव हो नही सकता, क्योंकि–वह स्वयं अनुभवस्वरूप है। यदि कहो कि-स्वानुभवस्वरूप भी, तिरोहित स्वरूप अज्ञान का अनुभव करता है। तो वह तिरोहित स्वरूपता क्या है, यदि कहो कि—अप्रकाशित स्वरूपता ही तिरोहित रूपता है। तो स्वानुभव स्वरूप वस्तु तिरोहित स्वरूप कैसे हो सकती है ? स्वानुभव स्वरूप होते हुए भी, अन्य से आवृत होने से तिरोहित स्वरूपता होती है, इस कथन का तात्पर्य तो यह हुआ कि स्वानुभस्वरूप प्रकाश ही किसी अन्य से आवृत होकर तिरोहित होता है अर्थात् उस प्रकाश के स्वरूप का नाश होता है, ऐसा तो पहिले भी कह चुके हैं।

उक्त तर्क से तो यह तात्पर्य हुआ कि--ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित करने वाला अज्ञान स्वयं अनुभूत होकर ही, ब्रह्म को तिरोहित करता है, उसे तिरोहित करके, स्वयं उस ब्रह्म के अनुभव का विषय हो जाता है। इस प्रकार वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं।

अनुभूतमेव तिरस्करोति, चेत्, यद्यतिरोहितस्वरूपमेव ब्रह्माज्ञानमनुभवति, तदा तिरोधानकल्पना निष्प्रयोजना स्यात् अज्ञान स्वरूपकल्पना च। ब्रह्मणोऽज्ञानदर्शनवत् अज्ञान कार्यतयाऽभिमत प्रपंचदर्शनस्यापि संभवात् ।

यदि कहो कि–अनुभूत होकर तिरस्कृत करता है, तब तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि अतिरोहित स्वरूप ब्रह्म अज्ञान का अनुभव करता है; यदि ऐसी बात है, तो फिर तिरोधान की कल्पना व्यर्थ ही की, तथा अज्ञान के स्वरूप की कल्पना भी। ऐसा निश्चित होने से, ब्रह्म के अज्ञान अनुभव की तरह, अज्ञान का कार्यरूप प्रपंचमय सारा जगत भी सहज अनुभूति का विषय सिद्ध होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

किं च—ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् अज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्मोक्षस्स्यात्। अनुभूति स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभव स्वरूपत्वेन मिथ्या रजतबाधक ज्ञानेन रजतानुभवस्यापि, निवृत्तिवत निवर्त्तक ज्ञानेनाज्ञानानुभूतिरूप ब्रह्म स्वरूपनिवृत्तिर्वा। अन्यतश्चेत् किं तदन्यत् ? अज्ञानान्तरमितिचेत् अनवस्था स्यात् ब्रह्म तिरस्कृत्यैव स्वयमनुभवविषयो भवतीति तथा सतीदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया ब्रह्मतिरस्करोति, इति ज्ञानबाध्यत्वं अज्ञानस्य न स्यात्।

यह बतावें कि—ब्रह्म की उक्त अज्ञानानुभूति स्वतः होती है या दूसरे के द्वारा होती है ? यदि स्वतः होती है तो वह सदा होती रहेगी कभी छुटेगी ही नही जिसके फलस्वरूप, अज्ञानानुभव स्वरूप से प्रतीत होने वाला वह ब्रह्म शुक्ति रजत की तरह, अज्ञान निवर्त्तक तत्वज्ञान के द्वारा अज्ञान के साथ ही साथ तदनुभवरूप होने से स्वरूपतः समाप्त हो जायगा। यदि कहो कि नहीं उसकी वह अज्ञानानुभूति परतः होती है, तो वह परवस्तु क्या है ? यदि वह अज्ञान से भिन्न कोई और दूसरा अज्ञान है, तो फिर अनवस्था दोष उपस्थित होगा (अज्ञान के लिए अज्ञानों की ही कल्पना करते रह जाओगे) यदि कहो कि—अज्ञान ब्रह्म को आवृत करने के बाद अनुभूत होता है, तो काच आदि नेत्र रोगों की तरह जो कि—नेत्रों को आवृत कर दर्शन शक्ति समाप्त कर प्रतीत होते हैं, वैसे ही यह भी हुआ। ऐसा अज्ञान तो, तत्त्वज्ञान के द्वारा हटाया नहीं जा सकता।

अथेदमज्ञानं स्वयमनादि ब्रह्मणः स्वसाक्षित्वं ब्रह्मस्वरूपतिरस्कृतिं च युगपदेव करोति, अतो नानवस्थादयो दोषा इति नैतत्। स्वानुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपतिरस्कृतिमंतरेण साक्षित्वापादनायोगात्। हेत्वंतरेण तिरस्कृतमिति चेत् तर्हि अस्यानादित्वं मपास्तम्। अनवस्था च पूर्वोक्ता। अतिरस्कृत स्वरूपस्यैव साक्षित्वापादेन ब्रह्मणः स्वानुभवैकतानता न स्यात्।

ankurnagpal108@gmail.com

यह अज्ञान स्वयं अनादि है अत: ब्रह्म की स्वयं प्रकाशता और ब्रह्म-स्वरूपतिरस्कृति दोनों को एक साथ करता है, इसलिए अनवस्था आदि दोष नहीं हो सकते; ऐसा कथन भी असंगत है। स्वानुभवस्वरूप ब्रह्म की स्वरूप तिरस्कृति के बाद उसकी स्वयं प्रकाशता की संभावना की बात एक कल्पना मात्र है। यदि कहो कि—अज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से ब्रह्मस्वरूप की तिरस्कृति होती है; तो अज्ञान की अनादिता की बात कट जाती है और वही पूर्वोक्त अनवस्था दोष आ जाता है। ब्रह्म के अनावृत स्वरूप की ही अज्ञान साक्षिता मानते हो तो, ब्रह्म की अनुभवैकरूपता समाप्त हो जाती है

अपि च—अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद्ब्रह्म न किंचिदपि प्रकाशते ? उत् किंचित् प्रकाशते ? पूर्वस्मिन्कल्पे प्रकाशमात्र स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्रकाशे तुच्छतापत्तिरसकृदुक्ता। उत्तरस्मिन् कल्पे सच्चिदानंदैकरसे ब्रह्मणि कोऽयमंशस्तिरस्कृते, को वा प्रकाशते ? निरंशे निर्विशेषे प्रकाशमात्रे वस्तुन्याकारद्वयासंभवेन तिरस्कार: प्रकाशश्च युगपत् न संगच्छेते। अथ सच्चिदानंदैकरसंब्रह्म अविद्यया तिरोहितस्वरूपमविशदमिवलक्ष्यत इति प्रकाशमात्र स्वरूपस्य विशदताऽविशदता वा किं रूपा। एतदुक्तं भवति यस्सांश विशेष: प्रकाशविषय: तस्य सकलावभासो विशदावभास:। कतिपय विशेषरहितावभासश्चाविशदाभास:। तत्र च आकारोऽप्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे प्रकाशाभावादेव प्रकाशावैशद्यं न विद्यते। यच्चांश: प्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे तद्विषय प्रकाशो विशद एव। अत: सर्वत्र प्रकाशांशे अवैशद्यं न संभवति। विषयेऽपि स्वरूपे प्रतीयमाने तद्गत कतिपय विशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम्। तस्मादविषयं निर्विशेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणि स्वरूपे प्रकाशमाने तद्गत कतिपय विशेषाप्रतीतिरूपावैशद्यं नानाज्ञानकार्यं न संभवति।

एक बात और विचारणीय है—अविद्या से तिरोहित ब्रह्म में कुछ प्रकाश रहता है या नहीं ? यदि नहीं रहता तो एक मात्र प्रकाश स्वरूप

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म में फिर रही क्या जाता है, वह तो एक तुच्छ वस्तु रह जायगा। यदि प्रकाश रहता है, तो सच्चिदानंदैकरस ब्रह्म में कौन सा अंश छिपा रहता है, और कौन सा प्रकाशित रहता है ? अखंड निर्विशेष प्रकाश-मात्र ब्रह्म में आवरण और प्रकाश ये दो वस्तुएं एक साथ नहीं रह सकतीं यदि सच्चिदानन्द ब्रह्म अविद्या से आवृत होकर मलिन दीखता है तो, एक मात्र प्रकाश स्वरूप उसमें विशदता और मलिनता कैसी ?

कहने का तात्पर्य यह है कि—जो वस्तु अंशयुक्त, सविशेष, अन्य प्रकाश होती है, वही पूर्ण या अपूर्ण प्रकाश वाली हो सकती है। विशेष प्रकाश से रहित, सूक्ष्म अविशद प्रकाश भी उसी का हो सकता है। उसका जो अंश अविकसित है, उसी में प्रकाश का अभाव होने से प्रकाश की विशदता नहीं रहती और जो अंश विकसित है, उसमें उसका विशद प्रकाश रहता है। इस प्रकार सभी जगह प्रकाशांश का वैशद्य संभव नहीं है। जो वस्तु स्वरूप से प्रतीति का विषय होती है, उसका जो अंश प्रतीतिगम्य नहीं होता, उसी के प्रकाश को अविशद कहा जा सकता है। इन्द्रियों का अविषय, निर्विशेष प्रकाशमात्र ब्रह्म जब स्वयं प्रकाश है तो उसके किसी विशेष अंश की अप्रतीतिजन्य अविशदता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता (अज्ञान जन्य आवरण उसमें संभव ही नहीं है)

अपि च—इदमविद्याकार्यमवैशद्यं तत्वज्ञानोदयान्निवर्त्तते न वा ? अनिवृत्तावपवर्गाभावः। निवृत्तौ च वस्तु किं रूपमिति विवेचनीयम् विशद्स्वरूपमिति चेत् तद्विशद स्वरूपं प्रागस्ति न वा ? अस्ति चेत्, अविद्याकार्यमवैशद्यम् तन्निवृत्तिश्च न स्याताम् नोचेत् मोक्षस्य कार्यतया अनित्यता स्यात्।

एक बात और भी है कि—यह अविद्या जन्य अविशदता, तत्वज्ञान से निवृत्त होती है या नहीं ? यदि नहीं होती तो मोक्ष नहीं हो सकता यदि होती है, तो उस वस्तु का क्या स्वरूप होता है यह विवेचनीय है। यदि वह निवृत्त वस्तु विशद होती है तो निवृत्ति के पूर्व वह विशद थी या नहीं ? यदि थी तो, अविद्या का कार्य अविशदता और उसकी निवृत्ति ये दोनों ही होना असंभव है, इनका तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि नहीं

ankurnagpal108@gmail.com

र्था ता, उसे मोक्ष का काय माना जायगा, अतएव वह अनित्य है यह भी निश्चित है।

अस्याज्ञानस्याश्रयनिरुपणादेवासंभवः पूर्वमेवोक्तः। अपि च—अपरमार्थदोषमूलवादिना निरधिष्ठानभ्रमासंभवोऽपि दुरुपपादः भ्रम हेतुभूतदोष दोषाश्रयत्ववदाधिष्ठानापरमार्थ्यऽपिभ्रमोपपत्तेः। ततश्च सर्वशून्यत्वमेव स्यात्।

इस अज्ञान के आश्रय का निरूपण करना ही जब असंभव है, तो अज्ञान की कल्पना भी असम्भव ही है, यह प्रथम ही कह चुके हैं। तथा जो लोग, भ्रम के मूल दोप को अपारमार्थिक मानते हैं, वह भी, असंगत है, क्योंकि—निराश्रित असत्य वस्तु पर भ्रम कभी आधारित रही नहीं सकता। भ्रम का मूल कारण दोष ही यदि असत्यस्वरूप दोषान्तर पर आश्रित होगा और असत्य अधिष्ठान में ही जब भ्रम होगा तो सब कुछ शून्य हो जायगा (यही तो बौद्धों का सर्वशून्यवाद का सिद्धान्त है)

यदुक्तमनुमानेनापि भावरूपमज्ञानं सिध्यतीति, तदयुक्तम्, अनुमानासंभवात्। ननूक्तमनुमानम? सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं तु तत्, अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्वाद् हेतोः। तत्राज्ञानान्तरासाधने हेतोरनैकान्त्यम्। साधने च तदज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति। ततश्चाज्ञान कल्पना निष्फला स्यात्।

जो यह कहा कि—अनुमान से भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है, यह कथन असंगत है—ऐसा अनुमान कभी नहीं हो सकता। यदि कहो कि—उक्त बात भी अनुमान ही तो है? ठीक कहते हो, अनुमान का अनुमान करना भी युक्ति विरुद्ध ही है। अज्ञान में अज्ञानान्तर की कल्पना तो आपको भी अभिमत नहीं है। अज्ञानान्तर के साधन में अनेक हेतु हैं, और उस साधन में, अज्ञान साक्षिता की निवृत्ति हो जाती है, जिससे अज्ञान की कल्पना ही निष्फल हो जाती है।

दृष्टान्तश्च साधन विकलः, दीपप्रभायाअप्रकाशितार्थप्रकाशत्वाभावात्। सर्वत्र ज्ञानस्यैव हि प्रकाशत्वम्। सत्यपि दीपे ज्ञानेन

ankurnagpal108@gmail.com

विना विषयप्रकाशाभावात्। इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेव न प्रकाशकत्वम्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतो-विरोधि तमोनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेव। प्रकाशकज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाण चक्षुरिन्द्रियोपकारक हेतुत्वमपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्व व्यवहारः।

पूर्वोक्त प्रदीप दृष्टान्त भी अज्ञान के अस्तित्व के विपरीत सिद्ध होता है। प्रदीप प्रभा कभी अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नही कर सकती, ज्ञात वस्तु का प्रकाश ही उससे संभव है। दीप के रहते हुए भी, वस्तु ज्ञान के बिना, उस वस्तु का प्रकाश नही होता। इन्द्रियां भी ज्ञानोत्पत्ति का ही कारण होती है, प्रकाशक तो वो भी नही होती। दीप प्रभा केवल चाक्षुष ज्ञान के प्रतिबंधक अधकार को ही दूर करती है, इस प्रकार वह चक्षुष ज्ञान की उपकारक मात्र है। वस्तु प्रकाशक ज्ञान के समुत्पादन में चक्षुरिद्रिय ही कार्य करती है, दीप की प्रभा स्थानगत अंधकार का निवारण कर साहाय्य प्रदान करती है, इसलिए व्यवहार में प्रभा को प्रकाशक कहा जाता है।

नास्माभिर्ज्ञानतुल्यप्रकाशकत्वाभ्युपगमेन दीपप्रभा निदर्शिता, अपितु ज्ञानस्यैव स्वविषयावरणनिरसनपूर्वकप्रकाशकत्व-मंगीकृत्येति चेन्न, नहि विरोधि निरसनमात्रं प्रकाशकत्वम अपित्वर्थपरिच्छेदः। व्यवहारयोग्यतापादानमिति यावत्। तत्तु ज्ञानस्यैव। यदि उपकारकाणामपि अप्रकाशितार्थं प्रकाशकत्वमंगी कृतम्, तर्हि इन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थप्रकाशक-त्वमंगीकरणीयम्। तथासति तेषां स्वनिवर्त्यवस्त्वन्तरपूर्वकत्वा भावाद्धेतोरनैकांत्यमित्यलमनेन।

यदि कहो कि–प्रदीप प्रभा का ज्ञान के रूप से दृष्टान्त नहीं दिया गया है, अपितु ज्ञान अपने आवरण का विनाश कर विषयों को प्रकाशित करता है, केवल उतने भावमात्र के लिए ही, उसका दृष्टान्त है। सो

ankurnagpal108@gmail.com

केवल ज्ञान प्रतिबन्धक के निवारण को ही प्रकाशता नहीं कहते अपितु जिस वस्तु का जो स्वरूप हो उसका निरूपण करते हुए लोक व्यवहारोपयोगी बनाने का नाम प्रकाशता है। ऐसी प्रकाशता ज्ञान के अतिरिक्त किसी में नहीं है। यदि ज्ञानोपकारक विषयों को भी अप्रकाशित विषयों का प्रकाशक मानेंगे तो ज्ञानोत्पत्ति की प्रधान साधन इन्द्रियों को भी अप्रकाशित वस्तुओं का प्रकाशक मानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप तुम्हारा अभिमत अनैकान्त्य का सिद्धान्त दूषित हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियों के कार्य के पूर्व कार्य निवारक कोई नहीं होता। अस्तु अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं।

प्रतिप्रयोगाश्च विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रयम्, अज्ञानत्वात्; शुक्तिकादि अज्ञानवत्। ज्ञानाश्रयं हि तत् विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्मावरणम्, अज्ञानत्वात् शुक्तिकादि अज्ञानवत्। विषयावरणं हि तत् विवादाध्यसितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम्। ज्ञानविषयानावरणत्वात्, यत्, ज्ञाननिवर्त्यम् अज्ञानं तत् ज्ञानविषयावरणम्। यथा शुक्तिकादि अज्ञानम्। ब्रह्म न अज्ञानास्पदं ज्ञातृत्वविरहात् धरादिवत्। ब्रह्म न अज्ञानावरणं ज्ञान अविषयत्वात्। यदि अज्ञानावरणं तर्हि तद् ज्ञानविषयभूतम्, यथा शुक्तिकादि। ब्रह्म न ज्ञान निवर्त्याज्ञानम् ज्ञान अविषयत्वात्। यत् ज्ञान निवर्त्याज्ञानं तद् ज्ञानविषयभूतं यथा शुक्तिकादि। विवादाध्यसितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्त अज्ञानपूर्वकं न भवति प्रमाणज्ञानत्वात्, भवदभिमताज्ञानसाधन प्रमाणज्ञानवत्।

अज्ञान की भावरूपता के साधन के लिए जैसा अनुमान किया गया, उसके प्रतिकूल भी अनुमान किया जा सकता है जैसे कि–विवादास्पद अज्ञान कभी शुद्ध ज्ञान ब्रह्म का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि वह शुक्ति आदि अज्ञान की तरह मिथ्या अज्ञान है। जो कि–भ्रांत ज्ञान के आश्रय में रहता है। विवादास्पद अज्ञान, ज्ञान का आवरण भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह शुक्ति अज्ञान की तरह मिथ्या है, जो

ankurnagpal108@gmail.com

वि-विषय (शुक्ति) का ही आवरण कर सकता है। विवादास्पद अज्ञान, ज्ञान से निवर्त्य भी नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान के विषय (ज्ञेय) का आवरण नहीं करता। जो अज्ञान, ज्ञान द्वारा निवर्त्य होता है, वह ज्ञान के विषय का आवरक होता है, जैसे शुक्ति आदि का अज्ञान। घट आदि पदार्थों में जैसे ज्ञातृता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्म में भी ज्ञातृता का अभाव है, इसलिये वह अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। अज्ञान कभी ब्रह्म को आवृत नहीं कर सकता, क्योंकि वह ज्ञान का विषय (ज्ञेय) नहीं है। जो अज्ञान से आवृत होता है, वह निश्चित ही ज्ञान का विषय होता है जैसे कि-शुक्ति। ब्रह्मविषयक अज्ञान ज्ञान से निवर्त्य नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं है जो अज्ञान, ज्ञान से निवर्त्य होता है, वह निश्चित ही ज्ञान का विषय होता है जैसे कि शुक्ति। विवादास्पद प्रमाणरूप ज्ञान कभी अपने प्रागभाव के अतिरिक्त, अज्ञानपूर्वक नहीं हो सकता, क्यों कि वह, आपके अभिमत अज्ञान साधक, प्रमाण ज्ञान की तरह, प्रमाण जन्य होता है।

ज्ञानं न वस्तुनो विनाशकम्, शक्तिविशेषोपवृंहेण विरहे सति ज्ञानत्वात्। यद्वस्तुनो विनाशकं तत् शक्ति विशेषोपवृंहितं ज्ञान-मज्ञानं च दृष्टम्, यथेश्वरयोगिप्रभृतिज्ञानं, यथा च मुद्गरादि। भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यम्, भावरूपत्वात् घटादिवदिति। अथोच्येत-बाधक ज्ञानेन पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशो दृश्यते इति। नैवम् नहि ज्ञानेन तेषां विनाशः क्षणिकत्वेन तेषां स्वयमेव विनाशात्। कारणनिर्वृत्या च पश्चादनुत्पत्तेः। क्षणिकत्वं च तेषां ज्ञानवदुत्पत्तिकारणसन्निधानएवोपलब्धेः अन्यथाऽनुपलब्धेश्चाव-गम्यते। अक्षणिकत्वे च भयादीनां भयादि हेतुभूतज्ञानसन्तताव-विशेषेण सर्वेषां ज्ञानानां भयादुत्पत्ति हेतुत्वेनानेकभयोपलब्धि प्रसंगाच्च।

ज्ञान स्वभावतः किसी वस्तु का विनाशक नहीं होता, क्यों कि-वह अन्यशक्ति की सहायता से रहित स्वतः सिद्ध है। जिससे वस्तु का

ankurnagpal108@gmail.com

विनाश होता है, वह चाहे ज्ञान हो या अज्ञान, निश्चित ही वह शक्ति विशेष से उपबृंहित (बलप्राप्त) होता है, जैसे ईश्वर और योगियों का ज्ञान या मुद्गर आदि। भाव पदार्थ घट आदि जैसे ज्ञान से विनाश्य नहीं हैं, वैसे ही भावरूप अज्ञान भी, ज्ञान से विनाश्य नहीं है। यदि कहो कि–बाधक ज्ञान की उपस्थिति में, बाधक ज्ञान की उत्पत्ति पूर्व के भ्रम जन्य भय कम्पन आदि का विनाश देखा जाता है; सो ऐसी बात नहीं है कि ज्ञान से भय आदि का विनाश होता है अपितु भय आदि तो क्षणिक होते हैं, वे स्वत: ही विनष्ट हो जाते हैं, भय के कारण की निवृत्ति हो जाने पर फिर भय आदि की उत्पति होती ही नहीं। ज्ञान की तरह भय आदि भी, उत्पत्ति के कारण की स्थिति में ही रहते हैं, अनुपस्थिति में नहीं, इसलिए उनकी क्षणिकता सहज ही अवगत हो जाती है। भय आदि को यदि क्षणिक नहीं मानेंगे तो भय आदि का कारण मिथ्या ज्ञान जब धारावाहिक रूप से चलता रहता है, तो सभी ज्ञानों को भय आदि का हेतु मानना होगा, जिससे अनेक भय उपस्थित हो जावेंगे।

स्वप्रागभावव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरपूर्वकमिति व्यर्थविशेषणो-पादानेन प्रयोगकुशलाचाविष्कृता। अतोऽनुमानेनापि न भावरूपा-ज्ञान सिद्धि.। श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामज्ञानासिद्धिरनन्तरमेव वक्ष्येत। मिथ्यार्थस्य हि मिथ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्येतदपि "न विलक्षण-त्वात् इत्यधिकरणन्यायेन परिह्रियते। अतोऽनिर्वचनीयाज्ञानविषया न काचिदपि प्रतीतिरस्ति। प्रतीतिभ्रांतिबाधैरपि न तथाऽभ्यु-पगमनीयम्। प्रतीयमानमेव हि प्रतीतिभ्रांति बाधविषय:। आभि: प्रतीतिभि: प्रतीत्यंतरेण चानुपलब्धामासां विषय इति न युज्यते कल्पयितुम्।

भय को क्षणिक न मानने से अज्ञान के लिए किया गया "स्व प्रागभाव वस्त्वन्तर पूर्वक" यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा, केवल प्रयोग कुशलता का नमूना मात्र रह जायगा इससे सिद्ध होता है कि, अनुमान से अज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति और अर्थापत्ति प्रमाण भी उसे सिद्ध नहीं कर सकते, इसे आगे बतलावेंगे। मिथ्या पदार्थ

ankurnagpal108@gmail.com

के उपादान भी मिथ्या होते है, इस कथन को भी "न विलक्षणत्वात्" सूत्र के अनुसार परिष्कृत करेगे अनिर्वचनीय अज्ञान की प्रतीति किसी भी प्रकार नही हो सकती। केवल प्रतीति या भ्रांति की बाधा से भी अज्ञान को स्वीकारा नही जा सकता क्यों कि जो वस्तु, प्रतीति या भ्रांति की बाधा के योग्य होती है, वह प्रतीयमान और विशेषोल्लेखनीय होती है। प्रतीति, भ्राति या और भी किसी भी प्रकार की प्रतीति से, किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नही की जा सकती जिसके प्रकाश की उपलब्धि न होती हो।

शुक्तयादिषु रजतादि प्रतोतेः, प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन चान्यस्यान्यथामानायोगाश्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात् प्रतीयत इति, कल्पनीयमितिचेन्न, तत्कल्पनायमपि अन्यस्य अन्यथा भानस्य अवर्जनीयत्वात् अन्यथाभानाभ्युमगमादेव ख्यातिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानां उपपत्तेरत्यन्तापरिद्रष्टाकारणकवस्तु कल्पनायोगात् कल्प्यमानं हि इदमनिर्वचनीयम्। न तावदनिर्वंनीय मिति प्रतीयते, अपितु परमार्थं रजतमित्येव। अनिर्वचनीयमित्येव चेत्, भ्रांतिबाधयोः प्रवृत्तेरप्यसंभवः। अतोऽन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीतिवृत्तिबाधाभ्रमत्वानामनुपपत्तेस्तस्यापरिहार्यत्वाच्च, शुक्तया-दिरेव रजताद्याकारेण अवभासते, इति भवताभ्युपगंतव्यम्।

शुक्ति आदि में रजत आदि की प्रतोति के समय ही "यह वह नहीं है" ऐसा बाधक ज्ञान हो जाता है, क्योकि–अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में अन्य प्रकार का ज्ञान हुआ नहीं करता। सद् असद् अनिर्वचनीय अपूर्व को, रजत माना जाता हो अथवा रजत के रूप में इसकी कल्पना की जाती हो, सो बात नही है; अनिर्वचनीय कल्पना में भी अन्य वस्तु में अन्यथा ज्ञान अनिवार्य होता है; अन्यथा ज्ञान के स्वीकारने से ही, ख्याति, प्रवृत्ति, बाध, भ्रम आदि की उपपत्ति होती है, जिससे नितान्त अदृष्ट वस्तु की कल्पना होती है जिसके फलस्वरूप ही यह कल्पित अनिर्वचनीयता होती है। उस समय वह अनिर्वचनीय रूप से प्रतीत नही होती अपितु वास्तविक रजत के रूप में ही उसकी प्रतीति होती है। यदि

ankurnagpal108@gmail.com

अनिर्वचनीय प्रतीति हो तो, भ्रांति और बाधा का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रमस्थल में अन्यथा भान न होने से तथा प्रतीति, वृत्ति, बाधा, भ्रम आदि की अनुपपत्ति से अनिवार्य शुक्ति ही, रजत की आकृति में अवभासित होती है, यह तो आपको भी मानना पड़ेगा।

ख्यात्यन्तरवादिनां च सुदूरमपि गत्वाऽन्यथावभासोऽवश्याश्रणीयः, असत्ख्याति पक्षे सदात्मना, आत्मख्यातिपक्षे अर्थात्मना, अख्यातिपक्षेऽपि अन्यविशेषणं अन्यविशेषणत्वेन, ज्ञानद्वयमेकत्वेन च, विषयासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन।

अन्यान्य ख्याति वादियों को भी अनेक तर्कवितर्कों के बाद अन्त में अन्यथावभास (अन्यथा ख्याति) का आश्रय लेना पड़ता है। वह अवभास असत् ख्याति के पक्ष में सत् स्वरूप, आत्म ख्याति के पक्ष में ज्ञेय पदार्थ स्वरूप, अख्याति के पक्ष में भी अन्यविशेषण का अन्यविशेषण के रूप तथा दो ज्ञानों की एकता के रूप, एवं ज्ञेयविषय का अस्तित्व न स्वीकारने वालों के पक्ष में ज्ञेयवस्तु की विद्यमानता के रूप से होता है।

किंच अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्रजातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यम्, न तावत् प्रतीतिः, तस्यास्तद् विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तदेव विषयी करोतीति महतामिदमुपपादनम्। अथेन्द्रियादिगतो दोषः, तन्न तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि, तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एवहि विशेषकरत्वम्, अनादिमिथ्याज्ञानोपादानत्वं तु पूर्वमेव निरस्तम्।

जो लोग "अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्र जातम्" ऐसा कहते हैं उन्हें वैसी रजतोत्पत्ति का कारण बतलाना होगा। वे रजत की प्रतीति को तो रजतोत्पादक कही नहीं सकते, क्योंकि-उत्पत्ति की पूर्व उसकी प्रतीति संभव नहीं है। प्रतीति पहले निर्विषयक होती है, बाद में रजतोत्पत्ति करके उस रजत को अपना विषय बनाती है ऐसा तो बड़े लोग ही कह

ankurnagpal108@gmail.com

सकते है। चक्षु आदि इन्द्रियगत दोष, रजतोत्पादक हों, ऐसा भी समझ में नहीं आता, क्योंकि वह द्रष्टा पुरुष के आश्रय से ही हो सकता है, किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु को पैदा कर देने की सामर्थ्य दृष्टा पुरुष में तो होती नहीं। केवल इन्द्रियों में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है, वे तो केवल ज्ञानोत्पादक ही होती है। विकृत इन्द्रियाँ भी नई वस्तु पैदा नहीं कर सकती, वे तो अपने कार्य (ज्ञान) में ही वैचित्र्य प्रतीति कराती हैं। अनादिमिथ्या ज्ञान तो ऐसे उत्पादन का उपादान हो नहीं सकता, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं।

किंच—अपूर्वमनिर्वचनीयमिदंवस्तुजातं रजतादिबुद्धि शब्दाभ्यां कथमिव विषयी क्रियते, न घटादि बुद्धिशब्दाभ्याम्? रजतादिसादृश्यादिति चेत् तर्हि तत्सदृशमित्येवप्रतीति शब्दौस्याताम्। रजतादिजातियोगादिति चेत्, सा किं परमार्थ,भूता अपरमार्थभूता वा? न तावत् परमार्थभूता, तस्या अपरमार्थान्वयायोगात्। नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात्। अपरमार्थे परमार्थबुद्धि शब्दयो निर्वाहकत्वायोगाच्चेत्यलमपरिणत कुतर्क निरसनेन।

एकबात और है—जब जागतिक सभी वस्तुएं अनिर्वचनीय हैं तो सीप मे रजत शब्द का ही प्रयोग क्यों किया जाता है तथा रजत प्रतीति ही क्यों होती है सीप को घट, प्याला आदि क्यों नहीं कहा जाता, घट क्यों नहीं समझा जाता? यदि कहो कि—रजत आदि के सादृश्य से ऐसा होता है; तो यह कहना चाहिए कि "यह उसके समान है" यदि रजत आदि जाति के योग से उक्त प्रकार की प्रतीति होती है, तो वह वास्तविक होती है या अवास्तविक? वास्तविक तो हो नहीं सकती क्योंकि—उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। अवास्तविक भी नहीं हो सकती, क्योकि—उसे फिर सत्य नहीं कहा जा सकता। अयथार्थ वस्तु में यथार्थ साधन की क्षमता भी नहीं होती। अस्तु तत्त्वहीन कुतर्कों के निराकरण से अब विरत होते हैं।

अथवा—यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदांमतम्, श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतिः। बहुस्यामिति संकल्प पूर्वसृष्ट्-

ankurnagpal108@gmail.com

यादि उपक्रमे, तासां त्रिवृतमेकैकामिति श्रुत्यैव चोदितम्। त्रिवृत-करणमेवंहि प्रत्येक्षेणोपलभ्यते, यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद पामपि शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत् अग्नावेव त्रिरूपता, श्रुत्यैव दर्शितातस्मात् सर्वे सर्वत्र संगताः पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्-युपक्रमे। नानावीर्याः प्रथग्भूतास्ततस्ते संहृतिं बिना, नाशक्नुवन् प्रजास्सृष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यान्योन्यसयोगं परस्पर समाश्रयः, "महदाद्या विशेषान्ता हि अण्डम्" इत्यादिना ततः। सूत्रकारोऽपिभूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत्, "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" इति तेनाभिधाभिदा। सोमाभावे च पूतीक ग्रहणं श्रुति चोदितम्, सोमावयवसद्भावाद् इति न्यायविदो विदुः। व्रीह्यभावे च नीवार ग्रहणं व्रीहिभावतः; तदेव सदृशं तस्य, यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक्। शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव बोधितः रूप्यशुक्त्यादि निर्देशभेदो भूयस्त्वहेतुकः। रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते, अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतिरपि निश्चितः। कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः, रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्त्तते। दोषहानौतु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्त्तते, अतोयथार्थ रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु। बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनो-पपद्यते, शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्य ग्रहरूपतः। नातो मिथ्यार्थं सत्यार्थविषयत्वनिबन्धनः एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहार व्यवस्थितिः।

वेदवेत्ता विद्वानों (बोधायन, नाथमुनि, यामुनाचार्य और द्रविडा चार्य) का मत है कि—श्रुति स्मृति शास्त्रानुसार सभी वस्तुएं ब्रह्मात्मक होने से यथार्थ सत्य हैं। सृष्टि के उपक्रम में सृष्टा ने जो "बहुस्यां" और "तासांत्रिवृतमेकैकाम्" का संकल्प किया था उसी से जगत् की ब्रह्मात्म-कता की पुष्टि होती है। त्रिवृत्करण और परस्पर मिश्रण का भाव प्रत्यक्ष दीखता है, अग्नि की रक्तिमा, जल की शुभ्रता तथा पृथिवी की

ankurnagpal108@gmail.com

स्यामता उसी के उदाहरण हैं। इसी प्रकार एक ही अग्नि में भी तीन रूप देखें जाते है। श्रुति ने बतलाया है, कि सारे भूत सभी में मिश्रित है। विष्णु पुराण के सृष्टि प्रकरण मे भी बतलाया गया कि विभिन्न शक्ति वाले भूत विना एक साथ मिले प्रजा की सृष्टि करने मे असमर्थ है। सारे ही भूत परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से, महत्तत्व से लेकर अंतिम स्थूल ब्रह्माण्ड तक की सृष्टि करते है। "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वाद्" सूत्र में सूत्रकार भी इसी तथ्य की पृष्टि करते हैं।

वेदों में सोमलता के अभाव में पुतीक ग्रहण का विधान बतलाया गया है, मीमांसको का मत है कि, पुतीक में सोमलता अंश विद्यमान है इसीलिए उसके ग्रहण का विधान है। इसी प्रकार ब्रीहि के अभाव में, ब्रीहि अश युक्त नीवार के ग्रहण का विधान है।

शुक्ति आदि पदार्थ मे जो रजत आदि का भ्रम होता है, वह भी रजतांश के सद्भाव के कारण ही है, यह श्रुतिसम्मत विचार है। बाहुल्य के कारण रजत की, शुक्ति से पृथक प्रतीति होती है। शुक्ति में जो रजत की सदृशता दीखती है, उससे ही शुक्ति मे रजताश का सद्भाव निश्चित होता है। कभी चक्षु इन्द्रिय के दोष के कारण शुक्ति का शुक्तिभाव तिरोहित हो जाता है, चक्षु केवल रजतांश को ग्रहण करते है, जिसके फलस्वरूप हम उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उद्यत होते हैं। उक्त दृष्टि दोष के नष्ट हो जाने पर शुक्ति का शुक्तित्व सुस्पष्ट परिलक्षित होने लगना है, तब हताश होकर लौट आते है। इस प्रकार रजत की होने वाली प्रतीति यथार्थ ही है, केवल शुक्ति अंश के आधिक्य के कारण बाध्य बाधक व्यवस्था होती है। जब शुक्ति के लघु अंश रजतभाव का ग्रहण होता है उसे ही भ्रम कहना चाहिए, जब उसके बहुलांश का ग्रहण होता है, उसे सत्य कहते है, प्रथम ज्ञान बाध्य और द्वितीय ज्ञान बाधक है। मिथ्या या असत्य की प्रतीति से बाध्य बाधक भाव होता हो सो बात नहीं है। हर वस्तु हर में मिश्रित है ऐसी व्यवहार की व्यवस्था करना समीचीन है।

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रा-नुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते तथा हि श्रुति स्वप्न विषय "न तत्र रथाःन रथयोगाः न पंथानो भवंति,

ankurnagpal108@gmail.com

अथ रथान् रथयोगात्पथः सृजते । न तत्राऽनंदा मुदः प्रमुदो भवंति, अथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्यो भवंति, अथ वेशांतान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते । सहि कर्त्ता" इति यद्यपि सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवंति, तथाऽपि तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथाविधानर्थान् ईश्वरः सृजति, सहि कर्त्ता। तस्य संकल्पस्याश्चर्यशक्तेस्तथाविधं कर्त्तृत्वं संभवतीत्यर्थः।

स्वप्नावस्था में जगत्पति भगवान ही प्राणियों के पुण्यपाप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भोगोपयोगी विषयों और तात्कालिक पदार्थों की सृष्टि करते हैं। वैसी ही स्वप्न विषयक श्रुति भी है—"न वहाँ रथ, न घोड़ा, न मार्ग ही रहता है, रथ घोड़े आदि की सृष्टि करते है, वहाँ आनन्द, मोद, प्रमोद नहीं रहता, आनन्द आदि की सृष्टि करते हैं, वहाँ तालाब, तलैया, बावली नहीं होते, तालाब आदि की सृष्टि करते है, वही संसार के कर्त्ता हैं।" यद्यपि मनुष्य के सारे ही अनुभाव्य पदार्थ उस समय नहीं रहते, परन्तु पुरुष की अर्हतानुसार अनुभाव्य पदार्थों को जो सृष्टि करते है, वही जगत के स्वामी हैं, वे ही सत्यसंकल्प, अनन्त-शक्ति सम्पन्न है, उन्हीं से ऐसी आश्चर्यमयी क्रिया संभव भी है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते, तस्मिंल्लोकाश्श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इति च। सूत्रकारोऽपि "संध्ये सृष्टिराह हि"— "निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" इति सूत्रद्वयेन स्वाप्नेष्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशंक्य, "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्" इत्यादिना न जीवस्य संकल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमुत्पद्यते। जीवस्य स्वाभाविकसत्यसंकल्पत्वादेः कृत्स्नस्य संसारदशायामनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्, ईश्वरस्यैव तत्तद् पुरुष मात्रानुभाव्यतया आश्चर्य भूता सृष्टिरयम्। "तस्मिल्लोकाश्श्रितास्सर्वे तदुनात्येति कश्चन्" इति परमात्मैव तत्र स्रष्टेत्यवगम्यते, इतिं परिहरति। अपवल्ग्वादिषु

ankurnagpal108@gmail.com

शयानस्य स्वप्नसदृश: स्वदेहेनैव देशान्तरगमनराज्याभिषेकशिरश्छे-दादयस्च पुण्यपापफलभूताश्शयान देहसरूपसंस्थान देहान्तर स्रष्ट्योपपद्यंते।

"मनुष्य के सोने पर वह जागता हुआ, पर्याप्त रूप से काम्यपदार्थों का निर्माण करता है, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत है, साराजगत उसी के आश्रित है, कोई भी उसे अतिक्रमण नहीं कर सकता।" इत्यादि भी उक्तमत की ही पुष्टि करते हैं। सूत्रकार भी "संध्ये सृष्टिराहहि" निर्मातारंपुत्रादयश्चैके" इत्यादि दो सूत्रों से स्वप्न पदार्थों की सृष्टि में जीव विषयक आशंका करके—"मायामात्र" इत्यादि सूत्र से जीव की संकल्प रहित सृष्टि क्रिया का निराकरण करते हैं। संसार दशा में जीव की सत्य संकल्पता आदि विशेषतायें जब अव्यक्त रहती है, तब स्वप्न सृष्टि कैसे संभव है यह आश्चर्यमयी सृष्टि तो सत्य सकल्प ईश्वर की ही कृति है "सारे लोक इसी के आश्रित रहते है, इसका अतिक्रमण नहीं कर सकते इस वाक्य से स्वप्न सृष्टि परमात्मा की ही निश्चित होती है। इस दृष्टान्त से सूत्रकार जीव संबंधी आशका का समाधान करते हैं घर में सोया हुआ व्यक्ति, देशांतरगमन, राज्याभिषेक, शिरच्छेदन आदि विचित्रताओं की प्रतीति करता है। पाप पुण्य के फल भोग के लिए, तात्कालिक एक विशेष निर्मित देह से सारी क्रियायें होती हैं।

पीतशंखादौ तु नयनवर्तिपित्तद्रव्यसंभिन्ना नायनरश्मय: शंखादिभि: संयुज्यन्ते। तत्र पित्तगत पीतिमाभिभूत: शंखगत शुक्लिमा न गृह्यते। अत: सुवर्णानुलिप्तशंखवत् पीत: शंख इति प्रतीयते। पित्त द्रव्यं तद्गत पीतिमा चातिसौक्ष्म्यात् पार्श्वस्थै: न गृह्यते। पित्तोपहतेन तु स्वनयन निष्क्रान्ततयाऽतिसमीप्यात् सूक्ष्मपि गृह्यते। तद् ग्रहण जनितसंस्कार सचिव नायनरश्मिभि: दूरस्थमपि गृह्यते।

पीतशंख की जो प्रतीति होती है, उसमें नयनगत पित्त से नयन रश्मियाँ मिश्रित हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप श्वेतशंख पीला दीखता है, वहाँ पित्तजन्य पीतिमा से अभिभूत शखगत शुक्लिमा की प्रतीति नहीं हो पाती। इसलिए सुवर्ण रंजित शंख सा वह शंख पीला दीखता है।

ankurnagpal108@gmail.com

अतिसूक्ष्म नयनगत पित्तजन्य पीतिमा निकटस्थ व्यक्ति को भी नहीं दीखती, परतु पित्ताक्रान्त व्यक्ति को वह अति निकट से परिलक्षित हो जाती है, क्योंकि उसके नेत्रों से ही वह सदा निकलती रहती है। इसी प्रकार दूरस्थ शंख भी नयन की पीत रश्मियों के द्वारा पीला अवभासित होता है।

जपाकुसुम समीपवर्तिस्फटिकमणिरपितत्प्रभाभिभूततया रक्त इति गृह्यते। जपाकुसुमप्रभावितताऽपिस्वच्छद्रव्य संयुक्ततया स्फुटतरमुपलभ्यते, इत्युपलब्धिव्यवस्थाप्यमिदम्।

मरीचिका जलज्ञानेऽपि तेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वात् इन्द्रियदोषेण तेजः पृथिव्योरग्रहणादृष्टवशाच्चाम्बुनोग्रहणाद्यथार्थत्वम्।

अलातचक्रेऽप्यलातस्यद्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादंतराला ग्रहणात्तथा प्रतीतिरुपपद्यते। चक्रप्रतीतावप्यन्तरालाग्रहणपूर्वकतत्तद्देशसंयुक्ततत्तद्वस्तु ग्रहणमेव। क्वचिदंतरालाभावात् अन्तरालाग्रहणम् क्वचिच्छैध्र्यादग्रहणमिति विशेषः। अतस्तदपि यथार्थम्।

दर्पणादिषु निजमुखादि प्रतीतिरपि यथार्था। दर्पणादि प्रतिहतगतयो हि नायनरश्मयो दर्पणादिदेशग्रहणपूर्वकं निजमुखादिग्रह्णंति तत्रापि अतिशैध्र्यादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः।

जपाकुसुम की निकस्थ स्फटिकमणि, उसकी कांति से अभिभूत होकर रक्तवर्ण की दिखलाई देती है। जपाकुसुम की प्रभा चारों ओर फैलती हुई, स्वच्छ द्रव्य से मिश्रित होकर स्पष्ट रूप से देखी जाती है, इसकी प्रतीति का यही स्वरूप है, जो कि यथार्थ है।

मरीचिका में जो जल की प्रतीति होती है, वह भी तेज और पृथ्वी में जो जलीय अंश है उसी का भान होने से होती है, इन्द्रियगत दोष के कारण उस समय पृथ्वी और तेजीय अंशों की प्रतीति नहीं हो पाती इसलिए यह ज्ञान भी यथार्थ है।

ankurnagpal108@gmail.com

अलातचक्र की जो चक्राकार प्रतीति होती है, उससे मध्यवर्ती अवकाश की प्रतीत न होने का कारण, चक्र की तेज चाल है, इसलिए चक्राकार प्रतीति भी असत्य नहीं है।

दर्पण, जल आदि में अपने मुख आदि की प्रतीति भी यथार्थ है। दर्पण पर पड़ने वाली नयन रश्मियों के प्रकाश से मुखाकृति की प्रतीति होती है; मुख और दर्पण के मध्यवर्ती अन्तराल और रश्मियों के त्वरित विक्षेप के कारण कभी-कभी वैसी प्रतीति नहीं भी होती।

दिङ्मोहे अपिदिगन्तरस्यास्यां दिशि विद्यमानत्वात् अदृष्टवशेनैतद्दिगंश वियुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते । अतो दिगन्तरप्रतीतिर्यथार्थैव ।

द्विचन्द्रज्ञानादावपि अंगुल्यवष्टम्भ तिमिरादिभिः नायनतेजोगतिभेदेन सामाग्री भेदात् सामग्रीद्वयमन्योन्यानिरपेक्षं चन्द्रग्रहण द्वयहेतुर्भवति। तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्ट चन्द्रं ग्रहणति द्वितीयातु किंचित् वक्रगतिश्चन्द्र समोपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेश वियुक्तं गृहणाति। अतः सामग्रीद्वयेन युगपद्देशद्वयविशिष्ट चन्द्र ग्रहणे ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदादेकत्वग्रहणाभावाच्च द्वौ चन्द्राविति भवति प्रतीतिविशेषः। देशान्तरस्य तद्‌विशेषणत्वं, देशान्तरस्य च, अगृहीत स्वदेशचंद्रस्य च निरन्तर ग्रहणेन भवति। तत्र सामग्री द्वित्वं पारमार्थिकम्। तेन देशद्वयविशिष्ट चन्द्रग्रहणद्वयं च पारमार्थिकं। ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकार द्वित्वं च पारमार्थिकम्। तत्रविशेषणद्वयविशिष्ट चन्द्रग्रहणद्वयस्यैक एव चन्द्रोग्राह्य इति ग्रहणे प्रतिज्ञानवत् केवल चक्षुः सामर्थ्याभावात् चाक्षुषज्ञानं तथैवावतिष्ठते। द्वयोश्चक्षुषोरेक सामग्रयन्तर्भावेऽपि तिमिरादिदोषभिन्नं चाक्षुषं तेजः सामग्रीद्वयं भवति इति कार्यकल्प्यम्। अपगते

ankurnagpal108@gmail.com

तु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चन्द्रस्यैकग्रहण वेद्यत्वादेकश्चन्द्रः इति भवति प्रत्ययः। दोषकृतं तु सामग्री द्वित्व तत्कृत ग्रहणद्वित्वं; तत्कृतं ग्राह्याकार द्वित्वं चेति निरवद्यम्।

दिग्भ्रम में भी, भ्रांत दिशा का, अन्यान्य दिशाओं से संबंध होने के कारण, केवल मात्र एक ही दिशा का जो ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ही है, क्योंकि ठीक से न देख पाने के कारण गन्तव्य दिशा की ओर न जाकर दूसरी दिशा की ओर भटकना हो जाना है।

आँख पर अंगुली रखने से चाक्षुष रश्मियाँ दो भागों में विभक्त हो जाती हैं, जिससे दो चन्द्रों का भान होता है, रश्मियों का एक भाग तो ठीक चन्द्रमा के सामने पड़ता है, दूसरा भाग तिरछा होकर कुछ दूर दूसरे चन्द्र को देखता है, इस प्रकार दो चन्द्रों की प्रतीति होती है। नेत्र रश्मियाँ हैं तो सत्य ही, इसलिए उनके द्वारा स्वतंत्र रूप से जो दो चन्द्र देखे जाते हैं, वह प्रतीति भी यथार्थ ही है प्रत्यभिज्ञा में केवल नेत्र ही ज्ञान के साधन नहीं होते, अपितु पूर्व संस्कार भी अपेक्षित होता है। दो चन्द्रों की भिन्न प्रतीति करते हुए भी, जो एक चन्द्र का निश्चित ज्ञान बना रहता है, वह पूर्वसंस्कारजन्य ही रहता है। दोनों नेत्र एक ही कार्य करते है, फिर भी चाक्षुष तेज में तिमिरादि (रोगविशेष) के दोष से त्रों के कार्य में विभिन्नता आ जाने के कारण भी दो चन्द्रों की प्रतीति होती है, दोष के ज्ञान हो जाने पर सही अवगति होती है, तब दो के बजाय एक ही चन्द्र प्रतीत होने लगता है। दोष के कारण ही, साधन में द्वैत होता है, साधन द्वैत से ज्ञान में द्वैत होता है और उनके अनुसार चन्द्र दो प्रतीत होते हैं। इनसे ज्ञात होता है, कि उक्त द्वैत प्रतीति यथार्थ है।

अतः सर्वविज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम्। ख्यात्यंतराणां दूषणानि तैस्तैर्वादिभिरेव प्रपंचितानीति न तत्र यत्नः क्रियते। अथवा किमनेन बहुनोपपादनप्रकारेण। प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातमागम्यं च निरस्तनिखिलदोषगंधमनवधिकातिशयसंख्येयकल्याणगुणगणं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं परंब्रह्माप्युपगच्छतां किं न सेत्स्यति। किं नोपपद्यते। भगवताहि परेणब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्य-

ankurnagpal108@gmail.com

प।पानुगु तद् श्यत्वायाखिल ज ात् सृजता सुखदु.न्वोऽपेक्षाफलानुभवानुभाव्या: पदार्था. सर्वसाधारणानु-व विषया:, केचन् तत्पुरुषमात्रानुभवविषया: तत्तत्कालावसाना: तथातथाऽनुभाव्या: सृज्यन्ते। तत्र बाध्यबाधकभाव: सर्वानुभवविषयतया तद्रहिततया चोपपद्यत इति सर्वं समंजसम्।

उक्त द्रष्टान्तों से सिद्ध हो चुका कि प्रतीयमान समस्त जगत यथार्थ है। ख्यातियों में जो दोष है, वे स्वयं ख्यातिवादियों द्वारा परस्पर निराकृत हो चुके है, उसके लिए हमनें प्रयास नही किया। बहुत अधिक समर्थन की चेप्टा से कोई विशेष लाभ भी नही है। जो लोग, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शास्त्र) प्रमाण मानते है तथा समस्त दोषों से रहित—, न्यूनाधिक भावरहित—असंख्य-कल्याणमयगुण विभूषित—सत्य-संकल्प—सर्वज्ञ- आदि गुण विशिष्ट परब्रह्म का अस्तित्व भी स्वीकारते हैं, उनकी दृष्टि में तो कुछ भी परिहार्य और असंगत नहीं है। परब्रह्म भगवान—जीव के पाप पुण्य के अनुसार, सुख दु:खों से अपेक्षित फलवाले जिन जीवोपभोग्य पदार्थो का सर्जन करते हैं; उनमें कुछ सर्वसाधारण के अनुभव के योग्य, कुछ व्यक्ति विशेष के अनुभव के योग्य, एवं कुछ विशेष समय में अनुभव योग्य होते हैं। वे सृष्ट पदार्थ परस्पर बाध्य बाधक भाव से सर्वानुभूतविषयक और व्यक्ति विशेष के अनुभव विषयक होने से उपपन्न और सुसंगत होते हैं।

यत् पुन: सदसदनिर्वचनीयमज्ञानं श्रुतिसिद्धमिति, तदसत्। "अनृतेन हि प्रत्यूढा:" इत्यादिष्वनृतशब्दस्यानिर्वचनीयानभिधायित्वात्। ऋतेतरविषयो हि अनृत शब्द:। ऋतमिति कर्म वाचि। "ऋतं पिबन्तौ" इति वचनात्। ऋतं कर्मफलाभिसंधिरहितं, परं पुरुषाराधानवेषं तत्प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं संसारिकफलं कर्मानृतं ब्रह्म प्राप्ति विरोधि" एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढा:" इति वचनात्।

और जो—सदसद् अनिर्वचनीय अज्ञान को श्रुति संम्मत बतलाया, वह भी असंगत बात है। "अनृतेन हि प्रत्यूढा." वाक्य में प्रयुक्त "अनृत"

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द अनिर्वचनीयता का बोधक नहीं हैं। "अनृत" शब्द तो "ऋत" से अतिरिक्त विषय का बोधक है। "ऋत" शब्द कर्मवाची है, "ऋतं-पिबन्तौ" वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है "ऋत" अर्थात् कर्मफल की अभिसंधि (शर्त) रहित, भगवत् प्राप्ति साधक, भगवदाराधन रूप कर्म भी "ऋत" शब्द का वाच्यार्थ है। उससे भिन्न, सकाम सांसारिक फल वाला कर्म "अनृत" है, जो कि--ब्रह्मप्राप्ति में बाधक है। "इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करते, जो कि--अनृत (सकाम कर्म) से आवृत हैं "इस वाक्य से उक्त अर्थ की ही प्रतीति होती है।

"नासदासीन्नोसदासीत्" इत्यत्रापि सदसच्छब्दो चिदचिद् व्यष्टि विषयौ। उत्पत्तिवेलायां सत्त्यच्छब्दाभिहितयोश्चिदचिद् व्यष्टिभूतयोः वस्तुनोऽपि अकाले अचित्समष्टिभूते तमः शब्दाभिधेये वस्तुनि प्रलय प्रतिपादनपरत्वात् अस्य वाक्यस्य। नात्र कस्यचित् सदसदनिर्वचनीयतोच्यते, सद्सतोः कालविशेषे असदभावमात्र वचनात्। अत्रतमः शब्दाभिहितस्य अचित्समष्टित्वं श्रुत्यन्तरादवगम्यते– "अव्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरं तमसि लीयते" इति। सत्यम् तमः शब्देनाचित् समष्टिरूपायाः प्रकृतेः सूक्ष्मावस्थोच्यते। तस्यास्तु "मायांतु प्रकृतिं विद्यात्" इति मायाशब्देनाभिधानादनिर्वचनीयत्वमिति चेत्, नैतदेवम्, मायाशब्दस्यानिर्वचनीयवाचित्वं न दृष्टं इति। मायाशब्दस्य मिथ्यापर्यायित्वेनानिर्वचनीयवाचित्वमिति चेत्, तदपि नास्ति, नहि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्या विषयः। आसुरराक्षसशास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्द प्रयोगात्। यथोक्तम्---"तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याऽशुगामिना, बालस्य रक्षतादेहमैकैकश्येनसूदितम्" इति। अतोमायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थ सर्गकरत्वादेव। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः "इति मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्विचित्रार्थसर्गकरत्वं

ankurnagpal108@gmail.com

दर्शयति। परं पुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते, नाज्ञत्वेन जीवस्यैव हि मायया निरोधः श्रूयते। "तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" इति, "अनादिमायया सुप्तोयदा जीवः प्रबुध्यते" इति च। "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यत्रापि विचित्राः शक्तयोऽभिधीयन्ते। अत एवहि "भूरित्वष्टेव राजति" इत्युच्यते, नाऽसि "मिथ्याभिभूतः कश्चिद्विराजते"। "मम माया दुरत्यया" इत्यत्रापि गुणमयीति वचनात् सैव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः उच्यते इति। न श्रुतिभिः सदसदनिर्वचनीय अज्ञान प्रतिपादनम्।

"सृष्टि से पूर्व सद् भी नही था, असद् भी नही था" इस वाक्य में सद् असद् शब्द, चेतन–जड व्यष्टि बोधक है। उत्पत्ति के समय "सत्" और 'त्यत्" शब्द से व्यष्टि रूप, जडचेतन वस्तु का निरूपण, किया गया है, वह प्रलय के समय "अचित् रूप समष्टि "तम" शब्द वाक्य प्रकृति में लीन हो जाती हैं, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इस वाक्य में सद्असद् अनिर्वचनीयता की कोई चर्चा नही है। सद् और असद वस्तु किसी काल विशेष मे रहती ही नहीं, यही बतलाया गया है। "तम" शब्द वाक्य, अचित् समष्टि अर्थ, एक दूसरी श्रुति में इस प्रकार बतलाया गया है– "अव्यक्त अक्षर में लीन हो जाता है, अक्षर तम में लीन हो जाता है, तम परमात्मा से एकीभूत हो जाता है" इत्यादि।

यदि कहो कि—"तम" शब्द से अचित् समिष्ट रूप प्रकृति की सूक्ष्मावस्था बतलाई गई है, यह बात तो यथार्थ है, परन्तु "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इस वाक्य से "माया" शब्द वाक्य अनिर्वचनीय ही ज्ञात होता है। "यह कथन असंगत है, क्योंकि—माया शब्द की अनिर्वचनीयता का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि कहो कि—माया शब्द मिथ्या का पर्यायवाची है, इसलिए अनिर्वचनीय है, सो भी नहीं हो सकता – सभी जगह माया शब्द मिथ्या बोधक नहीं है, असुर, राक्षस, शस्त्र आदि में भी माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है – जैसे कि— "शीघ्रगामी सुदर्शन द्वारा प्रह्लाद की देह रक्षा के लिए, शंबरासुर के हजारों माया (असुर) एक एक करके नष्ट कर दिये गए"। इससे ज्ञात

ankurnagpal108@gmail.com

होता है कि—आश्चर्य कर वस्तु सृष्टि "माया" शब्द वाच्यार्थ है, मिथ्या वस्तु नहीं। विचित्र सृष्टि कारिणी प्रकृति के लिये प्रायः माया शब्द का प्रयोग किया गया है।

"मायी परमेश्वर इसी के द्वारा जगत की सृष्टि करता है, तथा जीव इससे आबद्ध है" इस वाक्य से माया शब्द वाच्य प्रकृति की विचित्र सृष्टि कारिता प्रतीत होती है। परमपुरुष परमात्मा माया संबद्ध होने से मायी कहे गये है, अज्ञ होने से उन्हें मायी नहीं कहा गया है। जीव में, माया शक्ति का संकोच बतलाया है। "तस्मिंश्चान्यो—" "अनादि माया सुप्तो—" 'इन्द्रोमायाभि०' इत्यादि वाक्यो में माया शब्द परमेश्वर की शक्ति वैचित्र्य का ही वाचक है। इसीलिए परमेश्वर को भूरित्वष्टैव राजति" कहा गया है, यदि माया शब्द मिथ्यावाची होता तो उक्त वाक्य के स्थान पर "मिथ्याभूतः कश्चित् विराजते" कहा जाता। मम माया दुरत्यया" इस गीता वाक्य में भी "गुणमयी" पद से उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख किया गया है। इस से ज्ञात होता है कि—कोई भी श्रुति सदसद् अनिर्वचनीया माया का समर्थन नही करती।

नाप्यैक्योपदेशानुपपत्त्या; नहि "तत्त्वमसि" इति जीवपरयो-रैक्योपदेशे सति सर्वज्ञेसत्यसंकल्पेसकलजगत्सर्गस्थितिविनाश हेतुभूते तच्छब्दावगते प्रकृतेब्रह्मणि, विरुद्धज्ञानपरिकल्पनाहेतु भूता कादाचिदप्यनुपपत्तिर्दृश्यते। ऐक्योपदेशस्तु "त्वं" शब्देनापि जीव शरीरकस्य ब्रह्मणएवाभिधानादुपपन्नतरः। "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि" इति सर्वस्य वस्तुनः परमात्मपर्यन्तस्यैव हि नामरूपभाक्त्वमुक्तम्। अतो न ब्रह्माज्ञान परिकल्पनम्। इतिहासपुराणयोरपि न ब्रह्मज्ञानवादः क्वचिदपि दृश्यते।

श्रुति प्रतिपाद्य ऐक्योपदेश से भी ब्रह्माज्ञान कल्पना समझ में नहीं आती। "तत्त्वमसि" जीव परमात्मा के ऐक्योपदेश के प्रसंग में सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, जगत् की सृष्टि स्थिति संहार के कारण परब्रह्म ही "तत्" शब्द वाच्य है, "त्वं" पद भी जीवशरीरीब्रह्म का ही वाचक है। इसलिए ब्रह्माज्ञान की कल्पना समझ में नहीं आती। "इसजीव में प्रवेश

ankurnagpal108@gmail.com

कर नामरूप की अभिव्यक्ति करूँ" इस श्रुति में परमात्मा पर्यन्त समस्त वस्तुओं को नामरूपात्मक बतलाया गया है इसलिए ब्रह्म में अज्ञान कल्पना निष्प्रयोजन सिद्ध होती है। इतिहास पुराण में भी ब्रह्मज्ञानवाद की कहीं चर्चा नही है।

ननु—"ज्योतींषिविष्णुः" इति ब्रह्मैकमेव न त्वमिति प्रतिज्ञाय "ज्ञानस्वरूपो भगवन्यतोऽसौ" इति शैलाब्धिधरादिभेद भिन्नस्य जगतो ज्ञानैकस्वरूपब्रह्माज्ञानविजृम्भितत्वमभिधाय "यदा तु शुद्धं निजरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वस्वरूपावस्थितिवेलायां वस्तुभेदाभावदर्शनेनाज्ञान "विजृंभितत्वमेव स्थिरीकृत्य" वस्त्वस्ति किं ? "महीघटत्वम्" इति श्लोकद्वयेन जगदुपलब्धि प्रकारेणापि "वस्तुभेदानाम "सत्यत्वमुपपाद्यतस्मात् विज्ञानमृते" इति प्रतिज्ञातं ब्रह्मव्यतिरिक्त स्यासत्यत्वमुपसंहृत्य "विज्ञानमेक" इति ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि भेददर्शननिमित्ताज्ञानमूलं निजकर्मैवेति स्फुटीकृत्य 'ज्ञानं विशुद्धम्" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विशोध्य "सद्भाव एवं भवतो मयोक्तः" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः एव सत्यत्वं नान्यस्य, अन्यस्यचासत्यत्वमेव, तस्य भुवनादेः सत्यत्वं व्यावहारिकमिति, तत्त्वं तवोपदिष्टमिति हि उपदेशो दृश्यते।

(शका) विष्णु पुराण मे "विष्णु ज्योति स्वरूप है" इत्यादि श्लोक से ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व बतला कर—"भगवान ज्ञान स्वरूप है" इत्यादि श्लोक मे, शैल समुद्र पृथिवी आदि भेदवाले जगत को ज्ञानमयब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न बतलाकर—"ब्रह्म जब विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है" इत्यादि श्लोक से ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की अपनी स्वरूपावास्थिति वस्तु भेद का अभाव बतलाकर—अज्ञान जन्यता की पुष्टि की गई है फिर बाद में "यथार्थ वस्तु क्या है ?"—"पहिले पृथिवी फिर घट होता है" इत्यादि श्लोक से विभिन्न वस्तु पूर्णजगत की असत्यता का समर्थन करते हुए "विज्ञान से भिन्न कुछ नही है" इस पूर्व प्रतिज्ञात ब्रह्म भिन्न जगत की असत्यता का उपसंहार किया गया है। "विज्ञान ही एकमात्र सत्य है" इसमे ज्ञानस्वरूप ब्रह्म मे भेद दृष्टि करने वाला, अज्ञान मूलक ब्रह्म का

ankurnagpal108@gmail.com

अपना कर्म ही बतलाया गया है, फिर बाद में "विशुद्ध ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के विशुद्ध स्वरूप का निर्देश किया गया है। "मैंने इस प्रकार सद्भाव का निरूपण किया" इत्यादि श्लोकों का तात्पर्य है कि—"ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, बाकी सब मिथ्या है, भुवन आदि समस्त पदार्थों की व्यावहारिक सत्यता है, मैंने तत्त्व की बात तुम्हें बतलादी" ऐसा उपदेश प्रतीत होता है।

नैतदेवम्—अत्र भुवनकोषस्य विस्तीर्णं स्वरूपमुक्त्वा पूर्वमुक्तं रूपान्तरम् संक्षेपतः "श्रूयतामित्यारभ्याभिधीयते। चिदचिद् मिश्रे जगति चिदंशो वाङ्मनसागोचरस्वसंवेद्य स्वरूपभेदो ज्ञानैक्याकारतयाअस्पृष्टप्राकृतभेदो विनाशीति नास्तिशब्दाभिधेयः। उभयंतु परब्रह्मरूप वासुदेव शरीरतया तदात्मकामित्येतद्रूपं संक्षेपेणात्राभिहितम्।

(समाधान) बात ऐसी नहीं है—उक्त प्रकरण में भुवनकोष का विस्तृत स्वरूप बतलाकर, "श्रूयताम्" से उक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप संक्षेप रूप से बतलाया गया है उसमें बतलाता गया कि—यह जगत् जडचेतनमय है; इसका चैतन्यांश–वाङ्मनसगोचर, केवल आत्मवेद्य, विविध भागोंवाला, क्षानाकार, अविनाशी. "अस्ति" शब्द वाच्य है। जीव के कर्मफल से विविध भेदों और आकारों में परिणत जड अंश, विनाशशील "नास्ति" पदवाच्य है दोनों ही परब्रह्म वासुदेव के शरीर, तदात्मक हैं, ऐसा ही संक्षिप्तरूप से स्वरूप का विवेचन किया गया है।

तथापि—"यदम्बु वैष्णवः कायस्ततोविप्रवसुंधरा, पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता।" इत्यम्बुने विष्णोः शरीरत्वेन अम्बुपरिणामभूतं ब्रह्माण्डमपि विष्णोः कायः, तस्य च विष्णुरात्मेति सकल श्रुतिगततादात्म्योपदेशोपवृंहणरूपस्य सामानाधिकरण्यस्य "ज्योतींषिविष्णुः" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभाव एव निबंधनमित्याहुः। अस्मिन् शास्त्रे पूर्वमपि एतदसकृदुक्तम्—"तानि सर्वाणि तद्वपुः"—"सत्सर्वं वै हरेस्तनुः"—"स एव

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वभूतात्मा विश्वरूपोयतोऽव्यय." इति। तदिदंशरीरात्म भावयत्त तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते 'ज्योतींषि विष्णुः" इति।

उक्त तथ्य को ही अन्य श्लोक में बतलाते हैं—"विष्णु के शरीर रूप जल से शैल, सागर आदि युक्त पद्माकार वसुंधरा उत्पन्न हुई" इसमे जल को, विष्णु के शरीररूप से बतलाकर जल के परिणाम रूप इस जगत को भी उनका शरीर स्थानीय कहा गया है। अन्यान्य श्रुतियों मे भी विष्णु को ब्रह्माण्ड की आत्मा बतलाकर ब्रह्माण्ड और विष्णु का सामानाधिकरण्य अभेद बतलाया गया है। ऐसा शरीरात्मभाव ही "ज्योतींषि विष्णुः" से बतलाया गया है। इस शास्त्र में "वह सब उन्ही का शरीर है"—वह सब हरि का तनु है—वह विश्वरूप अव्यय, सभी भूतो के आत्मा हैं।" इत्यादि वाक्यो से यहीबात कईबार कही गई है। शरीरात्मभाव तादात्म्य ही "ज्योतींषि विष्णुः" मे सामान्याधिकरण रूप से कहा गया है।

अनास्त्यात्मकनास्त्यात्मक च जगदन्तर्गतवस्तु विष्णोः कायतया विष्णवात्मकमित्युक्तम्। इदमस्त्यात्मक, इदंनास्त्यात्मकं, अस्य च नास्त्यात्मकत्वे हेतुरयमित्याह 'ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ"—इति अशेषक्षेत्रज्ञात्मनाऽवस्थितस्य भगवतो ज्ञानमेव स्वाभाविकं रूपम्। नदेवमनुष्यादि वस्तुरूपम्। यदेवं, तदेवा—चित् रूप देवमनुष्यशैलाब्धिधरादयश्च तद्विज्ञान विजृम्भिताः; तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवाद्याकारेण स्वात्मवैविध्यानुसंधान मूलाः देवाद्याकारानु धानमूलकर्ममूला इत्यर्थः। यतश्चाचिद्वस्तु क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणपरिणामास्पदं, ततस्तन्नास्ति शब्दाभिधेयम्। इतरदस्ति शब्दाभिधेयमित्यर्थादुक्तं भवति। तदेव विवृणोति—'यदा तु शुद्धं निजरूपि" इति। यदैतद् ज्ञानैक्याकारमात्मवस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसंधानमूलं सर्वकर्मक्षयाद् निर्दोषं परिशुद्धं निजरूपि भवति, तदा देवाद्याकारेणैकीकृत्यात्मकल्पनामूल कर्मफलभूतास्तद्भोगार्थाः वस्तुषु वस्तुभेदाः न भवति।

ankurnagpal108@gmail.com

इस जगत में अस्त्यात्म ओर नास्त्यात्मक वस्तुएं विष्णु की शरीर स्थानीय होने से विष्ण्वात्मक कही गई है। सत् और असत् दोनो में, असत् रूप का कारण इस प्रकार बतलाया एया है--"ज्ञान स्वरूप भगवान इस जगत् में व्याप्त है।" इस वाक्य में बतलाया गया कि--समस्त जीवों में स्थित भगवान का ज्ञानमय रूप ही स्वाभाविक है, देव मनुष्य आदि वस्तु रूप स्वाभाविक नही है। जड देव मनुष्य शैल समुद्र आदि भेद उन्ही के ज्ञान (इच्छा) से स्वयंभूत है, अर्थात् एकमात्र ज्ञानस्वरूप भगवान की जो विविध वैचित्य जनक, देव, मनुष्य, शैल, समुद्र आदि आकार स्मारक कर्मराशि है, वही विचित्रता की प्रतीति कराने वाली है। अचिद् वस्तुएं. जीवो के कर्मानुरूप परिणामवाली है, इसलिए "नास्ति" पद वाच्य है। इससे भिन्न चिद् वस्तु "अस्ति" पद वाच्य है यह भी इसी से ज्ञात होता है। यही बात "यदा तु शुद्ध निजरूपि" इत्यादि में विस्तृत रूप से वर्णित है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा मे जो देव मनुष्य आदि रूप से विविध वैचित्य आरोपित होता है, उसका एकमात्र कारण कर्म ही है, उन समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर, जीवात्मा अपने निर्दोष वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। उस स्थिति मे, देव आदि रूप में आत्मभाव की कल्पना की मूलकारण कर्मराशि विनष्ट हो जाती है तथा कर्मफलानुयायी भोगप्रद वस्तुभेद भी नही रह जाते।

ये देवादिषुवस्तुष्वात्मतयाभिमतेषु भोग्यभूता देवमनुष्यशैलाब्धिधराद्विवस्तुभेदाः, ते तन्मूलभूतकर्मसु विनष्टेषु न भवंति इति अचिद् वस्तुनः कादाचित्कावस्थाविशेषयोगितया नास्तिशब्दाभिधेयत्वं, इतरस्य सर्वदा निजसिद्धज्ञानैक्याकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयमित्यर्थः। प्रतिक्षणमन्यथाभूततया कादाचित्कावस्था योगिनोऽचिद्वस्तुनो नास्तिशब्दाभिधेयत्वमेवेत्याह—"वस्त्वस्ति किम् ?" इति। अस्ति शब्दाभिधेयो हि आदिमध्यपर्यन्तहीनः सततैकरूपः पदार्थः तस्य कदाचिदपि नास्ति बुद्ध्यनर्हत्वात्। अचिद्वस्तु किंचिद् क्वचिदपि तथाभूतं न दृष्टचंर।

ankurnagpal108@gmail.com

देव आदि वस्तुओ में जो आत्मभाव से अभिमत, देव-मनुष्य, शैल-समुद्र-पृथिवी आदि वस्तु भेद है, वे अपने मूल भूत कर्म के विनष्ट हो जाने पर समाप्त हो जाते है। जड़ वस्तु की यह भेद स्थिति सीमित काल वाली होती है, इसीलिए उसे "नास्ति" शब्द से कहा गया है। चिद् वस्तु स्वतः सिद्ध, ज्ञानस्वरूप, सदाविद्यमान रहने वाली होने से "अस्ति" शब्द वाच्य है। प्रतिक्षण में परिवर्त्तनशील, अनियमित स्थिति वाली अचिद् वस्तु की नास्ति शब्द वाच्यता "वस्त्वस्ति किम् ?" इत्यादि श्लोक मे वर्णित है। "आदिमध्यान्तरहित सदा एकसी रहने वाली "अस्ति" शब्द वाच्य वस्तु में, कभी भी "नास्ति" बुद्धि नहीं हो सकती। इसके विपरीत अचिद् वस्तु कही, कभी उक्त रूप में हो नही सकती।

ततः किमित्यत्राह ? "यच्चान्यथात्वमिति" यद्वस्तु प्रतिक्षण अन्यथात्वं याति, तदुत्तरोत्तरावस्था प्राप्त्या पूर्वपूर्वावस्थां जहातीति तस्यपूर्वावस्थस्योत्तरावस्थायां न प्रतिसंधानमस्ति। अतः सर्वदा तस्य नास्तिशब्दाभिधेयत्वमिति। तथाहि उपलभ्यत इत्याह—"मही घटत्वम्" इति। स्वकर्मणादेव मनुष्यत्वादिभावेन स्तिमितात्मनिश्चयैः स्वभोग्यभूतमचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यन्थाभूतमालक्ष्यते अनुभूयत इत्यर्थः। एवं सति किमप्यचिद्वस्तु अस्तिशब्दार्हमादिमध्यमन्तहीनं सततैक रूपमालक्षितमस्ति कि ? न हि अस्तीति अभिप्रायः। यस्मादेवं तस्मात् ज्ञानस्वरूपमात्मव्यतिरिक्तमचिद्वस्तु कदाचित्क्वचित् केवलास्ति शब्दवाच्यं न भवतीत्याह "तस्मान्नविज्ञानमृते" इति। आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया देवादिभेद प्रत्यनीक स्वरूपोऽपि देवादिशरीर प्रवेश हेतुभूत स्वकृत विविध कर्ममूल देवादिभेदभिन्नात्मबुद्धिभिः तेनतेन रूपेण बहुधाऽनुसंहित इति, तद्भेदानुसंधानं नात्मस्वरूप प्रयुक्तमित्याह "विज्ञानमेकमिति"।

यदि कहो कि, उससे क्या होता है ? (उत्तर) अन्यथात्व होता है, अर्थात्—जो वस्तु प्रतिक्षण परिवर्त्तित होती रहती है, वह उत्तरोत्तर अवस्था को प्राप्त करती हुई पूर्वावस्थाओं को छोड़ती जाती है उसकी

ankurnagpal108@gmail.com

उन पूर्वावस्थाओं का उत्तरोत्तरावस्थाओं में स्मरण नहीं रहता इसलिए उसके लिए सदा "नास्ति" शब्द का प्रयोग होता है। "पृथिवी घटरूपता करती है" इत्यादि श्लोक में उक्त उपलब्धि की बात ही कही गई है। जो लोग अपने कर्म के अनुसार देह मनुष्यादि देह प्राप्त करके विश्चित आत्म-स्वरूप का असंदिग्ध रूप से साक्षात्कार करते हैं, वे ही अपनी भोग्य वस्तुओं को प्रतिक्षण परिवर्तनशील देख पाते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं। इस प्रकार कभी भी अचित् वस्तु "अस्ति" शब्द वाच्य, आदि मध्य अन्तहीन, सदा एक रूप देखी गई है क्या ? तो यही कहना होगा कि वह वस्तु ऐसी है ही नहीं तो देखी कैसे जा सकती है। इससे यह मत स्थिर होता है कि–ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न, कोई भी अचिद् वस्तु, कभी किसी भी स्थिति में, "अस्ति" शब्द से उल्लेख्य नहीं है, न हो सकती है। यही बात "तस्मान्न विज्ञानमृते" श्लोक में कही गई है। आत्मा स्वरूपतः एकमात्र ज्ञानस्वरूप होने से, देवादिभेदों से रहित होते हुए भी, देवादिशरीर में प्रविष्ट होने के मूलकारण विविध कर्मों से ही, देवादि रूप विभिन्न भेद बुद्धि वाला होता है, उस भेद बुद्धि से ही आत्मा में भेद प्रतीति होती है, जो कि स्वाभाविक नहीं होती; यही सब "विज्ञानमेकं" श्लोक में बतलाया गया है।

आत्मस्वरूपं तु कर्मरहितं, तत एव मलरूपप्रकृतिस्पर्शरहितम्। ततश्च तत्प्रयुक्त शोकमोहलोभाद्यशेषहेयगुणासंगि, उपचयापचया-नर्हतयैकम्, तत एव सदैकरूपम्। तच्चवासुदेवशरीरमिति तदात्मकं, अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह "ज्ञानं विशुद्धम" इति। चिदंशः सदैकरूपतया सर्वदाऽस्ति शब्द वाच्यः। अचिदंशस्तु क्षण-परिणामित्वेन सर्वदानाशगर्भ इति, सर्वदा नास्ति शब्दाभिधेयः, एवं रूपचिदचिदात्मकं जगद्वासुदेवशरीरं तदात्मकमिति जगद्या-थात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह—"सद्भाव एवं" इति। अत्र "सत्यम् असत्यम्" इति "यदस्ति यत्रास्ति" इति प्रक्रान्तस्योपसंहारः। एतत् ज्ञानैकाकारतया समम्, अशब्दगोचरस्वरूपभेदमेवाचिन्मिश्र भुवनाश्रितं देवमनुष्यादि रूपेण सम्यग्व्यवहार्हभेदं यद्वर्त्तते, तत्र

ankurnagpal108@gmail.com

हेतुः कर्मैवेति उक्तमित्याह—"एतत्तु यत्" इति । तदेव विवृणोति —"यज्ञः पशुः" इति, जगद्याथात्म्य ज्ञानप्रयोजनं मोक्षोपाययतनमित्याह "यच्चैतत्" इति ।

आत्मा का स्वरूप कर्म रहित है, इसलिए वह मलरूप प्रकृति के स्पर्श से भी रहित है; कर्म और प्रकृति से अस्पृष्ट होने से ही वह, शोक-मोह-लोभ आदि निकृष्ट गुणों के संपर्क से रहित, उपचय अपचय आदि अवस्थाओं से रहित, सदा एक रूप रहता है। ऐसा आत्मा ही, वासुदेव का शरीर स्थानीय होने से वासुदेवात्मक है, जगत् में वासुदेव से भिन्न कुछ भी नही है, यही तथ्य "ज्ञानंविशुद्धं" वाक्य में निहित है।

चिदंश सदा एक रूप होने से, सदा "अस्ति" शब्द वाच्य है। अचिदंश, क्षणभंगुर होने से नाशवान होने से "नास्ति" शब्दाभिधेय है। ऐसा जडचेतनमय यह साराजगत वासुदेव का शरीर स्थानीय तदात्मक है; यही जगत का यथार्थ तत्त्व है। "सद्भाव एवम्" वाक्य में यही बात बतलाई गई है। यहाँ "सत्यम् असत्यम्" इत्यादि पद, पूर्वोक्त "यदस्ति यत्रास्ति" पदों के उपसंहार ही है।

चैतन्य ज्ञानाकार अशब्द, अगोचर स्वरूप से मिलकर, यह जडमय जगत, भुवनाश्रित देव-मनुष्यादि रूपों से व्यवहार्य भेदों वाला होता है, इस मिश्रण का हेतु भी कर्म ही है-यही बात "एतत्तुयत्" वाक्य में बतलाई गई है। इसी का विवेचन "यज्ञ:पशुः" इत्यादि में किया गया है। जगत के यथार्थ तत्त्व को जानकर, मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए "यच्चैतत्" वाक्य इसी को बतलाता है।

अत्र निर्विशेषेपरेब्रह्मणि तदाश्रये सदसदनिर्वचनीयं चाज्ञाने, जगतस्तत्कल्पितत्वे वाऽनुगुणं किंचिदपि पदं न दृश्यते अस्ति नास्ति शब्दाभिधेयं चिदचिदात्मकं कृत्स्नंजगत् परमस्यपरेशस्यपरस्यै-ब्रह्मणोः विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम् । ज्ञानैकाकारस्यात्मनो-देवादिविविधाकारानुभवेऽचित्परिणामे च हेतुर्वस्तुयाथात्म्यज्ञान-

ankurnagpal108@gmail.com

विरोधि क्षेत्रज्ञानां कर्मैवेति प्रतिपादनात् अस्तिनास्तिसत्यासत्यं शब्दानां च सदसदनिर्वचनीयवस्त्वभिधानासामर्थ्याच्च नास्त्यसत्य शब्दावस्तिसत्यशब्द विरोधिनौ। अतश्च ताभ्यां असत्वं हि प्रतीयते, नानिर्वचनीयत्वम्।

उक्त प्रसंग में एक भी ऐसा पद नहीं है, जिससे परब्रह्म का निर्विशेष रूप, उसमें सदअसदनिर्वचनीय अज्ञान की सत्ता जगत की मिथ्यात्व आदि की कल्पना की गई हो, अपितु इसमें तो स्पष्ट कहा गया कि-अस्ति—नास्ति शब्दों से प्रतिपादित जडचेतन सारा जगत, परात्पर परमेश्वर ब्रह्म विष्णु का शरीर एवं स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप आत्मा की देव मनुष्य आदि आकारों की प्रतीति और अचित् परिणाम भी, वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरोधी, जीव के शुभाशुभ कर्म ही हैं। अस्ति–नास्ति, सत्य-असत्य आदि शब्दों में भी सद्-असद् अनिर्वचनीय वस्तु के बोधन का सामर्थ्य नहीं है। नास्ति और असत्य शब्द केवल, अस्ति और सत्य शब्दों का विरुद्धार्थ मात्र प्रकाशन करते हैं। इन दो शब्दों से असत्ता मात्र प्रतीत होती है, अनिर्वचनीयता नहीं।

अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वमिथ्यात्वपरौ प्रयुक्तौ, अपितु विनाशित्वपरौ। "वस्त्वस्ति किम्" महीघटत्वम् "इत्यत्रापि विनाशित्वमेव हि उपपादितम्, न निष्प्रमाणकत्वम्, ज्ञानवाध्यत्वंवा। एकेनाकारेणैकस्मिन् कालेऽनुभूतस्य कालान्तरे-परिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्वा नास्ति त्वोपपादनात्। तुच्छत्वं हि प्रमाणसंबंधानर्हत्वम्। बाधोऽपि यद्देशकालादिसंबंधितया नातस्तीत्युपलब्धिः, न तु कालान्तरे, अनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तित्युपलब्धिः कालभेदेन विरोधाभावात्। अतो न मिथ्यात्वम्।

इस प्रसंग में, अचिद् वस्तु के लिए प्रयुक्त नास्ति और असत्य शब्द तुच्छता और मिथ्यात्व के द्योतक नहीं है अपितु विनाशता के वाचक हैं। "वस्त्वस्ति किम्'-मही घटत्वम् वाक्य भी, जड पदार्थ की ध्वंशशीलता के ही प्रतिपादक हैं। निष्प्रमाणकता या ज्ञान वाध्यता के नहीं।

ankurnagpal108@gmail.com

एक समय मे जो वस्तु जिस प्रकार की दीखती है वही वस्तु विकारशील होने से कालान्तर में दूसरे प्रकार की दीखती है, इसी अन्यथा भाव को, उक्त प्रसंग मे नास्ति शब्द से कहा गया है। किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होनी वाली वस्तुस्थिति को तुच्छता, तथा जो वस्तु जिस स्थान और काल में अस्ति बोधक हो वही वस्तु उसी स्थान में नास्ति बोधक हो जाय, उसे वाध्य कहते है। परिणामादि द्वारा जो कालान्तर में नास्ति बोधक होती है उसे बाध नहीं कहते, क्यों कि-विभिन्न काल में एक ही वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्त्व में किसी प्रकार का विरोध नही होता। इसलिए उक्त वाक्य से भी अचिद् वस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध नही होता।

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपमात्मवस्तु आदिमध्यपर्यन्तहीनं सष्टतैकस्वरूपमिति स्वत एव सदास्तिशब्दवाच्यम्। अचेतनं तु क्षेत्रज्ञ भोग्यभूतं तत्कर्मानुगुणपरिणामि विनाशीति सर्वदा नास्त्यर्थ-गर्भमिति नास्त्यसत्यशब्दाभिधेयम्, इति। यथोक्तं—"यत्तु कालान्तरेणापिनान्यसंज्ञामुपैति वै, परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्। अनाशीपरमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते, तत्तुनास्ति न संदेहोनाशिद्रव्योपपादितम्।"

कथन यह है कि-ज्ञानस्वरूप आत्मा, आदि मध्य अन्त रहित, सदा एक रूप में रहने वाला होने से "अस्ति" शब्द वाच्य है। जड पदार्थ, क्षेत्रज्ञ जीव के कर्मानुसार उसी के भोग के लिए, नामरूप से परिणत, विनाशोन्मुख होने से नकारात्मक ही हैं, इसीलिए उन्हें नास्ति और असत्य शब्दों से उल्लेख किया जाता है। जैसा कि कहा भी है—"जो कालान्तर में भी, परिणाम आदि जन्य नामान्तर को प्राप्त नहीं होते वे ही वास्तविक सत्य हैं, पर जगत में कोई ऐसी वस्तु है क्या? महात्मा लोग अविनाशी वस्तु को ही परमार्थ मानते हैं, जड़ पदार्थ में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे अविनाशी कहा जा सके, इसलिए ऐसी कोई भी वस्तु परमार्थ नामक, इस जगत में नहीं है यह निःसंशय बात है।"

देशकालकर्मविशेषापेक्षया अस्तित्वनास्तित्वयोगिनिवस्तुनि केवलास्ति बुद्धि बोध्यत्वमपरमार्थ इत्युक्तम्। आत्मन एव केवला-

ankurnagpal108@gmail.com

स्ति बुद्धि बोध्यत्वमिति स परमार्थ इत्युक्तम्। श्रोतुश्च मैत्रेयस्य—"विष्णवाधारं यथा चैतत् त्रैलोक्यं समवस्थितं परमार्थश्च मे प्रोक्तो यथाज्ञानं प्रधानतः।" इत्यनुभाषणाच्च, "ज्योतोषि विष्णु" इत्यादि सामानाधिकरण्यस्याऽत्मशरीरभाव एव निबंधनम्। चिदचिद् वस्तुनोश्चास्तिनास्ति शब्दप्रयोग निबन्धनम् ज्ञानस्यकर्म निमित्त स्वाभाविक रूपत्वेन न प्राधान्यम्, अचिद्वस्तुनश्च तत्कर्मनिमित्त परिणामित्वेनाप्राधान्यमिति प्रतीयते।

देश काल या क्रिया विशेष में जिसके अस्तित्व और नास्तित्व का का व्यवहार होता है, वह केवल "अस्ति" बुद्धि के साथ-साथ परमार्थ भी है। श्रोता मैत्रेय ने उपदेश श्रवण के बाद कहा कि-वह सारी त्रिलोकी भगवान विष्णु में स्थित है हमारी बुद्धि के अनुसार जगत् की यही परमार्थता आपने कही। " इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—ज्योति और विष्णु का जो अभेद दिखलाया गया है उसमें शरीर शरीरी संबंध ही निहित है। चित् और जड वस्तु में जो अस्ति नास्ति शब्द का प्रयोग होता है, उसमें अकर्मनिमित्तक ज्ञान के वास्तविक रूप का चिन्तन ही कारण है। अचित् वस्तु, ज्ञान साध्यकर्म का ही परिणाम है, इसलिए ज्ञान की अपेक्षा उसकी अप्रधानता प्रतीत होती है।

यदुक्तं — निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्ति वदंति श्रुतयः इति। तदसत्—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं, आदित्यवर्णं-तमसः परस्तात्—तमेवविद्वानमृत इह भवति—नान्यःपंथा विद्यतेऽयनाय", सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि, "न तस्येशे कश्चन् तस्यनाम महद्यश.", य एनं विदुरमृतास्तेभवंति "इत्याद्यनेक वाक्यविरोधात्। ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञानादेव मोक्षं वदंति। शोधक वाक्यान्यपि सविशेषमेव ब्रह्मप्रदिपादयंतीत्युक्तम्।

जो यह कहा कि—"निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति का श्रुतियों में उपदेश है", सो असंगत बात है—"आदित्यवर्ण सूर्य की

ankurnagpal108@gmail.com

तरह स्वप्रकाश, अज्ञानान्धकार से अतीत उस महान् पुरुष को जानकर यहीं अमरता मिलती है, उसके पास पहुँचने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है''—"विद्युत के समान प्रकाशमान उस पुरुष से समस्त निमेष उत्पन्न हुए हैं'' उसका शासक कोई नहीं है, उसका नाम ही महान यश है— " जो इसे जानता है, वह मुक्त हो जाता है ।'' इत्यादि अनेक श्रुतियों में निर्विशेष के विपरीत वर्णन मिलता है । परब्रह्म को सविशेष मानकर ही समस्त वाक्य सविशेष ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष बतलाते हैं । जीव के अज्ञान को दूर करने वाले शोधक (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म आदि) वाक्य भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं ।

तत्वमस्यादि वाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्य-परम्, तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वात् । तत्पदंहि सर्वज्ञं सत्य संकल्पं जगत् कारणं ब्रह्म परामृशति—"तदैक्षत् बहुस्याम्" इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात् । तत् सामानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकंब्रह्म प्रतिपादयति, प्रकारद्वयाव-स्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य । प्रकारद्वय परित्यागे प्रवृत्ति निवृत्त भेदासंभवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्, द्वयोः पदयोः लक्षणा च । "सोऽयंदेवदत्तः" इत्यत्रापि न लक्षणा, भूतवर्त्तमानकालसंबंधितयैक्यप्रतीत्यविरोधात् । देशभेदविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः "तदैक्षत बहुस्यां इत्युपक्रम विरोधश्च । एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानं च न घटते । ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनि-खिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य अज्ञानं तत्का-र्यानन्तांपुरुषार्थाश्रयत्वं च न भवति । वाधार्थत्वे च सामानाधि-करण्यस्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठान लक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषा ।

''तत्त्वमसि'' आदि वाक्य में निर्विशेष वस्त्वैक परक सामानाधिकरण्य (एकता) नहीं है क्यों कि तत् त्वं पद सविशेष ब्रह्म वाचक हैं । ''तत'' पद सर्वज्ञ सत्य संकल्प, जगत कारण परब्रह्म का द्योतक है । "तदैक्षत्

ankurnagpal108@gmail.com

बहुस्यां इत्यादि उसी की प्रकृति के वाचक हैं। "तत्" का सामानाधिकरण्य "त्वं" पद भी अचित् विशिष्ट जीव शरीरी ब्रह्म का प्रतिपादक है। विभिन्न प्रकार के दो पदार्थो की एकार्थ बोधकता को ही सामानाधिकरण्य कहते हैं। तत् और त्वं पद में यदि प्रकार गत भेद नहीं मानेगे तो, प्रवृत्ति निमित्तकता न होगी और भी सामानाधिकरण्य भी छोड़ना होगा, तथा दोनों पदों में लक्षणा (गौणार्थ) करनी पड़ेगी। "यह वही देवदत्त है" इस सुस्पष्ट वाक्य में भी लक्षणा नहीं की जाती, क्यों कि भूत और वर्त्तमान काल में प्रतीतित एक ही व्यक्ति तो है, वह भिन्न स्थान में स्थित देखा गया, पर एक ही समय में तो नहीं देखा गया, जिससे संशय हो सके। विभिन्न काल में दृष्ट होने से, संशय हो ही नहीं सकता। "तत्" पद का यदि निर्विशेष अर्थ करेंगे तो "तदैक्षत बहुस्यां" इस उपक्रम श्रुति से विरुद्धता होगी। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान वाली प्रतिज्ञा भी संगत न होगी। समस्त दोष रहित, कल्याण गुण संपन्न, सर्वज्ञ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान और अज्ञान जन्य दोष भी संलग्न होंगे। यदि कहो कि-तत् त्वं पदों का सामानाधिकरण्य, एकत्व बोधक नहीं, बाधार्थक है; तो तत् त्वं पद के सर्वाधिष्ठान भूत परब्रह्म और जीव के, जीव भाव की निवृत्ति के लिए लक्षणा करनी पड़ेगी, तथा सामानाधिकरण्य के कथित नियम का भी उल्लंघन होगा, साथ ही प्रकरण विरोध आदि दोष होंगे।

इयांस्तु विशेषः–नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्यागत्या परिकल्पनम्, तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्मानुपस्थापनेन बाधानुपत्तिश्च। अधिष्ठानंतु प्राक्तिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्थाप्यत इति चेन्न, प्रागाधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रय भ्रमबाधयोरसंभवात्। भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत्, तदेवाधिष्ठान स्वरूपं भ्रमविरोधीति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रय भ्रमबाधौ। अतोऽधिष्ठानातिरेकि परमार्थिकधर्मतत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रांतिबाधौ दुरुपपादौ। अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव व्याधात्वभ्रमः। राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति, नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन, तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात् भ्रमानुपमर्दित्वाच्च।

ankurnagpal108@gmail.com

एक विशेषता यह होगी कि–"यह रजत नही है" इस बाध्य प्रतीति की तरह तत् त्वं पदों मे किसी प्रकार की बाधा न होते हुए भी (अपने मत के प्रतिपादन के लिए) जबरन बाधा की परिकल्पना करनी पड़ेगी। तत् पद से जिस चैतन्याधिष्ठान की प्रतीति होती है, उसमें उससे भिन्न धर्म की उपस्थापना करने से बाधा उतपन्न भी नही होती।

यदि कहो कि–चैतन्याधिष्ठान के प्रथम अज्ञान तिरोहित रहता है, बाद मे तत् पद से वह प्रकट हो जाता है; सो ऐसा नही है, बाधा के पूर्व यदि अधिष्ठान प्रकाशित न रहेगा तो, आधार रहित भ्रम और बाधा दोनों हो नही सकते। यदि कहो कि भ्रमाश्रय अधिष्ठान अतिरोहित रहता है (केवल बाधा का आश्रय ही आवृत रहता है) सो भी असभव है, जब अधिष्ठान का स्वरूप ही भ्रम का विरोधी है तो वह अधिष्ठान के प्रकाशित स्वरूप के समक्ष टिक भी कैसे सकता है। इससे सिद्ध होता है, कि भ्रम और बाधा अधिष्ठान आश्रित नही हो सकते। उक्त वाक्य में अधिष्ठान के अतिरिक्त किसी पारमार्थिक धर्म और उस धर्म के तिरोधान को माने बिना भ्रम और बाधा का उपपादन करना सहज नही है। पुरुष आकार वाले अधिष्ठान से भिन्न वास्तविक राजत्व के छिपे रहने पर ही बाध्यत्व भ्रम होता है। राजत्व के उपदेश से ही उस भ्रम को निवृत्ति होती है। केवल अधिष्ठान मात्र के उपदेश से नही होती क्योकि–अधिष्ठान तो प्रकाशित रहता ही है, उसके उपदेश की अपेक्षा ही क्या' है उससे भ्रम की निवृत्ति हो भी नही सकती।

जीवशरीर जगत्कारण ब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयं,प्रकार द्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्य च सिद्धम्। निरस्त निखिलदोषस्यसमस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जोवांतर्यामित्व-मप्यैश्वर्यमपरं प्रतिपादितं भवति। उपक्रमानुकूलता च। एक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च, सूक्ष्मचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात् "तमीश्वराणां परममहेश्वरम्" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयतो" अपहत पाप्मा... सत्यकामसत्यसंकल्पः" इत्यादि श्रुत्यंतरा विरोधश्च।

ankurnagpal108@gmail.com

जीव शरीरी, जगत के कारण परब्रह्म के मुख्यार्थ बोधक "तत्" और "त्वं" दो पद हैं, एक ही विशिष्ट वस्तु दो प्रकारों से कही गई है, यही इसका सिद्ध सामानाधिकरण्य है। समस्त दोष रहित कल्याणगुणाकर परब्रह्म की जीवान्तर्यामिता भी एक ऐश्वर्य है, उसका भी प्रतिपादन किया गया है ऐसा मानने से ही उक्त प्रसंग का उपक्रम अनुकूल हो सकता है तथा एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा भी सगत हो सकती है। सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तु जैसे ब्रह्म का शरीर है स्थूल, जड़, चेतन भी उसी प्रकार ब्रह्म का शरीर है, क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म वस्तु का ही कार्य रूप है। "ईश्वर सर्वश्रेष्ठ महेश्वर हैं" "परब्रह्म की अनेक शक्तियां प्रसिद्ध हैं, वह निष्पाप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त मान्यता से अविरुद्ध हैं।

"तत्त्वमसि" इत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमितिचेत् नात्र-किंचिदुद्दिश्य किमपि विधीयते,"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्। अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य ऐतदात्यमिति तस्यैषआत्मेति तत्र प्रतिपादित तत्र च हेतुरुक्तः-"सन्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" इति,"सर्वं खल्विदंब्रह्म तज्जलानितिशान्तः" इतिवत्।

यदि कहो कि-ऐसा मानने से "तत्त्वमसि" में उद्देश्य, विधेय का विभाग कैसे होगा? सो यहाँ किसी के उद्देश्य से किसी की विधि नहीं की गई है, "यह सब कुछ आत्म्य है" इस वाक्य से उक्त बात की पुष्टि होती है। अप्राप्त विषय का प्रतिपादन करना ही शास्त्र का प्रयोजन होता है। "इदं शरीरम्" से सजीव जगत का निर्देश करके "ऐतदात्म्यं" से ब्रह्म को उसका आत्मा बतलाया गया है। "यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है, सब कुछ उसी से उत्पन्न, स्थित और विलीन है, उसी की शांतभाव से उपासना करो" इस वाक्य में जैसे-साधक के शांतभाव अवलंबन के लिए, ब्रह्म का सर्वमय भाव हेतु रूप से बतलाया गया है, वैसे ही वहीं- "हे सौम्य ! सद् ब्रह्म ही समस्त जायमान पदार्थों का मूल आश्रय और विलय स्थान है" इस वाक्य से हेतु द्वारा पूर्व विहित ब्रह्मात्मभाव का समर्थन किया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

तथा श्रुत्यंतराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्मभावमेवतादात्म्यं वदंति–"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानांसर्वात्मा–"यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी अन्तरो यमयति स त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः"–"य आत्मनि तिष्ठन् नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अंतर्याम्यमृतः"–"यः पृथिवीमन्तरे संचरन्" इत्यारभ्य यस्यमृत्युः शरीरम्, यं मृत्युर्नवेद, एष सर्व भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् इत्यादीनि।

तथा अन्य श्रुतियाँ भी ब्रह्मातिरिक्त चित्‌जडात्मक वस्तु के साथ ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव रूप तादात्म्य बतलाती है–"सर्वात्मा परमेश्वर अंतर्यामी रूप से जगत् का शासन करते हैं–"जो पृथिवी में स्थित पृथिवी से भिन्न है, जिन्हे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी ही जिनका शरीर है; जो अंतर्यामी रूप से पृथिवी का सयमन करते है, वही अमृत अंतर्यामी तेरे आत्मा है। "जो आत्मा में स्थित आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा जिन्हे नहीं जानता, आत्मा जिनका शरीर है, जो अंतर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते है, वही अमृत अंतर्यामी तेरे आत्मा हैं, जो कि पृथिवी में संचरण करते हैं"–यहाँ से प्रारम्भ करके–"मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु जिन्हे नहीं जानता, वह अंतर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक मात्र नारायण हैं"–"वह भूतों की सृष्टि करके उनमें प्रविष्ट हो गए तथा कार्य कारण रूप से प्रकट हुए', इत्यादि।

अत्रापि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं च प्रतिपादितम्। "तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यनेनैकाश्यज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते। अतिश्चिदश्चिदात्मकस्यसर्वस्यवस्तुजातस्यब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्व-

ankurnagpal108@gmail.com

वगम्यते । तस्मात् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यकृत्स्नस्यतच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात्तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति। अतः सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगत तत्तत्पदार्थविशिष्ट ब्रह्माभिधायित्वसिद्धमिति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इति प्रतिज्ञातार्थस्य "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येन विशेष उपसंहारः ।

यहाँ भी–"इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम और रूप का विस्तार करूँ" इस वाक्य में ब्रह्मात्मक जीव के अन्तः करण के प्रवेश से ही सभी वस्तुओं का अस्तित्व तथा शब्दवाच्यता बतलाई गई है। "सत् च त्यत् च अभवत्" इस श्रुति के साथ उक्त श्रुति का अर्थसाम्य, इसी अर्थ में होता है। जीव में ब्रह्म के अनुप्रवेश से ज्ञात होता है कि–जीव ब्रह्मात्मक है। तथा यह भी ज्ञात होता है कि–चित् जड सब कुछ ब्रह्म का शरीर है एवं ब्रह्म उन सब का आत्मा है, इस शरीरात्मभाव से ही उनका तादात्म्य प्रतीत होता है। ब्रह्म से भिन्न सब कुछ उसका शरीर है, इसीलिए उनकी सत्ता है उनके प्रतिपादक वाक्य उक्त अर्थ के ही प्रतिपादक हैं, ऐसा मानना चाहिए। लौकिक व्यवहारानुयायी व्युत्पति के अनुसार लौकिक पदार्थ बोधक शब्द तद्विशिष्ट ब्रह्म के ही प्रतिपादक होंगे। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" श्रुति से जो अर्थ प्रतिज्ञात होता हैं, "तत्त्वमसि "वाक्य में सामानाधिकरण्य रूप विशेषण–विशेष्य भाव से उसी का उपसंहार हुआ है।

अतोनिर्विशेषवस्त्वैक्यवादिनो, भेदाभेद वादिन केवल भेद वादिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मात्मभावोपदेशाः सर्वे परित्यक्ताः स्युः। एकस्मिन् वस्तुनि कस्य तादात्म्यमुपदिश्यते ? तस्यैवेति चेत्, 'तत्स्व वाक्यैनैवावगतमिति न तादात्म्योपदेशावसेयमस्ति किंचित् । कल्पित निरसनमिति चेत्, तत्तु न सामानाधिकरण्यतादात्म्योपदेशावसेयमित्युक्तम् । सामानाधिकरण्यं तु ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोधमेवाऽवहेत । भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्ये-

ankurnagpal108@gmail.com

वोपाधिसंसर्गात् तत्प्रयुक्ता जीवगतादोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःष्यु-रिति निरस्तनिखिलदोषकल्याणगुणात्मकब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्तास्स्यु: । स्वाभाविक भेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणस्स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोषब्रह्मतादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव । केवल भेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासंभवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न संभवंतीति सर्ववेदांत परित्यागस्स्यात् ।

स्वयं श्रुति ने ही जब, ब्रह्म को शरीरी तथा जगत को उसका शरीर बतलाया है, तब चाहे सामानाधिकरण्यभाव से हों या वैयधिकरण्य भाव से हो, सारे ही ब्रह्मात्मभाव के उपदेश, निर्विशेषवस्त्वैक्यवादी, भेदाभेदवादी और केवल भेदवादी, इन सभी के लिए त्याज्य है (अर्थात् तीनों ही वाद उन उपदेश वाक्यों का सांमजस्य नही कर पाते)

जरा विचार करें-एक ही (अद्वैत) वस्तु मे किसके तादात्म्य की बात कही जा सकती है ? यदि उसी एक के ही तादात्म्य को मानें सो तो ब्रह्म के स्वरूप बोधक "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म "इत्यादि वाक्यो से ही ज्ञात है, पुनः तादात्म्योपदेश फिर निष्प्रयोजन सिद्ध होगा । अज्ञानकल्पित भेद के निराकरण के लिए तादाम्योपदेश किया गया है, ऐसा भी नही कह सकते, क्योंकि-सामानाधिकरण्य या तादात्म्योपदेश से कल्पित भेद का निराकरण संभव नही है । सामानाधिकरण्य तो ब्रह्म संभाव्य दो प्रकार के प्रतिपादन संबंधी विरोध का परिहार करता है ।

जो भेदाभेदवादी ब्रह्म में उपाधिसंबंध बतलाते है और उस उपाधि से ही जीव में जीवत्व की उपस्थिति स्वीकारते है तब तादात्म्य संबंध मानने से जीवगत कामादि दोष भी ब्रह्म में संक्रामित होंगे । समस्त दोष रहित कल्याण गुणात्मक ब्रह्मात्म भावोपदेश उक्त (औपाधिकभेदाभेद वाद) मत से विरुद्ध ही पड़ते हैं । अतएव उक्त मत से परित्यक्त है ।

जो भेदाभेदवादी, ब्रह्म के जीवभाव को स्वाभाविक मानते है, तो मानो वे जीवगत गुण और दोष दोनों को ही स्वाभाविक मानते

ankurnagpal108@gmail.com

है, ऐसे सदोष जीव के साथ, निर्दोष ब्रह्म का तादात्म्योपदेश सर्वथा विरुद्ध है।

जो केवल भेदवादी हैं, उनके मत से तो अत्यंत भिन्न तत्व जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का कोई प्रश्न ही नहीं हैं, उसमें तो ब्रह्मात्मभावोपदेश संभव ही नही है। अतएव तादात्म्यभाव संबंधी सारे ही वेदात वाक्य इन लोगों के मत से परित्यक्त हैं।

निखिलोपनिषत्प्रसिद्धं कृत्स्नस्यब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशास्सर्वे सम्यगुपपादिता भवति। जातिगुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन विशेषणत्वेन "गौरश्वो-मनुष्योदेवोजातः पुरुषः कर्मभि." इति सामानाधिकरण्यं लोक-वेदयोर्मुख्यमेव दृष्टचरम्। जातिगुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव "षण्डो गौ" शुक्लः पट." इति सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्-मनुष्यत्वादिविशिष्टपिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् "मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मजात." इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबंधनम्, न परस्परव्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् क्वचिद् द्रव्यविशेषणत्वे मत्वर्थीय प्रत्ययोद्रष्टः "दण्डी कुण्डली" इति, न पृथक् प्रतिपत्तिस्थित्यनर्हाणां द्रव्याणां, तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव।

जो लोग सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध समस्त वस्तुओं को ब्रह्म का शरीर मानते हैं, उनके मत में ब्रह्मात्मभावोपदेश सही रूप में संगत होते हैं। मनुष्य आदि जाति और शुक्लता आदि गुण जैसे विशेषण हैं, वैसे ही सारे पदार्थ शरीर रूप से आत्मा के विशेषण हो सकते है। "कर्मानुसार आत्मा, गाय घोड़ा, देव, मनुष्य आदि रूपों से होता है" ऐसा सामानाधिकरण्यघटित प्रयोग, लोक व्यवहार और वेद प्रयोग, सभी जगह मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है "साँड़ गाय" "श्वेत वस्त्र" इत्यादि में जो

ankurnagpal108@gmail.com

षंडत्व जाति और शुक्लतागुण, गो और वस्त्र के विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं वह भी समानाधिकरण्य के नियम से ही होते हैं। मनुष्य आदि जाति विशिष्ट देह पिण्ड भी आत्मा के प्रकार या विशेषण ही हैं। "आत्मा मनुष्य पुरुष षण्ड और स्त्री रूप से हुआ" इत्यादि वाक्यों में किया गया आत्मा और देह पिण्ड का सामानाधिकरण्य व्यवहार, प्रकार रूपी सामानाधिकरण्य संबंधी है। परस्परव्यावृत जातिगुण संबंधी नहीं है। कहीं कही समस्त द्रव्य विशेषण रूप से अन्य द्रव्य के आश्रित होकर मत्वर्थीय प्रत्यय के सहयोग से प्रयुक्त होते हैं, जैसे कि—"दण्डी कुण्डली" इत्यादि। स्वतंत्रभाव से अवस्थित स्वतंत्रभाव से विभिन्न आकारों में प्रतीत द्रव्यों की विशेषणता सामानाधिरण्य से ही व्यवस्थापित होती है।

यदि "गौरश्वो मनुष्यो देवः पुरुषो योषित षण्ड आत्मा कर्मभिः जातः "इत्यत्र "षण्डो मुण्डो गौः शुक्ल पटः "कृष्ण पटः "इति जाति गुणवदात्मप्रकारत्वं मनुष्यादिशरीराणामिष्यते, तर्हि जाति व्यक्त्योरिव प्रकारप्रकारिणोः शरीरात्मनोरपि नियमेन सह प्रतिपत्तिः स्यात्, न चैवं दृश्यते। नहि नियमेन गोत्वादिवदात्माश्रयत येवाऽत्मना सह मनुष्यादिशरीरं पश्यंति। अतो "मनुष्य आत्मा" इति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्, मनुष्यादि शरीराणां अपि आत्मैकाश्रयत्वम्, तदेक प्रयोजनत्वं, तत्प्रकारत्वं च जात्यादि तुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वं आत्मविश्लेषे शरीरस्य विनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वं च तत्कर्मफल भोगार्थ तयैव सद्भावात्। तत्प्रकारत्वमपि "देवो मनुष्यः" इत्यात्म विशेषणतयैत प्रतीतेः। एतदेव हि गवादि शब्दानां व्यक्ति पर्यन्तत्वे हेतुः। एतस्स्वभावविरहादेव दंडकुंडलादीनां विशेषणत्वे "दंडी कुंडली" इति मत्वर्थीय प्रत्ययः। देवमनुष्यादि पिंडानामात्मैकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतत्प्रकारत्व स्वभावात् "देवो मनुष्य आत्मा" इति लोकवेदयोः सामानाधिकरण्येन व्यवहारः जाति-व्यक्त्योर्नियमेन सह प्रतीतिरुभयोश्चाक्षुषत्वात्। आत्मनस्त्वचक्षुषत्वा-

ankurnagpal108@gmail.com

च्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मान गृह्यते । पृथग्ग्रहण योग्यस्य प्रकारतैकस्वरूपत्वं दुर्घटमिति मा वोचः जात्यादिवत् तदेकाश्रयत्व-तदेकप्रयोजनत्वतदविशेषणत्वैः शरीरस्यापि तत्प्रकारतैक स्वभाव-त्वावगमात् । सहोपलम्भनियमस्त्वेकसामग्रीवेद्यत्वनिबंधन इत्युक्तम् । यथा चक्षुषा पृथिव्यादेगंधरसादिसंबंधित्वं स्वाभा-विकमपि न गृह्यते, एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरात्मप्रकारतैक-स्वभावमपि न तथा गृह्यते आत्मग्रहणे चक्षुषः सामर्थ्याभावात् नैतावताशरीरस्य तत् प्रकारत्वस्वभावविरहः । तत्प्रकारतैकस्व-भावत्वमेव सामानाधिकरण्य निबन्धनं, आत्मप्रकारतया प्रतिपादन समर्थंस्तु शब्दस्तहैव प्रकारतया प्रतिपादयति ।

आशंका होती है कि— 'गो, अश्व, मनुष्य, देव, स्त्री, पुरुष, षण्ड आदि आत्मा कर्मों से होते हैं'' इस वाक्य में ''षण्ड मुण्ड गाय'' शुक्ल पट ''कृष्ण पट'' आदि जाति गुण की तरह, यदि मनुष्य आदि शरीर की प्रकारता मानी जाय तो, विशेषण–विशेष्य भावापन्न मनुष्यत्व आदि जाति और मनुष्य आदि व्यक्ति की तरह, प्रकार शरीर और प्रकारी आत्मा की सह प्रतिपत्ति (एक साथ प्रतीति) होने लगेगी । जो कि कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती । गोत्व आदि जाति विशिष्ट रूप में जैसे-गो आदि के शरीर का व्यवहार होता है, वैसे मनुष्य आदि के शरीर को कोई, कभी आत्मनिष्ठ मानकर आत्मा से अभिन्न रूप से व्यवहार नहीं करता । इसलिए 'मनुष्य आत्मा है'' ऐसा सामानाधिकरण्य (आत्मा शरीर का अभेद व्यवहार) लाक्षणिक (गौण) है ।

(समाधान) यह बात ऐसी नहीं है; जाति और गुण की तरह मनुष्यादि शरीर भी एकमात्र आत्माश्रित, आत्मप्रयोजनीय और आत्मा के प्रकार मात्र हैं । मनुष्यादि शरीर आत्माश्रित हैं, ऐसा, आत्मा के विश्लेष होने पर शरीर के विनाश से ज्ञात होता है । आत्मकृति विशेष कर्मों के भोग के लिए ही शरीर की सृष्टि या अस्तित्व होता है, यही शरीर की आत्मैक प्रयोजनीयता है । देव मनुष्य आदि आत्मा के विशेषणों से शरीर की प्रकारता प्रतीत होती है । गो आदि शब्द केवल आत्मा के ही बोधक नहीं, व्यक्ति बोधक भी हैं । इसमें उक्त तीनों ही हेतु हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा सम्बन्ध न होने से, दंड कुंडल आदि पद, विशेषण होते हुए भी, मत्वर्थीय प्रत्यय के योग से दंडी कुंडली रूप विशेषण-विशेष्य भाव के प्रयोग बनते हैं। देव मनुष्य आदि के शरीर स्वभावतः आत्मा के आश्रित, आत्मा के प्रयोजन से प्रयोजित, तथा आत्मा के ही प्रकार होते हैं, इसीलिये लोक और वेद में देवात्मा, मनुष्य आत्मा आदि सामानाधिरण्य प्रयोग होते हैं। जाति और व्यक्ति (देह) दोनों का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए सदा दोनों की एक साथ प्रतीति होती है। आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता नहीं, शरीर का ही एकमात्र प्रत्यक्ष होता है (इसीलिए दोनों की सदा पृथक् प्रतीति होती है) पृथक् प्रतीतिगम्य पदार्थों की प्रकारता संभव नहीं होती, ये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि–एकमात्र आत्मा के आश्रित एवं प्रयोजन साधक तथा आत्मा के विशेषण जात्यादि की तरह, शरीर भी आत्मा का स्वाभाविक प्रकार प्रतीत होता है। जहाँ दो का प्रत्यक्ष एक ही कारण से होता है, वहाँ सहोपलम्भ का नियम (एक साथ प्रतीति) होता है ऐसा पहले भी कह चुके है। जैसे कि पृथिवी के स्वाभाविक गुण, गंध आदि का, पृथिवी के प्रत्यक्ष काल में, चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता; वैसे ही शरीर आत्मा का विशेषण है, पर शरीर के प्रत्यक्ष के समय, आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि-नेत्रों में आत्मा के प्रत्यक्ष का अभाव है। एक साथ प्रतीति न होने मात्र से, शरीर की स्वाभाविक आत्म प्रकारता का अभाव नहीं हो सकता। आत्म विशेषण होने से ही, शरीर आत्मा का अभेद व्यवहार होता है; शब्द ही शरीर की आत्मविशेषणता का प्रतिपादन करने में समर्थ है, शब्द ही शरीर को आत्मा का प्रकार बतलाता है।

ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देनशरीरमात्रं गृह्यत इति नात्मपर्यन्तता शरीर शब्दस्य। नैवम् आत्मप्रकार भूतस्यैव शरीरस्य पदार्थविवेक पदर्शनाय निरूपणान्निष्कर्षशब्दोऽयम्, यथा "गोत्वं शुल्कत्वमाकृतिर्गुणः" इत्यादि शब्दाः।

(शका) शब्द व्यवहार में तो शरीर शब्द से केवल देह मात्र का ही बोध होता है, शरीर शब्द का आत्मापर्यन्त बोध तो होता नहीं ?

(समाधान) नहीं; शरीर आत्मा का विशेषण है इसीलिये पदार्थ कहलाता है (आत्मा के बिना शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता)

ankurnagpal108@gmail.com

"शरीर" शब्द आत्मा का ही निष्कर्ष (परिचायक) है, जैसे कि—गोत्व शुक्लता आदि आकृति गुण वाचक शब्द हैं।

अतो गवादि शब्दवद्देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्यन्ताः एवं देवमनुष्यादि पिंडविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरीरतया तत्प्रकार-त्वात् जीवात्मवाचिनः शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः। अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत्सामानाधिकरण्येन प्रयोगः। अयमर्थो वेदार्थसंग्रहे समर्थितः। इदमेव शरीरात्मभाव लक्षणं तादात्म्यं "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयंति च" इति वक्ष्यति; "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्" इति च वाक्यकारः।

गो आदि शब्द की तरह देव मनुष्य आदि शब्द आत्मापर्यन्त अर्थ के वाचक हैं। ऐसे ही देव मनुष्य आदि पिण्ड विशिष्ट जीव, परमात्मा के शरीर होने से, उन्हीं के प्रकार हैं इसलिए जीवात्मा वाची शब्द परमात्मा पर्यन्त अर्थ के वाचक हैं परब्रह्म के प्रकार होने से ही चिद् अचिद् वस्तुओं की पदार्थता है, इसीलिए उनका परमात्मा के साथ सामानाधि-करण्य (अभेद सम्बन्ध) भाव से प्रयोग होता है। इस विषय का हमने अपने वेदार्थ संग्रह में समर्थन किया है। इसी शरीरात्मभाव लक्षण तादात्म्य को सूत्रकार "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" सूत्र में बतलाते हैं, "आत्मेत्येवतु गृह्णीयात्" ऐसा वाक्यकार का भी कथन है।

अत्रेदं तत्त्वम्-अचिद् वस्तुनः, चिद वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो, भोग्यत्वेन, भोक्तृत्वेन, चेशितृत्वेन च स्वरूप विवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" "मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्" "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मा नावीशते देव एकः", अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यते, प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन, हरतीति हरः। "स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः", प्रधानं क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः", पति विस्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतं"; ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ"; नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानां एको

ankurnagpal108@gmail.com

बहूना यो विदधाति कामान्", भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा", तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति", पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति", अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीं प्रजां जनयंतीं सरूपाम् अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यो", "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानं इति वीतशोकः" इत्याद्याः।

यहाँ तत्त्व ये है कि—जगत् में तीन पदार्थ हैं, अचित् (जड़) चित् (जीव) और परब्रह्म। जो कि क्रमश: भोग्य भोक्ता और परिचालक (ईश्वर) है। ऐसा कुछ श्रुतियों ने स्वरूप विभाग किया है—"मायाधीश इसको लेकर ही जगत की सृष्टि करते है, इस जगत में दूसरा आत्मा जीव, माया से सन्निरुद्ध (मायाधीन) है। माया को प्रकृति तथा मायी को महेश्वर जानो। क्षर सब माया है, अक्षर अमृत है एक देव क्षर अक्षर का शासन करते हैं। "अमृताक्षरं हरः" में भोक्ता (जीव) का निर्देश है; जो अपने लिए प्रधान भोग्य माया को हरण अर्थात् आयत्त करता है, वही हर है"

वह सबका कारण, देह इन्द्रिय आदि के अधिपति जीव का भी अधिपति है, इसका कोई भी जनक और स्वामी नहीं है। वह प्रधान (माया) क्षेत्रज्ञ (जीव) और गुणों का स्वामी है। वह विश्वपति, आत्मा का ईश्वर, नित्य एक रूप, कल्याणमय और अच्युत है। दो अजन्मा हैं, उसमें एक ज्ञ (परमात्मा) दूसरा अज्ञ (जीव) है, एक ईश दूसरा अनीश है। जो नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, अकेला ही अनेक कामनाओं का विधान करता है। भोक्ता (जीव) भोग्य जगत प्रेरिता ईश्वर को जानकर ही। उन दोनों में एक सुस्वादु कर्मफल का आस्वाद करता है, दूसरा आस्वाद न करके केवल देखता ही है। जीव अपने से पृथक् और प्रेरक ईश्वर का मनन करके एवं उसका अनुग्रह प्राप्त कर अमृतत्व प्राप्त करता है। अपने अनुरूप अनेक प्रकार की सृष्टि करने वाली, लाल श्वेत, कृष्ण वर्णवाली, जन्म रहित प्रकृति का एक अज (जीव) प्रीति पूर्वक अनुसरण करता है, दूसरा अज (मुक्तात्मा) यथोपयुक्त इसका भोग करके परित्याग कर देता है। जीव, परमात्मा के साथ देह रूप एक ही वृक्ष पर

ankurnagpal108@gmail.com

अवस्थित मोहित होकर शोक दु:ख का भोग करता है। भक्तियुक्त जीव जब अन्य परमात्मा का दर्शन करता है, तब वीत शोक होकर उसकी महिमा को प्राप्त करता है।" इत्यादि।

स्मृतावपि—"अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां, जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यांति ममिकाम्, कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः, भूतग्राममिमंकृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् हि परिवर्त्तते। प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि। ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्, संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।" इति।

जगद् योनिभूतं महत् ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्मं अचिद् वस्तु यत्, तस्मिंश्चेताख्यं गर्भं यत् संयोजयामि ततो मत्कृतात् चिदचिद् संसर्गात् देवादि स्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां संभवो भवतीत्यर्थः।

स्मृति में भी ऐसा उल्लेख है—"पंच महाभूत मन, बुद्धि, अहंकार आदि आठ विभागों में विभक्त प्रकृति को मेरी अपरा (बहिरंग) प्रकृति समझो। इस प्रकृति से भिन्न मेरी एक परा प्रकृति भी है जो कि जीव स्वरूपा है. उसी से यह जगत विधृत है। प्रलय के समय समस्त भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, सृष्टि के आदि में मैं उसे पुन: प्रकट कर देता हूँ। अपनी प्रकृति की सहायता से पुन: पुन: सृष्टि करता हूं, यह सारे भूत समुदाय प्रकृति के वशीभूत रहते हैं। मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति जड़ चेतन सारे जगत का प्रसव करती है. इसी से जगत् का परिचालन होता रहता है। प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि समझो। अपने अभिव्यक्ति स्थान महद् ब्रह्म (व्यापक प्रकृति) में मैं गर्भ स्थापन करता हूँ, उसीसे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है।" इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

अर्थात् मेरी प्रकृति नामक भूतसूक्ष्म रूप जो जड़ वस्तु है, उसीमें मैं चेतनात्मक गर्भ संयोजन करता हूं, मेरे द्वारा सृष्ट चेतन, अचेतन के संसर्ग से देव से स्थावर तक जड़ चेतन समन्वित समस्त भूतों की सृष्टि होती है।

एवं भोक्तृभोग्यरूपेणावस्थितयोः सर्वावस्थावस्थितयोः चिदचितोः परमपुरुष शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक् स्थिति परंपुरुषस्य चात्मत्वमाहु· काश्चन श्रुतयः—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो यं पृथिवीं न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मंतरो यमयति "इत्यारभ्य" य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः "इति। तथा—"यः पृथिवीमन्तरे संचरन्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद 'इत्यारभ्य" योऽक्षरमंतरे संचरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, यो मृत्युमन्तरे संचरन्यस्य मृत्युः शरीरं य मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" अत्र मृत्यु शब्देन तमः शब्द वाच्यं सूक्ष्मावस्थं अचिद्वस्त्वभिधीयते। अस्यामेवोपनिषदि—"अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसिलीयते" इतिवचनात्। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इति च।

चेतन जीव भोक्ता और अचेतन वस्तु भोग्य है, इस प्रकार भोक्ता भोग्य रूप से अवस्थित सभी अवस्थाओं में सदा एक से स्थित चित् और अचित् परम पुरुष भगवान के ही शरीर हैं और उसी के द्वारा परिचालित हैं, इनमें पृथक् रूप से स्थित रहने का सामर्थ्य भी नहीं है, इसीलिए श्रुतियाँ परमपुरुष को आत्मा रूप से निर्देश करती हैं—"जो पृथिवी में रह कर भी पृथिवी से भिन्न है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी ही जिसका शरीर है, जो अन्तर्यामी रूप से उसका संयमन करता है।" यहाँ से प्रारम्भ करके—"जो आत्मा में स्थित भी उससे पृथक है, आत्मा जिसे नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है, जो अन्तर्यामी होकर आत्मा

ankurnagpal108@gmail.com

का संयमन करता है वही तेरा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है।" तथा —"जो पृथिवी के अन्दर विचरण करता है, पृथिवी जिसका शरीर है, पृथिवी उसे नहीं जानती" यहाँ से प्रारंभ करके—"जो मृत्यु में विचरण करता है, मृत्यु जिसका शरीर है, मृत्यु जिसे नहीं जानता, वही समस्त भूतों के अंतरात्मा निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं।" यहाँ तक। इस प्रसंग में मृत्यु शब्द तमः शब्द वाच्य सूक्ष्मावस्थापन्न अचित् वस्तु का वाचक है; उक्त उपनिषद् में ही इसे तम शब्द वाच्य कहा गया है— "अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन होता है," वह सभी का शासक अन्तर्यामी आत्मा है" इत्यादि।

एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इति इममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थंकारणावस्थं च जगत् स एवेत्याहुः—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्यारभ्य "सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति। तथा "सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदंसर्वमसृजत" इत्यारभ्य—"सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इत्याद्याः।

इस प्रकार सभी अवस्थाओं में अवस्थित चिद् अचिद् सारे ही पदार्थ उसी परमपुरुष के शरीर होने से उसी के प्रकार हैं। कारणावस्थ और कार्यावस्थ समस्त चेतन अचेतन जगत में वह परमात्मा ही स्थित रहता है, इसलिए कुछ श्रुतियाँ जगत की कारणावस्था और कार्यावस्था को परमात्मा की ही अवस्था बतलाती है—"हे सौम्य ! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था, उसने इच्छा की, अनेक रूपों में प्रकट हो जाऊँ, उसने तेज की सृष्टि की" यहाँ से प्रारंम्भ करके—"हे सौम्य ! सद्ब्रह्म ही समस्त जायमान पदार्थों का मूल कारण है, आश्रय और विलय स्थान है, यह सारा जगत आत्म्य है, सब कुछ सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! तुम भी वही आत्म्य हो।" तथा—"उसने कामना की

ankurnagpal108@gmail.com

बहुत होकर जन्म लूं, उसने तप करके सारे जगत की सृष्टि की" ऐसा प्रारंभ करके—"सत् स्वरूप ब्रह्म ही सत्य और असत्य हुआ" इत्यादि।

अत्रापि श्रुत्यतरसिद्धश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूप-विवेक. स्मारितः—"हंताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्म-नाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति—"तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्, तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् विज्ञानं चा विज्ञानं च सत्यं चानृत च सत्यमभवत्" इति च। "अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य" इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वम्, "तदनु प्रविश्य सच्चत्य-च्चाभवत्" विज्ञानं चाविज्ञानं च—' इति अनेनैकार्थ्यात् आत्म-शरीरभावनिबंधनमिति विज्ञायते। एवंभूतमेव नामरूप व्याकरणं" तदवेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत "इत्यत्रा-प्युक्तम्। अत. कार्यावस्थ.कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु शरीरः परंपुरुष एवेति; कारणात् कार्यस्यानन्यत्वेन कारण-विज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततयैक विज्ञानेन सर्व विज्ञानं समीहितमुप-पन्नतरम्। "अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूप व्याकरवाणि" इति "तिस्रो देवता" इति सर्वमचिद् वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मक जीवानुप्रवेशेन नामरूप व्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दाः अचिद् विशिष्ट जीवविशिष्ट परमात्मन एव वाचका इति, कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्त, अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यकारण चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद् वस्तु शरीरकं ब्रह्मैव कारणमिति।

अन्य श्रुतियों मे जो परमपुरुष के जडचेतन स्वरूप का विवरण किया गया है, उसका स्मरण उक्त प्रसग मे भी किया गया है—जैसे कि—"मैं जीवात्मा रूप से इन तीनो भूतो के अन्दर प्रविष्ट होकर नाम रूप अभिव्यक्ति करूँगा, उसने उसकी सृष्टि कर उसी में प्रवेश किया और

ankurnagpal108@gmail.com

सत् (परोक्ष) और त्यत् (अपरोक्ष) हुआ तथा विज्ञान चेतन) अविज्ञान (जड़) एवं सत्य और अनृत हुआ।'' यहाँ "अनेन जीवेन" इत्यादि से जीव की ब्रह्मात्मकता तथा "सच्चत्यच्चा", विज्ञानंचाविज्ञानं इन दो विभिन्नताओं से आत्मशरीर भाव निबंधन ज्ञात होता है। इसी प्रकार नाम रूप की व्याकृति—"सृष्टि के पूर्व यह अव्यक्त था, वही सृष्टि के बाद नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ" इस वाक्य में कही गई है। इससे ज्ञात होता है कि–कार्यरूप और कारणरूप से स्थित स्थूल सूक्ष्म, जड़चेतन वस्तु, परंपुरुष परमात्मा का ही शरीर है। कार्य कभी कारण से भिन्न हो नहीं सकता, कारण स्वरूप परमात्मा को जान लेने से, कार्यरूप सारे जगत का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की बात भी संगत हो जाती है।

"इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रविष्ट होकर नामरूप को अभिव्यक्त करूँगा" इस वाक्य में "तीनों देवता" पद से समस्त अचित् (जड़) वस्तु का निर्देश करके, स्व स्वरूप जीवानुप्रवेश से नाम रूप की अभिव्यक्ति कही गई है; इससे ज्ञात होता है कि–सारे ही वाचक (अर्थबोधक) शब्द, अचिद् विशिष्ट और जीव विशिष्ट, परमात्मा के ही वाचक है। इस प्रकार कारणावस्थ परमात्मा बोधक शब्द 'तत्'' के साथ, कार्यावस्थ बोधक शब्द "त्वं" का सामानाधिकरण्य (अभेदोक्ति) अबाधरूप से संपन्न होता है। इससे जानना चाहिए कि–स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन सारा जगत ब्रह्म का प्रकार है, ब्रह्म स्वयं ही कारण और कार्य रूप है एवं समस्त जगत का उपादान कारण है। सूक्ष्म जड़ चेतन शरीर वाला ब्रह्म ही, स्थूल जड़चेतन का कारण है।

ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः। यथा शुक्लकृष्णरक्ततंतुसंघातोपादान-त्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादि संबंध इति कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियंतृत्याद्यसंकरः। तंतुनांपृ-थक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च। इहतु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात्तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य

ankurnagpal108@gmail.com

इति विशेषः स्वाभावभेदः तदसंकरश्च तत्र चात्र न तुल्यः। एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावादविकृतत्वमुपपन्नतरम्। स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाऽवस्थानात्कार्यत्वमप्युपपन्नतरम्। अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।

[शंका होती है कि, ब्रह्म यदि जगत का उपादान कारण है और जगत उसी का परिणाम है तो दोनों के गुण परस्पर सक्रामित क्यों नहीं हो जाते? उसी का समाधान करते हैं]

ब्रह्म के उपादान होते हुए भी संघात (चेतन अचेतन समष्टि) ही उपादान है, इसलिए जड़चेतन और ब्रह्म में परस्पर सांकर्य नही हो पाता। जसे कि–श्वेत, रक्त, श्याम तंतुओ के समूह, वस्त्र के उपादान है, वस्त्र के भिन्न-भिन्न भागों में शुक्लादि वर्णो का संबंध दृष्टिगोचर होता है, वर्णों का परस्पर साकर्य नही होता, इसी प्रकार चेतन, अचेतन और ईश्वर इन तीनों की समष्टि सारे जगत के उपादान हैं। कार्यावस्था में तीनो की भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता रूप स्थिति पृथक्-पृथक् रहती है, परस्पर सकर भाव नही होता। तंतुओ की पृथक् स्थिति, योग्य (कलाकार) पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहती है, कभी वह संहित होकर कारण रूप और कभी कार्य रूप होती है। किन्तु चेतन, अचेतन वस्तुएं सभी अवस्थाओं में, परमेश्वर की शरीर स्थानीय ही रहती हैं, परमपुरुष के प्रकार के रूप में ही इनका सदा अस्तित्व रहता है, इसी परमात्मा को सर्वदा सर्व शब्द से चिन्तन किया जाता है, स्वभाव भेद और असांकर्य ये दो बातें तो, दोनों में ही (तंतुपट और चिदचिद् ब्रह्म) समान है। ऐसा मानने से परब्रह्म की कार्यानुप्रवेश की स्वाभाविक अवस्थिति भी सुसंगत हो जाती है, ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का अन्यथा भाव या विकार नहीं होता। स्थूलावस्था और नामरूप-विभागावस्था को प्राप्त जड़ चेतन वस्तु के तादात्म्य रूप ब्रह्म की कार्यता भी उपपन्न हो जाती है क्योंकि–अवस्थान्तर की प्राप्ति ही तो कार्यता है।

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणा संबंधादुपपद्यन्ते। "अपहृतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इति हेयगुणान्

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिषिध्य "सत्यकामः संकल्पः" इति कल्याणगुणान्विदधती इयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतम् गुण निषेधं हेयगुण विषयं व्यवस्थापयति ।

हेयगुणों के अभाव से, परब्रह्म को निर्गुण बतलाने वाले वाक्यों का भी समाधान हो जाता है। "वह निष्पाप, जरा, मृत्यु, भूख प्यास रहित है" इत्यादि हेयगुणों का प्रतिषेध करके "वह सत्यकाम सत्यसंकल्प है" इत्यादि कल्याण गुणों की प्रकाशिका यह श्रुति ही विज्ञापन करती है कि—अन्यत्र जो सामान्य रूप से ब्रह्म के गुणों का निषेध किया गया है, वह हेय गुणों का ही है, गुणमात्र का नहीं है।

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेतिवादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्नीक कल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं स्वयंप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः। "यःसर्वज्ञः सर्ववित्", "परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयतेस्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च", "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इत्यादिकाः ज्ञातृत्वमावेदयन्ति। "सत्यं ज्ञानं" इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीयता स्वप्रकाशतया च ज्ञान स्वरूपताम्।

जो श्रुतियां भगवान को ज्ञान स्वरूप बतलाती हैं उनका भी तात्पर्य यह है कि–ब्रह्म स्वभावतः सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और मंगलमय गुणों के आश्रय हैं; ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य रूप से उनके स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता, ज्ञान की तरह वह स्वयं प्रकाश हैं, इसीलिए उन्हें ज्ञान स्वरूप कहा गया है। "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् हैं—" "उनकी स्वाभाविकी पराशक्ति, ज्ञान, बल क्रिया आदि अनेक नामों वाली हैं"—"अरे! उस विज्ञाता को कौन जान सकता है इत्यादि श्रुतियां परमात्मा की ज्ञातृता का वर्णन करती हैं। "सत्यंज्ञानं" आदि श्रुति, ज्ञानैकगम्यता और स्वप्रकाशता के आधार पर उनकी ज्ञान स्वरूपता को बतलाती है।

ankurnagpal108@gmail.com

"सोऽकामयत बहुस्याम्, तदैक्षत् बहुस्याम ' "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति ब्रह्मैव स्वसंकल्पाद्विचित्र स्थिरत्रसरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीक अब्रह्मात्मक वस्तुनानात्वमतत्त्वमिति तत्प्रतिषिध्यते। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति", नेहनानास्ति किंचन", यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्यसर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात् इत्यादिना। न पुनः "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिसिद्धं स्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निषिध्यते। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत" इत्यादिनिषेध वाक्यादौ च तत्स्थापितम्। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मनः सर्ववेद", तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य विश्वसितमेतत यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना।

"उन्होंने कामना की बहुत हो जाऊँ", "उन्होने विचारा बहुत हो जाऊँ", वे नाम रूप में अभिव्यक्त हुए "आदि श्रुति बतलाती है कि—एक ही ब्रह्म अनेक स्थावर जंगम रूपो मे अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकारो मे अवस्थित है। उनसे विरुद्ध जो अब्रह्मात्मक वस्तुओं की विभिन्नता बतलाई जाती है वह असत् है। अब्रह्मात्मक नानात्व का निषेध निम्न वाक्यों से किया गया है—"जो इस जगत को विभिन्न रूपो वाला मानता है, वह पुनःपुनः मृत्यु को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी विभिन्नता नही है", जब द्वैतबुद्धि होती है, तभी दूसरे को दूसरा देखता है, जब इस जगत को आत्मस्वरूप देखता है, तब वह किसके द्वारा किसे देखा जा सकता है ? किसके द्वारा किसे जान सकता है ?" इत्यादि

"बहुत होकर जन्म लू" इत्यादि श्रुतिसिद्ध, स्वसंकल्पकृत ब्रह्म की जो अनेक रूपता है, उसका भी निषेध किया गया हो, ऐसा नही है। 'जब यह सब कुछ आत्म स्वरूप हो जाता है" इस निषेध वाक्य से नानात्व की विशेषता बतलाई गई है। "जो आत्मा से भिन्न सब वस्तुओं का अस्तित्व मानता है, सारी वस्तुएं उसे प्रतारित करती हैं (अर्थात्

ankurnagpal108@gmail.com

वह वस्तुओं से वंचित हो जाता है) "ये ऋग्वेद और यजुर्वेद स्वतः सिद्ध महान परमेश्वर के निश्वास रूप हैं" इत्यादि वाक्यों से उक्त मत की पुष्टि होती है ।

एवं चिदचिदीश्वराणां स्वभावभेदं स्वरूपभेदं च वदंतीनां कार्यकारणभावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं च वदंतीनां सर्वासां श्रुतीनामविरोधः चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हं सूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हं स्थूलदशापत्ति वदंतीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्माज्ञानवादस्यौपाधिकब्रह्मभेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कथंचिदप्यवकाशोदृश्येत । चिदचिदीश्वराणां पृथक् स्वभावतया तत्तच्छ्रुतिसिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकारप्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नता श्रुत्यंतरेण कार्यकारणभाव प्रतिपादनं कार्यकारणयोरैक्य प्रतिपादनं च ह्यविरुद्धम् । यथा-आग्नेयादीनषड्भागानुत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान् समुदायानुवादि वाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमापन्नान् "दर्शपूर्णमासाभ्याम्" इत्यधिकारवाक्यं कामिनः कर्त्तव्यतया विदधाति, तथा चिदचिदीश्वरान्विविक्तस्वरूपस्वभावान् "क्षरंप्रधानममृताक्षरंहरः क्षरात्मानवीशते देव एकः", पतिंविश्वस्यात्मेश्वरम्, "आत्मा नारायणः परः", इत्यादि वाक्यैः पृथक् प्रतिपाद्य "यस्य प्रथिवी शरीरम्", यस्यात्मा शरीरम्, "यस्याव्यक्तं शरीरम्", "यस्याक्षरंशरीरम्", एवं सर्वभूतांतरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः "इत्यादिभिर्वाक्यैश्चिदचितोःसर्वावस्थावस्थितयोः परमात्मशरीरतां परमात्मनस्तदात्मतां च प्रतिपाद्य शरीरीभूतपरमात्माभिधायिभिः सद्ब्रह्म हि आत्मादिशब्दैः कारणावस्थःकार्यावस्थश्च परमात्मैक एवेति पृथक् प्रतिपन्नं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्", ऐतदात्म्यमिदं

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयति। चिदचिद वस्तुशरीरिणः परमात्मनः परमात्मशब्देनाभिधाने हि नास्ति विरोधः, यथा मनुष्यपिण्डशरीरकस्यात्मविशेषस्य "अयमात्मा सुखी" इत्यात्मशब्देनाभिधान इत्यलमतिविस्तरेण।

चेतन, अचेतन और ईश्वर के स्वरूप और स्वभावगत भेद को बतलाने वाले वाक्यों में भी जो कार्यकारणभाव और कार्यकारण की अभिन्नता बतलाने वाले वाक्य हैं, उनमें परस्पर मतभेद प्रतीत होता है, परंतु जड़चेतन का सदा परमात्मा से शरीरात्म भाव; जड़चेतन की, कारणदशा में नामरूप विभाग रहित सूक्ष्मदशा; कार्यावस्था में नाम विभाग वाली स्थूलदशा को बतलाने वाली श्रुतियों से उक्त मदभेद का परिहार हो जाता है। ब्रह्मज्ञानवाद हो या औपाधिक ब्रह्म भेदवाद हो, अथवा कोई भी वाद हो, वे सारे ही वाद अयुक्ति मूलक श्रुति विरुद्ध हैं, उन सबका कुछ भी महत्व नहीं है। चेतन, अचेतन और ब्रह्म स्वभातः भिन्न है, यह श्रुतिसिद्ध बात है। "ईश्वर आत्मा है, समस्त जडचेतन उसका शरीर है" इत्यादि धर्म-धर्मी बोधक श्रुतियों से उक्त बात समर्थित है। अन्य श्रुतियों में इनका जो कार्यकारण भाव और कार्यकारण अभेद बतलाया गया है वह अविरुद्ध ही सिद्ध होता है।

जैसे आग्नेय आदि ६ यज्ञ, पृथक उत्पत्ति वाक्यों से पृथक ही विहित हैं, पुनः इन सबको दो वाक्यों द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया है, और अन्त में "दर्श और पूर्णमास नामक यज्ञ करो" इस अधिकार वाक्य द्वारा समस्त भाग को सकाम व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य रूप से कहा गया है; उसी प्रकार विभिन्न स्वरूप, विभिन्न स्वभाव वाले जडचेतन ईश्वर को "प्रधान (जड) क्षर है, अमृत हर (जीव) अक्षर है, क्षर अक्षर का आत्मा एक ईश्वर देव है"—"प्रधान, क्षेत्रज्ञ और गुणों का वह ईश्वर है"—" उस विश्वपति और आत्मेश्वर—नारायण परमात्मा को "इत्यादि वाक्यों से बतलाकर "पृथ्वी जिसका शरीर—आत्मा जिसका शरीर-अव्यक्त जिसका शरीर अक्षर जिसका शरीर है, ऐसे सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं "इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्यों से हर अवस्था वाले जडचेतन को परमात्मा का शरीर और उनसे परमात्मा की तदात्मकता बतलाई गई चेतन अचेतन के आत्मभूत परमात्मा के बोधक "सत्-ब्रह्म और आत्मा" शब्दों से कारणावस्थ कार्यावस्थ परमात्मा की एकता को पृथक तीन वस्तुओं के रूप में "यह सब कुछ सत् ही था"—यह सब कुछ आत्म्य है "—" यह सब ब्रह्म है" प्रतिपादन किया गया है। चिदचिद् वस्तुशरीरी परमात्मा का, परमात्मा शब्द से उल्लेख, विरुद्ध नहीं है। जैसे कि—मनुष्यपिण्ड शरीरी आत्मा के लिए "यह सुखी आत्मा है" ऐसा प्रयोग किया जाता है। अब इस प्रसंग को यहीं पूर्ण करते हैं, अधिक विस्तार नहीं करेंगे।

यत्पुनरिदमुक्तम्-ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैवाविद्यानिवृत्तिर्युक्ता इति, तदयुक्तम्, बंधस्यपारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् पुण्यापुण्यरूपकर्मनिमित्तदेवादिशरीरप्रवेश तत्प्रयुक्त सुखदुःखानुभव रूपस्य बंधस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम्। एवंरूपबंधनिवृत्तिर्भक्तिरूपापन्नोपासनप्रीतपरमपुरुषप्रसादलभ्येति पूर्वमेवोक्तम्। भवदभिमतस्यैक्यज्ञानस्ययथावस्थितवस्तुविपरीतविषयस्य मिथ्यारूपत्वेन बंधविवृद्धिरेव फलं भवति। "मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः "इति शास्त्रात्।" उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः "—" पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा इति जीवात्मविसजातीयस्य तदंतर्यामिणोब्रह्मणोज्ञानं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमित्युपदेशाच्च।

जो यह कहा कि—"ब्रह्म आत्मा की एकता के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है", यह भी असंगत बात है, क्यों कि—बंधन जब पारमार्थिक है तो उसका छुटकारा, ज्ञान द्वारा संभव नहीं है। पाप पुण्य कर्मों के कारण देवादि शरीरों का प्रवेश, तदनुसार सुखदुःखादि की अनुभूति रूप से होने वाला बंधन मिथ्या है, ऐसा कहना समीचीन नहीं है। ऐसे बंधन की निवृत्ति तो भगवत् शरणागति रूप भक्ति उपासना से लब्ध परमात्मा की कृपा से ही संभव है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। आपके

ankurnagpal108@gmail.com

अभिमत अद्वैत ज्ञान से जब वस्तु की यथार्थ भेदस्थिति और मिथ्यात्व का आभास होता है तो (मेरी समझ से) बधन की वृद्धि ही होती है।" एक वस्तु कभी अन्य वस्तु नही हो सकती, इसलिए (जीव की ब्रह्म भावोक्ति) मिथ्या है" इस शास्त्र वाक्य से उक्त बात पुष्ट होती है। "उत्तम पुरुष (परमात्मा) अन्य है"—"आत्मा और प्रेरिता को भिन्न मानकर' इत्यादि वाक्यो मे जीवात्मा से विलक्षण, अन्तर्यामी परब्रह्म के ज्ञान को ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन बतलाया गया है।

अपि च भवदभिमतस्यापि निवर्त्तकज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात्तस्य निवर्त्तकान्तरं मृग्यम्। निवर्त्तकज्ञानमिदं स्वविरोधि सर्वं भेदजातं निवर्त्य क्षणिकत्वात्स्वयमेव नश्यतीति चेन्न, तत् स्वरूप तदुत्पत्तिविनाशाना काल्पनिकत्वेन विनाशतत् कल्पनाकल्पकरूपाविद्याया निवर्त्तकांतरमन्वेषणीयम्। तद्विनाशो ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्, तथा सति निवर्त्तक ज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्, तद्विनाशे तिष्ठति तदुत्पत्त्यसंभवात्।

एक बात और भी है कि—आपका अभिमत अज्ञान निवर्त्तक (अद्वैत) ज्ञान ही जब मिथ्या है (बुद्धि विज्ञान असत्य होता है) तो उस मिथ्या निवर्त्तक ज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी अन्य निवर्त्तक ज्ञान की खोज करनी पड़ेगी। यदि यह निवर्त्तक ज्ञान अपने विरोधी भेद का क्षण भर में निराकरण करके स्वयं विनष्ट हो जाता है, तब तो इस ज्ञान के स्वरूप, उत्पत्ति और विनाश सब कुछ काल्पनिक सिद्ध होगे, इसलिए उसके निवारण के लिए अविद्या निवारक अन्य साधन की खोज ही श्रेयस्कर है। अविद्या विनाश को ही यदि ब्रह्म स्वरूप कहा जाय तो निवर्त्तक ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। उसके विनाश में उसी की उत्पत्ति संभव नही है।

अपि च चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं ज्ञाता? अध्यासरूप इतिचेत्, न, तस्य निषेध्यतया निवर्त्तक

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञान कर्मत्वात् तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमिति चेत्, ब्रह्मणो निवर्त्तकज्ञानंप्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपम्; उताध्यस्तम्। अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासस्तन्मूलविद्यांतरं च निवर्त्तकज्ञान विषयतया तिष्ठत्येव। निवर्त्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयाऽनवस्था स्यात्। ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वेऽस्मदीयएव पक्षः परिगृहीतः स्यात्। निवर्त्तक ज्ञानस्वरूपंस्वस्य ज्ञाता च ब्रह्म व्यतिरिक्तत्वेन स्वनिवर्त्यान्तर्गतमिति वचनं "भूतलव्यतिरिक्तं कृत्स्नं देवदत्तेन छिन्नम्" इत्यस्यामेव छेदनक्रियायामस्य छेत्तुरस्याश्छेदन क्रियायाश्चच्छेद्यानुप्रवेशवचनवदुपहास्यम्। अध्यस्तो ज्ञाता स्वनाशहेतुभूतनिवर्त्तकज्ञाने स्वयंकर्त्ता च न भवति। स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वात्। तन्नाशस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमे भेददर्शनतन्मूलाविद्यादीनां कल्पनमेव न स्यात्। इत्यलमनेन दिष्टहतमुदगराभिघातेन।

एक बात और भी विचारणीय है कि– चिन्मात्र ब्रह्म से भिन्न समस्त पदार्थों के निवारक ज्ञान का ज्ञाता कौन है? अध्यास तो ज्ञाता हो नहीं सकता, क्यों कि–वही तो प्रत्याख्यान का विषय है, वह तो निवर्त्तक ज्ञान का कर्म ही हो सकता है, उसमें स्वयं ज्ञातृत्व नहीं हो सकता। यदि ब्रह्मस्वरूप को ही ज्ञाता कहते हो तो अविद्या निवर्त्तक ज्ञान संबंधी ब्रह्म की जो ज्ञातृता है वह उसका अपना स्वरूप है अथवा अध्यस्त (अविद्याकल्पित) रूप है? यदि अध्यस्तरूप है, तो अध्यास और अध्यास की मूलकारण एक और अविद्या होगी, जो कि-निवर्त्तक ज्ञान का विषय न होने से सदा बनी रहेगी। यदि उसके निवारण के लिए एक और निवारक ज्ञान की कल्पना करते हो तो, उस ज्ञान को भी ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों में अन्तर्भूत करना होगा, फिर उसका ज्ञाता कौन होगा? फिर तो अनवस्था हो जायगी। यदि ब्रह्म के स्वरूप की ज्ञातृता स्वकारते हो तो, हमारा ही पक्ष स्वीकारते हो।

ब्रह्म को अविद्या निवर्त्तक ज्ञान स्वरूप और उसका ज्ञाता मानकर, ब्रह्म से भिन्न स्वनिवर्त्य पदार्थ के अन्तर्गत मानें तो "देवदत्त ने

ankurnagpal108@gmail.com

पृथिवी को छोड़कर सब कुछ छेदन कर दिया" इस उदाहरण में छेदन क्रिया का कर्त्ता स्वय ही छिन्नकर्म भी है, इस उपहासास्पद उदाहरण की तरह होगा। अध्यस्त ज्ञाता अपने नाश के, कारण निवर्त्तक ज्ञान का स्वयं कर्त्ता नहीं हो सकता, अपना ही नाश कोई पुरुषार्थ नही है। यदि अध्यस्त रूप के विनाश की ब्रह्मरूपता स्वीकारते हो तो, जागतिक भेद, भेद प्रतीति और तन्मूला अविद्या आदि की कल्पना नही हो सकती। अस्तु भाग्य के मारे पर अब और अधिक मुसल प्रहार नहीं करेंगे, इतना ही कथन बहुत है।

तस्मादनादिकर्मप्रवाहरूपाज्ञानमूलत्वाद्बंधस्य तन्निबर्हण-मुक्तलक्षणज्ञानादेव। तदुत्पत्तिश्चाहरहरनुष्ठीयमानपरमपुरुषाराधन-वेषात्मयाथात्म्यबुद्धिविशेषसंस्कृतवर्णाश्रमोचितकर्मलभ्या। तत्र केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वम्, अनभिसंहितफलपरमपुरुषाराधन-वेषाणां कर्मणां उपासनात्मकज्ञानोत्पत्तिद्वारेणब्रह्म याथात्म्यानु-भवरूपानन्तस्थिरफलत्वं च कर्मस्वरूपज्ञानादृते न ज्ञायते। केवलाकारपरित्यागपूर्वक यथोक्तस्वरूपकर्मोपादानं च न संभवतीति कर्मविचारानन्तरं तत एव हेतोः ब्रह्मविचारः कर्त्तव्य इति "अथातः" इत्युक्तम्।

अनादि कर्म प्रवाह रूप अज्ञान मूलक बंधन का निवारण उक्त प्रकार के ज्ञान से ही हो सकता है। अहर्निश भगवदाराधन से होने वाली आत्मविषयक यथार्थ बुद्धि विशेष से तथा परिष्कृत वर्णाश्रमोचित कर्म से ही उक्त ज्ञान का उदय होता है। केवल कर्मानुष्ठान का फल अल्प और अस्थायी होता है; फलवासना रहित, परम पुरुष की आराधनात्मक कर्मों की उपासनात्मक ज्ञानोत्पत्ति से ब्रह्म का यथार्थ, अनंत और स्थिर अनुभव होता है। कर्म का स्वरूप ज्ञान के बिना नही जाना जा सकता। ज्ञान रहित कर्मानुष्ठान के त्याग करने मात्र से, परम पुरुष के आराधना-त्मक कर्म का अनुष्ठान नही हो सकता, इसलिए कर्म विचार के बाद आराधना के मुख्य हेतु ब्रह्म का विचार आवश्यक है यही "अथातः" पद का तात्पर्य है।

ankurnagpal108@gmail.com

तत्र पूर्वपक्षवादी मन्यते-वृद्धव्यवहारादन्यत्रशब्दस्य बोधकत्वशक्त्यवधारणासंभवात्, व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपरत्वेन कार्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमिति कार्यरूप एव वेदार्थः। अतो न वेदांताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति। न च पुत्रजन्मादिसिद्धवस्तुविषयवाक्येषुहर्षहेतूनांकाललयवर्त्तिनां अर्थानामानंत्यात् सुलग्नसुखप्रसवादिहर्षहेत्वर्थान्तरोपनिपात संभावनया च प्रियार्थप्रतिपत्तिनिमित्तसुखविकासादिलिंगेनार्थ विशेष बुद्धिहेतुत्व निश्चयः, नापिव्युत्पन्नेतरपादविभक्त्यर्थस्य पदातरार्थ निश्चयेन प्रकृत्यर्थनिश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धवस्तुन्यभिधान शक्ति निश्चयः, ज्ञातकार्याभिधायिपदसमुदायस्य, तदंशविशेष निश्चयरूपत्वात्तस्य। न च सर्पाद् भीतस्य "नायं सर्पो रज्जुरेषा" इति शब्द श्रवणसमनंतरं भयनिवृत्तिदर्शनेन सर्पाभावबुद्धिहेतुत्व निश्चयः अत्रापि निश्चेष्टं निर्विशेषमचेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थबोधेषु बहुषुभयनिवृत्तिहेतुषुसत्सु विशेषनिश्चयायोगात्। कार्यबुद्धि प्रवृत्तिव्याप्तिबलेन शब्दस्य प्रवर्त्तकार्थावबोधित्वमभ्युपगतमिति सर्वपदानां कार्यपरत्वेन सर्वैः पदैः कार्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनान्नान्यान्वितस्वार्थमात्रे पदशक्ति निश्चयः। इष्टसाधनताबुद्धिस्तु कार्यबुद्धिद्वारेण प्रवृत्ति हेतुः, न स्वरूपेण, अतीतानागतवर्त्तमानेष्टोपायबुद्धिषु प्रवृत्त्यनुपलब्धेः। 'इष्टोपायो हि मत्प्रयत्नादृते न सिध्यति, अतोमत्कृतिसाध्यः, इतिबुद्धिर्यावन्न जायते, तावन्न प्रवर्त्तते। अतः कार्यबुद्धिरेव प्रवृत्तिहेतुरिति प्रवर्त्तकस्यैव शब्दवाच्यतया कार्यस्यैव वेदवेद्यत्वात् परिनिष्पन्नरूप ब्रह्मप्राप्तिलक्षणानंतस्थिरफलाप्रतिपत्ते "अक्षय्य ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिभिः कर्मणामेव स्थिरफलत्वप्रतिपादनाच्च कर्म

ankurnagpal108@gmail.com

फलाल्पास्थिरत्व ब्रह्मज्ञान फलानंतस्थिरत्वज्ञान हेतुको ब्रह्मविचारा रम्भो न युक्त:—इति ।

सूत्रार्थ योजनारम्भ:—पूर्व पक्षवादी कर्म मीमांसकों की मान्यता है कि–वृद्ध व्यवहार (प्राचीनों के शब्द प्रयोग से) रहित शब्द की अवबोधन शक्ति का अवधारण संभव नहीं है (अर्थात् किस शब्द का क्या अर्थ है, यह नहीं जाना जा सकता) वृद्ध व्यवहार कार्य बुद्धि (क्रियानुष्ठान दृष्टि) के विना हो नहीं सकता । कार्य रूप में ही शब्द की प्रामाणिकता है (वस्तुबोधन में शब्द की प्रामाणिकता नहीं है) अत: यज्ञादि कर्मानुष्ठान का प्रतिपादन ही वेद का मुख्यार्थ स्वीकारना होगा । स्वत: सिद्ध परब्रह्म के प्रतिपादक वेदांत वाक्यों का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता । और न केवल पुत्रजन्मादि बोधक (पुत्रस्तेजात: इत्यादि) हर्षोत्पादक वाक्यों की तरह ब्रह्म बोधक वेदांत वाक्यों की प्रामाणिकता हो सकती है । त्रिकालवर्ती हर्षोत्पादक अनंत और असंख्य कारणों में विशेष शुभ लग्न शुभ प्रसव आदि हर्ष की संभावना तथा प्रिय संगठन सूचक वक्ता के हर्षोल्लासपूर्ण मुख आदि को देखकर निश्चित किया जाता है कि—कोई विशेष प्रसंग उपस्थित है [केवल कथनमात्र से पुत्रजन्म की बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती] अव्युत्पन्न (यौगिक अर्थ रहित) शब्द की विभक्ति के अर्थ निर्धारण में, निकटस्थ दूसरे पद के अर्थ से अथवा प्रकृति शब्द के अर्थ से, शब्द की सिद्ध वस्तुता की अभिधा शक्ति का निश्चय होता है । पर उक्त प्रसंग में वह नियम भी लागू न होगा, क्यों कि–यहाँ प्रसिद्ध कार्य बोधक सारे शब्द अंशविशेष (विभक्ति) से ही अर्थ निश्चय करा देते हैं । और न, सर्प से भयभीत व्यक्ति को "यह सर्प नहीं रस्सी है" इतना कहने मात्र से निर्भय देखा जाता है, केवल कहने से, सर्प के प्रति अभाव बुद्धि नहीं हो सकती जिससे कि भीत व्यक्ति सर्पाभाव का निश्चय कर सके । निश्चेष्ट, निर्विष, अचेतन आदि अनेक भय निवृत्ति कारक कारणों से यह निश्चय नहीं हो पाता कि यथार्थ क्या है (यदि सर्प है तो निश्चेष्ट क्यों है ? संभवत: चुपचाप पड़ा हो, छूने से काट लेगा तो विष चढ़ जायगा इत्यादि भ्रांतियाँ, रस्सी बतलाने पर भी बनी रहती हैं)

ankurnagpal108@gmail.com

कार्य्य बुद्धि, प्रवृत्ति और व्याप्ति के बल से शब्द का प्रवर्त्तक अर्थावबोध होता है। [अर्थात् शब्द मात्र की प्रवृत्ति को बतलाने वाले रूप से अर्थावबोधकता होती है; कार्य विषयक ज्ञान और कार्य विषयक प्रवृत्ति घटित अर्थावबोध से निश्चित होता है कि-] सारे ही शब्द कार्य परक एवं विशेष कार्य प्रतिपादक होते हैं। क्रिया संबंधी अर्थ प्रतिपादन से ही समस्त शब्दों की शक्ति का निश्चय होता है [अर्थात् क्रिया सम्पर्क रहित पद में अर्थावबोधकता नहीं होती] इष्ट साधनता बुद्धि, जो कि प्रवृत्ति की मूलहेतु है, वह भी सीधे न होकर क्रिया बुद्धि द्वारा ही होती है, इसीलिए अतीत, अनागत और वर्त्तमान में जो इष्ट साधन रहते हैं, उनका ज्ञान रहते हुए भी प्रवृत्ति नहीं होती। "ये इष्ट उपाय मेरे प्रयत्न के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, ये मेरे प्रयास से ही साध्य है, मुझे इनके लिए प्रयास करना चाहिए" ऐसी बुद्धि जब तक नहीं होती, तब तक प्रवृत्ति हो नही सकती, इसलिए कार्यबुद्धि ही लोक प्रवृत्ति की मूल हेतु है। लोक प्रवृत्ति का हेतु भूत अर्थ ही जब शब्द का प्रकृत वाच्यार्थ है तो, कार्य को ही वेद का प्रतिपाद्य विषय माना जायगा (सिद्ध वस्तु प्रतिपादन उसका विषय नहीं हो सकता) अतः स्वतः सिद्ध ब्रह्म प्राप्ति रूप अनंत और नित्य फल, केवल प्रतीति या ज्ञान द्वारा नहीं हो सकता। "चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले पुण्यात्मा अक्षय फल पाते हैं" इत्यादि कर्मों की प्रतिपादक श्रुतियों में स्थिर फल का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यह कहना कि—कर्मफल अल्प और अस्थिर तथा ब्रह्म ज्ञान फल अनन्त और स्थिर बतलाने वाला ब्रह्मविचारात्मक, प्रारंभ, इस ग्रंथ में किया गया है, असंगत बात है।

अत्राभिधीयते-निखिललोकविदितशब्दार्थसंबधावधारणप्रकारमनुपद्य सर्वशब्दानां अलौकिकैकार्थविवोधित्वावधारणं प्रमाणिकाः न बहुमन्यन्ते। एवं किल बालाः शब्दार्थ संबंधमवधारयंति मातापितृप्रभृतिभिरम्बातातमातुलादीन् शशिपशुनरमृगपक्षिसर्वादींश्च "एममवेहि इमं चावधारय" इत्याभिप्रायेण, अंगुल्यानिर्दिश्य तैस्तैः शब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु बहुशः शिक्षिताः शनैः शनैः तैस्तैरेव शब्दैःसंबंधातेषुतेष्वर्थेषु स्वात्मनां बुद्धयुत्पत्ति दृष्ट्वा शब्दार्थयोस्संबन्धान्त रादर्शनात्

ankurnagpal108@gmail.com

सकेतयितृपुरुषाज्ज्ञानाच्चतेष्वर्थेषु तेषांशब्दानां प्रयोगो बोधकत्वं निबंधन इति निश्चिन्वंति। पुनश्च व्युत्पन्नेतर शब्देषु, "अस्यशब्द-स्यायमर्थः" इति पूर्ववृद्धैः शिक्षिताः सर्वशब्दानामर्थमवगम्य पर-प्रत्यायनाय तत्तदर्थावबोधि वाक्यजातं प्रयुंजते। प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थसंबंधावधारणं सुशकम् केनचित् पुरुषेण हस्तचेष्टादिना "पितास्ते सुखमास्ते" इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः "पितास्ते सुखमास्ते" इति शब्दं प्रयुंक्ते। पार्श्व-स्थोऽन्यो व्युत्पित्सुमूकवच्चेष्टाविशेषज्ञस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमं ज्ञात्वाऽ-नुगतस्तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तं इम शब्द श्रुत्वा "अयं शब्दस्तदर्थंबुद्धि-हेतुः" इति निश्चिनोति-इति कार्यार्थं एव व्युत्पत्तिरिति निर्बन्धो निर्निबन्धनः। अतो वेदांताः परिनिष्पन्नं परंब्रह्म, तदुपासनं चाप-रिमितफलं बोधयंतीति तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारः कर्त्तव्यः।

इस पर उत्तर पक्ष का कथन यह है कि–सामान्यतः शब्द और अर्थ सम्बन्धी (वाच्य वाचक भाव) अवधारण की प्रसिद्ध प्रणाली को छोड़कर समस्त शब्दों की अलौकिक अर्थावबोध की प्रणाली का प्रतिपादन प्रामाणिकों की दृष्टि में बहुमान्य नहीं हो सकता। अबोध बालक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की वे अपने माता पिता आदि गुरुजनों से "मां, पिता, मामा आदि, चन्द्र, पशु, नर, मृग, पक्षी, सर्प आदि को अंगुली के निर्देश से इनको जानो और याद रक्खो" शिक्षा प्राप्त करते हैं; इस प्रकार उन-उन शब्दों का वही वही अर्थ अनेक बार बतलाने पर धीरे-धीरे उन उन शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते देखकर तथा उन शब्दों को किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होते न देखकर, संकेत करने वाले व्यक्ति के बिना भी वे बालक अपनी बुद्धि से उन शब्दों की उन्हीं अर्थों में प्रयोग बोधकता निश्चित कर लेते है। अव्युत्पन्न शब्दों में "इस शब्द का यह अर्थ है" अपने पूर्वजों से जानकर दूसरों को प्रबोधित करने के लिये और स्वतः भी भिन्न भिन्न अर्थ बोधक वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

अन्य प्रकारों से भी शब्दार्थ सम्बन्ध का अवधारण किया जा सकता है। "तुम्हारे पिता सुख पूर्वक हैं, ऐसा देवदत्त से कह देना" ऐसा हाथ से चेष्टा पूर्वक किसी व्यक्ति के बतलाने पर कोई व्यक्ति उस समाचार को बतलाने में "तुम्हारे पिता सुख से है" ऐसा प्रयोग करता है। मूक की तरह चेष्टा या हस्त संकेत मात्र से समझने वाला कोई अन्य व्यक्ति, जो कि उस वार्ता को देख रहा था, जानने की इच्छा से सदेशवाहक व्यक्ति के पीछे पीछे जाकर, संदेश में प्रयुक्त उन्हीं शब्दों को सुनकर अपनी धारणा बनाता है कि–यह शब्द उस आदिष्ट अर्थ बोध का कारण है। इसलिए-कार्य बोधक वाक्य से ही व्युत्पत्ति (शब्दार्थ सम्बन्ध ग्रहण) हो–ऐसा आग्रह निराधार है। इससे निश्चित होता है कि–वेदांत वाक्य, स्वतःसिद्ध परब्रह्म और उनकी उपासना तथा उस उपासना के अपरिमित फल के बोधक है; इसलिए वेदांतार्थ के निर्णय के लिए ब्रह्म विचार कर्त्तव्य है।

कार्यार्थत्वेऽपि वेदस्य ब्रह्मविचारः कर्त्तव्य एव। कथम "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो, मंतव्यो निदिध्यासितव्य.", सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः", विज्ञाय प्रज्ञांकुर्वीत"; दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः तस्मिन् यदंतः तदन्वेष्टव्यंतद्वाव विजिज्ञासितव्यम्", "तत्रापि दहरं गगनं विशोकः तस्मिन्यदंतः तदुपासितव्यम्"— इत्यादिभिः प्रतिपन्नोपासनविषयकार्याधिकृतफलत्वेन "ब्रह्मविद आप्नोति परम्" इत्यादिभिः ब्रह्मप्राप्ति श्रूयत इति ब्रह्मस्वरूप तद्विशेषणानां दुःखासंभिन्नदेशविशेषरूप स्वर्गादिवत्, रात्रिसत्र-प्रतिष्ठादिवत्, अपगोरणशतयातनासाध्यसाधनभाववच्च, कार्योपयोगितयैव सिद्धेः।

वेद की कार्यार्थता स्वीकारने पर भी ब्रह्म विचार ही कर्त्तव्य है। यदि पूछें कि कैसे ? तो सुनिये—"अरे आत्मा ही देखने सुनने, मनन करने और चिंतन करने योग्य है", वही अन्वेषणीय और जिज्ञास्य है, "उसे जानकर धारणा बनाओ", इसमें जो सूक्ष्म आकाश है, उसके अन्दर

ankurnagpal108@gmail.com

वाला अन्वेषणीय है, उसे ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, वहां पर भी जो दुःख रहित सूक्ष्म आकाश है उसके अन्दर स्थित की उपासना करनी चाहिये" इत्यादि श्रुतियो में जो उपासना विहित है "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुतियो मे, उसी उपासना के निश्चित फल ब्रह्म प्राप्ति का, उल्लेख किया गया है। दुःख संपर्क शून्य स्थान विशेष स्वर्ग की तरह, रात्रि सत्र से प्राप्त प्रतिष्ठा की तरह, तथा अपगोरण (ब्राह्मण) और शत यातना के साध्य साधन भाव की तरह, यहाँ भी कार्य विशेष के उपयोगी ब्रह्म के स्वरूप और गुणों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

"गामानय" इत्यादिष्वपि वाक्येषु न कार्यार्थे व्युत्पत्तिः भवदभिमत कार्यस्य दुर्निरूपत्वात्। कृतिभावभाविकृत्युद्देश्य हि भवतः कार्यम्। कृत्युद्देश्यं च कृतिकर्मत्वम्। कृतिकर्मत्वंच कृत्याप्राप्तुमिष्टतमत्वम्। इष्टतमं च सुखं वर्त्तमान दुःखस्य तन्निवृत्तिर्वा। तत्रेष्टसुखादिना पुरुषेण स्वप्रयत्नात् ऋते यदि तदासिद्धिः प्रतीता, ततः प्रयत्नेच्छुः प्रवर्त्तते पुरुष इति न क्वाचि-दपि इच्छयाविषयस्य कृत्यधीन सिद्धत्वमंतरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किंचिदप्युपलभ्यते। इच्छाविषयस्य प्रेरकत्व च प्रयत्नाधीनसि-द्धित्वमेव तत एव प्रवृत्तेः न च पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वं, यतः सुखमेव पुरुषानुकूलम्। न च दुःखनिवृत्तेः पुरुषानुकूलत्वं "पुरुषानुकूल सुखं तत्प्रतिकूलं दुःखम्" इति हि सुखदुःखयोः स्वरूप विवेकः। दुःखस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्तिरिष्टा भवति, नानुकूलतया। अनुकूल प्रतिकूलान्वयविरहे स्वरूप्रेणावस्थितिर्हि दुःखनिवृत्तिः अतः सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेः अनुकूलत्वं न सभवति। न सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वम्, दुःखात्मकत्वातस्य। सुखार्थतयाऽपि तदुपादानेच्छामात्रमेव भवति। न च कृतिप्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, भवत्पक्षेशेषित्वस्यानिरूपणत्वात्।

ankurnagpal108@gmail.com

"गाय लाओ" इत्यादि वाक्यों में भी कार्यार्थिक व्युत्पत्ति नहीं है। आपके अभिमत, कार्य का, कौन सा रूप, उक्तवाक्य में निहित है, यह समझ में नहीं आता। पुरुष की चेष्टा के अस्तित्व में ही जिसका अस्तित्व है तथा पुरुष की चेष्टा ही जिसका उद्देश्य है वही तो आपके कार्य का स्वरूप होगा। चेष्टा के उद्देश्य का तात्पर्य है, चेष्टा का कार्य या विषय। चेष्टा के कर्म का तात्पर्य है, चेष्टा द्वारा प्राप्त अभिलषित इष्ट। सुख या उपस्थित दुःख की निवृत्ति ही तो मनुष्य का अभिलषित इष्ट होता है। इष्ट सुख प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को यह आभास होता है कि—अपने स्वतः प्रयास के बिना, इष्टसिद्धि संभव नहीं है, इसलिए प्रयास की इच्छा से वह कार्य में प्रवृत्त होता है। इच्छित विषय के प्रयत्नाधीन हुए बिना प्रयत्न उद्देश्यता, कभी देखी नहीं जाती [अर्थात् बिना प्रयास के उद्देश्य की प्राप्ति किसी को होती नहीं] ''यह अभीष्ट विषय मेरे प्रयास के अधीन है'' ऐसा भान होने के बाद ही कार्य में प्रवृत्ति होती है, इसी को प्रयत्नाधीन सिद्धि कहते हैं। सुख ही जब मनुष्य का अनुकूल विषय है तो कृति के उद्देश्य (चेष्टा के विषय) को पुरुष के अनुकूल नहीं कहा जा सकता, और न दुःख की निवृत्ति ही पुरुषानुकूलता है। सुख मनुष्य का अनुकूल तथा दुःख प्रतिकूल होता है, यही सुख दुःख संबंधी विवेक है। प्रतिकूल होने के कारण ही दुःख की निवृत्ति इष्ट होती है, न कि अनुकूल होने से। अनुकूल और प्रतिकूल संबंध शून्य स्वरूपावस्थिति ही तो दुःख निवृत्ति कहलायेगी [अर्थात् दुःख निवृत्ति ही सुख नहीं है, दुःख निवृत्ति की अवस्था में न सुख रहता है न दुःख] सुख रहित क्रियाओं में अनुकूलता हो नहीं सकती, और न सुखार्थ साधन होने से ही उन्हें अनुकूल कहा जा सकता है, क्योंकि सारे साधन प्रायः दुःखात्मक ही होते हैं। सुखार्थक तो वे तभी हो सकते हैं, जब उन्हें अपनी इच्छा से सुख के साधन बनाया जाय [अर्थात् दुःख की निवृत्ति में जो स्थिति होती है, उसे शान्ति कहा जा सकता है, वह शान्ति सुख का साधन तो है, पर जभी है जब कि मनुष्य, साधन रूप उस शान्ति को, साध्य रूप चिर शांति बनाये रखने के लिए, अनवरत प्रयास करता रहे, अन्यथा वह शांति भी खलने लगेगी] क्रिया के शेष को भी क्रिया का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आपका ही मत है कि—शेपिता अनिरूपणीय तत्त्व है।

ankurnagpal108@gmail.com

न च परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्त्यर्हत्वंशेषत्वमिति तत् प्रति-संबंधी शेषीत्यवगम्यते । तथासति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत्साध्यस्य शेषित्वाभावात् । न च परोद्देशप्रवृत्त्यर्हतायाशेषत्वेन परः शेषी, उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात् प्रधानस्यापि भृत्योद्देश-प्रवृत्त्यर्हत्वदर्शनाच्च । प्रधानस्तु भृत्यपोषणेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्त्तत इति चेन्न, भृत्योऽपि हि प्रधानपोषणे स्वोद्देशेनैव प्रवर्त्तते; कार्य स्वरूपस्यैवानिरूपणात् "कार्यप्रतिसंबंधी शेषः, तत्प्रतिसम्बंधी शेषी" इत्यप्यसंगतम् ।

दूसरे फल के उद्देश्य से प्रारंभ किये गये प्रयास के अनुगत विषय को शेष तथा उसके संपर्कित विषय को शेषी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि—कृति (प्रयत्न) ही जब शेष नहीं हो सकता, तो उससे संपर्कित साध्य विषय ही, शेषी कैसे हो सकता है। परोद्देश्य प्रवृत्ति योग्य को शेष तथा पर को शेषी कहें, ऐसा भी असंभव है, क्योंकि-पर वस्तु की उद्देश्यता ही निरूपित हो सकती है। प्रधान की भृत्य के प्रति प्रवृत कराने की क्षमता देखी जाती है [प्रधान स्वयं भृत्य के शासन में प्रवृत्त होता नहीं देखा जाता] यदि कहो कि—प्रधान भृत्य का पोषण, अपने उद्देश्य से ही करता है, सो ऐसा नही, भृत्य भी तो प्रधान की सेवा अपने उद्देश्य से करता है। इस प्रकार कार्य के स्वरूप का निरूपण ही जब दुरूह है, तो कार्य प्रतिसंबंधी शेष और उसके प्रतिसंबंधी शेषी का ऐसा निर्देश भी असंगत है।

नापि कृतिप्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, पुरुषस्य कृत्यारम्भ प्रयोजनमेव हि कृतिप्रयोजनम् । स चेच्छाविषयः । तस्मादिष्ट-त्वातिरेकिकृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात् कृतिसाध्यताकृति प्रधानस्वरूपं कार्यं दुर्निरूपमेव ।

कृति (प्रयत्न) के प्रयोजन को ही कृत्युद्देश्य नहीं कह सकते। मनुष्य के कार्यारम्भ का प्रयोजन ही वस्तुतः कृति का प्रयोजन होता है,

ankurnagpal108@gmail.com

वह पुरुष की इच्छा का विषय होता है। इसलिए जब कि इष्टता (इच्छाविषता) से भिन्न कृत्युद्देश्यता नही हो सकती तो कृति साध्य (यत्ननिष्पाद्य) कृति प्रधान विषय को ही कार्य कहना कठिन है।

नियोगस्यापि साक्षादिषिविषयभूत सुखदु:खनिवृतिभ्यामन्यत्वा त्तत्साधतयैवेष्टत्वं कृतिसाध्यत्वं च। अत एव हि तस्य क्रियाति-रिक्तता, अन्यथा क्रियैव कार्यं स्यात्; स्वर्गकामपदसमभिव्याहारा-नुगुण्येन लिगादिवाच्यं कार्यं स्वर्गसाधनमेवेतिक्षणभंगिकर्मातिरेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्वमेव कार्यमिति स्वर्गसाधनतोल्लेखेनैव हि अपूर्व व्युत्पत्तिः। अतः प्रथमनमन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्यस्थान-न्यार्थत्वनिर्वहणायापूर्वमेव पश्चात् स्वर्गसाधन भवतीत्युपहास्यम्। स्वर्गकामपदान्वितकार्याभिधायिपदेन प्रथमप्यनन्यार्थतानभिधानत् सुखदु:खनिर्वृत्ति तत्साधनेभ्यो अन्यस्यानन्यार्थस्याकृतिसाध्यता प्रतीत्यनुपपत्तेश्च।

सुखदु:ख निवृत्ति दोनों ही इच्छा के विषय हो सकते है (विधि-वाक्यगत) नियोग, सुख दु:ख निवृत्ति से पृथक् वस्तु है। नियोग के विषय में जो इच्छा होती है, वह सुख दु:ख निवृत्ति विषयक ही होती है, तथा उसके साधन रूप नियोग की इष्टता और कृति साध्यता भी होती है; इसी से उसकी, क्रिया से भिन्नता होती है, अन्यथा क्रिया ही कार्य हो जाय (अर्थात् अनुष्ठान और फल एक हो जाय) स्वर्गकाम पद के साथ एक योग में संबंधित "लिंग" आदि विभक्ति से जो कार्य प्रतीत होता है, वही स्वर्ग का साधन है। इससे ज्ञान होता है कि–क्षणभंगुर याग आदि कर्मो से पृथक् एवं चिरस्थायी स्वर्ग साधन, "अपूर्व" (पाप-पुण्यरूप अदृष्ट) ही कार्य है। स्वर्ग साधनोल्लेख से "अपूर्व शब्द के अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार" अपूर्व "और" कार्य "जब एक ही वस्तु है तब दोनों की अभिन्नता के लिए पहिले उसे "अपूर्व" कह कर उसे ही स्वर्ग साधन बतलाना उपहासास्पद बात है। "स्वर्गकाम" पद के साथ संबद्ध कार्य बोधक पद, पहिले भी अभिन्नता अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता, क्यों कि–सुखदु:ख निवृत्ति और उन दोनों के साधन से भिन्न "अनन्यता" अर्थ कभी कृतिसाध्यता ज्ञान से उत्पन्न नहीं हो

ankurnagpal108@gmail.com

सवता [तात्पर्य यह है कि-स्वर्गकाम: अश्वमेधेन यजेत" यह विधिवाक्य पहिले "लिंग" विभक्ति से यज्ञ की कर्त्तव्यता बतलाता है पुन: "स्वर्गकाम" से संबद्ध होकर यज्ञ की स्वर्गसाधनता का अर्थ प्रतिपादन करता है। यज्ञ एक अल्प कालीन क्रिया मात्र है, इससे कालांतरभावी स्वर्ग साधन होना संभव नही है इसलिए यज्ञ के अतिरिक्त "अपूर्व" नामक यज्ञ फल को स्वीकारना पड़ता है। यज्ञ के उपयुक्त फल न होने तक वह "अपूर्व" रहता है, फलावाप्ति कराकर वह समाप्त हो जाता है। स्वर्ग सुख की स्वाभाविक लालसा होती है, उस सुख की प्राप्ति के लिए ही लोगो की यज्ञ की ओर प्रवृत्ति होती है। इसलिए "अपूर्व" और "कार्य" पहिले अभिन्न रूप से माने जाये बाद मे स्वर्ग के साधन माने जाये, यह बात समझ मे नही आती]

अपि च किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम्? सुखवन्नियोगस्याप्यनुकूलत्वमेवेति चेत्; किं नियोगस्सुखम्, सुखमेव हि अनुकूलम्। सुखविशेषवन्नियोगापरपर्यायं विलक्षणं सुखान्तरमिति चेत्; किं तत्र प्रमाणमिति वक्तव्यम् स्वानुभवश्चेत्, न, विषयविशेषानुभवसुखवन्नियोगानुभवसुखमिदमिति भवताऽपि नानुभूयते। शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतया प्रतिपादनात् पश्चात्तु भोक्ष्यत् इति चेत्, किं तन्नियोगस्य पुरुषार्थत्ववाचिशास्त्रम्। न तावल्लौकिकं वाक्यं तस्यदु:खात्मकक्रियाविषयत्वात् तेन सुखादिसाधनतयैव कृतिसाध्यतामात्र प्रतिपादनात्। नापि वैदिकं, तेनापिस्वर्गादि साधनतयैव कार्यस्य प्रतिपादनात्। नापिनित्यनैमितिकशास्त्रम् तस्यापि तदभिघायित्वं स्वर्गकामवाक्यस्थापूर्वव्युत्पत्तिपूर्वकमित्युक्तरीत्या तेनापि सुखादिसाधनकार्याभिधानमवर्जनीयम्। नियतैहिक फलस्य कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानान्नाद्यरोगतादि व्यतिरेकेण नियोगरूप सुखानुभवानुपलब्धेश्च नियोग: सुखमित्यत्र न किंचन प्रमाणमुपलभामहे अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुख प्रकारकीर्त्तनवन्नियोगरूपसुख प्रकारकीर्त्तनं भवताऽपि न दृष्टचरम्।

ankurnagpal108@gmail.com

मैं पूछता हूँ कि– इस विधिवाक्यस्थ नियोग की प्रयोजनता क्या है ? यदि सुख की तरह अनुकूलता ही नियोग की प्रयोजनता है, तो क्या सुख ही नियोग है ? क्यों कि सुख ही एकमात्र अनुकूल होता है। यदि सुख विशेष की तरह नियोग को भी एक प्रकार का सुख ही मानते हो तो इसका तात्पर्य हुआ कि नियोग, सुख का नामांतर मात्र है; इसबात को भी प्रमाणित करना पड़ेगा। अपने अनुभव को ही प्रमाण नहीं कह सकते, विषय विशेष के अनुभूत सुख की तरह "नियोगानुभव में सुख हुआ" ऐसा तो आप भी नहीं कह सकते। यदि शास्त्र से, नियोग का पुरुषार्थ रूप से प्रतिपादन करने से उसकी भोग्यता (सुखरूपता) निश्चित होती है तो नियोग को पुरुषार्थ बतलाने वाले वे शास्त्र वाक्य कौन से हैं ? लौकिक वाक्यों को तो (नियोगवाची) कह नहीं सकते, क्यों कि–उनमें प्राय: दुःखात्मक क्रिया का ही वर्णन है, जिससे सुखादि साधन रूप से ही कर्त्तव्यता का प्रतिपादन होता है। वैदिक वाक्यों को भी (नियोगवाची) नहीं कह सकते उनमें भी प्राय: स्वर्ग साधनरूप से कार्य का प्रतिपादन होता है। नित्य नैमित्तिक क्रिया विधायक शास्त्र भी (नियोगवाची) नहीं कहे जा सकते, क्यों कि–"स्वर्गकाम: यजेत्" से जिस "अपूर्व" शक्ति की कल्पना की जाती है, उसके अनुसार ही नित्य नैमित्तिक क्रिया विधायक वाक्यों की अर्थ बोधकता कल्पित होती है; इस प्रकार उनसे भी सुखादि साधन रूप कार्य का ही प्रतिपादन होता है, जो कि अनिवार्य है। जिन कर्मो का फल इस लोक में ही निश्चित है, उन कर्मों का अनुष्ठान करने पर, फलस्वरूप अनुभूत, असन, वसन निरोगता आदि के अतिरिक्त, "नियोग" जन्य किसी विशेष सुख की उपलब्धि तो होती नहीं; जिससे नियोग को सुख कहा जाय, अत: "मियोग" का सुख मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

अर्थवाद आदि वाक्यों में भी स्वर्गादि सुख के जो प्रकार कहे गए हैं, उनकी तरह, नियोग रूप सुख के प्रकार का वर्णन तो संभवत: आपको भी किसी शास्त्र में दृष्टिगत न हुआ होगा।

अतो विधिवाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्त्तृव्यापार साध्यतामात्रं शब्दानुशासनसिद्धमेव लिंगादेर्वाच्यमित्यध्यवसीयते। धात्वर्थस्य च यागादेरग्न्यादि देवतान्तर्यामिपरंपुरुषसमाराधनरूपता, समाराधि-

ankurnagpal108@gmail.com

[illegible] पुरुषात्फलसिद्धिश्चेति "फलमत उपपत्ते:" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते। अतोवेदान्ता: परिनिष्पन्नं परंब्रह्म बोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्त्यंस्थिरत्वं च सिद्धम्। चातुर्मास्यादि कर्मस्वपि केवलस्यकर्मण: क्षयिफलत्वोपदेशादक्षयफलश्रवणं "वायुश्चांतरिक्षं चैतदमृतम्" इत्यादिवदापेक्षिकं मंतव्यम्।

अत: केवलानां कर्मणामल्पास्थिरफलत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य चानंतस्थिरफलत्वात् तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारारम्भोयुक्त इति स्थितम्।

इससे सिद्ध होता है कि–विधिवाक्यों में कर्त्ता की कार्य साध्यता मात्र ही, लिंग आदि धातु का शब्दानुशासन (व्याकरण) सिद्ध सही वाच्यार्थ है। अग्नि आदि देवताओं के भी अन्तर्यामी परमपुरुष भगवान की सम्यक् आराधना तथा आराधित परमपुरुष से होने वाली फलसिद्धि ही, यागादि शब्द वाच्य "यज्" धातु का मुख्यार्थ है; "फलमत उपपत्ते:" सूत्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया जायगा। वेदांत वाक्य स्वत: सिद्ध परं ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, उसी से ब्रह्मोपासना की अनंत और स्थिर फलता भी सिद्ध होती है। चातुर्मास्य आदि कर्मों में भी केवल कर्म के फल को नाशवान् बतलाया गया है। "वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं" इस वाक्य में जैसे "अमृत" का अर्थ आपेक्षिक है (अर्थात् अन्यों की अपेक्षा चिरस्थायी है) वैसे ही चातुर्मास्यादि व्रतों का फल आपेक्षिक है।

इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान संबंध रहित केवल कर्मों का फल अल्प और अस्थिर तथा ब्रह्म ज्ञान का फल अनंत और स्थिर है, अत: ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप निरूपण के लिए ब्रह्म विचार करना आवश्यक है, यही मत निश्चित होता है।

२ जन्माद्यधिकरण—

किं पुनस्तद्ब्रह्म, यज्जिज्ञास्यमुच्यते, इत्यत्राह:—

जिसे जिज्ञास्य कहा गया है, वह ब्रह्म कैसा है? इसी आकांक्षा का समाधान करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

जन्माद्यस्य यतः १।१।२—

जन्मादीति, सृष्टिस्थितिप्रलयम् तद्गुण संविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिंत्यविविधविचित्ररचनस्यनियतदेशकालफलभोग ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतः। यतः—यस्मात् सर्वेश्वरान्निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात्सत्यसंकल्पाद्ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमकारुणिकात् परस्मात् पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः वर्त्तन्ते; तत् ब्रह्मेति सूत्रार्थः।

जन्मादि का अर्थ है, सृष्टि, स्थिति और प्रलय। यहाँ तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है। अस्य का अर्थ; अचिन्त्य, विविध, विचित्र रचनात्मक, नियमित देश-काल-फलोपभोग संपन्न, ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त, जीवों से युक्त जगत् है। यतः का तात्पर्य है--जिस, हीन दोष रहित, सत्यसंकल्प, ज्ञानआनंदादि अनंत कल्याणमय गुणवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमकारुणिक, सर्वेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा, से सृष्टि-स्थिति-प्रलय का प्रवर्त्तन होता है, वही ब्रह्म है। यही सूत्रार्थ है।

पूर्वपक्षः—भृगुर्वैवारुणिः, वरुणं पितरमुपससार, अधीहिभगवो ब्रह्म"—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तदब्रह्म"—इति श्रूयते। तत्र संशयः किमस्माद्वाक्यात् ब्रह्मलक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यते, नवा इति। किं प्राप्तं ? न शक्यमिति, न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति, अनेकविशेषणव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसक्तेः, विशेषणत्वंहि व्यावर्त्तकत्वम्।

"वरुण पुत्र भृगु, वरुण के निकट जाकर कहते हैं —भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दें"—जिससे यह सारा भूत-समुदाय उत्पन्न होता है, जिसके आधार पर जीवित रहता है, तथा प्रयाण के समय जिनमें लीन हो जाता है, उसी को जानने की चेष्टा करो वही ब्रह्म है—"ऐसा श्रुति प्रमाण है। यहाँ संशय होता है कि— इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण जाना जा सकता है या नहीं ? कह सकते हैं कि— नहीं जान सकते, क्यों कि— उक्त वाक्य में जन्म आदि विशेषणों वाले ब्रह्म का व्याख्यान है, अनेक

ankurnagpal108@gmail.com

विशेषणों से युक्त मानने से ब्रह्म में अनेकता आजायगी। विशेषणता का अर्थ ही पार्थक्य साधक होता है।

ननु "देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षः समपरिमाणः" इत्यत्र विशेषणबहुत्वेऽप्येक एव देवदत्तः प्रतीयते। एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म भवति। नैवम्—तत्र प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतेः एकस्मिन्नेव विशेषणानामुपसंहारः। अन्यथा तत्रापि व्यावर्त्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम्। अत्र त्वनेनैवविशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणैक्यमनवगतमिति व्यावर्त्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम्।

(तर्क) "देवदत्त श्यामवर्ण का युवा, लालनेत्रों वाला सुडौल व्यक्ति है" इस वर्णन में, अनेक विशेषणों वाला एकही व्यक्ति कहा गया है, वैसे ही उपर्युक्त ब्रह्मलक्षण बोधक श्रुति वाक्य में अनेक विशेषणों वाले एक ही ब्रह्म का वर्णन है [वितर्क] ऐसी बात नही है क्यों कि– देवदत्त के वर्णन में तो, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से एक देवदत्त की स्पष्ट प्रतीति होती है, इसलिए अनेक विशेषणों का समन्वय हो जाता है, यदि स्पष्ट प्रतीति न होती तो, विशिष्टता ज्ञापक पार्थक्य से अनेकता अनिवार्य हो जाती। ब्रह्म के प्रसंग में तो, विशेषणों द्वारा ही लक्षण बतलाने की चेष्टा की गई है, किसी अन्य प्रमाण से तो उसकी एकता ज्ञात होती नही, इसलिए विभिन्न विशेषताओं से ब्रह्म की अनेकता अनिवार्य हो जाती है।

ब्रह्मशब्दैक्यादाप्यैक्यं प्रतीयत् इति चेत् न, अज्ञातगो व्यक्तेः जिज्ञासो पुरुषस्य "षण्डो मुण्डः पूर्णश्रृंगो गौः" इत्युक्ते गोपदैक्येऽपि षण्डत्वादि व्यावर्त्तकभेदेन गोव्यक्तिबहुत्वप्रतीतेः ब्रह्मव्यक्तयोऽपि बह्व्यः स्युः। अतएव लिलक्षयिषिते वस्तुनि एषां विशेषणानां संभूय लक्षणत्वमप्यनुपपन्नम्।

ब्रह्म शब्द एक है, इसलिए सारे विशेषण भी एक होंगे ऐसा भी नहीं कह सकते; जैसे–जो व्यक्ति गौ को नहीं जानता, वह उसे जानना चाहता है, यदि उससे कहा जाय कि–"षण्ड-मुंड बड़ी सींगों वाली गौ होती है" तो उसे एक गौ के विशेषणों के पार्थक्य से अनेक गो रूपों की प्रतीति

ankurnagpal108@gmail.com

होगी; वैसे ही ब्रह्म की भी बहुत्व प्रतीति होगी। केवल लक्षणों द्वारा जानी जाने वाली वस्तु अनेक विशेषणों से सम्मिलित लक्षण वाली नहीं हो सकती।

नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयंति, आकारान्तराप्रतिपत्तेः उपलक्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य केनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्ति हेतुत्वं हि दृष्टं– 'यत्रायं सारसः स देवदत्तकेदारः" इत्यादिषु।

उक्त विशेषण, उपलक्षण के रूप से कहे गए हों, ऐसा भी नहीं है, क्यों कि–उक्त लक्षणों से अतिरिक्त कोई अन्य रूप का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। "जहाँ वह सारस बैठा है वही देवदत्त का खेत है" इत्यादि उदाहरण में उपलक्षण विशेषणों की एकाकार प्रतीति अन्य प्रकार की होती है (ब्रह्म के प्रसंग में ऐसी अन्य प्रकार की प्रतीति नहीं होती इसलिए, उपलक्षण की बात असंगत है)

ननु च–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीनि उपलक्षणानि भवन्ति। न इतरेतरप्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेन उभयोर्लक्षणवाक्ययोरन्याश्रयणात्। अतो न लक्षणतो ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" इस वाक्य से जैसा ब्रह्म का रूप ज्ञात होता है, जगज्जन्मादि उसी के उपलक्षण है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; दोनों ही समान रूप से ब्रह्म के स्वरूप लक्षण हैं, ऐसा मानने से दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रयता हो जायगी। फिर किसी भी लक्षण द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयैरुपलक्षणभूतैर्ब्रह्मप्रतिपत्तुं शक्यते। न च उपलक्षणोपलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तेर्ब्रह्मप्रतिपत्तिः; उपलक्ष्यं हि अनवधिकातिशयवृहत्, वृंहणं च बृहतेर्धातोस्तदर्थत्वात्। तदुपलक्षणभूताश्च जगज्जन्मास्थितिलयाः। "यतो-येनयत" इति प्रसिद्धिवंन्निर्देशेन

ankurnagpal108@gmail.com

यथाप्रसिद्धि जन्मादिकारणमनूद्यते । प्रसिद्धिश्च–"सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"–तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत् इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादानरूपकारणत्वेन तदपि–"सदेवेदमग्र एकमेवासीत्" इत्युपादानतां प्रतिपाद्य "अद्वितीयम्" इत्याधिष्ठात्रन्तरं प्रतिषिध्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्येकस्यैव प्रतिपादनात् । तस्माद् यन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद्ब्रह्मेति जन्मस्थितिलयाः स्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तुब्रह्मेति लक्षयन्ति । जगन्निमित्तोपादानताक्षिप्तसर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वविचित्रशक्तित्वाद्याकारबृहत्वेनप्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ।

जगत सृष्टि–स्थिति–प्रलय से उपलक्षित ब्रह्म का प्रतिपादन किया जा सकता है। यह कहना भूल है कि–उपलक्षण और औपलक्ष्य इन दोनों के आकार से भिन्न किसी प्रकार की प्रतीति के बिना ब्रह्म की स्वरूप प्रतीति नहीं हो सकती। औपलक्ष्य (ब्रह्म) सीमा रहित, अतिबृहन् और बृहंण अर्थात् जगद् वृद्धि का हेतु है, "बृह" धातु का यही शब्दार्थ होता है। जगत् का जन्म-स्थिति और लय उसके ही उपलक्षण स्वरूप (परिचायक) हैं। यतः येन और यत् ये तीनों पद, जन्मादि आदि का प्रसिद्ध की तरह निर्देश करते हैं, ये लोक प्रसिद्ध जन्मादि कारण के अनुवादक मात्र हैं। "हे सोम्य ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था, उन्होंने विचार किया कि मैं बहुत होकर जन्म लूं, उन्होंने तेज की सृष्टि की" इस श्रुति में "सत्" पद वाच्य एक ही ब्रह्म की निमित्त और उपादान कारणता सुस्पष्ट है। "यह जगत पहले एक सत् स्वरूप था" इससे ब्रह्म की उपादान कारणता का प्रतिपादन करके "अद्वितीयं" पद से अन्य अधिष्ठाता (निमित्त कारण) का निषेध करके "उन्होंने विचार किया बहुत होकर जन्म लूं और फिर तेज की सृष्टि की" इस वाक्य में एक ही ब्रह्म की उपादान और निमित्त कारणता का प्रतिपादन किया गया है, इससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। इससे ज्ञात होता है कि–जगत् की सृष्टि-स्थिति और लय का मूल ब्रह्म ही है। उक्त वाक्य

ankurnagpal108@gmail.com

जन्म-स्थिति और लय के निमित्त और उपादान कारण को ब्रह्म कह कर लक्षित करते हैं। जगत् के निमित्त और उपादान कारण होने से ही ब्रह्म, सर्वज्ञ-सत्य संकल्प-विलक्षण शक्ति और बृहत्व से पूर्ण है। जन्मादि तथा उसी प्रकार की विशेषताओं से लक्षित होने से, ब्रह्म के लिए की गई आकारान्तर की अनुपपत्ति की शंका भी व्यर्थ हो जाती है।

जगज्जन्मादिविशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः। लक्षणभूतान्यपि विशेषणानिस्वविरोधिव्यावृत्तंवस्तु लक्षयन्ति। अज्ञातस्वरूपे वस्तुन्येकस्मिन् लिलक्षयिषतेऽपि परस्पराविरोध्यनेक-विशेषणलक्षणत्वं न भेदमापादयति। अत्र तु कालभेदेन जन्मादीनां न विरोधः।

जगज्जन्मादि विशेषणों से लक्षित होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष संभव नही है। लक्षणात्मक विशेषण, अपनी विरुद्ध अविशिष्ट वस्तु को ही लक्षित करते हैं। अनेक विशेषण, अज्ञात स्वरूप एक ही वस्तु में, लक्षित होने के लिए प्रस्तुत होकर भी, परस्पर विरोधी नही होते, ऐसी बहु विशेषणात्मक लक्षणता, प्रतिपाद्य वस्तु में, विभिन्नता नहीं लाती। विशेषणों की एकाश्रयता प्रतीति से उन सभी का एक में ही समन्वय होता है [षण्ड, मुण्ड, पूर्ण शृङ्ग आदि परस्पर विरुद्ध विशेषतायें तो व्यक्ति में भेद की परिचायिका हैं] परन्तु जगत् के जन्मादि विशेषणों में तो विभिन्न कालीनता है इसलिए कोई विरोध नहीं है।

"यतोवा इमानि भूतानि जायते" इत्यादि कारण वाक्येन प्रतिपन्नस्यजगज्जन्मादिकारणस्यब्रह्मणः सकलेतरव्यावृत्तं स्वरूप-मभिधीयते—"सत्यंज्ञानमनतं ब्रह्म" इति। तत्र सत्यपदं-निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्-संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः। नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात्। ज्ञान पदं नित्यासंकुचितज्ञानै काकारमाह। तेन कदाचित् संकुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः।

ankurnagpal108@gmail.com

अनन्त पदं—देशकालवस्तुपरिच्छेद रहितं स्वरूपमाह। सगुणत्वा-त्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यम्। तेन पूर्वपदद्वयव्यावृतकोटिद्वय विलक्षणा: सातिशयस्वरूपस्वगुणा: नित्या: व्यावृत्ता:। विशेषणानां व्यावृत्तकत्वात्। ततः "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन वाक्येन जगज्जान्मादिनाऽवगतस्वरूपंब्रह्म सकलेतरवस्तुविसजातीयमिति लक्ष्यत, इति नान्योन्याश्रयणम्। अतः सकल जगज्जन्मादिकारणं निरवद्यं, सर्वज्ञं, सत्यसंकल्पं, सर्वशक्तिः ब्रह्म लक्षणत: प्रतिपत्तुं शक्यत, इतिसिद्धम्।

कारणता बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म को, जगत् के जन्मादि का कारण बतलाकर "सत्यं ज्ञान' इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म की, अन्यान्य पदार्थों से विलक्षणता दिखलाई गई है। उक्त वाक्य में—सत्य पद, निरुपाधिसत्ता अर्थात् स्वाभाविक सत्ता विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादक है। जिससे विकार पूर्ण अचेतन तथा उससे संबद्ध चेतन की ब्रह्मता का प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि—ये दोनों ही वस्तुएं विभिन्ननामों की मूलकारण, विभिन्न अवस्थाओंवाली होती हैं, इसलिए इनमें निरु-पाधिक सत्ता की अर्हता नही रहती। ज्ञान-पद, नित्य-विकसित अद्वैत बिशिष्ट ज्ञान का द्योतक है, जिससे संकुचित ज्ञानवाले मुक्त पुरुषों से भिन्नता सिद्ध होती है। अनन्त-पद, देश-काल और वस्तु कृत परिच्छेद रहित स्वरूप का परिचायक है। ब्रह्म का स्वरूप सगुण है, इसलिए वह गुण और स्वरूप दोनों से अनन्त है। इस पद से, पूर्वोक्त दोनों, सत्य और ज्ञान पदों से प्रतिषिद्ध दो अंशों (असत्य और जड) से भी विलक्षण सातिशय, नित्य, स्वरूप और स्वगुण का भी प्रतिषेध हो जाता है। विशेषणों की व्यावर्त्तक (इतर भेदक) प्रवृत्ति होती है। 'सत्यं ज्ञान मनन्तंब्रह्म" इस वाक्य से, जगज्जन्मादि कारण रूप से प्रतिज्ञात ब्रह्म अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण स्वरूप वाला लक्षित होता है, इसलिए दोनों प्रकार के विशेषणों में अन्योन्याश्रता नहीं होती। समस्त जगत् के जन्मादि के कारण, निर्दोष, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प और सर्वशक्ति संपन्न ब्रह्म लक्षण द्वारा प्रतिपाद्य है, ऐसा सिद्ध होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

ये तु निर्विशेषवस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति। तन्मते "ब्रह्मजिज्ञासा" जन्माद्यस्ययतः इत्यसंगतंस्यात्, निरतिशय बृहत्वृंहणं च ब्रह्मेति वचनात्; तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणं इति वचनाच्च। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृत श्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम्। तर्कश्च साध्यधर्माव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वान्न निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणम्। जगज्जन्मादि भ्रमोयतस्तद्ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा पक्षेऽपि न निर्विशेष वस्तुसिद्धिः भ्रममूलमज्ञानं, अज्ञानसाक्षिब्रह्मेत्यभ्युपगमात्। साक्षित्वं हि प्रकाशैकरसतमैवोच्यते। प्रकाशत्वं तु जडाद्व्यावर्त्तकं, स्वस्यपरस्य च व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्वम्। तदभावे प्रकाशतैमैव न स्यात्। तुच्छतैव स्यात्।

जो यह कहते हैं कि—निर्विशेष वस्तु ही जिज्ञास्य है, उनके मतानुसार "ब्रह्मजिज्ञासा" कहने के बाद "जन्माद्यस्ययतः" कहना ही असंगत होगा। क्योंकि—जो सर्वापेक्षा वृहत् तथा सभी वस्तुओं की वृद्धि के कारण, ब्रह्म कहा जाता है, वही ब्रह्म जगत के जन्मादि का कारण बतलाया गया है। इसी प्रकार परवर्त्ती सूत्रों में भी, सूत्रों और सूत्रों में उदाहृत श्रुतियों में ईक्षण आदि विशेषताओं से उस का संबंध दिखलाया गया है, इसलिए उन सूत्रों और सूत्रोदाहृत श्रुतियों को तो निर्विशेष वस्तु में प्रमाण कह नहीं सकते। जो साधन, साध्य या प्रतिपाद्य विषय के धर्म को नहीं छोड़ सकता, ऐसे साधन धर्म संबद्ध पदार्थ के विषय में ही तर्क किया जा सकता, निर्विशेष वस्तु में तो तर्क भी प्रमाण नहीं हो सकता। जगत् का जन्मादि भ्रम जिससे हो वह ब्रह्म है, ऐसी आपकी अभिमत उत्प्रेक्षा (असंभव की संभावना) में भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि भ्रम अज्ञानमूलक होता है, और आप ही ब्रह्म को अज्ञान का साक्षी मानते हैं। प्रकाश या अज्ञान का अभाव ही साक्षित्व है। प्रकाशता जड से भिन्न वस्तु है, एवं स्वतः और दूसरे को व्यवहार योग्य बनाने वाली होती है। ऐसे प्रकाशमान

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म में सविशेषता ही हो सकती है; निर्विशेष मानने से उसमें प्रकाशता नही रह सकती, वह तुच्छ (मिथ्या) हो जायगा।

(३) उशास्त्रयोनित्वाधिकरणः—

जगजन्मादिकारणं ब्रह्म वेदांतवेद्यमित्युक्तम्, तदयुक्तम्, तद्धि न वाक्य प्रतिपाद्यम्। अनुमानेन सिद्धेरित्याशंक्याह—

जगज्जन्मादि के कारण ब्रह्म को वेदांत वेद्य वतलाया गया सो असगत बात है, यह अनुमान सिद्ध वस्तु है, वाक्य प्रतिपाद्य नहीं, इस आशका पर कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात्।१।१।३

शास्त्रं यस्ययोनि. कारणं प्रमाणम्, तच्छास्त्रयोनिः तस्यभावः शास्त्र योनित्वं। तस्मात् ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य, तदयोनित्वं ब्रह्मणः। अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयतया ब्रह्मणः शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् उक्त स्वरूपं ब्रह्म—"यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्य बोधयत्येवेत्यर्थः।

शास्त्र जिसकी योनि, कारण अर्थात् प्रमाण है उसे ही शास्त्रयोनि कहते है, उसके भाव या धर्म को शास्त्र योनिता कहते है। एक मात्र शास्त्र ही जब ब्रह्म विषयक ज्ञान का समुत्पादक हो तभी ब्रह्म की शास्त्र योनिता सिद्ध होती है। अत्यन्त अतीन्द्रिय होने से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अविषय ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणता सिद्ध होती है। ऐसे ब्रह्म के स्वरूप को ही "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है।

पूर्वपक्षः—ननु शास्त्रयोनित्वंब्रह्मणो न संभवति, प्रमाणांतर-वेद्यत्वाद् ब्रह्मणः। अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्।

किं तर्हि तत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षं। तद्धिद्विविधं, इन्द्रियसंभवं योगसंभवं चेति। इन्द्रियसंभवं च वाह्य संभवमान्तरसंभवश्चेति द्विधा। वाह्येन्द्रियाणि विद्यमान सन्निकर्षं योग्यस्वविषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतन्नि

ankurnagpal108@gmail.com

र्माणसमर्थपुरुषविशेष विषयबोधजननानि। नाप्यान्तरम्, आन्तर-सुखदु:खादि व्यतिरिक्तबहिर्विषयेषुतस्य वाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्यनुपपत्तेः। नापि योगजन्यम, भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वान्न प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता, तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात्। तथासति तस्य भ्रमरूपता। नाप्यनुमानं विशेषतोदृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा, अतीन्द्रिये वस्तुनि संबंधावधारणविरहान्न विशेषतो दृष्टम्। समस्त वस्तुसाक्षात्कार तन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेष नियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिंगमुपलभ्यते।

पूर्वपक्ष— ब्रह्म की शास्त्र योनिता संभव नहीं है ब्रह्म अन्य प्रमाणों से ही वेद्य है, शास्त्र तो अन्य प्रमाणों से अप्राप्त वस्तु को ही प्रमाणित करते हैं।

अब विचारना यह है कि उस ब्रह्म के विषय में कौन सा प्रमाण हो सकता है? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता; प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, इंद्रिय संभव और योग संभव। इंद्रिय संभव भी वाह्यसंभव और आन्तर संभव भेद से दो प्रकार का है। वाह्य इन्द्रियाँ केवल सन्निहित और ग्रहणयोग्य उपस्थित विषय का ही बोध करा सकती है, वे समस्त विषयों के साक्षात्कार और निर्माण करने में समर्थ परमपुरुष विशेष का बोध नहीं करा सकतीं। अन्तरिन्द्रिय (मन) मन भी उनका बोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि-वाह्येन्द्रियों की सहायता के बिना, आन्तरिक सुखदु:खादि के अतिरिक्त किसी अन्य वाह्य विषय में उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं है। योग जन्य प्रत्यक्ष भी ब्रह्म संबंधी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि भावना या चिंतन के चरम उत्कर्ष से ही उत्पन्न विशद अवभास वाला वह ,पुर्वानुरत विषय की अनुभूति मात्रवाला ही होता है, अतः उसे तो प्रमाण कही नहीं सकते, ब्रह्म की प्रत्यक्षता उससे कैसे सभव है। पूर्वानुभूत विषय से अतिरिक्त किसी विषय का कभी योग द्वारा साक्षात् हो सके ऐसा कोई कारण नही मिलता, और यदि ऐसा अवभास संभव भी हो तो उसे भ्रम ही मानना चहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

विशेषतोदृष्ट या सामान्यतोदृष्ट अनुमान भी ब्रह्म विषयक प्रमाण नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय वस्तु में जब संबधावधारण ही नहीं हो सकता तो विशेषतोदृष्ट अनुमान होगा भी कैसे ? समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार और निर्माण में समर्थ सर्वोत्तम पुरुष विशेष के विषय नियत सामान्य मे दृष्ट अनुमान के लिए भी कोई चिन्ह दिखलाई नहीं देता जिसके आधार पर उसे लागू किया जा सके।

ननु च—जगतः कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तम्। अचेतनारब्धत्व जगतश्चैकचेतनाधीनत्वेन व्याप्तम्। सर्वं हि घटादिकार्यं तदपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकं दृष्टम। अचेतनारब्धमरोगंस्वशरीमेकचेतनाधीनं च सावयवत्वेन जगतः कार्यत्वम्।

(तर्क) जगत् की कार्यता उसके उपादान, उपकरण, संप्रदान (कार्य का उद्देश्य) और प्रयोजन से अभिज्ञ व्यक्ति के कर्तृत्व से, व्याप्त रहती है। अचेतनाबद्ध जागतिक कार्य, एकमात्र चेतन की अधीनता से ही व्याप्त हैं। घट आदि सारे कार्य, उनके उपादान, उपकरण, संप्रदान और प्रयोजन से अभिज्ञ व्यक्ति से संपादित और अचेतनाबद्ध दीखते हैं। अपना स्वस्थ शरीर भी, एक चेतन आत्मा के अधीन दीखता है। साकार होने से जगत की कार्यता प्रतीत होती है।

उच्यते—किमिदमेकचेतनाधीनत्वम् ? न तावत् तदायत्तोत्पत्तिस्थित्वम्, दृष्टांतो हि साध्यविकलः स्यात्, न हि अरोगं स्वशरीरमेक चेतनायत्तोत्पत्तिस्थित, तच्छरीस्य भोक्तृणां भार्यादि सर्वचेतनानामदृष्टजन्यत्वात्तदुत्पत्तिस्थित्योः। किं च शरीरावयविनः स्वावयवसमवेततारूपास्थिरवयवसंश्लेषव्यतिरेकेण न चेतनमपेक्षते। प्राणनलक्षणातुस्थितिः पक्षत्वाभिमते क्षितिजलधिमहोधरादौ न सभवतीति पक्षसपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे। तदायत्तप्रवृत्तित्वं तदधीनत्वमिति चेद् अनेकचेतनसाध्येषुगुरुतररथशिलामहोरुहादिषुव्यभिचारः। चेतनमात्राधीनत्वे सिद्धसाध्यता।

ankurnagpal108@gmail.com

(वितर्क) यह एक चेतनाधीनता क्या है ? उसके आधीन उत्पत्ति, स्थिति तो हो नहीं सकती, ऐसा होने से पूर्वकथित दृष्टान्त ही साध्य विरुद्ध हो जायगा। अपना स्वस्थ शरीर एक चेतन के अधीन, उत्पन्न और स्थित तो हो नही सकता। शरीर का जन्म और पालन, विषयोपभोग करने वाले स्त्री आदि अनेक चेतनों के, अदृष्ट फल के अनुरूप हुआ करता है। शरीर रूपी अवयवी का अपने अवयवों के साथ जो समवाय संबंध होता है, वह शरीर के संश्लेष विशेष से ही होता है, उसमें किसी अन्य चेतन की तो अपेक्षा होती नहीं। पृथिवी, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थों की, आपकी अभिमतपक्षता में, प्राणधारणरूप स्थिति, की संभावना तो है ही नहीं। पक्ष हो या सपक्ष सब जगह एक प्रकार की स्थिति नहीं होती। एक चेतनाधीनता का अर्थ, यदि तदायत्त प्रवृत्तिता करें तो, अनेक चेतनों से साध्य, गुरुतर रथ-शिला-पर्वत आदि पदार्थों में असंगति हो जायगी। यदि चेतनमात्र अधीनता अर्थ करें तो, सिद्ध साध्यता होगी।

किं च—उभयवादिसिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वाभ्युपगमो युक्तः। न च जीवानामुपादानाद्यनभिज्ञतया कर्तृत्वासंभवः सर्वेषामेव चेतनानां पृथिव्याद्युपादानयागाद्युपकरणसाक्षात्कार-सामर्थ्यात्। यथेदानीं पृथिव्यादयोयागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते। उपकरणभूतयागादिशक्तिरूपापूर्वादिशब्दवाच्यादृष्ट साक्षात्कारा-भावेऽपि चेतनानां न कर्तृत्वानुपपत्तिः, तत्साक्षात्कारानपेक्षणात् कार्यारम्भस्य। शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्यारम्भोपयोगी। शक्तिस्तु ज्ञानमात्रमेवोपयुज्यते, न साक्षात्कारः। नहि कुलालादयः कार्योपकरणभूतदंडचक्रादिवत् तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घटमणि-कादिकार्यमारभन्ते। इह तु चेतनानामागमावगतयागादिशक्ति विशेषाणां कार्यारम्भोनानुपपन्नाः।

जीव के अस्तित्व के संबंध में वादी प्रतिवादी दोनों एकमत है, अतः सुविधा के लिए जीव का कर्तृत्व ही स्वीकारना सुसंगत होगा।

ankurnagpal108@gmail.com

जगत् के उपादानादि कारणों के विषय में जीवों की अभिज्ञता नहीं है, इसलिए उनका कर्तृत्व सभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि–पृथिवी आदि उपादान कारण तथा कार्य संपादक विषयों को तो सभी चेतन प्रत्यक्ष देखते है। अब भी पृथिवी, यागादि की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। यद्यपि; उपकरण रूप यागादि क्रिया की शक्ति "अपूर्व" शब्द वाच्य अदृष्ट का, प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं होता, पर उसके चेतनों के कर्तृत्व में असंगति नहीं आती, क्योंकि–कार्यारम्भ में अदृष्ट के साक्षात्कार की अपेक्षा नही होती। कार्यारम्भ में वस्तु शक्ति का साक्षात्कार ही उपयोगी होता है। शक्ति मे भी ज्ञानमात्र ही उपयोगी होता है साक्षात्कार भी नही। कुम्भकार, घट मटकी आदि कार्यो के निर्माण के लिए, कार्य के उपकरण दंडचक्र की तरह, उसकी शक्ति को जानकर ही, कार्यारम्भ करे, ऐसा कुछ आवश्यक नहीं है। इस सृष्टि कार्य में तो जीव, शास्त्र ज्ञात यागादि शक्ति विशेष को जानते ही है अत: उनके लिए, कार्यारम्भ असंगत हो ही नही सकता।

किं च—यच्छक्यक्रियंशक्योपादानादिविज्ञानं च, तदेव तदाभिज्ञकर्त्तृकंदृष्टम्। मही महीधरमहार्णवादित्वशक्याक्रियमशक्योपादानादि विज्ञानं चेति न चेतनकर्त्तृकम्। अतो घटमणिकादि सजातीयशक्यक्रियशक्योपादनादिविज्ञानवस्तुगतमेव कार्यत्वं बुद्धिमत्कर्त्तृपूर्वकत्वसाधने प्रभवति। किं च—घटादिकार्यमनीश्वरेणाल्प ज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रहवताऽनाप्तकामेन निर्मितं द्रष्टमिति तथाविधमेव चेतनं कर्त्तारं साधयन्नयंकार्यत्वहेतुः सिषाधयिषिति पुरुषसार्वज्ञ सर्वैश्वर्यादिविपरीत साधनात् विरुद्धस्स्यात्। न चैतावता सर्वानुमानोच्छेद प्रसंगः। लिंगिनिर्लिंगबलोपस्थापिताविपरीत विशेषाः तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्त्तन्ते। इह तु सकलेतर प्रमाणाविषयं लिंगिनिनिखिल निर्माण चतुरे, अन्वयव्यतिरेकावगताविनाभावनियमा धर्माःसर्वएवाविशेषेण प्रसज्यन्ते। निवर्त्तक प्रमाणाभावात्तथैवावतिष्ठन्ते। अत आगमादृते कथमीश्वरः सेत्स्यति।

ankurnagpal108@gmail.com

जिस कार्य की क्रिया, शक्ति-साध्य होती है और जिसके उपादानादि कारण विषय ज्ञान शक्य होते हैं, उसके अभिज्ञ व्यक्ति का कर्तृत्व देखा जाता है। मही, महीधर, महार्णव आदि की क्रिया अशक्य है तथा उनके उपादान कारण भी अशक्य हैं, इसलिए वे चेतन जीव की कृति नहीं हो सकते। घट, मटकी आदि की तरह, अन्य जिन पदार्थों की क्रिया तथा उनके उपादानादि का ज्ञान ही शक्य है, जीव उन्हीं वस्तुओं को बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से कार्यान्वित कर सकता है।

घट आदि कार्य, एक शरीरधारी प्रभुताहीन अल्पज्ञान कार्योपयोगी वस्तुओं को संग्रह करने वाले, थोड़ी आवश्यकताओं वाले, सामान्य व्यक्ति (कुम्भकार) द्वारा निर्मित होते हैं। यदि वैसे ही, चेतन कर्त्ता को, इस महान् विश्व का कर्त्ता मानते हो तो, जिस विश्व के निर्माता की, सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता के बिना, विश्व का निर्माण हो नही सकता, उससे नितांत विरुद्ध बात होगी। केवल इतनी ही बात से अनुमानों का अनुच्छेद भी नही हो सकता। जहाँ साध्य या साध्य विशिष्ट वस्तु, अनुमान रहित प्रमाण की सहायता से, जानी जाती है, वहाँ अनुमान द्वारा, यदि उसके विपरीत धर्म प्रमाणित हो सकें तो, साध्य वस्तु (ईश्वर) किसी भी प्रमाण का विषय नही रह जाता तथा निखिल वस्तु निर्माण निपुण उस साध्य से, अन्वय व्यतिरेक की सहायता से, जो समस्त धर्मो का नियत संबंध निश्चित होता है, वे सारे ही धर्म सामान्यतः प्रसक्त होते हैं। उन धर्मो के विरोधी प्रमाणों के अभाव से, वे वैसे के वैसे ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार शास्त्र के अतिरिक्त ईश्वर सिद्धि का और दूसरा कौन सा उपाय हो सकता है?

अत्राहुः—सावयवत्वादेव जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। भवंति च प्रयोगाः—विवादाध्यसितं भू-भूधरादिकार्य, सावयवत्वात्, घटादिवत्। तथा विवादाध्यसितमवनि-जलधि-महीधरादि कार्यं, महत्त्वे सति, क्रियावत्त्वात् घटवत्। तनुभुवनादि-कार्यं महत्वे सति मूर्त्तत्वात् घटवत् इति। सावयवेषु द्रव्येषु "इदमेव क्रियते नेतरत्" इति कार्यत्वस्य नियामकं सावयवत्वातिरेकि रूपा-

ankurnagpal108@gmail.com

न्तरं नोपलभामहे। कार्यत्वं प्रतिनियतं शक्यक्रियत्वं, शक्योपादानादि विज्ञानत्वं चोपलभ्यत इति चेत् न, कार्यत्वेनानुमतेऽपि विषयेज्ञानशक्तो कार्यानुमेये-इत्यन्यत्रापि सावयवात्वादिना कार्यत्वं ज्ञातमिति ते च प्रतिपन्ने एवेति न कश्चिद् विशेषः। तथा हि घट मणिकादिषुकृतेषु कार्यदर्शनानुमितकर्त्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्र सन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोक्यावयवसन्निवेश विशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य, तदानीमेव कर्तुःतत् ज्ञानशक्ति वैचित्र्यं अनुमिनोति। अतस्तनुभुवनादेःकार्यत्वे सिद्धे सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित् पुरुषविशेषः सिद्ध्यत्येव।

इस पर विद्वानों का कथन है कि साकार जगत की कार्यता को झुठला नहीं सकते; ऐसा कहा भी जाता है कि–विचारणीय विषय पृथिवी पर्वत आदि कार्य, घट आदि की तरह साकार हैं तथा इनमें घट आदि की तरह, महत्ता और क्रियात्मकता भी है। देह और भवन आदि विषय और कार्य, घट आदि की तरह मूर्त्त और महत्वपूर्ण हैं। साकार वस्तुओं में—"यही कार्य है, दूसरा नहीं है" ऐसा कार्यता नियामक, साकारता के अतिरिक्त कोई और कारण तो दीखता नहीं [जिसके आधार पर साकार वस्तु की कार्यता को अस्वीकारा जाय] यदि कहो कि-निर्माण योग्यता और शक्ति-साध्य उपादानादि कारण विषयक विशेष ज्ञान ही विश्व का कारण हो सकता है। सो असंभव बात है-क्योंकि-जो विषय कार्य रूप से अनुमोदित है, उस विषय में कर्त्ता के उपयुक्त ज्ञान और शक्ति सद्भाव का, कार्य द्वारा ही अनुमान हो सकता है। अन्यत्र (घट आदि में) भी साकारता आदि से, कार्यता ज्ञात होती है; कार्य विषयक ज्ञान और शक्ति भी ज्ञात ही रहती है, कोई विशेषता नहीं होती। घट मटकी आदि कृत कार्यों में कार्यता को देखकर ही, कर्त्तृगत निर्माण शक्ति का परिज्ञान हो जाता है। कोई भी व्यक्ति, अदृष्ट पूर्व विचित्र राजा के महल को देखकर, उसकी बनावट से, शिल्पी की कार्यदक्षता को मानकर तत्काल शिल्पी की शिल्पकारी की निपुणता का अनुमान लगा लेता है। इसी प्रकार शरीर, विश्व आदि की कार्यता

ankurnagpal108@gmail.com

निश्चित हो जाने पर, उन सबको देखकर, निर्माण निपुण शिल्पी विशेष का अस्तित्व भी निश्चित हो जाता है।

किंच-सर्वचेतनानां धर्माधर्मनिमित्तोऽपि सुखदुःखोपभोगे चेतनानधिष्ठितयोस्तयोरचेतनयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुण-सर्वफलप्रदानचतुरः कश्चिदास्थेयः, वर्धकिनाअनधिष्ठितस्य वास्यादेरचेतनस्य देशकालद्यनेकपरिकरसन्निधाने अपि यूपादि-निर्माणसाधनत्वादर्शनात्। बीजांकुरादेः पक्षांतरभावेन तैर्व्यभिचारोपादानं श्रोत्रियवेतालानामनभिज्ञता विजृम्भितम्। तत एव सुखादिभिर्व्यभिचारवचमपि तथैव। न च लाघवेनोभयवादिसंप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेव ईदृशाधिष्ठातृत्व कल्पनं युक्तम्, तेषां सूक्ष्मव्यवहितविपकृष्टदर्शनशक्तिनिश्चयात्। दर्शनानुगुण्येव हि सर्वत्रकल्पना न च [illegible]वत् ईश्वरस्याशक्तिनिश्चयोऽस्ति। अतः प्रमाणान्तरतो न त[illegible]द्ध्यनुपपत्तिः समर्थकर्तृ पूर्वकत्वनियतकार्यत्वहेतुना सिध्यन् स्वाभाविकसर्वार्थसाक्षात्कारतन्नियमनशक्तिसंपन्न एव सिध्यति।

चेतन मात्र के सुख दुःख का कारण, धर्म और अधर्म है, किन्तु चेतन की प्रेरणा के बिना, धर्म अधर्म कभी सुख दुःख के उत्पादक नहीं हो सकते। धर्म-अर्धम की निमित्त समस्त क्रियाओं के अनुरूप फल प्रदान के लिए, किसी चतुर चेतन सत्ता को स्वीकारना होगा। उपयुक्त देशकालादि के होते हुए भी, बिना शिल्पी के, अचेतन कलापूर्ण स्तंभभित्ति आदि निर्माण की साधनता, कहीं भी देखी नहीं जाती। बीजांकुर आदि विषय, जिनमें किसी चेतन की प्रत्यक्ष प्रेरणा प्रतीत नहीं होती, वे भी वैदिक वेतालों (देवयोनि विशेष) की कृति हैं। सुख आदि के व्यभिचार की बात भी वैसी ही है।

लाघव के कारण उभयवादियों (पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष) के स्वीकार्य जीवों की ही अधिष्ठातृता की कल्पना करना भी उचित नहीं है (अर्थात् जीव का कर्तृत्व तो दोनों ही मानते हैं, ईश्वर को भी कर्तृत्व में

ankurnagpal108@gmail.com

सम्मिलित किया जायगा तो एक व्यर्थ गौरव होगा, इसलिए जीवों को कर्त्ता मानने से ही कार्य चल जाय तो लाघव होगा) जीवों में, सूक्ष्म, व्यवहित (अन्य वस्तु द्वारा अंतरित) और दूरवर्त्ती वस्तु को देखने की सामर्थ नहीं होती। प्रायः दर्शन सामर्थ के अनुरूप ही हर जगह, शक्ति की कल्पना की जाती है [अर्थात् जिसकी जितनी जानकारी है उसकी उतनी ही शक्ति है] जीवों की तरह ईश्वर में भी शक्ति का अभाव हो ऐसा तो कही नहीं सकते। अनुमान आदि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। शक्तिशाली कर्त्ता से ही विचित्र जगत् रूप कार्योत्पत्ति हो सकती है, इस अनुमान से ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध होता है, सभी वस्तुओं में साक्षात्कार की स्वाभाविक शक्ति संपन्नता भी, ईश्वर की अनुमित कर्तृत्व से सिद्ध होती है।

यत्त्वनैश्वर्याद्यापादनेन धर्मविशेष विपरीतसाधनत्वनुन्नीतम्, तदनुमानवृत्तानभिज्ञत्वनिबन्धनम्, सपक्षे सह दृष्टानां सर्वेषां कार्यस्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिंगिन्याप्तेः।

और जो (कुम्हार के दृष्टान्त की तरह जगत कर्त्ता में भी) अनैश्वर्य संभावना से, अभीष्ट धर्म के विपरीत धर्म साधकता की बात कही गई, वह भी अनुमान प्रणाली की अनभिज्ञता के कारण ही कही गई। सपक्ष अर्थात् कर्तृसाध्यरूप घट आदि कार्य में, जो धर्म दीखते हैं, जो कि कार्य के हेतु नही हैं, वे सब पक्ष अर्थात् विचार्य (जगतकर्त्ता ईश्वर) में संभाव्य ही नहीं हैं।

एतदुक्तं भवति—केनचित् किंचित् क्रियमाणं स्वोत्पत्तये कर्त्तुः, स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानं च अपेक्षते, न तु अन्यसामर्थ्यं अन्यज्ञानं च, हेतुत्वाभावात्। स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानाभ्यामेव स्वोत्पत्तावुपपन्नायां संबंधितया दर्शनमात्रेणाकिंचित्करस्यार्थान्तराज्ञानादेर्हेतुत्वकल्पना योगाद् इति। किं च-क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्तार्थाज्ञानादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगि, उत कतिपय विषयम्? न तावत् सर्वविषयं, नहि

ankurnagpal108@gmail.com

कुलालादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति । नापि कतिपय विषयम्, सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात् । अतः कार्यत्वस्यासाधकानामीश्वरत्वादीनां लिंगिन्यप्राप्तिरिति न विपरीतसाधनत्वम् ।

कथन यह है कि-कोई किसी भी क्रियमाण कार्य की उत्पत्ति में, उसी कार्य से संबंधी, कर्त्ता के निर्माण सामर्थ्य, उपादान, उपकरण और उसके ज्ञान की अपेक्षा रहती है, अन्य विषयक सामर्थ्य या ज्ञान से कार्य नहीं चलता । कर्त्ता के कार्य निर्माण सामर्थ्य, उपादान और उपकरणों के ज्ञान से ही जब कार्य की उत्पत्ति सुसंपन्न हो जाती है तो, दिखावटी, बिना मतलब के अन्य विषयक ज्ञान आदि की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

क्रियमाण वस्तु से अतिरिक्त विषयों का ज्ञान, समस्त विषयों की क्रिया का उपयोगी होता है, या कुछ विषयों का ही उपयोगी होता है ? सर्व विषयक तो हो नहीं सकता; ऐसा तो है नही कि-कुंभकार आदि शिल्पी, क्रियमाण से भिन्न और कुछ जानते ही नहीं । कतिपय विषयक भी नहीं हो सकता—सभी कर्त्ताओं में उन्हीं उन्हीं विषयों में अज्ञान और अशक्ति होगी ही, ऐसा कोई नियम तो है नहीं; अज्ञानादि कार्योपयोगिता के संबंध में अनियम ही रहता है इस प्रकार कार्यता के असाधक, अनीश्वरता इत्यादि की, विचार्य विषय में प्राप्ति न होने से, उनकी विपरीत साधकता नहीं हो सकती ।

कुलालादीनां दण्डचक्राद्यधिष्ठानं शरीरद्वारेणैव दृष्टम् इति जगदुपादानोपकरणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत्-न, संकल्पमात्रेणैव परशरीरगत भूतवेतालगरलाद्यपगमविनाश दर्शनात् । कथमशरीरस्य परप्रवर्त्तनरूपः संकल्प इति चेत्, न शरीरापेक्षः संकल्पः, शरीरस्य संकल्प हेतुत्वाभावात् । मन एव हि संकल्पहेतुः । तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि, कार्यत्वेनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । मानसः संकल्प शरीरस्यैव, सशरीरस्यैव समन-

ankurnagpal108@gmail.com

स्कत्वादिति चेत्, न-मनसो नित्यत्वेन देहापगमेऽपि मनसःसद्भावे-नानैकान्त्यात्। अतो विचित्रावयवसन्निवेशविशेषतनुभुवनादि कार्यंनिर्माणे पुण्यपापपरवशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न प्रभवतीति, निखिलभुवननिर्माणचतुरोऽचिन्त्यापरिमित ज्ञान-शक्त्यैश्वर्योऽशरीरः संकल्पमात्रसाधनपरिनिष्पन्नानंतविस्तार विचित्ररचनप्रपंचः पुरुषविशेष ईश्वरोऽनुमानेनैव सिद्धयति। अतः प्रमाणन्तरावसेयत्वात् ब्रह्मणः नैतद् वाक्यं ब्रह्म प्रतिपाद-यति।

किं च—अत्यंतभिन्नयोरेव मृद्द्रव्यकुलालयोः निमित्तो पादानत्वदर्शनेन, आकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वानुपपत्या च नैकमेव ब्रह्म कृत्स्नस्य जगतो निमित्तमुपादानं च प्रतिवादयितुं शक्नोति इति।

कुम्हार आदि अपने शरीर द्वारा ही, दंडचक्र आदि कार्योपकरणों का प्रयोग करते हैं; शरीर रहित ईश्वर, जगत के उपादान और उपकरण आदि का प्रेरक नहीं हो सकता ? ऐसा संशय भी नहीं करना चाहिए; प्रायः देखा जाता है कि-इच्छामात्र से ही, पर शरीरगत भूत वेताल आदि द्वारा, विष का विनाश हो जाता है। अशरीरी ईश्वर का पर प्रेरक रूप संकल्प हो कैसे सकता है ? ऐसी शंका भी निर्मूल है, क्योंकि—संकल्प में शरीर होना आवश्यक नहीं है, शरीर में संकल्प हेतुता है ही नहीं, केवल मन ही संकल्प का हेतु है। ईश्वर का मन भी स्वीकारना होगा, उनकी कार्यकारिता से ही ज्ञानशक्तिमान् मन की सत्ता अनुमित होती है। मानस संकल्प शरीर वाले को ही होता हो, शरीरी ही मनवाला हो सकता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। मन नित्य पदार्थ है, देह के समाप्त हो जाने पर भी मन का अस्तित्व रहता है। मन शरीर संबद्ध होकर ही रहता हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। इससे निश्चित होता है कि—विचित्र अवयव सन्निवेश संपन्न शरीर और विश्व आदि के निर्माण में चतुर अचिन्त्य, अपरिमित, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्यशाली, अशरीर, संकल्प-मात्र साधन से बनाने वाले अनंत विस्तृत जगत का रचयिता; पुरुष विशेष

ankurnagpal108@gmail.com

ईश्वर अनुमान से ही सिद्ध होता है। शास्त्र प्रमाण के बिना ही, अनुमान प्रमाण से ही ब्रह्म जगत का कर्त्ता सिद्ध हो जाता है। "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नही प्रतीत होते।

तथा-घट के निर्माण में मिट्टी और कुम्हार दो कारण देखे जाते हैं, आकाशादि निराकार की कार्यता होती नही, इसलिए एक ही ब्रह्म को समस्त जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण मानना भी शक्य नहीं है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः-यथोक्त लक्षणं ब्रह्म जन्मादि वाक्यं बोधयत्येव। कुतः ? शास्त्रैकप्रमाणकत्वाद् ब्रह्मणः। यदुक्तं-सावयवत्वादिना कार्यं सर्वं जगत्। कार्यं च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेयः, इति। तदयुक्तम्, महीमहार्णवादीना कार्यत्वेऽप्येकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्रप्रमाणाभावात्। न चैकस्य घटस्येव सर्वेषामेकं कार्यत्वं, येनैकदैवैकः कर्त्ता स्यात्। पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात्। न च क्षेत्रज्ञानां विचित्रजगन्निर्माणाशक्त्याकार्यत्वबलेन तदतिरिक्तकल्पनायां अनेककल्पनानुपपत्तेश्चैकः कर्त्ता भवितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचितपुण्यविशेषाणां शक्तिवैचित्र्यदर्शनेन तेषामेवातिशयितादृष्टसंभावनया च तत्तद्विलक्षणकार्यं हेतुत्वसंभवात्, तदतिरिक्तात्यंतादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तेः। न च युगपत्सर्वोत्पत्तिविनाशदर्शनाच्च। कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शनानुगुण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च। अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्त्यम्, पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य, सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्याप्रसिद्धेः। बुद्धिमत् कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनता।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धांत:-जगत के जन्मादि बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य निश्चित ही, ब्रह्म प्रतिपादक हैं, क्योंकि-ब्रह्म एकमात्र शास्त्र द्वारा ही प्रमाणित हैं। जो यह कहा कि-कार्यरूप संपूर्ण साकार जगत किसी ऐसे चतुर की ही रचना हो सकती है, जो कि समस्त जगत के निर्माण सम्बन्धी उपादान, उपकरण आदि को भली भाँति जानता है, क्योंकि कार्य, उचित कर्त्ताविशेष द्वारा ही प्रतीत होता है। यह कथन युक्ति संगत नहीं है। विशाल पृथिवी, विस्तृत समुद्र आदि कार्य, एक ही समय, एकही निर्माता द्वारा निर्मित हुए हों, ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता। घट की तरह सारे पदार्थ एक ही उपादान के कार्य हों, अथवा एक ही समय एक ही कर्त्ता के कार्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न कार्यों मे कालभेद, कर्त्ताभेद देखा जाता है कर्त्ता और काल की एकता भी निश्चित नही होती। जीवों की, विचित्र जगत निर्माण में शक्ति न होने से, जगत की कार्यता में, जीवातिरिक्त कर्त्ता की कल्पना करने में, अनेक कर्त्ताओं की कल्पना करनी पड़ेगी, इसलिए एक ही कर्त्ता हो सकता है; यह बात भी समीचीन नहीं है। जीवों में ही कुछ विशेष पुण्यशाली जो जीव होते हैं उनमें विचित्र शक्ति देखी जाती है, उन्हीं में से कोई सर्वाधिक पुण्यवान इस विचित्र जगत का कर्त्ता हो सकता है। इसलिए जीवातिरिक्त, अत्यंत अपरिदृष्ट (कभी न दीखने वाले) पुरुष विशेष की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है। एक साथ ही सबकी सृष्टि और विनाश का तो कहीं प्रमाण मिलता नहीं अपितु सृष्टि विनाश का क्रमिक वर्णन ही मिलता है। कार्य के अनुसार सब की उत्पत्ति-विनाश की कल्पना करते हुए, यथादृष्ट कल्पना में भी कोई विरोध तो होता नहीं। इसलिए किसी एक बुद्धिमान की कर्त्तृता मानने से, कार्यता की अनेकता (सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि) पक्ष विशेषणों की असिद्धि एवं दृष्टान्त की साध्य विकलता होती है। क्योंकि-किसी एक की सर्वनिर्माण चातुर्य सम्बन्धी प्रसिद्धि नहीं है। एकमात्र बुद्धिमान का कर्तृत्व मानने से सिद्ध साधनता होती है।

सार्वज्ञसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? उत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता। क्रमेणोत्पद्यमान

ankurnagpal108@gmail.com

सर्ववस्तुगतत्वे अनेककर्त्तृकत्वसाधनात्विरुद्धता। अत्राप्येककर्त्तृकत्वसाधने, प्रत्यक्षानुमानविरोधः शास्त्रविरोधश्च, "कुंभकारो जायते रथकारो जायते" इत्यादि श्रवणात्।

सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-समन्वित, किसी एक कर्त्ता की, साधक, समस्त वस्तुओं की एक साथ होने वाली कार्यता है ? अथवा समस्त वस्तुओं क्रमिक उत्पत्ति है ? समस्त वस्तुओं की एक साथ उत्पत्ति मानने से कार्यता की असिद्धि होती है तथा समस्त वस्तुओं की क्रमिक उत्पत्ति मानने से अनेक कर्तृत्व की सिद्धि होती है, जो कि साधन विरुद्ध है। यहाँ भी एक कर्तृत्व मानने से प्रत्यक्ष और अनुमान से विपरीतता और शास्त्र विपरीतता होती है--"कुंभकार होता है, रथकार होता है" ऐसा भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं का ही वर्णन किया गया है।

अपि च—सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां च सत्वादिगुणकार्यं रूपसुखाद् यन्वयदर्शनेन सत्वादि मूलत्वमवश्याश्रयणीयम्। कार्यं वैचित्र्यहेतुभूताः कारणगता विशेषाः सत्वादयः। तेषां कार्याणां तन्मूलत्वापादनं तद्युक्तपुरुषान्तः करणविकारद्वारेण। पुरुषस्य च तद्योगः कर्ममूल इति कार्यविशेषारम्भायैव, ज्ञानशक्तिवत्कर्त्तुः कर्मसंबन्धः। कार्यहेतुत्वेनैवावश्याश्रयणीयः, ज्ञानशक्ति वैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात्। इच्छायाः कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषितायास्तस्यास्सत्वादिमूलकत्वेन कर्मसंबंधोऽवर्जनीयः, अतः क्षेत्रज्ञा एव कर्त्तारः, न तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात् सिध्यति।

देखा जाता है कि—शरीर आदि सारे कार्य, सत्व-रज और तमोगुण के परिणाम सुख आदि से, संबद्ध रहते हैं; इसलिए सत्त्व आदि को इनका मूल कारण मानना पड़ता है। कार्य वैचित्र्य के मूल कारण सत्त्वादि गुण ही, कारणगत विशेष धर्म हैं। सारे विचित्र कार्य सत्त्व आदि गुण मूलक ही होते हैं। सारे कार्य, सत्वादि गुणों से युक्त पुरुष के अन्तः करण के विकारों के ही परिणाम होते हैं। पुरुषों का गुणों के

ankurnagpal108@gmail.com

साथ जो सम्बन्ध होता है, वह कर्म मूलक होता है। कार्य संपादन में जैसे मनुष्यों को ज्ञान शक्ति मानते हैं, वैसे ही कर्म सम्बन्ध में भी मानना चाहिए, क्योंकि–ज्ञान शक्ति की विचित्रता भी कर्ममूलक ही होती है, इच्छा कार्यारम्भ की हेतु होती है, फिर भी, विषय विशेष से विशेषित वह इच्छा सत्व आदि गुण मूलक ही होती है, इस प्रकार उसका कर्म सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि—जीव ही कर्त्ता है, उसके अतिरिक्त कोई और अनुमान सिद्ध व्यक्तित्व नहीं है।

भवंति च प्रयोगाः–तनुभुवनादि क्षेत्रज्ञकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्। ईश्वरः कर्त्ता न भवति, प्रयोजनशून्यत्वात् मुक्तात्मवत्। ईश्वरः कर्त्ता न भवति, अशरीरत्वात् तद्वदेव। न च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः, तत्राप्यनादेः सूक्ष्मशरीरस्य सद्-भावात् विमति विषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वात् वर्तमान-कालवत् इति।

प्रायः सामान्य लोग कहा करते हैं कि–शरीर, विश्व आदि, घट आदि की तरह, जीव के ही निर्माण हैं। ईश्वर को आवश्यकता ही क्या है कि, वह सृष्ट करे, वह तो मुक्त पुरुष की तरह स्वच्छन्द है। ईश्वर, मुक्त पुरुष की तरह शरीर रहित है, इसलिए वह कर्त्ता हो ही कैसे सकता है? जीवों का कभी शरीराभाव तो हो ही नहीं सकता, जिससे सृष्टि उच्छेद की शंका हो, सूक्ष्म शरीर की तो सदा स्थिति रहती है। कोई भी ऐसा समय नहीं होता जब कि—सृष्टि न रहे, काल का कभी उच्छेद नहीं होता, सदा एकसा काल का चक्र चलता रहता है। इत्यादि

अपि च—किमीश्वरः सशरीरोऽशरीरो वा कार्यं करोति। न तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः। मानसान्यपि कार्याणि सशरीरस्यैव भवंति, मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेषु मुक्तेषु तत्कार्य अदर्शनात्। नापि सशरीरः विकल्पासहत्वात्। तच्छरीरं किं नित्यम्? उत नित्यम्? न तावन्नित्यम्, सावयवस्य तस्य नित्यत्वे

ankurnagpal108@gmail.com

जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिध्देः। नाप्यनित्यम्, तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात्। स्वयमेव हेतुरिति चेत्, न, अशरीरस्य योगात्। अन्येन शरीरेण सशरीर इति चेत्, न, अनवस्थानात्।

और भी तर्क किये जाते है कि यदि ईश्वर जगत बनाता है तो क्या शरीर धारण करता है अथवा नहीं ? विना शरीर वाला होकर तो वह सृष्टि कर नहीं सकता, बिना शरीर वाले का कोई निर्माण कार्य देखा नही जाता। मानस कार्य भी शरीरधारी के ही होते है, मन के नित्य होते हुए भी, मुक्त पुरुषों में मानस कार्य का अभाव होता है। ईश्वर शरीर धारण कर, सृष्टि करता है, यह भी थोथा तर्क है। यदि ईश्वर का शरीर है तो वह नित्य है या अनित्य ? नित्य तो हो नही सकता, उसकी नित्य साकारता स्वीकारने से, साकार जगत को भी नित्य मानना पड़ेगा और फिर नित्य जगत के उत्पादन में ईश्वर की उपयोगिता ही क्या रहेगी ? ईश्वर का शरीर अनित्य भी नही हो सकता क्योंकि–ईश्वर के शरीर के निर्माता का कोई वर्णन नहीं मिलता। वह स्वयं तो अपने शरीर का निर्माता हो नहीं सकता, कोई भी अशरीरी, शरीर का निर्माता नहीं हुआ करता। अपने अन्य शरीर से वह शरीर निर्माण करता है, ऐसा मानने से अनेक अन्य निर्माता शरीरों की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः अनवस्था उपस्थित होगी।

स किं सव्यापारो निर्व्यापारो वा ? अशरीरत्वादेव न सव्यापारः। नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति मुक्तात्मवत्। कार्यं जगदिच्छामात्रव्यापारकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, दृष्टान्तस्य च साध्यहीनता। अतो दर्शनानुगुण्येन ईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतः सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः।

वह ईश्वर सचेष्ट है अथवा निश्चेष्ट ? (यह भी विचारणीय हैं) वह शरीरी नहीं है, इसलिए सचेष्ट नहीं कह सकते। निश्चेष्ट भी नहीं

ankurnagpal108@gmail.com

कह सकते, क्योंकि–वह मुक्तात्माओं की तरह कार्य करता है। इच्छामात्र चेष्टा कर्तृक, जागतिक कार्य मानने से, पक्ष की अप्रसिद्ध विशेषता होती है (अर्थात् जगत के लिए कोई भी ऐसा विशेषण नहीं मिलता, जिसमें यह कहा गया हो कि–वह इच्छात्मक है) ऐसा मानने से दृष्टान्त भी साध्य नहीं होता (अर्थात् सृष्टि के सम्बन्ध में जो कुम्हार का दृष्टान्त दिया जाता है, वह भी विपरीत सिद्ध होगा, क्योंकि-इच्छामात्र से कुम्हार का कार्य होते नहीं देखा जाता) इस प्रकार प्रत्यक्ष के अनुसार ईश्वर सम्बन्धी अनुमान असिद्ध हो जाता है। इससे मानना होगा कि–परब्रह्म रूप सर्वेश्वर पुरुषोत्तम, एकमात्र शास्त्र प्रमाण से ही परिज्ञान हैं।

शास्त्रन्तु सकलेतर प्रमाण परिदृष्टसमस्तवस्तु विसजातीयं सार्वज्ञसत्य कल्पत्वादि मिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारगुण सागरं निखिलहेय प्रत्यनीक स्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरावसितवस्तु साधर्म्यप्रयुक्तदोषगंधप्रसंगः। यत्तु निमित्तोपादानयोरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं चानुपलब्धम् अशक्यप्रतिपादनमित्युक्तम्, तदप्यविरुद्धमिति "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" न वियदश्रुतेः 'इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते। अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेनशास्त्रैकविषयत्वात् "यतो वा इमानि भूतानि" इति वाक्यं उक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम्।

शास्त्र-अन्यान्य प्रमाणों से सिद्ध होनी वाली समस्त वस्तुओं से विलक्षण; सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता आदि से युक्त, सीमा और तारतम्य रहित, अत्यन्त अपरिमित, उदार गुणों के सागर, हीन और निकृष्ट गुणों से रहित, उसी ईश्वर का वर्णन करते है इसलिए अन्य प्रमाणों से निर्णीत अन्य वस्तुओं से, ईश्वर से समता की बात, कही नहीं जा सकती।

और जो यह कहा कि—एक ही वस्तु की निमित्त और उपादान कारणता तथा निराकार आकाश आदि की उत्पति कहीं देखी नहीं जाती न शक्य ही है। यह आपका कथन ठीक है, पर यह हमारे सिद्धान्त से विरुद्ध नहीं होता। इसकी अविरुद्धता का हम "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा

ankurnagpal108@gmail.com

दृष्टान्तानुपरोधात् "न वियदश्रुतेः" सूत्रों में सुष्ठु प्रतिपादन करेंगे। अन्य प्रमाणों से अगम्य वह ईश्वर, एकमात्र शास्त्र का ही विषय है" "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य, उक्त लक्षणों वाले ब्रह्म के ही प्रतिपादक सिद्ध होते हैं।

४ समन्वयाधिकरण :—

यद्यपि प्रमाणान्तरागोचरं ब्रह्म; तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याशंक्याह—

ब्रह्म, यद्यपि अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है, फिर भी, शास्त्र कभी स्वतः सिद्ध ब्रह्म का, प्रतिपादक नहीं हो सकता, क्योंकि–ईश्वर में प्रवृति निवृति कुछ भी नही है–इस संशय पर कहते है—

तत्तु समन्वयात् ।१।१।४—

प्रसक्ताशंकानिवृत्यर्थः तु शब्दः। तत् शास्त्र प्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवत्येव। कुतः? समन्वयात्-परमपुरुषार्थतयाऽन्वयः समन्वयः, परम् पुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात्।

की गई आशंका की निवृति के लिए, सूत्र में तु शब्द का प्रयोग किया गया है। तत् शब्द ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता की सम्भावना का द्योतक है। सारे शास्त्र, एक मात्र ईश्वर को ही परं पुरुषार्थ प्रतिपादन करते हैं। विधिपूर्ण अन्वय अर्थात् सम्बन्ध को ही समन्वय कहते है, अर्थात् सारे शास्त्र ईश्वर को पर पुरुषार्थ मानने में एकमत है, इसीसे ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता सिद्ध होती है।

एवमिव समन्वितो हि औपनिषदः पदसमुदायः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—"तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" "ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्"— "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" — "एको ह वै नारायण आसीत् " आनन्दो ब्रह्म" इत्येवमादिः।

ankurnagpal108@gmail.com

औपनिषद् पद समूह इसी प्रकार एक मत है—"जिससे यह सारा भूत समुदाय उत्पन्न होता है—हे सौम्य। सृष्टि के पूर्व यह जगत निश्चित ही एक अद्वितीय सत था-उसने इच्छा की अनेक हो जाऊँ तब उसने तेज की सृष्टि की—यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म रूप ही था। सृष्टि के पूर्व यह आत्म स्वरूप ही था— ब्रह्म, सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप है—इस आत्मा से आकाश प्रकट हुआ—सृष्टि के पूर्व प्रसिद्ध यह नारायण रूप ही था-ब्रह्म आनंद स्वरूप है।" इत्यादि।

न च व्युत्पत्तिसिद्धपरिनिष्पन्नवस्तुप्रतिपादनसमर्थानां पदसमुदायानां अखिलजगदुत्पत्तिस्थितिविनाशहेतु भूताशेषदोष प्रत्यनीकापरिमितोदारगुणसागरानवधिकातिशयानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि समन्वितानां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजन विरहादन्यपरत्वं, स्वविषयावबोधपर्यंवसायित्वात् सर्वं प्रमाणानाम् न च प्रयोजनानुगुणा प्रमाण प्रवृत्तिः। प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम्। न च प्रवृत्तिनिवृत्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम् पुरुषान्वयप्रतीतेः। तथा स्वरूप परेष्वपि "पुत्रस्तेजातः "नायंसर्प" इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूप प्रयोजनवत्वं दृष्टम्।

शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार सुव्यवस्थित वस्तु के प्रतिवादन में समर्थ शास्त्रीय पदों का, जब समस्त जगत की सृष्टि-स्थिति और प्रलय के हेतु निर्दोष, असीम उदार गुणों के सागर, अत्यन्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म में ही ऐकमत्य है तब, प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप प्रयोजन रहित ईश्वर के होने से, शास्त्रों की अन्यपरता होगी; ऐसी शंका भी असंगत है। समस्त प्रमाणों की, अपने अपने विषयों को सुस्पष्ट करा देने में ही चरितार्थता होती है। प्रयोजन के अनुसार प्रमाणों की प्रवृत्ति होती हो, ऐसा भी नहीं है, अपितु प्रयोजन ही प्रमाणों के अनुरूप होता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति एकता से रहित वाक्यों को प्रयोजन हीन भी नही कहा जा सकता, क्योंकि—सारे वाक्य परमपुरुषार्थ में एक मत प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार "तुम्हारे पुत्र हुआ" यह सर्प नहीं है" इत्यादि निष्पन्नार्थ बोधक वाक्यों में भी, हर्ष और भय निवृत्ति रूप प्रयोजन दिखलाई देता है।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्राह-न वेदांतवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयंति, प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वय विरहिणः शास्त्रस्यानर्थक्यात् । यद्यपि प्रत्यक्षादीनि वस्तुयाथात्म्याव-बोधे पर्यवस्यन्ति, तथाऽपि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसाय्येव न हि लोक-वेदयोः प्रयोजनरहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्धचरः। न च किंचित प्रयोजनमनुदिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा संभवति । तच्च प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्ट प्राप्तिपरिहारात्मकमुप-लब्धम् "अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्"––मंदाग्निर्नाम्बुपिवेत्"––स्वर्ग-कामो यजेत्"––न कलंजं भक्षयेत्"––इत्येवमादिषु यत्पुनः सिद्ध-वस्तुपरेष्वपि "पुत्रस्ते जातः"— "नायं सर्पः रज्जुरेषा" इत्यादिषु हर्ष-भयनिवृत्तिरूपपुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम् । तत्र किं पुत्रजन्मा-द्यर्थात्पुरुषार्थावाप्तिः ? उत् तत् ज्ञानादिति विवेचनीयम् हताऽप्य-ज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तत् ज्ञानादिति चेत्-तर्हि असत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थः सिध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजनपर्यवसायि-नोऽपि शास्त्रस्य नार्थसद्भावे प्रमाण्यम् । तस्मात् सर्वत्र प्रवृत्ति-निवृत्ति परत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजनपर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासभवान्त वेदांताः परि-निष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयंति ।

(इस पर प्रतिपक्षी कहते हैं)—वेदांत वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नहीं हो सकते, प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रतिपादन रहित शास्त्र व्यर्थ होते हैं । यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, वस्तु के यथार्थस्वरूप को ही ज्ञात कराने में चरि-तार्थ हैं, तथापि शास्त्र प्रमाण एकमात्र प्रयोजन बोधक ही होता है । लोक और वेद कहीं भी प्रयोजन रहित किसी भी वाक्य का प्रयोग नहीं देखा जाता, और न थोड़े प्रयोजन के बिना वाक्य का प्रयोग ही मिलता है [अर्थात् बिना प्रयोजन के कोई नहीं बोलता] प्रयोजन, मनुष्य की प्रवृति और निवृति के अनुसार इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट त्याग रूप ही होता है । "धन के इच्छुक को राजा के पास जाना चाहिए"––मंदाग्नि

ankurnagpal108@gmail.com

ग्रसित व्यक्ति को जल पीना चाहिए—"स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिये"—"कर्लंज नहीं खाना चाहिए" इत्यादि प्रमाण उक्त बात की ही पुष्टि करते हैं ।"

जो यह कहा कि--सिद्ध वस्तु परक "तुम्हारे पुत्र हुआ" "यह सर्प नही रस्सी है" इत्यादि वाक्यों में हर्ष और भय निवृत्ति रूप अभीष्ट निहित है; सो यहां विचारणीय यह है कि–पुत्र जन्म आदि घटना से, अभीष्ट है, अथवा पुत्र जन्म विषयक ज्ञान मात्र से (अभीष्ट होता है)? विद्यमान वस्तु भी ज्ञान की विषय हुए बिना प्रयोजन साधक नहीं होती, तद् विषयक ज्ञान ही अभीष्ट होता है उक्त मत मानने से; पदार्थ के बिना, केवल ज्ञान से ही अभीष्ट सिद्धि होगी, पदार्थ की सत्ता तो आवश्यक होगी नही तथा प्रयोजन पर्यवसान ही शास्त्र का उद्देश्य होगा, वह पदार्थ का अस्तित्व सूचक तो होगा नही, पदार्थ के अस्तित्व में तो उसे प्रामाणिक कहा नहीं जा सकता। इससे स्पष्ट है कि–सब जगह प्रवृत्ति निवृत्ति परक और तद् विषयक ज्ञान प्रति पादक शास्त्र ही, स प्रयोजन या सार्थक है; शुद्ध स्वतः सिद्ध वस्तु "ब्रह्म" के प्रतिपादन में किसी वाक्य का तात्पर्य नहीं है, इसलिए वेदांत वाक्य ब्रह्म प्रतिपादक नहीं हो सकते।

अत्रकश्चिदाह—वेदांतवाक्यान्यपि कार्यपरतयैव ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवंति-कथं निष्प्रपंचमद्वितीयं ज्ञानैकरसं ब्रह्म अनाद्य-विद्यया स प्रपंचतया प्रतीयमानं निष्प्रपंचं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपंच प्रविलयद्वारेण विधिविषयत्वमिति। कोऽसौ दृष्टदृश्यरूपप्रपंच प्रविलयद्वारेण साध्यज्ञानैकरसब्रह्मविषयो विधिः। न दृष्टेः दृष्टारं पश्येन मर्म येन्तारं मन्वीथाः "इत्यादि :। द्रष्ट दृश्यरूपभेदशून्यं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः। स्वतः सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपंचता-रूपेण कार्यत्वमविरूद्धमिति।

इस पर किसी का कथन है कि–वेदांत वाक्य क्रिया परक होकर ही, ब्रह्म में प्रमाण भाव का अनुभव करते हैं। निष्प्रपंच (भेद रहित) एकमात्र ज्ञान स्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म, अनादि अविद्यावश, सप्रपच प्रतीत

ankurnagpal108@gmail.com

होता है। ब्रह्म को निष्प्रपंच बतलाने के लिए, ब्रह्म के प्रपंच विलय के वर्णन की विधि कही गई है। जीव नामधारी ब्रह्म, प्रपंच से मुक्त हो जाय, इसीलिए अनुष्ठान की विधि कही गई है, इसलिए सारे वाक्य ब्रह्म परक ही हैं। दृष्टि दृश्यात्मक जगत्-प्रपंच विलयन द्वारा ब्रह्म की ज्ञानैकरूपता का साधन करने वाली वह विधि क्या है ? इसका उत्तर— "न दृष्टे द्रष्टारं पश्येः न मन्तेर्मन्तारं मन्वीथाः" इत्यादि वाक्य में दिया गया है। अर्थात् ब्रह्म को, दृष्टा और दृश्य भेद से शून्य केवल दृशिमात्र रूपवाला जानो। स्वतः सिद्ध होते हुए भी, ब्रह्म की कार्यता निष्प्रपंचता रूप होने से, विरूद्ध नहीं होती।

तदयुक्तम्-नियोगवाक्यार्थवादिनां हि नियोगः, नियोज्य-विशेषणम्, विषयः करणम्, इति कर्त्तव्यता, प्रयोक्ता च वक्तव्याः। तत्र हि नियोज्यविशेषणमनुपादेयम्। तच्च निमित्तं फलमिति द्विधा। अत्र किं नियोज्य विशेषणं, तच्च किं निमित्तं फलं वेति विवेचनीयम्। ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्चेन्नियोज्यविशेषणम्, तर्हि न तन्निमितम्, जीवनादिवत्तासिद्धत्वात् निमित्तत्वे च तस्य नित्यत्वेनापवर्गोत्तरकालमपि जीवन्निमित्ताग्निहोत्रादिवत् नित्य-तद्विषयानुष्ठानप्रसंगः। नापि फलं नैयोगिकफलत्वेन स्वर्गादि-वदनित्यत्वप्रसंगात्।

उक्त कथन असंगत है—नियोग को ही वाक्य का अर्थ बतलाने वाले को ही, नियोग, नियोज्य विशेषण विषय करण या साधन, इति कर्त्तव्यता (अनुष्ठान की पूर्वा पर कर्त्तव्य प्रणाली) और प्रयोक्ता इन सबका निर्धारण करके कुछ कहना चाहिए। वहाँ पर (निष्प्रपंचीकरण में) नियोज्य-विशेषण की तो कोई उपादेयता ही नहीं है। नियोज्य-विशेषण, निमित्त और फल रूप से दो प्रकार का होता है। उक्त स्थल में कौन सा नियोज्य-विशेषण हो सकता है, यह विवेचनीय विषय है। ब्रह्मस्वरूप के यथार्थ अनुभव को ही, नियोज्य-विशेषण कहा जाय, तो भी वह निमित्त तो हो नहीं सकता क्यों कि—वह जीवन की तरह सिद्ध अर्थात् पूर्वनिष्पन्न तो है नहीं, जिससे वह निमित्त हो सके। ब्रह्म के यथार्थ

ankurnagpal108@gmail.com

अनुभव को निमित्त मान भी लें तो, जीवन निमित्तक (आजीवन) अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान की तरह नित्य हो जायगा, जिससे मोक्ष के बाद भी उसका अनुष्ठान आवश्यक हो जायगा। फल नियोज्य विशेषण भी नहीं हो सकता, क्यों कि–फलस्वरूप होने से, नियोग निष्पन्न स्वर्ग आदि फल की तरह, ब्रह्म ज्ञान का फल भी अनित्य हो जायगा।

कश्चात्र नियोगविषयः ? ब्रह्मवेति चेत्, न–तस्य नित्यत्वे नाभव्यरूपत्वात्, अभावार्थत्वाच्च। निष्प्रपंचंब्रह्म साध्यमिति चेत्, साध्यत्वेऽपि फलत्वमेव। अभावार्थत्वान्न विधिविषयत्वम्। साध्यत्वं च कस्य ? किं ब्रह्मणः ? उत् प्रपंचनिवृत्तेः ? न तावत् ब्रह्मणः सिद्धत्वात्, अनित्यत्वं प्रसक्तेश्च। अथ प्रपंचनिवृत्तेः। न तर्हि ब्रह्मणः साध्यत्वम्। प्रपंचनिवृत्तिरेकविधि विषय इति चेत्, न-तस्याः फलत्वेन विधिविषयत्वायोगात्। प्रपंचनिवृत्तिरेव हि मोक्षः। स च फलम्। अस्य च नियोगविषयत्वे नियोगात् प्रपंचनिवृत्तिः प्रपंचनिवृत्त्या नियोगः इतीतरेतराश्रयत्वम्।

यहाँ नियोग का विषय है कौन ? ब्रह्म को नियोग का विषय कहना असंगत होगा, क्यों कि–ब्रह्म नित्य है इसलिए वह भाव्य अर्थात् क्रिया संपाद्य नहीं हो सकता। निष्प्रपंचीकरण रूप नियोग का विषय यदि ब्रह्म हो जायगा तो उसमें अभावात्मकता होगी; यदि ब्रह्म के निष्प्रपंचभाव को ही साध्य मानते हो तो, वह साध्य होकर फ़लमात्र ही रहेगा, अभावात्मक होने के कारण, विधिका विषय तो हो नहीं सकेगा। फिर यहाँ साध्यता है किसकी ? ब्रह्म की या प्रपंचनिवृत्ति की ब्रह्म की तो हो नहीं सकती, क्यों कि वह तो नित्य सिद्ध है, साध्य मानने से वह अनित्य हो जावेगा। प्रपंचनिवृत्ति की साध्यता होने पर फिर ब्रह्म की तो साध्यता हो नहीं सकती। प्रपंच निवृत्ति को ही विधि का विषय नहीं कह सकते, क्यों कि–उसे विधि का फल बतलाया गया है, इसलिए वह विधि का विषय नहीं हो सकता। प्रपंच की निवृत्ति ही मोक्ष है, और वही फल है। मोक्ष नामक फल को विधि का विषय बतलाने से अन्योन्याश्रय दोष होगा, अर्थात् नियोग जैसे प्रपंच निवृत्ति

ankurnagpal108@gmail.com

का कारण है, उसी प्रकार प्रपंचनिवृत्ति भी नियोग का कारण हो जायगा।

अपि च–किं निवर्त्तनीयः प्रपंचो मिथ्या रूपो सत्यो वा? मिथ्यारूपत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किंचित् प्रयोजनम्। नियोगस्तु निवर्त्तकज्ञानमुत्पाद्यतद् द्वारेण प्रपंचस्य निवर्त्तक इति चेत् तत् स्ववाक्यादेव जातमिति नियोगेन न प्रयोजनम्। वाक्यार्थ-ज्ञानादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यकृत्स्नस्यमिथ्याभूतस्यप्रपंचस्य बाधित-त्वात् सपरिकरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च। प्रपंचस्य निवर्त्यत्वे प्रपंच-निवर्त्तको नियोगः किं ब्रह्मस्वरूपमेव उत् तद्व्यतिरिक्तः? यदि ब्रह्मस्वरूपमेव निवर्त्तकस्य नित्यतया निवर्त्यप्रपंच सद्भाव एव न संभवति। नित्यत्वे न नियोगस्य विषयानुष्ठान साध्यत्वं च न घटते। अथ ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्तः तस्य कृत्स्न प्रपंचनिवृत्ति रूप-विषयानुष्ठान साध्यत्वेन प्रयोक्ता च नष्ट इत्याश्रयाभावादसिद्धिः: प्रपंचनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठाने नैव ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वात् न नियोग निष्पाद्यं मोक्षाख्यंफलं।

और भी एक बात विचारणीय है–निवर्त्तनीय प्रपंच मिथ्यारूप है अथवा सत्य? यदि मिथ्या है तो उसकी ज्ञान से ही निवृति हो सकती है, नियोग की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यदि कहो कि–नियोग ही, निवर्त्तक ज्ञान को उत्पन्न करके, उसके द्वारा प्रपंच की निवृत्ति कराने वाला निवर्त्तक है, तो श्रुति के वाक्य से ही जब ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है तो नियोग की आवश्यकता ही क्या है? वाक्यार्थ ज्ञान से ही जब, ब्रह्म से भिन्न, मिथ्यारूप सारा प्रपंचमय जगत बाध्य है तो नियोग और नियोगांग सभी व्यर्थ हैं। यदि नियोग को प्रपंच निवर्त्तक मान भी लें, तो उस प्रपंच निवर्त्तक नियोग का स्वरूप क्या होगा? वह ब्रह्म स्वरूप है अथवा कोई भिन्न वस्तु है? यदि ब्रह्म स्वरूप है तो, ब्रह्म की नित्यता से निवर्त्य प्रपंच भी नित्य हो जायगा तथा वह फिर प्रपंच तो

ankurnagpal108@gmail.com

रहेगा नहीं। नियोग की नित्यता होने से विषयानुष्ठान (यागादि क्रिया) की साध्यता भी समाप्त हो जायगी। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नियोग है तो उसकी संपूर्ण प्रपंचनिवृत्तिरूप विषयानुष्ठान साध्यता और प्रयोक्ता दोनों ही नष्ट हो जावेंगे तथा आश्रय के अभाव से वह स्वयं (नियोग) भी अस्तित्व हीन हो जायगा। प्रपंचनिवृत्ति रूप अनुष्ठान से ही, ब्रह्म भिन्न समस्त वस्तुओ की निवृत्ति हो जायगी, फिर नियोग निष्पाद्य, मोक्ष नामक फल भी न होगा।

किं च प्रपंचनिवृत्ते नियोगकरणस्य इति–कर्त्तव्यताऽभावात् अनुपकृतस्य च करणत्वायोगान्न करणत्वं। कथं इतिकर्त्तव्यता अभाव इति चेत्, इत्थम स्यैति कर्त्तव्यता भावरूपा अभावरूपा वा? भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्तितदनुग्रहकार्यं भेदभिन्ना। उभयविधा च न संभवति। न हि मुद्गरादि घातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपंचस्य निवर्त्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्था न संभवति। नापि निष्पन्नस्य करणस्य कार्योत्पत्तावनुग्रहः संभवति। अनुग्राह-कांश सद्भावेन कृत्स्नप्रपंचनिवृत्ति रूपकरण स्वरूपासिद्धेः। ब्रह्मणोऽद्वियत्वज्ञानं प्रपंचनिवृत्ति रूपकरण शरीरं निष्पादयतीति चेत् तेनैव प्रपंचनिवृत्तिरूपो मोक्षः सिद्ध इति न करणादि निष्पाद्यम्, अवशिष्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। अभावरूपत्वे चाभावा-देव न करणशरीरं निष्पादयति। नाऽप्यनुग्राहकः अतो निष्प्रपंच ब्रह्मविषयो विधिर्न संभवति।

नियोग की करण रूप प्रपंचनिवृत्ति की इति कर्त्तव्यता के अभाव से उसके अनुकर्त्ता करणता का भी अभाव हो जाने से, करणता ही समाप्त हो जाती है (इसलिए प्रपंचनिवृत्ति कभी नियोग का करण नही हो सकती) यदि कहें कि–इति कर्त्तव्यता का अभाव कैसे हो सकता है? तो सुनिये—इतिकर्त्तव्यता भावरूप या अभावरूप होती है। भावरूप वह दो प्रकार की होगी, एक करण शरीर स्वरूप निष्पादक, दूसरी करण की अनुग्राहक (उपकारी) सो, यहाँ दोनों प्रकार की नही हो

ankurnagpal108@gmail.com

सकती। तण्डुल निष्पादक मुदगर (मुसल) आदि के आघात की तरह, संपूर्ण प्रपंच का निवर्त्तक ऐसा कोई नही दीखता, जिससे उसकी निवृत्ति हो सके, इसलिए दृष्टार्थ इति कर्त्तव्यता तो सभव है, नही और न, निष्पन्न करण का कर्म योग्यता संपादक अनुग्रह ही संभव है। केवल अनुग्राहक अंश से ही निखिल जगत की प्रपंच की करणता हो सके ऐसा संभव नही है। यदि कहें कि–ब्रह्म का अद्वैत रूप ज्ञान ही प्रपंचनिवृत्ति रूप करण शरीर का निष्पादन कर सकता है। जब उसी से प्रपंच निवृत्ति रूप मोक्ष हो सकता है तो, करण निष्पाद्य, कुछ भी शेष नहीं रह जाता, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। यदि इति कर्त्तव्यता अभावरूप है तो वह अस्तित्वहीन होने से, न करण के शरीर का निष्पादन कर सकती है, न अनुग्रह ही। इससे स्पष्ट होता है कि—ब्रह्म के निष्प्रपंचीकरण की विधि संम्भव नहीं है।

अन्योऽप्याह-यद्यपि वेदांतवाक्यानां न परिनिष्पन्न ब्रह्म स्वरूपपरतमा प्रामाण्यम्, तथापि ब्रह्मस्वरूपं सिद्धत्येव। कुतः? ध्यानाविधिसामर्थ्यात्। एवमेव हो समामनन्ति। "आत्मा वाऽरेद्रस्ष्टव्यः 'निदिध्यासितव्यः-"यः आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य"-"आत्मेत्येवोपासीत्"-"आत्मानमेव लोकमुपासीत्" इति। अथ ध्यानविषयो हि नियोगः स्वविषय भूतध्यानं ध्येयैकनिरूपणीयम्-इति ध्येयमाक्षिपति। स च ध्येयः स्ववाक्य निर्दिष्ट आत्मा। स किं रूप इत्यपेक्षायां तत् स्वरूपविशेषसमर्पणद्वारेण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" सदेव सोम्येदमग्र आसित्"इत्येवमादीनां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतया प्रामाण्यम्-इति विधिविषयभूतध्यानशरीरानुप्रविष्ट ब्रह्म स्वरूपे अपि तात्पर्यमस्त्येव। "अतः एकमेवाद्वितीयम्" 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः "नेह नानास्ति-किंचन"इत्यादिभिः ब्रह्मस्वरूपमेकमेव सत्यं तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्येवगम्यते। प्रत्यक्षादिभिर्भेदावलंबिना च कर्म शास्त्रेण भेदः प्रतीयते।

ankurnagpal108@gmail.com

भेदाभेदयोः परस्परविरोधे सत्यनाद्यविद्यामूलत्वेनापि भेद प्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थं इति निश्चीयते । तत्र ब्रह्म-ध्याननियोगेन तत्साक्षात्कारफलेन निरस्तसमस्ताविद्याकृत विविधभेदाद्वितीयज्ञानैकरसब्रह्मरूप मोक्षः प्राप्यते ।

एक बात और भी है यद्यपि वेदांत वाक्यों की परिनिष्पन्न सिद्धवस्तु परब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में प्रमाणिक नहीं है फिर भी ध्यानविधि के सामर्थ्य से ब्रह्म का स्वरूप तो प्रामाणित होता ही है। ऐसा श्रुति प्रमाण भी है -''अरे! आत्मा द्रष्टव्य और ध्येय है' "जो निष्पाप है वह अन्वेषणीय है "वही विशेष रूप से जिज्ञास्य है "आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर उपासना करनी चाहिए ''इत्यादि। यहाँ ध्यान के विषय में नियोग (विधि) है। नियोग का विषय रूप ध्यान कार्य,ध्येय सापेक्ष है। अर्थात् ध्येय के जाने बिना ध्यान हो नहीं सकता, इस प्रकार नियोग ही ध्येय वस्तु का अस्तित्व ज्ञापन करती है। स्व-पद वाच्य आत्मा ही ध्येय है,वह कैसा है? ऐसी आकांक्षा होने पर''ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है' हे सौम्य! यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था ''इत्यादि वाक्य आकांक्षित आत्मा के स्वरूप का प्रकाशन करके ध्यान विधि के अंग रूप से प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार विधि के विषय रूप ध्यान से संश्लिष्ट ब्रह्म का स्वरूप भी,उक्त वाक्य का तात्पर्य है, ऐसा स्वीकारना होगा। "एक अद्वितीय ही निश्चित है" जो सत्य वही आत्मा है "जगत में कोई भिन्नता नहीं है" इत्यादि वाक्यों से एकमात्र ब्रह्म का स्वरूप ही सत्य ज्ञात होता है। प्रत्यक्ष आदि भेदावलम्बी प्रमाणों और कर्मशास्त्र से भेद की प्रतीति होती है। यद्यपि इस प्रकार भेद और अभेद दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं,पर भेद प्रतीति को अनादि अविद्यामूलक मान लेने से विरोध का परिहार हो जाता है तथा अभेद प्रतीत ही परमार्थ रूप पर निश्चित होती है और फिर,ब्रह्म साक्षात् रूप फल वाले,ब्रह्म ध्यान नियोग (विधि) से अविद्याकृत सारे भेद समाप्त हो जाते हैं एवं अद्वितीय ज्ञानैकस्वभावब्रह्मस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

न च वाक्यात् वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्म भावसिद्धिः

ankurnagpal108@gmail.com

अनुपलब्धेः विविधभेददर्शनानुवृत्तेश्च। तथा च सति श्रवणादि विधानमनर्थकं स्यात्।

वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से,ब्रह्म भाव की सिद्धि नही हो सकती ऐसा कहीं देखा भी नहीं जाता बड़े बड़े वाक्यार्थ ज्ञानियों में भी भेद दर्शन की अनुवृत्ति बनी ही रहती है। यदि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से ब्रह्म भाव की सिद्धि संभव भी हो जाय तो श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय विधि व्यर्थ हो जायेंगी।

अथोच्येत्—"रज्जुरेषा न सर्पः" इत्युपदेशेन सर्पभयनिवृत्ति दर्शनात् रज्जुसर्पवत् बन्धस्य च मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानबाध्यतया तस्य वाक्यजन्यज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता, न नियोगेन। नियोग साध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात् स्वर्गादिवत्। मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादि संप्रतिपन्नम्। किं च—धर्माधर्मयोः फलहेतुत्वं स्वफलानुभवानुगुण शरीरोत्पादनद्वारेणेति ब्रह्मादिस्थावरान्तचतुर्विधशरीरसंबंधरूप संसार फलत्वमवर्जनीयम्। तस्मान्नधर्मसाध्यो मोक्षः। तथा च श्रुतिः—"स ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसंतं न प्रियाप्रियेस्पृशतः।" इति, अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मसाध्यप्रियाप्रियविरहश्रवणात्, न धर्मसाध्यमशरीरत्वमिति विज्ञायते। न च नियोगविशेष साध्यफल विशेषवत् ध्याननियोग साध्यमशरीरत्वम्, अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात्। यथाहुः श्रुतयः—"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वनवस्थितम्, महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" अप्राणोह्यमनाश्शुभ्रः", असंगोह्ययं पुरुषः" इत्याद्याः। अतोऽशरीरत्वरूपो मोक्षो नित्य इति न धर्मसाध्यः। तथा च श्रुतिः "अन्यत्र धर्मादन्यत्रादधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यतितद्वद" इति।

इस पर कहते हैं "यह रस्सी है सर्प नहीं" इस उपदेश से सर्प भयनिवृत्ति देखी जाती है। रज्जुसर्प की तरह बंधन जब मिथ्या है तथा

ankurnagpal108@gmail.com

मिथ्या होने से ही वह ज्ञान द्वारा निवार्य है, तो वाक्यार्थज्ञान से ही भेद बुद्धि का निवारण हो जायगा, नियोग (विधि) की आवश्यकता तो समझ में आती नहीं। मोक्ष को यदि नियोग साध्य मानेंगे तो स्वर्गादि की तरह उसकी अनित्यता भी स्वीकारनी पड़ेगी, जबकि मोक्ष की नित्यता सभी लोग मानते हैं।

तथा जब, धर्म और अधर्म, अपने फलभोग के उपयुक्त शरीरोत्पादक होने से ही फल के हेतु कहे जाते हैं। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त चारों प्रकार के शरीरों से संबधित संसार की प्राप्ति अवश्यंभावी हो जावगे इसलिए मोक्ष को धर्म साध्य नहीं मान सकते। ऐसा ही श्रुति का प्रमाण भी है—"शरीरधारी उसके प्रिय और अप्रिय (सुख और दुःख) निवृत्त नहीं होते, शरीर रहित होने पर प्रिय अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते" इस प्रकार शरीर रहित मोक्ष में, धर्म-अधर्म से साध्य प्रियअप्रिय की हीनता कही गई है। इससे ज्ञात होता है कि—मोक्ष वस्तु धर्म साध्य नहीं है। ऐसा भी नही है कि—नियोग (विधि विशेष) साध्यफल विशेष की तरह, ध्यान नियोग से, अशरीरता साध्य हो सके। अशरीरता ही तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, इसलिए वह किसी भी प्रकार साध्य नहीं हो सकता। जैसा कि—श्रुतियाँ कहती हैं—"स्वभाव से अशरीर, अनवस्थित (क्षणभंगुर) शरीरों में स्थित, महान और विभु आत्मा का मनन करके धीर व्यक्ति, शोक नहीं करते"—आत्मा, प्राण और मन रहित समुज्वल है "यह आत्मा अनासक्त है, इत्यादि। इस प्रकार अशरीरतारूप मोक्ष नित्य है, इसलिए धर्मसाध्य नहीं हो सकता। वैसा ही श्रुतिवाक्य भी है—"धर्म से पृथक् अधर्म से पृथक्, भूत-भविष्य-वर्त्तमान घटित पदार्थों से पृथक्, कृतकार्य से पृथक् अकृत से पृथक् जिस वस्तु को आप जानते हों उसे बतलावें।"

अपि च—उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपेण चतुर्विधं हि साध्यत्वं मोक्षस्य न संभवति। न तावदुत्पाद्यः, मोक्षस्य ब्रह्म स्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। नापि प्राप्यः आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणो नित्य प्राप्तत्वात्। नापि विकार्यः दध्यादिवदनित्यत्वप्रसंगादेव। नापि संस्कार्यः संस्कारो हि दोषापनयनेन वा गुणाधानेन वा

ankurnagpal108@gmail.com

साधयति। न तावत दोषापनयनेन वा नित्यशुद्धत्वाद् ब्रह्मणः। नाप्यतिशयाधानेन अनाधेयातिशय स्वरूपत्वात्। नित्यनिर्विकारत्वेन स्वाश्रयायाः पराश्रयायाश्च क्रियाया अविषयतया न निर्घर्षणेनादर्शादिवत् संस्कार्यत्वम्। न च देहस्थया स्नानादि क्रियया आत्मा संस्क्रियते। किंतु अविद्यागृहीतः तत्संगतोऽहंकर्त्ता, तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव। न चाहंकृतैवात्मा तत्साक्षित्वात्। तथा च मंत्रवर्णं "तयोरन्यं पिप्पलं स्याद्वत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति इति।" आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च" संपर्यगाच्छुक्रमकायमब्रह्मणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" इति च। अविद्यागृहीतादहंकर्त्तुरात्मस्वरूपमनाधेयातिशयम् नित्यशुद्धं निर्विकारं निष्कृष्येत। तस्मादात्मस्वरूपत्वेन न साध्योमोक्षः।

उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति और संस्कृति रूप चार प्रकार की साध्यता भी मोक्ष की नहीं हो सकती। मोक्ष की उत्पत्ति तो इसलिए संभव नहीं है कि—वह ब्रह्मस्वरूप होने से नित्य है। उसे प्राप्य इसलिए नहीं कह सकते कि—ब्रह्म स्वरूप होने से नित्य प्राप्त है। उसकी विकृति भी संभव नहीं है, विकृति मानने से वह दही आदि की तरह अनित्य हो जायगा। वह संस्कार्य भी नहीं है; संस्कार दोषों का परिमार्जन कर गुणों का संस्थापन करता है। नित्य शुद्ध ब्रह्म में दोषों के परिमार्जन की बात नितांत असंगत है। ब्रह्म, स्वरूपतः ही अतिशय गुणों वाले हैं इसलिए गुणाधान रूप संस्कार की बात भी उनमें लागू नहीं होती। नित्य निर्विकार होने से, स्वाश्रित या पराश्रित क्रियाओं के अविषय होने के कारण, दर्पण के घर्षण के समान संस्कार का रूप भी नहीं हो सकता। परमात्मा अशरीरी है, इसलिए स्नान आचमन आदि रूप संस्कार भी असंभव है। अविद्या के कारण, देह संश्लिष्ट अहंकार करने वाला, कर्त्ता ही संस्कृत होता है, संस्कार के फलस्वरूप वही फलोपभोग भी करता है।

ankurnagpal108@gmail.com

अहंकार करने वाला स्वाभाविक आत्मा नहीं है, वह तो साक्षी मात्र है, जैसा कि मंत्रवर्णों से ज्ञात होता है—"एक पिप्पल का आस्वाद करता है दूसरा देखता मात्र है।" मनीषी लोग, देह, इन्द्रिय, मन युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।" एक ही देव, समस्त भूतों के अन्दर छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, जीवकर्मों के परिचालक सब भूतों में निवास करने वाले साक्षी, चेतन और निराकार हैं।" शुक्ल (उज्वल अविद्या वासना) रहित, अकाय (सूक्ष्म शरीर रहित) अव्रण (अज्ञानरूप कारण शरीर रहित) अस्नाविर (स्नायु शून्य स्थूल शरीर रहित) काम्यकर्म आदि दोष शून्य, निष्पाप परमात्मा हर जगह व्याप्त हैं। 'इत्यादि वाक्यों में अविद्या रहित, अहंकारी आत्मा के स्वरूप से पृथक् अतिशय गुणवाले नित्य शुद्ध निर्विकार परमात्मा का निर्देश किया गया है। इसलिए आत्म स्वरूपी मोक्ष साध्य तत्व नहीं है (अपितु स्वयं सिद्ध है।)

यद्येवं किंवाक्यार्थज्ञानेन क्रियत इति ? चेत्, मोक्ष प्रतिबन्ध निमित्तमात्रमिति ब्रूमः। तथा च श्रुतयः—"त्वं हि नः पितायोस्माकमविद्यायाः परंपारंतारयसि" श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहंभगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारंतारयतु"—तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" इत्याद्याः। तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य प्रतिबंधनिवृत्तिर्वाक्यार्थज्ञानेन क्रियते। निवृत्तिस्तु साध्याऽपि प्रध्वंसाभावरूपा न विनश्यति। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि वचनं मोक्षस्य वेदनानन्तरभावितां प्रतिपादयन् नियोग व्यवधानं प्रतिरुणद्धि। न विदिक्रिया कर्मत्वेन वा ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः उभयविधिकर्मत्वप्रतिषेधात् "अन्यदेव तद्विदिताद्थो अविदितादपि" येनेदं सर्वं विजानाति तत्केन विजानीयात् "इति। "तदेव ब्रह्मत्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते" इति च।

यदि कहो कि—मोक्ष स्वतः सिद्ध है तो, "तत्त्वमसि" आदि

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्यार्थ ज्ञान से फिर क्या होता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है; वाक्यार्थ ज्ञान, मोक्ष प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र करता है। जैसी कि श्रुति भी है—"आप हमारे पिता हैं, निश्चित आप हमें विद्या द्वारा पार उतार सकते है"—"आप ऐसे लोगों से ही मैंने सुना है कि—आत्मवेत्ता शोक से मुक्त हो जाता है"—"भगवन् ! मैं बड़ा शोकाकुल हूं, कृपया मुझे शोक से मुक्त करिये" "भगवान् सनत्कुमार ऋषि ने भोगवासना रहित उन नारद को अज्ञान से पार मायातीत आत्मस्वरूप) का दर्शन कराया" इत्यादि। इससे ज्ञात होता है कि—वाक्यार्थ ज्ञान, नित्यसिद्ध मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र करता है। निवृत्ति, साध्य होते हुए भी प्रध्वंसाभाव रूपा होती है, नष्ट नहीं होती (उत्पत्ति शील भाव का ही विनाश होता है, अभाव के विनाश का प्रश्न ही उठता) "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है"—"उसको जानकर अमर हो जाता है"—इत्यादि वाक्य, मोक्ष को, ज्ञान का अनन्तरभावी बतलाकर, नियोग व्यवधान का प्रत्याख्यान करते हैं] अर्थात्—ज्ञान द्वारा ही मोक्ष का उपदेश दिया गया है, उसके मध्य में विधि की अधीन क्रिया का कोई स्थान नहीं है] वैदिक क्रिया, या ध्यान क्रिया द्वारा, मोक्ष कार्य में प्रवेश होता हो, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि—दोनों ही प्रकार के कर्मों का निषेध किया गया है—"वह ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से ही पृथक् है"—"जिनसे यह सारा जगत ज्ञेय है, उन्हें किससे जाना जाय" "तुम उसे ही ब्रह्म जानों, इस जगत को नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं" इत्यादि।

न चैतावता शास्त्रस्यनिर्विषयत्वम्, अविद्याकल्पितभेद-निवृत्ति परत्वाच्छास्त्रस्य। नहीदन्तया ब्रह्मविषयी करोति शास्त्रम्, अपितु अविषयं प्रत्यगात्मस्वरूपंप्रतिपादयदविद्याकल्पित ज्ञान ज्ञातृज्ञेय विभागं निवर्त्तयति। तथा च शास्त्रं—"न दृष्टेः दृष्टारंपश्येः" इत्येवमादि। न च ज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरेव श्रवणादि विध्या-नर्थक्यम् स्वभावप्रवृत्तसकलेतरविकल्पविमुखीकरणद्वारेण वाक्या-र्थावगतिहेतुत्वात् तेषाम्। न च ज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्तिर्न दृष्टेति वाच्यम्, बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः।

ankurnagpal108@gmail.com

अतएव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बंधनिवृत्तिरिति वक्तुंयुक्तम्। नहि मिथ्यारूपसर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथात्म्यज्ञानातिरेकेण सर्पविनाशमपेक्षते। यदि शरीर संबंधः पारमार्थिकः तदा हि तद् विनाशापेक्षा। स तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः। यस्य तु बन्धो न निवृत्तः, तस्य ज्ञानमेव न जातमित्यवगम्यते, ज्ञानकार्यादर्शनात्। तस्मात् शरीरस्थितिर्भवतु वा, मा वा, वाक्यार्थज्ञानसमनन्तरं मुक्त एवासौ। अतो न ध्याननियोग साध्यो मोक्ष इति न ध्यानविधिवेषतया ब्रह्मणास्सिद्धिः। अपितु—"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—तत्त्वमसि"—"अयमात्माब्रह्म" इति तत्परेणैव पदसमुदायेन सिध्यतीति।

ब्रह्म की इयत्ता (सीमा) बोधक वाक्यों की निर्विषयता भी नहीं हो सकती, क्योंकि—अविद्या कल्पित भेद की निवृत्ति ही शास्त्र का तात्पर्य होता है। शास्त्र, कभी ब्रह्म को, प्रत्यक्ष वस्तु की तरह "इदं" भी नही कहते, अपितु वे, अविषय जीवात्मा स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए, अविद्या कल्पित, ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-के विभाग का निवारण कर देते हैं—जैसे कि—"दृष्टि के दृष्टा का दर्शन मत करो" इत्यादि।

ज्ञान के द्वारा बन्धन निवृत्ति होने से, श्रवण, मनन आदि विधि व्यर्थ हो जायगी, यह कथन भी ठीक नहीं। ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों में जीवों की जो स्वाभाविक विकल्प बुद्धि होती है, उसी की निवृत्ति के लिए, श्रवण, मनन आदि का विधान है। यह भी नहीं कह सकते कि—ज्ञानमात्र से बंधन मुक्ति नहीं देखी जाती। बंधन मिथ्या वस्तु है, ज्ञानोदय के बाद उसकी स्थिति कदापि संभव नहीं है। सर्पबुद्धि के बिनाश में रज्जु का यथार्थ ज्ञान ही अपेक्षित है, मिथ्या सर्पभय की निवृत्ति, रज्जु के यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य से संभव नहीं है। यदि शरीर के साथ आत्मा का पारमार्थिक संबंध होता, तो निश्चित उस संबंध का विनाश अपेक्षित होता, वह परब्रह्म से अतिरिक्त है, इसलिए पारमार्थिक नहीं हो सकता। जिसका बंधन मुक्त नहीं हुआ, उसे ज्ञान नहीं हुआ, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि—उसमें, ज्ञान के कार्य मुक्ति का अभाव है। शरीर रहे या न रहे, वाक्यार्थ ज्ञान के बाद ही व्यक्ति मुक्त

ankurnagpal108@gmail.com

हो जाता है। इसलिए मोक्ष, ध्यान नियोग साध्य नहीं है। ध्यान विधि के वर्णन से ब्रह्म प्रमाणित भी नहीं होता। अपितु—"ब्रह्म सत्यज्ञान और अनंतरूप है"—"तू वही है"—"यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि तत् परक पदों से ही उसकी सिद्धि होती है।

तदयुक्तम्—वाक्यार्थज्ञानमात्रात् बंधनिवृत्त्यनुपपत्तेः। यद्यपि मिथ्यारूपोबन्धो ज्ञानबाध्यः, तथापि बंधस्यापरोक्षत्वात् न परोक्ष-रूपेण वाक्यार्थज्ञानेन स बाध्यते, रज्ज्वादावपरोक्षसर्पप्रतीतौ वर्त्तमानायां "नायं सर्पोरज्जुरेषा" इत्याप्तोपदेशजनितपरोक्ष सर्प विपरीत ज्ञानमात्रेण भयाग्निवृत्तिदर्शनात्। आप्तोपदेशस्यतु भयनिवृत्तिहेतुत्ववस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्तप्रवृत्ति हेतुत्वेन। तथाहि रज्जुसर्पदर्शनभयात् परावृत्तोपुरुषो "नायं सर्पोरज्जुरेषा" इत्याप्तोपदेशेन तद्वस्तुयाथात्म्यदर्शये प्रवृत्तास्तदेव प्रत्यक्षेण दृष्टवा भयान्निवर्त्तते। न च शब्दएव प्रत्यक्षज्ञानंजनयतीति वक्तुंयुक्तम्, तस्यानिन्द्रियत्वात्। ज्ञानसामग्रीष्विन्द्रियाण्वेव ह्यपरोक्षसाधनानि। न चास्यानभिसंहितफलकर्मानुष्ठानमृदितकषायस्यश्रवणमनन-निदिध्यासनविमुखीकृतनवाह्यविषयस्य पुरुषस्यवाक्यमेवापरोक्षज्ञानं जनयति, निवृत्तप्रतिबन्धेतत्परेऽपि पुरुषे ज्ञानसामग्रीविशेषाणामि-न्द्रियादीनां स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेनतद्योगात्।

उपर्युक्त सब कुछ असंगत है—वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से बंधनमुक्ति नितान्त असंभव है। यद्यपि मिथ्या रूप बंधन ज्ञान बाध्य है, फिर भी बंधन अपरोक्ष है, परोक्ष रूप वाक्यार्थ ज्ञान से वह निवार्य नहीं है। रज्जु आदि में प्रत्यक्ष सर्पभय होता है।" यह सर्प नहीं रज्जु है" ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन मात्र से भय की निवृत्ति नही देखी जाती, क्योंकि—भीत व्यक्ति के समक्ष तो, सर्प की ही प्रवृत्ति रहती है, उक्त आप्तवाक्य तो, अप्रत्यक्ष सर्प विपरीत ज्ञान मात्र ही है। आप्तोपदेश—भयनिवृति हेतुता, वस्तु के यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित रहती है, जैसे कि रज्जु को सर्प मानकर भयभीत पीछे हटा हुआ व्यक्ति "यह सर्प

ankurnagpal108@gmail.com

नहीं रज्जु है" ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन से, वस्तु को यथार्थरूप से देखने में प्रवृत्त होता है, उसको भलीभाँति देख समझकर ही भय से निवृत्त होता है (केवल कहने मात्र से नहीं होता) इसलिए शब्द को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक नहीं कह सकते, क्योंकि वह अतीन्द्रिय तत्त्व है। जितने भी ज्ञान के साधन हैं, उनमें केवल इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष ज्ञान की साधन हैं। निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल मन, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से, विषयपराङ्मुख पुरुष का ज्ञान भी वाक्यार्थमात्र से नहीं हो सकता। जब निर्मल मन वाले, साधन तत्पर व्यक्ति में ही, ज्ञान की साधन, इन्द्रियों की स्वविषक निवृति नहीं देखी जाती, तो सामान्य साधनानुष्ठान विहीन व्यक्ति की चर्चा ही क्या है ?

न च ध्यानस्यवाक्यार्थज्ञानोपायता, इतरेतराश्रयत्वात् वाक्यार्थज्ञानेजाते तदविषयध्यानम्, ध्यानेनिवृत्ते वाक्यार्थज्ञानम्—इति न च ध्यानवाक्यार्थज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वम्, तथासति ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता न स्यात्। न ह्यन्यध्यानमन्यौन्यमुख्यमुत्पादयति। ज्ञातार्थस्मृतिसंततिरूपस्यध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वमवर्जनीयम्। ध्येयब्रह्मविषयज्ञानस्य हेत्वंतरासंभवात् न च ध्यानमूलं ज्ञानं वाक्यान्तरजन्यम् निवर्त्तकज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम्। ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तरजन्यम् ज्ञानं तत्त्वमस्यादि वाक्यजज्ञानेनैकविषयम्, भिन्नविषयं वा एकविषयत्वेतदेवेतरेतराश्रयत्वम्। भिन्नविषयत्वे ध्यानेन तदौन्मुख्यापादनासंभवः। किं च—ध्यानस्य ध्यात्राद्यनेकप्रपंचापेक्षत्वान्निष्प्रपंचब्रह्मात्वैकल्पविषयवाक्यार्थ ज्ञानोत्पत्तौदृष्टद्वारेण नोपयोग इति वाक्यार्थज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिं वदतः श्रवणमनननिदिध्यासनविधोनामानर्थक्यमेव।

ध्यानमूलक ज्ञान, किसी अन्य वाक्यजन्य भी नहीं हो सकता और न तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ही हो सकता है। ध्यान का मूल कारण वाक्यान्तरजन्य ज्ञान, तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान से भिन्न विषयक होता है अथवा एक विषयक ? यह विचारणीय है। एक विषयक होने

ankurnagpal108@gmail.com

से अन्योन्याश्रयता होगी तथा भिन्न विषयक होने से, ध्यान द्वारा, वाक्य-गत विषय में एकांगता असंभव होगी। ध्यान में—ध्येय, ध्याता आदि भेद अपेक्षित हैं। निष्प्रपंच ब्रह्मात्मैकत्वविषयक वाक्यार्थजन्य ज्ञानोत्पत्ति में, प्रत्यक्ष तो कोई उपयोग दीखते नहीं, इसलिए वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से विद्या निवृति बतलाने वालों के लिए, श्रवण-मनद-निदिध्यासन आदि विधियाँ भी व्यर्थ ही होंगी।

यतो वाक्यादपरोक्षयज्ञानासंभवात् वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न निवर्त्तते, तत एव जीवन्मुक्तिरपिदूरोत्सारिता। का चेयं जीवन्मुक्तिः? सशरीरयैव मोक्ष इति चेत्-"माता मे वन्ध्या" इतिवद सगतार्थ वचः यतः अशरीत्वमेव सशरीत्वमेव बन्धः मोक्ष इति त्वयैव श्रुतिभिरुपपादितम्। अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्त्तमाने यस्यायं प्रतिभासोमिथ्येति प्रत्ययः तस्यसशरीरस्य निवृत्तिरिति। न मिथ्येति प्रत्ययेन स शरीरत्वं निवृत्तं चेत्, कथं स शरीरस्य मुक्तिः? अजीवतोऽपि मुक्तिः सशरीत्वमिथ्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्ति रितिविशेषः। अथसशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचंद्रज्ञानवदनुवर्त्तते, सजीवन्मुक्त इति चेत्—न, ब्रह्मव्यतिरिक्त सकलवस्तुविषयत्वाद्बाधक ज्ञानस्य। कारणभूताविद्याकर्मादिदोषः सशरीरत्व प्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्नशक्यतेवक्तुम्। द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभासहेतुभूतदोषस्य बाधकज्ञानभूतचन्द्रैकत्वज्ञानाविषयत्वेनाबाधितत्वात् द्विचंद्रप्रतिभासानुवृत्तियुंक्ता। किं च—"तस्यतावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इति सद्विद्यानिष्ठस्य शरीरपातमात्रमपेक्षते मोक्ष इति वदन्तीयं श्रुतिः जीवन्मुक्तिं वारयति। सैषा जीवन्मुक्तिरापस्तंबेनापि निरस्ता "वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्, बुद्धे क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रै विप्रतिषिद्धम्। बुद्धे चेत्क्षेम प्रायणमिहैव न दुःखमुपलभेत्, एतेन परं व्याख्यातम्"

ankurnagpal108@gmail.com

इति । अनेन ज्ञानमात्रान्मोक्षश्च निरस्तः । अतः सकलभेद निवृत्ति रूपा मुक्तिर्जीवतो न संभवति ।

वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो नहीं सकता, परोक्षवाक्यार्थ ज्ञान द्वारा भी अविद्या की निवृति संभव नहीं है, इसलिए जीवन्मुक्ति की बात भी दूर से ही त्याज्य है। फिर यह जीवन्मुक्ति है क्या वस्तु ? सशरीर अवस्था में ही जीवन्मुक्ति कहना "मेरी माता बन्ध्या है" के समान असंगत हास्यास्पद बात है । सशरीरता को बंधन तथा अशरीरता को मोक्ष तो तुमने भी स्वयं श्रुति प्रमाणों से सिद्ध किया है । यदि कहो कि—सशरीर के प्रतिभास में ही उसकी मिथ्या प्रतीति हो जाने से, मिथ्यामय सशरीरत्व की प्रतीति निवारित हो जाती है । नही ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—"यह शरीर मिथ्या है" ऐसे ज्ञान से ही सशरीरता की निवृत्ति कैसे हो जायगी ? मृत की मुक्ति भी, मिथ्यामय शरीरताभिमान की निवृत्ति ही तो है, जीवन्मुक्ति की ही क्या विशेषता है ? यदि कहो कि—जिसकी, सशरीरता की प्रतीति बाधित होते हुए भी, द्विचंद्र दर्शन ज्ञान की तरह अविलुप्त भाव से रहती है, वही जीवन्मुक्त है । यह कथन भी असंगत है—बाधक ज्ञान, ब्रह्म से अतिरिक्त सभी विषयों से संबद्ध होता है, तो शरीरता की प्रतीति, उसकी कारण अविद्या कर्म आदि दोष भी तो, उस ज्ञान से बाध्य होंगे, इसलिए शरीरता की प्रतीति को, द्विचंद्र ज्ञान की तरह अनुवृत्त नहीं कह सकते [अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जब सभी कुछ मिथ्या हो जायगा तो उसका कोई भी अंश अवभासित हो भी कैसे सकता है] द्विचन्द्र के आभास में, द्विचन्द्र प्रतीति का हेतुभूत दोष, कभी भी, तद्बाधक द्विचन्द्रेकता के ज्ञान का विषय तो होता नहीं, विषय न होने से, वह बाधक ज्ञान से बाधित भी नहीं होता, इसलिए वहाँ द्विचन्द्र दर्शन की अनुवृत्ति बना रहना स्वाभाविक है ।

"उसकी मुक्ति में तभी तक का विलम्ब है, जब तक देह से छुटकारा नहीं होता"—सद्विद्या (उपासना) निष्ठ व्यक्ति का मोक्ष शरीरावसान अपेक्षित होता है, यह बतलाने वाली उक्त श्रुति, जीवन्मुक्ति का प्रत्याख्यान करती है । इस जीवन्मुक्ति का आपस्तम्ब स्मृति में भी प्रत्याख्यान इस प्रकार किया गया है—"वैदिक लौकिक कर्मों का

ankurnagpal108@gmail.com

त्याग करके आत्मचिंतन करना चाहिए, केवल आत्मज्ञान बुद्धि से मोक्ष होने की बात शास्त्र से प्रतिबद्ध है; यदि बुद्धि से ही मोक्ष की प्राप्ति, इस शरीर में ही संभव हो सकती है तो, फिर दुःख नहीं मिलना चाहिए, सो ऐसा होता नहीं" (अर्थात् दुःख होता देखा जाता है) इस वाक्य से ज्ञानमात्र लभ्य मोक्ष की बात का निराकरण हो जाता है। इसलिए समस्त भेद निवृत्तिरूपामुक्ति शरीर रहते संभव नहीं है।

तस्माद् ध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञान फलेनैव बंधनिवृत्तिः। न च नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वप्रसक्तिः प्रतिबंधनिवृत्ति मात्रस्यैव साध्यत्वात्। किंच न-नियोगेन साक्षात् बंध निवृत्तिः क्रियते, किंतु निष्प्रपंचज्ञानैकरसब्रह्मापरोक्ष्यज्ञानेन। नियोगस्तुत-दापरोक्ष्यज्ञानं जनयति।

इससे निश्चित होता है कि-ब्रह्म के अप्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पादक, ध्यान नियोग (विधि) से ही बंध निवृत्ति होती है। नियोग की साधनता से मोक्ष की अनित्यता नहीं हो सकती; क्यों कि-नियोग की, प्रतिबंध निवृत्ति मात्र ही, साध्यता है। नियोग से सीधे बंध निवृत्ति नहीं होती, अपितु निष्प्रपंचज्ञानस्वरूप ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से मुक्ति होती है। नियोग तो उसमें अपरोक्ष ज्ञान का उत्पादन करता है।

कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्, कथं वा भक्तो अनभिसंहित फलानांकर्मणां वेदनोत्पत्तिहेतुत्वम्? मनोनैर्मल्य-द्वारेणेति चेत्, ममापि तथैव, मम तु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमुत्पाद्यते। तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्री वक्तव्येति चेत्, ध्याननियोगनिर्मलंमन एव साधनमिति ब्रूमः। केनावगम्यते इति चेत्, भवतो वा कर्मभिर्मनोनिर्मल भवति, निर्मलेमनसि श्रवणमनननिदिध्यासनैः सकलेतर विषय विमुखस्यैव शास्त्रं निवर्त्तकज्ञानमुत्पादयतीति केनावगम्यते? "विविदिषन्ति यज्ञेनदानेनतपसानाशकेन"-श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः"-"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"इत्यादिभिः शास्त्रैरिति

ankurnagpal108@gmail.com

चेत् ,ममापि-"श्रोतव्योमंतव्यो निदिध्यासितव्य::"-"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"-"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" मनसा तु विशुद्धेन"-" हृदामनीषा मनसाऽपि क्लृप्त:"इत्यादिभि: शास्त्रै: ध्यान नियोगेन मनो निर्मलं भवति, निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानंजनयतीत्यवगम्यते-इति निरवद्यम् ।

यदि पुछें कि-नियोग की ज्ञानोत्पत्ति हेतुता कैसे है ? (अर्थात् नियोग प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे कराता है ?) तो मैं ही आप से पूछता हूँ कि-आपके मत से निष्काम कर्म ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु कैसे है ? यदि आप कहें कि-निर्मल मन में संभव है, तो वैसे ही मेरी हेतुता भी संभव है। आप कहें कि-हमारे मत से तो मन निर्मल होने पर शास्त्र की सहायता से ज्ञानोत्पत्ति होती है; तुम्हारे मत से नियोग द्वारा निर्मल मन में ज्ञानोत्पत्ति होती है,तुम्हें ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री बतलानी होगी। इस पर हमारा कथन है कि-ध्यान नियोग से निर्मल मन ही ज्ञानोत्पत्ति का साधन है । यदि पूछें कि-यह कैसे जाना ? तो मैं पूछता हूँ कि-आपके मत में कर्म द्वारा मन की निर्मलता तथा श्रवण- मनन-निदिध्यासन द्वारा समस्त विषयों की पराङ्मुखता में ही, मोक्ष शास्त्र, बंध निवर्त्तक ज्ञान का उत्पादन करता है, यही कैसे जाना ? इस पर उदाहरण प्रस्तुत करें कि- यज्ञ-दान-तप और भोग त्याग द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं-" आत्म तत्त्व श्रवणीय, मननीय और चिन्तनीय है-"ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि वाक्यों से हमारे मत की पुष्टि होती है। तो हमारे मत में भी-',आत्म तत्त्व श्रवणीय- मननीय और चिन्तनीय है" "ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म को प्राप्त करता है"-"वह नेत्र या वाणी से ग्राह्य नहीं है"-"विशुद्ध मन से ही गृहीत है"-"वशीकृत मन से ही वह परिज्ञात है"-इत्यादि शास्त्र, ध्यान नियोग से मन की निर्मलता का प्रतिपादन करते हैं। निर्मल मन ही ब्रह्म साक्षात्कार करता, अत: यही निर्दोष मत है ।

"नेदं यदिदमुपासते" इत्युपास्यत्वं प्रतिषिद्धमिति चेत् नैवम्-नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते, अपितु ब्रह्मणो जगत् वैरूप्यं प्रतिपाद्यते। यदिदं जगदुपासते प्राणिन:,नेदं ब्रह्म; तदेव

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म त्वं विद्धि-यद् वाचाऽनभ्युदितं येन,वागभ्युद्यते-इति-वाक्यार्थः अन्यथा–"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इति विरुध्यते ।ध्यानविधि वैयर्थ्यं च स्यात् । अतो ब्रह्मसाक्षात्कारफलेन ध्याननियोगेनैवापरमार्थ भूतस्य कृत्स्नस्य द्रष्ट दृश्यादि प्रपंरूपबंधस्य निवृत्तिः ।

यदि कहें कि—"जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है" इसमें उपास्यता का प्रतिषेध किया गया है सो बात नहीं है. यहाँ ब्रह्म की उपास्यता का प्रतिषेध नहीं है, अपितु इसमें ब्रह्म की जगत से विलक्षणता बतलाई गई है—अर्थात् प्राणि, जिस जगत् की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, अपितु "उसे ही ब्रह्म जानों जिससे वाणी प्रस्फुरित होती है और जो वाक्य से अवर्णनीय है ।" यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है, यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो "उसे ही तुम ब्रह्म जानों" इस वाक्य से विरुद्धता होगी । साथ ही आत्मविषयक ध्यान विधि भी व्यर्थ हो जायगी इससे निश्चित होता है, कि—ब्रह्म साक्षात्कार कराने वाली ध्यान विधि से ही, असत्य रूप दृष्ट-दृश्य आदि प्रपंचात्मक जगत के सारे बंधन छटते हैं ।

यदपि कैश्चिदुक्तम्-भेदाभेदयोर्विरोधो न विद्यते इति-तदयुक्तम्, नहि शीतोष्णतमःप्रकाशादिवद्भेदाभेदावेकस्मिन्वस्तुनि संगच्छेते । अथोच्येत्–सर्वं हिवस्तुजातं प्रतीति व्यवस्थाप्यम् । सर्वं च भिन्नाभिन्नं प्रतीयते । कारणात्मना जात्यात्मना चाभिन्नम् । कार्यात्मनाव्यक्त्यात्मना च भिन्नम् । छायाऽतपादिषु विरोधः सहानवस्थानलक्षणो भिन्नाधारत्वरूपश्च । कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्च तदुभयमपि नोपलभ्यते । प्रत्युत एकमेव वस्तु द्विरूपं प्रतीयते–यथा–"मृदयं घटः" षण्डो गौ "मुण्डो गौ" इति । न चैकरूपं किंचिदपिवस्तु लोके दृष्टचरम् । न च तृणादेर्ज्वलनादिवद भेदो भेदोपमर्दी दृश्यत इति । न वस्तु विरोधः मृत्सुवर्णगवाश्वाद्यात्मनाऽवस्थितस्यैव घटमुकुटषण्डवडवाद्यात्मनाचावस्थानात् । न

ankurnagpal108@gmail.com

चाभिन्नस्यभिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्च एक एवाकार इतीश्वराज्ञा । १

कोई (ध्यान नियोग वादी भेदाभेद मतावलंबी भास्कर) ऐसा भी कहते हैं कि–जीव जगत्–ब्रह्म और माया में भेदाभेद संबंध मानने से कोई विरुद्धता नहीं होती। यह मत भी असंगत है–शीत-उष्ण, तम-प्रकाश आदि की तरह, भेद और अभेद, दोनों एक ही वस्तु में हो नही सकते। वे कहते हैं कि–सारी वस्तुएं प्रतीति के अनुसार व्यवस्थापनीय हैं, सभी भिन्नाभिन्न रूप से प्रतीत होती हैं सभी वस्तुएं, कारणरूप और जाति रूप से अभिन्न तथा कार्य रूप और व्यक्ति रूप से भिन्न हैं। धूप और छाया आदि में तो एक साथ न रहना तथा स्थानों में रहना ये दो विरुद्धतायें रहती हैं; पर कार्य-कारण और जाति-व्यक्ति में ऐसी विरुद्धतायें नहीं रहतीं, अपितु एक ही वस्तु दो रूपों में प्रतीत होती हैं। जैसे कि–"घट मिट्टी का है" षण्ड गौ "मुण्डगौ" इत्यादि। लोक में कोई भी वस्तु एक रूप की नहीं दीखती। अग्नि जैसे तृण आदि को भस्म करती है, वैसे ही भेद को नष्ट करने वाला अभेद भी दृष्टिगत नही होता; इसलिए वस्तु विरोध नाम की कोई वस्तु नहीं है। मिट्टी, सुवर्ण, गो अश्व आदि वस्तुओं को ही प्रकारान्तर से घट, मुकुट, षण्ड और घोड़ी आदि रूपों में देखा जाता है। अभिन्न वस्तु (जाति) केवल अभिन्न ही रहेगी, तथा भिन्न वस्तु (व्यक्ति) भिन्न ही रहेगी, ऐसी ईश्वराज्ञा तो है, नहीं।

प्रतीतत्वादेकरूप्यं चेत्,–प्रतीतत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यभ्युपगम्यताम्। न हि विस्फारिताक्षः पुरुषो घटशरावषण्ड-मुण्डादिषुवस्तुषूपलभ्यमानेषु "इयं मृत्–अयं घटः–इदं गोत्वम्–इयंव्यक्तिः" इति विवेक्तुं शक्नोति। अपितु–"मृदयं घटः, षण्डो गौ" इत्येव प्रत्येति। अनुवृत्तिबुद्धिबोद्धयंकार्यं व्यक्तिश्चेति विविन-क्तीति चेत्–नैवम् विविक्ताकारानुपलब्धेः। नहि सुसूक्ष्ममपि निरीक्ष-माणैः 'इदमनुवर्त्तमानं इदं च व्यावर्त्तमानं" इति पुरोऽवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते। यथा संप्रतिपन्नैक्येकार्येविशेषे

ankurnagpal108@gmail.com

चैकत्वबुद्धिरुपजायते, तथैव सकारणेससामान्येचैकत्वबुद्धिर-विशिष्टोपजायते । एवमेव देशतःकालतश्चाकारतश्चात्यन्त विलक्षणेष्वपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते । अतो स्वात्मक-मेव वस्तुप्रतीयते इति, कार्यकारणयोर्जातिव्यक्तयोश्चात्यन्तभेदोप-पादनं प्रतीति पराहतम् ।

यदि कहा जाय कि–प्रतीति से ही एकरूपता होती है तो ऐसा मानने से, भेदाभेद भी, प्रतीति का विषय होगा; इसलिए वस्तु की द्विरूपता (भेद और अभेद) अनिवार्य हो जायगी । खुली आखों वाला कोई व्यक्ति–घट, षण्ड, मुण्ड आदि को देखकर 'यह मिट्टी है, यह घट है यह गाय जाति है, यह गाय व्यक्ति है'' इत्यादि प्रकार से कार्यकारण जातिव्यक्ति की पृथकता नहीं बतला सकता; अपि तु–"यह मिट्टी का घट है'' यह षण्ड गौ है'' ऐसा ही अनुभव करता है । यदि कहें कि–जाति और व्यक्ति की आकृति, अनुवृत्ति बोध्य तथा कार्य और व्यक्ति की व्यावृत्ति बोध्य होती है, इसी से उनकी पृथकता प्रतीत होती है । सो बात नही है, दृश्यमान वस्तु में आकारगत पार्थक्य प्रतीत नही होता । सूक्ष्म रूप से देखने पर भी "यह अंश अनुगत तथा यह अंश व्यावृत है'' ऐसी सामने स्थित वस्तुओं में, आकार भेद की प्रतीति नही होती । पूर्वनिश्चित ऐक्यवाले कार्य विशेष मे, जैसी एकता की प्रतीति होनी है, सकारण सामान्य कार्य में भी वैसी ही एकता प्रतीत होती है । इसी प्रकार देश-काल और आकार से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भी "यह वही वस्तु है'' ऐसी (जातिगतऐक्य) की प्रत्यभिज्ञा होती है [पूर्वदृष्ट वस्तु को बाद में देखे जाने पर होने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते है] इस प्रकार हर वस्तु दो प्रकार से (भिन्न अभिन्न) प्रतीत होती है । इसलिए कार्य-कारण और जाति-व्यक्ति में अत्यन्त भिन्नता कहना, अनुभव विरुद्ध बात होगी ।

अथोच्येत्–"मृदयंघटः षण्डो गौ" इतिवत् "देवोऽहं मनुष्योऽहं" इति सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतेरात्मशरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात्, अत इदं भेदाभेदोपपादनं निजसदननिहितहुतवहज्वालायत्तं इति, तदिदमनाकलितभेदाभेदसाधनसामानाधिकरण्यतदर्थया-

ankurnagpal108@gmail.com

थात्म्यावबोधविलसितम्। तथा हि अबाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्यवस्थापयति। देवाद्यात्माभिमानस्तु आत्मयाथात्म्यगोचरैः सर्वैः प्रमाणैर्बाध्यमानो रज्जुसर्पादि बुद्धिवन्नात्मशरीरयोरभेदं साधयति। "षण्डो गौः मुण्डो गौः" इति सामानाधिकरण्यस्य न केनचिद्-क्वचिद्बाधो दृश्यते। तस्मान्नातिप्रसंगः अतएव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः। अपि ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्नः। तत्राभेद एव स्वाभाविकः, भेदस्त्वौपाधिकः कथमवगम्यत इति चेत्—"तत्त्वमसि" "नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिः श्रुतिभिः। "ब्रह्मेमेद्यावापृथ्वी" इति प्रकृत्य—"ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे-कितवा उत, स्त्री पुंसौ ब्रह्मणो जातौ स्त्रियो ब्रह्मोऽत वा पुमान्" इत्याथर्वणिकानां संहितोपनिषदि ब्रह्मसूक्ते अभेद श्रवणाच्च।

वे कहते है—"यह घट मिट्टी का है, यह षण्ड गाय है" इन प्रतीतियों की तरह "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" ऐसी सामानाधिकरण्य ऐक्य प्रतीति से शरीर आत्मा की भी भिन्नाभिन्नता हो सकती है। ऐसा भेदाभेद का समर्थन, अपने घर में आग लगाने के समान है, ऐसा विचार शून्य भेदाभेद का साधन, वे ही करते हैं, जो सामानाधिकरण्य और उसके सही अर्थ को नहीं जानते।

जो प्रतीति किसी प्रमाण द्वारा बाधित नहीं होती (अर्थात् भ्रांत नहीं कही जाती) वही सब जगह पदार्थ निर्धारण की हेतु हो सकती है। आत्मा के देवत्व आदि का अभिमान, आत्मा के यथार्थ बोधक सभी प्रमाणों से बाध्य है। रज्जुसर्प की तरह, उक्त प्रतीति भी, आत्मा शरीर की एकता का साधन नहीं कर सकती। "षण्ड गौ मुण्ड गौ" इस सामानाधिकरण्य में कोई बाधा नहीं दीखती, इसलिए उसमें कोई नियम भंग नहीं होता। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अत्यंत भिन्न नही है अपितु ब्रह्म का अंश होने से भिन्नाभिन्न है। उसका अभेद तो स्वाभाविक है, और भेद औपाधिक है। यदि पूछें कि—यह कैसे जाना? "तू वही है" द्रष्टा कोई भिन्न नहीं है "यह आत्मा ही भिन्न है" इत्यादि श्रुतियों से ही ज्ञात होता है। "ये वृक्ष और यह पृथिवीआकाश" यहाँ से लेकर—"ब्रह्म

ankurnagpal108@gmail.com

दाश, ब्रह्मदास और कितव सभी ब्रह्म हैं, स्त्री और पुरुष दोनों ही ब्रह्म जात हैं ब्रह्म ही स्त्री पुरुष हैं" इस अथर्वणीय संहिता के ब्रह्मसूत्र में कहे गए अभेद से भी उक्त बात निश्चित हो जाती है।

"नित्योनित्यानांचेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्"---"ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ"---क्रियागुणैरात्मगुणैश्चतेषां संयोगहेतुरपरोऽपि द्रष्टः—"प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसार मोक्षस्थिति-बंधहेतुः"—सकारणंकरणाधिपाधिपः"—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यतश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"— स आत्मनि तिष्ठन्—"प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद"—प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः उत्सर्जन्याति—"तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादिभिभेदश्रवणाच्च जीवपरयोर्भेदाभेदाववश्याश्रयणीयौ तत्र—"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति इत्यादिभिर्मोक्षदशायां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपापत्तिव्यपदेशात्। "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इति तदानीं भेदेनेश्वरदर्शननिषेधाश्चाभेदः स्वाभाविक इत्यवगम्यते।

"नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन वह अकेले ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करते हैं—ज्ञाता और अज्ञ, ईश और अनीश दो अज हैं—क्रियागुण और आत्मगुण द्वारा उनका संयोग कराने वाला एक अन्य (जीव) भी ज्ञात होता है—प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीव) का अधिपति संचालक तीनों गुणों का स्वामी (ईश्वर) अधिपति हैं—उन दोनों में एक पिप्पल का आस्वाद करता है दूसरा केवल देखता मात्र है। जो आत्मा में स्थिति है—प्राज्ञ (जीव) परमात्मा से आलिंगित होकर वाह्याभ्यंतर ज्ञान से रहित हो जाता है—प्राज्ञ, आत्मा द्वारा परिचालित देह का परित्याग कर चला जाता है-उसको जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। "इत्यादि भेद परक श्रुतियों से भी जीव और परमात्मा का भेदाभेद अवश्य मान्य है। "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" इत्यादि श्रुतियों से मोक्षदशा में जीव की ब्रह्मस्वरूपावाप्ति बतलाई गई है तथा "जब सब कुछ आत्म्य है तो किससे किसको देखा जाय"? इत्यादि में कहे गए भेद परक ईश्वर दर्शन के निषेध से, स्वाभाविक अभेद प्रतीत होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

ननुच-"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति सह श्रुत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते वक्ष्यति च-"जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकारणादसन्निहृतत्वाच्च "भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" इति

नैतदेवम्-"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि श्रुतिशतैरात्मभेद प्रतिषेधात्। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता"इति सर्वैःकामैःसह ब्रह्माश्नुते-सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्नुत इत्युक्तं भवति। अन्यथाब्रह्मणा सहेत्यप्राधान्य ब्रह्मणः प्रसज्येत्। "जगद्व्यापारवर्ज" इत्यत्र मुक्तस्य भेदेनावस्थाने सत्यैश्वर्यस्य न्यूनता प्रसंगो वक्ष्यते, अन्यथा "संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" इत्यादिभिर्विरोधात्। तस्मादभेद एव स्वाभाविकः। भेदस्तु जीवानां परस्मात् ब्रह्मणः परस्परं च बुद्धीन्द्रियदेहोपाधिकृतः।

(प्रश्न) 'वह मुक्त पुरूष,सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है "इस श्रुति से तो मोक्ष दशा में भी भेद प्रतीति हो रही है सूत्रकार भी—"जगद् व्यापार वर्ज०" तथा "भोगमात्र साम्य-लिंगाच्च" में ऐसा ही कहते हैं–

(उत्तर) बात ऐसी नहीं है-"इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि सैंकड़ो श्रुतियो से ब्रह्म-जीव के भेद का निषेध किया है। "सोऽश्नुते" इत्यादि का तात्पर्य है कि-मुक्त पुरुष समस्त कामनाओं से युक्तब्रह्म का भोग करता है। ऐसा अर्थ न मानने से-ब्रह्म अप्रधान तथा भोग प्रधान हो जायगा। "जगद्व्यापारवर्ज" सूत्र में भी, मुक्त पुरुष को ब्रह्म से पृथक् मानने से, मुक्त के ऐश्वर्य की न्यूनता सिद्ध होगी। अन्यथा "सपद्याविर्भावस्वेन शब्दात्" सूत्र से विरुद्धता होगी। इससे सिद्ध होता है कि-अभेद स्वाभाविक ही है, जीवों का, परब्रह्म से भेद, बुद्धि-इन्द्रिय-देहादि उपाधि कृत है।

ब्रह्म, यद्यपि निराकार व्यापक है फिर भी घट आदि भेद से आकाश की तरह, बुद्धि आदि उपाधियों से संबंद्ध ब्रह्म में भी, भेद संभव है। भिन्न ब्रह्म में, बुद्धि आदि उपाधियों का संयोग संभव नहीं है तथा

ankurnagpal108@gmail.com

बुद्धि आदि उपाधियों के संयोग से, ब्रह्मगत भेद में, अन्योन्याश्रयता भी घटित नहीं होती है,क्यों कि-उपाधि और उसके संयोग का कर्मकृत होने से अनादि प्रवाह है।

एतदुक्तं भवति—पूर्वकर्म संबंधाज्जीवात् स्वसंबद्ध एवोपाधि-रुत्पद्यते तद्युक्तात्कर्म,एवं बीजांकुरन्यायेन कर्मोपाधिसंबंधस्याना-दित्वान्न दोष :-इति। अतो जीवानांपरस्परंब्रह्मणाचाभेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविक:, उपाधीनामुपाध्यंतराभावात् तदभ्युपगमनेऽन-वस्थानाच्च। अतो जीवकर्मानुरूपं ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नस्वभावा एवोपाधय उत्पद्यन्तेइति।

कथन यह है कि-पूर्वजन्मार्जित शुभाशुभ कर्म संबद्ध जीव से ही उपाधि की उत्पत्ति होती है और उस उपाधि संबंद्ध जीव से शुभा शुभ कर्म की उत्पत्ति होती है, फिर भी बीजांकुरन्याय से, दोनों में परस्पर अन्योन्याश्रिता नहीं होती। जीवों का पारस्परिक और जीव ब्रह्म का भेद स्वाभाविक न होकर औपाधिक है; बुद्धि आदि उपाधियों से जीवों का पारस्परिक और ब्रह्म के साथ जो भेद अभेद है, उसमें अभेद स्वाभाविक और भेद औपाधिक है। यह बात- उपाधियों की अन्यता के अभाव तथा उनके संभावना से होने वाली अनवस्था से,निश्चित होती है। इससे ज्ञात होता है कि-अपने कर्मानुसार ही जीवों की अनुरूप उपाधियाँ होती है,जो कि ब्रह्म से भिन्नाभिन्न हैं।

अत्रोच्यते — अद्वितीयसच्चिदानन्दब्रह्मध्यानविषयविधिपरं वेदांतवाक्यजातमिति वेदांतवाक्यैरभेद: प्रतीयते। भेदावलंबिभि: कर्मशास्त्रै: प्रत्यक्षादिभिश्च भेद: प्रतीयते। भेदाभेदयो: परस्पर विरोधात् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेद प्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थं इत्युक्तम्।

वे कहते हैं कि—अद्वितीय सच्चिदानंद ब्रह्म ध्यानविषयक विधि के विधायक वेदांत वाक्यों के होने से, उन वेदांत वाक्यों से अभेद की प्रतीति होती है। भेदावलम्बी कर्मविधायक शास्त्र वाक्यों तथा प्रत्यक्ष

ankurnagpal108@gmail.com

आदि प्रमाणों से भेद की प्रतीति होती है। भेद और अभेद की परस्पर विरुद्धता तथा अनादि अविद्यामूलकता से भेद की प्रतीति निष्पन्न होती है, एकमात्र अभेद ही परमार्थ है।

तत्र यदुक्तं—भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीति सिद्धत्वान्न विरोधः- इति—तद्युक्तम्—कस्माच्चित्कश्यचितविलक्षणत्वंहि तस्मात्तस्य भेदः तद्विपरीतंचाभेदः। तयोस्तथाभावांतथाभावरूपयोरेकत्र संभवमनुन्मत्तः को ब्रवीति? कारणात्मना जात्यात्मना-वाभेदः कार्यात्मनाव्यक्तयात्मना च भेदः—इत्याकारभेदादविरोध इति चेत्, न विकल्यासहत्वात्। आकारभेदादविरोधं वदतः, किमेकस्मिन्नाकारे भेदः आकारान्तरेचाभेदः—इत्यभिप्रायः उतोआकारद्वययोगि वस्तुगतावुभावपीति? पूर्वस्मिन्कल्पे—व्यक्तिगतो भेदः; जातिगतश्चाभेद इति नैकस्यद्वयात्मकता। जातिव्यक्तिरिति चैकमेव वस्त्विति चेत् तर्हि आकारभेदादविरोधः परित्यक्तःस्यात् एकस्मिश्च विलक्षणत्वतद्विपर्ययौ विरुद्धावित्युक्तम्। द्वितीये तु कल्पे अन्योन्यविलक्षण माकारद्वयमप्रतिपन्नं च तदाश्रयभूतं वस्त्विति। तृतीयाऽभ्युपगमेऽपि त्रयाणामन्योन्यवैलक्षण्यमेवोपादितं स्यात् न पुनरभेदः। आकारद्वय निरुह्यमाणा विरोधं तदाश्रयभूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमिति चेत्—स्वस्माद्विलक्षणं स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन्विरुद्ध धर्मद्वय समावेश निर्वाहकं कथंभवेत्? अविलक्षणंतु कथन्तराम्? आकार द्वय तद्वतोश्च द्वयात्मकत्वाभ्युपगमे निर्वाहकान्तरुपेक्षयाऽनवस्था स्यात्।

यह कहना भी असंगत है कि—भेदाभेद दोनों की ही प्रतीति होती है, इसलिए दोनों में परस्पर विरोध नहीं होता। किसी एक पदार्थ की, किसी अन्य पदार्थ से जो विलक्षणता होती है, वही उनका भेद है और उससे विपरीतता ही अभेद है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भावापन्न भेद और अभेद की एक ही स्थान में संभावना की बात, कोई अप्रमत्त व्यक्ति तो कर नहीं सकता। यदि कहें कि—कारणरूप और जातिरूप से अभेद तथा

ankurnagpal108@gmail.com

कार्यरूप और व्यक्तिरूप से भेद मानने से विरोध नहीं होगा, यह बात भी विचारपूर्ण नहीं प्रतीत होती। मैं पूछता हूँ कि—आकार भेद से अविरोध बतलाने का, क्या एक आकार में अभेद तथा अन्य आकार में भेद ही तात्पर्य है? अथवा दोनों प्रकार के आकारों में भेदाभेद तात्पर्य है? पहिली बात—"व्यक्तिगत भेद और जातिगत अभेद में -एक ही वस्तु की द्वयात्मकता नहीं है (जाति और व्यक्ति एक पदार्थ नहीं हैं) यदि जाति और व्यक्ति को एक ही वस्तु मानते हो तो" आकारभेद से अविरोध वाली बात का आग्रह छोड़ना होगा, क्योंकि एक ही पदार्थ में वैलक्षण्य और अवैलक्षण्य, दोनों नितांत विरुद्धतायें हो नहीं सकतीं ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। दूसरी बात में—परस्पर विजातीय दो आकार, उपलब्धि के विषय नहीं हो सकते। जाति और व्यक्ति की आश्रयभूत तीसरी वस्तु का अस्तित्व मानने से भी, अभेद का प्रतिपादन नहीं होता, क्योंकि—जब वे दोनों ही परस्पर विलक्षण है तो, तीसरी की विलक्षणता भी स्वाभाविक है। दोनों आकारों से विशिष्ट तीसरी वस्तु में आकार भेद से द्वैताद्वैत भाव मानने से संशय होता है कि—अपने से विलक्षण, अपने आश्रय को, वे दोनों आकार, अपने विरुद्ध दोनों धर्मों में, समाविष्ट कैसे कर सकेंगे? तीनों वस्तुओं को अविलक्षण मानकर भी, ऐसा कैसे संभव हो सकेगा? दोनों आकार और उसके आकार की विलक्षणता मानने के लिए, किसी चौथी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे अनवस्था होगी।

न च संप्रतिपन्नैक्यव्यक्तिप्रतीतिवत् ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते। यतः "इदमित्थं" इति सर्वत्र प्रकारप्रकारितैव सर्वा प्रतीतिः। तत्र प्रकारांशो जातिप्रकारांशो व्यक्तिरिति नैकाकारा प्रतीतिः। अतएव जीवस्यापि ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं न संभवति। तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्धशास्त्रमूलत्वादनाद्यविद्यामूल एव भेदप्रत्ययः।

निर्विवाद ऐक्य व्यक्ति की प्रतीति की तरह, सामान्य वस्तु में भी एकरूपा प्रतीति, संभव नहीं हो सकती, क्योंकि—"यह वस्तु ऐसी है" ऐसी प्रकार प्रकारी (सामान्य-विशेष या विशेषण-विशेष्य भाव) प्रतीति ही, प्रायः सब जगह होती है। वहाँ प्रकार जाति, तथा प्रकारी व्यक्ति

ankurnagpal108@gmail.com

है, इसलिए एकाकार प्रतीति संभव नहीं है। अतएव जीव की भी भिन्नाभिन्नता, ब्रह्म के साथ नहीं हो सकती। शास्त्रमूलक अभेद ही यथार्थ है, भेद प्रत्यय को अनादि अविद्यामूलक ही मानना चाहिए।

ननु एवं ब्रह्मणएवाज्ञत्वं तन्मूलाश्च जन्मजरामरणादयो दोषाः प्रादुष्युः। ततश्च—"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" एषआत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादीनि शास्त्राणि वाध्येरन्।

नैवम्—अज्ञानादिदोषाणामपारमार्थत्वात्। भवतस्तूपाधि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधि संसर्गस्तत्कृताश्च जीवत्वाज्ञत्वादयोदोषाः परमार्थत एव भवेयुः, न हि ब्रह्मणि निरवयवेअच्छेद्ये संबद्धयमाना उपाधयस्तच्छित्वाभित्वा वा संबंध्यन्ते। अपितु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव स्वकार्याणि कुर्वन्ति।

(इस पर भेदाभेद वादी कहते हैं) जीव ब्रह्म का नित्य अद्वैत संबंध होने से, जीव के जन्म, जरा, मरण आदि दोष ब्रह्म को भी दूषित कर देंगे जिससे—"जो सर्वज्ञ सर्वविद् है" वह निष्पाप है" इत्यादि ब्रह्मपरक श्रुतियां बाध्य हो जायेंगी।

(उक्त कथन का निराकरण)—आपने जिन दोषों की चर्चा की है वे अज्ञानादि दोष पारमार्थिक नहीं हैं।

(वाद) आप उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व तो स्वीकारते नहीं, इसलिए ब्रह्म का उपाधि संसर्ग स्वाभाविक ही होगा, तथा उपाधिकृत जीवता, अज्ञता आदि परमार्थ रूप से ब्रह्म में घटित होंगे।

(विवाद) निरवयव और अच्छेद्य ब्रह्म में संश्लिष्ट उपाधियाँ, ब्रह्म का छेदन भेदन करके उसमें प्रविष्ट हो जाती हों, ऐसा तो संभव है नहीं, अपितु ब्रह्म के स्वरूप से संश्लिष्ट होकर, उनमें अपने अपने कार्यों का प्रयोग मात्र करती हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि मन्वीत—उपाध्युपहितं ब्रह्मजीवः स चाणुपरिमाणः अणुत्वं चावच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वात्, स चावच्छेदोऽनादिः, एवम् उपाध्युपहितेंशे संबंध्यमाना दोषाः अनुपहिते परेब्रह्मणि न संबध्यन्ते इति । अयं प्रष्टव्यः—किमुपाधिना छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपोजीवः ? उताच्छिन्नएवाणुरूपोपाधिसंयुक्तोब्रह्मप्रदेश विशेषः उतोपाधि संयुक्तं ब्रह्मस्वरूपम् ? अथोपाधि संयुक्तं चेतनांतरं अथोपाधिरेव ? इति । अच्छेद्यत्वात् ब्रह्मणः प्रथमः कल्पो न कल्पते । आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात् । एकस्य सतोद्वैधीकरण हि छेदनं । द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषे उपाधिसंबंधारोपाधिकाः सर्वे दोषास्तस्यैस्व स्युः । उपाधौगच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्तं ब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनु-क्षणमुपाधिसंयुक्त ब्रह्मप्रदेशभेदात् क्षणेक्षणे बंधमोक्षौ च स्याताम् । आकर्षणे वाच्छिन्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मणः आकर्षणं स्यात् । निरंशस्य व्यापिनः आकर्षणं न संभवतीति चेत् तर्हि उपाधिरेव गच्छतीतिपूर्वोक्त एव दोषः स्यात् । अच्छिन्न ब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधि-संसर्गे सर्वेषां च जीवानां ब्रह्मण एव प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसंधानं न स्यात् । प्रदेशभेदादप्रतिसंधाने चैकस्यापि सोपाधौ गच्छति प्रति-संधानं न स्यात् । तृतीये तु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्येवोपाधिसंबंधेन जीवत्वापातात् तदतिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिः स्यात् । तुरीये तु कल्पे ब्रह्मणोऽन्य एव जीव इति जीवभेदस्यौपाधिकत्वं परित्यक्तं स्यात् । तस्मादभेदशास्त्रबलेन कृत्स्नस्यभेदस्याविद्यामूलत्वमेवाभ्यु-पगंतव्यम् । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरतयैवशास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानविधिशेषतया वेदांतवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यमुपपन्नम् इति ।

यदि ऐसा मानते हैं कि—उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म ही, जीवनाम-धारी, अणु परिमाण वाला होता है । जीव का अवच्छेदक मन, अणु

ankurnagpal108@gmail.com

परिमाण का है इसलिए जीव में भी अणुता है। वह जीव का अवच्छेदक भी अनादि है, इसलिए उपाधिविशिष्ट देश (जीव) में जो दोष होते हैं, वे अनुपहित (उपाधि संबंध रहित) ब्रह्म से संबद्ध नहीं हो सकते।

इस पर प्रष्टव्य यह है कि—अणु परिमाणवाला जीव उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म का अंश है, अथवा उपाधि अनवच्छिन्न ब्रह्म का? अणुरूप उपाधि संयुक्त ब्रह्म का प्रदेश (अंश) विशेष है, अथवा उपाधि संयुक्त ब्रह्म का ही रूप है? उपाधि संयुक्त कोई दूसरा चेतन है, अथवा उपाधि ही है?

इसमें—उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म का अंश तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि—ब्रह्म अविच्छिन्न है। उक्त कल्पना से जीव की आदिमता भी होती है, जबकि जीव अनादि है। एक वस्तु को दो करना ही परिच्छिन्नता है।

दूसरे कल्पानुसार जब जीव ब्रह्म का ही प्रदेश माना गया है तो जीव के उपाधि से संबद्ध होने से, सारे औपाधिक दोष ब्रह्म के ही मानें जायेंगे। उपाधि कभी स्थिर तो रहती नहीं इसलिए जब वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जायगी तो अपने साथ, संयुक्त उस ब्रह्म प्रदेश को ले न जा सकेगी, उस समय निश्चित ही उसका उस प्रदेश से संबंध विच्छेद हो जायगा, इस प्रकार जीव का क्षण-क्षण में बंधन और मोक्ष होता रहेगा। यदि वह उपाधि उस प्रदेश को भी आकृष्ट करके ले जायगी तो उस प्रदेश का अभिन्न अंगी ब्रह्म भी खिचता चला जायगा। यदि अखड, सर्वव्यापी ब्रह्म का खिचाव असंभव मानते हो तो, फिर भी क्षण-क्षण बंधन मोक्ष का दोष तो, घटित होगा ही। उपाधि से अविच्छिन्न ब्रह्म के प्रदेशों में, समस्त उपाधियों की संसर्गता से ज्ञान की अभिन्नता प्रतीत होने लगेगी। जीवों को यदि, ब्रह्म के भिन्न-भिन्न प्रदेशों का माने और उस नाते उनके ज्ञानों की भी विभिन्नता मान लें तो एक की अपनी उपाधि दूसरे के प्रदेश में चले जाने पर, एक ही व्यक्ति को पूर्वापर स्मृति ही न रह जायगी।

तीसरी कल्पना में, उपाधि संबद्ध होने से, स्वरूपतः ब्रह्म ही जब जीवता को प्राप्त करता है तो, जीव से विलक्षण, अनुपहित (उपाधि-

ankurnagpal108@gmail.com

रहित) ब्रह्म की चर्चा ही समाप्त हो जायगी । तथा सभी शरीरों में एक ही जीव का साम्राज्य होगा (जीव की भिन्नता भी समाप्त हो जायगी)

चौथी कल्पना में जब जीव को ब्रह्म से भिन्न माना गया है तब, जीव के भेद की औपाधिकता समाप्त हो जाती है (अर्थात् उपाधि संबंध से संभाव्य भेद की चर्चा समाप्त हो जाती है)

अंतिम पांचवी कल्पना तो चार्वाक मत में ही हो सकती है। इसलिए अभेद शास्त्र की बलवत्ता से, सारे भेदों की अविद्यामूलकता ही स्वीकारनी होगी । प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप प्रयोजन के प्रकाशक वेदांत वाक्यों की प्रामाणिकता, ब्रह्म के स्वरूपावबोध में, ध्यानविधिपरक होने से ही चरितार्थ होती है ।

तदप्ययुक्तम्—ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदांतवाक्यानामर्थसत्यत्वे प्रामाण्यायोगात् । एतदुक्तं भवति—ब्रह्मस्वरूपगोचराणिवाक्यानि किं—ध्यानविधिनैकवाक्यतामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्य प्रत्यपद्यन्ते, उत् स्वतंत्राण्येव ? एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन ब्रह्मस्वरूपे तात्पर्यं न संभवति । भिन्नवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविरहादनबोधकत्वमेव । न च वाच्यम्- ध्यान नाम स्मृतिसंततिरूपम् । तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणमिति ध्यानविधेः स्मर्त्तव्यविशेषाकांक्षायाम् "इदं सर्वं यदयमात्मा" ब्रह्म सर्वानुभूः" सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" इत्यादीनि स्वरूप तद्विशेषादीनि समर्पयन्ति । तेनैकवाक्याताम् आपन्नान्यर्थ सद्भावेप्रमाणमिति। ध्यानविधेः स्मर्त्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि "नामब्रह्म" इत्यादि दृष्टिविधिवदसत्येनाप्यर्थविशेषेण ध्याननिवृत्त्युपपत्तेः ध्येय सत्यत्वानपेक्षणात् । अतोवेदांतवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्ति प्रयोजन विधुरत्वात् ध्यानविधिशेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूप समर्पणमात्रपर्यवसानात् स्वातंत्र्येऽपि बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवत् ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थपर्यन्तता सिद्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यता गोचरत्वाभावात् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न सभवतीति प्राप्तम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त कथन भी युक्ति संगत नही है—वेदांत वाक्यों की ध्यानविधि शेषता होते हुए भी, पदार्थ सत्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कथन यह है कि—ब्रह्म स्वरूप बोधक वाक्य, ध्यानविधि के साथ, एकवाक्यता प्राप्त कर, ब्रह्म स्वरूप के प्रकाशन में प्रमाणित होते है, अथवा स्वतंत्र रूप से होते हैं? (यह विचारणीय विषय है) एक वाक्यता में होने से, जब वह ध्यानविधि परक हैं, तो, ब्रह्म स्वरूप के ज्ञापन में उनका तात्पर्य नहीं हो सकता यदि वह स्वतंत्र रूप से होते है तो, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन रहित होने से, उनमें सत्यार्थ बोधकता का अभाव है ही। यह नही कह सकते कि—स्मृति प्रवाह ही ध्यान है और वह केवल स्मर्त्तव्य रूप से ही निरूप्य है। स्मर्त्तव्य विशेष उस ध्यानविधि के निरूपण की आकांक्षा होने पर "यह सारा दृश्य आत्मा ही है" यह आत्मा ही सर्वानुभावक ब्रह्म है "ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनंतस्वरूप है" इत्यादि वेदांत वाक्य ब्रह्म स्वरूप और ब्रह्मगत विशेष भावों का प्रकाश करते है; क्या ये ध्यानविधि के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर प्रतिपाद्य अर्थ की सत्यता को प्रमाणित करने में प्रमाण हो सकते हैं? ध्यानविधि की स्मर्त्तव्य सापेक्षता होते हुए भी—"मन की ब्रह्म रूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि दृष्टि विधि की तरह, असत्यवाक्यार्थ द्वारा भी जब ध्यान क्रिया निष्पन्न हो सकती है तो, ध्यानकार्य में, ध्येय पदार्थ की, थोड़ी भी सत्यता अपेक्षित नहीं है। इसलिए वेदांत वाक्यों के, प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोजन रहित होने से, ध्यानविधिशेषता होते हुए भी, ध्येयविशेष के स्वरूप प्रकाशन में ही पर्यवसित होने से, स्वतंत्र होते हुए भी, बालक और रोगियों को फुसलाने वाले वाक्यों की तरह, वाक्यार्थमात्र से ही, पुरुष के वास्तविक प्रयोजन की सिद्धि हो पाती है, स्वतः सिद्ध वस्तु की सत्यता के बोधन में, शास्त्र की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणता संभव नहीं है।

(सिद्धान्त) तत्र प्रतिपद्यते—तत्तुसमन्वयात् इति समन्वयः= सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इत्यर्थः। परमपुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो अभिधेयतयान्वयात् तत् शास्त्र प्रमाणकत्वं सिद्ध्यत्येवेत्यर्थः निरस्तनिखिल दोषनिरतिशयानंद स्वरूपतयापरमप्राप्य ब्रह्मबोधयन् वेदात वाक्यगणः प्रवृत्तिनिवृत्ति

ankurnagpal108@gmail.com

परताविरहान्न प्रयोजनपर्यवसायीति ब्रुवाणो "राजकुलवासिनः पुरुषस्य कौलेयककुलाननुप्रवेशेन प्रयोजनशून्यता" ब्रूते ।

उक्त प्रस्तुत मत के उत्तर में "तत्तुसमन्वयात्" सूत्र कहा गया है। समन्वय का तात्पर्य है, सम्यक् रूप से अन्वय, अर्थात् यथोपयुक्तरूप से पुरुषार्थ के साथ संबद्ध निस्सीम, निरतिशय, ब्रह्म ही, परमपुरुषार्थ हैं, ऐसा समस्त वेदांत वाक्यों का वाच्यार्थ है, ब्रह्म की शास्त्र प्रमाणकता, इसी से निश्चित होती है। निर्दोष, अत्यंत आनंदस्वरूप प्राप्य ब्रह्म के बोधक, वेदांत वाक्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति परक न होने से, निष्प्रयोजन हैं, ऐसा कहना "राजकुलवासी व्यक्ति, म्लेच्छ के घर निष्प्रयोजन नहीं जाता" इस कथन के समान ही है।

एतदुक्तं भवति—अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहितपरावर तत्त्वयाथात्म्यस्वस्वरूपावबोधानां देवासुरगंधर्वसिद्धविद्याधरकिन्नर किंपुरुषयक्ष राक्षसपिशाचमनुजपशुशकुनसरीसृपवृक्षगुल्मलतादूर्वादीनां स्त्रीपुंन्नपुंसकभेदभिन्नानां क्षेत्रज्ञानांव्यवस्थितधारकपोषकभोग्य विशेषाणां मुक्तानां स्वस्य चाविशेषाणामनुभवसंभवे स्वरूपगुणविभव चेष्टितैरनवधिकातिशयानन्दजननं परंब्रह्मास्तीति बोधयेदेव वाक्यं प्रयोजनपर्यवसायि। प्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यवसायि ।

कथन यह है कि—अनादिकाल से प्रवृत्त कर्मरूप अविद्यामय आवरण से, जि[illegible]परब्रह्म और अपरब्रह्म का यथार्थभाव, तथा अपना प्रत्यक्स्वरूपता का ज्ञान तिरोहित है, एवं जिनके देहधारण पोषणोपयोगी भोग्य विषय व्यवस्थित हैं, उन स्त्री, पुरुष, नपुंसकभेदों से विभिन्न, देवता-असुर-सिद्ध-विद्याधर-किन्नर - किंपुरुष-यक्ष - राक्षस-पिशाच-मनुष्य-पशु-पक्षी-सर्प-वृक्ष-गुल्म-लता-दूर्वा आदि रूपों वाले जीवों का, अनुभव भी जब, मुक्त जीवों और अपने में समानरूप से हो सकता है, तो स्वरूप-गुण-वैभव-चेष्टा आदि में बेजोड़, अतिशय आनंदजनक परब्रह्म के अस्तित्व के प्रतिपादक वेदांत वाक्य निश्चित ही प्रयोजनावसायी (सार्थक)

ankurnagpal108@gmail.com

हैं। प्रवृत्ति निवृत्ति बोधक वाक्य, पुरुष के परिमित अभीष्ट प्रतिपादक होते हुए भी, वास्तविक प्रयोजन (आत्यंतिक दुःख निवृत्ति रूपी मुक्ति) के साधन में समर्थ नहीं हैं।

एवंभूतं ब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपेक्षायां "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" आत्मानमेवलोकमुपासीत् "इति वेदनादिशब्दैरुपासनं ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। यथा "स्ववेश्मनिनिधिरस्ति" इति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा तृप्तःसन् पश्चादुपादाने च प्रवर्त्तते। यथा च— कश्चिद्राजकुमारो बालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनान्निष्क्रान्तो मार्गाद्भ्रष्टो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातः स्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्द्विजवर्येण वर्धितोऽधिगतवेदशास्त्रः षोडशवर्षः सर्वकल्याणगुणाकरः तिष्ठन् "पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्यौदार्यवात्सल्यशौशील्य वीर्यपराक्रमादिगुणसंपन्नः त्वामेवनष्टं पुत्रं दिदृक्षुः पुरवरेतिष्ठति" इति केनचिदभियुक्ततमेन प्रयुक्तं वाक्यं शृणोति चेत्, तदानीमेव— "अहं तावत् जीवतः पुत्रः मत्पिता च सर्वसंपत्समृद्धः" इति निरतिशयहर्षसमन्वितो भवति। राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमति मनोहरदर्शनं विदितसकलवेद्यश्रुत्वाऽवाप्तसमस्तपुरुषार्थो भवति। पश्चात्तदुपादाने च प्रवर्त्तते। पश्चात्तावुभौ संगच्छेते च इति।

ऐसा अद्भुक्त ब्रह्म कैसे प्राप्त हो सकता है? ऐसी आकांक्षा होने पर— "ब्रह्मवेत्ता परंतत्त्व को प्राप्त करता है "आत्मा की ही दृष्टव्य रूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि वाक्य में "वेदन" आदि शब्द बोध्य उपासना ही, प्राप्तब्य ब्रह्म के उपाय रूप से विहित है।

जैसे कि—कोई व्यक्ति—'अपने घर में धनगड़ा है" इस बात को जानकर प्रसन्नता से उसे निकालने के लिए प्रयत्नशील होता है। तथा जैसे—कोई राजकुमार बालकों के साथ खेलता हुआ राजमहल से निकल कर खो जाता है, राजा उसे जानता है, पर वह अबोध होने के कारण पिता को नही जानता, वह कदाचित् किसी श्रेष्ठ विद्वान ब्राह्मण द्वारा पोषित और वेदशास्त्र का पारंगत होकर जब वयस्क होता है, तब किसी

ankurnagpal108@gmail.com

व्यक्ति द्वारा "सर्वलोकाधिपति, गाम्भीर्य औदार्य-वात्सल्य-सौशील्य-शौर्य-वीर्य-पराक्रम आदि गुणों संपन्न तुम्हारे पिता खोये हुए तुम्हें देखने के लिए महल में आकुल हैं" ऐसा सुनते ही "तो मैं जीवित पिता का पुत्र हूं, मेरे पिता वैभव संपन्न हैं" हर्ष विभोर हो जाता है तथा वह राजा अपने पुत्र को निरोग, अतिसुन्दर-सर्वगुण संपन्न सुनकर कृतार्थ हो जाता है, उसे बुलवाने की चेष्टा करता है; प्रयास के बाद वे दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं [ब्रह्म प्राप्ति संबंधी उपदेश भी इसी प्रकार है]

यत्पुनः—परिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तत्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानात् बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवन्नार्थं सद्भावे प्रामाण्यम्—इति। तदसत्—अर्थसद्भावाभावे निश्चिते ज्ञातोऽप्यर्थः पुरुषार्थाय न भवति। बालातुरादीनामप्यर्थसद्भाव भ्रान्त्या हर्षाद्युत्पत्तिः। तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थाभावनिश्चयो जायेत्, ततः तदानीमेव हर्षादयो निवर्त्तेरन्। औपनिषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मास्तित्वतात्पर्याभाव निश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात्। अतः "यतो वा इमानि भूतानि जायंते" इत्यादिवाक्यं निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोष गन्धं सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकरमनवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति बोधयतीति सिद्धम।

जो यह कहा कि—स्वतः सिद्ध बोधक वाक्य की वाक्यार्थ प्रतीति केवल पुरुषार्थवर्यवसित होने से, बालक और व्यथित पुरुष के फुसलाने वाले वाक्य की तरह, पदार्थ के अस्तित्व में प्रामाणिक नहीं हो सकती। यह असंगत बात है—अर्थ की असत्यता प्रमाणित हो जाने पर, ज्ञात अर्थ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता। बालक और व्यथित पुरुष को जो हर्ष होता है वह उन्हें, अपने अनुकूल प्रतीत होने से भ्रांत होता है, उस वाक्यार्थ की जब उन्हें यथार्थता ज्ञात होती है, तो तत्काल ही उनका हर्ष समाप्त भी हो जाता है। उपनिषदों के वाक्यों में भी यदि, ब्रह्म के अस्तित्व विषयक तात्पर्य का अभाव होता, तो ब्रह्मविषयक ज्ञान होते हुए भी वह ज्ञान कभी पुरुषार्थ साधन में पर्यवसित न हो सकता।

ankurnagpal108@gmail.com

इसलिए—"यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य—समस्त जगत के एकमात्र कारण, निर्दोषता, सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता आदि अनेक कल्याणमयगुणों के आकर, अतिशय आनंद स्वरूप ब्रह्म के अस्तित्व का ही बोधक है। यह निश्चित मत है।

५. अधिकरण:—

"यतो वा इमानि" इत्यादि जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमस्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतानंब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानां आनुमानिकप्रधानादि प्रतिपादनानर्हतोच्यते— ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिना।

जगत् कारणता बोधक "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य प्रतिपाद्य सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, समस्त तुच्छगुणरहित, कल्याणमय गुणों के धाम, ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं, यह बतलाया गया। अब जगत्कारणवादी वाक्यों से अनुमानिक प्रधान आदि का प्रतिपादन नहीं हो सकता यही ईक्षतेर्नाशब्दम् इत्यादि आठ सूत्रों से सिद्ध करेंगे।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।५।।

इदमाम्नायते छांदोग्ये—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि— तत्र संदेहः किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोक्तमानुमानिकं प्रधानम् ? उक्तोक्त लक्षणं ब्रह्म इति।

छांदोग्योपनिषद् में जो यह कहा गया कि—"हे सौम्य ! सृष्टि के पूर्व एकमात्र यह सत् ही था, उसने इच्छा की अनेक होकर प्रकट हो जाऊँ, तब उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि इसमे संदेह होता है कि— उक्त वाक्य में जगत् कारण के लिए प्रयुक्त सत् शब्द वाच्य सांख्य दर्शन का आनुमानिक प्रधान (प्रकृति) है अथवा पूर्वोक्त लक्षण वाला ब्रह्म ही है ?

ankurnagpal108@gmail.com

किं प्राप्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? "सदेव सौम्येदमग्र-आसीदेकमेव" इत्यादि शब्दवाच्यस्य चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनानारूपविकारावस्थस्य वस्तुनः कारणावस्थां वदति । अतो यद्द्रव्यं यत्स्वभावं च कार्यावस्थम्, तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं, कारणावस्थम् सत्वादिमयं च कार्यमिति गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव हि कारणम् । तदेवोपसंहृतसकलाविशेषं सन्मात्रमिति "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यभिधीयते । तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम् । तथा सत्येवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तिः, अन्यथा "यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन इत्यादि मृत्पिण्ड तत्कार्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यं चेति जगद्कारणवादिवाक्येन महर्षिणा कपिलेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते । प्रतिज्ञादृष्टान्तरूपेणानुमानवेषमेव चेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव ।

उक्त संदेह होने पर आनुमानिक प्रधान को ही सत् शब्द वाच्य मानने का पक्ष प्रस्तुत करते हैं—"सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" इत्यादि-इस वाक्य का "इदं" शब्द, चेतन भोग्य भूत सत्वरजतमोमय, अनेक रूपों में विकृत आकाश आदि वस्तु की ही कारणावस्था बतलाता है [अर्थात् इदं शब्द प्रत्यक्ष ग्राह्य सन्निहित वस्तु का ही बोधक है] कारण वस्तु की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्यावस्था होती है [आकाश आदि महाभूत ही गुणमय होकर स्थूलाकार में जगत् रूप से प्रकट होते हैं यही प्रधान कारणवाद का सिद्धान्त है] जिस द्रव्य का जो स्वभाव कार्यावस्था में होता है वही कारणावस्था में भी होगा । सत्व रजतमोमय जगत ही कार्य है तथा साम्यावस्था वाला त्रिगुणात्मक प्रधान ही उसका करण है । अपनी संपूर्ण विशेषताओं को छिपाये हुए यह प्रधान ही "सत्" था, ऐसा "सौम्येदमग्र" आदि में कहा गया है । इस प्रकार कार्य कारण की अभिन्नता भी प्रमाणित हो जाती है । तथा ऐसा मानने से "एक के विज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है" यह सिद्धान्त भी सुसंगत हो जाता है [अर्थात् जैसे पकते हुए चावलों में से एक चावल के देखने से सारे चावलों की अवस्था का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रधान को

ankurnagpal108@gmail.com

जान लेने से संपूर्ण जगत उसी के समान है, ऐसा सिद्ध हो जाता है] यदि प्रधान को कारण न मानेंगे तो "हे सौम्य ! एक ही मिट्टी के ढेले से" इत्यादिवाक्य में कथित मिट्टी के ढेले और उसके निर्माण पृथिवी के दृष्टांत और द्राष्टान्तिक में विषमता हो जावेगी। ऐसा जगत् कारण वादी वाक्यों के विश्लेषण के प्रसंग में "प्रधान ही जगत का कारण है" प्रतिपादन करते हुए, महर्षि कपिल ने कहा है। प्रतिज्ञा, दृष्टान्त आदि सभी से सिद्ध होता है कि "सदेव" इत्यादि वाक्य आनुमानिक प्रधान का ही बोधक है तथा वह प्रधान ही "सत्" शब्द वाच्य है।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इति। यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति, तदशब्दमानुमानिकं प्रधानं इत्यर्थः। न तज्जगत्कारणवादिवाक्य प्रतिपाद्यम् कुतः? ईक्षतेः; सच्छब्दवाच्य संबंधव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेः धातोः श्रवणात्। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" ईक्षतक्रियायोगाश्चाचेतने प्रधाने न संभवति। अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतनः विशेषः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमः सच्छब्दाभिधेयः। तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्वकैव सृष्टिः प्रतीयते "स ईक्षत् लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत" "स ईक्षाञ्चक्रे—स प्राणानसृजत्" इत्यादिषु।

उक्त मत के निराकरण के लिए "ईक्षतेर्नाशब्दम्" सूत्र प्रस्तुत करते है। प्रधान के लिए शब्द (आगम) प्रमाण का नितांत अभाव है, इसलिए आनुमानिक प्रधान जगत् कारण वाक्योक्त "सत्" शब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता, यही इस सूत्र का तात्पर्य है। यह प्रधान जगतकारण-वादी वाक्य का प्रतिपाद्य तत्व नहीं है, क्योंकि—शास्त्र में जगतकर्त्ता के लिए ईक्षण क्रिया का प्रयोग किया गया है। "उसने संकल्प किया कि—अनेक होकर प्रकटूँ" इस श्रुति में सत् शब्द बोध्य कारण का, संबंधी व्यापार विशेष "ईक्षण" क्रिया का प्रयोग किया गया है। ईक्षण क्रिया का योग अचेतन प्रधान में संभव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि—ईक्षण की क्षमता वाले चेतन विशेष, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति संपन्न पुरुषोत्तम ही "सत्" शब्द वाच्य हैं। सारे सृष्टि प्रकरण में "ईक्षा" ही मुख्य करण बतलाया

ankurnagpal108@gmail.com

गया है, अर्थात् सृष्टि संकल्पात्मिका है ऐसा बतलाया गया है। जैसा कि—"उन्होंने इच्छा की कि—लोकों की सृष्टि करूँ, तब इन लोकों की सृष्टि की "उन्होंने इच्छा की और प्राण की सृष्टि की" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है।

ननु च कार्यगुणेनैव कारणेन भवितव्यम्, सत्यम् सर्वकार्यानुगुण एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यसंकल्पः पुरुषोत्तमः सूक्ष्मचिदचिद्-वस्तुशरीरकः। यथाऽह—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः "यस्या व्यक्तं शरीरम् यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युःशरीरम्, एष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। तदेतत् "न विलक्षणत्वात्" इत्यादिषु प्रतिपादयिष्यते। अत्र सृष्टि वाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीतित्युच्यते। वस्तुविरोधस्तु तत्रैव परिहरिष्यते यतूक्तं—प्रतिज्ञादृष्टान्तयोगात् अनुमानरूपमेवेदंवाक्यं इति तदसत्—हेत्वनुपपादनात्। "येनाश्रुतं श्रुतं" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिपादयिषिते सर्वात्मना तदसंभवं मन्वमानस्य तत्संभवमात्रप्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम्। ईक्षत्यादिश्रवणादेव हि अनुमानगंधाभावोऽवगतः।

(शंका) कार्य के अनुकूल पदार्थ ही, कारण हो सकता है (जड़ जगत के अनुकूल जड़ प्रकृति ही कारण हो सकती है) ऐसी जो शंका की जाती है, वह ठीक है, सर्वकार्यानुगुण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न, सत्य-संकल्प पुरुषोत्तम् सूक्ष्मचिद् अचिद् सभी वस्तुओं के रूप में स्थित हैं—जैसा कि—"उस परमात्मा की ज्ञान बल-क्रिया आदि अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं—वह सर्वज्ञ, सर्वविद् और ज्ञान रूपी तपवाला है" अव्यक्त और मृत्यु (प्रकृति और जगत) जिसके शरीर हैं, वही प्राणि-मात्र के अंतरात्मा पापरहित हैं" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। इसका विशेष प्रतिपादन "न विलक्षणत्वात्" इत्यादि सूत्र में करेंगे। वहाँ बतलावेंगे कि सृष्टि प्रतिपादक वाक्य प्रधान परक नहीं है।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहते हैं कि–प्रतिज्ञा और दृष्टांत के अनुसार, वेदांत वाक्य, प्रधान के अनुरूप ही घटित होते है, यह भी असंगत बात है, इसका कोई कारण उपलब्ध नही होता। "जिसके द्वारा अश्रुत विषय भी श्रुत होता है" एक के जानने से सबका ज्ञान होता है "ये वाक्य निम्नांकित शका "सर्वात्मा ब्रह्म में ऐसा होना असंभव है" के निवारणार्थ ही प्रस्तुत किए गए हैं "ईक्षण" क्रिया श्रवण-से ही संबंधित है, आनुमानिक प्रधान में संकल्प-श्रवण आदि का नितांत अभाव है।

अथ स्यात्—न चेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपि प्रधानगत-गौणमीक्षणं "तत्तेज ऐक्षत वा आप ऐक्षन्त" इति गौणेक्षण साहचर्यात्। भवति चाचेतनेष्वपि चेतनधर्मोपचारः यथा—"वृष्टि प्रतीक्षाः शालयः" "वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष" इति अतो गौणमीक्षण-मितीमामाशंकामनुभाष्य परिहरति।

जो यह कहते हैं कि–सृष्टि प्रकरण में जिस ईक्षण क्रिया का प्रयोग किया गया है, वह चेतन संबंधी मुख्य ईक्षण नहीं है, अपितु प्रधान संबंधी गौण ईक्षण है, जैसा कि–"तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि में तेज और जल आदि जड पदार्थों की ईक्षण क्रिया के प्रयोग से निश्चित होता है। जड पदार्थों में भी चेतन पदार्थों का सा औपचारिक प्रयोग किया जाता है, जैसे कि– 'शालि (धान) के पौधे वृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं वर्षा से बीजों को हर्ष होता है" इत्यादि से गौण ईक्षण ही सिद्ध होता है इस शंका का परिहार कर रहे हैं—

गौणश्चेन्नात्म शब्दात् १।१।६॥

यदुक्तम्—गौणेक्षणसाहचर्य्यात् सतोऽपीक्षणव्यपदेशः सर्गनियत-पूर्वावस्थाभिप्रायो गौण इति। तन्न "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति सच्छब्दप्रतिपादितस्य आत्मशब्देन व्यपदेशात्। एतदुक्तं भवति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् स आत्मा" इति चेतना-चेतनप्रपञ्चोद्देशेन सत् आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने संगच्छते

ankurnagpal108@gmail.com

इति; अतस्तेजोऽबन्नानामपि परमात्मैवात्मेति तेजःप्रभृतयोऽपि शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। तथा हि हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति परमात्मानुप्रवेशादेव तेजःप्रभृतीनां वस्तुत्वं तत्तन्नामभाक्त्वं चेति "तत्तेज ऐक्षत––ता आप ऐक्षन्त" इत्यपि मुख्य एवेक्षणव्यपदेशः, अतः साहचर्यादपि "तदैक्षत" इत्यत्र गौणत्वाशङ्काद्दूरोत्सारितेति सूत्राभिप्रायः।

जो यह कहते हैं जि—गौण ईक्षण के साहचर्य से सत् के ईक्षण का भी व्यपदेश हैं, जो कि, सृष्टि पूर्व की एक स्पन्दन क्रियामात्र के अभिप्राय से कहा गया है अतएव गौण ही है। यह कथन सुसंगत नहीं है क्योंकि–– "यह सारा जगत आत्म स्वरूप हैं, यह आत्म स्वरूप है, यह आत्मा सत्य स्वरूप है" इत्यादि वाक्य में आत्मा शब्द से सत् तत्त्व का उल्लेख किया गया है। इसी अभिप्राय से यह भी कहा गया कि––"सारा जगत आत्म्य है वही आत्मा है" यहाँ चेतन अचेतनात्मक जगत प्रपंच के उद्देश्य से आत्मतत्त्व का उपदेश किया गया है अचेतन प्रधान का कोई प्रसंग नहीं है। परमात्मा ही तेज, जल आदि की आत्मा हैं, इसलिए तेज आदि भी परमात्म वाची हैं––जैसा कि––"मैं जीवरूप से प्रविष्ट होकर उन तीनों (पृथ्वी-जल-तेज) देवताओं को नाम रूप से व्यक्त करूँ" इस परमात्मा के संकल्प बोधक वाक्य से सिद्ध होता हैं कि––परमात्मा ही, आत्मारूप से प्रविष्ट होकर तेज आदि वस्तुओं के नाम रूप का विस्तार करते हैं। "तत्तेज ऐक्षत" आदि वाक्यों में मुख्य ईक्षण का ही वर्णन है। सत के ईक्षण के साथ, तेज आदि के ईक्षण के उल्लेख में गौण ईक्षण की आशंका नहीं करनी चाहिए, यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दप्रतिपाद्यम्––

इसलिए भी सांख्य शास्त्रोक्त प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं हो सकता कि––

ankurnagpal108@gmail.com

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् १।१।७॥

मुमुक्षोः श्वेतकेतोः 'तत्त्वमसि' इति सदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य तन्निष्ठस्य "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातमात्रान्तरायो ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणो मोक्ष इत्युपदिशति, यदि च प्रधानमचेतनं कारणमुपदिश्येत; तदा तदात्मकत्वानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वोपदेशो नोपपद्यते "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति तन्निष्ठस्याचेतनसम्पत्तिरेव स्यात् । न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रमेवंविधतापत्रयाभिहितिहेतुभूतामचित्सम्पत्तिमुपदिशति । प्रधानकारणवादिनोऽपि हि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षं नाभ्युपगच्छन्ति ।

मुमुक्ष श्वेत केतु को "तत्त्वमसि" ऐसा तदात्मकता के अनुसंधान का उपदेश देकर "तभी तक मोक्ष का विलंब है जब तक शरीर से छूट नहीं जाता, उसके बाद वह सत् रूप हो जाता है" ऐसा शरीर पात मात्र के अन्तराय वाला ब्रह्म संपत्ति रूप मोक्ष का उपदेश दिया गया है। यदि अचेतन प्रधान को जगत के कारण रूप से बतलाया जाता तो, तदात्मकत्वानुसंधान रूपी मोक्षसाधनत्वोपदेश का मेल नहीं बैठता।" पुरुष इस लोक में जैसा संकल्प और अनुष्ठान करता है, वैसी ही मरणोत्तर उसकी गति होती है" इस वाक्य से कैसे मान लिया जाय कि—अचेतन की आराधना से भी गति प्राप्त हो सकती है। माता और पिता से हजारों गुना वात्सल्य भाव से जीवों की रक्षा करने वाले शास्त्र, कहीं तापत्रय की शांति के लिए, जड़ की आराधना का उपदेश दे सकते हैं ? प्रधान कारण वादी भी प्रधान की आराधना करके मोक्ष नहीं पा सकते।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान इसलिए भी जगत का कारण नहीं हो सकता कि—

हेयत्वावचनाच्च १।१।८॥

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दाभिहितं भवेत् तदा मुमुक्षोः श्वेतकेतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वाद्धेयत्वेनैवोपदेश्यं स्यात् । न

ankurnagpal108@gmail.com

च तत्क्रियते, प्रत्युत उपादेयत्वेनैव "तत्त्वमसि" "तस्य तावदेव चिरम्" इत्युपदिश्यते ।

सांख्योक्त प्रधान ही यदि, जगत का कारण, सत् शब्द से वेदों को अभिप्रेत होता तो, मोक्षविरोधी, आत्मवादी सिद्धान्त को मानने वाले श्वेतकेतु को, उसे हेय बतलाकर उसे त्यागने का उपदेश दिया जाता, परंतु ऐसा न करके "तुम वही हो" तुम्हें उसे प्राप्त करने में तभी तक का विलम्ब है, जब तक कि शरीर का बंधन है" इत्यादि उपदेश दिया गया ।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान को इसलिए भी कारण नहीं मान सकते कि—

प्रतिज्ञाविरोधात् १।१।६॥

प्रधानकारणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति । वाक्योपक्रमे ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । तच्च कार्य्यकारणयोरनन्यत्वेन कारणभूतसद्विज्ञानात्तत्कार्यभूतचेतनाचेतनप्रपञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम । तत्तु प्रधानकारणत्वे चेतनवर्गस्य प्रधानकार्य्यत्वाभावात् प्रधानविज्ञानेन चेतनवर्गविज्ञानासिद्धे र्विरुद्ध्यते ।

प्रधान को कारण मानने से प्रतिज्ञा से भी विरुद्धता होती है । वेदांत वाक्यों के उपक्रम (प्रारंभ) में ही, नियम बतलाया गया कि—"एक के ज्ञान से समस्त का ज्ञान होता है ।' उस नियम के अनुसार, कार्य और कारण दोनों में अनन्यता होनी चाहिए अतः कार्यरूप चेतन अचेतन समस्त प्रपंचरूप जगत कारण रूप उस ब्रह्म के स्वरूपानुसार ही प्रतीत होता है । यदि प्रधान को कारण मान ले तो, चेतन वर्ग में, जड प्रधान की कार्यता कहाँ से आवेगी । प्रधान के ज्ञान से, चेतन वर्ग के ज्ञान को सिद्ध करना, सर्वथा विरुद्ध है ।

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान इसलिए भी कारण नहीं है कि—

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाप्ययात् १।१।१०॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याह–"स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति तत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वम पीतो भवति तस्मादेन स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" इति सुषुप्तं जीवं सता सम्पन्नं, स्वमपीतः—स्वस्मिन् प्रलीन इति व्यपदिशति। प्रलयश्च–स्वकारणे लयः न चाचेतनं प्रधानं चेतनस्य जीवस्य कारणं भवितुमर्हति। स्वमपीतो भवति आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः। चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव जीवशब्देनाऽभिधीयत इति नामरूपव्याकरणश्रुत्योक्तम्। तज्जीवशब्दाभिधेयं ब्रह्म सुषुप्तिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् केवलसच्छब्दाभिधेयमिति 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' इत्युच्यते। तथा समानप्रकरणे नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" इत्युच्यते। आमोक्षाज्जीवस्य नामरूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानोदयः। सुषुप्तिकाले हि नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि जागरदशायां नामरूपे परिष्वज्य तन्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते "यदा सुप्तः स्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथ हास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" "तस्माद्वा आत्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" तथा "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति" इति। तथा सुषुप्तं जीवं 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' इति च वदति। तस्मात्सच्छब्दवाच्यः परंब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव। तदाह वृत्तिकारः "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतीति, सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदध्यवसीयते 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इति चाहेति।

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म ही सत् शब्द का स्वाभाविक वाच्यार्थ हैं, जैसा कि--"हे सोम्य ! मेरे निकट स्वप्नांत (सुषुप्ति कालीन जीव की अवस्था) को जानो, जिस समय वह पुरुष (जीव) सोता है, तब सत् संपन्न (ब्रह्मलीन) हो जाता है, स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए उसे "स्वपिति" कहते हैं, उस समय वह स्वरूप में अपीत (लीन) हो जाता है" इस वाक्य में सुषुप्त जीव को सत् से संपन्न अर्थात् "स्वमपीत अपने में प्रलीन" कहा गया है। प्रलय का अर्थ होता है अपने कारण में लीन होना। इससे स्पष्ट होता है कि--अचेतन प्रधान, चेतन जीव का कारण नहीं है। "स्वंम पीतो भवति" कहने का तात्पर्य है कि--जीव स्वीय (परमात्मा) को प्राप्त होता है।

चिन्मय वस्तु अर्थात् चेतन ही जिसका शरीर है और जो जीवात्मा में, अन्तर्गत व्याप्त है, उसे ही उक्त प्रसंग में जीव शब्द से बतलाया गया है (अर्थात् जो जीव का भी जीव है) "मैं इसमें प्रवेश कर जीवात्मा के रूप से, वस्तुओं के नाम रूप को अभिव्यक्ति करूँगा" ऐसे नाम रूप के व्यक्तीकरण के उपदेश से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

प्रलयकाल की तरह, सुषुप्ति काल में भी, नाम और रूप का संबंध नहीं रहता, इसलिए जीव शब्द से उल्लेख्य वह ब्रह्म ही, सुषुप्ति काल में "सत्" शब्द से कहा गया है। जैसा कि--"हे सौम्य। उस समय जीव सत् संपन्न होता है, स्वरूप प्राप्त करता है।"

इसी प्रकार के अन्य प्रकरण में भी नाम रूप का संबंध न दिखलाकर, प्राज्ञ (परमात्मा) से ही संबंध दिखलाया गया है। जैसे कि--"जीव प्राज्ञ आत्मा के साथ सम्मिलित होकर वाह्य और आभ्यन्तर किसी भी विषय को नहीं जानता (आत्म विभोर हो जाता है)"

मोक्ष न होने तक केवल नाम रूप के साथ संबंध होने से जीवात्मा को स्व (परमात्मा) से भिन्न विषयक ज्ञान (इस जगत में) हुआ करता है। जो जीव सुषुप्ति काल में नाम रूप को छोड़कर सत् (ब्रह्म) से संसक्त हो जाता है, वही जाग्रत अवस्था में नामरूप से संसक्त होकर पुनः पूर्व रूप में हो जाता है, ऐसा अन्य श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है--'जिस समय यह स्वप्न रहित सुषुप्तावस्था में रहता है उस समय प्राण (परमात्मा) से एकाकार हो जाता है। जागने पर

ankurnagpal108@gmail.com

इसकी इन्द्रियाँ अपने आश्रय स्थान में यथावत स्थित हो जाती हैं।" और जागने पर—"व्याघ्र-सिंह-वराह-मशक-दंश-जो कुछ भी हैं वे जैसे सुषुप्ति के प्रथम प्रतीत होते थे वैसे ही प्रतीत होते हैं।" सुषुप्त जीव को "प्राज्ञ परमात्मा से संसक्त रहता है" ऐसा बतलाया गया है। इन सबसे निश्चित होता है कि—"सत्" शब्द वाच्य परंब्रह्म सर्वज्ञ परमेश्वर पुरुषोत्तम ही हैं। उक्त श्रुति वाक्यों का समर्थन वृत्तिकार भी करते हैं—"उस अवस्था में जीव सत् से सम्पन्न हो जाता है।" ऊपर जो जीव की सत् के साथ सम्पत्ति और असम्पत्ति दिखलाई गई है उससे निश्चित होता है कि जीव 'प्राज्ञ परमात्मा से ही संलग्न होता है।"

इतश्च न प्रधानम्—

प्रधान को इसलिए भी जगत का कारण नहीं कह सकते कि—

गति सामान्यात् ।१।१।११॥

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत" "तस्माद्वा एतस्मा-दात्मन आकाशस्सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेत-दृग्वेदः' इत्यादिसृष्टिवाक्यानां या गतिः—प्रवृत्तिः, तत्सामान्यात् तत्समानार्थत्वादस्य तेषु च सर्वेषु सर्वेश्वरः कारणमवगम्यते। तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमिति निश्चीयते।

"सृष्टि से पूर्व यह जगत, एक आत्म स्वरूप ही था, उसके अतिरिक्त कोइ स्पन्दित पदार्थ नहीं था, उसने संकल्प किया कि लोगों की सृष्टि करूँ तब उसने सृष्टि की"-उस आत्मा से आकाश हुआ और फिर क्रमशः आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी हुई "ऋग्वेद परमात्मा निश्वास मात्र है"-इत्यादि सृष्टि सूचक वक्यों की गति प्रवृत्ति (प्रकाशनशक्ति, तत्सामान्य हेतु अर्थात् उस सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा के अनुरूप ही है। इसलिए यहाँ भी सर्वेश्वर ही जगत के कारण निश्चित होते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

इतश्च न प्रधान

प्रधान को कारण मानना इसलिए भी कठिन है कि-

श्रुतत्वाच्च १।१।१२॥

श्रुतमेव हि अस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाच्यस्य आत्मत्वेन, नामरूपयोर्व्याकर्त्तृत्वं,सर्वज्ञत्वं,सर्वशक्तित्वं,सर्वाधारत्वं अपहतपाप्मत्वादिकं, सत्यकामत्वं, सत्यसंकल्पत्वं च-"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—सन्मूलाःसौम्येमाःसर्वाःप्रजाःसदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः-"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा"यच्चास्येहास्ति-यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् तस्मिन् कामान्समाहिताः— "एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति ।

इस उपनिषद् में,इस सत् शब्द वाच्य की,आत्मारूप से नाम और रूप की व्याकृति, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिसंपन्नता, सर्वाधारकता, निर्दोषता, निष्पापता, सत्यकामता सत्यसंकल्पता आदि स्पष्टतः बतलाई गई है-जैसे- "इसमें जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूँगा"- "सत् ही इस प्रजा का मूल आश्रय और प्रतिष्ठा है"—"सारी वस्तुएं सदात्मक ही है,वही सत्य और आत्मा है"-"इस जगत में जो कुछ भी विद्यमान है,या जो कुछ नहीं(अतीत)है,वह सब परमात्मा में ही समाहित (लीन)है,संपूर्ण कामनायें और अभिलाषायें भी उन्हीं में प्रविष्ट हैं"- "यह आत्मा निष्पाप,जरा मृत्यु शोक तथा भूख प्यास रहित,सत्य काम और सत्यसंकल्प है"

तथा च श्रुत्यंतराणि-" न तस्यकश्चित् पतिरस्य लोके न चेशिता नैव च तस्य लिगम्, स कारणंकरणाधिपाधिपो न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः"-"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानिकृत्वाऽभिवदन्यदास्ते"-"अन्तःप्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वा

ankurnagpal108@gmail.com

त्मा"-"विश्वात्मानं परायणम्"-"पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्"-यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः-"एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एकोनारायणः" इत्यादीनि । तस्माज्जगत्कारणवादिवाक्यं न प्रधानादिप्रतिपादनयोग्यम् । अतः सर्वज्ञः सर्वेश्वरो निरस्ता-निखिलदोषगन्धोऽनवधिकातिशय असंख्येयकल्याणगुणगणौघम-हार्णवः पुरुषोत्तमो नारायण एव निखिल जगदेककारण जिज्ञास्य ब्रह्मेति स्थितम् ।

तथा अन्य श्रुतियाँ भी-"इस जगत में उनका कोई स्वामी और शासक नहीं है न उनका ज्ञापक कोई चिन्ह ही है वही एकमात्र कारणा-धिपतियों के अधिपति हैं उनका कोई अधिपति जनक या प्रतिपालक नही है। वह धीर (अविकृतात्मा) ईश्वर ही समस्त रूप संपन्न वस्तुओं का विस्तार करके, उन वस्तुओं का नाम तथा नामों का व्यवहार करके, उनमें स्थित है। वही प्राणिमात्र के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर, शासन करते हैं, इसलिए सर्वात्मा हैं। विश्वात्मा, परमाश्रय, जगत्पति, आत्मा के स्वामी को जानो। इस जगत में जो कुछ भी पदार्थ दीखते या सुनाई पड़ते हैं, नारायण उन सब में बाहर और भीतर विद्यमान हैं। ये नारायण ही प्राणिमात्र के अन्तरात्मा, निष्पाप, अलौकिक, प्रकाशमय और एक है।" इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, निर्दोष, असंख्य अपरिमित अपार कल्याणकर गुणों के महासागर पुरुषोत्तम नारायण को ही समस्त जगत का एकमात्र कारण बतलाती हैं, वही जिज्ञास्य ब्रह्म हैं। उक्त जगत् कारणादि के बोधक वाक्य, प्रधानादि के प्रतिपादन के योग्य कदापि नहीं हैं।

अतएव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेण आभिः श्रुतिभिः निरस्तो वेदितव्यः, पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञा-स्यं ब्रह्मेति स्थापनात् । निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं वेदांतवेद्यंब्रह्म जिज्ञास्यतयाप्रतिज्ञातम् । तच्च चेतनमिति ईक्षते-

ankurnagpal108@gmail.com

र्नाशब्दम्-इत्यादिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः। अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधानतुल्यत्वमेव

ऐसे ही, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म का पोषक शांकरमत भी सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत इन श्रुतियों से निरस्त जानना चाहिए, क्यों कि-सूत्रकार ने वास्तविक ईक्षण आदि गुण संपन्न ब्रह्म को ही जिज्ञास्य ब्रह्म रूप से सिद्ध किया है। निर्विशेषवाद में, अवास्तविक साक्षीवाले ब्रह्म को वेदांतवेद्य जिज्ञास्य, सिद्ध किया गया है। और उसे ही चेतन रूप से "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों से समर्थन किया गया है। जब कि-चैतन्यगुणयोग ही चैतन्यता है, तब यदि ये लोग ईक्षण को गुण नहीं मानते तो इनका मत भी प्रधानकारणवादी सांख्य के समान ही अप्रामाणिक है।

किंच-निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वं अपि दुरुपपादम्। प्रकाशो हि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन् वस्तुविशेषः। निर्विशेषस्य वस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावात् घटादिवाच्चित्वमेव। तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेत्, तन्न, तत्क्षमत्वं हि तत् सामर्थ्यमेव। सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्विशेषवाद: परित्यक्तःस्यात्।

एक बात और है कि-ब्रह्म को निर्विशेष प्रकाशमात्र कहने से उसके प्रकाशत्व का उपपादन नहीं होता क्यो कि- स्वतःऔर दूसरे की व्यवहारयोग्यता संपादक वस्तु विशेष को प्रकाश कहते हैं। इस प्रकार प्रकाशत्व एक गुण हो जाता है जो कि-निर्विशेष वस्तु की भी जडता ही सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि- स्व-परव्यवहार्यता रूप अवस्थाओं के विना भी निर्विशेष में प्रकाशन क्षमता है,तो ऐसा कथन भी उक्त मत के विरुद्ध होगा, क्यों कि- क्षमता भी एक गुण ही तो है। इसलिए निर्विशेषमत भी त्याज्य है।

अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत, इति चेत्,हन्त तर्हि तत एव सर्वज्ञता, सर्वशक्तित्वं' सर्वेश्वरत्वं, सर्वकल्याणगुणा-

ankurnagpal108@gmail.com

करत्वं सकलहेयप्रत्यनी`त्यादयः सर्वेऽभ्युपगंतव्याः। शक्तिमत्व च कार्यविशेषानुगुणत्वं, तच्चकार्यविशेषनिरूपणीयम्, कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तदैकनिरूपणीय शक्तिमत्वमपि निष्प्रमाणकं स्यात्।

यदि यह कहो कि-श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर हम उनके क्षमता-गुण को स्वीकार करते हैं, तब तो प्रसन्नता का विषय है तव तो सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, शक्तिमत्ता, सर्वकल्याणगुणाकरता निर्दोषता आदि गुण विशेषणों, को भी श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर स्वीकारोगे ही; शक्तिमत्ता का अर्थ होता है, कार्य विशेष की अनुगुणता, जो कि-कार्य विशेष में ही निरूपित होती है। कार्य विशेष के अप्रामाणिक हो जाने पर वह भी आप्रामाणिक हो जाती है।

किंच-निर्विशेषवस्तुवादिनो वस्तुत्वमपिनिष्प्रमाणम् प्रत्यक्षानुमानागमस्वानुभवाः सविशेषगोचरा इति पूर्वमेवोक्तम्। तस्मात् विचित्रचेतनाचेतनात्मकजगद्रूपेण "बहुस्याम्" इतीक्षणक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम्।

अधिक क्या-निर्विशेषवस्तुवादियों की वस्तु भी अप्रामाणिक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और अनुभव सभी प्रमाणों से सगुण ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है, ऐसा पहिले भी कह चुके है। विचित्र जडचेतन जगत रूप से "अनेकहोने" का संकल्प करने वाला पुरुषोत्तम ही जिज्ञास्य ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होता है।

६ अधिकरण—

एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतनभोग्यभूतजडरूपसत्त्वरजस्तमोमयप्रधानाद् व्यावृत्तिरुक्ता, इदानीं कर्मवश्यात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसंसर्गनिमित्तनानाविधानन्तदुःखसागरनिमज्जनेनाशुद्धाच्छुद्धाच्च प्रत्यगात्मनोऽन्यन्निखिलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अब तक-चेतन भोग्य ,जडस्वभाव, सत्त्वरज तमोमय प्रधान से, पूर्वजिज्ञासित ब्रह्म की व्यावृत्ति (पृथकना) बतलाई गई। अब शुभाशुभ कर्मों से वशीभूत, त्रिगुणात्मक प्रकृति संबंध से अनेक प्रकार के दुःखों के सागर में निमग्न, बद्ध और मुक्त जीवों से, ब्रह्म की पृथकता, हेयगुण रहित और निरतिशय आनंद रूप से बतलाई जावेगी।

आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३॥

तैत्तरीया अधीयते "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति प्रकृत्य "तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्मा आनंदमयः" इति। तत्र सन्देहः-किमयमानंदमयोः बंधमोक्षभागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दाभिलपनीयादन्यः परमात्मा, उत स एव ? इति।

तैत्तरीयोपनिषद् में "वह पुरुष अन्नरसमय है" ऐसा कहकर इस विज्ञानमय से भी सूक्ष्म एक दूसरा अन्तरात्मा आनंदमय है" ऐसा कहागया। इस पर संदेह होता है कि-यह आनंदमय कौन है? वंधन मुक्ति वाला प्रत्यगात्मा जो कि जीव नाम से जाना जाता है, वह है अथवा उससे श्रेष्ठ परमात्मा है?

किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति। कुतः ? "तस्यैष एव शारीर आत्मा" इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात्। शारीरो हि शरीर संबंधी जीवात्मा एव।

दोनों में कौन हो सकता है? विचारने पर तो जीवात्मा ही प्रतीत होता है, क्योंकि-"वह शरीर धारक ही यह आत्मा है" इस वाक्य में आनंदमय के लिए शरीर कहा गया है। शरीर संबंधी जीवात्मा ही, निश्चित होता है।

ननु च जगत कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सुखप्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानंदमय इत्युपदिशति, जगत्कारणं च "तदैक्षत" इतीक्षणश्रवणात् सर्वज्ञः सर्वेश्वरः इत्युक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

(प्रतिवाद) नहीं; जगत कारण के रूप से प्रतिपादित ब्रह्म को सरलता पूर्वक जाना जा सके इसलिए अन्नमयादि रूपों से कहते हुए अंत में आनंदमय को ही जगत का कारण बतलाया गया और उसकी जगत् कारणता को, "उसने संकल्प किया" इस वाक्यगत ईक्षण क्रिया के आधार पर उसे सर्वज्ञ सर्वेश्वर बतलाते हुए सिद्ध किया गया है।

सत्यमुक्तम्—स तु जीवान्नातिरिच्यते—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"—"तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति कारणतया निर्दिष्टस्य जीव सामानाधिकरण्यनिर्देशात्। सामानाधिकरण्यं हि एकत्वप्रतिपादनपरम्। यथा "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादौ। ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्चेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव। अतः 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरं" इति जीवस्याचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतयोपदिश्यते। अचिद्वियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते—"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति। तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः। "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति, अशरीरंवाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। अतो जीवस्याविद्यावियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रक्रान्तमानंदमय इत्युपदिश्यते।

(वाद) आप तो ठीक कह रहे हैं—वह ब्रह्म जीव से भिन्न है कहाँ? जैसा कि—"जीव ब्रह्म से स्वयं प्रविष्ट होकर" तथा "श्वेतकेतु तू वही है" इन वाक्यों में कारण रूप से निर्दिष्ट जीव रूप का सामानाधिकरण्य दिखलाया गया है। अभिन्नता का प्रतिपादन ही सामानाधिरण्य है। जैसेकि "यह वही देवदत्त है" इत्यादि में सामानाधिकरण्य दिखलाया जाता है ईक्षा पूर्विका सृष्टि चैतन्य जीव की ही बतलाई गई है। "ब्रह्मवेत्ता परता प्राप्त करता है" ऐसे जीव के, जडसंसर्ग रहित स्वरूप को प्राप्य बतलाया गया है। जड संसर्ग रहित स्वरूप का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया कि—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है"। वस्तुतः उस ब्रह्म के रूप की प्राप्ति ही तो मोक्ष है। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है—' शुभ और अशुभ जन्य पाप पुण्य, शरीर रहते हुए समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

नहीं होते, शरीर रहित होने पर पाप पुण्य (जीव का) स्पर्श नहीं कर सकते।" इससे ज्ञात होता है कि–जीव के अविद्या रहित स्वरूप को प्राप्य बतलाते हुए उसे ही आनंदमय बतलाया गया है।

तथाहि–शाखाचंद्रन्यायेनात्मस्वरूपं दर्शयितुं "अन्नमयः पुरुषः" इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्य धारकं पंचवृत्तिप्राणं, तस्याप्यन्तरभूतं मनः, तदन्तरभूतां च बुद्धि, "प्राणमयो-मनोमयो-विज्ञानमयो" इति तत्र तत्र बुद्धयवतरणक्रमेण निर्दिश्य, सर्वान्तरभूतं जीवात्मानं "अन्योऽन्तर आत्मो आनंदमयः" इत्युपदिश्य अन्तरात्मपरम्परां समापयति। अतो जीवात्मस्वरूपमेव "ब्रह्मविदाप्नोति" इति प्रक्रान्तं ब्रह्म, तदेवानन्दमय इत्युपदिष्टमिति निश्चीयते।

तथा शाखा चन्द्र न्याय से आत्मा के स्वरूप को बतलाने के लिए "अन्नमयः पुरुषः" कहकर सर्व प्रथम स्थूल शरीर को बतलाकर, उसके अन्तर्भूत, उसके धारक पंच प्रवृत्ति वाले प्राण प्राणके अन्तर्भूत मन और उसके अन्तर्भूत बुद्धि को "प्राणमय मनोमय विज्ञानमय" रूप से बुद्धि ग्राह्य कराते हुए, सबके अन्तर्भूत जीवात्मा को "अन्योऽन्तर आत्मा आनंदमयः" बतला कर अन्तरात्म परम्परा के उपदेश को समाप्त किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–जीवात्मा ही "ब्रह्मवेत्ता परता प्राप्त करता है" इस नियम के अनुसार, प्राप्य ब्रह्म है, उसे ही आनन्दमय रूप से बतलाया गया है।

ननु च–'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयादन्यब्रह्मेति प्रतीयते। नैवं–ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण, पुरुषविधत्वरूपितं शिरः पक्षपुच्छरूपेणव्यपदिश्यते। यथा अन्नमयो देहोऽवयवी स्वस्माद-नतिरिक्तैः स्ववाक्यैरेव "यस्येदमेवशिरः" इत्यादिना शिरः-पक्ष-पुच्छ वेत्तया निदर्शितः। तथा आनंदमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निदर्शितम्। तत्रावयवत्वेन निरूपितानां प्रिय-मोद प्रमो-

ankurnagpal108@gmail.com

दानंदानामाश्रयतया अखण्डरूपमानन्दमयं "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युच्यते। यदि चानंदमयादन्यद्ब्रह्माभविष्यत्–"तस्माद् वा एतस्मा दानंदमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म" इत्यपि निरदेक्ष्यत, न चैवं निर्दिश्यते।

(शंका की जाती है कि) "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" से तो, आनन्दमय से अतिरिक्त ब्रह्म तत्व है, ऐसा प्रतीत होता है [शंका का निवारण करते हैं] ऐसी बात नहीं है–ब्रह्म को ही, स्व और स्वभाव विशेष रूप से, शिर-पक्ष-पुच्छ रूप वाला पुरुष बतलाया गया है। जैसे कि–अन्नमय शरीर अपने अवयवों से भिन्न नहीं है, सारे अवयव उसी के रूप हैं, वैसे ही "यस्येदं-शिर:" इत्यादि वाक्य से शिर-पक्ष पुच्छ आदि अंगों को बतलाया गया है। उसी प्रकार आनन्दमय ब्रह्म को भी, उससे अभिन्न प्रिय मोद प्रमोद आदि अवयवों वाला बतलाया गया है। वहाँ, अवयवरूप से निरूपित प्रिय-मोद-प्रमोद आदि के आश्रय होने से अखण्डरूप आनंदमय को "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" बतलाया गया है। यदि आनंदमय से अतिरिक्त कोई ब्रह्मतत्त्व होता तो—"इस आनंदमय से अतिरिक्त अन्तरात्मा कोई ब्रह्म है" ऐसा भी कहा जाता, पर ऐसा नहीं कहा गया।

एतदुक्तं भवति–"ब्रह्मविदाप्नोति परं" इति प्रक्रान्तं ब्रह्म "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" इतिलक्षणतः सकलेतरव्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः" इत्यादौ आत्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तरत्वेनात्मत्वं व्यंजयद् वाक्यमन्नमयादिषु तत्तदन्तरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनतिक्रम्य "अन्योऽन्तरात्माऽनंदमयः" इत्यात्मशब्देन निर्देशमानंदमये समापयति। अत आत्मशब्देन प्रक्रान्तं ब्रह्म आनंदमय इति निश्चीयते।

कथन यह है कि–"ब्रह्मवेत्ता परता को प्राप्त करता है" इस वाक्य में ब्रह्मत्व प्राप्त वस्तु को ही "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" सभी वस्तुओं से विलक्षण बतला कर उसे ही "तस्माद्वा" इत्यादि में आत्मा शब्द से बतलाते हुए, उसको ही, सर्वान्तरात्मा रूप से आत्मा बतलाने

ankurnagpal108@gmail.com

वाले अन्नमयादि वाक्य में, एक एक के अन्तरात्मा रूप से प्राणमय आदि को, आत्मा स्वरूप दिखला कर "इनसे भिन्न आत्मा अन्तर्यामी आनन्दमय है" उस आत्मा के निर्देश को आनंदमय में लाकर समाप्त किया गया है। इस से ज्ञान होता है कि–आत्म शब्द से निर्दिष्ट ब्रह्म नामवाला ही आनंदमय है।

ननु च–"ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युक्त्वा "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्तिब्रह्मेति चेत्वेद, संतमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्म ज्ञानाज्ञानाभ्यामात्मनः सद्भावासद्भावौ दर्शयति, नानंदमयज्ञानाज्ञानाभ्याम्। न चानंदमयस्य प्रियमोदादिरूपेण सर्वलोकविदितस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशंका युक्ता। अतो नानंदमयमधिकृत्यायं श्लोक उदाहृतः। तस्मादानंदमयादन्यद् ब्रह्म।

(शंका की जाती है कि–) उक्त प्रसंग में "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" ऐसा कहने के बाद कहा गया कि–"ब्रह्म को यदि असत् कहते हो तो वह निश्चित ही असद् हो जावेगा, यदि उसे सद् कहते हो तो, इसे भी सत् ही मानों" इस श्रुति में– ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान से, आत्मा का सद्भाव और असद्भाव दिखलाया गया है, आनंदमय के ज्ञान और अज्ञान की तो चर्चा भी नहीं है। आनंदमय की, प्रिय मोद आदि रूपों से, लोक प्रसिद्ध सद्भाव और असद्भाव ज्ञानवाली प्रतीकता, दिखलाई गई हो ऐसा भी नहीं कह सकते। इससे निश्चित होता है कि–यह श्लोक, आनंदमय के लिए नहीं कहा गया है। आनंदमय से भिन्न ब्रह्म के लिए ही कहा गया प्रतीत होता है, इसलिए आनंदमय से भिन्न ही ब्रह्म है।

नैवम्–"इदं पुच्छं प्रतिष्ठा"–पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा–"अथर्वांगिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा"–"महः पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युक्त्वा तत्रतत्रोदाहृताः। "अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायंते" इत्यादिश्लोकाः यथा न पुच्छमात्रप्रतिपादनपराः, अपि तु अन्नमयादिपुरुष प्रतिपादनपराः; एवमत्रापि आनन्दमयस्यायं "असन्नेव" इतिश्लोकः। नानन्दमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य। आनंदमयस्यैव ब्रह्मत्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण रूपितस्यापरिच्छिन्नानंदस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशंका युक्तैव।

ankurnagpal108@gmail.com

(समाधान) बात ऐसी नही है– उसी श्रुति में आगे चल कर "यह पुच्छ बसने का आधार है, पृथिवी मे भी वही आधार है, आंगिरस गोत्रीय अथर्ववेद के मन्त्रद्रष्टा मे वही आधार है, तथा बुद्धिगत चिदाभास मे भी वह आधार है" ऐसा कहते हुए, उदाहरण प्रस्तुत किये गए है। 'अन्नाद वै प्रजा: प्रजायते" इत्यादि श्लोक जैसे केवल पुच्छ मात्र के प्रतिपादक नही हैं अपितु अन्नमयादि पुरुष के प्रतिपादक है, वैसे ही आनंदमय के प्रकरण में भी "असन्न एव" इत्यादि श्लोक आनंदमय पुरुष का प्रतिपादक है, अन्य पुच्छ का प्रतिपादक नही है। आनदमय मे ब्रह्मत्व होते हुए भी, प्रिय, मोद आदि रूपों से रूपित अपरिच्छिन्न आनंद की सद्भाव और असद्भाव सबंधी आशंका युक्ति युक्त ही है।

पुच्छब्रह्मणोऽप्यपरिच्छिन्नानंदतयव हि अप्रसिद्धता। शिर: प्रभृत्यवयवित्वाभावाद्ब्रह्मणो नानंदमयो ब्रह्मेति चेत्–ब्रह्मण: पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वाभावात् पुच्छमपि ब्रह्म न भवेत्। अथाविद्यापरिकल्पितस्य वस्तुनस्तस्याश्रयभूतत्वात् ब्रह्मण: पुच्छं प्रतिष्ठेति रूपणमात्रमित्युच्येत, हन्त तर्हि तस्यासुखाद्व्यावृत्तस्यानंदमयस्य ब्रह्मण: प्रियशिरस्त्वादिरूपणं भविष्यति। एवं च "सत्यंज्ञानमनंत ब्रह्म" इति विकारास्पदजऽपरिच्छिन्नवस्त्वंतरव्यावृत्तस्यासुखाद्व्यावृत्तिरानन्दमय इत्युपदिश्यते। ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे ब्रह्मण्यानंदमय इति मयट् प्राणमय इव स्वार्थिको दृष्टव्य:। तस्मादविद्यापरिकल्पितविविधविचित्रदेवादिभेदभिन्नस्य जीवात्मन: स्वाभाविकं रूपम खंडैकरसं सुखैकतानमानंदमय इत्युच्यत इत्यानंदमय: प्रत्यगात्मा।

पुच्छ ब्रह्म की अपरिच्छिन्न आनंद रूप से प्रसिद्धि नही है। यदि कहा जाय कि– शिर इत्यादि अवयवो के अभाव से ब्रह्म, 'आनंदमय ब्रह्म,' नही हो सकता। तब तो ब्रह्म में पुच्छत्व के अभाव होने से, पुच्छ ब्रह्म भी, ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि कहें कि–अविद्या परिकल्पित वस्तु के आश्रयभूत होने से ब्रह्म की "पुच्छ प्रतिष्ठा" इस रूपक से वर्णन किया गया है–(ब्रह्म के अवयव वास्तविक नही हैं) तब तो–दु:ख रहित

ankurnagpal108@gmail.com

आनंदमय ब्रह्म के, प्रिय-शिर आदि अवयव भी रूपक ही हो जायेंगे। इसी प्रकार "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म" इस वाक्य में, विकारास्पद जड परिच्छिन्न पदार्थ से पृथक्, परिष्कृत सुख से पूर्ण आनंदमय का उपदेश दिया गया है। तथा अखण्डैकरस आनंदरूप ब्रह्म में प्रयुक्त आनंदमय शब्द में जो मयट् प्रत्यय है वह, प्राणमय की तरह, स्वार्थिक जानना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि–अविद्या परिकल्पित, विविध विचित्र देवादि भेदों वाले जीवात्मा की स्वाभाविक अखण्डैकरस रूप की सुखैकतानता को ही "आनन्दमय" नाम से बतलाया गया है, इसलिए जीवात्मा ही आनंदमय है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–आनंदमयोऽभ्यासात्–आनंदमयः परमात्मा कुतः ? अभ्यासात्। "सैषाऽनंदस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य 'यतोवाचोनिवर्त्तन्ते" इत्येवमंतेन वाक्येन शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयदशाशिरस्कोऽभ्यस्यमान आनंदः अनंतदुःखमिश्रपरिमित-सुखलवभागिनि जीवात्मनि असंभवन् निखिलहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानंसकलेतरविलक्षणं परमात्मानमेव स्वाश्रयमावेदयति।

सिद्धान्तः––इस प्रकार के विचार के समक्ष आने पर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं–"आनंदमयोऽभ्यासात्" अर्थात् आनंदमय परमात्मा ही है, क्यों कि–शास्त्र में उसके लिए ही पुनः पुनः आनंदमय शब्द का प्रयोग किया गया है। "सैषा आनंदस्य मीमांसा भवति" से प्रारंभ कर "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इस अंतिम वाक्य तक शतगुणितोत्तर क्रम से जिस निरतिशय श्रेष्ठतम मूर्धन्यदशा को बार बार आनंद नाम से कहा गया है वह, अनंत दुःख संवलित, परिमित लवमात्र सुख को प्राप्त करने वाले जीवात्मा में नितान्त असंभव है। वह तो समस्त हीन दोषों से रहित कल्याणैकतान समस्त अन्यान्य पदार्थों से विलक्षण परमात्मा में ही संभव है, आनंद का एकमात्र आश्रय परमात्मा ही है।

यथाह–"तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तरात्मा आनंदमयः" इति विज्ञानमयो हि जीवः, न बुद्धिमात्रम्, मयट् प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः। प्राणमयेत्यवगत्वा स्वार्थीयकताऽश्रीयते।

ankurnagpal108@gmail.com

इह तु तद्वतो जीवस्य संभवान्नानर्थक्य न्याय्यम् । बद्धो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातैवेत्यभ्यधिष्महि । प्राणमयादौ च मयऽर्थसंभवो अनंतरमेव वक्ष्यते । कथ तर्हि विज्ञानमयविषयश्लोके "विज्ञानं यज्ञ तनुते" इति केवल विज्ञानशब्दोपादानं उपपद्यते । ज्ञातुरेषाऽत्मनः स्वरूपमपि स्व प्रकाशतया विज्ञानमित्युच्यत इति न दोषः, ज्ञानैक-निरूपणीयत्वाच्च ज्ञातु.स्वरूपस्य स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्म-मुखेन धर्मिस्वरूपमपि प्रतिपादयंति गवादिशब्दवत् ।

जैसा कि—उसी आनद तत्त्व के व्याख्यान के प्रसग मे कहा गया कि—"विज्ञानमय से भिन्न उसका अंतरात्मा आनदमय है" इसमे विज्ञान मय का तात्पर्य जीवात्मा है, केवल बुद्धि ही नही है, मयट् प्रत्यय से ही जीवात्मा और बुद्धि की पृथकता होती है (अर्थात् केवल विज्ञान शब्द बुद्धिवाचक है, मयट् प्रत्यय युक्त विज्ञानमय शब्द जीव वाचक है) प्राणमय शब्द में शब्द के अर्थ की कोई दूसरी गति नही है, इसलिए वहाँ उसका विकारार्थ ही ग्राह्य होगा (प्राण बहुलता ऐसा अर्थ हो नहीं सकता) विज्ञानमय शब्द मे तो, जीव मे विज्ञानवत्ता संभव है, इसलिए मयट् का विकारार्थ करना अनर्थ होगा । बद्ध एवं मुक्त जीवात्मा मे जो ज्ञातापन है, विज्ञानमय शब्द, उसी का द्योतक है । प्राणमय आदि शब्दों में मयट् का प्राचुर्यार्थ घटाना असंभव है, ऐसा अन्यत्र कहते हैं ।

(शंका) यदि ऐसा है तो—विज्ञानमय संबंधी श्लोक में "विज्ञान ही यज्ञ का विस्तार करता है" ऐसा, केवल विज्ञान शब्द का ही उपादान क्यों किया गया है ? (समाधान) इससे कोई अन्तर नहीं आता, क्यों कि—विज्ञाता आत्मा का स्वरूप स्वप्रकाश है, इसलिए उसे केवल "विज्ञान शब्द से भी बतला दिया गया । ज्ञाता का स्वरूप ज्ञान द्वारा ही निरूपित हो सकता है । धर्मों के स्वरूप के निरूपक शब्द, जो कि—उसके धर्म का बोध कराते है वह गौ शब्द की तरह हैं, अर्थात् साश्नालांगूलककुदखुर-विषाण आदि चिन्हों को धारण करने वाला जो जीव है उसे गौ कहते हैं, इसी तरह विज्ञान शब्द 'ज्ञान को धारण करने वाला जीवात्मा है' इस तथ्य का निरूपण करता है ।

ankurnagpal108@gmail.com

"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति वा कर्त्तरिल्युडाश्रीयते । नंद्यादित्वं वाऽश्रित्य "नंदिग्रहि" इत्यादिना कर्त्तरि ल्युः । अतएव च "विज्ञानं यज्ञं तनुते" कर्माणि तनुतेऽपि च ' इति यज्ञादि कर्त्तृत्वं विज्ञानस्य श्रूयते । बुद्धिमात्रस्य हि न कर्त्तृत्वं संभवति । अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूतेषु विज्ञानमयात् प्राचीनेष्वन्नमयादिषु न चेतनधर्मंभूतं कर्त्तृत्वं श्रूयते । अतएव च चेतनमचेतनंच स्वासाधारणैः निलयनत्वानिलयत्वादिभिर्धर्मविशेषैर्विभज्य निर्दिशद्वाक्यं "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इति विज्ञान शब्देन तद्गुणं चेतनं वदति ।

व्याकरणीय "कृत्यल्युटोबहुलम्" इस नियम से कर्त्तृवाच्य में ल्युट प्रत्यय के आश्रय से, तथा नंद्यादि धातुओं के पाठ में ज्ञा धातु के पाठ होने से "नंदिग्रहि" इत्यादि व्याकरणीय नियम से कर्त्तृवाच्य में "ल्यु" प्रत्यय करके तथा व्याकरणीय नियम से ल्यु को अन् प्रत्यय करने से ज्ञान शब्द निष्पन्न होता है । इसीलिए "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इस वाक्य में यज्ञादिकर्म का कर्त्तृत्व विज्ञान का बतलाया गया । केवल बुद्धि में तो कर्त्तृत्व संभव है नहीं । उक्त प्रसंग में विज्ञानमय के पूर्ववर्त्ती अन्नमय आदि में तो चेतन धर्म की कोई चर्चा ही नहीं है । जो कि, चेतन के उपकरण स्वरूप हैं । विज्ञान शब्द का चेतन अर्थ करने के लिए ही, निलयता (विश्वाधारत) अनिलयता आदि असाधारण स्वीय धर्म विशेष द्वारा विभक्त, चेतन और अचेतन, के निर्देशक "विज्ञानं चाविज्ञानं" वाक्य में, विज्ञान शब्द से, विज्ञान गुणसंपन्न चेतन को बतलाया गया है ।

तथाऽन्तर्यामि ब्राह्मणे 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य काण्वपाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने 'य आत्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायमधीयाना माध्यन्दिनः काण्वपाठगतं विज्ञानशब्द निर्दिष्टं जीवात्मेति स्फुटीकुर्वन्ति । विज्ञानं इति च नपुंसकलिंगं वस्तुत्वाभिप्रायं, तदेवं विज्ञानमयात् जीवात् अन्यस्तदन्तरः परमात्मा आनंदमयः ।

ankurnagpal108@gmail.com

तथा इसी प्रकार काण्वशाखोक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण के "जो विज्ञान में अवस्थान करता है" इस वाक्य में जिसे "विज्ञान" शब्द से निर्देश किया गया है, उसे ही माध्यन्दिन शाखीय "जो आत्मा में अवस्थान करता है" इस वाक्य मे "आत्मा" शब्द से बतलाया गया, इस प्रकार विज्ञान का पर्यायवाची शब्द आत्मा सिद्ध होता है जिससे विज्ञान का अर्थ जीवात्मा सुस्पष्ट है। विज्ञान शब्द का जो नपुंसक लिंग में प्रयोग किया गया है, वह वस्तुत्व का बोधक है। इससे निर्णय होता है कि—विज्ञानमय जीव से अतिरिक्त कोई विज्ञानमय का अन्तरात्मा परमात्मा आनंदमय है।

यद्यपि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति श्लोके ज्ञानमात्रमेवोपादीयते, न ज्ञाता, तथाऽपि "अन्योन्तरात्मा विज्ञानमयः" इतितद्वान् ज्ञातैवोपदिश्यते, यथा—"अन्नाद् वैः प्रजाः प्रजायंते" इत्यत्र श्लोके केवलान्तोपादानेऽपि "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यत्र नान्नमात्रं निर्दिष्टम्, अपि तु तन्मयः तद्विकारः। एतत् सर्वं हृदि निधाय सूत्रकारः स्वयमेव "भेदव्यपदेशात्" इत्यनन्तरमेव वदति।

यद्यपि— विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है" इस वाक्य में ज्ञान मात्र का ही उपादान किया गया है, ज्ञाता का नहीं, फिर भी "भिन्न ही कोई अन्तरात्मा है, जो कि विज्ञानमय है" इस वाक्य में विज्ञानमय ज्ञाता (जीव) का ही निर्देश किया गया है। जैसे कि—"अन्न से ही प्रजा का जन्म होता है' इस श्लोक में केवल अन्न को उपादान बतलाया गया है तथा "वही यह पुरुष अन्नरसमय है" इस वाक्य में अन्नमय के विकृतदेह का उल्लेख किया गया है। इन सभी बातों को हृदयंगम करके सूत्रकार ने स्वयं ही "भेदव्यपदेशात्" सूत्र में जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता स्पष्ट बतला दी है।

यदुक्तं जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य "अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य "तत्त्वमसि" इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जगत्कारणमपि जीवस्यरूपान्नातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूपं "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रक्रान्तमसुखाद्व्यावृत्तत्वेनानंदमयं

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युपदिश्यत इति तदयुक्तम्, जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इतिस्वसंकल्पपूर्वकानन्तविचित्र सृष्टियोगानुपपत्ते. । शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य सर्गादिजगद्व्यापार-संभवो–"जगद्व्यापारवर्जम्" भोगमात्रसाम्यलिंगात्" इत्यत्रोपपा-दयिष्यते ।

जो यह कहते हैं कि—जगत कारण रूप से निर्दिष्ट "मैं ही जीव रूप से इसमें प्रवेशकर" तथा "तू वही है" इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा और परमात्मा का जो सामानाधिकरण्य अभेद संबंध बतलाया गया है, वह-जीव के अतिरिक्त परमात्मा कोई अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा बतलाता है तथा जीव के ही स्वरूप को 'ब्रह्मवेत्ता परंतत्व को पा जाता है" इस वाक्य में, परतत्त्वता को प्राप्त, दुःख से अनावृत आनंदमय कहा गया है। सो आपका यह कथन भी असंगत है-–क्योंकि—"उसने विचार किया कि बहुत होकर प्रकट होऊँ" उसने तेज की सृष्टि की "इत्यादि वाक्यों में जिस स्वसंकल्पात्मिका विविधरूपा सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह चेतनता होते हुए भी, जीव के सामर्थ्य के बाहर की बात हैं।" विशुद्धावस्थापन्न जीव से भी ऐसी जागतिक सृष्टि संभव नहीं है। ऐसा ही–सूत्रकार—"जगद्व्यापारवर्जम् "तथा" भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" सूत्रों में बतलाते हैं।

कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपत्वानभ्युपगमे "अनेन जीवेना-त्मना" तत्त्वमसिइति सामानाधिकरण्यनिर्देशः कथमुपपद्यत इति चेत्—कथं वा निरस्तनिखिलदोषगंधस्य सत्य-संकल्पस्य सर्वज्ञस्यसर्वशक्ते रनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणस्य सकलकारणभूतस्यब्रह्मणः नानाविधानन्तदुःखाकरकर्माधीन चिन्तितनिमिषितादिसकलप्रवृत्तिजीवस्वरूपत्वम्? अन्यतरस्य मिथ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत्, कस्य भोः? किं हेयसंबधस्य? किं वा हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभावस्य हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानस्यब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसंबंध मिथ्याप्रति-

ankurnagpal108@gmail.com

भासो मिथ्या रूप इति चेत्, विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते, ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वमनाद्यविद्याश्रयत्वेनानंतदुःखविषय मिथ्या प्रतिभासाश्रयत्वं चेति । अविद्याश्रयत्वं त-कार्यदुःखप्रतिभासाश्रयत्वं चैव हि हेय संबंधः । तत्संबंधित्वं प्रत्यनीकत्वं च विरुद्धमेव । तथाऽपि तस्य मिथ्यात्वान्न विरोध इति मा वोचः । मिथ्याभूतमप्यपुरुषार्थ एव तन्निरसनाय सर्ववेदांता आरभ्यंत इति ब्रूषे । निरसनीयापुरुषार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते ।

यदि आप पूछें कि—कारणभूत ब्रह्म की जीवस्वरूपता न मानने से "अनेन जीवेन" तथा "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से सम्मत सामान्याधिकरण रूप अद्वैत की बात कैसे बनेगी ? मैं पूछता हूं कि—समस्त दोषों से रहित, सत्य संकल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, अनंत अपार असंख्य कल्याण गुणैकराशि, सभी के एकमात्र कारण ब्रह्म की, अनेक दुःखों की खान, कर्माधीन, चिन्तित, क्षणभंगुर प्रवृत्तिवाली जीव स्वरूपता कैसे संभव होगी ? आप कहें कि—जीवात्मा-परमात्मा की भिन्नता, मिथ्यात्व आभास मात्र है। तो वह मिथ्यात्व आप किसका मानते हैं ? जीवात्मा के हेयगुण संबंधों का, अथवा हेयगुणों के प्रतिपक्षी कल्याणगुण समन्वित परमात्मा के स्वभाव का ? यदि, हेयता रहित कल्याणैकतान ब्रह्म का, अनादि अविद्या के आश्रय से, हेय संबंध मिथ्या प्रतिभास है, तो एक ही ब्रह्म में, हीनता रहित कल्याणगुणैकतानता और अनादि अविद्याश्रित अनंत दुःखों का विषयता संबंधी मिथ्या प्रतिभासाश्रय, ये दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे संभव हैं ? अविद्या की आश्रयता, तथा उससे संभूत दुःख प्रतिभासाश्रयी हेयगुण संबंध, और ब्रह्म संबंधी हेयगुण प्रतिपक्षता, ये दोनों बातें विरुद्ध ही तो हैं। इस पर भी मिथ्याभास का आश्रय लेकर यह मत कहो कि—विरुद्धता नहीं होगी। मिथ्या होते हुए भी वह त्याज्य है, उसको हटाने के लिए सारे ही वेदांत वाक्य उपदेश देते हैं, ऐसा भी तुम्हीं स्वीकारते हो [अर्थात् मिथ्यात्व को, हेय और त्याज्य मानते हो तो उसे मिथ्याभास कैसे कह सकते हो ?] जिस वस्तु को त्याज्य मानते

ankurnagpal108@gmail.com

हैं, वह हेय प्रतिपक्षी कल्याणैकतान गुणो से विरुद्ध ही है, तभी तो त्याज्य है।

किं कुर्मः ? "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्व-विज्ञान प्रतिज्ञाय "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिना निखिल-जगदेककारणतां, "तदैक्षत बहुस्याम्" इति सत्यसंकल्पतां च ब्रह्मणः "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्ये नानंतदुःखाश्रयजीवैक्य प्रतिपादितम, तदन्यथानुपपत्या ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वादि परि-कल्पनीयमिति चेत्।

विवश होकर यदि कहो कि क्या करे ? "जिसके द्वारा अश्रुत भी श्रुत होता है" इस वाक्य से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की बात को बतलाकर "हे सौम्य यह सारा जगत् सत् ही था "इत्यादि वाक्य से ब्रह्म की सर्व जगत्कारणता मानकर "उसने विचार किया कि बहुत हो जाऊँ" इस वाक्य से ब्रह्म की सत्य सकल्पता का भी प्रतिपादन करके, उसी ब्रह्म की "तू वही है" इस वाक्य द्वारा अनंत दुःखाश्रयी जीव की सामानाधिकरण्य रूप एकता प्रतिपादित की गई है, इसलिए अगत्या हमें, ब्रह्म की परस्पर विरोधी असगत (बद्धता और मुक्तता) बातों के परिहार के लिए, ब्रह्म मे ही अविद्याश्रयत्व आदि की परिकल्पना करनी पडती है।

श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धं च न कल्पनीयम् अथ हेय संबंध एव पारमार्थिकः, कल्याणैकस्वभावता तु मिथ्याभूता, हन्तैवं, तापत्रयाभिहतचेतनोज्जिजीविषया प्रवृत्त शास्त्रं, तापत्रया-भिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी, कल्याणैकस्वभावस्तु भ्रांतिपरि-कल्पित इति बोधयत् सम्यगुज्जीवयति। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपातिरिक्तजीवत्व दुःखित्वादिकं सत्यसंकल्पत्वकल्याणगुणाकरत्वाद्यपि मिथ्याभूतं कल्पनीयमिति चेत्; अहो भवतां वाक्यार्थपर्यालोचनकुशलता। एक विज्ञानेन सर्व-विज्ञानप्रतिज्ञान सवस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्याभावान्न

ankurnagpal108@gmail.com

सेत्स्यति। यथैकविज्ञानं परमार्थविषयम्, तथैव सर्वविज्ञानमपि यदि परमार्थविषयम् तदन्तर्गतं च तदा तत् ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति-शक्यते वक्तुम् न हि परमार्थशुक्तिका ज्ञानेन तदाश्रयमपरमार्थ रजतं ज्ञातं भवति।

(विवाद) ऐसी शास्त्र विरुद्ध और युक्ति विरुद्ध कल्पना करना ठीक नहीं है। यदि हेयगुण संबध को परमार्थिक तथा कल्याणैकतान स्वभावता को अपारमार्थिक मान लेंगे तो, त्रितापतापित चेतन जीवों की शान्ति के लिए जो उपाय शास्त्रों में बतलाए गए हैं, उनका क्या समाधान होगा? क्या तापत्रयाभिहति को ही पारमार्थिक तथा कल्याणै स्वभाव वस्तु को भ्रांति कल्पित मानना उचित होगा? यदि उक्त दोष के परिहार के लिए, ब्रह्म के निर्विशेष चैतन्य स्वरूप के विरोधी जीवत्व, दुःखित्व आदि धर्म तथा सत्यसंकल्पत्व, कल्याणगुणाकरत्व, जगत्कारणत्व आदि सभी मिथ्या हैं, ऐसी परिकल्पना करते हैं, तो आपकी वाक्यपर्यालोचना के कौशल की बलिहारी है। वाह, समस्त वस्तु के मिथ्या हो जाने पर कोई ज्ञातव्य विषय ही न रह जायगा, तथा एक के ज्ञान से समस्त का ज्ञान होता है, यह नियम भी व्यर्थ हो जायगा। जब एक वस्तु संबंधी ज्ञान परमार्थ विषयक होगा तभी, समस्त विषयक ज्ञान पारमार्थिक हो सकता है तभी यह नियम लागू हो सकेगा कि—एक की जानकारी से समस्त की जानकारी होती है। अन्यथा, सीप का सही ज्ञान और चांदी संबंधी ज्ञान जो कि सीप नही है तथा सीप के समान सही भी नही है, उन दोनों को एक मानना पड़ेगा। परमार्थिक सीप संबंधी ज्ञान से, सीप के आश्रित अपारमार्थिक रजत, की प्रतीति नहीं हो सकती।

अथोच्येत्—एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः, **अयमर्थः** **"निर्विशेषवस्तु मात्रमेव सत्यम्" इति। न तर्हि "येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातं" इति श्रूयेत्। येन श्रुतेन अश्रुतमपि श्रुतं भवतीत हि अस्य वाक्यस्यार्थः। कारणतयोपलक्षितनिर्विशेषवस्तुमात्रस्यैव सद्भावश्चेत्प्रतिज्ञातः "यथा सौम्येकेन**

ankurnagpal108@gmail.com

मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातम्" इति दृष्टान्तोऽपि न घटते। मृत्पिण्ड विज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञातता निदर्शिता। तत्रापि विकारस्यासत्यताऽभिप्रेतेति चेत्, मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवद-सत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति प्रतिज्ञातार्थ संभावना प्रदर्शनाय "यथा सोम्य" इति प्रसिद्धवदुपन्यासो न युज्यते। न च तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यज्ञानोत्पत्तेः प्राग्विकारजातस्य असत्यतामापादयत् तर्कानु-ग्रहीतं वा प्रमाणमुपलभामह इति। अयमर्थः "तदन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य" इत्यत्र वक्ष्यते।

जो यह कहो कि—एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा का तात्पर्य है कि "निर्विशेष वस्तु मात्र ही सत्य है।" सो यह कथन भी ठीक न होगा।" जिससे अश्रुत श्रुत-अमत, मत तथा अज्ञात, ज्ञात होता है" इस वाक्य का सही अर्थ यह है कि—जिससे अश्रुत पदार्थ भी परिश्रुत होता है। यदि, एकमात्र कारणताविशिष्ट को ही शास्त्र में सत्य माना गया होता तो, "सोम्य ! एक मृत्पिण्ड से सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है" यह दृष्टान्त संगत नहीं हो सकता। इस उदाहरण में मृत्पिण्ड से विकारता दिखलाई गई है। इस पर भी कहें कि—यहाँ भी, विकार की असत्यता ही कही गई है, तो भी मिट्टी के निर्मित घड़े आदि, रस्सी में सर्प की भ्रांति की तरह, असत्य तो प्रतीत होते नहीं। अनुभूत पदार्थ की सत्यता के प्रतिपादन की संभावना मात्र के लिए ही केवल, "हे सौम्य !" इत्यादि वाक्य में प्रसिद्ध नियम का व्याख्यान किया गया हो, ऐसा समझ में नहीं आता। न "तत्त्वमसि" आदि वाक्यजन्य ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व का कोई ऐसा तर्कानुमोदित प्रामाणिक वाक्य ही मिलता है, जिससे विकृत पदार्थों की असत्यता सिद्ध हो सके। इस सारे तात्पर्य को सूत्रकार—तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' सूत्र में बतलाते हैं।

तथा—"सदेवसोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं" तदैक्षत बहु-स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत्"—"हन्त इमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—"सन्मूलाः सौम्येमाः

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः… —ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिना अस्य जगतः सदात्मकता, सृष्टे पूर्वकाले नामरूप विभागप्रहाणम्, जगदुत्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्यब्रह्मणः, स्वव्यतिरिक्त-निमित्तान्तरामपेक्षत्वं सृष्टिकाले अहमेव अनंतस्थिरत्रसरूपेण "बहुस्याम्" इति अनन्यसाधारणसंकल्पविशेषः, यथा संकल्पमनंत विचित्र तत्त्वानां विलक्षणक्रमविशेषविशिष्टासृष्टिः समस्तेषु अचेतनेषुवस्तुषु स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैवानंतनामरूपव्याकरणं, स्व-व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वम्, स्वायत्तनत्वं, स्वप्रवर्त्यत्वं, स्वेनैव जीवनम्, स्वप्रतिष्ठत्वमित्याद्यनंतविशेषाः शास्त्रैकसमधिगम्याः प्रतिपादिताः। तत्संबंधितया प्रकरणान्तरेष्वप्यपहतपाप्मत्वा-दिनिरस्तनिखिलदोषतासर्वज्ञतासर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वसंत्यसंकल्पत्व सर्वानन्दकरणनिरतिशयानंदयोगादयः सकलेतरप्रमाणाविषयाः सहस्रशः प्रतिपादिताः। एवमन्यगोचरानतविशेषविशिष्टप्रकृत ब्रह्मपरामर्शिततच्छब्दस्य निर्विशेषवस्तुमात्रोपदेशपरत्वमसंगतत्वे-नोन्मत्तप्रलपितायेत्। त्वं पदं च संसारित्वविशिष्टजीववाचि। तस्यापि निर्विशेषस्वरूपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तः स्यात्। निर्विशेषप्रकाशस्वरूपस्य च वस्तुनो हि अविद्यया तिरोधानं स्वरूपनाश प्रसंगादिभिर्न सभवतीति पूर्वमेवोक्तम्। एवं च सति-समानाधिकरणवृत्तयोः तत्त्वमपि द्वयोरपि पदयोर्मुख्यार्थं परित्यागेन लक्षणा च समाश्रणीया।

तथा—"हे सौम्य ! यह जगत पहिले एक अद्वितीय सत् स्वरूप था" —"उसने विचार किया मैं अनेक हो जाऊँ"—"उसने तेज की सृष्टि की"—"मैं इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर इन तीनों (तेज-जल-पृथिवी) देवताओं के नाम और रूप को व्यक्त करूँ" "हे सौम्य ! यह समस्त प्रजा, सत से ही उत्पन्न, सत् में ही अवस्थित और सत में ही

ankurnagpal108@gmail.com

विलीन हो जाती है''—यह सारा ही जगत ब्रह्मात्मक है।'' इत्यादि शास्त्र वाक्यों में, जगत की सदात्मकता, सृष्टि के पूर्व नाम रूप विभाग का निराकरण, तथा सृष्टि कालिक अनंत स्थावर जंगम रूपों में व्यक्त होने का ब्रह्म का अनन्य असाधारण संकल्प विशेष, संकल्पानुरूप विलक्षण क्रम विशेष, विचित्र विशिष्ट सृष्टि रचना, एवं समस्त अचेतन वस्तुओं में जीवरूप से प्रवेश कर नाम रूप व्याकृति, अपने में ही समस्त जीवों की लीनता, इत्यादि ब्रह्म की अनंत विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। उन्हीं विशेषताओं से सबंधित अन्य प्रकरणों में भी, निष्पापता, निर्दोषता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सत्यकामता, सत्यसंकल्पता, सर्वानंद-कारिता, अत्यानंदमयता, इत्यादि अनेक प्रामाणिक सहस्रों विशेषताओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार असाधारण अगोचर, अनंत विशेषण विशिष्ट ज्ञेय ब्रह्म के बोधक "तत्" शब्द की निर्विशेष (सामान्य) वस्तुओं से समता नितान्त असंगत प्रतीत होती है, यह तो प्रमत्तों का सा प्रलाप है। "त्वं" पद संसारी विशिष्ट जीवात्मा का बोधक है उसकी भी यदि निर्विशेष (सामान्य) रूप से कल्पना की जाय तो, "त्वं" पद के वास्तविक अर्थ का गला घोटना मात्र है। वह निर्विशेष प्रकाशस्वरूप वस्तु अविद्या से आवृत हो जाती है इसलिए उसके वास्तविक स्वरूप का नाश हो जाता है; यह संभावना भी असंभव है, ऐसा पहिले ही कह चुका हूँ। यदि ऐसा मान लेंगे तो, सामानाधिकरण्य बोध्य तत् त्वं दोनों ही पदों के मुख्यार्थ का त्याग करके लक्षणा का आश्रय लेना पड़ेगा।

अथोच्येत्—सामानाधिकरणवृत्तानामेकार्थप्रतिपादनपरतया विशेषणांशे तात्पर्या संभवादेव विशेषणनिवृत्तेर्वस्तुमात्रैकत्वप्रति-पादनान्नलक्षणा प्रसंगः। यथा "नीलमुत्पलम्" इति पदद्वयस्य विशेष्यैकत्वप्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वस्वरूपविशेषणद्वयं न विवक्ष्यते। तद्विवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्व-विशिष्टाकारस्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्यते। तत्तु न संभवति न हि नैल्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तूत्पलपदेन विशेष्यते, जातिगुणयोरन्योन्य समवायप्रसंगात्। अतो नीलत्वोत्पलक्षितवस्त्वेकत्वमात्रं सामाना-

ankurnagpal108@gmail.com

धिकरण्येन प्रतिपाद्यते। तथा–"सोऽयं देवदत्तः" इत्यतीतकाल विप्रकृष्टदेशविशेषस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेशवर्त्तमानकालविशिष्टतया प्रतिपादनानुपपत्तेरुभयदेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते। यद्यपि नीलमित्याद्येकपदश्रवणे प्रतीयमानं विशेषणं सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधान्न प्रतिपाद्यते। तथाऽपि बाच्येऽर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनान्नलक्षणा। अपितु विशेषणांशस्याविवक्षामात्रम् सर्वत्र सामानाधिकरण्यस्यैष एव स्वभाव इति न कश्चिद्दोष इति।

यदि कहो कि—समानता बतलाने वाले शब्दों का तात्पर्य अभेद प्रतिपादन ही है, इसलिए यहाँ–जीव, ब्रह्म का विशिष्ट अश है—ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। समानता के प्रसग में विशेषता का प्रश्न स्वत· ही निवृत्त हो जाता है तथा वस्तुगत एकत्व मात्र की प्रतीति होती है इसलिए लक्षणा द्वारा अर्थ करने की बात ही उपस्थित नहीं होती [अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा की विशेषताओ को हटाकर उनकी वास्तविक एकता को समझ लिया जावे तो—वह और तू का भेद, जो कि औपचारिक अर्थ है—समाप्त हो जायगा। लक्ष्यार्थ करने की क्या आवश्यकता है ?] जैसे कि—"नीलउत्पल" वाक्य मे दो पदों द्वारा विशेष्य और विशेषण का प्रतिपादन किया गया है, न कि नीलत्व और उत्पलत्व दो विशेषणों की योजना है। यदि इन दोनो को अलग-अलग विशेषण रूप से कहा गया होता तो नीलत्व विशिष्टाकार से, उत्पलत्व विशिष्टाकार की एकता का प्रतिपादन हो जाता। सो तो संभव हो नही सकता, क्यों उत्पलत्व, नीलत्व का विशेषण होगा नही। ऐसा होने से तो जाति और गुण का अन्योन्य समवाय संबंध हो जायगा। इसलिए समझना चाहिए कि–नीलत्व और उत्पलत्व धर्मद्वयविशिष्ट वस्तुओं की, सामानाधिकरण्य द्वारा ही, एकता बतलाई गई है।

तथा "यह वही देवदत्त है" इस वाक्य में भी, अतीत काल और स्थान विशेष में देखे गए, देवदत्त को देखकर वर्त्तमान काल में जो उपलब्धि होती है, उसमें, रूप सामानाधिकरण्य ही, कारण है। इसी से एकता की प्रतीत होती है।

ankurnagpal108@gmail.com

यद्यपि केवल एक पद "नील" को सुनकर यही ज्ञात होता है कि, यह किसी वस्तु की विशेषता का बोधक है, पर जब उसकी समानता की जाती है तब विरोधी तत्त्व होने के कारण उसकी वैसी प्रतीति नहीं होती, किन्तु वाच्यार्थ में प्रधान अंश का प्रतिपादन ज्ञात होता है। इसलिए उक्त प्रसंग में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं होती अपितु विशेषणांश के जानने मात्र की आवश्यकता होती है। सभी जगह सामानाधिकरण्य का ऐसा ही विधान है इसलिए कोई दोष नहीं है।

तदिदमसारं—सर्वेष्वेववाक्येषु पदानां व्युत्पत्तिसिद्धार्थ संसर्ग विशेषमात्र प्रत्याय्यम्। तत्र समानाधिकरणवृत्तानामपि नीलादिपदानां नैल्यादिविशिष्टएवार्थो व्युत्पत्ति सिद्धः, पदान्तरार्थ संसृष्टोऽभिधीयते। यथा "नीलमुत्पलमानय" इत्युक्ते नीलिमादिविशिष्टमेवानीयते। यथा च "विन्ध्याटव्यां मदमुदितो मातंगगणः तिष्ठति" इति पदद्वयावगतविशेषणविशिष्ट एवार्थः प्रतीयते। एवं वेदांत वाक्येष्वपि समानाधिकरणनिर्देशेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। न च विशेषण विवक्षायामितरविशिष्टाकारं वस्त्वन्येन विशेष्टव्यम्। अपितु सर्वैं विशेषणैः स्वरूपमेव विशेष्यम्।

(वाद) ऊपर कही गई सारी युक्तियाँ असंगत हैं। प्रायः सभी वाक्यों में पद समूहों का केवल व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ का विशेष सबंध ही, प्रतीति-गम्य होता है। सामानाधिकरण्य में प्रवृत्त, "नील" पद का विशिष्ट अर्थ "नीलिमा" ही व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है। जो कि अन्य पदार्थ से संबंधित हो सकता है जैसे कि—नीलकमल लाओ" कहने पर नीलिमा गुण विशिष्ट कमल ही लाया जाता है। तथा "इस विन्ध्याटवी में मदोन्मत्त हाथियों के झुंड रहते हैं" इस वाक्य में भी, मदोन्मत्त और हस्ति समूह इन दो पदों में बिशेषण और विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

इसी प्रकार समानाधिकरण्य बोधक वेदांत वाक्यों में भी, विशेषण और विशिष्ट भाव से ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ कहीं भी,

ankurnagpal108@gmail.com

विशेषण द्वारा विशेषता बतलाने की चेष्टा की गई है, वहां विशिष्टाकार-वाली किसी अन्य वस्तु की विशेषता नहीं बतलाई गई है। अपितु सभी विशेषणों से स्वरूप की ही विशेषता बतलाई गई है।

तथा हि "भिन्नप्रवृत्तिनिवृत्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इति अन्वयेन निवृत्त्या वा पदान्तर प्रतिपाद्या-दाकारादाकारान्तर युक्ततया तस्यैव वस्तुनः पदान्तर प्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम्। यथा—"देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षोऽदीनोऽकृपणोऽनवद्यः" इति यत्र त्वेकस्मिन्वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयं समानाधिकरणपदनिर्दिष्टम् तत्राप्यवन्यतरत्पदममुख्य-वृत्तमाश्रीयते, न द्वयम्। यथा "गौर्वाहीकः" इति। नीलोत्पलादिषु तु विशेषणद्वयान्वयाविरोधादेकमेवोभयविशिष्टं प्रतिपाद्यते।

तथा—"विभिन्नार्थ बोधक शब्द समूहों की जो एक मात्र अर्थ-बोधकता है उसे ही सामानाधिकरण्य कहते है इस नियम के अनुसार, अन्वय द्वारा हो या अन्यार्थ बोध द्वारा हो, दोनों ही स्थिति में, पदान्तर प्रतिपाद्य विषय में अर्थगत पार्थक्य नहीं होता। एक ही वस्तु को विभिन्न पदों से प्रतिपादन करना ही समानाधिकरण्य का कार्य है। जैसे कि—"देवदत्त श्यामवर्णवाला युवक रक्तनेत्र, अदीन अकृपण और अनवद्य है"—इस वाक्य में सामानाधिकरण्य के नियम से अनेक गुणों वाला एक ही देवदत्त है। जहाँ एक ही वस्तु में समन्वय के अयोग्य, दो विशेषण, समानाधिकरण्य. भाव से प्रयुक्त होते हैं, वहाँ पर भी एक पद का गौण अर्थ स्वीकारना होगा, दोनों का मुख्य अर्थ नहीं होगा। जैसे कि 'भार वाही बैल" इसमें एक का मुख्य और दूसरे का गौण अर्थ है। 'नीलोत्पल" में तो दो विशेषणों के समन्वय में विरोध होने से एकता है इसलिए दोनों में विशिष्टता का प्रतिपादन हो जाता है।

अथ मनुषे—एकविशेषणप्रतिसंबंधित्वेन निरूप्यमाणं विशेष-णान्तरप्रतिसंबधित्वात् विलक्षणम्—इति–घटपटयोरिवैकविभक्ति निर्देशेऽप्यैक्यप्रदिपादनासंभवात् सामानाधिकरणशब्दस्य न

ankurnagpal108@gmail.com

विशिष्ट प्रतिपादनपरत्वं, अपितु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्यप्रतिपादनपरत्वमेव इति ।

यदि यह मानें कि—कोई वस्तु एक विशेषण से विशेषित होने पर, दूसरी विशेषण विशिष्ट वस्तु से निश्चित ही विलक्षण या भिन्न होगी। जैसे, घट पट आदि में समान विभक्ति के होते हुए भी, एकता संभव नही हैं। वैसे ही अन्यत्र भी समान विभक्ति का निर्देश होने पर विभिन्न विशेषण विशिष्ट पदार्थों का ऐक्य नहीं होगा इसलिए समानाधिकरण शब्द का विशिष्टार्थ प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं होता, अपितु विशेषण के रूप से वस्तु के स्वरूप का उपस्थापन या बोध संपादन कराकर उन सबका ऐक्य प्रतिपादन करना ही उसका कार्य होता है।

स्यादेतदेवम्—यदि विशेषणद्वयप्रतिसंबंधित्वमात्रमेवैक्यं निरुन्ध्यात् । न चैतदस्ति, एकस्मिन् धर्मिण्युपसंहर्तुमयोग्यधर्मद्वयविशिष्टत्वमेव हि एकत्वं निरुणद्धि । अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धाघटत्वपटत्वयोः । "नोलमुत्पलम्" इत्यादिषु तु दण्डित्वकुण्डलित्ववद्रूपवत्त्वरसवत्त्वगन्धवत्त्वादिवच्च निरोधो नोपलभ्यते । न केवलमविरोध एव, प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेनैकार्थनिष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्यमुपपादयत्येव धर्मद्वयविशिष्टताम् । अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपदप्रवृत्तौ निमित्ताभावात् सामानाधिकरण्यमेव न स्यात् । विशेषणानां स्वसबंधानादरेण वस्तुस्वरूपोपलक्षणपरत्वे सत्येकनैववस्तूपलक्षितमित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव, उपलक्षणान्तरोपलक्ष्याकारभेदाभ्युपगमे तेनाकारेण सविशेषत्वप्रसंगः ।

हो सकता है, ऐसा हो, पर केवल दो विशेषणों का संबध ही अभेद का निरोधक हो, ऐसा नहीं है, अपितु एक धर्मी (विशेष पदार्थ) से दो विभिन्न धर्मों वाले विशेषणों का संबंध सर्वथा अयोग्य है वही एकता का विरोधी है। घटत्व और पटत्व में जो इस प्रकार की अयोग्यता है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होती है। "नील उत्पल" इस उदाहरण में

ankurnagpal108@gmail.com

"दण्डित्व, कुण्डलित्व" की तरह रूपत्व, रसवत्व और गंधवत्व आदि होते हुए भी एकता के विरुद्ध नही है। इस प्रकार केवल विरोध का अभाव ही नही है, अपितु प्रवृत्ति निवृत्ति के भेदानुसार जो सामानाधिकरण्य का नियम है, उसके अनुसार भी दो धर्मो वाली विशेषताओं का उपपादन हो जाता है। केवल वस्तु स्वरूप की एकता के बतलाने, या अनेक पदों के प्रयुक्त होने पर भी उपयुक्त कारण न होने से सामानाधिकरण्य का नियम लागू नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ विशेषणों का संबंध स्वीकार न करके, केवल वस्तुमात्र बोधकता ही स्वीकारी जाय, तब भी, एक विशेषण से ही जब वस्तु की विशेषता उपलक्षित हो जाती है, तब अन्यान्य विशेषण स्वतः ही व्यर्थ हो जाते हैं। अन्यान्य विशेषणों द्वारा यदि उपलक्ष्य वस्तु का, आकार भेद ही माना जावे, तब भी उन विशेषणों से वस्तु की सविशेषता सिद्ध हो जाती है।

"सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्रापि लक्षणा गन्धो न विद्यते, विरोधाभावात्। देशान्तरसंबंधितयाऽतीतस्य सन्निहितदेशसंबंधितया वर्त्तमानत्वाविरोधात्। अतएव हि "सोऽयम्" इति प्रत्यभिज्ञा कालद्वयसंबंधिनोवस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते वस्तुनः स्थिरत्ववादिभिः। अन्यथा प्रतीतिविरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात्। देशद्वयसंबंधविरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते।

"यह वही देवदत्त है" इस उदाहरण में भी किसी प्रकार की लक्षणा की संभावना नही है। क्योंकि—लक्षणा का कारणीभूत किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। अतीत और स्थानान्तर में दृष्ट व्यक्ति के वर्त्तमान में देखे जाने पर उस व्यक्ति में कोई अन्तर तो आ नहीं जाता; 'यह वही है" ऐसा जो स्मृति परक ज्ञान है, वह काल द्वय (भूत और वर्त्तमान) में दृष्ट एक ही व्यक्ति के अभेद का ही द्योतक है—ऐसा वस्तुस्थिरत्व वादियों का मत है। अन्यथा, प्रतीति के अनुसार भेद मान लेने से तो, सारी ही वस्तुएं क्षणिक माननी पड़ेंगी दो स्थानों की जो विभिन्नता है, वह कालभेद से निवृत्त हो जाती है।

यतः समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविशिष्टैकार्थवाचि-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वम्, अतः एव "अरुणयैकहायन्या पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इत्यारुण्यादिविशिष्टैकहायन्या क्रयः साध्यतया विधीयते ।

इससे सिद्ध होता है कि समानाधिकरण पदों की अनेक विशेषण विशिष्ट एकार्थ बोधकता है। जैसे कि—"रक्तवर्णा पिंगाक्षी एक वर्ष वाली गौ के बदले वह सोम खरीदता है" इसमें अरुणत्वादिविशिष्ट गौ से सोमक्रय की साध्यता बतलाई गई है।

तदुक्तम् "अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान् नियमः स्यात्" इति। तत्रैवं पूर्वपक्षी मन्यते-यदप्यरुणयेति पदमाकृतेरिव गुणस्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्वभावत्वाद् द्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमभिदधाति, तथाऽप्येकहायनि अन्वयनियमोऽरुणिम्नो न संभवति, एकहायन्या क्रीणाति तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासंभवात्। ततश्चारुणयेति वाक्यं भित्वा प्रकरणविहितसर्वद्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमविशेषणाभिदधाति। अरुणयेति स्त्रीलिंगनिर्देशः प्रकरणविहित सर्वलिंगद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः। तस्मादेकहायनि अन्वयनियमोऽरुणिम्नो न स्यात् इति।

पूर्वमीमांसादर्शन में कहा गया है कि--"अर्थ (प्रयोजन) यदि एक हो तो गुण और द्रव्य (अर्थात् विशेष्य और विशेषण) का एक कर्म से ही प्रयोजन सिद्ध होगा, ऐसा नियम है।" इस नियम के अनुसार पूर्व पक्षी ऐसा मानते हैं कि– आकृति के समान गुण भी जब द्रव्य का प्रकार (विशेषण) होता है तब आकृति और गुण एक स्वभाव के होते हैं "अरुणया" पद अरुणिमा युक्त द्रव्य का सही अर्थ "लाल गौ" ठीक ही करता है, फिर भी "अरुणिमा" की एकहायनीयता के साथ अन्वय की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती। "एकवर्षीया से खरीदता है" और वह भी "लाल रंग वाली से" ये दो भिन्न विशेषताओं को बतलाने वाले, समानता के विपरीत विशेषण हैं। इन दोनों को मानने से 'अरुणया" इत्यादि वाक्य से, प्रकरणस्थ सभी द्रव्यों का अरुणिमा से संबंध हो जाता है। अरुणया" पद में जो स्त्रीलिंग का निर्देश किया गया है, वह प्रकरणस्थ

ankurnagpal108@gmail.com

संपूर्ण लिंगक द्रव्यों का बोधक है, यह भी मानना पड़ेगा। "अरुणिमा" के साथ "एक वर्षीया" का संबंध हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है।

अत्राभिधीयते "अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्" –"अरुणयैकहायन्या" इत्यारुण्यविशिष्टद्रव्यैकहायनीद्रव्यवाचिपदयोः सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धे सत्येकहायनीद्रव्यारुण्यगुणयोररुणयेति पदेनैव विशेषणविशेष्यभावेन संबंधिताऽभिहितयोः क्रयाख्यैक कर्मान्वयाविरोधादरुणिम्नः क्रयसाधनभूतैकहायन्यन्वय नियमः स्यात्।

इस पर यजुर्वेद ६।१।६ में निर्णय किया गया है कि—"अर्थ (प्रयोजन) यदि एक हो तो गुण और द्रव्य (विशेषण-विशेष्य) दोनों का एक कर्म से प्रयोजन सिद्ध होगा" "अरुण्यैकहायन्या" इस उदाहरण में अरुण्यत्व विशिष्ट द्रव्यवाची अरुण शब्द और एकहायनी द्रव्यवाची एकहायनी शब्द की सामानाधिकरण्य के नियम से एकार्थ प्रतिपादनता जब सिद्ध हो जाती है—तब "अरुण्या" पद द्वारा विशेषण विशेष्य भाव संबंध विशिष्ट रूप से कथित "एकहायनी द्रव्य का "अरुणत्व गुण के साथ क्रय कार्य में कोई विरोध नहीं होता, तथा अरुणिमा क्रय के साधनी भूत "एकहायनी" पद के समन्वय का नियम भी सिद्ध हो जाता है।

यद्येकहायन्याः क्रयसंबंधवदरुणिमसंबंधोऽपि वाक्यावसेयः स्यात्, तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात्। न चैतदस्ति अरुणयेति पदेनैवारुणिमविशिष्टद्रव्यमभिहितम्। एकहायनीपदसामानाधिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते। न गुणसंबंधः, विशिष्टद्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः–"भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" इति हि सामानाधिकरण्यलक्षणम्।

यदि एकहायनी और क्रय के संबंध की तरह अरुणिम संबंध भी वाक्य लभ्य होता तो, इस एक ही वाक्य के दो अर्थ होते। सो तो है नहीं, "अरुण्या" पद से तो अरुणिम विशिष्ट द्रव्य का निर्देश है।

ankurnagpal108@gmail.com

'एकहायनी'' पद की सामानाधिकरण्य के नियम से एकहायनीयता मात्र ही प्रतीत होती है, गुण संबंध तो प्रतीत होता नहीं। विशिष्ट द्रव्यों की एकता करना ही सामानाधिकरण्य का कार्य है। जैसा कि—कैय्यट ने वृद्ध्याह्निक पर लक्षण बतलाया कि—''विभिन्नार्थ बोधक शब्द समूहों की एक मात्र अर्थ बोधकता ही सामानाधिकरण्य है।'' [अर्थात्—एकहायनी शब्द गाय का विशेषण नहीं है अपितु उसकी उम्र का बोधकमात्र है, जब कि अरुणिम शब्द उसकी वर्ण विशेषता का परिचायक है; एक हायनी के बदले सोमक्रय करना कोई विशेषता नहीं रखता अपितु अरुणिम होने से गाय की विशिष्टतापरक बहुमूल्यता सिद्ध होती है। इसलिए एकहायनी और अरुणिमा का कोई साथ नहीं है, अतः उनका अभेद संबंध भी नही हो सकता]

अतएव हि 'रक्तः पटो भवति'' इत्यादिष्वैकार्थ्यादेकवाक्यत्वम्। पटस्यभवनक्रियासंबंधे हि वाक्यव्यापारः रागसंबंधस्तु रक्तपदेनैवाभिहितः, रागसंबंधिद्रव्यं पट इत्येतावन्मात्रं सामानाधिकरण्यावसेयम्। एकमेकेनगुणेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा तेन तेन पदेन समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधिकरण्येन सर्वं विशेषणविशिष्टोऽर्थं एक इति ज्ञापयित्वा तस्य क्रिया संबंधाभिधानमविरुद्धम्। ''देवदत्तः श्यामो युवा लोहिताक्षो दंडी कुंडली तिष्ठति,'' शुक्लेन वाससा यवनिकां संपादयेत् ''नीलमुत्पलमानय'' ''नीलोत्पलमानय,'' गामानय शुक्लां शोभनाक्षोम् ''अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टकपालं निर्वपेत्'' इति। एवम्—''अरुण्यैकहायन्या पिंगाक्ष्या सोमं क्रीणाति'' इति।

'कपड़ा लाल होता है'' इस उदाहरण में अर्थगत ऐक्य होने से, एक वाक्यता है वस्त्र का होना क्रिया से संबंध दिखलाना ही वाक्य का प्रयोजन है। उसके रंग का संबंध तो रक्तवर्ण से ही प्रतीत होता है ''राग संबंधी द्रव्य पट है'' केवल इतना अर्थ ही सामानाधिकरण्य से ज्ञात होता है। इसी प्रकार अन्यान्य सामानाधिकरण्य के प्रसंगों में प्रयुक्त

ankurnagpal108@gmail.com

पदसमूह समष्टि रूप हों अथवा पृथक्-पृथक् हों, दोनों ही स्थिति में, एक दो या अनेक गुण विशेषित वस्तु का बोध कराकर, सामानाधिकरण्य से समस्त विशेषणों से विशिष्ट वस्तु एक है, यही प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए समस्त विशेषण विशिष्ट वस्तु का जो क्रिया विशेष के साथ संबंध दिखलाया जाता है उसमें कोई विरोध नहीं है। "श्यामवर्ण-वाला युवा रतनारे नैन का कुण्डलधारी देवदत्त लाठी लेकर खड़ा है", "धवल वस्त्र से परदा बनावेगा" "नीले रंग का कमल लाओ", श्वेत आँखों वाली गाय लाओ", "पथिकृत अग्नि के लिए अष्टकपाल (आठपात्रों मे शोधित) पुरोडाश (पिष्टक के प्रकरण का एक खाद्य विशेष) दूँगा" इत्यादि उदारहणों की तरह "रक्तवर्णा, एकहायनी, कपिलनेत्री गाय से सोम खरीदता है" इस उदाहरण मे भी सामानाधिकरण्य विशिष्ट का एकत्व प्रतिपादन करना चाहिये।

एतदुक्तं भवति—यथा—"काष्ठैःस्थाल्यामोदनंपचेत्" इत्यनेक-कारकविशिष्टैकाक्रिया युगपत् प्रतीयते, तथा समानाधिकरण-पदसंघाताभिहितमेकैकंकारकं तत्तत्कारकप्रतिपत्तिवेलायामेवानेक-विशेषणविशिष्टं युगपत् प्रतिपन्नं क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद् विरोधः "खादिरैः शुष्कैः काष्ठैः समपरिमाणे भाण्डे पायसं शाल्यो-दन समर्थः पाचकः पचेत्, इत्यादिषु" इति।

कथन यह है कि—"सूखी लकड़ियों से बटुये में चावल पकाता है" इस उदाहरण में जैसे एक साथ ही काष्ठादि अनेक कारक विशिष्ट एक क्रिया का ज्ञान होता है, सामानाधिकरण्य के प्रसंग में भी वैसे ही, पद समूह में प्रयुक्त एक-एक कारक की जब प्रतिपत्ति की जाती है, तब उन सबका एक साथ अनेक विशेषण विशिष्ट क्रिया में, निर्विरोध समन्वय हो जाता है। जैसे कि—"सूखी लकड़ियों से उचित परिमाण वाले पात्र में शाली के चावल की खीर चतुर रसोइया पकाता है" इत्यादि में एक क्रिया से संबंद्ध कारकों में कोई विरोध नहीं है।

यत्तूपात्तद्रव्यकवाक्यस्थगुणशब्दः केवल गुणाभिधायीत्यरुण-येति पदेन केवलगुणस्यैवाभिधानमिति तन्नोपपद्यते, लोकवेदयो-

ankurnagpal108@gmail.com

द्रव्यवाचिपद समानाधिकरणस्य गुणवाचिनः क्वचिदपि केवल-गुणाभिधानादर्शनात्। उपात्तद्रव्यकवाक्यस्थं गुणपदं केवलगुणाभि-धायोत्यप्यसंगतम्। "पटः शुक्लः" इत्यादिषूपात्तद्रव्यकेऽपि गुण-विशिष्टस्यैवाभिधानात्। "पटस्य शुक्लः" इत्यत्र शौकल्यविशिष्ट पटाप्रतिपत्तिरसमानविभक्ति निर्देशकृता, न पुनरुपात्तद्रव्यकत्व कृता तत्रैव "पटस्य शुक्लो भागः" इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशे शौक्ल्यविशिष्ट द्रव्यं प्रतीयते। यत्पुनः क्रयस्यैक हायन्यवरुद्धतयाऽ-रुणिम्नः क्रयान्वयो न संभवतीति, तदपि विरोधिगुणरहित द्रव्य-वाचिपद समानाधिकरणगुणपदस्य तदाश्रयगुणाभिधानेन क्रिया-पदान्वयाविरोधादसंगतम्। राद्धान्ते चोक्तन्यायेनारुणिम्नः शाब्दे द्रव्यान्वये सिद्धे द्रव्यगुणयोः क्रमसाधनत्वानुपपत्त्या अर्थात् परस्परा-न्वयः सिद्धयतीत्यप्यसंगतम्। अतोयथोक्त एवार्थः।

और जो यह कहते हैं कि—जिस वाक्य में द्रव्यवाचक पद का उल्लेख होता है, उस वाक्य का गुणवाचक शब्द, उस गुण का ही बोधक होता है, इसलिए 'अरुणया" पद से केवल गुण का ही अनुमान करेंगे (उसको द्रव्य की विशेषता नहीं मानेंगे) (मेरी दृष्टि में) ऐसा मानना संगत न होगा, क्योंकि लौकिक व्यवहार या वैदिक भाषा में कहीं भी, द्रव्य वाचक शब्द के साथ, सामानाधिकरण्य रूप से प्रयुक्त गुणवाचक पद को, केवल गुणमात्र ही माना गया हो, ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। द्रव्यवाचक पद वाले वाक्य में आए हुये गुणवाचक पद की, एकमात्र गुणबोधकता असंगत भी है। द्रव्यवाचक पद घटित "सफेद वस्त्र" इस वाक्य में भी गुणविशिष्टार्थ का प्रतिपादन किया गया है।" कपड़े की सफेदी" इस वाक्य में, शुक्ल गुण विशिष्ट पद की प्रतीत नहीं होती, क्योंकि—इसमें असमान विभक्ति दीखती है। द्रव्य संबंध से यहाँ गुण विशिष्टता की प्रतीति न हो रही हो, सो बात नहीं है। कपड़े का सफेद हिस्सा इस वाक्य में समान विभक्ति है, इसमें शुक्ल गुण विशिष्ट द्रव्य की प्रतीति होती है।

ankurnagpal108@gmail.com

और फिर जो यह कहा कि—समीपवर्त्ती "एकहायनी" पद के साथ "क्रय" का संबंध हो सकता है "अरुणिम" पद के साथ नहीं हो सकता, सो यह भी असंगत बात है, क्योंकि—यह नियम है कि—गुण-वाची पद के साथ यदि द्रव्यवाची पद का सामानाधिकरण्य होता है और उस द्रव्य का किसी अन्य विरुद्ध गुण का संबंध नहीं होता तो सामाना-धिकरण विशिष्ट गुणवाची पद की आश्रित जो गुण बोधकता है, उसका क्रियापद से निर्विरोध समन्वय हो जाता है। उपर्युक्त नियमानुसार सिद्धान्तत "अरुणिमा" शब्द का अन्वय सिद्ध हो जाने पर भी, द्रव्य और गुण दोनों का क्रय साधनता में समन्वय न मानें, अर्थात् परस्पर समन्वय की बात सिद्ध हो जाने पर भी, यह असंभावना बनी रहे, यह भी असंगत बात है [निर्णयपूर्वक सिद्ध हो जाने पर भी यह कहते रहें कि—द्रव्य और गुण का क्रय साधन में समन्वय नहीं हो सकता, यह हठवाद मात्र है] उपर्युक्त बात ही यथार्थ है।

तस्मात् तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्ये पदद्वयाभिहित विशेषणापरित्यागेनैवैक्यप्रतिपादनं वर्णनीयम् तत्त्वानाद्यविद्योपहिता-नवधिकदुःखभागिन.शुद्धयशुद्धमुभयावस्थाच्चेतनादर्थान्तरभूतमशेषहेयप्रत्यनीकानवाधिककल्याणैकतानंपरमात्मानमनभ्युपगच्छतो न संभवति।

अभ्युपगच्छतोऽपि सामानाधिकरण्यपदानां यथावस्थितविशे-षणविशिष्टयैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रतिपन्न सकल दोष भागित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत्—नैतदेवम्, त्वम्पदेनापि जीवा-न्तर्यामिणः परस्यैवाभिधानात्।

उसी प्रकार "तत्त्वमसि" इत्यादि सामानाधिकरण्यबोधक वाक्य के दो पदों में जो विशेषण भाव निहित है, उस भाव को साथ में रखते हुए, विशेषण द्वारा ही, एकत्व के प्रतिपादन का समर्थन करना चाहिए। किन्तु अनादि अविद्या से आवृत, अपार दुःख भागी, शुद्ध अशुद्ध अवस्था वाले, चेतन जीव से पृथक् परमात्मा को हीनता रहित अत्युत्कृष्ट अनंत कल्याण गुणों का आश्रय न माना जाय यह असंभव बात है।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि–यदि ऐसा मानने पर भी, समानाधिकरण पदों के समस्त विशेषण विशिष्ट पदार्थों की एकता होने से, "त्वं" पदवाची जीवात्मा के संपूर्ण दोष परमात्मा में भी प्रसक्त हो जावेंगे ? नहीं "त्वं" पद से भी, जीवान्तर्यामी परमात्मा ही मान लें तो, दोष प्रसक्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

एतदुक्तं भवति सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्यसंकल्पमिश्रानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं समस्त कारणभूतं परंब्रह्म "बहुस्याम्" इति संकल्प्य तेजोबन्नप्रमुखं कृत्स्नं जगत् सृष्ट्वा तस्मिन् देवादि विचित्रसंस्थानसस्थिते जगति चेतनं जीववर्गं स्वकर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रवेश्य स्वयं च स्वेच्छयैव जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषुस्वपर्यन्तेषुदेवाद्याकारेषु संघातेषु नामरूपे व्याकरोत्। एवं रूपं संघातस्यैव वस्तुत्वं शब्द वाच्यत्व चाकरोदित्यर्थः। अनेनजीवेनात्मना जीवेनमयेति निर्देशो जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति। ब्रह्मात्मकत्वं च जीवस्य जीवान्तरात्मेतया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशादित्यवगम्यते "इदसर्वमसृजत् यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत तदनु प्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्।" इति अत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनवस्तुद्वयं सत्यच्छब्दाभ्यां विज्ञानाविज्ञानशब्दाभ्यां च विभज्य निर्दिश्य चिद् वस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनुप्रवेशाभिधानात्। अतएव नामरूप व्याकरणात् सर्वे वाचकाः शब्दाः, अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मवाचिन् इत्यवगतम्।

कथन यह है कि–समस्त दोषों से रहित, अवधि और संख्या रहित, सर्वाधिक, सत्य संकल्प इत्यादि कल्याणमय गुणों से युक्त, सर्वकारण वह ब्रह्म "सत्" शब्द से संबोधित किये गए हैं, उन्होंने 'एक से अनेक हो जाऊँ" इस संकल्प से तेज जल आदि समस्त जगत की सृष्टि करके, देवता आदि विभिन्न रूपों वाले शरीरों में, चेतन जीवों के गुण-कर्मानुसार आत्मा रूप से प्रविष्ट कराके स्वयं ही स्वेच्छा से, जीवों में

ankurnagpal108@gmail.com

अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर देवता आदि जीवों और स्वयं अपने भी नामरूप को व्यक्त किया। अर्थात् जड़ चेतन और ईश्वरात्मक जगत् समष्टि की सत्ता की वस्तुता और शब्दवाच्यता का संपादन किया। 'इस जीवात्म रूप में अपने को ही'' इत्यादि श्रौतवाक्य में भी जीव का ब्रह्मात्मभाव दिखलाया गया है ।जीवान्तरात्मा के रूप में ब्रह्म के अनुप्रवेश से ही जीव के ब्रह्मात्म भाव का स्पष्ट ज्ञान होता है। जैसा कि-श्रौतवाक्यों से भी स्पष्ट है—' सृष्टि करके वे उसी में प्रविष्ट हो गए'' ''प्रविष्ट होकर वे सत् और त्यत् हो गए'' इत्यादि। यहाँ ''इदं सर्वम्'' का तात्पर्य जड चेतन दोनों से है। सत् और त्यत् शब्द से भी विज्ञान और अविज्ञान के भेद को बतला कर चिद् (जीव) में ब्रह्म के अनुप्रवेश का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-नाम रूप के बोधक सारे शब्द, अचित् जीवविशिष्ट परमात्मा के बोधक हैं।

किंच ''ऐतदात्म्यामिदं सर्वम्'' इति चेतन मिश्रं प्रपंचं इदं सर्वमिति निर्दिश्य ''तस्यैष आत्मा'' इति प्रतिपादितम्। एवं च सर्वंचेतनाचेतनंप्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं अचेतनं जगत् तस्यशरीरं भवति। तथा च श्रुत्यन्तराणि—''अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'' यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम् यः पृथिवीमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ''इति आरभ्य'' य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरम्, य आत्मानमंतरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'' इत्यादि। ''यः पृथिवीमंतरे संचरन्, यस्य पृथिवी शरीरम्। योऽपामन्तरे संचरन् यस्यापश्शरीरं'' इत्यारभ्य ' योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरम्, यमक्षरं न वेद, एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः'' इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति, अतश्चेतन वाचनोऽपि शब्दाः चेतनस्याप्यात्मभूतं चेतनशरीरकम् परमात्मानमेवाभिदधति। यथा अचेतन

ankurnagpal108@gmail.com

देवादिसंस्थानपिण्डवाचिनः शब्दाः तच्छरीरकजीवात्मन एव वाचकाः "चत्वारः पंचदशरात्रात् देवत्वं गच्छन्ति" इत्यादिषु, देवा भवन्ति इत्यर्थः ।

अधिक क्या—"यह सब ब्रह्मात्मक है" इस वाक्य से चेनन मिश्रित प्रपंच जगत को "इदंसर्वंम्" द्वारा बतलाकर "वही इसका आत्मा है" ऐसा ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार सारा चेतन अचेतन जगत ब्रह्मात्मक होने से सचेतन है और उस ब्रह्म का शरीर है। तथा अन्य श्रौत वाक्य भी–'वही जन समूह के अन्तस्थ शासक और सर्वात्मा हैं, जो कि पृथिवी में अन्तर्यामी रूप से नियमन करते हैं, पृथिवी उन्हें नहीं जानती पृथिवी उनका शरीर है, वही अमृत स्वरूप परमात्मा तुम्हारे अन्तर्यामी हैं" "जो आत्मा में विराजते हैं, आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा उन्हें नहीं जानता, आत्मा ही उनका शरीर है, जो अन्तर्यामी रूप से आत्मा का संयमन करते हैं, वही अमृत स्वरूप, तुम्हारे अन्तर्यामी आत्मा है।" तथा— 'जो पृथिवी में संचरण करते हैं, पृथिवी उनका शरीर है, जो जल में संचरण करते हैं, जल उनका शरीर है" "जो अक्षर (जीव) में संचरण करते हैं, अक्षर ही उनका शरीर है, अक्षर जिन्हें नहीं जानता, वह नारायण ही सब भूतों के अंतरात्मा, निष्पाप, अलौकिक, द्योतमान एक और अद्वितीय है" इत्यादि–सचेतन जगत को उनका शरीर बतलाकर उस जगत के आत्म स्वरूप परमात्मा का उपदेश दिया गया है। अचेतन वाचक शब्द समूह भी, चेतन शरीर धारी तथा चेतन के भी आत्मभत परमात्मा के ही, अभिधायक हैं। जैसे कि–"पंद्रह दिन के अनुष्ठान से चारो देवत्व प्राप्त करते हैं" अर्थात् देवता होते हैं। इत्यादि।

शरीरस्य शरीरिणंप्रति प्रकारत्वात् प्रकारवाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् शरीरवाचिनांशब्दानां शरीरि-पर्यवसानं न्याय्यम्। प्रकारो हि नाम इदमित्थमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्थमिति प्रतीयमानोंऽशः। तस्य तद् वस्त्वपेक्षत्वेन तत्प्रती-तेस्तदपेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दस्तस्मिन्नेव पर्यवस्यति। अतएव "गौरश्वो मनुष्यः" इत्यादिप्रकारभूताकृतिवाचिनः शब्दाः प्रकारिणि पिण्डे पर्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतन शरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्डशरीरक चेतनस्यापि परमात्मप्रकारत्वाच्च परमात्मन्येव पर्यवस्यतीति सर्वंशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव।

शरीर शरीरी का एक ही प्रकार है अत. प्रकार वाचक शब्द का प्रकारी में ही पर्यवसित होना स्वाभाविक है, इसलिए शरीर वाचक शब्दों का शरीरी में ही पर्यवसान होना चाहिए। "यह ऐसा है" इस वाक्य में "ऐसा है" यह वाक्यांश वस्तु के प्रकार का ही बोधक है। प्रकार वस्तुसापेक्ष होता है। वस्तु की प्रतीति, प्रकार अपेक्षित होती है, इसलिए वस्तु में उसके प्रकारवाची शब्द का पर्यवसान स्वाभाविक ही है, उसका प्रतिपादक शब्द भी उसी में पर्यवसित हो जाता है। "गो-मनुष्य-अश्व" इत्यादि प्रकारभूत, आकृतिवाचक, प्रकारी के देहपिण्ड के अर्थ में पर्यवसित शब्द, उन शरीरों में जो चेतनता है उसके प्रकार का बोध कराते हैं। वह देह विशिष्ट चेतन, परमात्मा का प्रकार मात्र है, इसलिए शब्दों के अर्थों का पर्यवसान उस परमात्मा में ही है। सभी शब्दों का वाच्यार्थ परमात्मा ही है। इस प्रकार परमात्मवाची शब्दों के साथ जो सामाधिकरण्य है, वह मुख्य ही है (गौण नहीं)

ननु "षण्डो गौः षण्डः शुक्लः" इति जातिगुणवाचिनामेव पदानां द्रव्यवाचिपदैः सह सामानाधिकरण्यं दृष्टं, द्रव्याणांतु द्रव्यान्तर प्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः यथा—"दण्डी कुण्डली" इति, नैवम् जातिर्वा गुणो वा द्रव्यं वा नैतेष्वेकमेव सामानाधिकरण्ये प्रयोजकम्, अन्योन्यस्मिन् व्यभिचारात्, यस्य पदार्थस्य कस्यचित् प्रकारतयैव सद्भावः, तस्य तदपृथक् सिद्धिस्थितिप्रतीतिभिः तद वाचिनां शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्टद्रव्यवाचित्वात् धर्मान्तरविशिष्ट-

ankurnagpal108@gmail.com

तदद्रव्यवाचिनाशब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । यत्र पुनः पृथक्सिद्धस्य स्वनिष्ठस्यैव द्रव्यस्य कदाचित्क्वचिद्द्रव्यान्तरप्रकारत्वमिष्यते, तत्र मत्त्वर्थीयप्रत्यय इति निरवद्यम् ।

संदेह होता है कि "षण्ड गौ, शुक्ल षण्ड" आदि वाक्यों में जाति गुणवाची (गौ और शुक्ल) पदों के साथ सामानाधिकरण्य स्पष्ट दीख रहा है, किन्तु द्रव्यवाची पदों के अन्य प्रकारक द्रव्यों के साथ मत्वर्थीय प्रत्यय वाले "दण्डी-कुण्डली" ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं [अर्थात् विशेषण विशेष्य के अलग-अलग होने पर तो दोनों पदों का सामानाधिकरण्य मुख्य होता ही है, परन्तु मत् प्रत्यय से निष्पन्न विशेषण-विशेष्य युक्त "दण्डी कुण्डली" आदि प्रयोगों में सामानाधिकरण्य मुख्य है या गौण ?] उत्तर—बात ऐसी नहीं है—अपितु जाति, गुण अथवा द्रव्य इन तीनों की एकता सामानाधिकरण्य में प्रयोजक नहीं है, क्यों कि इनमें परस्पर व्यभिचार रहता है। जिस पदार्थ की किसी अन्य प्रकार (विशेषण) से ही स्थिति ज्ञात होती है; उसकी उस प्रकार (विशेषण) से अप्रथक सिद्ध स्थिति, प्रतीति से भी अभिन्न ही रहती है [अर्थात् उस पदार्थ की सत्ता और प्रतीति विशेषण से ही होती है] प्रकार (विशेषण) द्वारा पदार्थ के बोधक शब्दों की अभिधेयविशिष्ट वाचकता होने से, अन्य विशिष्ट गुणों को धारण करने वाले, उसी द्रव्य के बोधक शब्दों के साथ सामानाधिकरय युक्ति संगत हैं, असंगत नहीं। जहाँ कभी, पृथक् सिद्ध स्वनिष्ठ द्रव्य की, अन्य द्रव्य की प्रकारता से ही प्रतीति होती है, वहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय ही उचित अर्थ बोधक होता है।

तदेवं परमात्मनः शरीरतया तत्प्रकारत्वादचिद्विशिष्ट जीवस्यापि जीवनिर्देशविशेषरूपा अहंत्वमित्यादि शब्दाः परमात्मानमेवाऽचक्षत इति । "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम्, एवं च सति परमात्मानं प्रति जीवस्य शरीरतयाऽन्वयाज्जीवगता धर्माः परमात्मानं न स्पृशन्ति । यथास्वशरीरगता बालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति । अतः "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्ये तत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसंकल्पं सर्वकल्याण-

ankurnagpal108@gmail.com

गुणाकरं निरस्तसमस्तहेयगन्धंपरमात्मानमाचष्टे, त्वमिति च तमेव सशरीर जीव शरीरकमाचष्ट इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, प्रकरणविरोधः सर्वश्रुत्यविरोधो ब्रह्मणि निरवद्ये कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगंधाभावश्च। अतोजीव सामानाधिकरण्यमपि विशेषणभूताज्जीवात् अन्यत्वमेवापादयतीति विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव आनंदमयः परमात्मा।

इस प्रकार अचिद् विशिष्ट जीव जो कि परमात्मा का शरीर है, वह उसकी प्रकारता (धर्म स्वरूप) का बोधक है, और ऐसा मानने पर अचिद् विशिष्ट जीव निर्देशक "मैं और तुम" इत्यादि संबोधन भी परमात्मा के ही बोधक हैं। ऐसा ही "तत्त्वमसि" इस सामानाधिकरण्य वाक्य में भी है। ऐसा मानने से, देह स्वरूप जीव के धर्म शरीरी परमात्मा का स्पर्श नहीं कर सकते जैसे कि-बचपन, जवानी बुढापा आदि शरीरिक धर्म जीव को स्पर्श नहीं करते।

"तत्त्वमसि" वाक्य में "तत्" शब्द जगत के कारण सत्यसंकल्प सर्वकल्याणगुणाकर निर्दोष परमात्मा का बोधक है तथा "त्वम्" पद भी उसी जीव रूपी शरीर वाले शरीरी परमात्मा का ही बोधक है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य निर्बाध रूप से सिद्ध हो जाता है तथा निर्दोष, सर्व कल्याण प्रवण ब्रह्म के विषय में प्रकरण या श्रुति विरोध भी नहीं होता। सामानाधिकरण्य में विशेषणीभूत जीव से परमात्मा की भिन्नता भी प्रतिपादित हो जाती है, इससे सिद्ध होता है कि विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है।

यदुक्तम्—"तस्यैष एव शारीर आत्मा" इत्यानंदमयस्य शारीरत्व श्रवणाज्जीवादन्यत्वं न संभवति-इति, तदयुक्तम्, अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य" इति परमात्मन एव शारीरात्मत्वाभिधाने कथं 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्याकाशादिसृज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन

ankurnagpal108@gmail.com

प्रज्ञातजीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मण आत्मत्वेन व्यपदेशात्तद्व्यतिरिक्ता-काशादीनामन्नमयपर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते । "यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं, यस्यवायुः शरीरं, यस्याकाशः शरीरं, यस्याक्षरं शरीरं, यस्य मृत्युः शरीरं, एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति सुबालश्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्म शरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते ।

जो यह कहते हैं कि–"यह शरीर (जीव) ही आत्मा है" इस उदाहरण में आनन्दमय को शरीरी रूप से वर्णन किया गया है, इसलिए जीवात्मा के अतिरिक्त दूसरा शरीरी नही हो सकता । यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है, क्यों कि–आनन्दमय के प्रकरण में सभी जगह "यही उसका शरीर (शरीराभिमानी) आत्मा है, जो कि पूर्वतन का आत्मा है" इस प्रकार परमात्मा को ही शरीरी कहा गया है, "इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इस उदाहरण में सृज्यमान आकाश की तरह, आकाश से लेकर अन्नमय तक सभी पदार्थों को परमात्मा का शरीर बतलाया गया है जो कि–जीव से भिन्न, परम कारण परमात्मा की आत्मरूपता का द्योतक है । "पृथिवी जिसका शरीर है, जल जिसका शरीर है तेज जिसका शरीर है, वायु जिसका शरीर है, आकाश जिसका शरीर है अक्षर (जीव) जिसका शरीर है, मृत्यु (पंचभूत) जिसका शरीर है, ऐसे सर्वान्तर्यामी निर्दोष निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं ।" ऐसी सुबाल श्रुति से, सभी तत्त्वों की परमात्म शरीरता स्पष्ट बतलाई गई है ।

अतः "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः" इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः । प्राणमयं प्रकृत्याह–"तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य" इति । पूर्वस्यान्नमयस्य यः शारीर आत्मा श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा, स एव तस्य प्राणमयस्यापि शारीर आत्मेत्यर्थः । एवं मनोमयविज्ञानमययोर्द्रष्टव्यम् आनंदमयेतु "एष एव" इति निर्देशः तस्य अनन्यात्मत्वं दर्शयितुं तत्कथंविज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर आत्मेत्य

ankurnagpal108@gmail.com

वगतः। एवं सति विज्ञानमयस्य यः शारीर आत्मा स एव आनंद-मयस्यापि शारीर आत्मेत्युक्ते आनंदमयस्य अभ्यासावगतपरमात्म-भावस्य परमात्मनः स्वयमेवात्मेत्यवगम्यते। एवं च व्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव निरूपाधिकः शारीर आत्मा अतएवेदं परं ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शारीरकमित्यभि-युक्तैरभिधीयते। अतो विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमयः।

"तस्माद्वा" इत्यादि उदाहरण में उल्लेख्य अन्नमय के शारीर आत्मा परमात्मा ही ज्ञात होते है। प्राणमय के शरीरी भी परमात्मा हैं, ऐसा "तस्यैष एव आत्मा" श्रुति में बतलाया गया है। इस श्रुति का तात्पर्य है कि—"जो पूर्व कोष अन्नमय के शारीर आत्मा हैं जो कि-अन्यान्य श्रुतियों में परमकारणभूत परमात्मा के नाम से अभिव्यक्त हैं वे ही उस प्राणमय के शरीर आत्मा हैं।" ऐसा ही मनोमय और विज्ञानमय के लिए भी समझना चाहिए। आनंदमय प्रकरण में तो "यही" शब्द उनके अनन्यात्मत्व का निर्देशक है। विज्ञानमय प्रकरण में भी पूर्वोक्त नीति के अनुसार परमात्मा ही शारीर आत्मा ज्ञात होते हैं इसी प्रकार जो विज्ञानमय का शारीर आत्मा है वही आनंदमय का भी शारीर आत्मा है, आनन्दमय का बार-बार उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि-परमात्मभाव को प्राप्त स्वयं परमात्मा ही अपने आत्मा हैं। परमात्मा से भिन्न चेतन अचेतन सभी वस्तुएं उनकी शरीर स्थानीय हैं, वे ही सब के निरूपाधि (स्वाभाविक) शारीर आत्मा है। इसी लिए परब्रह्म के प्रतिपादक इस शास्त्र को विद्वद्गण 'शारीरक मीमांसा" नाम से परिचय कराते हैं। इससे निश्चित होता है कि—विज्ञानमय जीव से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है।

आह—नायमानंदमयो जीवादन्यः विकार शब्दस्य मयट् प्रत्य-यस्य श्रवणात् "मयड्वैतयोः" प्रकृत्य "नित्यंवृद्धशरादिभ्यः" इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते। वृद्धश्चायमानन्दशब्दः।

ankurnagpal108@gmail.com

(वाद) कहते हैं कि—आनंदमय जीव से भिन्न नहीं है, क्यों कि मयट् प्रत्यय का प्रयोग विकार अर्थ में किया जाता है। "मयट् वैतयो-र्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः "अर्थात् अभक्ष्य और आच्छादन को छोड़कर प्रकृतिमात्र में वैकल्पिक मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है। तथा "नित्यंवृद्धशरादिभ्यः" (वृद्धशर आदि में नित्यमयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है इन दो पाणनीय व्याकरण सूत्रों में विकारार्थक मयट् प्रत्यय का विधान किया गया है। आनंदमय शब्द वृद्ध संज्ञक है।

ननु—प्राचुर्य्येऽपि मयडस्ति "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति स्मृतेः। यथा "अन्नमयो यज्ञः" इति। स एवायम् भविष्यति। नैवम् अन्न-मय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम् अत औचित्यादस्यापि विकारा-र्थत्वमेव युक्तम्।

(विवाद) नहीं— प्राचुर्य्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय होता है, "तत्प्र-कृतवचने मयट्" (प्राचुर्य्य प्रतिपादक अर्थ में मयट् होता है) ऐसा पाणिनीय सूत्र है "अन्नमय यज्ञ" ऐसा प्राचुर्य्यार्थिक प्रयोग भी होता है, उसी प्रकार आनंदमय में भी होगा।

(वाद) ऐसा नहीं है, "अन्नमय विज्ञानमय" आदि के उपक्रम में स्पष्ट विकारार्थ की प्रतीति हो रही है, उचित भी यही है कि, शब्द से जो प्राथमिक वाच्यार्थलब्ध हो उसे ही अन्ततः माना जाय, इसलिए आनंदमय में विकारार्थ ही युक्ति संगत है।

किं च—प्राचुर्यर्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिध्यति, तथाहि आनंद प्रचुर इत्युक्ते दुःखमिश्रत्वमवर्जनीयम्। आनंदस्य हि प्राचुर्य्यं दुःखस्याल्पत्वमवगमयति। दुःखमिश्रत्वमेव हि जीवत्वम्। अथं औचित्यप्राप्त विकारार्थत्वमेव युक्तम्।

यदि ऐसा न भी मानें, प्राचुर्य्य अर्थ ही मानलें, तब भी जीव की परमात्मा से भिन्नता सिद्ध नहीं होती प्रचुर आनंद कहने से दुःख मिश्रण अनिवार्य हो जाता है, आनंद की प्रचुरता दुःख की अल्पता बतलाती। दुःख मिश्रता ही जीवत्व है। इसलिए विकारार्थ ही उचित है।

ankurnagpal108@gmail.com

किंच—लोके मृण्मयं हिरण्मयं दारुमयमित्यादिषु वेदे च "पर्णमयी जुहू" शमीमयी असस्नु च "दर्भमयी रसना" इत्यादिषु मयटो विकारार्थे प्रयोग बाहुल्यत्वात् स एव प्रथमतरं धियमधिरोहति। जीवस्य चानंदविकारत्वमस्त्येव। तस्य स्वत आनंदरूपस्य सतः संसारित्वावस्था तद्विकार एवेति। अतो विकार वाचिनो मयट् प्रत्ययस्य श्रवणादानंदमयो जीवादनतिरिक्त इति।

तदेतदनुभाष्य परिहरति।

तथा-"मृन्मय" हिरण्मय "दारुमय" इत्यादि लौकिक तथा "पर्णमयी जुहू" शमीमय श्रुवाये "दर्भमयी रसना" इत्यादि वैदिक प्रयोगो में विकारार्थ का ही बाहुल्य मिलता है, इसलिए मयट् का विकारार्थ ही सबसे प्रथम बुद्धि में आरूढ होता है। जीव का आनद विकृत ही है, स्वभावतः जीव आनद स्वरूप है, संसारदशा में वह आनंद विकृत हो जाता है इसलिए विकारवाची मयट् प्रत्यय का वर्णन होने से निश्चित होता है कि—"आनन्दमय" तत्त्व जीव से अभिन्न वस्तु है। इस प्रकार के मत का विवेचन करते हुए परिहार करते है—

विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् १।१।१४

नैतद्युक्तं, कुतः? प्राचुर्यात्-परस्मिन् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्यात्। प्राचुर्यार्थे च मयटस्संभवात्। एतदुक्तं भवति—शतगुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानस्यानंदस्य जीवाश्रयत्वासंभवात् ब्रह्माश्रयोऽयमानंद इतिनिश्चिते सति तस्मिन् ब्रह्मणि विकारासंभवात् प्राचुर्येऽपि मयड्विधिसंभवाच्चानंदमयः परंब्रह्म—इति।

यह कहना ठीक नही है कि-जीवात्मा ही आनंदमय है, क्यों कि-परब्रह्म में आनंद की प्रचुरता है, इसलिए यह शब्द उन्हीं के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्राचुर्यार्थ में भी मयट् होता है। शतगुणितोत्तर क्रम से बार बार जिस आनंद की अनुवृत्ति की गई है, वह जीव में कदापि सभव नहीं है। वह तो ब्रह्म में ही संभव है, उस ब्रह्म में विकार की शून्यता तथा प्राचुर्यार्थ में भी मयट् विधि के होने से यह निश्चित होता है कि—परब्रह्म ही आनदमय है।

ankurnagpal108@gmail.com

औचित्यात् प्रयोग प्रौढ्याच मयटो विकारार्थत्वमर्थविरोधान्न संभवति। किंच औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम् तत्र विकारार्थत्वासंभवात्। अतस्तत्र पंचवृत्तेर्वायोः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम्, प्राणापानादिषु पंचषु वृत्तिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्याद्वा। न च प्राचुर्ये मयट् प्रत्ययस्य प्रौढिर्नास्ति "अन्नमयो यज्ञः, शकटमयी यात्रा" इत्यादिषु दर्शनात्।

औचित्य और प्रयोग प्रौढ़ि से भी मयट् का विकारार्थत्व, अर्थ विरोध होने से, संभव नहीं है। प्राणमय में तो प्रचुरार्थ मानना ही उचित था, जिसकी आपने अवहेलना कर दी, वहाँ विकारार्थ किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता। पंचवृत्ति वाले वायु में प्राणवृत्तिमत्ता श्रेष्ठ और विशिष्ट है इसलिए तथा प्राण, अपान आदि पांचवृत्तियों में प्राण वृत्ति की प्रचुरता होने से ही उसकी प्राणमयता है। यह भी नहीं कह सकते कि—मयट् प्रत्यय के प्राचुर्यार्थिक प्रयोग अधिक नहीं देखे जाते, जिससे प्राचुर्यार्थ की प्रौढ़ि सिद्ध हो सके, "अन्नमय यज्ञ" "शंकटमयी यात्रा" आदि अनेक प्राचुर्य्यार्थक प्रयोग होते हैं।

यदुक्तमानंदप्राचुर्यमल्पदुःखसद्भावमवगमयतीति, तदसत् तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम् तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति, अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति इतरसद्भावासद्भावौतु प्रमाणान्तरावसेयौ; इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते "अपहतपाप्मा" इत्यादिना तत्रैतावदेववक्तव्यं, ब्रह्मानंदस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वपेक्षत इति। उच्यते च तत् "स एको मानुष आनंदः" इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानंदो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत् इति।

जो यह कहा कि प्राचुर्य आनंद अर्थ करने से अल्प दुःख की प्रतीति होती है, सो यह कथन भी असत् है। आनंद की प्रचुरता, प्रभूतत्व का बोध कराती है उसके अतिरिक्त उसमें दूसरे की सत्ता की प्रतीति नहीं होती अपितु उसकी अल्पता का निराकरण करती है। दूसरी वस्तुओं के सद्-

ankurnagpal108@gmail.com

भाव और असद्भाव का निराकरण तो प्रमाणान्तरों पर आधारित होता है, पर इसमें प्रमाणान्तरों से अभाव की ही प्रतीति होती है "अपहत-पाप्मा" इत्यादि प्रमाण दुःख के अभाव के ही परिचायक हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि—ब्रह्मानंद की जो प्रभूतता है वह अन्यान्य आनंदों से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ, है उसके समक्ष सारे आनंद अल्प हैं—इसके लिए कहा भी गया है कि—"मानुष आनंद एक अंश मात्र है।" जीव नद की अपेक्षा ब्रह्मानद अत्यन्त आनंदपूर्ण हैं।

यच्चोक्तं जीवस्यानंदविकारत्वं संभवतीति, तदपि नोपपद्यते, जीवस्व ज्ञानानन्दस्वरूपस्य केनचिदाकारेण मृद इव घटाद्या-कारेण परिणामः सकल श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धः संसारदशायां तु कर्मणा ज्ञानानंदौ सकुचितावित्युपपादयिष्यते। अतश्चानन्दमयो जीवादन्यः परब्रह्म।

जो यह कहते हो कि—जीव की विकारता ही संभव है सो यह कथन भी असंगत है, मिट्टी का जैसा घट आदि आकार वाला विकृत परिणाम होता है, वैसा ज्ञान और आनंद स्वरूप जीव का भी संभव हो, ऐसा श्रुति स्मृति और युक्ति से विरुद्ध है। संसार दशा में कर्म से, ज्ञान और आनंद संकुचित हो जाते है, इसका विवेचन आगे करेंगे। जीव से भिन्न परमात्मा ही आनंदमय है।

इतश्च जीवादन्य आनंदमयः परंब्रह्म

इसलिए भी जीव से भिन्न परब्रह्म आनंदमय है कि—

तद्हेतुव्यपदेशाच्च १।१।१५।

"को ह्येवान्यात् को प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति" इति। एष एव जीवानन्दयतीति। जीवानन्द हेतुरयं व्यपदिश्यते। अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानंदयिताऽयमन्य आनंदमयः परमात्मेति विज्ञायते। आनंदमय एवात्र आनंद शब्देनो-क्त इति चानन्तरमेव वक्ष्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

"यदि यह आकाश (ब्रह्म) आनंद (जीवान्तरवर्त्ती दहराकाश) न होता तो कौन चेष्टा करता और कौन प्राण धारण करता" इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि—परमात्मा ही जीवो के आनद का हेतु और जीवों का आनंददाता है। आनंद करने वाले जीवात्मा से, आनंद-दाता ब्रह्म भिन्न ही है, जो कि—आनंदमय शब्द से जाना जाता है। उक्त उदाहरण में आनद शब्द से आनंदमय की ही व्याख्या की गई है, और उसकी भिन्नता बतलाई गई है।

इतश्च जीवादन्य आनदमयः—

इसलिए भी आनंदमय जीव से भिन्न है कि—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते १।१।१६

"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिमंत्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानंदमय इति गीयते। तत्तु जोवस्वरूपादन्यत् परंब्रह्म "ब्रह्म विदाप्नोति परं" इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निर्दिष्टम्।

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इस मंत्र में उल्लेख्य ब्रह्म को ही बार-बार "आनंदमय" नाम से बतलाया गया है। इसलिए जीव स्वरूप से भिन्न परब्रह्म है, ऐसा निश्चित होता है। "ब्रह्मवेत्ता ही परब्रह्म को प्राप्त करता है" इस मंत्र में भी जीव के प्राप्य ब्रह्म का निर्देश किया गया है।

"तदेषाभ्युक्ता" इति तत् ब्रह्म अभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य, ऋगेषा अध्येतृभिरुक्ता। ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैशद्यमनेन मंत्रेण क्रियत इत्यर्थः, जोवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्माद् विलक्षणमेव अनंतरंच "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यारभ्य उत्तरोत्तरैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदो क्रियते। अतो जोवादन्य आनंदमयः।

"तदेषाभ्युक्ता" (तत्=ब्रह्म को अभिमुख करके एषा=ऋक् मंत्र+उक्ता=पाठकों द्वारा कहा गया) इस मंत्र में ब्रह्म को प्रतिपाद्य

ankurnagpal108@gmail.com

मानकर पाठकों ने उसका विश्लेषण किया है यह मंत्र उपरोक्त ब्राह्मण मंत्र का ही परिष्कृत अर्थ है। इससे निश्चित होता है कि—उपासक जीव का उपास्य ब्रह्म जीव से निश्चित ही विलक्षण है। अन्य प्रकरण में भी जैसे—'इसी आत्मा से आकाश हुआ" इस वाक्य से प्रारंभ करके उत्तरोत्तर ब्राह्मण और वैदिक मंत्रों में इसी तथ्य को विशद किया गया है इसलिए जीव से भिन्न ही आनंदमय है, ऐसा सिद्ध होता है।

अत्राह—यद्यप्युपासकात्प्राप्यस्य भेदेन भवितव्यम्। तथापि न वस्त्वंतरं जीवान्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म, किन्तु तस्यैवोपासकस्य निरस्तसमस्ताविद्यागंधनिविशेषचिन्मात्रैकरसंशुद्धं स्वरूपं तदेव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मंत्रेण विशोध्यते। तदेव च "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति वाङ्मनसागोचरतया निर्विशेषमिति गम्यते। अतस्तदेव मांत्रवर्णिकमिति तस्मादनतिरिक्त आनंदमय इति। अत उत्तरं पठति—

उक्त मत पर विपक्षी कहते हैं कि—उपासक से उपास्य का भेद होना चाहिए परन्तु मंत्रोक्त ब्रह्म, जीव से भिन्न नहीं है, उपासक का जो अविद्या रहित निर्विशेष चिन्मात्र एकरस शुद्ध स्वरूप है उसी को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" मंत्र द्वारा बतलाया गया है। उसी का "यतो वाचो" आदि मंत्र से अवाङ् मनस अगोचर प्रतिपादन किया गया है, शुद्धावस्थापन्न जीव ही मंत्रों का प्रतिपाद्य है, उससे भिन्न कोई अन्य आनंदमय नहीं है।

इस कथन का उत्तर देते हैं—

नेतरोनुपपत्तेः १।१।१७

परमात्मन इतरो जीवशब्दाभिलप्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मांत्रवर्णिकः। कुतः ? अनुपपत्तेः। तथाविधस्यात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्वं "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इति सत्यसंकल्पत्व प्रदर्शनेन विवरिष्यते। विविधं पश्यच्चित्वं हि विपश्चित्वम्।

ankurnagpal108@gmail.com

पृषोदरादित्वात्पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्यलोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः। यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्वं संभवति, तथापितस्यैवात्मनः संसारदशायामविपश्चित्वमप्यस्तीत निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं नोपपद्यते। निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्यमुक्तस्य विविध दर्शनाभावात्सुतरांविपश्चित्वं न संभवतोति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषंवस्तु प्रतिपाद्यत इति च पूर्वमेवोक्तम्।

परमात्मा से भिन्न जीव, मुक्तावस्था में भी ब्रह्म नहीं हो सकता। मंत्रों से उसकी अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। उसका अभिन्न रूप से किसी भी मत्र में उल्लेख नहीं मिलता। निर्विशेष विशुद्ध स्वरूप आत्मा का निरुपाधिक विपश्चित्व "सोऽकामयत" इत्यादि मंत्र में सत्य संकल्पत्व के रूप से बतलाया गया है। अनेक तत्त्वों की युगपत दर्शन शक्ति को ही विपश्चित्त्व कहते हैं। "पृषोदरादि" व्याकरणीय सूत्र से पश्यत् पद के अवयव यत् अश को लुप्त करके विपश्चित् शब्द बनाया जाता है। यद्यपि मुक्त जीवात्मा में भी विपश्चित्व हो सकता है, उसी आत्मा का संसार दशा में अविपश्चित्व भी संभव है, उसमें निरुपाधिक विपश्चित्व नहीं हो सकता। निर्विशेष चिन्मात्र अवस्था वाले मुक्तात्मा में एक साथ सब कुछ जान लेने की क्षमता भी नहीं है, इसलिए उसमें विपश्चित्त्व नहीं हो सकता, और न किसी भी प्रमाण से निर्विशेष वस्तु प्रमाणित की जा सकती है, ऐसा हम पहिले ही बतला चुके हैं।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणो निवृत्तिमभिदधीत, न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगयितुं शक्नुयात्। अपितु वाङ्मनसयोस्तत्राप्रमाणतां वदेत्, तथा च सति तस्य तुच्छत्वमेवापद्यते। "ब्रह्मविदाप्नोति" इत्यारभ्य ब्रह्मणोविपश्चित्त्वं जगत्कारणत्वं ज्ञानानंदैकतानतामितरान्प्रत्यानंदयितृत्वं कामादेव चिदचिदात्मकस्यकृत्स्नस्य स्रष्टृत्वं सृज्यवर्गानुप्रवेशकृततदात्मकत्वं भयाभयहेतुत्वं वाय्वादित्यादीनां प्रशासितृत्वं शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयानंदत्वमन्यच्चानेकं प्रतिपाद्य वाङ्मनसयोः ब्रह्मणि प्रवृत्य-

ankurnagpal108@gmail.com

भावेन निष्प्रमाणकं ब्रह्मेत्युच्यत इति भ्रान्तजल्पितम्। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इति यच्छब्दनिर्दिष्टमर्थम् "आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यानंदशब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्म संबंधित्वं ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन प्रतिपाद्य तदेव वाङ्मनसगोचर "विद्वान्" इति तद्वेदनमभिदधद्वाक्यं जरद्गवादिवाक्यवदनर्थकं वाच्यानंतर्गतं च स्यात्।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इस वाक्य को यदि, वाणी और मन से निवृत्ति प्रतिपादक मान लें तो भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति उक्त वाक्य से नहीं होगी। अपितु वाणी और मन से उसकी अप्रामाणिकता ज्ञात होती है, यदि वाणी और मन से उसे अज्ञात मानकर निर्विशेष बतलाने की चेष्टा करेंगे तो ब्रह्म में तुच्छता आ जायगी।

"ब्रह्मविदाप्नोति परं" वाक्य से प्रारंभ करके ब्रह्म की विपश्चित्व, जगत्कारणता, आनंदैकानता आनंददातृता, संकल्प मात्र से जड़ चेतन संपूर्ण जगत सृष्टि की शक्तिमत्ता; सृष्टि जगत में अनुस्यूत होकर तदात्मकता, भय अभय की कारणता, वायु आदि की शासकता, निरतिशय आनंदमयता आदि अनेक शतगुणितोत्तर क्रम से वर्णित गुणों का प्रतिपादन करके अन्त में यह कह दिया जाय कि उक्त वाक्य ब्रह्म की निर्विशेषता का प्रतिपादक है, तो ऐसा कथन नितान्त भ्रामक है।

"यतो वाचो" वाक्य मे "यत्" पद जिस तत्त्व का निर्देश करता है "आनंद ब्रह्मणो" वाक्य "आनंद" पद से उसी तत्त्व का प्रतिनिर्देश करके "ब्रह्मणः" पद से उसका संबंध बतलाता है, यदि उसी वाङ्मनसातीत को "विद्वान" पद वाच्य ज्ञाता कहा जाय तो उक्त वाक्य "जरद्गव" इत्यादि वाक्य की तरह निरर्थक हो जायगा। (अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का स्पष्ट भेदोल्लेख होते हुए भी उसे अभिन्न बतलाना क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

अतः शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मानंदस्यातिशयेयत्तांवक्तुमुद्यम्य तदियत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्युच्यते। एवमियत्ता रहितं "ब्रह्मण आनंदं विद्वान्

ankurnagpal108@gmail.com

कुतश्चन न विभेति" इत्युच्यते। किं च अस्य मांत्रवर्णिकस्य विपश्चितः "सोऽकामयत" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्वसंकल्पावक्लृप्त-जगज्जन्मास्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्मुक्तात्मस्वरूपादन्यत्वंसुस्पष्टमेव।

शतगुणितोत्तर क्रम से सर्वाधिक ब्रह्मानंद ही अतिशय इयत्ता रहित निस्सीम है, इसीलिए वाक्य और मन उसकी थाह न पाकर निवृत्त हो जाते हैं, यही "यतो वाचो" वाक्य का तात्पर्य है। ऐसे निस्सीम ब्रह्म के लिए ही कहा गया कि "जो उसे जानता है वह किसी से भयभीत नहीं होता।" मंत्राक्षरों के उल्लेख्य "विपश्चित्" की 'सोऽकामयत्" से लेकर स्वसंकल्प संपादित जगत सृष्टि स्थिति और जगदन्तर्यामिता पर्यन्त छवि बतलाकर, जीव के स्वरूप से सुस्पष्ट भिन्नता बतलाई गई है।

इतश्चोभयावस्थात् प्रत्यगात्मनोऽन्य आनंदमयः
बद्ध-मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा से आनंदमय इसलिए भी भिन्न हैं कि—

भेदव्यपदेशाच्च १।१।१८॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः" इत्यारभ्य मांत्रवर्णिकं ब्रह्म व्यंजयद्वाक्यमन्नप्राणमनोभ्य इव जीवादपि तस्य भेदं व्यपदिशति "तस्माद् वा एतस्माद विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानंद-मयः "इति। अतोजीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मांत्रवर्णिक आनंमयोऽन्य एवेति ज्ञायते।

"उसी आत्मा से यह आकाश हुआ" ऐसा प्रारंभ करके मांत्रवर्णिक ब्रह्मबोधक "उस आनंदमय से विज्ञानमय आदि भिन्न हैं" इस वाक्य में प्राणमय आदि से जैसे आनंदमय की भिन्नता दिखलाई गई है, वैसे ही जीवात्मा से भी भेद का उल्लेख होने से, मंत्रवर्णोक्त आनंदमय निश्चित ही भिन्न प्रतीत होता है।

इतश्च जीवादन्य=इसलिए भी वह जीवात्मा से भिन्न है कि—

कामाच्च नानुमानापेक्षा १।१।१९॥

जीवस्याविद्यापरवशस्य जगत्कारणत्वे ह्यवजनाया आनुमानिक

ankurnagpal108@gmail.com

प्रधानादि शब्दाभिधेयाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा, तथैव हि चतुर्मुखादीनां कारणत्वं, इह च "सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेय" इत्यचित्संसर्ग रहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनः सृष्टिः "इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च" इत्याम्नायते । अतोऽस्यानंदमयस्य जगत् सृजतो नानुमानिकाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा प्रतीयते । ततश्च जीवादन्य आनंदमयः ।

प्रधान आदि शब्द वाच्य आनुमानिक जड प्रकृति की अपेक्षा तो अविद्याऽधीन जीवात्मा को ही जगत का कारण मानना पड़ेगा, इसीलिए जीव विशेष ब्रह्मा आदि को जगत् कर्त्ता माना भी गया। किंतु इस प्रसंग में 'सोऽकामयत" वाक्य से जड्संसर्ग रहित केवल ब्रह्म से ही जड चेतनात्मक समस्त सृष्टि 'इदं सर्व'' इत्यादि से बतलाई गई है। प्रसंग से तो आनंदमय की जगत्सर्जनता, आनुमानिक जड प्रधान (प्रकृति) संसर्गसापेक्ष ज्ञात नहीं होती। इससे भी जीव से भिन्न आनंदमय सिद्ध होता है।

इतश्च—इससे भी भिन्नता सिद्ध होती है कि--

अस्मिन्नस्य च तद्योगंशास्ति ।१।१।२०।।

अस्मिन्-आनन्दमये, अस्य-जीवस्य, तद्योगम्-आनन्द योगम्, शास्ति-शास्त्रम्—"रसोवैसः रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनन्दी भवति" इति । रसशब्दाभिधेयानन्दमयलाभादयं जीवशब्दाभिलपनीय आनन्दी भवतीत्युच्यमाने यल्लाभादानन्दी भवति स एव इत्यनुनमतः को भीतीत्यर्थः ।

"वह रस स्वरूप है—यह जीव उस रस का आस्वादन करके आनंदित होता है" इत्यादि प्रसिद्ध मंत्र इस जीव का, आनंदमय से आनंद संबंध बतलाता है। इस वाक्य में "रस" का अर्थ आनंदमय तथा "अयं" का अर्थ जीव है। यह जीव, आनंदमय रस को प्राप्त कर आनदित होता है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख होने पर भी, जिसकी प्राप्ति से जो

ankurnagpal108@gmail.com

आनंदित होता है वे भिन्न दो प्राप्य-प्रापक, एक हैं, ऐसा पागल के अतिरिक्त कोई और तो कह नहीं सकता।

एवमानन्दमयः परंब्रह्मेति निश्चितेसति "यदेष आकाश आनन्दः" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वानन्दशब्देनानन्दमय एव परामृश्यते, यथा विज्ञान शब्देन विज्ञानमयः। अतएव "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इति व्यतिरेक निर्देशः। अतएव च "आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" इति फलनिर्देशश्च। उत्तरेचानुवाके पूर्वानुवाकोक्तानामन्नमयादीनां "अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात् प्राणोब्रह्मेति व्याजानात्"-मनोब्रह्मेति व्याजानात्-"विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात्" इति प्रतिपादनात् "आनन्दो ब्रह्म" इत्यप्यानन्दमयस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते, तत एव च तत्रापि "आनन्दमयमात्मानमुप संक्रम्य" इत्युपसंहृतम्।

अतः प्रधानशब्दाभिप्लयादर्थान्तरभूतस्य परस्यब्रह्मणो जीवशब्दाभिलपनीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम।

आनंदमय तत्त्व परब्रह्म ही है, ऐसा निश्चित हो जाने पर "विज्ञान" शब्द से जैसे विज्ञानमय अर्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार "यदेष आकाश आनंदः" "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योक्त "आनंद" शब्द से आनंदमय अर्थ की प्रतीति होती है। "आनंद ब्रह्मणो विद्वान्" वाक्य में ज्ञाता ज्ञेय का भेद दिखलाया गया है, तथा "आनंदमयमात्मानमुपसंक्रामति" में आनंदमय आत्मा की प्राप्ति रूप फल का निर्देश है। परवर्ती अनुवाक (परिच्छेद) में, पूर्व अनुवाक में बतलाये गए अन्नमय आदि को—अन्न ब्रह्म है—प्राण ब्रह्म है—मन ब्रह्म है—विज्ञान (जीव) ब्रह्म है" जिस प्रकार प्रतिपादन किया गया है उससे निश्चित होता है कि—"आनंद ब्रह्म है" इस वाक्य का उल्लेख्य "आनंद" शब्द भी आनंदमय शब्द का प्रतिपादक है। इसीलिए उक्त प्रकरण के अन्त में "आनंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य" ऐसा आनंदमय निर्देशक उपसंहार किया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकार प्रधान शब्द वाच्य प्रकृति से भिन्न परब्रह्म की, जीवात्मा से भी भिन्नता सिद्ध होती है।

७. अधिकरणः—

यद्यपि मन्दपुण्यानां जीवानां कामाज्जगत्सृष्टिरतिशयितानन्दयोगो भयाभयहेतुत्वमित्यादि न संभवत्येवेतीमामाशंकां निराकरोति।

यद्यपि अल्पपुण्य वाले जीवों में संकल्पमात्र से सृष्टि, अतिशय आनंद योग, भय या अभय देने की शक्ति आदि संभव नहीं है, फिर भी विलक्षण पुण्यवान जीवविशेष आदित्य, इन्द्र प्रजापति आदि में तो ये संभव हैं फिर परमात्मा ही जगत् के कारण हैं ऐसा क्यों कहते हैं? इस शंका का निराकरण करते हैं—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् १।१।२ ॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एव सर्वेभ्यः पापमभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्यर्क्चं साम च गेष्णौ इत्यधिदैवम् 'अथाध्यात्मम्" अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषोदृश्यते सैवर्कंतत्सामतदुक्थ्य तद्यजुस्तदब्रह्मतस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम इति।"

तत्र संदिह्यते—किमयमक्ष्यादित्यमंडलान्तर्वर्त्ती पुरुषः पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्यंआदित्यादिशब्दाभिलप्यो जोव एव, आहोस्वित् तदतिरिक्त परमात्मा—इति किं युक्तम्?

छांदोग्य में ऐसा पाठ है कि—' इस आदित्य मंडल में हिरण्मय जो पुरुष दिखलाई देता है जो हिरण्मय स्मश्रु हिरण्यकेश और नख से शिख तक सुवर्ण से पूर्ण है तथा जो कप्यास अर्थात् आदित्य द्वारा प्रकाशित

ankurnagpal108@gmail.com

पुंडरीक के समान रमणीक नेत्रों वाला है उसका नाम "ओत" है, वह संपूर्ण पापों से मुक्त है, उस निष्पाप को जो जानता है वह भी पापों से मुक्त हो जाता है। ऋक् और साम में उसी का गान किया गया है वही अधिदेव है।"

इसके बाद इसी का अध्यात्म रूप भी जैसे—"जो यह आँखों में पुरुष दीखता है; ऋक्-साम-उक्थ (सामवेदीय स्तोत्र विशेष) यजु और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित पूर्व पुरुष का जैसा रूप है, यह वैसे ही रूपवाला है, उसका जैसा गान करते हैं, इसका भी वैसा ही गान करते हैं, उसका जो नाम है, इसका भी वही नाम है।"

उक्त विषय में संशय होता है कि—उक्त आदित्य और नेत्र स्थित पुरुष, क्या अधिक पुण्यशाली ऐश्वर्यवान सूर्यमंडल को प्राप्त करने वाला जीवात्मा ही है? अथवा उससे भिन्न परमात्मा है? किसको मानना उचित होगा?

उपचितपुण्यो जीव एवेति। कुतः? स शरीरत्वश्रवणात् शरीरसंबंधो हि जीवानामेव संभवति। कर्मानुगु गप्रिययोगाय हि शरीर संबंधः। अतएव हि कर्मसंबंधरहितस्यमोक्षस्य प्राप्यत्वम शरीरत्वेनोच्यते "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहृतिरस्ति, अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। संभवति च पुण्यातिशयात् ज्ञानाधिक्यम, शक्त्याधिक्यंच। अतएवं लोककामेश-त्वादि तस्यैवोपपद्यते। ततएव चोपास्यत्वम्, फलदायित्वम्, पाप-क्षपणकरत्वेन मोक्षोपयोगित्वं च। मनुष्येष्वष्युपचितपुण्याः केचित् ज्ञानशक्त्यादिभिरधिकतरा दृश्यन्ते, ततश्च सिद्धगंधर्वादयः ततश्च देवाः ततश्चेन्द्रादयः। अतो ब्रह्मादिष्वन्यतमएवैकैकस्मिन्कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भूतमैश्वर्यप्राप्तो जगत्सृष्ट्याद्यपि करोतीति जगत्का-रणत्वजगदन्तरात्मत्वादिवाक्यमस्मिन्नेवोपचितपुण्यविशेषे सर्वज्ञे सर्वशक्तौ वर्त्तते। अतो न जीवादतिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चि-

ankurnagpal108@gmail.com

दस्ति । एवं च सति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादयो जीवात्मन-स्वाभिप्राया भवंति मोक्षशास्त्राण्यपि तत्स्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेश-पराणि—इति ।

विशेष पुण्यवान जीव ही उक्त पुरुष हो सकता है क्यों उसके शरीर का वर्णन किया गया है, शरीर संबंध तो जीवों का ही हो सकता है । शुभाशुभ कर्म और गुण के संयोग से ही शरीर संबंध होता है । तभी कर्म संबंध रहित शरीर हीन मोक्ष की प्राप्ति कही गई है— "शरीराभिमान के रहते पाप पुण्य नष्ट नहीं होते, शरीराभिमान शून्य हो जाने पर पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते ।" इत्यादि ।

पुण्य की अधिकता से अधिक ज्ञान और अधिक शक्ति संपन्न होना भी संभव है, लोकेश कामेश इत्यादि उपाधियां भी जीवात्मा के लिए ही प्रयुक्त होती हैं । उपास्यता, फलदातृता, पापप्रक्षालनता और मोक्षदातृता आदि क्षमतायें भी उसमें हो सकती हैं । मनुष्यों में ही प्रायः अधिक पुण्यवान और ज्ञान शक्ति संपन्न महापुरुष देखे जाते हैं, सिद्ध, गंधर्व, देव तथा देवाधिदेव इन्द्र उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ।

मनुष्य से ब्रह्मा पर्यन्त में से कोई विशेष पुण्यवान महापुरुष एक-एक कल्प तक ऐश्वर्य संपन्न होकर जगत् सृष्टि आदि का संपादन करते हैं । जगत्कारणता और जगदन्तरात्मकता के बोधक वाक्य भी ऐसे ही सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न महापुरुष के लिए घटित होते हैं । इसलिए जीवात्मा से अतिरिक्त परमात्मा नामक कोई विशेष नहीं है । "अस्थूल, अनणु-अह्रस्व" इत्यादि विशेषण भी जीवात्मा बोधक ही सिद्ध होते हैं तथा मोक्षोपदेशक शास्त्र वाक्य भी जीव स्वरूप निर्देशक एवं प्राप्ति उपाय के रूप में ही घटित होते हैं, ऐसा मानना होगा ।

सिद्धान्त—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—अंतरादित्ये ऽन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते, स जीवादन्यः परमात्मैव, कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् जीवेष्वसंभवस्तदतिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽ-पहतपाप्मत्वादिः "स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" इत्यादिनो-

ankurnagpal108@gmail.com

पदिश्यते । अपहतपाप्मत्वम् हि अपहतकर्मत्वं, कर्मवश्यतागंधरहित-त्वमित्यर्थः । कर्माधीनसुखदुःख भागत्वेन कर्मवश्याः हि जीवाः । अतो अपहतपाप्मत्वं जीवादन्यस्य परमात्मन एव धर्मः ।

उक्त संशय के निराकरणार्थ ही सूत्रकार ने सिद्धांत निर्णय करते हुए "अन्तस्तद्धर्मोंपदेशात" सूत्र कहा है, जिसका तात्पर्य है कि—सूर्य मंडल और नेत्र में जो पुरुष दीखता है वह जीवात्मा से भिन्न परमात्मा ही है। उसी की विशेषताओं का उपदेश वेद में किया गया है। जो जीवों में कभी संभव नहीं हैं उन्हीं निष्पापता आदि विशेषताओं का परमात्मा के लिए "स एष सर्वेम्य" इत्यादि वाक्यों में किया गया है अपहतपापता का तात्पर्य है, निष्कर्मता, कर्मबन्धन शून्यता । कर्माधीन सुख दुःखानुसार कर्म के वशीभूत जीव ही है । निष्पापता आदि तो जीव से विलक्षण परमात्मा के ही धर्म हैं ।

यत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकं लोककामेशत्वम्, सत्यसंकल्पत्वादिकं सर्वभूतान्तरात्मत्वंच तस्यैवधर्मः । यथाह–"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पः" इति तथा "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेवएको नारायणः" इति । "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" इत्यादि सत्यसंकल्पत्वपूर्वकसमस्तचिदचिद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिक भया-भय हेतुत्वं, वाङ्मनसपरिमितकृतपरिच्छेदरहितानवधिकाति-शयानन्दयोग इत्यादयोऽकर्मसंपाद्यास्वाभाविकाधर्मा जीवस्य न संभवंति ।

उसी प्रकार लोकेशता, कामेश्वरता, सत्य संकल्पता, सर्वभूतान्त रात्मकता, आदि स्वाभाविक धर्म भी परमात्मा के ही हैं। ऐसा ही— "यह सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है" इस वाक्य से ज्ञात होता है। तथा "ऐसे सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव स्वरूप एकमात्र नारायण ही हैं" उन्होंने संकल्प किया कि एक से अनेक हो जाऊँ "इत्यादि में वर्णित सत्य

ankurnagpal108@gmail.com

संकल्प पूर्विका समस्त जड चेतनात्मक सृष्टि योग्यता, स्वाभाविक भय अभय देने की क्षमता, वाङ्मनसगोचरता, अतिशय आनंदमयता इत्यादि अकर्म संपाद्य स्वाभाविक धर्म जीव के नही हो सकते।

यत्तुशरीरसंबंधान्न जीवातिरिक्त इत्युक्तम्, तदसत्, न हि सशरीरत्वं कर्मवश्यता साधयति, सत्यसंकल्पस्येच्छयाऽपि शरीर संबधसंभवात्। अथोच्येत—शरीरं नाम त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणाम-रूपभूत संघातः, तत्संबधश्चापहतपाप्मनस्सत्यसंकलपस्यपुरुषस्ये-च्छया न संभवति, अपुरुषार्थत्वात्। कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपान-भिज्ञस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छितोऽपि तत्संबंधोऽवर्जनीयः, इति। स्यादेतदेवम्, यदि गुणत्रयमयः प्राकृतोऽस्यदेहस्स्यात्, स तु स्वाभिमतस्स्वानुरूपोऽपाकृत एवेति सर्वमुपपन्नम्।

जो यह कहते हो कि—शरीर सबंध होने से वह जीवात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा नही हो सकता, यह कथन भी असत् है, कर्मवश ही शरीर संबंध होता हो यह कोई आवश्यक नहीं है, सत्य संकल्पात्मिका इच्छा से भी आत्मा का शरीर संबंध होता है। यदि यह कहो कि—त्रिगुणात्मक प्रकृति भोग के परिणाम स्वरूप जो पंचमहाभूतों का संयोग होता है, उसे ही शरीर कहते हैं, ऐसे भौतिक शरीर का संबंध, निष्पाप सत्यसंकल्प पुरुष की इच्छामात्र से नही हो सकता, क्योंकि वह कभी धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थों का पालन नहीं करता। (अर्थात् पुरुषार्थ संबंधी भोगों में नही फँसता) अपने स्वरूप से अनभिज्ञ कर्मा-धीन जीव के न चाहते हुए भी, कर्मानुरूप फलभोग के लिए, देह संबंध अनिवार्य रूप से हो जाता है। हो सकता है आपका ही कथन ठीक हो आपके अनुसार जगत्सृष्टा का शरीर त्रिगुणमय प्राकृत हो सकता है पर हमारी दृष्टि में तो वह स्वेच्छा से अपने अनुरूप अप्राकृत देह धारण करके ही सृष्टि का कार्य संचालन करता है, ऐसा मानकर ही हम उक्त समस्या का समाधान कर पाते हैं।

एतदुक्तं भवति—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्त ज्ञानानंदैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकाति-

ankurnagpal108@gmail.com

शयासंख्येयकल्याणगुणगणाश्च संति। तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैक-रूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्वल्यसौन्दर्यसौगंध्यसौ-कुमार्यलावण्ययौवनाद्यनंतगुणगणनिधिदिव्यरूपमपि स्वाभाविक नास्ति। तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूप संस्थानं करोत्यपार-कारुण्यसौशील्यौदार्यजलनिधिः निरस्तनिखिलहेयगंधोऽपहतपाप्मा परंब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः—इति।

कथन यह है कि—हीनता रहित, अनंतज्ञान और आनंद स्वरूप होने से, समस्त पदार्थों से विलक्षण पर ब्रह्म ही, निरवधि, निरतिशय, असंख्य स्वाभाविक कल्याणमय गुणों की राशि हैं। तदनुरूप ही उनका स्वाभावसिद्ध दिव्य रूप भी है। उसके अनुसार ही अचिन्त्य अलौकिक, अद्भुत, नित्य, निर्दोष, और सबका अतिक्रमण करने वाली औज्वल्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य (सुयश) सौकुमार्य लावण्य, यौवनादि अनंत गुण निधियाँ उनके दिव्य देह में स्वाभाविक रूप से रहती हैं। वे ही उपासकों की भावना के अनुरूप अनुग्रह करके अपने ऐसे दिव्य स्वरूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष कराते हैं। अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य आदि गुणों के सागर, हीन दोषों से सर्वथा शून्य, निष्पाप, परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही जगत् सृष्टा हो सकते हैं।

"यतो वा इमानि भूतानि जायंते—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्—एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादिषु निखिल जगदेक कारणतयाऽवगतस्यपरस्य ब्रह्मणः "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म—विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इत्यादिष्वेवंभूतं स्वरूपमित्यवगम्यते। "निर्गुणम्" निरंजनं—"अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पः—न तस्य कार्यकारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च देवतम्—स कारणकरणाधि

ankurnagpal108@gmail.com

पाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इत्यादिषु परस्यब्रह्मणःप्राकृत हेयगुणान् प्राकृतहेय देहसंबंधं तन्मूल कर्मवश्यतासबधं च प्रतिविध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति ।

"जिससे ये प्रपंच उत्पन्न होता है—हे सौम्य सृष्टि के पूर्व यह सारा विश्व सत् स्वरूप ही था—सृष्टि के पूर्व केवल परमात्मा ही था—एकमात्र नारायण ही थे, ब्रह्मा या शकर नही थे।" इत्यादि वाक्यों में समस्त जगत् के एकमात्र कारण परब्रह्म का ही निरूपण ज्ञात होता है। तथा—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है—परमात्मा विज्ञान और आनंद स्वरूप है।" इत्यादि वाक्यों में उस परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

"वह परब्रह्म निर्गुण, निरंजन, निष्पाप जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य सकल्प है। उसके कार्य (शरीर) और कारण (इन्द्रियाँ) नही हैं। उसके समान या अधिक कुछ भी दृष्टिगत नही होता। उसकी पराशक्ति स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया आदि विविध नामों वाली है। सर्वेश्वर देवाधिदेव ही सबके कारण तथा करणों (इन्द्रियों) के स्वामी (ब्रह्मा आदि) के भी अधिपति हैं। उनका जनक तथा स्वामी कोई नहीं है। जो धीरता पूर्वक समस्त रूप का विस्तार और नामों का विधान करके व्यावहारिक रूप से उसी में विराजते हैं, अज्ञानातीत आदित्यवर्ण उन महापुरुष को जानने की चेष्टा करो। समस्त निमेष (स्फूर्तियाँ) और विद्युत शक्तियाँ परंपुरुष से ही प्रकट होती हैं।" इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म के प्राकृत तुच्छ गुण समूह, प्राकृत हेय देह संबंध, तदनुरूप कर्मवश्यता का खंडन करके कल्याणमय गुण और कल्याणमय रूप का प्रतिपादन करती हैं।

तदिदं स्वाभाविकमेवरूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रत्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्थान, करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान् ।

ankurnagpal108@gmail.com

तदिमाह श्रुतिः—"अजायमानो बहुधा विजायते" इति स्मृतिश्च—"अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां" इति।

परम करुणामय भगवान, दयावश स्वेच्छा से अपने स्वाभाविक दिव्यरूप को, उपासकों की क्षमता के अनुसार उनपर कृपा करने के लिए देव मनुष्य आदि सगुण प्राकृत देहों में परिणत कर देते हैं। जैसा कि श्रुति में—वह अजन्मा प्रायः प्रकट होता है "तथा स्मृति में भी"—अजन्मा और अविनाशी, सर्व नियामक मैं अपनी स्वाभाविक प्रकृति माया के आश्रय से प्रकट होता हूँ सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिए ही मेरा अवतार होता है।" इत्यादि स्पष्ट कहा गया है।

साधवो हि उपासकाः तत्परित्राणमेवोद्देश्यम् आनुषंगिकस्तु दुष्कृतां विनाशः संकल्पमात्रेणापि तदुत्पत्तेः। "प्रकृतिं स्वाम्" प्रकृतिः स्वभावः, स्वमेव स्वभावमास्थाय न संसारिणां स्वभावानित्यर्थः। आत्ममाययेति स्वसंकल्प रूपेण ज्ञानेन इत्यर्थः। "माया वयुनं ज्ञानं" इति ज्ञान पर्यायमपि माया शब्दं नैघण्टुका अधीयते।

उक्त स्मृति वाक्य में साधु का तात्पर्य उपासक से है, उन्हीं के परित्राण के लिए प्रभु प्रकट होते हैं, दुष्टों के विनाश की बात तो प्रासंगिक है, संकल्प मात्र ही प्रभु के अवतार में पर्याप्त है। "प्रकृतिं स्वाम्" में प्रकृति का तात्पर्य है स्वभाव, स्वाम् अर्थात् अपनी प्रकृति के आधार से ही प्रभु प्रकट होते हैं, संसारी स्वभाव प्राकट्य का आधार नहीं होता। आत्ममायया का तात्पर्य है, स्वसंकल्प रूप ज्ञान "ज्ञान के पर्याय रूप में माया शब्द का प्रयोग निघंटु में "मायावयुनं ज्ञानं" किया गया है।

आह च भगवान पाराशरः "समस्ताशक्तयश्चैतानृप यत्र प्रतिष्ठिताः, तद् विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद् हरेर्महत्। समस्त शक्ति

ankurnagpal108@gmail.com

रूपाणि तत्करोति जनेश्वर, देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावंति स्वलीलया। जगतामुपकाराय न सा कर्म निमित्तजा।" इति महाभारते चावतार रूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते—"न भूतं संघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति। अतः परस्यैव ब्रह्मण एवं रूपवत्वादयमपि तस्यैव धर्मः अत आदित्यमण्डलाक्ष्यधिकरण आदित्यादि जीव व्यतिरिक्तः परमात्मैव।

भगवान पाराशर भी कहते है—"ये समस्त शक्तियाँ जहाँ प्रतिष्ठित हैं, वही परमात्मा का विश्वरूप है जो कि महान् और विलक्षण है। वह अपनी लीला से देवता पशु मनुष्य आदि चेष्टा वाले अपने शक्तिमय रूपों को प्रकट करते हैं। यह सब जगत के उपकार के लिए करते हैं, कर्मफल के भोग के लिए नहीं करते।" महाभारत में भी प्रभु का अप्राकृत अवतार बतलाया गया है—"परमात्मा का यह देह पांचभौतिक नहीं है।" इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि—परमात्मा ही उक्त विशेषताओं वाले हैं उन्हीं के ये स्वाभाविक धर्म है। सूर्य और नेत्रों में वे ही विराजमान हैं वे जीवों से सर्वथा विलक्षण है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः १।१।२२

आदित्यादिजीवेभ्यो भेदोव्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यश्शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति"—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति"—योऽक्षरमन्तरे संचरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, योमृत्युमंतरे-संचरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूदन्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति चास्यापहतपाप्मनः परमात्मनस्सर्वान्जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनैनं व्यपदिशति। अतस्सर्वेभ्योहिरण्यगर्भादिजीवेभ्योऽन्य एव परमात्मेतिसिद्धम्।

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मा का आदित्य आदि जीवों से स्पष्ट भेद दिखलाया गया है—"जो आदित्य में रहते हुए भी आदित्य से भिन्न है, उसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य उसका शरीर है, वह आदित्य में बैठकर उसका संयमन् करता है—जो आत्मा में होते हुए भी उससे भिन्न है, उसे आत्मा नहीं जानता, आत्मा उसका शरीर है अन्तर्यामी रूप से वही आत्मा का संयमन करता है—जो अक्षर में संचरित है, अक्षर जिसका शरीर है अक्षर उसे नहीं जानता—जो मृत्यु (जगत) में संचरित है, मृत्यु उसका शरीर है, मृत्यु उसे नहीं जानता, वह सर्वान्तिर्यामी, निष्पाप दिव्य एकमात्र नारायण है।" इस वाक्य में निष्पाप परमात्मा का शरीर जीवों को बतलाकर, उनका अन्तर्यामित्व बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि- परमात्मा, हिरण्यगर्भ आदि जीवों से सर्वथा विलक्षण है।

८ अधिकरण :—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति जगत् कारण ब्रह्मेत्यवगम्यते। किं तज्जगत्कारणमित्यपेक्षायां "सदेव सोम्येदमग्र आसीत तत्तेजोऽसृजत्—आत्मा इदमेव एवाग्र आसीत्—स इमांल्लोकानसृजत् तस्माद् वा एतस्मादात्मन् आकाशस्सम्भूत:" इति साधारणैश्शब्देर्जगत्कारणे निर्दिष्टे ईक्षणविशेषानंदविशेषरूपविशेषार्थ स्वभावात् प्रधानक्षेत्रज्ञादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। इदानीमाकाशादि विशेषशब्दैर्निदिश्य जगत्कारणत्वजगदैश्वर्यादिवादेऽप्याकाशादिशब्दाभिधेयतयाप्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्तलक्षणमेव ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते आकाशस्तल्लिगात् इत्यादिना पादशेषेण—

जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं"—इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि—जगत् के कारण परमात्मा ही हैं। उस जगत् के कारण का स्वरूप क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर निम्न श्रुतियाँ सामने आती हैं—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व एक सत् ही था—उसने तेजकी सृष्टि की—जगत पहिले आत्मस्वरूप ही था—जिसने इन लोकों की सृष्टि की—उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इन श्रुतियों में साधारण शब्दों से जगत्कर्त्ता

ankurnagpal108@gmail.com

का निर्देश किया गया है। बाद में ईक्षण विशेष, आनंद विशेष, और रूप विशेष बोधक शब्दों द्वारा प्रधान और क्षेत्रज्ञ से विलक्षण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। अब आकाश आदि विशेष शब्दों से निर्देश करके जगत्कारणत्त्व और जगदैश्वर्यवाद में भी, प्रसिद्ध जडचेतन विलक्षण ब्रह्म को ही आकाश शब्द से बतलाते हैं—

आकाशस्तल्लिगात् १।१।२३।

इदमाम्नायते छांदोग्ये "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाश प्रत्यस्त यति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश. परायणम्" इति। तत्र सदेह. कि प्रसिद्धाकाश एवात्राकाशशब्देन अभिधोयते उतोकलक्षणमेव ब्रह्म इति। किं प्राप्तम्? प्रसिद्ध आकाश इति कुतः? शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धश्शब्देन प्रतीयते स एव ग्रहीतव्यः। अतः प्रसिद्ध आकाश एव चराचरभूतजातस्य कृत्स्नस्य कारणम् अतस्तस्मादनतिरिक्तं ब्रह्म।

छांदोग्योपनिषद में पाठ है कि—"इस लोक की गति क्या है? उसने कहा आकाश, समस्तभूत समुदाय आकाश से ही उत्पन्न हुआ है और आकाश में ही विलीन हो जाता है, आकाश सभी भूतों से श्रेष्ठ है, यह सभी का आश्रय है।"

यहाँ सदेह होता है कि—प्रसिद्ध आकाश ही यहाँ आकाश शब्द से उल्लेख्य है अथवा उक्त लक्षणों वाले ब्रह्म का निर्देश है? (पूर्वपक्ष) प्रसिद्ध आकाश ही हो सकता है क्यों कि—एकमात्र शब्द गम्य विषय में, शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है उसे ही मानना उचित होता है। इसलिए उक्त प्रसंग में आकाश ही चराचर जगत् का कारण है, ब्रह्म भी वही है।

नान्वोक्षापूर्वक सृष्ट्यादिभिरचेतनाचेतनजीवाच्च व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम् अयुक्तं तु तत्। तथाहि "यतो वा इमानि

ankurnagpal108@gmail.com

भूतानि जायन्ते तद्ब्रह्म" इत्युक्ते कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादि विशेषापेक्षायां "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिना विशेषप्रतीतेः जगज्जन्मादिकारण आकाश एवेति निश्चिते सति "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिष्वपि सदिशब्दास्साधारणाकारास्तमेव विशेषमाकाशमभिदधति । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिष्वात्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्त्तते ।" तस्यापि हि चेतनैकान्तत्वं न संभवति । यथा—"मृदात्मको घटः" इति । आप्नोतीत्यात्मेति व्युत्पत्या सुतरामाकाशेऽप्यात्मशब्दो वर्त्तते । अत एवमाकाश एव कारणं ब्रह्मेति निश्चिते सतीक्षणादय-स्तदनुगुणांगौणावर्णनीयाः । यदि हि साधारणशब्दैरेव सदादिभिः कारणमभ्यधायिष्यत, ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनविशेष एव कारण-मिति निरचेष्यत । आकाश शब्देन तु विशेष एव निश्चित इति नार्थस्वाभाव्यान्निर्णेतव्यमस्ति ।

उक्त पक्ष पर शंका होती है कि—ब्रह्म तो जड और चेतन जीवों से भिन्न, स्वेच्छा से सृष्टि करने वाला कहा जाता है, (तो वह आकाश कैसे हो सकता है?) (उत्तर) हाँ कहा तो गया है पर वह कथन ठीक नहीं है। उस कथन पर यह शंका तो बनी ही रहती है कि—ये भूत किससे उत्पन्न हुए? उक्त शंका की पूर्ति 'ये सब आकाश से ही हुए" इत्यादि वाक्य से होती है और निश्चित होता है जगत् के जन्मादि का कारण आकाश है। ऐसा निश्चित हो जाने पर "हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व सत् ही था" इस वाक्य में कहे गए "सत्" शब्द का अर्थ भी आकाश ही निश्चित होता है। तथा "यह सारा जगत् पहले आत्मा ही था" इस वाक्य का "आत्मा" शब्द भी आकाश वाची ही सिद्ध होता है। आत्मा शब्द एकमात्र चेतन तत्त्व का ही ज्ञापक हो सो बात भी नहीं है। "मृदात्मक घट" ऐसे अचेतन प्रयोग भी आत्मा के लिए होते है। "आप्नोति इति आत्मा" अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त है वह आत्मा है इति व्युत्पत्ति के अनुसार भी आत्मा शब्द आकाश वाची हो सकता है। इस-

ankurnagpal108@gmail.com

लिए आकाश ही कारण ब्रह्म है ऐसा निश्चित हो जाने पर, जगत कर्त्ता के लिए प्रयुक्त ईक्षण आदि गुण गौण प्रतीत होते हैं। और फिर यदि "सद्" आदि साधारण शब्दों पर ही जगत कर्त्ता का निर्णय निर्भर है तो ईक्षण आदि अर्थों के द्वारा चेतन विशेष को ही कारण मानना चाहिए। आकाश शब्द का तो विशेष उल्लेख होने से निश्चित हो जाता है कि आकाश ही जगत कर्त्ता है, अर्थ के आधार पर निर्णय करने की बात तो उठती ही नहीं।

ननु "आत्मन आकाशस्संभूत:" इत्याकाशस्यापि कार्यत्वं प्रतीयते। सत्यम्, सर्वेषामेवाकाशवाय्वादीनां सूक्ष्मावस्थास्थूलावस्थाचेत्यवस्थाद्वयमस्ति। तत्राकाशस्य सूक्ष्मावस्था कारणम्। स्थूलावस्था तु कार्यम्। "आत्मान आकाशास्संभूत:" इति स्वस्मादेव सूक्ष्मरूपात् स्वयं स्थूलरूपस्संभूत इत्यर्थः। "सर्वाणि ह वा इमानि भृता याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इ त सर्वस्य जगत आकाशादेव प्रभवाप्ययादि श्रवणात तदेव हि कारणं ब्रह्मेति िश्चितम् यत एवं प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्म अत एव च "यदेषआकाश आनंदो न स्यात्" आकाशो ह वै नामरूपयोर्निवहिता" इत्येवमादि निर्देशोप्युपपन्नतर:। अत: प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्मे ति।

सशय होता है कि—"आत्मा से आकाश हुआ" इस वाक्य से तो आकाश की कार्यता ज्ञात होती है ठीक है, आकाश वायु आदि सभी की स्थूल और सूक्ष्म दो अवस्थायें होती हैं। आकाश की सूक्ष्मावस्था कारण तथा स्थूलावस्था कार्य है। "आत्मा से आकाश हुआ" का तात्पर्य है कि वह अपने सूक्ष्म रूप से स्वयं स्थूल हुआ। सारे भूत समुदाय आकाश से उत्पन्न हुए "इस वाक्य से ज्ञात होता है कि–आकाश से ही सब का उदय और उसी में सब लय होते हैं इसलिए आकाश ही कारण ब्रह्म निश्चित होता है। इससे यह भी निश्चित होता है कि–प्रसिद्ध आकाश ही ब्रह्म है" यदि यह आनंद स्वरूप आकाश न होता "आकाश ही नामरूप को धारण करने वाला है" इत्यादि निर्देशक वाक्य भी इसी तथ्य के उपपादक हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रसिद्ध आकाश ही ब्रह्म है।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशस्तल्लिंगात् आकाश शब्दाभिधेयः प्रसिद्धाकाशादचेतनादर्थान्तभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैव कुतः ? तल्लिगात् निखिलजगदेककारणत्वं, परायणत्वं इत्यादीनि परमात्मलिंगानि उपलभ्यन्ते । निखिल कारणत्वं हि अचिद्वस्तुनः प्रसिद्धाकाशशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते, चेतन वस्तुनस्तत्कार्यत्वासंभवात् । परायणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वं । तच्चाचेतनस्य हेयस्य सकलपुरुषार्थ विरोधिनो न संभवति । सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं च निरुपाधिकं सर्वैः कल्याणगुणैस्सर्वेभ्यो-निरतिशयोत्कर्षः । तदप्यचितो नोपपद्यते ।

सिद्धान्त—उक्त मत पर कथन यह है कि—प्रसिद्ध आकाश से पृथक् पूर्वोक्त लक्षणों वाला परमात्मा ही यहाँ आकाश शब्द वाच्य है। क्यों कि-सूत्र में "तल्लिगात्" अर्थात् 'उसके बोधक" ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। संपूर्ण जगत की एकमात्र कारणता, सर्वश्रेष्ठता और परमाश्रयता इत्यादि परमात्म बोधक शब्द शास्त्रों में पाये जाते हैं। चिदचिद् जगत की कारणता आकाश नामक जड तत्त्व में सभव नहीं है। उसमें चेतन वस्तु के संचालन की क्षमता तो कदापि नहीं हो सकती। जगतकर्त्ता के लिए जो परायण विशेषण मिलता है उसका अर्थ होता है "परम आश्रय" जो कि अचेतन पुरुषार्थ रहित वस्तु में संभव नहीं है। "सर्वश्रेष्ठता" का अर्थ भी "निरपेक्ष अतिशय कल्याण गुणों की उत्कर्षता" है, यह भी अचेतन में संभव नहीं है।

यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकांक्षायाम् आकाशशब्देन विशेष समर्पणादन्यत्सर्वंतदनुरूपमेव वर्णनीयमिति, तदयुक्तम् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् । प्रसिद्धवन्निर्देशो हि प्रामाणान्तरप्राप्तिमपेक्षते । प्रमाणान्तराणि च "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीन्येव वाक्यानि तानि च यथोदितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपादितं

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्माकाशशब्देन प्रसिद्धवन्निर्दिश्यते। संभवति च परस्यब्रह्मरणः प्रकाशकत्वादाकाशशब्दाभिधेयत्वं आकाशते आकाशयति च इति।

यदि कहो कि- विशेषरूप से जगतकर्त्ता के स्वरूप के निर्धारण के अभिप्राय से 'आकाश'' शब्दविशेष का उल्लेख किया गया है, सो ऐसा कहना भी गलत है। "ये सारे भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं'' इस श्रुति में प्रसिद्ध का सा निर्देश है (विशेष का नहीं) प्रसिद्ध का सा वर्णन अन्य प्रमाणों से सापेक्ष होता है (अर्थात् प्रसिद्ध के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होती है "यह वही है जिसकी इस रूप मे प्रसिद्धि है") अन्य प्रमाण जैसे—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व एकमात्र 'सत्'' ही था।'' ये प्रमाण प्रसिद्ध ब्रह्म के ही प्रतिपादक है। उस ब्रह्म का प्रतिपादक आकाश शब्द प्रसिद्ध की तरह ही कहा गया है। प्रकाशक अर्थवाची आकाश शब्द परब्रह्म में ही घटता है। आकाशते = प्रकाशते आकाशयति = प्रकाशयति अर्थात् जो आ समंतात् चारो ओर से काशते—प्रकाशते होता है अथवा जो दूसरे को प्रकाशित करता है [इन दो व्युत्पत्तियों से प्रकाशवाची आकाश शब्द परब्रह्म का बोधक ही सिद्ध होता है]

किं च—अनेनाकाशशब्देन विशेषसमर्पणक्षमेणापि चेतनांशं प्रत्यसंभावितकारणभावमचेतनविशेषमभिदधानेन "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय "इत्यादि वाक्यशेषावधारित सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वादिविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थं वाक्यार्थान्यथाकारणं न प्रमाणपदवीमधिरोहति। एवमपूर्वानन्तविशेषणविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थानेकवाक्यगतिसामान्यं चैकेनानुवादस्वरूपेणान्यथाकर्त्तुं न शक्यते।

अर्थ विशेष (भूताकाश) के प्रतिपादक होते हुए भी इस (आकाश) में चेतनांश की कारणता असंभव है। अचेतन विशेष प्रतिपादक आकाश में उसने सोचा मैं बहुत हो जाऊँ" उसने बहुत होने का संकल्प किया इत्यादि वाक्यों से ज्ञात, सर्वज्ञता, सर्वसंकल्पता आदि विशिष्ट अलौकिक प्रतिपादक अर्थों को झुठला कर अपने लिए प्रमाण रूप से इन वाक्यों को

ankurnagpal108@gmail.com

मनवा लेना संभव नहीं है। अनन्त विशेषण विशिष्ट अपूर्व अर्थ प्रतिपादनक्षम अनेक वाक्यों की जो एक सामान्य गति है (अर्थात् जो विशेष विशेषणों से, एक चेतनविशिष्ट ब्रह्म का ही प्रतिपादन कर रहे हैं) उसे आकाश शब्द के प्रतिपादन के लिए, केवल अनुवाद मात्र कह कर झुठलाया भी नहीं जा सकता।

यत्त्वात्मशब्दश्चेतनैकान्तो न भवति, "मृदात्मकोघट:" इत्यादिदर्शनादित्युक्तम्, तत्रोच्यते—यद्यपि चेतनादन्यत्रापि क्वचिदात्मशब्द: प्रयुज्यते, तथापि शरीर प्रतिसंबंधिन्यात्मशब्दस्य प्रयोग प्राचुर्यात्—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" आत्मन् आकाशस्संभूत: "इत्यादिषु शरीरप्रतिसंबंधि चेतन एव प्रतीयते यथा गोशब्दस्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्राचुर्यात् सास्नादिमानेव स्वत: प्रतीयते। अर्थान्तरप्रतीतिस्तु तत्तदसाधारणनिर्देशापेक्षा, तथास्वत:प्राप्तं शरीरप्रतिसंबंधिचेतनाभिधानमेव। "सईक्षत लोकान्नु सृजां इति "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि तत्तद् वाक्य विशेषावधारितान्यसाधारणानेकापूर्वार्थविशिष्टं निखिल जगदेककारणं "सदेव सोम्य" इत्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्मैवाकाश शब्देन प्रसिद्धवत् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्येन निर्दिश्यत् इति सिद्धम्।

जो यह कहा कि—आत्मा शब्द केवल चैतन्यता का ही बोधक नहीं है अपितु "मृदात्मको घट:" इत्यादि अचेतन बोधक आत्म शब्द के प्रयोग भी होते हैं। इस पर कथन यह है कि—यद्यपि चेतन से अतिरिक्त भी कही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है फिर भी प्राय: शरीर संबंधी प्रयोग ही अधिकतर होते हैं "सृष्टि के पूर्व एक आत्मा ही था" आत्मा से आकाश हुआ" इत्यादि में शरीर संबंधी चेतन का प्रयोग ही प्रतीत होता है। जैसे कि गोशब्द अनेकार्थवाची है, पर प्राय: गोशब्द के उच्चारण से सास्नादिलांगूल वाली गौ की ही प्रतीति होती है। विशेष अर्थ की

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतीति तो, उस अर्थ संबंधी असाधारण निर्देश से अपेक्षित होती है, स्वत: ज्ञात अर्थ तो शरीर सबंधी चेतनाभिधायक ही है। "उसने सोचा कि लोक की सृष्टि करूँ" उसने सोचा अनेक रूप धारण करूँ "इत्यादि वाक्य सामर्थ्यवान चेतन शक्ति को ही जगत कर्त्ता के रूप मे वर्णन करते हैं, वाक्यशेष शब्दो द्वारा प्रतिपादित तथा अनन्य असाधारण अलौकिकार्थ बोधक "सदेव सौम्य।" इत्यादि वाक्य सिद्ध ब्रह्म ही "आकाश" शब्द से प्रसिद्ध की तरह "सर्वाणि हवा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्यो में बतलाए गए है।

९ अधिकरण—

अत एव प्राण: १।१।२४॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इति प्रस्तुत्य "कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत" इति।

ऐसा छांदोग्योपनिषद् में वर्णन आता है कि—"हे स्तोत्र पाठक! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत हैं" इस भूमिका के बाद जिज्ञासा की गई कि "वे देवता कौन हैं [इसके उत्तर में उषस्ति ऋषि ने प्रस्तोता से कहा–]" प्राण "ही वे देवता है, ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं, प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, वे प्राण देवता ही प्रस्ताव के लिए अनुगत हैं। उनको न जानकर (अर्थहीन) स्तोत्र पाठ करोगे तो तुम्हारा मस्तक कट कर गिर जावेगा।"

अत्र प्राणशब्दोप्याकाशशब्दवत् प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वर्त्तते, तदसाधारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिंगात् प्रसिद्धवन्निर्दिष्टात्। अधिकाशंका तु कृत्स्नस्यभूतजातस्य प्राणाधीनस्थितिप्रवृत्यादिदर्शनात् प्रसिद्धएव प्राणो जगत्कारणतया निर्देशमर्हति इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त श्रुति बतलाती है कि–आकाश शब्द की तरह प्राण शब्द भी, प्रसिद्ध प्राण से भिन्न परमात्मा का ही वाचक है। समस्त जगत् के असाधारण प्रवेश निष्क्रमण आदि के उल्लेख तथा प्रसिद्ध की तरह निर्देश से उक्त बात की ही पुष्टि होती है। इस पर एक विशेष शंका की जाती है कि– संपूर्ण भूत समुदाय से उद्भूत पदार्थों की स्थिति, प्रवृति आदि प्राणाधीन ही देखी जाती है। इसलिए जगत्कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध प्राण का ही निर्देश प्रतीत होता है।

परिहारस्तु—शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे च तदभावात् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इति नोपपद्यत इति। अतः प्राणयति सर्वाणिभूतानि इति कृत्वा परंब्रह्मैव प्राणशब्देनाभिधीयते। अतः प्रसिद्धाकाश प्राणादेरन्यदेव निखिलजगदेककारणमपहतपाप्मत्वसार्वज्ञसर्वसंकल्पात्वाद्यनंतकल्याणगुणगणं परंब्रह्मैवाकाश प्राणादिशब्दाभिधेयमिति सिद्धम्।

परिहार—शिलाकाष्ठ आदि के चेतन स्वरूप में उस प्राण का अभाव है, "सारे भूत प्राण में ही स्थित हैं तथा प्राण से ही उद्गत होते हैं" इस प्रमाण से भूत समुदाय की स्थिति प्राण में बतलाई गई है, यदि इसे प्रसिद्ध प्राण का वर्णन मान लें तो निष्प्राण शिलाकाष्ठादि की संगति कैसे बैठेगी। सभी भूतों को प्राणित करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार परब्रह्म ही प्राणवाची सिद्ध होता है। प्रसिद्ध आकाश और प्राण से भिन्न संपूर्ण जगत का कारण निष्पाप, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, अनंत कल्याण गुणों वाला परमात्मा ही आकाश प्राण आदि शब्दवाची है।

१० अधिकरण—

अतः परं जगत्कारणत्वव्याप्तेन येन केनापिनिरतिशयोत्कृष्टगुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रादिशब्दैरर्थान्तरप्रसिद्धैरप्यभिधीयमानं परंब्रह्मैवेत्यभिधीयते, ज्योतिश्चरणाभिधानात् इत्यादिना।

ankurnagpal108@gmail.com

जगतकर्त्ता के समर्थक जो भी गुण आवश्यक है अर्थान्तर में प्रसिद्ध ज्योति इन्द्र इत्यादि शब्दवाची सभी गुण विशेष परब्रह्म के हैं, ऐसा "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" सूत्रो मे बतलावेगे ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् १।१।२५॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये–"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषुलोकेष्विदं वाव तद्यदिम-मस्मिन्नन्तः पुरुषेज्योतिः" इति । तत्र संशयः किमयं ज्योतिश्शब्देन-निर्दिष्टोनिरतिशयदीप्तियुक्तोर्थः प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरेव कारणभूत ब्रह्म उत् समस्तचिदचिद्वस्तुजातविसजातीयः परमकारणभूतोऽमि-तभाः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः पुरुषोत्तमः इति ।

छांदोग्य का प्रवचन है कि—"द्यु लोक, विश्व, तथा उत्तमाधम समस्त लोकों के ऊपर जो ज्योति प्रकाशित हो रही है वह पुरुषों की अन्तःस्थ ज्योति ही है ।' इस प्रसंग पर संशय होता है कि—क्या उक्त ज्योति शब्द से निर्दिष्ट अतिशय दीप्ति अर्थवाली प्रसिद्ध सूर्य आदि की ज्योति ही कारण ब्रह्म है अथवा समस्त जडचेतन वस्तुओं से बिलक्षण सभी के कारण अमित दीप्तिमान सर्वज्ञसत्यसंकल्प पुरुषोत्तम ज्योति-नाम से अभिहित हैं ?

किं युक्तम् ? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । कुतः प्रसिद्धवन्निर्देशेऽप्या-काशप्राणादिवत् स्ववाक्योपात्तपरमात्मव्याप्त लिंगविशेषा दर्शनात्, परमपुरुष प्रत्यभिज्ञानासंभवात्, कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणत्वव्याप्तनिरतिशय दीप्तियोगाज्जगत्कारणं ब्रह्मेति ।

उक्त दोनों में कौन समीचीन है ? (पूर्वपक्ष) प्रसिद्ध ज्योति ही कारण ब्रह्म हो सकती है क्यों कि—प्रसिद्ध की तरह निर्देश होते हुए भी आकाश और प्राण की तरह उक्त वाक्य में, परमात्म ग्राहक कोई निर्देश नहीं किया गया है तथा ज्योति की परमात्म विषयक कोई

ankurnagpal108@gmail.com

प्रत्यभिज्ञा भी नहीं की गई है। उदरस्थ ज्योति से प्रसिद्ध ज्योति का ऐक्य भी बतलाया है। जिससे ज्ञात होता है कि—प्रसिद्ध ज्योति ही कारण ब्रह्म है।

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—ज्योतिश्चरणाभिधानात्द्यु संबंधितयानिर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं परमपुरुष एव। कुतः ? "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" इत्यस्यैव द्यु संबधिनश्चरणत्वेन सर्वभूताभिधानात्।

सिद्धान्त—इस पर मेरा मत यह है कि—द्युलोक से संबद्ध अतिशय दीप्तमती ज्योति परब्रह्म ही है, क्यों कि—"समस्त भूत समुदाय उसका एक पाद है तथा उससे तीन पाद द्युलोक में स्थित हैं" इस वाक्य में समस्त भूत समुदाय को द्यु संबंध विशिष्ट उक्त ज्योति के चरण रूप से कहा गया है।

एतदुक्तं भवति—यद्यपि—"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिः" इत्यस्मिन्वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिंगनोपलभ्यते, तथापि पूर्व वाक्ये द्यु संबंधितयापरमपुरुषस्य निर्देशादिदमपि द्यु संबंधिज्योतिस्स एवेति प्रत्यभिज्ञायत इति। कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशश्च फलाय तदात्मकत्वानुसंधानविधिरिति न कश्चिद्दोषः, कौक्षेयज्योतिषश्चतदात्मकत्वं भगवता स्वयमेवोक्तम् "अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति।

कथन यह है कि—"इस द्युलोक के ऊपर जो ज्योति प्रकाशित हो रही है" इस वाक्य में यद्यपि परंपुरुष का ग्राहक कोई लिंग (चिन्ह) नहीं है, फिर भी पूर्व वाक्य में द्यु संबंधी जिस परंपुरुष का निर्देश है, उसी से इस वाक्य की उल्लेख्य ज्योति विशिष्ट का संबंध समन्वय प्रतीत होता है, इस ज्योति से उदरस्थ ज्योति की जो एकता बतलाई गई वह भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है। फल विशेष की प्राप्ति के लिए ही उदरस्थ ज्योति की एकता बतलाई गई है। उदरस्थ ज्योति की ब्रह्मा-

ankurnagpal108@gmail.com

त्मकता स्वयं भगवान ने ही बतलाई है—"मैं ही प्राणियों में जाठराग्नि के रूप में स्थित हूँ।"

छन्दोभिधान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहिदर्शनम् ।१।१।२६॥

पूर्वस्मिन् वाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वम्" इति गायत्र्याख्यं छंदोऽभिधाय "तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम्" इत्युदाहृतायाः "तावानस्य महिमा" इत्युक्त्वा ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वान्नात्र परं पुरुषाभिधानमिति चेत्।

तन्न, तथा चेतोऽर्पणनिगमात् न गायत्री शब्देन छंदोमात्र इहाभिधीयते छंदोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः अपि तु ब्रह्मण एव गायत्री चेतोऽर्पणमिह निगद्यते। ब्रह्मणि गायत्री सादृश्यानुसंधानं फलायोपदिश्यत् इत्यर्थः।

उक्त ज्योति प्रसंग के पूर्ववर्त्ती वाक्य में "गायत्री ही ये सारा जगत है" गायत्री छंद का उल्लेख करके—"इसे ही मन्त्र कहते है" यह समस्त उसी की महिमा है" इत्यादि में गायत्री मन्त्र का ही उल्लेख है इसलिए उक्त प्रसंग परमपुरुष का अभिधायक नही है; ऐसा कथन असंगत है। उक्त प्रसंग में वस्तुतः चित्त समर्पण की विधि का उल्लेख है। यहाँ "गायत्री" शब्द केवल छंद के अर्थ में ही प्रयुक्त हो सो बात नहीं है, अपितु गायत्री से ब्रह्म अर्थ भी अभिप्रेत है, उसी में चित्त समर्पण का उपदेश दिया गया हैं, अर्थात् फलविशेष की प्राप्ति के लिए, ब्रह्म का ही गायत्री की तरह चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है।

संभवति च—"पादोऽस्य सर्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति चतुष्पदो ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्या च सादृश्यम्। चतुष्पदा च गायत्री क्वचिदृश्यते। तद्यथा—"इन्द्रः शचीपतिः। बलेन पीड़ितः। दुश्च्यवनो वृषा। समित्सुसासहिः" इति। तथा ह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते। यथा

ankurnagpal108@gmail.com

संवर्गविद्यायाम्—"ते वा एते पंचान्ये दश संपद्यंते" इत्यारभ्य "सैषा विराडन्नात्" इत्युच्यते ।

"इसके एक चरण में सारा विश्व है, तथा इसके तीन चरण अमृत द्युलोक में हैं" इस श्रुति से चतुष्पद ब्रह्म से चतुष्पदा गायत्री का सादृश्य ज्ञान होता है। कहीं-कहीं चतुष्पदा गायत्री देखी भी जाती है, जैसे कि—(१) "इन्द्र शचीपतिः (२) बलेन पीडितः (३) दुश्च्यवनो वृषा (४)" समित्सु सासहिः कहीं सादृश्य छंदबोधक शब्द का दूसरा अर्थ भी देखा जाता है। जैसा कि संवर्ग विद्या में—"ये अग्नि आदि पंच महाभूत और वाग् आदि पंच ज्ञानेन्द्रिया मिलकर दस होते हैं।" ऐसा कहकर "वे ही विराट के भक्ष्य अन्न हैं।" ऐसा बतलाया गया।

इतश्च गायत्री शब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

इसलिए भी गायत्री शब्द से ब्रह्म की प्रतीति होती है कि—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।१।१।२७॥

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य "सैषा चतुष्पदा" इति व्यपदेशो ब्रह्मण्येव गायत्री शब्दाभिधेय उपपद्यते ।

भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय को निर्देश करते हुए बतलाया गया कि—"इन चारों से चतुष्पदा हैं।" ऐसा व्यपदेश ब्रह्म के लिए ही, गायत्री शब्द से किया गया है।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।१।१।२८॥

पूर्ववाक्ये "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति दिवोऽधिकरणत्वेन दिनिर्देशादिह च दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य भिन्नरूपत्वेन पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म परस्मिन्न प्रत्यभिज्ञायत इति चेत्-तन्न उभयस्मिन्नपि उपदेशे अर्थस्वभावैक्येन प्रत्यभिज्ञाया अविरोधात् । यथा—"वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परश्श्येनः" इति । तस्मात् परमपुरुष एव निरतिशयतेजस्को दिवःपरःज्योतिर्दीप्यत इति प्रतिपाद्यते ।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि—"इसके अमृत स्वरूप तीन चरण द्युलोक में हैं" इस वाक्य में द्युलोक को तीन चरणों का अधिकरण कहा गया है और "द्युलोक से पर" इस वाक्य में उसकी अवधि कही गई है, इस प्रकार दोनों उपदेशों में विभिन्नता है। इसलिए ये दोनों बचन ब्रह्मवाची नहीं हैं। आपका यह कथन असंगत है। दोनों विभिन्न होते हुए भी एकार्थक हैं, इसलिए सिद्धान्त समर्थन में विरोध नही है। जैसे कि—"वृक्ष की फुनगी में बाज है' या 'वृक्ष के ऊपर बाज है' इस कथन में कोई अर्थ भेद नहीं है। इसलिए परम पुरुष के ही असीम तेज का 'परोदिवोज्योतिर्दीप्यते' ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

"एतावानस्य महिमा, अतोज्यायाँश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति प्रतिपादितस्य चतुष्पदः परमपुरुषस्य "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्याभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यपाकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिःशब्दाभिधेय इति निरवद्यम्।

"इसकी महिमा पुरुष नाम से भी महान है, इसके एक चरण में विश्व के समस्त भूत हैं तथा तीन अमृतमय चरण द्युलोक में व्याप्त हैं।" इस वाक्य के प्रतिपादित चतुष्पद परं पुरुष का ही "आदित्यवर्णं (ज्योतिर्मय) अज्ञानातीत इस महापुरुष को जानता हूँ" इस प्रकार अलौकिक वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि—अप्राकृत रूप संपन्न ज्योति भी अलौकिक ही है। इसलिए निर्दोष ब्रह्म ही ज्योति शब्दवाची है ऐसा सिद्ध होता है।

११. अधिकरण—

निरतिशय दीप्तियुक्तं ज्योतिष्शब्दाभिधेयं प्रसिद्धवन्निर्दिष्टम् परमपुरुष एवेत्युक्तं; इदानीं कारणत्वव्यामामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दाभिधेयोऽपि परमपुरुष एवेत्याह—

प्रसिद्ध की तरह निर्दिष्ट असीम दीप्तिमान् ज्योति परं पुरुष ही हैं ऐसा सिद्ध किया गया। अब कारण के अनुगत धर्म

ankurnagpal108@gmail.com

अमरता आदि की प्राप्ति के उपाय और उपास्य भाव से प्राप्त इन्द्र और प्राण आदि भी परब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन करते है।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ।१।१।२९॥

कौषीतकी ब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासि रिन्द्रस्य प्रियंधामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यारभ्य "वरवृणीष्व" इति वक्तारमिन्द्र प्रति "त्वमेव मे वरंवृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमंमन्यसे" इति प्रतर्दनेनोक्ते "स होवाच प्राणोऽस्मिन् प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति श्रूयते। तत्र संशयः, किमयं हिततमोपासनकर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव, उत तदतिरिक्तः परमात्मा इति। किं युक्तम् ?

कौषीतकि ब्राह्मण की प्रतर्दन विद्या में—'दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन, युद्ध और पौरुष के बल से इन्द्र के प्रिय भवन मे पहुँच गया" ऐसा प्रारभ करके—"तुम वर की प्रार्थना करो" ऐसा उपदेष्टा इन्द्र से "तुम ही मेरे वर हो, मुझे वह उपदेश देकर स्वीकारो जिसे कि मनुष्यों के लिए हितकर समझते हो 'ऐसा प्रतर्दन के कहने पर' उस इन्द्र ने कहा—मै ही प्रज्ञात्मक प्राण हूँ तुम मुझे अमृत और आयु समझ कर मेरी उपासना करो" ऐसा वर्णन किया गया है। साशय होता है कि—जो हिततम उपास्य इन्द्र हैं वो प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव है अथवा परमात्मा ?

जीव एवेति, कुत ? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेष एव प्रसिद्धेः तत्समानाधिकरणस्य प्राणशब्दस्यापि तत्रैव वृत्तेः। अयमिन्द्राभिधानो जीवः प्रतर्दनेन "त्वमेव मे वरंवृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमंमन्यसे" इत्युक्तः "मामुपास्व" इति स्वात्मोपासनं हिततममुपदिदेश। हिततमश्चामृतत्व प्राप्त्युपाय एव। जगत्कारणोपासनस्यैवामृतत्व प्राप्ति हेतुता—"तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इत्यवगता। अतः प्रसिद्ध जीवभाव इन्द्र एव कारणं ब्रह्म।

ankurnagpal108@gmail.com

(पूर्वपक्ष) जीव ही हो सकता है, क्योंकि—इन्द्र शब्द की जीव विशेष के रूप में प्रसिद्धि है और उसका सामानाधिकरण्य रूप प्राण भी उसी अर्थ का बोधक है। इन्द्र नामक जीव से प्रतर्दन ने कहा कि—"तुम्ही मेरे लिए श्रेष्ठ हो, मुझे वो उपदेश दो जो मनुष्य के लिए हितकारी हो" इस पर इन्द्र ने कहा—"मेरी ही उपासना करो" इस प्रसँग में हिततम आत्मोपासना का उपदेश दिया गया है। हिततम की उपासना ही अमृतत्व प्राप्ति का उपाय है। जगतकर्त्ता की उपासना, की अमृतत्त्व प्राप्ति हेतुता भी—"उसके मोक्ष मे तभी तक का विलम्ब है जब तक शरीर से छुटकारा नही मिलता, उसके बाद ही मोक्ष संपन्न होता है।" इस वाक्य से ज्ञात होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रसिद्ध जीवभाव को प्राप्त इन्द्र ही कारण ब्रह्म है।

इत्याशंकायामभिधीयते–प्राणस्तथानुगमात् इति, अयमिन्द्रप्राण शब्द निर्दिष्टो न जीवमात्रम्, अपि तु जीवादर्थान्तरभूतं परंब्रह्म। "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनंदोऽजरोऽमृतः" इतीन्द्रप्राणशब्दाभ्यांप्रस्तुतस्यानंदाजरामृतशब्द सामानाधिकरण्येनानुगमो हि तथा सत्येवोपपद्यते।

उक्त संशय की निवृत्ति के लिए ही "प्राणस्तथानुगमात्" सूत्र बनाया गया है। इन्द्र शब्द प्राण शब्दवाची भी है एक मात्र जीव विशेष का ही बोधक नही है अपितु जीव से भिन्न परमात्मवाची भी है। "यह प्रज्ञात्मक प्राण ही आनंद, अजर और अमृत स्वरूप है" इत्यादि वाक्य में इन्द्र और प्राण के लिए प्रस्तुत आनंद, अजर और अमृत शब्द का सामानाधिकरण्य सही ढंग से होता है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबंधभूमाह्यस्मिन् १।१।३०॥

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्द निर्दिष्टस्य "आनंदोऽजरोऽमृतः इत्यनेनैकार्थ्यादयं परंब्रह्मेति। तन्नोपपद्यते" मामेव विजानीहि" "प्राणोऽस्मिं प्रज्ञात्मा त मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति वक्ताहीन्द्रः "त्रिशीर्षणं त्वाष्ट्रमहनम्" इत्येवमादिना त्वाष्ट्रवधादिभिः प्रज्ञात

ankurnagpal108@gmail.com

जोवभावस्य स्वात्मन् एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति । अत उपक्रमे जोवविशेष इत्यवगते सति "आनंदोऽजरोऽमृतः" इत्यादिभिरुपसंहार-स्तदनुगुण एव वर्णनीय इति चेत् ।

जो यह कहा कि—इन्द्र प्राण शब्द "आनंद अजर अमर" से एकार्थक होने से ब्रह्म के ही बोधक हैं सो ठीक नहीं जंचता क्योंकि—"मुझे ही प्रज्ञात्मक प्राण जानो और मेरे इस अमृत आयुरूप की उपासना करो" ऐसा कहने वाले इन्द्र ने "तीन सिर वाले त्वष्ट्रा का मैंने बध किया" इत्यादि से ज्ञात त्वष्ट्रा के बधकर्त्ता होने से, जीव रूप अपने को ही उपास्य रूप से प्रतर्दन विद्या में उपदेश किया है। इस उपक्रम के अनुसार ही "आनंद अजर अमर" इस उपसंहारात्मक वाक्य की भी व्याख्या करनी चाहिए।

परिहरति—अध्यात्मसंबंध भूमाह्यस्मिन्आत्मनि यः संबंधः सो अध्यात्म सबंधः। तस्य भूमा-भृयस्त्वम्-बहुत्वमित्यर्थः । आत्म-न्याधेयतया संबंध्यमानानां बहुत्वेन संबध बहुत्वंम् । तच्चास्मि-न्वक्तरि परमात्मन्येव हि संभवति ।

उक्त संशय का परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—आत्मा का जो संबंध है वह अध्यात्म है जो कि—भूमा अर्थात् बाहुल्य बोधक है। आत्मा में आधेय रूप से जो अनेक गुणों का संबंध बाहुल्य दिखलाया गया है वह परमात्मा में ही संभव हो सकता है।

"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽजरोऽमृतः" इति भूतमात्राशब्देनाचेतनवस्तुजातमभिधाय प्रज्ञामात्रा शब्देन तदाधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभिधेयं निर्दिश्य तमेव "आनंदोऽजरोऽमृतः" इत्युपदिशति । तदेतच्चेतना चेतनात्मक कृत्स्नवस्त्वाधारत्वंजीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमात्म-न्येवोपपद्यत इत्यर्थः ।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि—"रथ के आराओं में नेमि बंधा रहता है आरा नाभि में बंधे रहते हैं, वैसे ही ये भूतमात्रायें, प्रज्ञामात्राओं में बंधी रहती हैं, प्रज्ञामात्रायें प्राण में बंधी रहती हैं, वह प्राण ही प्रज्ञात्म आनंद, अजर अमृत है" यहाँ भूतमात्रा से अचेतन वस्तुओं का निर्देश करके, प्रज्ञामात्र चेतनवर्ग को उसका आधार बतलाते हुए उसके भी आधाररूप इन्द्र को ही प्राण बतलाया गया है तथा उसे ही "आनंद अजर अमर" कहा गया है। अर्थात्–यह समस्त जड चेतनात्मक का आधार स्वरूप, जीव से विलक्षण परमात्मा का ही उपपादन किया गया है।

अथवा—अध्यात्मसंबधभूमाह्यस्मिन्-परमात्मा-साधारण धर्म-संबधोऽध्यात्म संबंधः। तस्य भूमा बहुत्वं हि अस्मिन् प्रकरणे विद्यते। तथाहि प्रथम "त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्व मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति। "मामुपास्स्व" इति च परमात्मासाधारण-मोक्षसाधनोपासनकर्मत्वं प्राणशब्दनिर्दिश्येन्द्रस्य प्रतीयते।

"अध्यात्मं संबंधभूमाह्यस्मिन्" का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि—परमात्मा की जो असाधारण विशेषतायें हैं वह उनके अतिरिक्त किसी अन्य में संभव नहीं हैं, इस प्रकरण में उनको ही बाहुल्य बोधक भूमा शब्द से निर्देश किया गया है। तभी तो—"मनुष्यों के लिए जिसे हिततम समझते हो उसे मुझे उपदेश करो "ऐसा प्रतर्दन के कहने पर" मेरी ही उपासना करो" ऐसा परमात्मा का असाधारण, मोक्ष का साधनीभूत उपासना कर्म प्राणशब्द वाची ब्रह्म के लिए ही बतलाया गया प्रतीत होता है।

तथा—"एष एव साधुकर्मं कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषति", इति सर्वस्य कर्मणः कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः।

तथा—"उन्ही से साधुकर्म कराते हैं, जिन्हे वे ऊर्ध्वगति देना चाहते हैं, जिन्हें नीचे गिराना चाहते हैं उनसे असाधु कर्म कराते हैं" इस श्रुति से ज्ञात होता है कि–असाधारण सभी प्रकार के कर्म कराने की सामर्थ्य परमात्मा की ही है।

ankurnagpal108@gmail.com

तथा–"तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावारा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" इतिसर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः।

तथा––"जैसे कि–रथ के आरों में निमि बंधी रहती है आरे नाभि से बंधे रहते हैं, वैसे ही भूतमात्रायें, प्रज्ञासात्राओं में बंधी रहती हैं तथा प्रज्ञामात्रायें प्राण में बंधी रहती हैं। इस श्रुति से परमात्मा की सर्वाधारकता भी ज्ञात होती है।

तथा–"स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनंदोऽजरोऽमृतः" इत्येतेऽपि परमात्मन् एव धर्माः। एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः" इति च परमात्मन्येव संभवति। तदेवमध्यात्मसंबंधभूम्नोऽत्र विद्यमानत्वात् परमात्मैवात्रेन्द्रप्राणशब्द निर्दिष्टः।

तथा—"वही प्राण, प्रज्ञात्मा, आनन्द अजर और अमर है" इत्यादि भी परमात्मा के ही धर्म निश्चित होते हैं। "यही लोकाधिपति यही सर्वेश्वर हैं" इत्यादि विशेषतायें भी परमात्मा में ही संभव हैं। इन सब से निश्चित होता है कि-अध्यात्म सबंध बोधक भूमा परमात्मा ही, उक्त प्रसंग में इन्द्र और प्राण शब्द से निर्दिष्ट है।

कथं तर्हि प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य स्वात्मन् उपास्यत्वोपदेशः संगच्छते ? तत्राह—

पुनः संशय करते हैं कि––यदि इन्द्र, जीवविशेष है तो फिर उसने अपनी उपासना का उपदेश कैसे दिया ? उस पर कहते हैं—

शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् १।१।३१॥

प्रज्ञात जीवभावेनेन्द्रेण "मामेव विजानीहि" "मामुपास्स्व" इत्युपास्यस्य ब्रह्मणस्स्वात्मत्वेनोपदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्त स्वात्मावलोकनकृतः, अपितु शास्त्रेण स्वात्मदृष्टि कृतः।

प्रसिद्ध जीव विशेष इन्द्र ने "मुझे ही जानो" मेरी ही उपासना करो" इत्यादि में जो अपने को ही उपास्य बतलाया है वह, शास्त्रोपदिष्ट

ankurnagpal108@gmail.com

आत्म दर्शन के भाव से कहा है। अन्य प्रमाणों में जो जीवात्म चिन्तन की बात है, उस भाव से नहीं कहा है।

एतदुक्तं भवति—"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"—अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा"—य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति"—एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एकोनारायणः"—इत्येवमादीनां शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादि शब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा "मामेव विजानीहि"—मामुपास्स्व" इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश।

कहने का तात्पर्य यह है कि—"इस जीव में स्वयं प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूँगा" ये सारा जगत परमात्मा रूप ही है—"प्राणिमात्र का आत्मा, अन्तः करण में विराज कर संयमन करता है"—जो कि जीवात्मा से भिन्न है, जीवात्मा जिसे नही जानता, आत्मा उसका शरीर है जो कि-आत्मा में रहकर आत्मा का सयमन करता है"—यही प्राणिमात्र के अन्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं" इत्यादि शास्त्र वाक्यों से जीवात्मा रूप शरीर वाले परमात्मा को जानकर, जीवात्मवाची अहं त्वं आदि शब्दों की अंतिम सीमा परमात्मा ही है, ऐसा समझकर "मुझे ही जानो" मेरी ही उपासना करो" इत्यादि में अपने आत्मा के शरीरी परमात्मा का उपास्यरूप से उपदेश दिया गया है।

वामदेववत्—यथा वामदेवः परस्यब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं' सर्वस्य च तच्छरीरत्वं, शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं पश्यन् "अहम्" इति स्वात्मशरीरकं परंब्रह्म निर्दिश्य, तत्समानाधिकरण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपिदिशति "तद्धैतत्पश्यन्नृषि-

ankurnagpal108@gmail.com

वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः" इत्यादिना। यथा च प्रह्लादः" सर्वगतत्वादनंतस्य स एवाहंमवस्थितः मत्तः सर्वमहं सर्वमपि सर्वं सनातने" इत्यादि वदति।

जैसे कि वामदेव ऋषि ने, परब्रह्म को सर्वान्तर्यामी जीवात्मा का शरीरी कहा है-शरीरवाची शब्दों की अंतिम सीमा जानकर, आत्मशरीरी परब्रह्म की ओर लक्ष्य करके उन्होंने "अहं" शब्द से सूर्य मनु आदि का समानाधिकरण बतलाया है। उन्होंने प्रसिद्ध ब्रह्म तत्व का उपदेश करते हुए कहा कि--"मैं ही सूर्य और मनु हुआ और मैं ही कक्षीवान् ऋषि हूं" इत्यादि। ऐसे ही प्रह्लाद ने भी कहा था "अनंत ब्रह्म सर्वगत हैं, मैं भी उन्हीं में स्थित हूं, मुझसे ही सारा जगत हुआ है।"

अस्मिन् प्रकरणे जीववाचिभिश्शब्दैरचित्विशेषाभिधायिभिश्चोपास्यभूतस्य परस्यब्रह्मणोऽभिधाने कारणं चोद्यपूर्वकमाह—

इस प्रकरण में जीव वाची शब्दों तथा अचिद्विशेषाभिधायि शब्दों द्वारा उपास्य ब्रह्म का उपदेश दिया गया है, इसी तथ्य को शंका समाधान पूर्वक पुनः कहते हैं—

जीवमुख्यप्राण लिंगान्नेति चेन्नोपासत्रैविध्याद्दाश्रितत्वादिह तद्योगात् १।१।३२॥

"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् "अरुन्मुखान्यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इत्यादि जीवलिंगात् "यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसतितावदायुः" अथखलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" इति मुख्य प्राण लिंगाच्च नाध्यात्मसंबंधभूमेति चेत्-न, उपासात्रैविध्यात् हेतोः, उपासनात्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानम्-निखिल कारणभूतस्य ब्रह्मणः स्वरूपेणानुसंधानम्, भोक्तृवर्ग शरीरकत्वानुसंधानं भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुसंधानंचेति, त्रिविधमनुसंधानमुपदेष्टुमित्यर्थः।

ankurnagpal108@gmail.com

"वाक्य विषयक जिज्ञासा मत करो वाचक को जानने की चेष्टा करो" तीन शिर वाले, त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारा "वेदानभिज्ञ यतियों को गृहपालित कुत्तों की तरह दिया" इत्यादि जीववाची प्रमाणों तथा "इस शरीर में जब तक प्राण रहते हैं तभी तक शरीर की आयु होती है" प्रज्ञात्मक प्राण ही शरीर को सहारा देकर उठाता है" इत्यादि मुख्य प्राण वाची प्रमाणों से सिद्ध होता है कि-अध्यात्म सम्बन्धी बाहुल्य ही शास्त्रों का अभिधेय नहीं है। उक्त कथन उपयुक्त नहीं है—क्यो कि शास्त्रों में तीन प्रकार की उपासना बतलाई गई है (१) निखिल कारण स्वरूप ब्रह्म का उसके रूप में ही अनुसंधान (२) भोक्ता शरीरक जीवात्मा का अनुसधान (३) भोग्य शरीर का अनुसंधान। अर्थात् तीन प्रकार के अनुसंधानों का उपदेश मिलता है।

तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसंधानं प्रकरणान्तरेष्वप्याश्रितम्— "सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" "आनंदोब्रह्म" इत्यादिषु स्वरूपानुसंधानम्। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं, सत्यं चानृतं च, सत्यमभवत्।" इत्यादिषु भोक्तृशरीरतया, भोग्यभोगोपकारणशरीरतया चानुसंधानम्। इहापि प्रकरणे त्रिविधमनुसंधानं युज्यंत एवेत्यर्थः।

उक्त तीनों प्रकार के अनसंधानों का वर्णन विभिन्न श्रुतियो में मिलता है—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है "ब्रह्म आनन्द स्वरूप है" इत्यादि श्रुतियों में स्वरूपानुसंधान का निर्देश है। "उसकी रचना करके उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रविष्ट होकर सत् और त्यत् (परोक्ष अपरोक्ष) निरुक्त और अनिरुक्त (वाच्य और अनिर्वाच्य) निलयन और अनिलयन (आश्रित और अनाश्रित) विज्ञान और अविज्ञान (चेतन और जड़) सत्य और असत्य हुये" इत्यादि श्रुति, भोक्ता जीव और भोग्य शरीर के रूप में अनुसधान का उपदेश देती है। इस इन्द्र प्रणादि प्रकरण में भी त्रिविध ब्रह्मानुसधान का ही उपदेश है, ऐसा मानना चाहिये।

ankurnagpal108@gmail.com

एतदुक्तं भवति—यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचेतनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगतदभिधायिनां शब्दानांपरमात्मवाचिशब्दैः सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते। तत्र परमात्मानः तत्तच्चिदाचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसंधानं प्रतिपिपादयिषितम्-इति। अतोत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टोजीवादर्थान्तरभूतः परमात्मैवेति सिद्धम्।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जहाँ परमात्मा की असाधारण विशेषताओं के साथ हिरण्यगर्भ आदि विशिष्ट जीवों का अथवा प्रकृति आदि विशिष्ट अचेतनों का योग दिखलाई देता है अथवा हिरण्यगर्भ आदि विशिष्ट जीवों के वाचक या प्रकृति आदि शरीर वाचक शब्दों का, परमात्म सम्बन्धी शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य दिखलाया गया है, उससे समझना चाहिए कि परमात्मा के इन दोनों जड़ और चेतन रूपों के आत्मानुसंधान का प्रतिपादन किया गया है।

इससे निश्चित होता है कि—उक्त प्रकरण में भी, जीव से विलक्षण परमात्मा का ही, इन्द्र प्राण आदि शब्दों से प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम पाद समाप्त

---

ankurnagpal108@gmail.com

[प्रथम अध्याय]

[द्वितीय पाद]

प्रथमपादे अधीतवेदः पुरुषः कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्म याथात्म्यविज्ञानः केवल कर्मणामल्पास्थिरफलत्वमवगम्य वेदांतवाक्येषुचापातप्रतीतानंतस्थिरफल ब्रह्मस्वरूप तदुपासनसमुपजातपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्षापेक्षोऽवधारित परिनिष्पन्न वस्तुबोधनशब्दशक्तिः वेदांतवाक्यानां परस्मिन्ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणाभावस्तदितिकर्त्तव्यतारूपशारीरकमीमांसा श्रवणमारंभेतेत्युक्तं शास्त्रारंभ सिद्धये।

प्रथमपाद मे कहा गया कि–वेदाध्ययन के उपरान्त कर्ममीमांसा के श्रवण करने पर कर्म सम्बन्धी ज्ञान होता है और धारणा बनती है कि–उपासना हीन कर्म का फल अल्प और अस्थिर है तथा वेदांत वाक्यो का मनन करने पर धारणा बनती है कि–ब्रह्म स्वरूप की अवगति ही अनन्त और स्थिर फल दायक है, तभी परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति की अभिलाषा से ब्रह्मतत्व के जानने की आकांक्षा होती है। स्वतः सिद्ध परब्रह्म को प्रमाणित करने में एकमात्र शास्त्र ही सक्षम हैं। परब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रवाक्यों से ब्रह्म स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने वाले शारीरक ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन की ओर स्वाभाविक रुचि होती है, ऐसा शारीरक मीमांसा की भूमिका में ही बतलाया गया।

अनंत विचित्रस्थिरत्रसरूप भक्तृभोग्यभोगोपकरण भोगस्थानलक्षणनिखिलजगदुदयविभवलयमहानंदैककारणंपरंब्रह्म "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्यं बोधयतीति च प्रत्यपादि।

ankurnagpal108@gmail.com

अनन्त विचित्रतापूर्ण, भोग्य, भोक्ता, भोगोपकरण और भोग स्थानमय संपूर्ण जगत की उत्पत्ति–स्थिति और लय के एकमात्र कारण, आनन्दमय परब्रह्म ही है'–ऐसा—"यतोवा इमानि" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, इस तथ्य का भी उसी जगह प्रतिपादन किया गया।

जगदेककारणं परब्रह्म सकलेतरप्रमाणाविषयतया शास्त्रैक प्रमाणकमित्यभ्यधाम ।

जगत के एकमात्र कारण परमात्मा किसी अन्य प्रमाणों से प्रमाणित नहीं हो सकते, उनको जानने के लिए शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं, इसका भी निर्णय किया गया।

शास्त्रप्रमाणकत्वंच ब्रह्मणः प्रवृत्तिनिवृत्यन्वयविरहेऽपि स्वरूपेणैव परमपुरुषार्थभूते परस्मिन्ब्रह्मणि वेदांतवाक्यानां समन्वयान्निरुह्यत इत्यब्रूम ।

शास्त्र में प्रायः विधि और निषेधात्मक दोनों ही प्रकार के वाक्य मिलते हैं, किन्तु ब्रह्म की प्रामाणिकता में दोनों ही एक ही तथ्य "स्वरूप प्राप्ति" रूप परम पुरुषार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं।

निखिलजगदेककारणतया वेदांतवेद्यंब्रह्म च ईक्षणादन्वयादानुमानिकप्रधानादर्थान्तरभूतश्चेतनविशेष एवेत्युपपादीयताम् ।

वेदांत वेद्य परब्रह्म, ईक्षण आदि विशेषताओं के कारण ही जगत की आनुमानिक कारण प्रधान (प्रकृति) से भिन्न, संपूर्ण जगत् के एकमात्र कारण हैं, इसका भी उपपादन हुआ।

स च स्वाभाविकातिशयानंदविपश्चित्वनिखिलचेतनभयाभय हेतुत्वसत्यसंकल्पत्वसमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मत्वादिभिर्बद्धमुक्तो भयावस्था जीवशब्दाभिलपनीयाचार्थान्तरभूत इति च समर्तिं थामहि ।

ankurnagpal108@gmail.com

और वही स्वाभाविक, निस्सीम, आनन्दमय विपश्चित् संपूर्ण जीवों को भय और अभय देने वाले, सत्य संकल्प, समस्त जड़ चेतनात्मक जगत के अन्तर्यामी परब्रह्म; बद्ध और मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा से विलक्षण हैं—इसका भी समाधान किया गया—

स चाप्राकृताकर्मनिमित्तस्वासाधारणदिव्यरूप इत्युदैरिराम्।

वह अप्राकृत और शुभाशुभ कर्मों के अधीन नहीं हैं, वह तो असाधारण सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं, इसका भी उल्लेख किया गया।

आकाशप्राणाद्यचेतनविशेषाभिधायिभिर्जगतकारणतया प्रसिद्धवन्निर्दिश्यमानःसकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स एवेति समगरिष्महि।

अचेतन वाचक आकाश-प्राण आदि शब्द, जगत कारण रूप से प्रसिद्ध की तरह निर्दिष्ट हैं जो कि जड़-चेतन से विलक्षण परमात्मा के ही द्योतक हैं, यह भी कहा गया।

परतत्त्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तज्योतिश्शब्दाभिधेयो द्युसंबंधितया प्रत्यभिज्ञानात स एवेत्यातिष्ठामहि।

वह परब्रह्म ही असाधारण अतिशय ज्योति स्वरूप हैं, ऐसा ज्योति वाचक वेदांत वाक्यों के लिए निर्णय किया गया।

परमकारणासाधारणामृतत्वप्राप्ति हेतुभूतः परमपुरुष एव शास्त्रदृष्ट्येन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्यब्रूमहि।

परम कारण परब्रह्म की जो असाधारण विशेषता, अमरता है, उसकी प्राप्ति का हेतु भी परब्रह्म ही है, जो कि शास्त्रों में इन्द्र इत्यादि नामों से उपास्य है, यह बतलाया गया।

तदेवमप्रतिपतितसकलेतरप्रमाणसंभावनाभूमिस्सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरतयास्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः परंब्रह्म-पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदांतवेद्य इत्युक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

प्रमाण सम्बन्धी समस्त संभावनाओं से अतीत, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, अपरिमित उदारगुणों के सागर समस्त पदार्थों से विलक्षण परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही वेदांत वेद्य हैं, ऐसा कहा गया।

अतः परं द्वितीय-तृतीयचतुर्थेषुपादेषु यद्यपि वेदांतवेद्य ब्रह्मैव, तथापि कानिचिद् वेदांतवाक्यानि प्रधानक्षेत्रज्ञान्तभूत वस्तुविशेषस्वरूपप्रतिपादनपराण्येवेत्याशंक्य तन्निरसनमुखेन तत्तद्-वाक्योदितकल्याणगुणाकरत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते।

इसके बाद अग्रिम दूसरे तीसरे और चौथे पाद में यद्यपि वेदांत-वेद्य ब्रह्म का प्रतिपादन किया जावेगा, तथापि कुछ वेदांत वाक्य, प्रकृति और क्षेत्रज्ञ (जीव) का प्रतिपादन करते हुए से दीखते हैं, इस संशय का निराकरण करके, कल्याणमय गुणों के धाम ब्रह्म ही उन वाक्यों के प्रति-पाद्य हैं, ऐसा दिखलाया जावेगा।

तत्रास्पष्टजीवादिलिंगकानिवाक्यानि द्वितीयेपादे विचार्यन्ते, स्पष्टलिंगकानितृतीये, तत्तत्प्रतिपादनच्छायानुसारीणि चतुर्थे।

अस्पष्ट जीवादि लिंगक वाक्यों का द्वितीय पाद में, स्पष्ट जीवादि लिंगक वाक्यों का तृतीयपाद में तथा जीवादि प्रतिपादक वाक्यों के से आभास युक्त वाक्यों का चतुर्थपाद में विचार किया गया है।

१ अधिकरण—

सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ।१।२।१॥

इदमाम्नायते छांदोग्ये "अथखलुक्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुर-स्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनो-मयः प्राणशरीरः भारूपः" इत्यादि। अत्र "स क्रतुंकुर्वीत" इति प्रति-पादितस्योपासनस्योपास्यः "मनोमयः प्राणशरीरः" इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"पुरुष निश्चय ही क्रतुमय (संकल्प प्रधान) होता है इस लोक में वह जैसा संकल्प करता है,

ankurnagpal108@gmail.com

मरणोत्तर उसकी तदनुसार ही गति होती है, वह पूर्वजन्मानुसार ही आगे भी संकल्प करता है, उसका मनोमय प्राण शरीर ज्योति रूप है।" इत्यादि वाक्य के "वह संकल्प करता है" इस वाक्यांश में प्रतिपादित उपासना के उपास्य को "मनोमय प्राण शरीर" रूप से बतलाया गया है।

तत्र संशयः-किं मनोमयत्वादिगुणकक्षेत्रज्ञः उत् परमात्मा इति ?

इस पर संशय होता है कि-मनोमय आदि गुणों वाला जीवात्मा है अथवा परमात्मा ?

किं युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति। कुत ? मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, परमात्मनस्तु "अप्राणो ह्यमनाः" इति तत्प्रतिषेधाच्च न च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया संबद्धुं शक्यते। "शान्त उपासीत" इत्युपासनोपकरण शान्तिनिवृत्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपात्तत्वात्।

क्षेत्रज्ञ ही हो सकता है, क्यों कि मन और प्राण जीवात्मा के ही उपकरण हैं। परमात्मा को तो "अप्राण अमन" इत्यादि वाक्यों में प्राण मन रहित बतलाया गया है। 'यह सारा जगत ब्रह्म है" इस पूर्व वाक्य निर्दिष्ट ब्रह्म ही यहाँ उपास्य रूप से बतलाए गए हों, ऐसा भी नहीं है"; शांत भाव से उपासना करो "इस वाक्य में उपासना की सहायिका शांति बतलाई गई है तथा ब्रह्मात्मैकत्व प्राप्ति के उपाय के रूप से शांति संपादन का उपदेश दिया गया है [अर्थात् मन में शान्ति का आश्रय है इसलिए आश्रय रूप मन ही उपासना का उपकरण सिद्ध होता है यदि मन को परमात्मा मानलेंगे तो साध्य साधन की एकता सिद्ध होगी, जो कि अनियमित बात है]

न च "सक्रतुं कुर्वीत" इत्युपासनस्योपास्यसाकांक्षत्वाद् वाक्यांतरस्थमपिब्रह्म संबद्धयत इति युक्तं वक्तुं, स्ववाक्योपात्तेन मनोमयत्वादिगुणेन निराकांक्षत्वात्। "मनोमयः प्राण शरीरः" इत्य-

ankurnagpal108@gmail.com

नन्यार्थतया निर्दिष्टस्य विभक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकांक्षा निवृत्तिसिद्धेः। एवं निश्चिते जीवत्वे "एतद्ब्रह्म" इत्युपसंहारस्य ब्रह्मपदमपि जीव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यध्यवसीयत इति।

"वह यज्ञ करेगा" इस श्रुति में जो उपासना विहित है, वह उपास्य सापेक्ष है, अन्य वाक्य में भी जो उपास्य ब्रह्म का उल्लेख मिलता है, उसका भी इससे सम्बन्ध है; ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि-प्रासंगिक वाक्य में "मनोमय" आदि गुण से, उपास्य के रूप का भली-भांति ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसके जानने की आकांक्षा तो रहती नहीं। "मनोमय प्राणशरीर" इत्यादि वाक्यांश में उक्त तात्पर्य के प्रतिपादन के लिए, एकमात्र विभक्ति विपरिणाम से (अर्थात् प्रथमा के स्थान पर द्वितीया विभक्ति कर देने मात्र से) उपास्य, उपासना दोनों की आकांक्षा निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार जीवत्व के निश्चित हो जाने पर "यह ब्रह्म है" इस उपसंहार वाक्यांश में "ब्रह्म" शब्द जीववाची ही निश्चित होता है, जो कि—एकमात्र उत्कर्ष बतलाने के लिए प्रयोग किया गया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्—मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा। कुतः ? सर्वत्र—वेदांतेषु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात्। प्रसिद्ध हि मनोमयत्वादि ब्रह्मणः। यथा—"मनोमयः प्राणशरीरनेता" स एषोऽन्तर्हृदय आकाश, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतोहिरण्मयः "हृदामनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवंति" "न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा "मनसा तु विशुद्धेन' तथा "प्राणस्य प्राणः" अथखलु प्राण एवं प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योथापयति "सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इत्यादिषु। मनोमयत्वं विशुद्धेन मनसा ग्राह्यत्वम्। प्राणशरीरत्वं—प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च।

उक्त संशय पर सूत्रकार सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् सूत्र का उपदेश करते हैं। अर्थात् मनोमयत्व आदि गुण वाला परमात्मा ही है, क्योंकि-

ankurnagpal108@gmail.com

सभी वेदांत वाक्यों में मनोमयत्वादिका, परब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध प्रयोग किया गया है। मनोमयत्व आदि गुण ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध हैं जैसे कि—"मनोमय परमात्मा ही प्राण और शरीर का परिचालक है" वही हृदयस्थ आकाश है, उसी से मनोमय, ज्योतिर्मय और अमृतमय यह पुरुष वर्त्तमान है" वह भक्ति और धृति संपन्न मन से ही ग्राह्य है" जो इस बात को जानता है वही मुक्त हो जाता है। "उसे नेत्र या वाणी से नहीं जान सकते" वह तो विशुद्ध मन से ही ग्राह्य है "जो कि प्राणों का प्राण है" प्रज्ञात्मक प्राण ही इस शरीर को ग्रहण कर परिचालित करता है। "ये सारे भूत, इस प्राण में ही लीन और प्राण से ही प्रकट होते हैं" इत्यादि। वस्तुतः विशुद्ध मन से ग्रहण करना ही मनोमयता है। प्राण शरीरत्व का तात्पर्य है प्राण की धारकता और नियामकता।

एवं च सति—"एष मे आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म" इति ब्रह्म शब्दोऽपि मुख्य एव भवति। "अप्राणो ह्यमनाः" इति मनआयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तः स्थिति च ब्रह्मणो निषेधति।

इस प्रकार "यह जो हृदयस्थ आत्मा है वही ब्रह्म है" इस वाक्य में ब्रह्म शब्द भी मुख्य ही सिद्ध होता है "अप्राण अमन" इत्यादि वाक्य ब्रह्म सम्बन्धी मन आयत्त ज्ञान और प्राणायत्त स्थिति का निषेध करता है।

अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" इत्यत्रैवोपासनं विधीयते-सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीतेति। "सक्रतुं कुर्वीत" इति तस्यैव गुणोपादनार्थोऽनुवादः। उपादेयाश्च गुणामनोमयत्वादयः, यतस्सर्वात्मकंब्रह्म मनोमयत्वादि गुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः।

अथवा "यह सारा जगत ब्रह्म ही है, उन्हीं से उत्पन्न और उन्हीं में लीन हो जाता है, शान्तभाव से उनकी उपासना करो" इस वाक्य में, सर्वात्मक ब्रह्म की शान्तभाव से उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपासना

ankurnagpal108@gmail.com

का प्रकार बतलाया गया है। "वह क्रतु (चिन्तन) करता है" इत्यादि वाक्य उपास्य ब्रह्म के गुण प्रकाश का प्रतिपादक मात्र है। ब्रह्म के मनोमयत्व आदि गुण ही उपादेय हैं, सर्वात्मक ब्रह्म की मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट रूप से ही उपासना करनी चाहिए, यही युक्तियुक्त वाक्यार्थ है।

तत्र संदेहः—किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते उत परमात्मा-इति किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति, कुतः? तस्यैव सर्वपद सामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः। सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत्। ब्रह्मादि भावश्च प्रत्यगात्मनोऽनाद्य-विद्यामूलकर्मविशेषोपाधिकोविद्यत एव, परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधस्य समस्त हेयाकर सर्वभावो नोपपद्यते। प्रत्यगात्मन्यपि क्वचिद् क्वचिद् ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते। अत एव परमात्मा परंब्रह्मेति परमेश्वरस्य क्वचित् सविशेषणो निर्देशः। प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्वृहत्वं च विद्यते "स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रुतेः। अविदुषस्तस्यैव कर्म-निमित्त त्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते। तदयमर्थः—अयं जीवात्मा स्वतोऽपरिच्छन्न स्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्स-न्ननाद्यविद्यया देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनाऽवतिष्ठते-इति।

इस पर भी यह संशय तो शेष रही जाता है कि—ब्रह्म शब्द जीवात्मा वाची है अथवा परमात्मावाची। कह सकते हैं कि जीवात्मा वाची है, क्योंकि-सर्व शब्द के साथ प्रत्यक् शब्द का सामानाधिकरण्य हो सकता है। सर्व शब्द से ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त संपूर्ण जगत का निर्देश किया गया है, अनादि अविद्या मूलक, विशेष कर्म निबंधक, जीव का ब्रह्मात्मभाव भी सर्व शब्द में निहित है। पर ब्रह्म में तो, सर्वज्ञ-सर्व शक्ति सम्पन्न-निष्पाप होने से अविद्या जन्य दोषों की गंध भी संभव नहीं है, इसलिए उसमें हेय कर्मों का सम्बन्ध सर्वथा असम्भव है।

ankurnagpal108@gmail.com

जीवात्मा के लिए भी कही कहीं ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है। परमात्मा परमेश्वर को तो विशेषण युक्त "परब्रह्म" शब्द से ही स्मरण किया गया है। जीवात्मा भी जब कर्म बन्धन शून्य होता है तब उसमे भी बृंहत्व रहता है। जैसा कि—"सचानत्याय कल्पते" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है। जगत् का जन्म स्थिति और लय निश्चित ही कर्मजन्य है, अतः ज्ञानरहित जीवात्मा का ही "तज्जलानि" इत्यादि में निर्देश प्रतीत होता है। उक्त श्रुति का तात्पर्य है कि—जीवात्मा स्वभाव से अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप है वह अनादि अविद्यावश, देवता मनुष्य पशु, पक्षी स्थावर आदि रूपों मे स्थित रहता है।

अत्र प्रतिविधीयते—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्-सर्वत्र-"सर्वं खल्विदं" इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्म शब्देन तदात्मतया विधीयमानं परंब्रह्मैव न प्रत्यगात्मा। कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात् "तज्जलान्" इति हेतुतः "सर्वं खल्विदं ब्रह्मैव" इति प्रसिद्धवदुपदेशात्।

ब्रह्मणोजातत्वाद्ब्रह्मणि लीनत्वाद्ब्रह्माधीनजीवनत्वाच्च हेतो ब्रह्मात्मकं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदांतेषु प्रसिद्धाः तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते। तच्च परमेव ब्रह्म, तथाहि, "यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" इत्युपक्रम्य "आनदो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनंदाध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते" इत्यादिना पूर्वानुवाकप्रतिपादितानवधिकातिशयानंदयोगिनोविपश्चितः परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिस्थितिलया निर्दिश्यन्ते; तथा "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति कारणाधिपस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते। एवं सर्वत्र परस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम्।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय के निवारणार्थ सूत्रकार "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् सूत्र कहते हैं—जिसका तात्पर्य है कि-"सर्वं खल्विदं" इत्यादि श्रुति में जगद् रूप से निर्दिष्ट ब्रह्म शब्द जीववाची नहीं है अपितु परमात्मावाची ही है। क्योंकि-प्रसिद्ध परब्रह्म का जैसा जगत् कर्त्ता का निर्देश किया गया है "उससे उत्पन्न और लीन होता है" ऐसा हेतु बतला कर "सारा जगत ब्रह्म है" ऐसा परमात्मा सम्बन्धी प्रसिद्ध सा निर्देश है।

ब्रह्म से उत्पन्न होने से, ब्रह्म में लीन होने से, ब्रह्माधीन जीवन होने से ही यह सारा जगत ब्रह्मात्मक है, वेदांत वाक्यो में जगत का जन्म स्थिति और लय ब्रह्म में ही बतलाया गया है इसलिए उक्त प्रसंग में ब्रह्म ही जगत कर्त्ता प्रतीत होता है। जैसे कि "जिससे यह सारा भूत समुदाय उत्पन्न है, तथा जिससे जीवित है और लय होकर जिसमें प्रविष्ट होता है उसे जानो वही ब्रह्म है" ऐसा उपक्रम करते हुए "आनन्द को ही ब्रह्म जानो, आनन्द से ही यह सारा भूत समुदाय उत्पन्न होता है" इत्यादि से पूर्वोक्त निरवधि निरतिशय आनन्द सपन्न विपश्चित परब्रह्म में ही जगत की सृष्टि इत्यादि बतलाई गई है। तथा "वही कारण एव करणाधिपो के भी अधिपति हैं, जनका कोई भी जनक या अधिपति नही है" इस वाक्य में इन्द्रियो के स्वामी जीव का अधिपति ब्रह्म को ही बतलाया गया है। इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा की ही सर्व कारणता प्रसिद्ध है।

अतः परब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन् प्रलीनत्वात्तेन प्राणनात्तदात्मकतया तादात्म्यमुपपन्नम्। अतः "सर्वं प्रकारं सर्वशरीरं सर्वात्मभूतं परंब्रह्म शांतोभूत्वोपासीतेति श्रुतरेव परस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति। परंब्रह्म हि कारणावस्थं सूक्ष्मस्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम्। एवम्भूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्यब्रह्मणः सकलहेयप्रत्यनीककल्याण गुणाकरत्व न विरुध्यते प्रकारभूत शरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्य प्रसंगात्, प्रत्युत निरतिशयैश्वर्यापादनेन गुणायैव भवतोति पूर्वमेवोक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकार परब्रह्म से उत्पन्न होने से, उन्ही में लीन होने से और उन्ही से प्राणित होने से जगत की तदात्मकता सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार "सर्व प्रकार, सर्व शरीर, सर्वात्मभूत परब्रह्म की शान्त रूप से उपासना करो" इत्यादि श्रुति परब्रह्म की सर्वात्मकता का उपपादन करके उनकी उपासना का उपदेश करती है। परब्रह्म ही, कारणावस्थ और कार्यावस्थ सूक्ष्म-स्थूल चेतन-जड़ शरीर धारण करने से सर्वात्मभूत हैं। ऐसे तादात्म्य प्रतिपादन से परब्रह्म के हेय और उत्तम गुणों में कोई विरुद्धता नहीं होती। उक्त शरीर उन्हीं के प्रकार अर्थात् विशेषण रूप हैं। विशेषणगत दोषराशि कभी प्रकारी विशेष्य में संभव नहीं है, अपितु वह अत्यधिक ऐश्वर्य शाली परमात्मा की गुण स्वरूप होगी; ऐसा हम पहिले ही कह चुके हैं।

यदुक्तं जीवस्य सर्वतादात्म्यमुपपद्यत इति, तदसत्, जीवानां प्रतिशरीरं भिन्नानामन्यतादात्म्यासम्भवात्। मुक्तस्याप्यनवच्छिन्न स्वरूपस्यापि जगत्तादात्म्यं जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न संभवतीति "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इत्यत्र वक्ष्यते।

जीवकर्मनिमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां स एव कारण-मित्यपि न साधीयः, तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वात्। अतः परमात्मैवाऽत्र ब्रह्मशब्दाभिधेयः। इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्यन्ते। यथाह वृत्तिकारः "सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेशः"।

जो यह कहते हैं कि—जीव का सबसे तादात्म्य हो सकता है यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जीवों का अनेक शरीरों में आश्रय रहता है इसलिए उनमें परस्पर तादात्म्य कभी संभव नहीं है। मुक्तात्मा जीव का भी, जगत्जन्मस्थितिलयकारणत्व निमित्तक तादात्म्य संभव नहीं है, सूत्रकार "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" सूत्र में मुक्तात्मा को जागतिक व्यापारों से रहित बतलाते हैं।

जीव का कर्म ही, जगत की सृष्टि स्थिति और लय का निमित्त कारण होता है, वही जीव जगत का उपादान कारण भी हो, ऐसा संभव नहीं है। जीव के कर्मानुसार ईश्वर जगत की रचना करता है, अतएव

ankurnagpal108@gmail.com

वही जगत का कारण है। उक्त प्रसंग में परमात्मा ही ब्रह्म शब्द से अभिदेय हैं। हमारे द्वारा किये गये इस सूत्रार्थ को ही विद्वज्जन मानेंगे, जैसा कि वृत्तिकार का भी मत है—"सर्वंखलु "इत्यादि में सर्वात्मा ईशही ब्रह्म हैं"।

विवक्षित गुणोपपत्तेश्च १।२।२॥

वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते "मनोमयः प्राण-शरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति। मनोमयःपरि-शुद्धेन ,मनसैकेन ग्राह्यः। विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीत परमात्मोपासन निर्मलीकृतेन हि मनसा गृह्यते। अनेन हेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानतया सकलेतरविलक्षणस्वरूपतोच्यते, मलिनमनोभि-र्मलिनानामेव ग्राह्यत्वात्। प्राणशरीरः जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः। प्राणो यस्य शरीरम् आधेयं विधेयं शेषभूतं च स प्राण शरीरः। आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि शरीरशब्द प्रवृत्तिनिमित्तानी-त्युपपादयिष्यते। भारूपः = भास्वररूपः अप्राकृत स्वासाधारण निरतिशयकल्याण दिव्यरूपत्वेन निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः सत्य संकल्पः = अप्रतिहत् संकल्पः। आकाशात्मा = आकाशवत्सूक्ष्म-स्वच्छस्वरूपः, सकलेतरकारणभूतस्याकाशस्याप्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा स्वयं च प्रकाशते अन्यानपि प्रकाशयतीति वा अकाशात्मा सर्वकर्मा = क्रियत इति कर्म, सर्वंजगद्यस्यकर्म, असौ सर्वकर्मा; सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा। सर्वकामः = काम्यन्त इति कामाः, सर्वगंधः भोग्यभोगोपकरणादयः, ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्ती-त्यर्थः। सर्वरसः = "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्राकृतगंधरसादिनिषे-धाद् प्राकृताः स्वासाधारणानिरवद्याः निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्य-भूताः सर्वविधा गन्धरसाः तस्य सन्तीत्यर्थः। सर्वमिदमभ्यात्तः =

ankurnagpal108@gmail.com

उक्तंरसपर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान्। "अभ्यात्तः" इति "भुक्ताः ब्राह्मणाः" इतिवत् कर्त्तरिक्तः प्रतिपत्तव्यः। अवाकी = वाकः = उक्तिः, सोऽस्यनास्तीत्यवाकी। कुत इत्याह, अनादर इति, अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादर रहितः। अतएव अवाकी = अजल्पाकः, परिपूर्णैश्वर्यादब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीन इत्यर्थः। त एते विवक्षिताः गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते।

वेदांत वाक्यों में कहे गये गुण, परमात्मा के लिए ही उपयुक्त हैं। "मनोमय, प्राणशरीर, ज्योतिरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस, जगद्व्यापी, वाक्यहीन, अनादर" इत्यादि श्रुत्युक्त गुण, परमात्मा में ही समुचित रूप से घटते हैं। मनोमय का तात्पर्य है, एक मात्र शुद्ध मन से ही ग्राह्य अर्थात् विवेक, विमोक आदि सात साधनों से निर्मल मन से परमात्मा की उपासना संभव है। इससे ज्ञात होता है कि श्रेष्ठ गुणों के खान विलक्षण स्वरूप परमात्मा ही हो सकते हैं; मलिन मन से तो मलिन पदार्थो का ही ग्रहण हो सकता है। प्राण शरीर का अर्थ है संसार के समस्त प्राणों के धारक; प्राण जिसके आधेय-विधेय और शेषत्व का संपादन करे उसे प्राण शरीर कहते हैं। आधेयत्व, विधेयत्व और शेषत्व ही, "शरीर" शब्द के व्यवहार का निदान है, ऐसा आगे उपपादन करेंगे। भारूप का अर्थ है—उज्ज्वल-रूपसंपन्न, अर्थात् उनका अपना रूप, अप्राकृत-असाधारण और निरतिशय कल्याणमय होने से सर्वापेक्षा दीप्तियुक्त है। सत्यसंकल्प का तात्पर्य है अनिवार्य इच्छा। आकाशामा का तात्पर्य है—आकाश के समान सूक्ष्म स्वच्छ स्वरूप, अथवा अन्यान्य समस्त पदार्थो के कारण स्वरूप आकाश का अन्तर्यामी, अथवा जो स्वयं प्रकाशवान होते हुए अन्यों को प्रकाशित करता है। सर्वकर्मा का तात्पर्य है—जो किया जायें, ऐसा समस्त संसार रूप कर्मवाला अथवा समस्त क्रियायें ही जिसका कर्म है। सर्वकाम का तात्पर्य है—जिससे कामना होती है वे भोग्य पदार्थ और भोग के साधन काम्यपदार्थ तथा उनकी प्राप्ति की इच्छा को काम कहते हैं, उस परमात्मा के वे सारे काम्य विषय आसक्तिरहित होने से विशुद्ध हैं,

ankurnagpal108@gmail.com

इसलिये वे सर्वकाम हैं। सर्वगंध सर्वरस का तात्पर्य है–"अशब्द अस्पर्श" आदि वाक्य में प्राकृतगंध रस आदि का निषेध किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि उस परमात्मा में स्वतंत्र भोगोपयोगी निर्दोष, निस्सीम, कल्याणमय, अलौकिक, असाधारण अनोखे गंधरस आदि विद्यमान हैं। सर्वमिदमभ्यात्त का तात्पर्य है कि-उपर्युक्त सभी कल्याणमय गुणों से उद्भूत विशेषताओं को वह स्वेच्छा से स्वीकारते हैं। "भुक्ताः ब्राह्मणा" वाक्य की तरह अभ्यात्त में भी कर्त्ता में क्तप्रत्यय है जिसका तात्पर्य होता है कि वे परमात्मा उक्त गुणों को स्वीकार कर तृप्त हैं। अवाकी का तात्पर्य है, वाणी की उक्ति अर्थात् उच्चारण का उनमें अभाव है। क्यों कि वे, अनादर अर्थात् संपूर्ण कामनाओं से तृप्त है, इसलिए उन्हें किसी भी पदार्थ की ओर आकर्षण नहीं है, इसलिए वह सभी के प्रति अनादर (अभिलाषा युक्त प्राप्ति की उत्सुकता से रहित) हैं। इसलिए वे (अनिच्छुक होने से) चुप रहते हैं। परिपूर्ण ऐश्वर्य होने के कारण, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सारा जगत उनके लिए तृणवत ही है। इससे इसलिये वे सदा तुष्ट भाव से चुप रहते हैं। निश्चित होता है कि श्रुत्युक्त समस्त गुण, परमात्मा के लिए ही उपयुक्त हैं, ऐसा मानना चाहिए।

अनुपपत्तेस्तु न शरीरः ।१।२।३॥

तमिमं गुणसागरं पर्यालोचयतां खद्योतकल्पस्य शरीरसंबंधनिबंधनापरिमितदुःखसंबंधयोग्यस्यबद्धमुक्तावस्थस्यजीवस्य प्रस्तुतगुणलेशसंबधगंधोऽपि नोपपद्यत, इति नास्मिन् प्रकरणे शारीरपरिग्रहशंका जायत इत्यर्थः।

जिन्होंने, उन गुण सागर परमात्मा को शास्त्र पर्यालोचना से भलीभांति जान लिया है उनकी दृष्टि में, जुगनू के समान यदा कदा टिमटिमाने वाले, शरीर संबद्ध होने से अपरिमित दुःख भागी, बद्धमुक्त अवस्था वाले, जीवात्मा का उन गुणो से लेशमात्र सम्बन्ध हो भी सकता है, ऐसी तनिक भी संभावना नहीं रहती। इसलिए इस प्रसंग में शरीरी जीवात्मा का वर्णन है, ऐसी आशंका करना व्यर्थ है।

ankurnagpal108@gmail.com

कर्मकर्त्तृव्यपदेशाच्च ।१।२।४॥

"एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" इति प्राप्यतया परंब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः । अतः प्राप्ता जीव उपासकः प्राप्यंपरंब्रह्मोपास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेदमिति विज्ञायते ।

"शरीर से छूटने पर मैं इसी ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा" इस वाक्य में प्राप्य रूप से परब्रह्म का तथा प्राप्त करने वाले जीव का स्पष्ट भिन्न निर्देश है। इससे समझना चाहिए कि प्राप्त करने वाला जीव उपासक तथा प्राप्य परब्रह्म उपास्य है जो कि प्रापक जीव से निश्चित ही भिन्न है।

शब्दविशेषात् १।२।५॥

"एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इति शारीरः षष्ठ्या निर्दिष्टः उपास्यस्तु प्रथमया । एवं समानप्रकरणे वाजिनां च श्रुतौ शब्द विशेषः श्रूयते जीवपरयोः, यथा "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम्" इति । अत्र "अन्तरात्मन्" सप्तम्यन्तेन शारीरो निर्दिश्यते, "पुरुषो हिरण्मयः" इति प्रथमयोपास्यः । अतः पर एवो-पास्यः ।

"मेरे हृदय कमल के भीतर यह आत्मा" इत्यादि वाक्य में शरीरी को षष्ठी (संबंध कारक) तथा उपास्य (आत्मा) को प्रथमा (कर्त्ता कारक) दिखलाया गया है। इसी प्रकार के प्रकरण वाजसनेय में भी जीव और परमात्मा वाची शब्दों का विशेष उल्लेख मिलता है। जैसे कि—"सरसों, जव, श्यामाक तण्डुल से भी सूक्ष्म अन्तर्यामी पुरुष स्वर्ण के समान उद्दीप्त निर्धूम ज्योतिस्वरूप है" इस वाक्य में सप्तम्यन्त "अन्तरात्मन" पद से शरीरी जीव को तथा प्रथमान्त "हिरण्मय पुरुष" पद से उपास्य परमात्मा का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा ही उपास्य है।

ankurnagpal108@gmail.com

इनश्च शारीरादन्य:—इसलिए भी जीव से परमात्मा भिन्न है कि—

स्मृतेश्च १।२।६।

सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च"—"यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्"—ईश्वरः सर्वभूतानां हृदृशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया, तमेव शरणं गच्छ" इति शारीरमुपासकं, परमात्मानं चोपास्यं स्मृतिर्दर्शयति।

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूं, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होते हैं" जो पुरुष मुझे पुरुषोत्तम जानता है, "अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में बैठकर यंत्र की तरह सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमा रहा है—"उन्हीं की शरण में जाओ" इत्यादि श्रुति वाक्य भी, शरीरी जीवात्मा को उपासक तथा परमात्मा को उपास्य रूप से निर्देश करते हैं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। १।२।६।१॥

अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वम्, तद्व्यपदेशः = अल्पत्वव्यपदेशः "एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात् "अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेणव्यपदेशाच्च नायं परमात्मा अपि तु जीव एव "सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इत्यादिभिः परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात्, जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादिति चेत्।

अर्भकौकस्त्व अर्थात् अल्पस्थानवर्ती; तद्व्यपदेश अर्थात् अल्पत्व-व्यपदेश। "मेरे अन्तः करण के अन्दर यह आत्मा है" इस वाक्य में अणीयस हृदय के आयतन में स्थित तथा "व्रीहि या जव से भी अणीयस" इत्यादि वाक्य से जिस अणीयस स्वरूप का व्यपदेश किया गया है—वह परमात्मा नहीं है अपितु जीव ही है। "धीर लोग जिस भूतयोनि को

ankurnagpal108@gmail.com

जानते हैं वह सर्वगत, अतिसूक्ष्म और अव्यय है" इत्यादि वाक्य से परमात्मा का अपरिच्छिन्नत्व ज्ञात होता है जीव का स्वरूप तो, आरा की अग्रिम सूक्ष्म धार के समान बतलाया गया है।

नैतदेवम्—परमात्मैव हि अणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदिश्यते, एवं निचाय्यत्वेन-एवं द्रष्टव्यत्वेन, एवमुपास्यत्वेनेति यावत्। न पुनरणीयस्त्वमेवास्यस्वरूपमिति, व्योमवच्चायं व्यपदियश्ते, स्वाभाविकमहत्वं चात्रैव व्यपदिश्यते—"ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः" इति। अत उपासनार्थमेवाल्पत्वव्यपदेशः।

जैसा अर्थ आप करते है वह नही है अपितु परमात्मा ही उपासना के लिए अणीयस रूप से बतलाए गये है। उन्हें अतिसूक्ष्म बतलाने का तात्पर्य है कि, उन्हे अत्यल्प रूप से देखने की चेष्टा करो अर्थात् उनके अणीयस रूप की उपासना करो। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अणीयस रूप वाले ही है इनकी आकाश की सी सूक्ष्मता बतलाई गई है अर्थात् वे सूक्ष्म आकाश की तरह सर्वगत है। परमात्मा की स्वाभाविक महत्ता इस प्रकार वर्णन की गई है—"वह पृथ्वी से महान् अन्तरिक्ष से महान् द्युलोक से महान् तथा इन समस्त लोकों से महान् है।" इससे सिद्ध होता है कि उपासना के लिए ही उनका अणीयस रूप बतलाया गया है।

तथाहि—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत्" इति सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्याऽत्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेत्युपासनं विधाय "अथखलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति यथोपासनं प्राप्यसिद्धिमभिधाय "स क्रतुंकुर्वीत" इति गुणविधानार्थमुपासनमनूद्य "मनोमयः प्राणशरीरो अरूप. सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर:" इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य स्वरूप-गुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य "एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा" इत्यु-पासकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मतयोपास्यस्यपरमपुरुषस्योपास-नार्थमवस्थानमुक्त्वा "एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्योलोकेभ्य: सर्वकार्मा सर्व-काम: सर्वरस: सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर:" इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थित-स्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य—"एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्म" एवम्भूतंपरंब्रह्म परमकारुण्येनास्मदुज्जिजीवयिषयाऽस्मद् हृदये सन्निहितमितीदमनुसंधानं विधाय "एतमित: प्रेत्याभिसंभा-विताऽस्मि" इति यथोपासनं प्राप्तिनिश्चयानुसंधानं च विधाय इति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति" इत्येवंविध प्राप्यप्राप्ति-निश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्तीत्युपसंहृतम्। अत उपासनार्थमर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च।

तथा—"सारा जगत ब्रह्म का ही रूप है, उसी में लीन हो जाता है, उस परमात्मा की शांतभाव से उपासना करनी चाहिए" वाक्य में, समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय के कारण सबके आत्मस्वरूप और जीवान्तर्यामी जीवनधारक सर्वात्मक ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, ऐसा उपासना का स्वरूप बतलाकर—"पुरुष निश्चय ही क्रतुमय है, इस लोक में पुरुष जैसे निश्चय वाला होता है वैसा ही मरने पर भी होता है" इस प्रकार उपासना के अनुरूप प्राप्य फल की बात कहकर "इसलिए उस पुरुष को निश्चय करना चाहिए" ऐसा गुण विधान के लिए उपासना का अनुवाद करते हुए "वह ब्रह्म मनोमय प्राणशरीर प्रकाश स्वरूप सत्य-संकल्प आकाश शरीर सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगंध सर्वरस इस सारे जगत को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित संभ्रम शून्य है" इत्यादि ब्रह्म के, जागतिक ऐश्वर्यों से विशिष्ट उपादेय स्वरूप गुणों का प्रतिपादन करके "हृदय कमल के भीतर यह आत्मा धान, जव, श्यामाक सरसों से

ankurnagpal108@gmail.com

भी सूक्ष्म है" इत्यादि में बतलाया गया कि उपास्य परंपुरुष अतिसूक्ष्म उपासक के हृदय में अभिन्नभाव से स्थित हैं ऐसा निश्चित करके "हृदय कमल में स्थित वह आत्मा, पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक तथा इन सभी लोकों से महान् है जो कि—सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस सारे जगत को व्याप्त करने वाला, वाक्यरहित, भ्रमशून्य है।" इत्यादि उस हृदस्थ उपास्यमान परमेश्वर के प्राप्य रूप का वर्णन करके—"मेरे अन्तर्हृदय में जो आत्मा है वही ब्रह्म है" ऐसी करुणावरुणालय, हमारे उद्धार के लिए तत्पर हृदयस्थित परमात्मा के अनुसंधान की अनिवार्यता बतलाकर "इस शरीर को छोड़कर जाने पर उन्हीं को प्राप्त होऊँगा" इत्यादि उपासना के अनुरूप फलावाप्ति विषयक निश्चित नियम बतलाकर "इत्यादि प्राप्य प्राप्ति निश्चय संबंधी सिद्धान्त निर्णय से उपासक को परब्रह्म की प्राप्ति में कोई संदेह नहीं रह जाता;" ऐसा प्रकरण का उपसंहार किया जाता है। उपर्युक्त प्रकरण की पर्यालोचना से सिद्ध होता है कि—उपासना के लिए ही अल्पायतनत्व और अणीयत्व का प्रतिपादन किया गया है [स्वरूप निरूपण के लिए नहीं]।

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।१।२।८॥

जीवस्येव परस्यापि ब्रह्मणः शरीरान्तर्वर्त्तित्वमभ्युपगतं चेत्—तद्वदेव शरीरसंबंधप्रयुक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिररिति चेत्तन्न, हेतु वैशेष्यात्—नहि शरीरान्तर्वर्तित्वमेव सुखदुःखोपभोग हेतुः, अपितु पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वम्, तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न संभवति। तथा च श्रुतिः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति।

यदि यह कहें कि—जीव की तरह परब्रह्म की भी यदि शरीर में उपस्थिति मानेगे तो शरीर संबंध होने से जीव की तरह ही, उनमें भी सुखदुःखात्मक भोग घटित होंगे। सो ऐसा संभव नहीं होगा, क्योंकि दोनों में भोग के कारण की भिन्नता रहती है। शरीर में रहना ही भोग का कारण हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं है, अपितु पुण्य पाप रूप कर्म परवशता, भोग का कारण है, जो कि निष्पाप परमात्मा में संभव नहीं

ankurnagpal108@gmail.com

है। जैसा कि--श्रुति वाक्य भी है--उन दोनो में एक वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद लेकर उपभोग करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है।"

२ अधिकरणः—

यदि परमात्मा न भोक्ता, एवं तर्हि सर्वत्र भोक्तृतया प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशंक्याह--

यदि परमात्मा भोक्ता नहीं है तो क्या हर जगह जीवात्मा ही भोक्ता कहा गया है? इस शंका का उत्तर देते हैं—

अत्ता चराचरग्रहणात् १।२।६।।

कठवल्लीष्वाम्नायते "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" इति। अत्रौदनोपसेचन सूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति संदिह्यते। किंयुक्तम् जीव इति। कुतः? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाज्जीवस्यैवतत्संभवात्।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि—'धर्मशील ब्राह्मण और धर्म रक्षक क्षत्रिय दोनों जिसके भोज्य बन जाते हैं, सबको मारने वाला काल भी भोज्य का उपसेचन (चटनी) बन जाता है, ऐसे की महिमा को कौन जान सकता है?" इस प्रकरण में भोज्य और उपसेचन का भोक्ता कौन है, जीवात्मा या परमात्मा? कह सकते हैं कि जीवात्मा, क्योंकि निमित्तक भोक्तृत्व जीव में ही संभव हो सकता है।

अत्रोच्यते—अत्ता चराचर ग्रहणात—अत्तापरमात्मैव कुतः? चराचर ग्रहणात्—चराचरस्य कृत्स्नस्यातृत्वं हि तस्यैव संभवति न चेदं कर्मनिमित्तभोक्तृत्वं, अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतु भूतस्यपरस्यब्रह्मणोविष्णोः संहर्तृत्वम् "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यत्रैव दर्शनात्। तथा च "मृत्युर्यस्योपसेचनं "इति वचनात् "ब्रह्मं च क्षत्रं च" इति कृत्स्नं चराचरं

ankurnagpal108@gmail.com

जगदिहादनीयौदनत्वेन गृह्यते। उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतु:। अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्यकृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते। ईदृशंचादनमुपसंहार एव। तस्मादीदृशं जगदुपसंहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव।

उक्त सशय पर सूत्रकार कहते है कि--अत्ता परमात्मा ही हैं, क्योंकि- इस प्रसग मे चराचर सभी को भोज्य कहा गया है, चराचर जगत के भोजन करने की क्षमता परमात्मा में ही हो सकती है। यहाँ कर्म निमित्तक भोक्तृत्व की चर्चा नही है, अपितु जगत के जन्म स्थिति और लय के एकमात्र कारण परब्रह्म विष्णु के संहारक शक्ति निमित्तक भोक्तृत्व का प्रसंग है। "वह संसार मार्ग के पार जाकर भगवान विष्णु के सुप्रसिद्ध परमपद को प्राप्त हो जाता है" इत्यादि वाक्य उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं। "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" तथा "ब्रह्म च क्षत्रं च" इत्यादि वाक्यांश से चराचर संपूर्ण जगत की भोज्यता ज्ञात होती है। स्वयं स्वतंत्र भोज्य होने के साथ ही जो अन्य भोज्य पदार्थों का सहायक भोज्य होता है उसे उपसेचन कहते हैं, उपसेचन रूप से जो मृत्यु का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य है कि--मृत्युमय ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सारा जगत उस परमात्मा का भोज्य है। इस प्रकार यहाँ भोजन का अर्थ, संहार के अतिरिक्त, कुछ और नही है। इससे जगत की उपसंहारात्मक भोक्तृता परमात्मा की ही निश्चित होती है।

प्रकरणाच्च १।२।१०।

प्रकरणं चेदं परस्यैव ब्रह्मण: "महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति" नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति हि प्रकृतम्। "क इत्था वेद यत्र स:" इत्यपि हि तत् प्रसादात् ऋते तस्य दुखबोधत्वमेव पूर्वंप्रस्तुतं प्रत्यभिज्ञायते।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त प्रकरण परब्रह्म संबंधी ही है, जैसा कि--"धीर व्यक्ति इन महत् विभु आत्मा को जानकर शोक नहीं करता,"--इन परमात्मा को शास्त्र ज्ञान प्रवचन या मेधा से नहीं जाना जा सकता, वे ही जिसे वरण करते हैं, वही उन्हें पा सकता है, वे उसके समक्ष अपना रूप प्रकट कर देते हैं।" इत्यादि "वह कहाँ है उसे कौन जानता है ?" इत्यादि वाक्य भी उनकी दुर्बोधता और कृपापेक्षा का ज्ञापन करते हैं।

अथस्यात्--नायं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा, अनन्तरं "ऋतंपिबन्तौ सुकृतस्यलोके गुहांप्रविष्टौ परमे पराध्र्ये, छायातपौ ब्रह्मविदोवदंति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः "इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्वितीयस्याभिधानात्। द्वितीयश्च प्राणो बुद्धिर्वास्यात्। ऋतपानं हि कर्मफल भोग एव, स च परमात्मनो न संभवति, बुद्धिप्राणयोस्तु भोक्तुजीवस्योपकरणभूतयोर्यथाकथंचित्पानेऽन्वयस्संभवतोति तयोरन्यतरेण सद्वितीयो जीव एव प्रतिपाद्यते, तदेकप्रकरणत्वात् पूर्वप्रस्तुतोऽत्ताऽपि स एव भवितुमर्हति—इति। तत्रोच्यते--

शंका होती है कि--ब्रह्मक्षत्र भोज्य रूप से जिस भोक्ता के कहे गए हैं वह निष्पाप परमात्मा नहीं है। क्योंकि--जिस प्रकरण में ओदन रूप ब्रह्म क्षत्र का वर्णन है, उसी में आगे "शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर में, परब्रह्म के उत्तम निवास स्थान बुद्धि रूपी गुहा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले छाया और धूप के समान दो परस्पर भिन्न हैं, ऐसा ब्रह्म वेत्ता ज्ञानी पुरुष कहते हैं, तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले पंचाग्नि संपन्न गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं" इस प्रकार द्वितीय कर्मफल भोक्ता का वर्णन है; द्वितीय प्राण या बुद्धि हो सकते हैं। ऋतपान का अर्थ, कर्मफल का भोग ही है, जो कि—परमात्मा में संभव नहीं है। बुद्धि और प्राण भोक्ता जीव के सहायक उपकरण हैं, प्राण को यदि मुख्य प्राण मानें तो जीव ही द्वितीय स्थानीय होता है और उसे ही भोक्ता कहा गया है। एक ही प्रकरण में जिस प्रसंग की

ankurnagpal108@gmail.com

प्रस्तावना की जाती है, उसे ही आगे समर्थन किया जाता है। इसलिए जीव ही भोक्ता हो सकता है। इस शंका का समाधान करते है--

गुहांप्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् १।२।११॥

न प्राणजीवौ बुद्धिजीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्युच्येते अपि तु जीवपरमात्मानौ हि तथाव्यपदिश्येते। कुत ? तद्दर्शनात्। अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवेश व्यपदेशो दृश्यते। परमात्मानस्तावत् "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्, अध्यात्मयोगाधिगमेन देवंमत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति। जीवस्यापि--"या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत" इति। कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीव उच्यते। प्राणेन सम्भवति-प्राणेन सहवर्त्तते। देवतामयी-इन्द्रियाधीन भोगा। गुहां प्रविश्य तिष्ठंती-हृदयपुंडरीकोदरवर्त्तिनी। भूतेभिर्व्यंजायत्-पृथिव्यादिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण विविधा जायते। एवं च सति "ऋतं पिबन्तौ" इति व्यपदेशः "क्षत्रिणोगच्छन्ति" इतिवत् प्रतिपत्तव्यः। यद् वा प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण कर्तृत्वं जीवपरयोरुपपद्यते।

उक्त प्रकरण में प्राण-जीव या बुद्धि जीव की गुहा में बैठने की बात नहीं है अपितु जीव और परमात्मा के प्रवेश की बात है। इस प्रकरण में जीव और परमात्मा का ही प्रसंग चल रहा है। प्रसंग के पूर्वभाग में परमात्मा का वर्णन जैसे-"जो योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, सबकी हृदय गुहा में स्थित, संसार रूप गहन वन में रहने वाले, सनातन, कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धि युक्त साधक, अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा समझकर हर्ष शोक को छोड देते हैं।" प्रकरण के उत्तर भाग में जीव का वर्णन जैसे--"जो देवतामयी अदिति प्राणों के सहित उत्पन्न होती है या जो प्राणियों के सहित उत्पन्न होती है, हृदयरूपी गुहा में प्रवेश करके वहीं रहती है।"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादि में अदिति का तात्पर्य है, कर्मफलों को भोगने वाली, इस व्याख्या के अनुसार अदिति शब्द जीव वाची ही है। प्राणेन संभवति का तात्पर्य है, प्राण के साथ व्यवहार करना। देवतामयी का तात्पर्य है—इन्द्रियाधीन भोग। "गुहां प्रविश्य तिष्ठंती" का अर्थ है हृदयकमल के अन्दर रहने वाली। "भूतेभिर्व्यजायत्" का अर्थ है—पृथ्वी आदि भूतों के साथ देवादि अनेक आकृतियों को धारण करने वाली। इसी प्रकार" ऋतं पिवन्तौ" का अर्थ "छत्रिणो गच्छन्ति" की तरह जानना चाहिए [जैसे कि छाता लगाकर जाते हुए झुंड को देखकर कहा जाता है कि छाते वाले जा रहे हैं, वस्तुतः छाता एक ही के सर पर होता है पर प्रयोग सभी के लिए होता है, वैसे ही गुहा में जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं, जीवात्मा ही केवल ऋतदान करता है, परन्तु प्रयोग दोनों के लिए किया गया है] अथवा प्रयोजक परमात्मा और प्रयोज्य जीवात्मा है, ऐसा मान कर ही दोनों को भोक्ता कहा गया है [अर्थात् परमात्मा की प्रेरणा से ही जीवात्मा भोग करता है, इसलिए दोनों को ही भोक्ता कह दिया गया]

विशेषणाच्च।१।२।१२॥

अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानावेवोपास्यत्वोपासकत्वप्राप्यत्व-प्राप्तत्वविशिष्टौ सर्वत्र प्रतिपाद्येते। तथाहि—"ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" इति। ब्रह्मजज्ञोजीवः ब्रह्मणोजातत्वात् ज्ञत्वाच्च, तं देवमीडं विदित्वा—जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः। तथा—"यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्, अभयं तितीर्षतांपारं नाचिकेतं शब्देमहि" इत्युपास्यः परमात्मोच्यते। नाचिकेतं नाचिकेतस्य कर्मणः प्राप्यमित्यर्थः। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव च" इत्यादिनोपासको जीव उच्यते। तथा—"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः, सोऽध्वनः पारमाप्नोतितद्विष्णोः परमं पदम्" इति प्राप्यप्राप्तारावभिधीयेते जीवपरमात्मानौ। इहापि "छायातपौ" इत्यज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यांतावेव विशिष्य व्यपदिश्येते।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकरण मे जीवात्मा और परमात्मा का उपास्य उपासक तथा प्राप्य प्रापक विशिष्ट रूप से सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है। जैसा कि— "ब्रह्मोपासको से स्तवनीय परमात्मा को जानकर निष्कामभाव से उपासना करने वाला अत्यत शाति प्राप्त करता है" इस श्रुति से ज्ञात होता है। ब्रह्मजज्ञ का अर्थ है जीव, ब्रह्म से उत्पन्न होने अथवा ब्रह्म को जानने से ब्रह्मजज्ञ है। स्तवनीय उस देव को जानकर का तात्पर्य है जीवात्मा उपासक भाव से ब्रह्म स्वरूप को जानकर। तथा—"जो उपासकों के लिए सेतु के समान (विभिन्न प्रकार के फल दाता) हैं और जो भवसागर से पार होने के इच्छुको को अभय देने वाले हैं उन नाचिकेत कर्मलभ्य अक्षर ब्रह्म को हम जानने मे समर्थ हो सकते हैं।" इस वाक्य मे परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है। नाचिकेत का तात्पर्य है नाचिकेत कर्म के फलस्वरूप प्राप्त। "आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ जानो" इत्यादि मे जीव को उपासक बतलाया गया है। तथा—"विज्ञान (बुद्धि) जिसका सारथी, तथा मन जिसकी लगाम है ऐसा मनुष्य विष्णु के परपद मार्ग को सरलता से प्राप्त कर लेता है।" इत्यादि में जीवात्मा परमात्मा को प्राप्य प्रापक रूप से बतलाया गया है। इसी प्रकार "छायातपौ" इत्यादि मे अनभिज्ञ जीवात्मा तथा सर्वज्ञ परमात्मा का विशिष्ट उल्लेख है।

अथस्यात्—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इति जीवस्वरूपयाथात्म्यप्रश्नोपक्रमत्वात्सर्वमिदं प्रकरणं जीवपरं इति प्रतीयते। नैतदेवम्, न हि जीवस्य देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशंकयाऽयं प्रश्नः, तथासति पूर्वांवरद्वयवरणानुपपत्तेः। तथा हि पितुः सर्ववेदसदक्षिणक्रतुसमाप्तिवेलायां दीयमानं दक्षिणावैगुण्येन क्रतुवैगुण्यं मन्यमानेन कुमारेण नचिकेतसा आस्तिकाग्रेसरेण स्वात्मदानेनापि पितुः क्रतुसाद्गुण्यमिच्छता "कस्मै मां दास्यसि" इत्यसकृत्पितरं पृष्टवतास्वनिर्बन्धरुष्टपितृवचनान्मृत्युसदनं प्रविष्टेन स्वसदनात्प्रोषुषि यमे तददर्शनात्तत्र तिस्रो रात्रीरुपोषुषा स्वोपवासभीततत्प्रतिविधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते

ankurnagpal108@gmail.com

वरत्रये आस्तिक्यातिरेकात् प्रथमैववरेण स्वात्मानंप्रति पितु: प्रसादोवृत:, एतच्चसर्वं देहातिरिक्तात्मानमजानतो नोपपद्यते। द्वितीयेन च वरेणोत्तीर्णदेहात्मानुभाव्य फलसाधन भूताग्निविद्या वृत्ता; तदपि देहातिरिक्तात्मानमभिज्ञस्य न संभवति। अतस्तृतीयेन वरेण यदिदं व्रियते "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके, एतद्विद्यामनुशिष्ट: त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय:।" अत्र परमपुरुषार्थरूप ब्रह्मप्राप्ति लक्षणमोक्षयाथात्म्य विज्ञानाय तदुपायभूत परमात्मोपासनपरावरात्मतत्त्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्न: क्रियते। एवं च—"येयं प्रेते" इति न शरीरवियोगमात्रभिप्रायं अपितु सर्वबन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम्। यथा "न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति" इति। अयमर्थ: मोक्षाधिकृतेमनुष्ये प्रेतेसर्वबन्धविनिर्मुक्ते तत्स्वरूप विषया वादिविप्रतिपत्तिनिमित्ताऽस्तिनास्त्यात्मिका येयं विचिकित्सा, तदपनोदनाय तत्स्वरूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्याजानीयाम्—इति।

संशय होता है कि—मृत्यु के बाद कुछों के मत में जीव का अस्तित्व रहता है और कुछों के मत में उसका अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है ?" इस वाक्य को पढ़ने से ज्ञात होता है कि—"सर्वंमिदम्" इत्यादि प्रकरण जीवात्मा का ही विवेचन करता है। जीव स्वरूप के यथार्थ निरूपण के लिए ही उक्त प्रश्न का उपक्रम किया गया है।

(समाधान) बात ऐसी नहीं है—यह जीव के मरणोत्तर अस्तित्व, नास्तित्व विषयक संबंधी शंका नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो नाचिकेता द्वारा इसके पूर्व के दो वरों की मांग असंगत हो जावेगी। जैसा कि प्रसंग है कि—पिता के सर्वस्व दक्षिणात्मक यज्ञ के अंत में जब सब कुछ दक्षिणा में दिया जा चुका उस समय यज्ञ की पूर्ति में कमी समझकर परम आस्तिक कुमार नचिकेता के "मुझे किसे देते है" इस प्रश्न को बारबार करने पर दुराग्रह से रुष्ट पिता के द्वारा मृत्यु को दिये जाने पर वह मृत्यु के घर गया,

ankurnagpal108@gmail.com

उस समय यम प्रवास में थे, इसलिए उसने तीन रात्रि का उपवास किया, घर लौटने पर उपवास से भयभीत यमराज द्वारा वरयाचना का आश्वासन प्राप्त कर आस्तिकता के अतिरेक से नचिकेता ने प्रथम वर में अपने पिता की प्रसन्नता मांगी; ऐसा वर देह को ही आत्मा मानने वाला कभी नहीं मांग सकता। दूसरा वर उसने, देहोत्तीर्ण आत्मा के अनुभव योग्य फल की साधनिका, अग्नि विद्या की जानकारी का मागा; देह को ही आत्मा मानने वाला ऐसा भी नहीं मांग सकता। "मनुष्य के मरने पर जो दो विभिन्न संशयालु धारणायें हैं कि शरीर के बाद भी जीव का अस्तित्व रहता है तथा शरीर के साथ ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है; इसको समझने के लिए मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूं, मुझे इसकी जानकारी का तीसरा वर दो।" इस तीसरे वर में उसने, परमपुरुषार्थ ब्रह्मप्राप्ति स्वरूप मोक्ष प्राप्त की उपाय भूत परमात्मोपासना और परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा की है। "येयं प्रेते" वाक्य वस्तुत: शरीरोपरान्त अर्थ के अभिप्राय से ही नहीं कहा गया है, अपितु उसमें सर्वबन्धविनिर्मोक्ष का अभिप्राय निहित है। जैसा कि--"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" अर्थात् उपासक का शरीर पात के बाद कुछ भी शेष नहीं रह जाता, ऐसा एकमत है। ऐसे मुक्त पुरुष के स्वरूप के विषय में, परस्पर अस्तित्व और नास्तित्व का जो मतभेद जन्य संशय है उसकी निवृत्ति के लिये तुम्हारा उपदेश प्राप्त कर स्वरूपगत यथार्थ तत्त्व जानू (यह तीसरा वरदान दो)।

तथाहि बहुधा विप्रतिपद्यन्ते, केचिद् वित्तिमात्रस्यात्मन: स्वरूपोच्छित्ति लक्षणं मोक्षमाचक्षते। अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सतोऽविद्याऽस्तमयम्। अपरे पाषाणकल्पस्यात्मनो ज्ञानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेद-लक्षणं कैवल्यरूपम्। अपरे तु अपहतपाप्मानं परमात्मानमुपगच्छन्त-स्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्तजीवभावस्योपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते। अयन्तनिष्णातास्तु निखिलजगदेककारणस्याशेषहेय प्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशया-संख्येयकल्याणगुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्यपरस्य ब्रह्मण: शरीरतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादिकर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूप-स्याविद्योच्छेदपूर्वक स्वाभाविक परमात्मानुभवमेव मोक्षमाचक्षते। तत्र मोक्षस्वरूपंतत्साधनं च त्वत्प्रसादात् विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो मृत्युस्तस्यार्थस्य दुखबोधत्वप्रदर्शनेन विविधभोगवितरण प्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मतत्त्वविज्ञानं परमात्मोपासनं तत्पदप्राप्तिलक्षणं मोक्षं च "तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टम्" इत्यारभ्य "सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्तेनोपदिश्य तदपेक्षिताश्च विशेषानुपदिदेशेति सर्वं समञ्जसम्। अतः परमात्मैवात्तेति सिद्धम्।

इस विषय मे अनेक मत प्रस्तुत किये जाते है कोई एकमात्र ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वरूपोच्छेद को मोक्ष कहते है। दूसरे आत्मा को ज्ञान-स्वरूप कहते हुए अविद्याध्वंस को मोक्ष कहते हैं। एक कहते है कि पाषाण के सदृश अन्तःकरण के ज्ञान आदि विशेष गुणों का समुच्छेद ही मोक्ष है। कोई परमात्मा को निष्पाप मानकर उनकी उपाधि के संसर्ग से जीव भाव को प्राप्त करानेवाली उपाधियों के नष्ट हो जाने पर ब्रह्म भाव प्राप्ति को मोक्ष कहते है। जिनकी बुद्धि वेदांत शास्त्र के अनुशीलन से परिपक्व है, वे संपूर्ण जगत के एकमात्र कारण निर्दोष, आनंद स्वरूप, स्वाभाविक अगणित असख्य कल्याणमय गुणों के आकर, सर्वथा विलक्षण, सर्वान्तर्यामी परब्रह्म के शरीर स्थानीय, उन्ही के समान ज्ञानस्वरूप, परमात्मानुभूति जन्य आनंदरस निमग्न जीव का जो, अनादि कर्म रूप अविद्या से वास्तविक स्वरूप छिपा हुआ है, अविद्या के उच्छेद हो जाने पर उसी वास्तविक स्वरूप की पुनः प्राप्ति और आत्मानुभवरस की निमग्नता को ही मोक्ष मानते है।

इन्ही विभिन्न मतों मे वस्तुतः मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का साधन क्या है? इसको मै तुम्हारे अनुग्रह से जानना चाहता हूँ, नचिकेता के पूछे जाने पर यम ने पहिले जिज्ञासित विषय की दुर्गमता फिर भोगों का प्रलोभन देकर उसकी पात्रता की परीक्षा की। उसकी योग्यता की भली भाँति परीक्षा लेकर पर (ब्रह्म) और अवर (जीव)

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मतत्त्व विज्ञान, परमात्मोपासना तथा परमात्मपद प्राप्ति का "तंदुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टम्" से प्रारंभ करके "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परम पदम्" तक उपदेश देते हुए मोक्ष प्राप्ति के विशेष साधनो का उपदेश दिया जिससे कि सब सामंजस्य हो गया। इससे सिद्ध होता है कि—उक्त प्रकरण में उपदिष्ट अत्ता परमात्मा ही है।

३ अधिकरण—

अन्तर उपपत्तेः १।१।१३॥

इदमामनंति छंदोगाः "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एव आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इति। तत्र संदेहः किमय-मक्ष्याधारतया निर्दिश्यमानः पुरुषः प्रतिबिंबात्मा, उत चक्षुरिन्द्रिया-धिष्ठाता देवताविशेषः, उत जीवात्मा अथ परमात्मा इति। किं युक्तम्? प्रतिबिंबात्मेति, कुतः? प्रसिद्धवन्निर्देशात्, "दृश्यते" इत्यपरोक्षाभिधानाच्च। जीवात्मा वा तस्यापि हि चक्षुषि विशेषेण सन्निधानात् प्रसिद्धिरुपपद्यते उन्मीलितं हि चक्षुरुद्वीक्ष्य जीवात्मनः शरीरेस्थितिगती निश्चिन्वन्ति। "रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति श्रुतिप्रसिद्धया चक्षुः प्रतिष्ठो देवताविशेषो वा, एष्वेव प्रसिद्धवन्निर्देशोपपत्तेरेषामन्यतमः।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"यह जो आंखों के बीच में पुरुष दीखता है, यही आत्मा, अमृत और अभयरूप ब्रह्म है" इस पर विचार होता है कि यह पुरुष है कौन, छायापुरुष अथवा नेत्रेन्द्रिय का अधिष्ठता देवता अथवा जीवात्मा या परमात्मा? छाया पुरुष भी हो सकता है क्योंकि—"दृश्यते" ऐसा प्रत्यक्ष उल्लेख है। जीवात्मा भी हो सकता है क्योंकि—नेत्रों में उसका सानिध्य रहता है, ऐसी प्रसिद्धि है। नेत्रों के उन्मीलन से ही अनुमान होता है कि—जीव की उसमे स्थिति है। "वह सूर्य रश्मियों द्वारा नेत्रों में स्थित है" इस श्रौत वाक्य से, नेत्र प्रतिष्ठित प्रसिद्ध देवताविशेष का होना भी सिद्ध होता है। इन सभी की प्रसिद्धि पाई जाती है, इन सब में कौन है?

ankurnagpal108@gmail.com

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—अन्तरउपपत्तेः—अक्ष्यन्तरः परमात्मा कुतः ? "एष आत्मेति होवाचैतमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उएववामनिः, एषहि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनिः। एष हि सर्वेषुलोकेषु भाति" इत्येषां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः।

उक्त विचारो पर कहते है—कि—नेत्रों में परमात्मा है क्योंकि—"उसने कहा कि यह आत्मा अमृत, अभय ब्रह्म है, इसे सयद्वाम कहते है, क्योकि संपूर्ण सेवा वस्तुए सब ओर से इसे ही प्राप्त होती है, इसलिए यही वामनी है, यही सपूर्ण वामो को वह न करता है, यह भामनी है, यही संपूर्ण लोको में भासमान है।" इत्यादि गुण परमात्मा मे ही उपपन्न हो सकते है।

स्थानादिव्यपदेशाच्च १।२।१४॥

चक्षुषि स्थितिनियमनादय. परमात्मन् एव "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते। अतश्च" "य एषोऽक्षिणिपुरुषः" इति स एव प्रतीयते। अतः प्रसिद्धवन्निर्देशश्च परमात्मन्युपपद्यते। तत एव "दृश्यते" इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि योगिभिर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते।

नेत्रों में स्थित, नियमन करने वाले परमात्मा ही हैं, "जो नेत्रों में अवस्थान करते है" इत्यादि से ज्ञात होता है। "यही नेत्र पुरुष है" इस वाक्य में उन्ही का वर्णन है। इससे प्रसिद्ध निर्देश भी परमात्मा का ही प्रतीत होता है। "दृश्यते" इत्यादि में योगियों के लिए दृश्य साक्षात् का उल्लेख किया गया है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव १।२।१५॥

इतश्चाक्ष्याधारः पुरुषोत्तमः "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रकृतस्य सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयद्वामत्वादि

ankurnagpal108@gmail.com

गुणविधानार्थं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इत्यभिधानात्। एवकारो नैरपेक्ष्यं हेतोद्योतयति।

इसलिए भी नेत्रों में स्थिति पुरुषोत्तम हैं कि— 'ब्रह्म क (सुख-विशिष्ट) तथा ख (आकाश) स्वरूप हैं" इस वाक्य में जिस सुख-विशिष्ट ब्रह्म को उपासना योग्य संयद्वाम आदि गुणों वाला बतलाया गया है, उन्हें ही "य एषोऽक्षिणि" इत्यादि में नेत्रस्थानीय बतलाया गया है। एकमात्र सुखविशिष्ट हेतु से ही अक्षि-पुरुष का परमपुरुषत्व प्रमाणित हो सकता है।

नन्वग्निविद्याव्यवधानात् "कं ब्रह्म" इति प्रकृतंब्रह्म नेह सन्निधत्ते। तथा हि—अग्नयः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति ब्रह्म विद्यामुपदिश्य "अथहैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इत्यारभ्याग्नीनामुपासनमुपदिदिशुः। न चाग्निविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति शक्यं वक्तुम्; ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गततद्विरोधिसर्वायुः प्राप्ति संतत्यविच्छेदादिफल श्रवणात् उच्यते—"प्राणो ब्रह्म"—"एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्म संशब्दनात्। "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्याग्निवचनाच्च गत्युपदेशात् पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्यगताग्निविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति निश्चीयते। "अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इति ब्रह्मविद्याधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च।

संशय होता है कि—अग्निविद्या का व्यवधान स्वरूप उपदेश "क ब्रह्म" के प्रसंग में ठीक नहीं जचता। जैसा कि—तीन प्रकार की अग्नि का "प्राण ब्रह्म, क ब्रह्म, ख ब्रह्म" ब्रह्म विद्यात्मक उपदेश देकर "उसके बाद उसे गार्हपत्य अग्नि का उपदेश दिया" इस वाक्य से प्रारंभ करके सभी अग्नियों की उपासना का उपदेश दिया गया है। यह नहीं कह सकते कि—अग्निविद्या ब्रह्मविद्या का अंग है, क्योंकि—पूर्णायु और संतति परम्परा की प्राप्ति ही अग्निविद्या का फल है जो कि ब्रह्मविद्या के फल से सर्वथा विपरीत है। इसलिए विपरीत फलवाली विद्याओं का एक साथ उपदेश अप्रासंगिक है।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त शंका का समाधान करते हैं—"प्राण ब्रह्म"—"वह अमृत और अभय स्वरूप है" इन दोनों वाक्यों में ब्रह्म शब्द का उल्लेख करके "आचार्य तुम्हें गति (ब्रह्म) प्राप्ति के उपाय का उपदेश देंगे" अग्नि-विषयक वाक्य के उल्लेख से ज्ञात होता है कि गति के उपदेश के पहिले तक ब्रह्मविद्या का ही प्रसंग है। प्रसंग के मध्य में जो अग्निविद्या का उपदेश दिया गया वह ब्रह्मविद्या का ही अंग है। "उसके बाद उसे गार्हपत्याग्नि का उपदेश दिया गया" इस वाक्य में भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी रूप से ही अग्निविद्या का उपदेश दिया गया है।

किंच—"व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि" इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त नानाविधकामोपहृतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादिभवभयोपतप्तायोप-कोसलाय "एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽत्मविद्या च" इति समुच्चि-तयोपदेशात् 'मोक्षैकफलात्मविद्यांगत्वमग्निविद्यायाः प्रतीयते। एवं चांगत्वेऽवगते सति फलानुकीर्त्तनमर्थवाद इति गम्यते।

तथा—ब्रह्म प्राप्ति के अभाव में अनेक प्रकार की कामनाओं से आक्रान्त होने से गर्भ जन्म जरामरण आदि जन्य व्याधियों से भयभीत उपकौशल ने जब कहा कि—"मैं व्याधियों से परिपूर्ण हूँ" तब उसे उप-देश हुआ कि—"हे सौम्य! तुझे अग्नि विद्या और आत्मविद्या का उपदेश दिया गया" इस प्रकार एक साथ दो विद्याओं का उपदेश देकर ब्रह्मविद्या की अंगरूप से, अग्निविद्या को मोक्षदायिनी सिद्ध किया गया है। जिससे अग्निविद्या की, ब्रह्मविद्यांगता प्रतीत होती है। इस प्रकार अग्निविद्या की अंगता सिद्ध हो जाने पर फलविपरीतता की बात औप-चारिक कथनमात्र ज्ञात होती है।

न चात्र मोक्षविरोधिफलं किंचिच्छ्रूयते "अपहृते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयंते उपवयन्तं भुंजामोऽस्मिश्च लोकेऽमुष्मिंश्च" इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात्। अपहतेपापकृत्यां = ब्रह्मप्राप्ति विरोधि पापकर्मापहंति। लोकी भवतितद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं

ankurnagpal108@gmail.com

प्राप्नोति । सर्वमायुरेति = ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितम्, तत्सर्वमेति । ज्योग्जीवति = व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्ति जीवति । नास्यावरपुरुषाः क्षीयंते = अस्यशिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद एव भवंति। "नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" इति च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रूयते । उपवयन्तं भुंजामोऽस्मिश्च लोकेऽमुष्मिश्च = वयम् अग्नयस्तमेनमुपभुंजामः, यावद् ब्रह्मप्राप्तिविघ्नेभ्यः परिपालयाम इति। अतोऽग्निविद्याया ब्रह्मविद्यांगत्वेन तत् संन्निधान अविरोधात् सुखविशिष्टं प्राकृतमेव ब्रह्मोपासनस्थानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते ।

अग्निविद्या के प्रसंग में कुछ भी मोक्ष विरोधी फल की बात नहीं है—"अग्नि का उपासक, पाप कर्मों को नष्ट कर लोकवान पूर्णायु होकर उज्वल जीवन व्यतीत करता है, उसके पश्चाद्वर्त्ती पुरुष क्षीण नही होते, उसका हम लोग इस लोक और परलोक में पालन करते है।" इस श्रुति मे कहे गए सारे फल मोक्षाधिकारी पुरुष के अनुकूल ही है। "पापों को नष्ट कर" अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति विरोधी पापों को नष्ट कर। "लोकवान होता है" अर्थात् उन विरोधी पापो के नष्ट होने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। "पूर्णायु होता है" अर्थात् ब्रह्मोपासना मे अपेक्षित आयु प्राप्त करता है। "उज्वल जीवन व्यतीत करता है "अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति की अवधि तक रोगादिकों से मुक्त होकर सुखी जीवनयापन करता है।" इसके पश्चाद्वर्त्ती पुरुष नष्ट नहीं होते "अर्थात् उसके शिष्य, प्रशिष्य, पुत्र पौत्र सभी ब्रह्मवेत्ता होते हैं।" उसके कुल में कोई अब्रह्मविद नही होता" इस अन्य श्रुति से भी ब्रह्मविद्या की फलरूप से ज्ञप्ति की गई है। "उसका हम इस लोक और परलोक में पालन करते हैं" अर्थात् हम अग्नियाँ ऐसे पुरुष का उपभोग करते हैं, जब तक उसे ब्रह्म प्राप्ति नही हो जाती तब तक विघ्नों से उसका पालन करते है। इससे स्पष्ट है कि अग्निविद्या, ब्रह्मविद्या की ही अंग है, इन दोनों का एक साथ किया गया उपदेश विरोधी नहीं है अपितु उपयोगी ही है। उपासना के उपयुक्त

ankurnagpal108@gmail.com

स्थान के विधान, तथा तदुपयोगी गुणविधान के लिए जो सुखविष्ट (क) ब्रह्म की चर्चा की वह स्वाभाविक ही है (विरोधी नहीं)।

ननु—"आचार्यस्तुतेगति वक्ता" इति गतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते, तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते तदभिधीयते "आचार्यस्तुते गतिवक्ता" इत्यस्यायमभिप्रायः ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषुषिगुरौ तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचरप्रणीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदंगभूतां चाग्निविद्यामुपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संयद्वामत्वादि गुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्वितिमत्वा "आचार्यस्तु ते गतिवक्ता" इत्यवोचन्।

(प्रश्न) "आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे" इस वाक्य से तो ज्ञात होता है कि—एकमात्र गति विषयक उपदेश ही शेष रह गया था आचार्य को केवल उसी का उपदेश करना था, फिर स्थान और गुण विशेष के लिए सुखविशिष्ट का ब्रह्म की चर्चा कैसे स्वाभाविक है?

(समाधान) "आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे" का अभिप्राय यह है कि—उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिये बिना ही आचार्य प्रवास मे चले गए थे, ब्रह्मविद्या न पाकर उपकोसल बहुत निराश हुआ, उसके द्वारा की गई परिचर्या से प्रसन्न होकर अग्नियो ने उसे, ब्रह्म के स्वरूप और उसकी प्राप्ति की अंगस्वरूप अग्निविद्या का उपदेश देकर "आचार्य से प्राप्त ब्रह्मविद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है इस श्रुत्यर्थ का विचार कर अतिशय सिद्धि प्राप्ति के लिए आचाय ही इसे सयद्वामत्व आदि गुण युक्त ब्रह्म, ब्रह्मोपासना का स्थान एवं अर्चिरादि-गति का उपदेश करें; ऐसा निश्चय कर उन्होने उपकोसल को आदेश दिया कि—आचार्य तुझे गति का उपदेश देंगे।

गतिग्रहणमुपदेश्यविद्याशेषप्रदर्शनार्थम्। अतएव आचार्योऽपि "अहं तु ते तद्वक्षामि यथा पुष्करपलाशआपो न श्लिष्यन्ते एव-

ankurnagpal108@gmail.com

मेवंविदि पापंकर्म न श्लिष्यते" इत्युपक्रम्य संयद्वामत्वादिकल्याण गुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश। अतः "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति सुखविशिष्टस्य प्रकतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राभिधानादयमक्ष्याधारः परमात्मा।

उपदेष्टव्य विद्या से सम्बधित जो कुछ भी वक्तव्य है वह सभी "गति" शब्द के प्रयोग में उल्लेख्य है। इसलिए आचार्य ने भी—"अब मैं तुम्हें वह बतलाता हूं, जिसे जानकर पापकर्मो का उसी प्रकार संबंध विच्छेद हो जाता है जैसे कि कमल पत्र में जल का आश्लेष नहीं रहता।" इस भूमिका के साथ सगद्वामत्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म की नेत्रस्थानीय उपासना तथा अर्चिरादिगति का उपदेश दिया। इस प्रकरण की इस प्रकार पर्यालोचना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" सुखविशिष्ट नेत्र स्थानीय उपास्य का जो उल्लेख किया गया है, वह स्वाभाविक ही है।

ननु च "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति परंब्रह्माभिहितमिति कथमवगम्यते, यस्येहाक्ष्याधारतयाऽभिधानंब्रूषे; यावता "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मदृष्टिर्विधीयत इति प्रतिभाति "नाम ब्रह्म"-मनोब्रह्म" इत्यादि वचनसारूप्यात्। तत्राह—

शंका होती है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" यह प्रयोग परंब्रह्म के लिए ही किया गया है, तथा यही नेत्रस्थानीय है, यह कैसे जान गए? "क ब्रह्म ख ब्रह्म" शब्द से तो प्रसिद्ध आकाश और लौकिक सुख को ही ब्रह्म दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है, यह तो "नाम ब्रह्म" "मन ब्रह्म" की तरह ही वाक्य है। इसका समाधान करते है—

अत एव च स ब्रह्म १।२।१६॥

यतस्तत्र "यदेव क तदेव खं" इति सुखविशिष्टस्याकाशस्याभिधानम् अतएव ख शब्दाभिधेय. सः आकाशः परंब्रह्म एतदुक्त भवति—अग्निभिः "प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्युक्ते उपकोसल उवाच—

ankurnagpal108@gmail.com

"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि" इति।
अस्यान्यमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिहितम् जन्मजरामरणादिभवभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् अतो ब्रह्मैवोपास्यमुपदिष्टम्। तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिः समानाधिकरणं ब्रह्म निर्दिष्टम्। तेषु च प्राण विशिष्टत्वं जगद्विधरणयोगेन वा प्राणशरीर तया प्राणस्यनियंतृत्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत इति "विजानाम्यहं यत्प्राणोब्रह्म" इत्युक्तवान्।

विशेष प्रयोजन से ही वहाँ "जो क है वही ख है" ऐसा सुख विशिष्ट आकाश का निरूपण किया गया है (अर्थात् आकाश के समान अपार निर्दोष, सुख विशेष ही ब्राह्मसुख है) इसलिए ख शब्द से अभिधेय आकाश भी परंब्रह्म है। तीनों अग्नियों के "प्राण ब्रह्म-क ब्रह्म-ख ब्रह्म" कहने पर उपकोसल ने कहा—"मैं प्राण ब्रह्म को तो जानता हूं पर क और ख कैसे ब्रह्म है यह नहीं समझ पाया।

इसका तात्पर्य है कि—अग्नियों ने प्राण आदि की प्रतीकोपासना रूप से व्याख्या की हो, ऐसा नहीं है, अपितु जन्मजरामरण आदि सांसारिक भयों से भीत मुमुक्षु को, ब्रह्मोपदेश देने के लिए ऐसा कहा था। इससे ज्ञात होता है कि—ब्रह्म की उपासना का ही उपदेश दिया गया है तथा उन वाक्यों में, प्रसिद्ध प्राण आदि के सामानाधिकरण्य से ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। ब्रह्म ही जगत को धारण करते हैं अथवा प्राण ब्रह्म का शरीर है अतएव वे ही प्राण के नियामक परिचालक हैं इत्यादि से ब्रह्म का प्राण विशिष्टत्व धर्म सिद्ध होता है—इसी लिए—"प्राण ब्रह्म को तो मैं जानता हूँ" ऐसा (उपकोसल ने) कहा।

तथा सुखाकाशयोरपि ब्रह्मणः शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम्,उतान्योन्यव्यवच्छेदकतया निरतिशयानंदरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा तत्र पृथग्भूतयोः शरीरतया विशेषणत्वे वैषयिकसुखभूताकाशयोर्नियामकत्वं ब्रह्मणः स्यादिति स्वरूपा-

ankurnagpal108@gmail.com

वगतिर्नस्यात्, अन्योन्यव्यवच्छेदकत्वेऽपरिच्छिन्नानंदैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणः स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधारयिषया 'कं च तु खं च न विजानामि'' इत्युक्तवान्।

इसी प्रकार सुख और आकाश भी ब्रह्म के शरीर स्थानीय रूप से उनके नियंत्रण में रहने से विशेषण स्वरूप है अथवा परस्पर एक दूसरे से विशेषित होकर निरतिशय आनंदमय ब्रह्म के स्वरूप का प्रकाश करते हैं इसलिए वे ब्रह्म के विशेषण है ? इस विचारणीय प्रश्न पर–इन दोनों (क और ख) को ब्रह्म का भिन्न-भिन्न शरीर मानकर यदि विशेषण माना जावे तो ब्रह्म का नियत्रण वैषयिक सुख और भूताकाश पर हो सकता है, पर ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता [अर्थात् सुख ही ब्रह्म है, आकाश ही ब्रह्म है ऐसा नही कहा जा सकता अपितु वैषयिक सुख और भूताकाश को ब्रह्मसुख और दहराकाश का अंग कहा जा सकता है] एक दूसरे से विशेषित होकर तो अतिशय आनंदमय ब्रह्म के स्वरूप की अवगति हो सकती है [अर्थात् जो क है वही ख है और जो ख है वही क है, इस व्याख्या के अनुसार सुख और आकाश की पारस्परिक विशेषताओ से, आकाश के समान व्यापक स्वच्छ सुख है अथवा सुख का सा सरल गंभीर आकाश है, ये दोनों ही विशेषतायें, ब्रह्म की अखड आनदमयता का प्रकाश करती है] उपकोसल के समक्ष उपर्युक्त संशयात्मक दो विचार थे, इसीलिए उसने गुरु से कहा था कि–"क और ख कैसे ब्रह्म हैं यह मैं नहीं समझ सका।"

उपकोसलस्येममाशयं जानंतोऽग्नयः "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम् '' इत्यूचिरे। ब्रह्मणः सुखरूपत्वमेवापरिच्छिन्न मित्यर्थः। अतः प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद् ब्रह्म तदेव अपरिच्छिन्न सुखरूपं चेति निगमितम् "प्राणं च हास्मैतदाकाशं चोचु." इति। अतः 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'' इत्यत्रापरिच्छिन्न सुखं ब्रह्म प्रतिपादितमिति परंब्रह्मैव तत्र प्रकृतम्, तदेव चात्राक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यक्ष्याधारः परमात्मा।

ankurnagpal108@gmail.com

उपकोसल के उक्त आशय को समझ कर अग्नियों ने कहा कि— "जो क है वही ख है, जो ख है वही क है" ब्रह्म निस्सीम सुख स्वरूप है यही उनके कथन का तात्पर्यार्थ है। प्राण जिनका शरीर है, ऐसे प्राण से विशिष्ट ब्रह्म, निस्सीम सुखस्वरूप भी है ऐसा "प्राण और उसके आश्रय-भूत आकाश का उपदेश किया" इस वेदांत वाक्य से सिद्ध होता है। इससे निश्चित होता है कि—"क ब्रह्म ख ब्रह्म" इत्यादि वाक्य में निस्सीम सुख स्वरूप ब्रह्म का ही वर्णन है जो कि परब्रह्म का ही प्रतिपादक है, वही उक्त प्रकरण का नेत्रस्थानीय नेत्राधार परमात्मा है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।१।२।१७॥

श्रुतोपनिषत्कस्य—अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसंधेयतया श्रुत्यंतरप्रतिपाद्यमाना अर्चिरादिका गतिर्या, तामपुनरावृत्तिलक्षण-परं पुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुषं श्रुतवते "तेऽर्चिषमेवाभि-संभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षम्" इत्यारभ्य" चन्द्रमसोविद्युतम् तत्पुरुषो मानव. स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमानां इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते "इत्यन्तेनोपदिशति। अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा।

श्रुतोपनिषत्क अर्थात औपनिषद ज्ञातव्य परमपुरुष भगवान तथा तत्संबंधी अन्यान्य श्रुतिवाक्यों से अपुनरावृति लक्षण वाली परंपुरुष को प्राप्त कराने वाली अर्चिरादिगति, उपकोसल को—" वे अर्चिअभिमानी देवता को ही प्राप्त होते है, अर्चि से दिवसाभिमानी देवता को दिवसा-भिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को" इत्यादि से प्रारंभ करके "चन्द्रमा से विद्युत को, वहाँ से अमामव पुरुष, ब्रह्म को प्राप्त करा देता है, यह देवमार्ग ब्रह्मपथ है, इससे जाने वाले मानव, मानव मंडल में कदापि नही लौटते" यहाँ तक बतलाई गई है. वह अक्षिपुरुष के लिए ही है। इससे भी सिद्ध होता है कि अक्षिपुरुष परमात्मा ही है।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८॥

प्रतिबिम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानाद मृतत्वादीनां च

ankurnagpal108@gmail.com

निरुपाधिकानां तेष्वसंभवान्न परमात्मन इतरः छायाभिः अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति। प्रतिबिम्बस्य तावत्पुरुषान्तर संन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसंभवः। जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय-सर्वेन्द्रियकेन्द्रभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम्। देवतायाश्च 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः'' इति रश्मिद्वारेणा-वस्थानवचनात् देशांतरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षु-ष्यवस्थानं सर्वषामेवैषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न संभवन्त्येव। तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा।

अमृतत्व आदि धर्म छायापुरुष आदि में संभव नहीं हैं, नेत्रों में इन सबकी नियमित स्थिति भी संभव नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त ये सब अक्षिपुरुष नहीं हो सकते। सामने किसी व्यक्ति के हुए बिना छाया तो पड़ नही सकती, इसलिए छायापुरुष की नेत्रो में नियमित स्थिति संभव नही है। जीव की, सरलता पूर्वक हर कार्य संपादन के लिए इन्द्रियों के मूलभूत स्थान विशेष (हृदय) मे ही स्थिति है, इसलिए उसका, नेत्रों की स्थिति का, प्रश्न ही नही उठता। चाक्षुष देवता की भी ("किरणों से ही वे इसमें उपस्थित है'') रश्मियों द्वारा ही अवस्थिति कही गई है, वह तो दूरस्थ होने से स्वयं उपस्थित हो नहीं सकते। इन सब में निर्दोष अमृतत्व आदि विशेषतायें हो ही नहीं सकती, इसलिए अक्षिपुरुष परमात्मा ही है; यह सिद्ध होता है।

४ अधिकरणः—

"स्थानादिव्यपदेशाच्च" इत्यत्र "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं एवेति सिद्धम् कृत्वाक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वं साधितम्? इदानीं तदेव समर्थयते—

"जो नेत्रों में रहते है'' इत्यादि वाक्यों में, चक्षु में स्थित जिन नियमन आदि धर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वह परमात्मा के ही

ankurnagpal108@gmail.com

धर्म हैं, "स्थानादिव्यपदेशाच्च" सूत्र में प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके, अक्षि-पुरुष की परमात्मकता सिद्ध की गई अब उसी का समर्थन करते हैं।

अन्तर्याम्याधिदैवाधिलोकादिषुतद्धर्मव्यपदेशाच्च ।१।२।१६॥

काण्वा—माध्यन्दिनाश्च-वाजसनेयिन. समामनंति—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथ्वी न वेद यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथ्वीमन्तरो यमयत्येषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति। एवम् अम्ब्वग्न्यन्तरिक्षवाय्वादित्यदिक्चंद्रतारकाकाशतमस्तेजस्सुदैवेषु च सर्वेषु भूतेषु प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्त्वग्विज्ञानरेतः स्वात्मात्मीयेषु च तिष्ठंतं तत्तदन्तरभूतं तत्तदवेद्यं तत्तच्छरीरकं तत्तद्यमयन्तं कंचिन्निर्दिश्य "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्युपदिश्यते। माध्यन्दिन पाठे तु 'यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्" "यः सर्वेषु वेदेषु"—यः सर्वेषु यज्ञेषु "इति च पर्यायाः।" यो विज्ञाने तिष्ठन् "इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने" य आत्मनितिष्ठन् "इति पर्यायः। "सत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति विशेषः। तत्र संशय्यते—किमयमन्तर्यामी प्रत्यगात्मा उत परमात्मा—इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः। वाक्यशेषे "द्रष्टाश्रोता" इतिकरणायत्त ज्ञानताश्रुतेः। एवं द्रष्टुरेवान्तर्यामित्वोपदेशात्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति द्रष्ट्रन्तर निषेधाच्चेति।

यजुर्वेदीय काण्वशाखा और माध्यन्दिन वाजसनेयी शाखा में ऐसा वर्णन मिलता है कि—"जो पृथिवी में होते हुए भी पृथ्वी से भिन्न हैं, पृथ्वी उन्हें नहीं जानती पर पृथ्वी उनका शरीर है, वह पृथ्वी में अन्तर्यामी रूप से उसका संयमन करते है, वे अन्तर्यामी अमृत परमात्मा ही तुम्हारे आत्मा हैं।" इत्यादि—इसी प्रकार जल-अग्नि-अंतरिक्ष-वायु-आदित्य-दिक्-चंद्र-तारा-आकाश-तम और तेज रूप देवताओं में, समस्त भूतों में, प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र-मन-त्वग्-बुद्धि और शुक आदि आत्मा और आत्मियों में अवस्थित उनके अन्तर्यामी उनसे अज्ञेय, उनके

ankurnagpal108@gmail.com

ही शरीर वाले, उनके नियंता आदि रूप से उन्हे बतलाकर "वे ही अमृत स्वरूप अन्तर्यामी तुम्हारे आत्मा हैं।" ऐसा उपदेश दिया गया है। माध्यन्दिन के पाठ में—"जो समस्त लोको में स्थित हैं, जो समस्त वेदों में स्थित हैं, जो समस्त यज्ञों में स्थित हैं" इत्यादि पर्याय विशेष है। "जो विज्ञान में स्थित है" के स्थान पर "जो आत्मा में स्थित है" ऐसा पर्यायवाची वाक्य प्रयोग किया गया है। "वह अमृत स्वरूप अन्तर्यामी तुम्हारे आत्मा हैं" यह विशेष वाक्य दोनों मे ही मिलता है।

इस पर संशय होता है कि–यह अन्तर्यामी, जीव है या परमात्मा? कह सकते हैं कि–जीवात्मा है, क्यों कि–उक्त वाक्य के अंत में अन्तर्यामी का ज्ञान इन्द्रियाधीन है, ऐसा "द्रष्टा श्रोता" इत्यादि विशेषणों से ज्ञात होता है। द्रष्टा को ही अन्तर्यामी कहा गया है तथा उसके अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है।" ऐसा निषेध किया गया है इत्यादि से जीवात्मा ही सिद्ध होता है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् अधिदैवाधिलोकादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्याम्यपहतपाप्मा परमात्मा नारायणः। काण्वपाठसिद्धेभ्योऽधिदैवादिमद्भ्यो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्ति वाक्यानि माध्यन्दिनपाठे संतीति ज्ञापनार्थमधिदैवाधिलोकादिष्वित्युभयोरुपादानम्। तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात् परमात्मधर्मोह्ययम्, यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूत सर्वदेवादीन् नियमयति इति।

उस संशय पर कहते हैं कि–अधिदैव और अधिलोक आदि वाक्यों में कहे गए अन्तर्यामी, निष्पाप परमात्मा नारायण ही हैं। काण्वशाखा के पाठ के अनुसार अधिदैवादि युक्त वाक्य की अपेक्षा माध्यन्दिन पाठ में अधिलोकादि युक्त पाठ अधिक है, इसके ज्ञापन के लिए ही सूत्र में अधिदेव के बाद अधिलोक शब्द का उल्लेख किया गया है। इन दोनों ही स्थानों के अन्तर्यामी परमात्मा ही हैं। उनके ही धर्मों का, दोनों

ankurnagpal108@gmail.com

स्थानों पर उल्लेख किया गया है। जो स्वयं एक होकर भी, समस्त लोक, समस्त भूत और समस्त देवताओं का नियमन करते हैं। इत्यादि।

तथा उद्दालक प्रश्नः "इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य "तमन्तर्यामिणंब्रूहि" इति तस्य चोत्तरम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम्। तदेतत् सर्वाल्लोकान्, सर्वाणि च भूतानि, सर्वान् देवान्, सर्वान् वेदान्, सर्वांश्चयज्ञानन्तः प्रविश्य, सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्त्वं च सर्वज्ञात् सत्यसंकल्पात् पुरुषोत्तमादन्यस्य न संभवति।

इसी प्रकार उद्दालक प्रश्न के प्रकरण में जैसे-"जो अन्तर्यामी होकर इहलोक परलोक और समस्त भूतों का संयमन करते है" ऐसा उपक्रम करके "उन अन्तर्यामी के विषय में बतलावें" ऐसा प्रश्न करने पर "जो पृथिवी में है" इत्यादि उत्तर दिया गया। इससे ज्ञात होता है कि-समस्त लोक, समस्त भूत समुदाय, समस्त देवता, समस्त वेद, समस्त यज्ञ के अन्तर्यामी, हर प्रकार से सबका नियमन करने वाले, सर्व शरीर, सर्वात्मा सर्वज्ञ सत्य संकल्प, एक मात्र पुरुषोत्तम ही हो सकते हैं।

तथाहि-"अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा"-"तत्स्रष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तेदनुप्रविश्य, सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादीन्यौपनिषदानिवाक्यानि परमात्मन एव, सर्वस्य प्रशासितृत्वं सर्वस्यात्मत्वं इत्यादीनि वदंति।

इसी प्रकार-"सर्वात्मभूत परमेश्वर अभ्यंतर में प्रवेश कर समस्त जनों का शासन करते हैं"-"वे सृष्टि करके उसी में प्रविष्ट हो गए, प्रविष्ट होकर वे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप वाले हुए" इत्यादि औपनिषद् वाक्य, परमात्मा की ही सर्वशासकता और सर्वान्तर्यामिता इत्यादि बतलाते हैं।

तथा सुबालोपनिषदि-"नैवेह किंचनाग्र आसीद्मूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायंते दिव्योदेव एको नारायणः, चक्षुश्च द्रष्टव्यं

ankurnagpal108@gmail.com

च नारायणः, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः" इत्यारम्भ "अन्तः शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः यस्य पृथ्वी शरीरं यः पृथ्वी-मन्तरे संचरन् यं पृथ्वी न वेद यस्यापश्शरीम्" इत्यादि "यस्य मृत्युः शरीरम् यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूतान्त-रात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति परस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वस्य नियंतृत्वं च प्रतिपाद्यते ।

तथा सुबालोपनिषद में भी जैसे—"सृष्टि के पूर्व कुछ नहीं था, ये सारी प्रजा अर्थात् जायमान वस्तुएं, निर्मूल और निराधार रूप से जन्मती हैं, उस समय अलौकिक प्रकाश वाले एकमात्र नारायण ही थे, नारायण ही चक्षु और द्रष्टव्य तथा नारायण ही श्रोत्र और श्रोतव्य थे।" इत्यादि उपक्रम वाक्य से लेकर "जन्म रहित एक नित्यवस्तु शरीर के अदर बुद्धि की गुहा मे निहित है, पृथ्वी जिनका शरीर है, जो पृथ्वी में सचरण करते है पृथ्वी जिनको नहीं जानती, जल जिनका शरीर है।" इत्यादि तथा 'मृत्यु जिनका शरीर है, जो मृत्यु मे संचरित हैं, मृत्यु जिन्हे नही जानता, ऐसे समस्त भूतों के अन्तरात्मा, निष्पाप दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है।" यहाँ तक परब्रह्म को सर्वात्मक, सर्व शरीरी सर्वनियंता, बतलाया गया है।

स्वाभाविकंचामृतत्वं परमात्मन एव धर्मः। न च परस्या-त्मनः करणायत्तद्रष्टृत्वादिकं, अपितु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात् सत्यसंकल्पत्वाच्च स्वत एव। यथा च श्रुतिः—"पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इति। न च दर्शन श्रवणादिशब्दाः चक्षुरादिकरणजन्मनो ज्ञानस्य वाचकाः अपितु रूपादिसाक्षात्कारस्य । स च रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहित स्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरण जन्माः, परस्यतु स्वत एव। 'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा" इत्येतदपि पूववाक्योदितात् नियतुः द्रष्टुः, अन्योद्रष्टा नास्ति इति वदति।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाभाविक अमरता, परमात्मा की ही विशेषता है। परमात्मा में, देखना सुनना इत्यादि क्षमतायें इन्द्रियाधीन नही हैं अपितु सर्वज्ञ और सत्यसंकल्प होने से ये सारी क्षमतायें उनमें स्वाभाविक रूप से रहती हैं। जैसा कि-' विना नेत्र के ही देखते है, विना कान के ही सुनते हैं' बिना हाथ और पैर के ही पकड़ते और चलते हैं" इस श्रुति वाक्य से भी सिद्ध है। देखना सुनना इत्यादि शब्द एकमात्र आँख कान इत्यादि इन्द्रिय जन्य ज्ञान के ही बोधक हों, ऐसा नही है, अपितु रूपादि विषयक साक्षात्कार के बोधक भी हैं। जीव की स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, स्वीय कर्म संस्कारों से आवृत रहती है इसीलिए उसे इन्द्रियों की अपेक्षा होती है। किन्तु परमात्मा स्वभाव से ही कर्मादिजन्य दोषों से रहित है, इसलिए उन्हें सदा स्वाभाविक ज्ञान रहता है। "इनसे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है" इत्यादि श्रुति भी पूर्व वाक्योक्त-नियंता द्रष्टा को कोई दूसरा द्रष्टा नही है इसी का समर्थन करती है।

"यं पृथ्वी न वेद" ममात्मा न वेद "इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलाभ्यमान एव नियमयतीहि यत्पूर्वमुक्तम् तदेव" अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता "इति निगमय्य" नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा "इत्यादिना तस्य नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते।" एष त आत्मा-"सत्त आत्मा" इति च त इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति।

"पृथ्वी जिन्हें नहीं जानती" आत्मा जिन्हें नही जानता "इत्यादि वाक्यों से उन्हीं का उल्लेख है जिन्हें पूर्व वाक्यों में पृथ्वी आत्मा आदि का नियामक कहा गया है, उन्हें ही आगे "स्वयं अदृश्य होकर देखते है तथा अश्रुत होकर सुनते है" इत्यादि में अलौकिक बतलाकर "उनके अतिरिक्त कोई अन्य द्रष्टा नही है" इत्यादि से उनकी अनन्य नियंतृता सिद्ध की गई है। 'यह तुम्हारा आत्मा है—वह तुम्हारा, आत्मा है" इत्यादि में आत्मा से भिन्न विभक्ति का प्रयोग करके जीवात्मा की भिन्नता स्पष्ट कर दी गई है इसलिए जीवात्मा कदापि अन्तर्यामी नहीं हो सकता।

ankurnagpal108@gmail.com

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ।१।२।२०।।

स्मार्त्तं प्रधानम्, शारीरः जीवः स्मार्त्तं च शारीरश्च नान्तर्यामी, अतद्धर्माभिलापात्—तयोरसंभावितधर्माभिलापात् । स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्ट्रत्वम्, सर्वस्य नियंतृत्वं, सर्वस्यात्मत्वं, स्वतएवामृतत्वम् च तयोर्नसंभावनागंधमर्हति । एतदुक्तं भवति, यथास्मार्त्तमचेतनं, सर्वज्ञत्वनियंतृत्वसर्वात्मत्वीदिकं मार्हति, तथा जीवोऽपि; अतद्धर्मत्वादिति ।

सांख्य स्मृति प्रतिपाद्य प्रधान (माया) और शारीर जीवात्मा, अन्तर्यामी नहीं हैं क्यों कि उन दोनों में वे विशेषतायें नहीं हैं जो कि अन्तर्यामी के लिए वेदांत वाक्यों में कही गई हैं । स्वाभाविक ही सर्वदर्शन शक्ति, सर्व नियंत्रण शक्ति, सर्वात्मकता, और स्वाभाविक अमरता का इन दोनों में नितान्त अभाव है । कथन यह है कि—जैसे कि प्रधान अचेतन प्रकृति में सर्वज्ञत्व, नियंतृत्व सर्वात्मत्व आदि की अर्हता नहीं है वैसे ही चैतन्य जीव में भी नही है, ये विशेषतायें उसमें भी नहीं हैं ।

अमीषां गुणानां परमान्यन्वयः, प्रत्यगात्मनिव्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः ।

उक्त विशेषताओं का परमात्मा में अन्वय तथा जीवात्मा में अभाव दो सूत्रों में दिखलाया गया है ।

उभयेऽपिहिभेदेनैनमाभिधीयते ।१।२।२१।।

उभये माध्यन्दिनाः काण्वाश्च, अन्तर्यामिणोनियम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैः समम् एनं, शारीरमपि विभज्याधीयते—"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति माध्यन्दियाः; 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि काण्वाः परमात्मनियाम्यतया तस्माद् विलक्षणत्वेनैनमभिधीयत इत्यर्थः । अतोऽन्तर्यामी

ankurnagpal108@gmail.com

प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम्।

माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं में, अचेतन वागादि इन्द्रियों के साथ संलग्न होने से जीवात्मा को, अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न बतलाया गया है, जैसे कि-"जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से हैं, आत्मा उन्हें नहीं जानता, आत्मा ही उनका शरीर है, वह आत्मा में रह कर उसका नियमन करते हैं, वे अन्तर्यामी ही तुम्हारा अमर आत्मा हैं" ऐसा माध्यन्दिन तथा—"जो विज्ञान में स्थित" इत्यादि काण्व, इस जीवात्मा को परमात्मा से नियम्य होने से भिन्न बतलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा से विलक्षण, निष्पाप परमात्मा नारायण ही अन्तर्यामी हैं।

४ अदृश्यत्वादि गुणकाधिकरण :—

अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः।१।२।२२॥

आथर्वणिकअधीयते 'अथ परा यया तदक्षरमाधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रंतदपाणिपादम्;नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः" इति। तथोत्तरत्र-"अक्षरात्परतः परैः" इति। तत्र संदिह्यते-किमिहादृश्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्य प्रकृति पुरुषौ, अथोभयत्र परमात्मैव इति। किं प्राप्तम्? प्रकृतिपुरुषाविति। कुतः? अस्याक्षरस्य "अदृष्टो द्रष्टा" इत्यादिविव न द्रष्टत्वादिश्चेतन धर्मविशेष इह श्रूयते, "अक्षरात्परतः परः" इति च सर्वस्मात् विकारात् परभूतादक्षरादस्मात्परः क्षेत्रज्ञ समष्टि पुरुषः प्रतिपाद्यते।

आथर्वणिक शाखा में कहा गया कि-"अब पराविद्या का व्याख्यान किया जावेगा, जिससे अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है,-"जो अदृश्य अग्राह्य गोत्र वर्ण रहित, नेत्र कर्ण रहित, हस्तपाद रहित, नित्य, विभु सर्वगत,

ankurnagpal108@gmail.com

अतिसूक्ष्म और अव्यय है, उस भूतयोनि का धीर लोग दर्शन करते हैं।" इसके बाद कहा गया कि–' वह अक्षर से भी पर है।"

इस पर संशय होता है कि–अदृश्यत्व आदि गुण वाला पर अक्षर से परतत्त्व कौन है, प्रकृति पुरुष अथवा परमात्मा ? कह सकते है कि प्रकृति पुरुष है, क्यों कि–"वह दीखते नही पर द्रष्टा है" इत्यादि में चेतन धर्म सापेक्ष है पर यहाँ तो चेनन धर्म सापेक्ष नहीं है अपितु– "पर अक्षर से भी पर है" इत्यादि में समस्त विकारों से परभूत अक्षर से श्रेष्ठ देहाधिपति पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है।

एतदुक्तं भवति रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूतीश्रय दृश्यत्वादिकं प्रतिषिध्यमानं पृथिव्यादि सजातीय सूक्ष्मरूपाचेतन-मेवोस्थापयति, तच्च प्रधानमेव। तस्मात्परत्वं च समष्टि पुरुषस्यैव प्रसिद्धम्। तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादि विशेषपर्यन्तं विकारजातं प्रसूत इति तत्र द्रष्टान्ता उपन्यस्यते "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथापृथिव्यामोषधयः संभवंति, यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्" इति।

अतोऽस्मिन्प्रकरणे प्रधान पुरुषानेव प्रतिपाद्येते इति।

कथन यह है कि–रूपादिगुण विशिष्ठ स्थूल अचेतन पृथिव्यादि भूतविषयक दृश्यत्वादि धर्म का प्रतिषेध कर पृथिव्यादि के समान सूक्ष्म रूप जिस अचेतन का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रधान (प्रकृति) का ही प्रतिपादन है। उस प्रधान से पर समष्टि पुरुष ही प्रसिद्ध है। प्रधान, उस पुरुष से अधिष्ठित होकर महत्तत्व से लेकर विशेष (स्थूल) तक समस्त विकारो का प्रसव करती है। इस विषय मे द्रष्टान्त भी दिया गया है—"जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वतः ही जाल की सृष्टि और सहार करती है, वैसे ही पृथ्वी में वृक्षादिको की स्वाभाविक सृष्टि होती है तथा जैसे पुरुष के शरीर में लोभ नख आदि स्वतः होते है, वैसे ही अक्षर से विश्व होता है।" इस दृष्टान्त से ज्ञात है कि– इस प्रकरण में प्रकृति पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः, अदृश्यत्वादि गुणकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुष एव, कुतः ? तद्धर्मोक्तेः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"इत्यादिना सर्वज्ञत्वादिकाः तस्यैव धर्मा उच्यन्ते तथा हि—"ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमभिधाय 'अक्षरात् संभवतोहिविश्वम्" इति तस्मात् विश्वसंभवं चाभिधाय "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते" इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिः प्रतिपाद्यते। पश्चात् "अक्षरातपरतः परः" इति च प्रकृतिमदृश्यत्वादिगुणक भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्वेन व्यपदिश्यते। अतः "अक्षरात् परतः पर." इत्यक्षर शब्दः पंचम्यन्तः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं नाभिधत्ते, तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेः सर्वस्मात् परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासंभवात्। अतोऽन्नाक्षरशब्दो भूत सूक्ष्ममचेतनं ब्रूते।

उक्त संशय पर वक्तव्य यह है कि—अदृश्यत्वादि गुण अक्षर से परतत्त्व, परमात्मा के ही धर्म कहे गये हैं। तथा "जो सर्वज्ञ सर्वविद्" इत्यादि से सर्वज्ञता आदि धर्म भी उन्ही के बतलाए गए हैं। वैसे ही—"जिससे अक्षर अधिगत होता है" इत्यादि से अदृश्यत्व गुणवाले अक्षर का वर्णन करके "अक्षर से सारा विश्व होता है" इत्यादि से उस अक्षर से विश्व की उत्पत्ति बतलाकर "जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, ज्ञानमयता ही जिसका तप है उससे ही ब्रह्म, नाम, अन्न (पृथ्वी) और रूप उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में भूतयोनि अक्षर की सर्वज्ञता आदि का प्रतिपादन किया गया है। "वह पर अक्षर से भी, पर है" इस वाक्य में भूतयोनि अदृश्यता आदि गुणवाले सर्वज्ञ अक्षर को ही, पर रूप से प्रतिपादन किया गया है। "अक्षरात् परतः" में अक्षर शब्द पंचम्यन्त कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि—यह वाक्य अदृश्यत्व आदि गुण वाले अक्षर का बोधक नहीं है। पर शब्द उस सर्वज्ञ विश्वयोनि की ओर इंगन कर रहा है जो कि सब से श्रेष्ठ है उससे अधिक कोई और श्रेष्ठ नही हो सकता।

ankurnagpal108@gmail.com

पंचम्यन्त अक्षर शब्द सूक्ष्म भूत अचेतन का ही वाचक है। (अर्थात् अक्षर, परमात्मा की वह सूक्ष्म भूत अचेतन अवस्था है जिससे, स्थूल अचेतन जगत रूप क्षर की, उत्पत्ति होती है। परमात्मा इस अक्षर से भी परे है)

इतश्च न प्रधान पुरुषो—प्रधान और पुरुष इसलिए भी अदृश्यता आदि गुण वाले नहीं हो सकते कि—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांच नेतरौ ।१।२।२३।।

विशिनष्टि हि प्रकरणं—प्रधानाच्च पुरुषाच्च भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपादनादिभिः। तथा ताभ्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते "अक्षरात्परतः परः" इत्यादिना। तथाहि—"सब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इति सर्वविद्या प्रतिष्ठा भूता ब्रह्मविद्या प्रक्रांताः परविद्यैव च सर्वविद्या प्रतिष्ठा, तामिमां सर्वविद्या प्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखाथर्वादिगुरूपरम्परयांऽगिरसा प्राप्तां जिज्ञासुः "शौनको ह वै महाशालोंऽगिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इति ब्रह्मविद्यायाः सर्वविद्याऽश्रयत्वाद ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीतिकृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्ठम्—"तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह्स्म यद्ब्रह्म विदोवदंति पराचैवापरा च" इति। ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये—ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः, तत्र परोक्षं शास्त्र-जन्यं ज्ञानं, अपरोक्षम् योगजन्यम्, तयोः ब्रह्म प्राप्ति उपायभूतम परोक्षं ज्ञानम्, तच्च भक्तिरूपापन्नम्, "यमेवैष वृणुतेतेनलभ्यः" इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात् तदुपायश्चागमजन्यं विवेकादि साधनसप्त-कानुग्रहीतं ज्ञानं "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः।

ankurnagpal108@gmail.com

"एक विज्ञान से सर्वविज्ञान" इत्यादि नियम के प्रतिपादन के लिए प्रारब्ध यह प्रकरण भी विशेष रूप से प्रधान और पुरुष से, भूतयोनि अक्षर की पृथकता बतलाता है। इसी प्रकार "अक्षरात् परतः परः" वाक्य भी, प्रधान और पुरुष से अक्षर की पृथकता बतलाता है। प्रकरण में जैसे—"उन्होंने बड़े पुत्र अथर्व को समस्त विद्याओं की आश्रय भूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया" इसमें समस्त विद्याओं की आधार रूप ब्रह्मविद्या बतलाई गई है। परमात्म विषयक विद्या ही समस्त विद्याओं की आधार शिला है। ब्रह्म, अथर्व आदि गुरु परम्परा से प्राप्त इस समस्त विद्याओं की आधारभूत विद्या को अंगिरस से जिज्ञासु—"शौनक ने विधान पूर्वक जाकर जिज्ञासा की कि—हे भगवन्! कौन ऐसा एक पदार्थ है जिसके ज्ञान से इस समस्त जगत का ज्ञान हो जाता है?" ब्रह्मविद्या ही समस्त विद्याओं की आधार शिला है, इसलिए ब्रह्मविज्ञान से ही समस्त का ज्ञान हो सकता है, ऐसा विचार कर ही शौनक ने ब्रह्मस्वरूप की जिज्ञासा की थी, उस पर—"उन्होने, उनसे कहा कि—"दो विद्यायें ज्ञातव्य हैं, जिन्हे कि ब्रह्मवेत्ता परा अपरा नाम से स्मरण करते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म प्राप्ति की इच्छावालों को दो विद्याओं को जानना चाहिए। अर्थात् ब्रह्म विषय में परोक्ष और अपरोक्ष, दो विज्ञान उपादेय हैं। उनमें परोक्ष तो शास्त्र जन्य ज्ञान है तथा अपरोक्ष ज्ञान योगाभ्यास जन्य है। इन दोनों में अपरोक्ष ज्ञान ही ब्रह्म प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है जो कि—भक्तिरूप से प्राप्त होता है। "यह जिसे वरण कर लेते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं" इत्यादि में उक्त तथ्य का ही विवेचन किया गया है। इस भक्ति का उपाय रूप आगम जन्य ज्ञान, विवेक आदि सात साधनों से प्राप्त ज्ञान है। जैसा कि—"ब्राह्मण लोग वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप और विषयाशक्ति त्याग द्वारा उस परमात्मा को जानते हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है।

आह च भगवान पराशरः—"तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने, आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधाज्ञानं तथोच्यते" इति। "तथा-परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना "धर्मशास्त्राणि इत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कार हेतुभूतं परोक्षज्ञानमुक्तम्। सांगस्य सेतिहास पुराणस्यसधर्मशास्त्रस्य समीमांसस्य वेदस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वात्"

ankurnagpal108@gmail.com

ग्रथपरा ययातदक्षरमधिगम्यते "इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कार-लक्षणं भक्तिरूपापन्नं ज्ञानम्" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् इत्यादिना परोक्षा-परोक्षरूप ज्ञानद्वय विषयस्य परस्य ब्रह्मणः स्वरूपमुच्यते।

और भगवान पाराशर भी ऐसा ही कहते है—"ज्ञान और कर्म दोनों ही उनके प्राप्ति के हेतु हैं शास्त्रोक्त और विवेक जन्य दो प्रकार के ज्ञान कहे गए हैं। "तथापराऋग्वेदो यजुर्वेदः" से प्रारभ करके "धर्मशास्त्राणि" तक ब्रह्म साक्षात्कार के हेतुभूत शास्त्रोत्थ परोक्ष ज्ञान का विवेचन किया है। इतिहास, पुराण, मीमासा और व्याकरण, छंद ज्योतिष आदि अंगों सहित वेद ही ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति का मूलकारण है यही बतलाया गया "अब परा विद्या बतलाते हैं जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है इत्यादि में ब्रह्मानुभूति रूप भक्तिभावापन्न उपासना "नामक ज्ञान का विवेचन किया। "जो अदृश्य और अग्राह्य है" इत्यादि में परोक्ष अपरोक्ष इन दोनों ज्ञानों के विषयभूत परब्रह्म के स्वरूप का निर्देश किया गया है।

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इत्यादिना यथोक्तस्वरूपात् परस्याद् ब्रह्मणोऽक्षरात् कृत्स्नस्य चेतना चेतनात्मक प्रपंचस्योत्पत्ति-रुक्ता, विश्वमिति वचनात्राचेतनमात्रस्य "तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽ-न्नमभिजायते, अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोका. कर्मसुचामृतम्" इति ब्रह्मणो विश्वोत्पत्ति प्रकार उच्यते। तपसा-ज्ञानेन, "यस्य ज्ञान-मयंतपः" इति वक्ष्यमाणत्वात्, चीयते—उपचीयते; "बहुस्यां" इति संकल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्म सृष्ट्युन्मुखं भवतीत्यर्थः। ततोऽन्नमभि जायते—अद्यत इत्यन्नम्, विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूत सूक्ष्मभव्याकृतं परस्माद् ब्रह्मणो जायत इत्यर्थः प्राण मनः प्रभृति व स्वर्गापवर्गरूपफल साधनभूत कर्मप्रर्यन्तं सर्वं विकारजातं तस्मा देव जायते।

"ऊर्णनाभि जैसें सृष्टि और संहार करती है" इत्यादि मे, उपर्युक्त स्वरूप वाले परब्रह्म अक्षर ब्रह्म से, समस्त अंड़ चेतनात्म प्रपंच व

ankurnagpal108@gmail.com

उत्पत्ति बतलाई गई है, वाक्य में प्रयुक्त "विश्वम्" पद, समस्त अचेतन मात्र की उत्पत्ति का बोधक है। "ब्रह्म तपस्या द्वारा ही सृष्टि करते हैं, उनसे अन्न की सृष्टि होती है, अन्न से प्राण, मन, सत्य, समस्त लोक, कर्मफल और अमृत (स्वर्ग) आदि उत्पन्न हुए" ऐसा ब्रह्म का विश्वोत्पत्ति का प्रकार बतलाया गया है। तपसा का अर्थ है ज्ञान से, "जिसकी ज्ञानमयता ही तप है" इस वाक्य से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। चीयते का तात्पर्य है उपचीयते अर्थात् "बहुस्यां" ऐसे संकल्प रूप ज्ञान से ब्रह्म सृष्टि के उन्मुख होता है। जिसे खाया जाय उसे अन्न कहते हैं; अतः अन्नमभिजायते का तात्पर्य हुआ कि—भोक्ता विश्व का भोग्यभूत अन्न, अतिसूक्ष्म अव्याकृत परब्रह्म से उत्पन्न हुआ प्राण, मन, स्वर्ग और मोक्ष रूप फल के साधनीभूत कर्म आदि सभी विकार उन्हीं से उत्पन्न होते हैं।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिना सृष्ट्युपकरणभूतं सार्वज्ञसत्यसंकल्पत्वादिकमुक्तम्। सर्वज्ञात् संकल्पात् परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरादेतत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्यरूपं च जायते। "तदेतत्सत्यमिति" इति परस्यब्रह्मणो निरुपाधिकसत्यत्वमुच्यते।" मंत्रेषुकर्माणिक वयो मान्यपश्यंस्तानित्रेतायां बहुधा संततानि, तान्याचरत नियतं सत्यकामाः "इति सार्वज्ञसत्य संकल्पत्वादि कल्याण गुणाकारमक्षरं पुरुषं स्वतः सत्यं कामयमानाः तत्प्राप्त्यर्थं फलान्तरेभ्यो विरक्त ऋग्यजुसामाथर्व सुकविभिदृष्टानि वर्णाश्रमोचितानि त्रेताग्निषु बहुधा सन्ततानि कर्माण्याचरतेति।" एष वः पन्थाः "इत्यारभ्य" एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" इत्यन्तेन कर्मानुष्ठान प्रकारं, श्रुतिस्मृति चोदितेषु कर्मसु एकतरकर्मवैधुर्येऽपीतरेषामनुष्ठितानामपि निष्फलत्वम् अयथानुष्ठितस्य चाननुष्ठित समत्वम् अभिधाय "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषुकर्म, एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढाजरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति।" इत्यादिना फलाभिसंधि पूर्वकत्वेन ज्ञानविधुरतया चावरं कर्माचरतां

ankurnagpal108@gmail.com

पुनरावृत्तिमुक्त्वा "तपश्श्रद्धे ये ह्यु पवसंति" इत्यादिन पुनरपि-फलाभिसंधि रहितं ज्ञानिनानुष्ठितं कर्म ब्रह्म प्राप्तये भवतीति प्रशस्य "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादिना केवल कर्मफलेषु विरक्तस्य यथोदित कर्मानुगृहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतम् ज्ञानं जिज्ञासमानस्य च आचार्योपसदनं विधाय 'तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् "इत्यादिना" सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सौम्य" इत्यंतेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूत-योनेः परस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्यानुक्तैः स्वरूपगुणैः सह सर्वभूतान्त-रात्मतया विश्वशरोरत्वेन विश्वरूपत्वम्, तस्माद् विश्व सृष्टि च विस्पष्टमभिधाय "आविस्सन्निहितम्" इत्यादिना तस्यैवाक्षर स्याव्यकृतात्परतोऽपि पुरुषात् परभूतस्यपरस्य ब्रह्मण. परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्यानवधिकाति शयानंद स्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासीन प्रकारं उपासनस्य च परभक्तिरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोकपूर्वकं ब्रह्मसमं ब्रह्मानुभवफलं चोपदिश्योपसंहृतम् । अतएवं विशेषणाद् भेदव्यपदेशाच्च नास्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते ।

"जो सर्वज्ञ सर्वविद" इत्यादि वाक्य में उनके सृष्टि कार्योपयोगी, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प आदि गुण कहे गए हैं ।

कार्यभावापन्न ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) नाम और रूप से भिन्न भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड जगत) आदि सब, सर्वज्ञ सत्य संकल्प, अक्षर ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं। "तदेतत् सत्यम्" इत्यादि में, परब्रह्म की, निरुपाधिक सत्यता बतलाई गई है ।" कवियों अर्थात् मनीषियो ने, मंत्रों से जिन समस्त कर्मों का ज्ञान प्राप्त किया, उनका त्रेता में विस्तार हुआ, हे सत्याभिलाषियों ! आप निरन्तर उनका आचरण करिए" इत्यादि वाक्य मे; सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, कल्याण गुणाकर स्वतः सत्य, अक्षर पुरुष की प्राप्ति के इच्छुक, तथा उनकी प्राप्ति के उद्देश्य से अन्यान्य फलासक्ति से विरक्त तुम लोग, ऋक् यजु साम अथर्व वेदों में ऋषियों द्वारा देखे गए त्रेता अग्नियो में निहित वर्णाश्रमोचित कर्मों का आचरण करो;

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा आदेश दिया गया। "यही तुम्हारा मार्ग है" इत्यादि से प्रारंभ करके "यही तुम लोगों का पुण्यलब्ध ब्रह्मलोक है" इस अन्तिम वाक्य तक, कर्मानुष्ठान का प्रकार तथा श्रुति स्मृति उपदिष्ट कर्मों में किसी एक की भी हानि से संपूर्ण अनुष्ठान की हानि, तथा विधिलंघन पूर्वक किए गए अनुष्ठान की निरनुष्ठानता बतलाकर "अठारह सकान ऋत्विगों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ रूपी अदृढ़ जहाज की यदि कोई मूढ प्रशंसा करता है तो वह बार-बार जरा मृत्यु को प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य में, फलासक्ति पूर्वक अनुष्ठित तत्त्वज्ञान विहीन कर्म को अवर कहा गया तथा उस कर्मानुष्ठान से पुनः जन्म मरण का चक्र बतलाकर—"जो तपस्या और श्रद्धा से उपासना करता है" इत्यादि में, ज्ञानियों द्वारा फलानुसंधान रहित अनुष्ठित कर्म को ही ब्रह्म प्राप्ति का सहायक बतलाते हुए निष्काम कर्म की प्रशंसा की गई है। इसके बाद—"कर्म-लब्ध फल की परीक्षा करके अर्थात् फल की नित्यता अनित्यता का विचार करके" इत्यादि में, एक मात्र निष्काम कर्म करने वाले, ब्रह्म-प्राप्ति के उपायभूत ज्ञान के जिज्ञासुओं को आचार्य के निकट जाने का नियम बतलाकर "यही वह सत्य है" इत्यादि से प्रारंभ करके "हे सौम्य ! वह पुरुष ही अविद्या ग्रन्थि को छिन्न करते हैं" इत्यादि तक, पूर्वोक्त अक्षर भूतयोनि परब्रह्म की अब तक कहे गए गुणों के साथ सर्वान्तर्यामिता, विश्व शरीर होने से विश्वरूपता तथा उन्हीं से विश्वसृष्टि का सुस्पष्ट प्रतिपादन करके 'आविः सन्निहिता" इत्यादि में—अव्याकृत प्रकृति से श्रेष्ठ पुरुष से भी, श्रेष्ठतर—परमव्योम में स्थित, निरवधि—निरतिशय आनंद स्वरूप अक्षर पदवाच्य परमपुरुष पर ब्रह्म की हृदय पुन्डरीक में उपासना प्रणाली, उपासना की पराभक्तिरूपता तथा उपासक की अविद्यानिवृत्ति पूर्वक ब्रह्म तुल्यता और ब्रह्मानुभवफल का उपदेश करके संहार किया गया है। इस प्रकार पूरे प्रकरण मे विशेष निर्देश और भेद निर्देश को देखने से, ज्ञात होता है कि इसमें प्रधान और पुरुष का प्रतिपादन नहीं है।

भेदव्यपदेशोऽपिहि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते। दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यंतरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्ष-रात परतः परः "इत्यादिभिः अक्षराद् अव्याकृतात् परतो यः

ankurnagpal108@gmail.com

समष्टि पुरुषः तस्मादपिपरभूतोऽदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षर शब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः अश्नुत इति वा, नक्षरतीति वाऽक्षरम्। तदव्याकृतेऽपि स्वविकारव्याप्तया वा महदादिवन्नामान्तराभिलापयोग्यक्षरणामावाद्वाऽक्षरत्थंकथंचिद् उपपद्यते।

इस प्रकरण में प्रकृति और पुरुष का, परब्रह्म से स्पष्ट भेद दिखलाया गया है। "वह, दिव्य, निराकार पुरुष, बाहर और भीतर स्थित, जन्म-प्राण और मनरहित, शुभ्र, श्रेष्ठ अक्षर से भी श्रेष्ठ हैं।" इत्यादि में अव्याकृत पदवाच्य अक्षर से श्रेष्ठ जो समष्टि पुरुष है, उससे भी श्रेष्ठ अदृश्यत्वादि गुणवाले अक्षर परमात्मा का उल्लेख है। अक्षर का तात्पर्य है कि जो व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान रहे अथवा जो स्वरूप से कभी विच्युत न हो। अव्याकृत प्रकृति न कभी व्यापक होकर स्थित रहती है और न महत्तत्त्व आदि की तरह नामान्तर ग्रहण रूप क्षरण ही प्राप्त करती है; इसलिए उसकी अक्षरता कभी उपपादित नहीं हो सकती।

रूपोपन्यासाच्च ।१।२।२४।।

"अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।" इतीदृश रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन् एव संभवति अतश्च परमात्मा।

"अग्नि जिसका शिर, चन्द्र और सूर्य जिसकी आँखें, दिशायें जिसके कान, विवृत वेद जिसकी वाणी, वायु जिसके प्राण, विश्व जिसका हृदय, और पृथ्वी जिसके चरण हैं, वही समस्त भूत समुदाय का अन्तर्यामी है।" ऐसा रूप तो सर्वान्तिर्यामी परमात्मा का ही हो सकता है। इसलिए परमात्मा ही अदृश्यत्वादि गुण वाला अक्षर है।

६ वैश्वानराधिकरणः—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।१।२।२५।।

इदमामनंतिच्छंदोगाः "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" इति प्रकम्य "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमान-

ankurnagpal108@gmail.com

मात्मानं वैश्वानरमुपासते" इति। तत्र संदेहः किमयं वैश्वानर आत्मा, परमात्मेति शक्य निर्णयः, उत न इति। किं प्राप्तम्? अशक्य निर्णय इति। कुतः? वैश्वानर शब्दस्य चतुर्ष्वर्थेषु प्रयोग-दर्शनात्। जाठराग्नौतावत् "अयमाग्नि वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति, यावदेतत् कर्णाविपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति" इति। महाभूत तृतीये च "विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्" इति। देवतायां च "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम् राजा हि कं भुवना-मभि श्रो." इति। परमात्मनि च "तदात्मन्येव हृदयोऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्" इति; "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" इति च। वाक्योपक्रमादिषूपलभ्यमानान्यपि लिंगानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति।

छांदोग्योपनिषद् में—"इस समय तुम इस वैश्वानर आत्मा को जानो, वही हमारे बल हैं" ऐसा उपक्रम करते हुए "जो प्रादेश परिमित स्थान में अवस्थित इस व्यापक आत्मा की, वैश्वानर रूप से उपासना करता है।" इत्यादि में वैश्वानर की उपासना का उपदेश दिया गया है।

इस पर विचार होता है कि, वैश्वानर, जीवात्मा या परमात्मा? निर्णय कुछ अशक्य सा है क्योंकि—वैश्वानर शब्द का चार अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। जाठराग्नि के रूप में जैसे—"यही वैश्वानर अग्नि है, जिससे भुक्त अन्न का परिपाक होता है, इसी से अन्तर्नाद होता है, जिसे कान बंद कर सुना जा सकता है, प्राणांत काल में व्यक्ति को यह नाद सुनाई नहीं पड़ता" इत्यादि। तृतीय महाभूत अग्निरूप में जैसे—"देवताओं ने समस्त जगत के उपकार के लिए वैश्वानर को दिवस का केतु (चिन्ह) बनाया है।" इत्यादि। देवता के अर्थ में प्रयुक्त जैसे—"हम लोग जिन वैश्वानर को सुदृष्टि से देखते हैं, वे ही समस्त जगत के सुख समृद्धि के संपादक हैं।" इत्यादि परमात्मा अर्थ में जैसे—'हृदयस्थ

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मस्वरूप वैश्वानर अग्नि को उसने प्रक्षिप्त किया" तथा "यही प्राण स्वरूप वैश्वानर अग्नि अनेक प्रकार से उद्गत होता है।" इत्यादि। वाक्य के प्रारंभ में विशेषार्थ ज्ञापक जो चिन्ह रहते हैं, उसी के आधार पर संपूर्ण वाक्य का अर्थ किया जा सकता है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्-वैश्वानरः पर एव आत्मा कुतः ? साधारण शब्द विशेषात्। विशेष्यत इति विशेष—साधारणस्य वैश्वानर शब्दस्य परमात्मा-साधारणैः धर्मविशेष्यमाणत्वादित्यर्थः। तथाहि—औपमन्यवादयः पंचेमे महर्षयः समेत्य—"को न आत्मा किं ब्रह्म ?" इति विचार्य "उद्दालको हि वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानर-मध्येति तं हंताभ्यागच्छाम्" इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानभव-गम्य तमभ्याजग्मुः। स चोद्दालक एतान्वैश्वानरात्म जिज्ञासून-भिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदित्वं मत्वा" तान हो वाच अश्वपतिर्वै भगवतोऽयं केकयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानर मध्येति तं हंताभ्यागच्छाम" इति। ते चोद्दालकषष्ठाः तमश्वपतिमभ्या-जग्मुः।

उक्त संशय पर सूत्रकार "वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्" सूत्र कहते हैं। अर्थात् वैश्वानर परमात्मा ही हैं, क्योंकि—साधारण शब्द की अपेक्षा, विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है जिसके द्वारा विशेषित किया जाय उसे विशेष कहते है, अर्थात् वैश्वानर शब्द साधारण अर्थ को बोधक होते हुए भी, परमात्मा के असाधारण गुणों वाला होने से, उसी विशेषता का बोधक है। जैसा कि उल्लेख मिलता है कि—उपमन्यु आदि पाँच ऋषि एकत्र होकर "हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ?" ऐसा विचार कर रहे थे कुछ भी निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाकर उन्होंने सोचा कि—"आरुणि उद्दालक ही इस समय वैश्वानर आत्मा के विशेषज्ञ हैं, चलें उन्ही से इस विषय पर ज्ञान प्राप्त करें" अतः वे आरुणि को वैश्वानर का विशेषज्ञ मानकर

ankurnagpal108@gmail.com

उनके निकट गए। उद्दालक ने इन वैश्वानर तत्त्व के जिज्ञासुओं को देखकर, अपने को वैश्वानर तत्त्व का विशेषज्ञ न मानते हुए "उनसे कहा--आजकल केकय देश के राजा अश्वपति ही वैश्वानर तत्त्व के विशेषज्ञ है, चलिए हम लोग उनके पास चलें" इस प्रकार वे उद्दालक आदि छहों ऋषि अश्वपति के पास पहुँचे।

स च तान्महर्षीन् यथार्हं पृथगमभ्यर्च्य "न मेस्त्येनः" इत्यादिना "यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" इत्यंतेनात्मनो व्रतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव ब्रह्मविद्भिरपि प्रतिषिद्ध परिहरणीयतां विहितकर्मकर्त्तव्यतां च प्रज्ञाप्य "यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसंतु भवन्तः" इत्यवोचत्।

अश्वपति ने उन सबकी यथायोग्य अलग-अलग पूजा करके 'मेरे राज्य मे चोर नहीं है" इत्यादि से लेकर "महापुरुषों मैं यज्ञ करना चाहता हूँ" इस वाक्य तक, अपने को व्रतस्थित प्रतिग्रह योग्य बतलाकर' ब्रह्मवेत्ताओं के लिए निषिद्ध कर्म की त्याज्यता तथा विहित कर्म की कर्त्तव्यता का उल्लेख करके 'एक एक ऋत्विजों को जितना धन दूँगा, उतना ही आप लोगों को भी दूँगा आप लोग यहीं निवास करे" ऐसा अपना मंतव्य प्रकट किया।

ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मानं जिज्ञास्यमानाः तमेवात्मानमस्माकं ब्रूहीत्यवोचन्। तदेवं "को न आत्मा किं ब्रह्म? इति जीवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैः तज्ज्ञमन्विच्छद्भिः वैश्वानरात्मज्ञसकाशमागम्य पृच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते आत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानर शब्दाभ्याम् व्यवहाराच्च ब्रह्म शब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानर शब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते। किं च–"स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति"–"तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति च वक्ष्यमाणं वैश्वनरात्मविज्ञान फलं वैश्वानरात्मानं परंब्रह्मेति ज्ञापयति।

ankurnagpal108@gmail.com

उन ऋषियों ने, वैश्वानर आत्मा के जिज्ञासु होकर "हमें तो वैश्वानर आत्मा का ही रहस्य बतलावें" ऐसा कहा। इस प्रकार "हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है ?" ऐसे जीवान्तर्यामी ब्रह्म तत्त्व को जानने के इच्छुक वे लोग, उस विषय में विशेषज्ञों को खोजते हुए जहाँ-जहाँ भी गए और वैश्वानर आत्मा के विषय में जिज्ञासा की, वहाँ उन्हें यही बतलाया गया कि, वैश्वानर परमात्मा ही हैं। आत्मा और ब्रह्म शब्द का उपक्रम करते हुए, अन्त में सभी जगह, आत्मा और वैश्वानर शब्द का व्यवहार किया गया, जिससे वे समझ गए कि—ब्रह्म शब्द के स्थान पर प्रयुक्त वैश्वानर शब्द, ब्रह्म का ही बोधक है।

"वैश्वानर आत्मा का ज्ञाता पुरुष, समस्त लोकों, समस्त भूतों, और समस्त आत्माओं के अन्न को खाता है" तथा—'अग्नि में पतित ऋषीकतुला (शरतृण का समूह) जैसे भस्म हो जाता है, वैसे ही उनके पाप भी भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि, वैश्वानर आत्मविज्ञान के वर्णन के परिणाम से ज्ञात होता है कि, वैश्वानर आत्मा, परब्रह्म है।

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—इसलिए भी वैश्वानर परमात्मा है कि—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।१।२।२६॥

द्युप्रभृति पृथिव्यन्तमवयव विभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहोपदिश्यते। तच्च श्रुति स्मृतिषु परम पुरुषरूपतया प्रसिद्धम् तदिह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं—प्रतिभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परम पुरुषत्वे अनुमानं लिंगमित्यर्थः। इति शब्दः प्रकार वचनः इत्थंभूतंरूपम् प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् श्रुतिस्मृतिषु हि परमपुरुषस्येत्थं रूपं प्रसिद्धम्।

इस प्रकरण में, द्युलोक से लेकर पृथ्वी तक सभी को एक-एक अवयव बतलाते हुए वैश्वानर आत्मा के संपूर्ण रूप का वर्णन किया गया है। श्रुति और स्मृतियों में परब्रह्म परमात्मा का जैसा रूप, प्रसिद्ध रूप से मिलता है वैसा ही रूप वैश्वानर को भी बतलाया गया, जिससे ज्ञात होता है कि—वैश्वानर, परमात्मा का ही नाम है। सूत्रस्थ "इति"

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द प्रकारवाची है। प्रत्यभिज्ञा का विषय ऐसे रूप वाला वैश्वानर शब्द, परमात्मा का ज्ञापक है। श्रुति स्मृति में ऐसा रूप परमात्मा का ही प्रसिद्ध है।

यथा आथर्वणे—"अग्निमूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रे, वागविवृताश्च वेदाः; वायु प्राणो हृदयंविश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। अग्निरिह द्युलोकः "असौ वैलोकोऽग्निः" इति श्रुतेः।

स्मरंति च मुनयः—"द्यांमूर्धानं यस्य विप्राववंति खं वै नाभि चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौक्षिति च सोऽचिंत्यात्मा सर्वभूत प्रणेता "इति" यस्माग्निरास्यं द्यौ मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।" इति च।

जैसा कि आथर्वण संहिता में—"इस परमेश्वर का मस्तक अग्नि, नेत्र सूर्य और चंद्रमा, कान दिशायें, वाणी वेद, प्राण वायु, हृदय विश्व है, इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है, यही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है।" इस वाक्य में अग्नि का अर्थ द्युलोक है जैसा कि—"यह द्युलोक अग्नि स्वरूप है" इस श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है।

महामुनि वेदव्यास जी ने भी ऐसे ही रूप का स्मरण किया है—"विद्वत्गण द्युलोक को जिनका मस्तक, आकाश को नाभि, सूर्यचन्द्र को नेत्र, दिशाओं को कर्ण, एवं पृथ्वी को चरण बतलाते हैं, वे ही अचिन्त्य सर्वान्तिर्यामी परमात्मा हैं।" तथा—"अग्नि जिनका मुख, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी चरण, सूर्य नेत्र, दिशायें कान हैं, उन लोकात्मा को प्रणाम है।" इत्यादि।

इह च द्युप्रभृतयो वैश्वानरस्य मूर्धाद्यवयवत्वेनोच्यन्ते। तथाहि—तैरौपमन्यवप्रभृतिभिमर्हर्षिभिः "आत्मानमेवेमं वैश्वानर सम्प्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति पृष्टः कैकेयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुः विशेषपृश्नान्यथानुपपत्या वैश्वानरात्मन्येतैः किंचिद् ज्ञातं

ankurnagpal108@gmail.com

किंचिदज्ञातमिति इति विज्ञाय ज्ञाताज्ञातांश बुभुत्सया तानेकैकं प्रपच्छ। तत्र "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" इति पृष्टे "दिवमेव भगवो राजन्" इति तेन चोक्ते दिवितस्य पूर्ण वैश्वानरात्म बुद्धि निवर्तयन् वैश्वानरस्य द्यौभूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभूताया दिवः सुतेजा इति गुणनामधेयं प्राचिरव्ययपत्।

उक्त स्मृतिवाक्य में भी द्युलोक आदि को वैश्वानर के अंगों के रूप में वर्णन किया गया है। उन उपमन्यु आदि महर्षियों द्वारा "आप वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, उन्हीं का उपदेश करें" ऐसा पूछने पर कैकय राज विश्वपति ने, वैश्वानर तत्त्व के उपदेश की इच्छा से, बिना कुछ सामान्य ज्ञान हुए, विशेष तत्त्व का ज्ञान हो नहीं सकता ऐसा विचार कर, ये लोग आत्मतत्त्व को कितना जानते है कितना नहीं, इसको जानने के लिए, उन लोगों में से प्रत्येक से अलग-अलग प्रश्न किया। "उपमन्यु तुम किसको आत्मा मान कर उपासना करते हो" ऐसा पूछने पर "राजन् द्युलोक को ही" ऐसा उपमन्यु द्वारा उत्तर देने पर द्युलोक को ही इन्होने आत्मा मान रक्खा है, इस भ्रम के निवारण के लिए, द्युलोक तो वैश्वानर का सिर है, ऐसा उपदेश कर वैश्वानर के अंशभूत द्युलोक को "सुतेज" गुण वाला बतलाया।

एवं सत्ययज्ञादिभिरादित्यवाय्वाकाशापृथिवीनामेकैकेनैकैक मुपास्यमानतया कथितानां विश्वरूपःपृथग्वर्त्मा, बहुलो, रविः, प्रतिष्ठा, इत्येकैक गुणनामधेयानि वैश्वनरात्मश्चक्षु प्राणसंदेहवस्तिपादावयवत्वं चोपदिष्टम्। संदेहोमध्यकाय उच्यते। अत एवंभूत द्युमूर्धादिविशिष्टं परं पुरुषस्यैव रूपमिति वैश्वानरः परम पुरुष एव।

इसी प्रकार सत्य—आदित्य-वायु-आकाश पृथ्वी यज्ञ आदि को अलग-अलग उपास्य रूप से उन ऋषियों द्वारा बतलाने पर "विश्वरूप, वाय्वात्मा बहुल रवि और प्रतिष्ठा" इत्यादि भिन्न भिन्नगुणवाची नाम, चक्षु, प्राण, संदेह, वस्ति-पाद आदि वैश्वानर परमात्मा के अवयवों के

ankurnagpal108@gmail.com

ही हैं, ऐसा अश्वपति ने उपदेश दिया। शरीर के मध्यभाग को संदेह कहते हैं।

इस प्रकार जो द्युमूर्धादिविशिष्ट रूप परमात्मा का प्रसिद्ध है उसे ही वैश्वानर का बतलाया गया इससे स्पष्ट हो जाता है कि-वैश्वानर परमात्मा ही है।

पुनरप्यनिर्णयमेवाशंक्य परिहरति—

पुनः अनिर्णय की आशंका करके परिहार करते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा

दृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२७।।

यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चीयत इति, तन्न शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च, जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयेमानत्वात्। शब्दस्तावद् वाजिनां वैश्वानर विद्याप्रकरणे "स एषोऽग्निर्वैश्वानरः" इति वैश्वानर समानाधिकरणतयाऽग्निरिति श्रूयते। अस्मिन् प्रकरणे च "हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यं पचन आस्यमाहवनीयः" इति वैश्वानरस्य हृदयादिस्थस्याग्नित्रय कल्पनं क्रियते।

'तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा" इत्यदिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते। तथा वैश्वानरास्मिन् पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठानं वाजसनेयिनः समामनन्ति "स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति। अतोऽग्नि शब्द सामानाधिकरण्यात् अग्नित्रेतापरिकल्पनात् प्राणाहुत्याधार भावात् अन्तः प्रतिष्ठानाच्च वैश्वानरस्य जाठरत्वमपि प्रतीयत इति नैकान्ततः परमात्मत्वमिति चेत्।

जो यह कहा कि-वैश्वानर परमात्मा ही है, सो यह समझ में नहीं आता, क्यों कि-शब्द आदि तथा आभ्यंतरस्थित होने से, जाठराग्नि की

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतीति होती है। वाजसनेय प्रश्नोपनिषद् के वैश्वानर के प्रकरण में जैसे-वैश्वानर शब्द के साथ अग्नि शब्द का सामानाधिकरण्य अभेद रूप से कहा गया है। प्रस्तुत प्रकरण मे भी -"हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है तथा मुख आहवनीय है" वैश्वानर की, हृदय आदि तीन स्थानों में तीनों अग्नियों के रूप मे कल्पना की गई है।

"जो अन्न पहिले आवे उसका हवन करना चाहिए उस समय वह भोक्ता जो प्रथम आहुति दे उसे" प्राणाय स्वाहा "कहकर दे" इत्यादि में भी प्राणाहुति के आधार रूप से वैश्वानर की ही प्रतीति होती है। तथा वाजसनेय सहिता मे इस वैश्वानर आत्मा को जीव शरीर का अभ्यन्तर्वर्त्ती भी कहा गया है—"जो पुरुष के देहान्तर्वर्त्ती पुरुषाकृति वैश्वानर अग्नि को जानते है।" इस प्रकार अग्नि के साथ अभेद रूप से निर्देश, अग्नित्रय रूप से कल्पना, प्राणाहुति की अधिकरणता तथा शरीराभ्यंतर स्थिति आदि से वैश्वानर, जाठराग्नि ही प्रतीति होता है, एकमात्र परमात्मा ही वैश्वानर शब्दाभिधेय नहीं है।

तत्र—तथा दृष्ट्युपदेशात्—पूर्वोक्तस्य त्रैलोक्य शरीरस्य परस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्योपासनोपदेशात्। अग्निशब्दादिभिर्हि न केवलो जाठरः प्रतिपाद्यते, अपितु जाठराग्नि विशिष्ट. परमात्मा। कथमिदमवगम्यत इति चेत्—असंभवात् जाठरस्य केवलस्य त्रैलोक्यशरीरत्वासंभवात्। त्रैलोक्य-शरीरतया प्रतिपन्नवैश्वानर समानाधिकरणो जाठर विषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो जाठरशरीरतया तद् विशिष्टं परमात्मानमेवाभिद धतीत्यर्थः। यथोक्तं भगवता—"अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः, प्राणापान समायुक्त. पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" इति जाठरानल शरीरो भूत्वेत्यर्थः। अतः तद्विशिष्टस्योपासनमत्रोपदिश्यते। किं च—पुरुषमपिचैनमधीयते वाजसनेयिनः "स एषोऽग्नि-वैश्वानरो यत्पुरुषः" इति; नहि जाठरस्य केवलस्य पुरुषत्वम्,

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मन एव हि निरुपाधिकं पुरुषत्वं यथा—"सहस्रशीर्षापुरुषः" पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादौ ।

उक्त शंका असंगत है, जाठराग्नि का परमात्मा की दृष्टि से ही उपदेश किया गया है, अर्थात् त्रैलोक्य शरीरधारी के रूप से परब्रह्म को, वैश्वानर कहा गया है, जाठराग्नि उनका शरीर स्थानीय है, इसी दृष्टि से, जाठराग्नि विशिष्ट रूप का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है। अग्नि आदि शब्द केवल जाठराग्नि बोधक ही नहीं हैं, अपितु जाठराग्नि विशिष्ट रूप परमात्मा के भी बोधक है। यदि कहो कि, ऐसा कैसे समझें तो केवल जाठराग्नि में, त्रिलोकी शरीरत्व संभव नहीं है। त्रैलोक्य शरीर विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न, वैश्वानर के साथ, सामानाधिकरण्य रूप से प्रयुक्त, यदि कोई शब्द, जाठराग्नि अर्थ का बोधक हो तो भी, यही समझना चाहिए कि—जाठराग्नि परमात्मा का शरीर है और वह परमात्मा का ही बोधक है, जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर में आश्रित हूँ, प्राण अपान वायु से संयुक्त होकर चार प्रकार के खाद्यों का परिपाक करता हूँ" उक्त वाक्य में जाठराग्नि विशिष्ट ही उपास्य बतलाए गए हैं। वाजसनेय में इन्हें ही पुरुष रूप बतलाया गया है—"यह वैश्वानर अग्नि ही पुरुष हैं।" केवल जाठराग्नि मात्र, पुरुष नहीं हो सकता एकमात्र परमात्मा को ही पुरुष रूप से स्मरण किया गया है—" सहस्रशीर्षापुरूषः "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि।

अतएव न देवता भूतश्च।१।२।२८॥

उक्तेभ्य एव हेतुभ्यो देवतायाश्च तृतीयस्य महाभूतस्यापि न वैश्वानरत्व प्रसंगः।

उक्त कारणों से ही, वैश्वानर शब्द, देवता या तृतीय महाभूत अग्नि का भी, वाचक नहीं है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।१।२।२९॥

वैश्वानरसमानाधिकरणस्याग्निशब्दस्य जाठराग्नि शरीरतया तद् विशिष्टस्य परमात्मनो वाचकत्वं, तथैव परमात्मन उपास्यत्व

ankurnagpal108@gmail.com

चोक्तम्। जैमिनिस्त्वाचार्यो वैश्वानर शब्दवदग्निशब्दस्यापि परमात्मन एव साक्षात् अव्यवधानेन वाचकत्वे न कश्चिद् विरोध इति मन्येत।

अग्नि शब्द का वैश्वानर के साथ, अभेदभाव निर्दिष्ट होते हुए भी, जाठराग्नि शरीर होने से, तद्विशिष्ट परमात्मा का ही वाचक हो सकता है। वैसे ही परमात्मा के रूप को, उपास्य भी कहा गया है। जैमिनि आचार्य, वैश्वानर शब्द की तरह, अग्नि शब्द का भी, परमात्मा से, साक्षात् संबंध मानते हैं, और वाचकता में कोई विरोध नहीं समझते।

एतदुक्तं भवति, यथा वैश्वानर शब्दः साधारणोऽपि परमात्माऽसाधारणधर्मविशेषितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चीयते, एवमग्निशब्दोऽप्यग्रनयनादिना येनैवगुणेन योगाज्ज्वलने वर्त्तते, तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठागतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन् प्रकरणे परमात्माऽसाधारण विशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति।

जैसे कि वैश्वानर शब्द, साधारण और अविशिष्ट होते हुए भी परमात्मा के असाधारण विशिष्ट धर्मों से, विशेषित होकर, समस्त जीव समुदाय के नेता परमात्मा, का वाचक है; उसी प्रकार "अग्नि" शब्द भी "आगे ले जाने वाला" व्युत्पत्ति के अनुसार नेतृत्व गुणवाला है। परमात्मा का यह स्वाभाविक गुण है; इस प्रकरण में परमात्मा के असाधारण गुणों से विशेषित होने से, वह अग्नि भी परमात्मा बोधक ही है।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानं" इत्यपरिच्छिन्नस्य परस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्त प्रदेश संबधिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते ?—तत्राह—

शंका की जाती है कि— 'वह प्रादेश मात्र में ही परिमित नहीं है" इस श्रुति वाक्य में कहे गए अपरिच्छिन्न परब्रह्म की, द्युलोक से पृथ्वी पर्यन्त परिणाम परिच्छिन्नता कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर देते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१।२।३०॥

उपासकाभिव्यक्त्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन् इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । "द्यौमूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशो मध्यकायः आपोवस्तिः, पृथ्वी पादौ," इति द्युप्रभृतिप्रदेशसंवधिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कृत्स्नमभिव्याप्तवता विगतमानस्य ह्यभिव्यक्तेरेव हेतोर्भवति ।

उपासकों की अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए, परमात्मा का प्रादेश मात्र रूप, शास्त्रों में वर्णन किया गया है; ऐसा आश्मरथ्य आचार्य का मत है। "द्युलोक सिर, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, आकाश मध्य शरीर, जल वस्ति, पृथ्वी चरण," इत्यादि वाक्य में, द्युलोक आदि प्रदेशों से संबंधित प्रदेशगत परिमाण द्वारा, सर्वव्यापी परमात्मा की, जो परिच्छिन्नता बतलाई गई है, वह अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए ही है।

मूर्धं प्रभृत्यवयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति चेत्—तत्राह—

सिर आदि अवयव विशेषों से युक्त पुरुष रूप का विधान परमात्मा के लिए क्यों किया गया है ? इस शंका का समाधान करते हैं—

अनुस्मृतेर्बादरिः ।१।२।३१॥

तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्यो मन्यते ।" यस्त्वेतमेवमभिविमानमात्मात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषु आत्मसु अन्नंअत्ति" इति ब्रह्म प्राप्तये ह्युपासनमुपदिश्यते एतमेवमिति-उक्त प्रकारेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेष्वात्मसु वर्त्तमानं यदन्नं भोग्यं तदत्ति—सर्वत्र वर्त्तमानं स्वत एवानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नंभुज्यते तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ।

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्म का पुरुष रूप से वर्णन उपासना के लिए किया गया है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। "जो सर्वतो भाव से अपरिमित इस वैश्वानर आत्मा की पुरुषाकार रूप से उपासना करता है, वह व्यक्ति समस्त लोकों में समस्त भूतों में, समस्त आत्माओं में वर्त्तमान जो भोग्य अन्न है, उनको भोगता है" इत्यादि में उपासना को ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। "एतमेवम्" का तात्पर्य है ऐसे पुरुषाकार। सब लोक समस्त भूत और समस्त आत्माओ के वर्त्तमान अन्न के भोग का तात्पर्य है कि-सर्वत्र अवस्थित निरतिशय असीम आनंद स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति करता है। यदि अर्थ करें कि-कर्माधीन आत्माओं से मुक्त साधारण भोगों को भोगता है, तो समीचीन न होगा; मुमुक्षुओं के लिए ये भोग त्याज्य हैं।

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथंतर्हि उरः प्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः ? यावताजाठराग्नि परिग्रह एवैतदुपपद्यत ? इत्यत्राह—

यदि परमात्मा ही वैश्वानर है, तो उर इत्यादि का वेदी इत्यादि के रूप में उपदेश क्यों किया गया है ? वेदी इत्यादि के वर्णन से तो यही ज्ञात होता है कि-जाठराग्नि का ही वर्णन है इस संशय का उत्तर देते हैं—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३२॥

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यंत शरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसंपादनायायमुरः प्रभृतीनां वेदित्वाद्युपदेश, इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

द्यु लोक से पृथ्वी पर्यन्त जिसका शरीर है, उस वैश्वानर परमात्मा की ही, उपासक, नित्य प्राणाहुति रूप से, उपासना करते हैं। उसी प्राणाहुति अग्निहोत्र को साधारण रूप से बतलाने के लिए उर आदि को वेदी आदि रूप से वर्णन किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है।

तथाहि—परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पति च दर्शयतीयं श्रुतिः। "स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति,

ankurnagpal108@gmail.com

यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत् स्यात्, अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति, तद्यथेषीक तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते" इति ।

परमात्मोपासना के उचित फल तथा प्राणाहुति रूप अग्निहोत्र सम्पादन के प्रदर्शन करने वाली श्रुति इस प्रकार है–"जो इस वैश्वानर विद्या को न जाकर आहुति देता है, उसकी आहुति अंगारा रहित भस्म में दी गई आहुति के समान है, जो इसके रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसकी समस्त लोक, समस्त भून और समस्त आत्माओं में आहुति हो जाती है। जैसे कि—सींक अगला हिस्सा अग्नि में घुसा देने पर तत्काल जल जाता है वैसे ही, रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करने वाले के पाप भस्म हो जाते हैं।"

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।।

एनं परं पुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरं, अस्मिन् उपासक शरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनंति च–"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिना। अयमर्थः "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादिनाब्रह्मप्राप्ति च फलमुपदिश्य, अस्यैवोपासनस्यांगभूतम् प्राणाग्निहोत्रं "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादिनोपदिशति, यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूत अग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासक शरीरे मूर्धादियादांतेषु संपादयति। मूर्धैव सुतेजाः–उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता धौरित्यर्थः। चक्षुर्विश्वरूप आदित्य इत्यर्थः प्राण पृथग्वत्र्मा वायुरित्यर्थः। संदेहो बहुलः–उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। पृथिव्येव पादौ–अस्य पादावेवतत्पादभूता पृथ्वी इत्यर्थः।

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्म का पुरुष रूप से वर्णन उपासना के लिए किया गया है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। "जो सर्वतो भाव से अपरिमित इस वैश्वानर आत्मा की पुरुषाकार रूप से उपासना करता है, वह व्यक्ति समस्त लोकों में समस्त भूतों में, समस्त आत्माओं में वर्त्तमान जो भोग्य अन्न है, उनको भोगता है" इत्यादि मे उपासना को ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। "एतमेवम्" का तात्पर्य है ऐसे पुरुषाकार। सब लोक समस्त भूत और समस्त आत्माओ के वर्त्तमान अन्न के भोग का तात्पर्य है कि–सर्वत्र अवस्थित निरतिशय असीम आनंद स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति करता है। यदि अर्थ करें कि–कर्माधीन आत्माओं से मुक्त साधारण भोगों को भोगता है, तो समीचीन न होगा; मुमुक्षुओं के लिए ये भोग त्याज्य है।

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथंतर्हि उरः प्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः ? यावताजाठराग्नि परिग्रह एवैतदुपपद्यत ? इत्यत्राह–

यदि परमात्मा ही वैश्वानर है, तो उर इत्यादि का वेदी इत्यादि के रूप में उपदेश क्यों किया गया है ? वेदी इत्यादि के वर्णन से तो यही ज्ञात होता है कि–जाठराग्नि का ही वर्णन है इस संशय का उत्तर देते हैं–

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३२।।

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यंत शरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्नि होत्रत्वसंपादनायायमुरः प्रभृतीनां वेदित्वाद्युपदेश, इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

द्युलोक से पृथ्वी पर्यन्त जिसका शरीर है, उस वैश्वानर परमात्मा की ही, उपासक, नित्य प्राणाहुति रूप से, उपासना करते है। उसी प्राणाहुति अग्निहोत्र को साधारण रूप से बतलाने के लिए उर आदि को वेदी आदि रूप से वर्णन किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है।

तथाहि–परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पति च दर्शयतीयं श्रुतिः। "स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति,

ankurnagpal108@gmail.com

यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत् स्यात्, अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति, तद्यथेषीक तूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते" इति ।

परमात्मोपासना के उचित फल तथा प्राणाहुति रूप अग्निहोत्र सम्पादन के प्रदर्शन करने वाली श्रुति इस प्रकार है–"जो इस वैश्वानर विद्या को न जाकर आहुति देता है, उसकी आहुति अंगारा रहित भस्म में दी गई आहुति के समान है, जो इसके रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, उसकी समस्त लोक, समस्त भूत और समस्त आत्माओं में आहुति हो जाती है। जैसे कि—सींक अगला हिस्सा अग्नि में घुसा देने पर तत्काल जल जाता है वैसे ही, रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करने वाले के पाप भस्म हो जाते हैं।"

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।।

एनं परं पुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरं, अस्मिन् उपासक शरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनंति च–"तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिना। अयमर्थः "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति त्रैलोक्य-शरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादिनाब्रह्मप्राप्ति च फलमुपदिश्य, अस्यैवोपासनस्यांगभूतम् प्राणाग्निहोत्रं "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादिनोपदिशति, यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूत अग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासक शरीरे मूर्धादियादांतेषु संपादयति। मूर्धैव सुतेजाः–उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता धौरित्यर्थः। चक्षुर्विश्वरूप आदित्य इत्यर्थः प्राण पृथग्वर्त्मा वायुरित्यर्थः। संदेहो बहुलः–उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। पृथिव्येव पादौ–अस्य पादावेवतत्पादभूता पृथ्वी इत्यर्थः।

ankurnagpal108@gmail.com

"इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है" इत्यादि श्रुति में भी, द्युलोक आदि रूप मस्तक आदि विशेषणो से विशेषित उस परम पुरुष वैश्वानर को उपासक के शरीर मे, प्राणाहुति के आधार रूप से बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि—"जो लोग सर्वव्यापी वैश्वानर आत्मा की प्रादेशमात्र में परिमित उपासना करते है" इस श्रुति मे त्रैलोक्य शरीरधारी वैश्वानर परमात्मा की उपासना का उपदेश देकर "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादि में—ब्रह्म प्राप्ति रूप, उपासना के फल का उल्लेख करके, "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादि में, उपासना के अंगभूत अग्निहोत्र का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार, पहिले जो वैश्वानर का, उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है, उसमें भी वैश्वानर के अवयव स्थानीय, सुतेज और विश्वरूपादि नामक आदित्य आदि की, उपासक के शरीर में, मस्तक से पैर तक, अवयवों के रूप में कल्पना की गई है। "मूर्धेव सुतेजः" तक ही परमात्मा का मस्तक स्थानीय द्युलोक है। "चक्षुः विश्वरूपः" अर्थात् उपासक के नेत्र ही, परमात्मा के नेत्र स्थानीय आदित्य है। "प्राण पृथग् वर्त्मा" अर्थात् प्राणवायु ही प्राण है। "संदेहो बहुलः" अर्थात् उपासक का मध्य काय ही परमात्मा का मध्य कायस्थ आकाश है। "पृथिव्येव पादौ" अर्थात् उपासक के पैर ही, परमात्मा की यादरूप पृथ्वी है।

एवमुपासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरं सन्निहितमनुसंधाय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमनश्चास्यानि प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदिर्बर्हिगार्हपत्यान्वाहार्यपचाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान् परिकल्प्य प्राणाहुतेश्चाग्निहोत्रत्वं परिकल्प्यैवं विधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति "उर एव वेदिर्लोमानिबर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः" इत्यादिनोपदिश्यते। अतः परमात्मा पुरुषोत्तम एव वैश्वानर इति सिद्धम्।

इस प्रकार उपासक, त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर परमात्मा को अपने ही शरीर में संलग्न मानकर, अनुसंधान करते हुए, अपने वक्ष-लोम-

ankurnagpal108@gmail.com

हृदय-मन आदि को, प्राणाहुति के अधिकरण स्थानीय वैश्वानर परमात्मा की, वेदि-बर्हि-गार्हपत्य-आहवनीय- अन्वाहार्यपचन आदि की, अग्निहोत्र यज्ञीय उपकरण रूप से तथा प्राणाहुति की अग्निहोत्र रूप से परिकल्पना करके, उक्त प्रकार की प्राणाहुति द्वारा, वैश्वानर परमात्मा की आराधना करे, यही उपदेश "वक्ष ही वेदी, लोम ही बर्हि (कुश) हृदय ही गार्हपत्य है" इत्यादि श्रुति में दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषोत्तम परमात्मा ही वैश्वानर है।

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

---

ankurnagpal108@gmail.com

१ द्युभ्वाद्यधिकरणः—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।१।३।१।।

आथर्वणिका अधीयंते "यस्मिन् द्यौः पृथ्वी चान्तरिक्षमोतंमनस्सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः" इति ।

तत्र संशयः किमयं द्युपृथिव्यादीनामायतनत्वेन श्रूयमाणो जीवः, उत परमात्मा ? इति किं युक्तम् ? जीव इति कुतः ? "अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यस्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमनः" इति परस्मिन् श्लोके पूर्ववाक्य प्रस्तुतं द्युपृथिव्याद्यायतनं "यत्र" इति पुनरपि सप्तम्यन्तेन परामृश्य तस्य नाड्याधारत्वमुक्त्वा, पुनरपि "स एषोऽन्तश्चरेत बहुधा जायमानः" इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते । नाडी संबंधो देवादिरूपेण बहुधा जायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः । अस्मिन्नपि श्लोके "ओतं मनस्सह प्राणैश्य सर्वैः" इति प्राणपंचकस्य मनश्चाश्रयत्वमुच्यमानं जीवधर्मएव एवं जीवत्वे निश्चिते सति द्युपृथिव्याद्यायतनत्वादिकं यथा कथंचित् संगमयितव्यम्—इति ।

आथर्वणिक मुंडकोपनिषद में प्रसंग आता है कि—"जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी और अंतरिक्ष तथा प्राणों सहित मन गुंथा हुआ है, उसी एक सबके आत्मस्वरूप को जानो, दूसरी बातों को सर्वथा छोड़ दो, वही अमृत सेतु है ।"

ankurnagpal108@gmail.com

इस पर संशय होता है कि—द्युभ् आदि का आयतन, जीवात्मा है अथवा परमात्मा ? कह सकते हैं कि—जीवात्मा है—क्यों कि—'रथकी नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति, जिसमें समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ एकत्र स्थित है, वह बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला, मध्य भाग में रहता है" इस बाद के श्लोक में, पूर्व श्लोक में प्रस्तुत द्युपृथ्वी आदि के आयतन को ही "यत्र" शब्द से पुनः नाड़ियों का आधारभूत बतलाकर पुनः"स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः" से उसी का अनेक रूपों में उत्पन्न होना बतलाया गया है। नाडियों से संबंधित, देहादि रूप से प्रायः जन्म लेना, जीव का ही धर्म है। पूर्व श्लोक में "मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः" इत्यादि में, पंचप्राण समन्वित मनको जिसका आश्रय कहा गया है वह भी जीव ही प्रतीत होता है, क्योंकि, यह भी जीव का ही धर्म है। इस प्रकार जीवत्व के निश्चित हो जाने पर, द्युपृथिवी आदि का आयतन, जीव को ही मानना संगत होगा।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—द्युभ्वाद्यायतनंस्वशब्दात्-द्युपृथिव्यादीनामायतनं परं ब्रह्म, कुतः ? स्व शब्दात्—परब्रह्मासाधारण शब्दात्। "अमृतस्यैव सेतुः" इति परस्य ब्रह्मणोऽसाधारण शब्दः। "तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति सर्वत्रोपनिषत्सु स एवामृतत्वप्राप्ति हेतुः श्रूयते। सिनोतेश्च बधनार्थत्वात् सेतुः, अमृस्य प्रापक इत्यर्थ. सेतुरिव वा सेतुः—नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलंभकः, संसारार्णवपारभृतस्यामृस्येष प्रतिलंभक इत्यर्थः।

द्युभू आदि के आयतन परमात्मा ही हैं, क्यों कि—उक्त प्रसंग में परब्रह्म के द्योतक असाधारण विशेषणों का प्रयोग किया गया है। "अमृत का सेतु" शब्द परब्रह्म की असाधारण विशेषता का द्योतक है। "उनके इस रूप को जानकर इस लोक में ही अमृत हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त जीवनयात्रा का कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि उपदेश प्रायः सभी उपनिषदों में दिया गया है, जिसमें परमात्मा को ही अमृतत्व प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है। सिञ्" धातु का बंधन अर्थ होने से सेतु शब्द का

ankurnagpal108@gmail.com

अर्थ होता है अमृत प्राप्ति का उपाय। नदियों पर सेतु जैसे पार लगाने का साधन होता है, वैसे ही संसार सागर के उस पार अमृत रूपी किनारे में पहुँचाने वाला वह सेतु है।

आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन् ब्रह्मणि मुख्यवृत्तः, आप्नोति इति आत्मा, स्वेतरसमस्तस्य नियतृत्वेन व्याप्तिस्तस्यैव संभवति, अतः सोऽपि तस्यैव शब्दः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादयश्चोपरितनाः परस्यैव ब्रह्मणः शब्दाः। नाड्याधारत्वं तस्यापि संभवति "सन्ततं सिराभिस्तु लम्बत्या कोशसंन्निमम्" इत्यारभ्य "तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रवणात्। "बहुधाजायमानः" इत्यपि परस्मिन् ब्रह्मणि संगच्छते; "अजामानो बहुधा विजायते तस्यधीराः परिजानंति योनिम्" इति देवादीनां समाश्रयणीयत्वाय तत्तज्जातीयरूपसंस्थानगुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभावं अजहद्देव स्वेच्छया बहुधा विजायते परः पुरुष इत्यभिधानात्। स्मृतिरपि "अजोऽपि सन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपि सन्, प्रकृतिं स्वामाधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया" इति। मनः प्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यैवोपपद्यते।

आत्म शब्द का स्वाभाविक मुख्य अर्थ, परब्रह्म में ही घटित होता है; जो प्राप्त करावे उसे आत्मा कहते हैं, अपने अतिरिक्त समस्त की नियामकता भी परमात्मा में ही संभव है, इसलिए आत्म शब्द उन्हीं का वाचक है। "सर्वज्ञ सर्वविद" इत्यादि शब्द भी, परमात्मा के ही द्योतक हैं। नाडियों की आधारकता भी परमात्मा में ही हो सकती है। "हृदय स्थानीय पद्म कलिकाओं की सी शिराओं से वेष्टित" इत्यादि से प्रारंभ करके "उन नाड़ियों में परमात्मा स्थित है" तक ऐसा ही वर्णन है। "बहुधा जायमानः" विशेषता भी परमात्मा में ही संगत होती है। जैसा कि—"अजन्मा होकर भी जो अनेक रूपों से जन्म लेता है, विद्वान उसकी इस अभिव्यक्ति के रहस्य को, अच्छी तरह जानते हैं।" इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

श्रुति में—देवादि जीवों के अनायास आश्रय के लिए, परंपुरुष परमेश्वर स्वकीय विशेषताओं सहित, स्वेच्छा से विभिन्न जातीय रूप-आकृत-गुण और कर्मों से समन्वित होकर अनेक जन्म धारण करते हैं। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। स्मृति में भी जैसे-"अजन्मा और अव्यय समस्त भूतों का स्वामी मैं अपनी प्रकृति के साहाय्य से अपनी माया के प्रभाव से अनेक रूपो में प्रकट हो जाता हूँ" इस प्रकार जीव के भोगोपकरण मन आदि की आश्रयता और सर्वाधारकता, परब्रह्म की ही बतलाई गई है।

इतश्च परमपुरुषः—इसलिए भी परंपुरुष आयतन हैं कि—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ।१।३।२।।

अयं द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः संसारबंधान्मुक्तै रपि प्राप्यतया व्यपदिश्यते "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" "यथानद्यः स्यदमानाः समुद्रे अस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति। संसारबंधनाद् विमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरंजना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च। पुण्यपापनिबंनाचित् संसर्ग प्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेव हि संसारः। अतो विधूतपुण्यपापैः निरंजनै प्रकृतिसंसर्ग रहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्ट द्युपृथिव्याद्यानभूतः, परंब्रह्मैव।

सांसारिक बंधनों से मुक्त जीवों के लिए भी, स्वर्ग पृथ्वी आदि के आयतन परंपुरुष ही प्राप्य कहे गए हैं-"जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सब के शासक ब्रह्मा के भी आदि कारण, संपूर्ण जगत के रचयिता, दिव्य प्रकाश स्वरूप परं पुरुष का प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्यपाप दोनों से मुक्त, निर्मल वह ज्ञानी महात्मा, सर्वोत्तम समता प्राप्त कर लेता है"-जैसे कि बहती हुई नदियाँ, नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा, नामरूप रहित होकर, उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। "अर्थात् जो सांसारिक

ankurnagpal108@gmail.com

बंधनों से मुक्त होते हैं वे ही पुण्य पापों से मुक्त निरंजन, तथा नाम रूप से विमुक्त हैं। पुण्यपाप निबंधक अचित् (जड) संसर्ग से होने वाली नामरूप की अस्मिता (अर्थात् यह मेरा नाम, यह मेरा रूप है) ही संसार है। पुण्यपाप रहित निरंजन-प्रकृति संसर्ग शून्य, परब्रह्म के साथ अत्यंत साम्यता को प्राप्त पुरुष के लिए, प्राप्य रूप से जिनका निर्देश किया गया है, वह, स्वर्ग पृथ्वी आदि आयतन परं पुरुष परमात्मा ही हैं।

परब्रह्मासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मा साधारणशब्दाभावाच्चायं पर एव—इत्याह—

जो परमात्म बोधक असाधारण शब्दों का उल्लेख, द्यु भू आदि प्रकरण में है, वह परब्रह्म का ही है, इस सिद्धान्त का निर्णय करके—अब सिद्धान्त भी पुष्टि करेंगे कि—इस प्रकरण में किसी भी ऐसे साधारण शब्द का प्रयोग नहीं है कि जिससे जीवात्मा को आयतन माना जा सके; यह परमात्मा ही आयतन है इत्यादि—

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ।१।३।३।।

यथाऽस्मिन् प्रकरणे प्रतिपादक शब्दाभावात् प्रधानं न प्रतिपाद्यम्, एवं प्राणभृदपीत्यर्थः। अनुमीयत इति अनुमानं परोक्षं प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रमितत्वादानुमानमिति वा, अतच्छब्दात् तद् वाचिशब्दाभावादित्यर्थः। "अर्थाभावे यदव्ययम्" इत्यव्ययीभावः।

जैसे कि—इस प्रकरण में एक भी ऐसा शब्द नहीं मिलता, जिससे कि—प्रधाम प्रकृति का आयतन रूप से प्रतिपादन हो सके, वैसे ही जीवात्मा बोधक शब्दों का भी अभाव है। सांख्यशास्त्र में प्रधान को आनुमानिक कहा गया है, क्योंकि यह अनुमान से ही प्रतिपादित है [अर्थात्—जीवात्मा ने, जिस अप्रत्यक्ष शक्ति द्वारा अपने को अभिभूत परवश माना उसे ही संसार बंधन का "प्रधान" कारण माना, स्वभावगत होने से उसे "प्रकृति" कहा तथा जीवात्मा पर शासन करने वाली "माया" समझा, ये सब कुछ अनुमान ही मात्र है अतत् शब्दात् का तात्पर्य है, उस प्रधान संबंधी शब्दों का अभाव। पाणिनीय व्याकरण के

ankurnagpal108@gmail.com

नियम "अर्थाभावे यदव्ययम्" के अनुसार "अतच्छब्दात्" पद में अव्ययी-भाव समास है।

इतश्चायं न प्रत्यगात्मा—इसलिए भी यह जीवात्मा आयतन नहीं है कि—

भेदव्यपदेशात् ।१।३।४।।

"समानेवृक्षे पुरुषो निम्नगोऽनीशया शोचति मुह्यमानः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादिभिर्जीवाद् विलक्षणत्वेनायं व्यपदिश्यते । अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानः शोचति जीवः अयं यदा स्वस्मादन्यं सर्वस्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति, तदावीतशोकोभवति ।

"शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा, गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है असमर्थ होने से वह मोहित हुआ शोक करता है। जब यह भक्तों द्वारा नित्य सेवित, अपने से भिन्न प्रभु को और उसकी महिमा को जान लेता है, तब सर्वथा शोक रहित हो जाता है" इत्यादि में परमात्मा को जीव से विलक्षण बतलाया गया है। उस वाक्य का तात्पर्य है कि—अनीश भोग्यरूप प्रकृति से मोहित जीवात्मा शोक करता है जब यह, अपने से भिन्न सर्वेश्वर की दयालुता महिमा और सर्वजगतनियामकता को देखता है तब शोक रहित हो जाता है।

प्रकरणात् १।३।५।।

प्रकरणंचेदं परस्य ब्रह्मण इति "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" इत्यत्रैव प्रदर्शितम्। नाडी संबंधबहुधाजायमानत्वमनः प्राणधारकत्वैश्च प्रकरणविच्छेदाशंकामात्रमत्र पर्यंहार्ष्मं ।

यह प्रकरण परब्रह्म के वर्णन का ही है, जैसा कि–'अदश्यत्वादि" सूत्र १।२।२२।। में दिखलाया गया है। यहाँ केवल नाडी संबंध, बहुधा-जन्म, मनप्राण आदि धारकता इत्यादि कुछ विशेषताओं को जीवात्मा संबंधी मानने की शंका की गई, और उसी का परिहार किया गया।

ankurnagpal108@gmail.com

स्थित्यदनाभ्याच्च ।१।३।६॥

"द्वा सुपर्णा सप्रजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इत्येकस्य कर्मफलादनम्, अन्यस्य च कर्मफलमनश्नत एव दीप्यमानतया शरीरान्तस्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते। तत्र कर्मफलम् अनश्नन् दीप्यमान एव सर्वज्ञोऽमृतसेतुः सर्वात्मा द्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति, न पुनः कर्मफलमदन् शोचन् प्रत्यगात्मा, अतोद्युभ्वाद्यायतनं परमात्मेति सिद्धम्।

"सदा साथ रहने वाले, परस्पर सख्य भाव रखने वाले, दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर रहते है, उन दोनों मे एक वृक्ष के फलों को स्वाद से खाता है, दूसरा—उनका उपभोग न करके, केवल देखता मात्र है।" इत्यादि में एक का कर्मफल भक्षण और दूसरे का भक्षण न करके, एकमात्र प्रकाशरूप से, स्थित होना बतलाया गया है। इसमें कर्मफल न भोगने वाला प्रकाश स्वरूप ही सर्वज्ञ, अमृत सेतु, सर्वात्मा द्युपृथ्वी आदि का आयतन हो सकता है; कर्मफल को भोगने वाला दुःखी जीवात्मा उक्त गुणों वाला नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि—द्युपृथ्वी आदि का आयतन परमात्मा ही है।

२ भूमाधिकरणः—

भूमा सम्प्रसादादध्युपशात् ।१।३।७॥

इदमामनंति छन्दोगाः "यत्रनात्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यत्विजानाति तदल्पम्" इति। अत्रायंभूमशब्दो भावप्रत्यान्तो व्युत्पाद्यते। तथा हि पृथिव्यादिषु ब्रहु शब्दः पठ्यते, ततः "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इति इमनिज प्रत्यये कृते "बहोर्लोपोभू च बहोः" इति प्रकृति प्रत्ययोर्विकारे भूमेति भवति। भूमा बहुत्वमित्यर्थः। अत्र

ankurnagpal108@gmail.com

चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाचो न संख्यावाची। "यत्रान्यत्पश्यति—तदल्पम्" इत्यल्पप्रतियोगित्व श्रवणात्। अल्पशब्द निर्दिष्ट धर्मिप्रतियोगि प्रतिपादन परत्वादेव धर्मिपरश्च निश्चीयते न धर्ममात्रपरः। तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः। वैपुल्यविशेष्यश्चेहात्मेत्यवगतः "तरति शोकमात्मवित्" इति प्रक्रम्य भूमविज्ञानमुपदिश्य "आत्मैवेदं सर्वम्" इति तस्यैवोपसंहारात्।

छांदोग्योपनिषद में कहा गया है कि—"जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है, किन्तु जहाँ कुछ और देखता, और सुनता, और जानता है, वह अल्प है।" इस वाक्य का प्रयुक्त भूमा शब्द, भावात्मक तद्धित प्रत्यय से बना है। "बहु" शब्द का पाठ पृथिव्यादि शब्द के साथ किया गया है।"पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस पाणिनि सूत्र से इमनिज् प्रत्यय करने पर "बहोर्लोपो भूच बहोः" इस पाणिनीय सूत्र से प्रकृति प्रत्यय में, विकार करने पर "भूमा" शब्द निष्पन्न होता है। भूमा शब्द बहुत अर्थ वाला है। बहु शब्द यहाँ पर विपुलतावाची है, संख्यावाची नहीं है। "यत्रान्यत् पश्यति तदल्पम्" इसमें प्रतियोगी रूप से अल्पत्व का उल्लेख किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि बहु शब्द विपुलतावाची है जैसे कि—अल्प शब्द, धर्मी अर्थात् अल्पता वाले विशिष्ट पदार्थ का बोधक है, वैसे ही यह भूमा शब्द भी उसके विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करता है, इससे ज्ञात होता है कि—भूमा शब्द भी विपुलता वाले विशिष्टत्पदार्थ धर्मी का प्रतिपादन करता है, यह केवल धर्म (विशेषता) मात्र का प्रतिपादक नहीं है। इस प्रकार भूमा का अर्थ होता है विपुल। विपुलता धर्म से विशेष्य आत्मा ही यहाँ अभिधेय है "आत्मज्ञ पुरुष शोक को पार करता है" इत्यादि से भूमा विज्ञान का उपदेश देकर "यह सारा जगत् आत्म स्वरूप ही है" इत्यादि से उसी भूमा तत्त्व का उपसंहार किया गया है।

अत्र संशय्यते—किमयंभूमागुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा उत परमात्मा इति। कि युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः? "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" इत्यात्मजिज्ञासयोपसेदुषे नार-

ankurnagpal108@gmail.com

दाय नामादिप्राण पर्यन्तेषु उपास्यतयोपदिष्टेषु "अस्ति भगवो नाम्नोभूयः" "अस्ति भगवो वाचो भूयः" इत्यादयः प्रश्नाः "वाग्वाव नाम्नोभूयसी" "मनो वाव वाचो भूय." इत्यादीनि च प्रतिवचनानि, प्राणात् प्राचीनेषु दृश्यन्ते, प्राणे तु न पश्यामः। अतः प्राणपर्यन्त एवायमात्मोपदेश इति प्रतीयते, तेनेह प्राणशब्द निर्दिष्टः प्राण ग्रहचारी प्रत्यगात्मैव न वायु विशेष मात्रम्। "प्राणो ह पिता प्राणो ह माता" इत्यादयश्च प्राणस्य चेतनतामवगमन्ति। "पितृहा मातृहा" इत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रभृतिषूपमर्दकारिणि हिंसकत्वनि मित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वविगतप्राणेष्वत्यंतोपमर्दकारिण्यप्युपक्रोशाभाववच्चनाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राण शब्द निर्दिष्टः। अप्राणेषु स्थावरेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभावयो हिंसातदभावदर्शनादयं हिंसा योग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैव निश्चीयते।

उक्त विषय में संशय होता है कि—भूमा गुण विशिष्ट जीवात्मा है या परमात्मा? कह सकते हैं कि जीवात्मा क्योंकि—"मैंने आप जैसों से सुना है कि–आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है" आत्मज्ञान के उद्देश्य से आए हुए नारद द्वारा ऐसा प्रश्न करने पर, सनकादि कुमारों ने उन्हें उपास्य रूप से उपदिष्ट नाम से लेकर प्राणतक सभी के विषय में "भगवन्! नाम से बड़ा कुछ है क्या?" भगवन्! वाक्य से बड़ा कुछ है क्या?" इत्यादि प्रश्नो तथा "नाम से वाक्य बड़ा है—"वाक्य से मन बड़ा है" इत्यादि उत्तरों में जो उपदेश दिया उसमे प्राण के पूर्ववर्त्ती, शब्द, वाक्य आदि का ही उल्लेख किया, प्राण का नहीं किया, जिससे ज्ञात होता है कि—प्राणतक ही आत्मोपदेश दिया गया [अर्थात् प्राण, नाम आदि सभी से, श्रेष्ठ है, उससे बड़ा कोई नहीं है] इससे यह भी ज्ञात होता है कि—प्राण का तात्पर्य, केवल वायुमात्र नहीं है अपितु प्राण शब्द अपने अपने सहचारी जीवात्मा का ही बोधक है। "प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है" इत्यादि से प्राण की चेतनता ज्ञात होती है। "पितृहा मातृहा" इत्यादि मे, प्राणवान माता-पिता की मारने वाले की ही.

ankurnagpal108@gmail.com

हिंसा निमित्तक निन्दा की गई है। उन्हीं माता पिता के प्राणरहित हो जाने पर, उनकी कपाल क्रिया आदि निर्दयतापूर्ण क्रियाओं की हिंसात्मक रूप से निंदा नहीं की जाती, हिंसा चेतन की ही होती है, उस चेतन को ही प्राण शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। प्राणवायु रहित निश्चेष्ट स्थावर पर्वत वृक्षादिकों में भी, चेतनता और अचेतना मान कर हिंसा और अहिंसा मानी गई है; जिससे निश्चित होता है कि चेतन जीव ही, प्राणवाची है।

अतएव च अरनाभि दृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राण शब्द निर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम्, परस्य हिंसाप्रसंगाभावात्, जीवादितरस्य तद्भोग्यभोगोपकरण भूतस्य कृत्स्नस्याचिद् वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनाभि दृष्टान्तोपपत्तेश्च अयमेव च प्राणशब्द निर्दिष्टो भूमा "अस्ति भगवः प्राणाद्भूमः" इति प्रतिवचनस्य चाभावाद्भूमसंशब्दनात् प्राक्प्राणप्रकरणस्यविच्छेदात्।

इसी प्रकार अरनाभि के दृष्टान्त (चक्र की नाभि में जैसे धुरियाँ लगी रहती है, वैसे ही प्राण से देह की नाड़ियाँ संलग्न रहती हैं) में, प्राण शब्द से निर्दिष्ट तत्त्व को, परब्रह्म मान लेना भ्रम है, क्योंकि— पर की हिंसा तो हो नहीं सकती। जीव से भिन्न, जीव का भोग्य और भोगोपकरण साराजगत, जीव के अधीनस्थ है, इसलिए जीव के लिए ही अरनाभि का दृष्टांत सुसंगत होगा--"भगवन्! प्राण से भी कुछ वृहद् है?" इस प्रश्न के "अमुक से प्राण से वृहत् है" "ऐसे अभावात्मक उत्तर से तथा भूमा शब्द के पहिले तक चलते हुए प्राण के प्रकरण से ज्ञात होता है कि, यह प्राण ही भूमा है।

किं च प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्तवातमेव "एष तु वा अतिवदति" इतिप्रत्यभिज्ञाय "यः सत्येनातिवदति" इति तस्यवदनं प्राणोपासनांगतयोपदित्य उपादेयस्य सत्यवदनस्य शेषित्तया पूर्वनिर्दिष्ट प्राणयाथात्म्य विज्ञानं "यदा वै विजानत्यथ सत्यं वदति" इत्युपदिश्य तत् सिद्धयर्थं च दनम श्रद्धानिष्ठ प्रयत्नानुपदिश्य

ankurnagpal108@gmail.com

तदारंभाय च प्राप्यभूत प्राण शब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य विपुलता "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्यते तदेवं प्रत्यगात्मन एवाविद्यावियुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति "तरतिशोकमात्मवित्" इत्युपक्रमाविरोधश्च अतोभूमगुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा, यत एवं भूमगुण विशिष्टः प्रत्यगात्मा अतएवाहमर्थेप्रत्यगात्मनि "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्" इत्यारभ्य "अहमेवेदं सर्वम्" इति प्रत्यगात्मनो वैभवमुपदिशति। एवं प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति।

प्रसंगतः प्राणविद को अतिवादी बतलाकर "जो सत्यवादी है वही अतिवादी है" इत्यादि में अतिवादी का ही सत्यवादी रूप से पुनरुल्लेख किया गया है। सत्यवादिता का, प्राणोपासना के अंगरूप से उपदेश दिया गया है। "जो इसे विशेष रूप से जान लेता है, तभी सत्य बोलता है" इत्यादि में अवलंबनीय, सत्यवादिता के अंगी प्राण के, यथार्थ तत्त्व विज्ञान का उपदेश दिया गया है। तथा सत्यवादिता के साधन स्वरूप मन, श्रद्धा, निष्ठा एवं प्रयत्न का उपदेश दिया गया है। उक्त तथ्य का ही उपक्रम करते हुए, प्राप्यभूत प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा के स्वरूप की सुखरूपता ज्ञान का उपदेश देकर उसकी सुख विपुलता "भूमा ही ज्ञातव्य है" इत्यादि में भूमा रूप से ज्ञातव्य बतलाई गई। इससे ज्ञात होता है कि—अविद्या रहित-शुद्ध जीवात्मा के स्वरूप को ही विपुल सुख रूप से उपदेश दिया गया है। "आत्मवेत्ता शोक से छूट जाता है" इत्यादि से उक्त उपक्रम का अविरोध ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा ही है। ऐसे भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा के अहमर्थ का भी "मैं ही ऊपर मैं ही नीचे" से लेकर "मैं ही सब कुछ हूं" तक भूमात्व बतलाया गया है। इस प्रकार जीवात्मा का भूमात्व निश्चित हो जाने पर, वाक्य शेष का भी तदनुरूप ही अर्थ करना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूमासंप्रसादादध्युपदेशात्—भूमगुण विशिष्टो न प्रत्यगात्मा, अपितु परमात्मा, कुतः ? संप्रसा-

ankurnagpal108@gmail.com

दादध्युपदेशात् संप्रसादः—प्रत्यगात्मा "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति रूपसंपद्य स्वे रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युपनिषद् प्रसिद्धेः। संप्रसादात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिधेयस्योपदेशादित्यर्थः। सत्यशब्दाभिधेयं च परं ब्रह्म।

उक्त संशय पर सूत्रकार "भूमासंप्रसादादध्युपेशात्" सूत्र बनाते हैं। अर्थात् भूमागुण विशिष्ट जीवात्मा नहीं है अपितु परमात्मा है। उक्त प्रसंग में, संप्रसाद से अधिक श्रेष्ठ भूमा का वर्णन किया गया है। संप्रसाद, जीवात्मा के लिए प्रयुक्त है जैसा कि—"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, परंरूप को प्राप्त कर, स्वकीय तेजोमय रूप से संपन्न हो जाता है" इस उपनिषद् में प्रसिद्ध है। संप्रसाद जीवात्मा से अधिक सत्य शब्दाभिधेय भूमागुण विशिष्ट का उपदेश दिया गया है; सत्य शब्द से अभिधेय, एक मात्र परब्रह्म ही है।

एतदुक्तं भवति—यथा नामादिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वाधिकतयोत्तरोत्तराभिधानात् पूर्वेभ्य उत्तरेषामर्थान्तरत्वम्, एवं प्राण शब्द निर्दिष्टात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टः सत्य शब्दाभिधेयः तस्मादर्थान्तर भूत एव, सत्य शब्द निर्दिष्ट एव भूमेति सत्याख्यं परंब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यते इति। तदाह वृत्तिकारः—"भूमात्वेतिभूमा ब्रह्म नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वंमस्योपदेशात्" इति।

कथन यह है कि—नाम से लेकर प्राण तक जिसका उल्लेख किया गया है, उसमें पूर्व वस्तु से पर वस्तु को उत्कृष्ट कहा गया है। जिससे कि पूर्व पदार्थ से पर पदार्थ की पृथकता सिद्ध हो जाती है। उसी प्रकार प्राण शब्द निर्दिष्ट जीवात्मा से अधिक, सत्य शब्दाभिधेय तत्त्व, विशिष्ट स्वतंत्र तत्त्व है। सत्य शब्द से निर्दिष्ट भूमा ही है जो कि सत्य शब्दाभिधेय परब्रह्म, के पर्याय रूप से वर्णन किया गया है। जैसा कि—वृत्तिकार कहते हैं—"भूमा को जानो—इत्यादि में जिस भूमा को जानने की बात कही गई है वह, नाम आदि की परम्परा से उत्तरोत्तरो श्रेष्ठ, जीवात्मा से ऊपर की श्रेणी का, बतलाया गया है।"

ankurnagpal108@gmail.com

प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत्-"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति सत्यवेदित्वेनाति वादिन तु शब्देन पूर्वस्मादतिवादिनो व्यावर्त्तयति अतएव "एष तु वा अतिवदति" इत्यत्र प्राणादिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा। अतोऽस्याति वादित्वनिमित्तं सत्यं पूर्वातिवादित्व-निमित्तात् प्राणादधिकमिति विज्ञायते।

यदि पूछो कि—यह कैसे जाना कि—प्राण शब्द से निर्दिष्ट वस्तु से अधिक, सत्य शब्दाभिधेय वस्तु का उपदेश किया गया है? तो सुनो—"उस पुरुष को ऐसे देखते, मनन करते, जानते हुए, उपासक अतिवादी (अर्थात् सत्य स्वरूप परमात्मा को बतलाने वाला) हो जाता है" इस प्रकार प्राणवेत्ता को अतिवादी बतलाकर "यह अतिवादी ही सत्यवादी है" इत्यादि में अतिवादी को सत्यवादी बतलाया गया है। वाक्यगत तु शब्द, पूर्वोक्त अतिवादी शब्द की पुनरावृत्ति का बोधक है। इसीलिए "एष तु वा अतिवदति" इत्यादि मे, प्राणातिवादी शब्द की, अन्यथा अर्थ प्रतीति, नही होती। इसी विश्लेषण से ज्ञात होता है कि—पूर्व अतिवादि निमित्तक "प्राण" से, पर अतिवादि निमित्तक "सत्य" वस्तु अधिक है।

ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनमंगत्वेनोपदिष्टम्, अतः प्राण प्रकरणाविच्छेद इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्—तु शब्देन ह्यतिवाद्यन्यः प्रतीयते, न तु तस्यैवातिवादिनः सत्यवदनांगविशिष्टतामात्रम्। "एष तु वा अग्निहोत्री यः सत्यं वदति" इत्यादिष्वग्निहोत्र्यंतरा प्रतीतेः प्रतीतस्यैवाग्नि होत्रिणः सत्यवदनागविधानमिति क्लिष्टा गतिराश्रीयते अत्रत्वतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्य शब्दाभिधेयं परं ब्रह्म प्रतीयते।

सत्यवादी, प्राणवेदी का ही अङ्ग है, इसीलिए प्राण प्रकरण के साथ उसका वर्णन किया गया है, यह कथन युक्तियुक्त नही है। सूत्रस्थ "तु"

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि—अतिवादी से भिन्न कोई दूसरी वस्तु अवश्य है, ऐसा नहीं है कि–सत्यवादिता, अतिवादी का, एक अङ्ग विशेष मात्र ही है। "वही यथार्थ अग्निहोत्री है जो कि सत्यवादी है" अग्निहोत्र विधायक, प्राण प्रकरण के इस वाक्य से ज्ञात होता है कि-- सत्य वस्तु भिन्न ही है। सत्यवादिता, के अंगरूप से, अग्निहोत्र की कल्पना, क्लिष्ट है। उक्त प्रकरण में, अतिवादी से भिन्नता बतलाने वाली, सत्य शब्द से अभिधेय परब्रह्म की, सुस्पष्ट प्रतीति होती है।

सत्य शब्दश्च "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिषु परस्मिन् ब्रह्मणि प्रयुक्तः, अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वस्मादाधिकत्वं सम्भवतीति वाक्यस्वरस सिद्धमन्यत्वं न बाधितव्यम्।

सत्य शब्द "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि में परब्रह्म के लए ही प्रयोग किया गया है, इसलिए सत्यनिष्ठ अतिवादी, पूर्वोक्त (प्राणविद) अतिवादी से श्रेष्ठ हो सकता है; वाक्यार्थ से ही स्पष्ट, जो दो अतिवादी की प्रतीति हो रही है, उसमें बाधा देना ठीक नहीं है।

अतिवादित्वं हि वस्त्वंतरात् पुरुषार्थतयाऽतिक्रान्तस्वोपास्य वस्तु वादित्वम्। नामाद्याशापर्यन्तोपास्यवस्त्वतिक्रान्तस्वोपास्य प्राणशब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्म वादित्वात् प्राणविदो अतिवादित्वम्। तस्यापि सातिशय पुरुषार्थत्वात् निरतिशय पुरुषार्थतयोपास्य परब्रह्मवादिन एव साक्षादतिवादित्वम् "एष तु वा अतिवदति य. सत्येनातिवदति" इत्युक्तम्। सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया, सत्येनपरेणब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः। अतएवैवंशिष्यः प्रार्थयते "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि" इति। आचार्यश्च "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्याह। "आत्मनः प्राणः" इति च प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य आत्मन उत्पत्तिरुच्यते। अतः "तरतिशोकमात्मवित्" इति प्रक्रान्त आत्मा प्राण शब्द निर्दिष्टादन्य इति गम्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अन्यान्य वस्तुओं की अपेक्षा अपनी उपास्य वस्तु का समधिक उत्कर्ष बतलाना ही अतिवादिता है। पहिले "नाम" से लेकर "दिक्" तक अन्य जो समस्त पदार्थ, उपास्य बतलाए गए है, उनमें अन्यों से, प्राण शब्दवाची जीवात्मा उत्कृष्ट उपास्य है, इसीलिए प्राणविद् अतिवादी कहा गया है। प्राण विद् की अतिवादिता, धर्म आदि पुरुषार्थ से श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, परंतु निरतिशय पुरुषार्थ रूप से जो परब्रह्म की उपासना करते हैं, वह उस से श्रेष्ठ हैं; यही अतिवादिता है। यही बात "जो सत्यवादी हैं वह अतिवादी हैं" इत्यादि वाक्य से निश्चित होती है। उक्त वाक्यस्थ "सत्येन" पद में जो तृतीया विभक्ति है, वो "इत्थंभूत" अर्थ ज्ञापन करती है, जिसका तात्पर्य है कि—सत्य रूप से उपासनीय, परब्रह्मोपलक्षित, अतिवादी होता है। शिष्य ऐसी ही प्रार्थना करता है—"हे भगवन ! मैं भी वह सत्योपलक्षित अतिवादी हो सकता हूँ ?" उत्तर में आचार्य कहते है—"सत्य ही विशेष रूप से जिज्ञास्य है"। "आत्मनः प्राणः" इत्यादि वाक्य में भी, प्राण शब्द निर्दिष्ट आत्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है इससे निश्चित होता है कि—आत्मविद् पुरुष शोक से पार हो जाता है" इत्यादि वाक्य का प्रस्तावित आत्मा, प्राण से, पृथक् है।

यदुक्तम्—"अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इति प्रश्नस्य "अदो वाव प्राणाद्भूयः" इति प्रतिवचनस्य चादर्शनात्प्रक्रांत आत्मोपदेशः प्राणोपदेश पर्यवसानो गम्यत इति, तदयुक्तम्; नहि प्रश्न प्रतिवचनाभ्यामेवार्थरत्वं गम्यते, प्रमाणान्तरेणापि तत्संभवात्। उक्तं च प्रमाणान्तरम्। "अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इत्यपृच्छतोऽयमभिप्रायः; नामादिष्वाशापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तया, पूर्वपूर्वमतिक्रान्तेषु अप्युत्तरोत्तरेषूपदिष्टेषु तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम्। प्राणशब्द निर्दिष्ट प्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वातिशयं मन्वानेन "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति अतिक्रान्तवस्तुवादित्वमुक्तम्। अतोऽत्रैवात्मोपदेशः समाप्त इति मत्वा शिष्योभूयो न पप्रच्छ आचार्यस्त्विदमपि सातिशयं मत्वा, निरतिश पुरुषार्थभूतं सत्य शब्दाभियं परं ब्रह्म "एष तु

ankurnagpal108@gmail.com

वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति स्वयमेवोपचिक्षेप । शिष्योऽपि परंपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपतदुपासन याथात्म्य-बुभुत्सया " सोऽहभगवः सत्येनातिवदानि" इति प्रार्थयामास । ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्वसिद्धये, ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनं 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्ममननम् "मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, श्रवण प्रतिष्ठा-र्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन श्रवर्णमर्थसिद्धं मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धां "श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, तदुपायभूतां च तन्निष्ठाम्" निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्या इत्युपदिश्य, तदुपाय भूतां च तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमपि "कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य, श्रवणाद्युपक्रमरूपकृति सिद्धये प्राप्यभूतस्य, सत्यशब्दा-भिहितस्य, ब्रह्मणः सुखरूपता ज्ञातव्येति "सुखं त्वेवविजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य, निरतिशयविपुलमेव सुखं परम् पुरुषार्थरूपं भवतीति, तस्यैव ब्रह्मणः सुखरूपस्य निरतिशय विपुलता ज्ञातव्येति "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्य, निरतिशय विपुल सुखरूपस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छ्णोति नान्यत्विजानाति स भूमा" इति । अयमर्थः, अनवधिकातिशय सुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूय-माने ततोऽन्यत्किमपि न पश्यत्यनुभविता, ब्रह्मस्वरूपतदविभूत्यन्तर-गतत्वाच्च कृत्स्नस्य, वस्तु जातस्य अत ऐश्वर्यापरपर्याय विभूति गुणविशिष्टं निरतिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवन् तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽ-भावादेव किमप्यन्यन्न पश्यति अनुभाव्यस्य सर्वस्य सुखरूपत्वादेव दुःखं च न पश्यति, तदेव हि सुखम्, तदनुभूयमानं पुरुषानुकूलं भवति।

जो यह कहते हो कि—"भगवन् ! प्राण की अपेक्षा भी कुछ वृहद् है क्या ? "इस प्रश्न के" यही प्राण से वृहद है "इस उत्तर से अदृष्ट प्रस्तावित आत्मा का ही उत्तर दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—

ankurnagpal108@gmail.com

प्राणोपदेश में ही तत्त्व का पर्यवसान है। तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं है। केवल इन प्रश्नोत्तरों से ही तथ्य का निर्णय नहीं होता, अन्य प्रमाणों से भी निर्णय किया जा सकता है। पहिले हम अन्य प्रमाण दे भी चुके हैं। "भगवन् ! प्राण की अपेक्षा कुछ अधिक है क्या ?" इस प्रश्न का तात्पर्य है कि–नाम से दिक् तक जिन अचेतन तत्त्वों का उपदेश दिया गया है, उनमें एक के बाद एक श्रेष्ठ बतलाए गए हैं, उन सबके ज्ञाताओं को आचार्य ने अतिवादी नहीं कहा। प्राणशब्द निर्दिष्ट जीवात्मा का यथार्थ वेत्ता, उसको ही पुरुषार्थ मानने वाला "वह प्राण-विद् व्यक्ति, ऐसे दर्शन, ऐसे मनन और ऐसे ज्ञान से अतिवादी होता है" इत्यादि में पहिले मन आदि तत्त्वों को अतिक्रमण करने वाले को ही अतिवादी कहा गया है। यहीं पर आत्मोपदेश की समाप्ति समझ कर शिष्य ने पुन: प्रश्न नहीं किया। किन्तु आचार्य ने इसे भी न्यून बताते हुए अधिक पुरुषार्थ भूत सत्य शब्दाभिधेय परब्रह्म को "को सत्य वादी है वही यथार्थ अतिवादी है" इत्यादि में स्वयं ही बतलाया ऐसा बतलाने पर शिष्य ने, परंपुरुषार्थ रूप परब्रह्म के स्वरूप और उनकी उपासना के यथार्थ रूप को जानने के लिए, पुन: "भगवन् ! मैं सत्यवादी होने की इच्छा करता हूँ" ऐसी अभिलाषा की। आचार्य ने, ब्रह्म साक्षात्कार की मूल कारण अतिवादिता की सिद्धि के लिए, ब्रह्म साक्षात्कार की उपाय उपासना को "सत्य ही ज्ञेय है" इत्यादि में बतलाकर, उसके उपाय रूप ब्रह्म मनन को "मति ही विशेष रूप से ज्ञातव्य है" इस प्रकार बतला कर यह प्रस्तुत किया कि–श्रुत पदार्थ की दृढ़ता के लिए मनन आवश्यक है मनन से ही श्रवणार्थ की सिद्धि होती है। इस श्रवण की उपाय रूप ब्रह्म श्रद्धा को श्रद्धा जिज्ञास्य है" ऐसा बतलाकर, श्रद्धा की उपाय रूप ब्रह्म निष्ठा को "निष्ठा ही विशेष रूप से ज्ञातव्य है" ऐसा बतला कर, उसकी उपायभूत उद्योग प्रयत्न रूपा कृति को "कृति ज्ञातव्य है" ऐसा बतला कर, श्रवण आदि में प्रवृत्ति हो इस लिए, सत्य शब्द से अभिधेय प्राप्तव्य ब्रह्म की सुखरूपता को "सुख ज्ञातव्य है" इत्यादि में ज्ञातव्य बतलाया। निस्सीम विपुल सुख ही परम पुरुषार्थ है, उस ब्रह्म की निरतिशय विपुल सुख-रूपता को "भूमा जिज्ञास्य है" ऐसा बतलाकर उस विपुल सुखरूप ब्रह्म के लक्षण को बतलाते हुए कहते हैं कि—मुमुक्षु जिसके अतिरिक्त कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं जानता, वही भूमा है।" इसका

ankurnagpal108@gmail.com

तात्पर्य हुआ कि– निस्सीम निरतिशय रूप में ब्रह्मानुभूति हो जाने पर, अनुभव करने वाला उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, क्यों कि– समस्त वस्तुए, ब्रह्म और उनकी विभूति के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वह एकमात्र, ऐश्वर्य स्वरूप विभूति विशिष्ट निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्म की ही अनुभूति करता है उसे अनुभव गोचर सारे ही पदार्थ सुख रूप ज्ञात होते हैं, वह कहीं भी दु:ख नहीं देखता, अनुभूयमान सुख ही उसे प्रिय लगता है।

ननु चेदमेव जगद्ब्रह्मणोऽन्यतयाऽनुभूयमानं दु:खरूपं परिमित सुखरूपं च भवत्कथमिव ब्रह्मविभूतित्वेन तदात्मकतयाऽनुभूयमानं सुखरूपमेव भवेत् ? उच्यते–कर्मवश्यानां क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणोऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं जगत् तत्तत्कर्मानुरूपं दु:खं च परमित सुखं च भवति। अतोब्रह्मणोऽन्यतया परिमित सुखत्वेन दु:खत्वेन च जगदनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वात् कर्मरूपाविद्याविमुक्तस्य तदेव जगद्विभूतिगुणविशिष्ट ब्रह्मानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति। यथा पित्तोपहतेन पीयमानं पय: पित्ततारतम्येनाल्पसुखं विपरीतं च भवति तदेवपय: पित्तानुपहतस्य सुखायैव भवति। यथैव राजपुत्रस्य पितुर्लीलोपकरणमतथात्वेनानुसंधीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्वानुसंधाने प्रियतमं भवति। तथा निरतिशयानंद स्वरूपस्य ब्रह्मणोनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरस्य लीलोपकरणं तदात्मकं चानुसंधीयमानं जगन्निरतिशय प्रीतये भवत्येव, अतो जगदैश्वर्यविशिष्टमनवधिकातिशय सुखरूपं ब्रह्मानुभवंस्ततोऽन्यत् किमपि न पश्यति, दु:खं च न पश्यति।

(प्रश्न)जब यह जगत् परिमित सुखवाला, दु:खरूप और ब्रह्म से भिन्न बतलाया गया है तो उसे सुखरूप ब्रह्मात्मक, कैसे अनुभव किया जा सकता है ?

(उत्तर) कर्माधीन जीवों के लिए ही, दृश्मान सारा जगत्, ब्रह्म से भिन्न है तथा वे ही निजकर्मों के अनुसार, जगत् को दु:खरूप और परिमित

ankurnagpal108@gmail.com

सुखवाला अनुभव करते हैं। ब्रह्म से भिन्न, दुःखरूप और परिमित सुखरूप जगत् की अनुभूति, कर्म निमित्तक ही है; जिसकी कर्मरूपा अविद्या छूट गई है, उसे, सारा जगत्, विभूतिगुणविशिष्ट, ब्रह्मानुभवरूप सुखमय प्रतीत होता है। जैसे कि–पित्तविकार ग्रस्त जीव को दूध पीना, रोग के अनुसार कम सुखकर अथवा दुःखकर ही लगता है, वही दूध पित्तविकार रहित व्यक्ति को अति सुखकर प्रतीत होता है। जैसे कि–राजपुत्र को बाल्यावस्था मे पिता के वैभव विलास का यथार्थ ज्ञान नही होता, पर जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है उसे वैभव सुख की उत्तरोत्तर अनुभूति होती जाती है; वैसे ही जब जीव को, निस्सीम आनदस्वरूप ब्रह्म की असंख्येय अतिशय अगणित कल्याणमय गुणों वाली लीला के उपकरण स्वरूप जगत की, ब्रह्मात्मकता का आभास होने लगता है, तो उसे, जगत् मे ही, निस्सीम आनद की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार वह, जगत् में, ऐश्वर्यविशिष्ट निस्सीम अतिशय सुखरूप ब्रह्म की अनुभूति मे निमग्न होकर, सुखरूपब्रह्म के अतिरिक्त, कुछ दूसरा नही देखता, और न दुःख ही देखता है।

एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः "स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंद. स स्वराड्भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्तेक्षय्यलोका भवंति तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति" इति। स्वराट्–अकर्मवश्यः अन्यराजानः–कर्मवश्याः। तथा—"न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति च।

निरतिशय सुखस्वरूपत्वं च ब्रह्मणः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यत्र प्रपंचितम्। अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य सत्यशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो भूमेत्युपदेशात् भूमा परं ब्रह्म।

उक्त तथ्य की ही पुष्टि प्रकरण का अंतिम वाक्य इस प्रकार करता है—"वह (उपासक) इस पुरुष का इस रूप से दर्शन करके, इस रूप से

ankurnagpal108@gmail.com

मनन करके, इस प्रकार से जानकर, आत्मविद्-आत्मक्रीड-आत्ममिथुन आत्मानंद एवं स्वच्छन्द हो जाता है, उसकी सभी लोकों में स्वेच्छगति हो जाती है। इसके विपरीत जो जगत् को देखता है वह परतंत्र-लोकच्युत और लोकों में बंधकर रह जाता है।" वाक्यस्थ स्वराड् का तात्पर्य है, कर्मबंधन रहित स्वच्छन्द तथा अन्यराजानः का तात्पर्य है, कर्मों के वशीभत, कर्मानुसार फल भोगने के लिए बाध्य। जैसा कि–"यथोक्त तत्त्वदर्शी मृत्यु को नहीं देखता, रोग तथा दुःखों का भी भोग नहीं करता, वह सर्वदर्शी, सभी सुखों को प्राप्त करने वाला हो जाता है।" इत्यादि से भी ज्ञात होता है।

ब्रह्म की निरतिशय सुखरूपता की व्याख्या "आनंदमययोभ्यासात्" सूत्र में की गई है। इससे स्पष्ट है कि–प्राण शब्द वाची जीवात्मा से भिन्न सत्य शब्दाभिधेय परमात्मा को ही भूभा शब्द से बतलाया गया है।

धर्मोपपत्तेश्च १।३।८॥

अस्य भूम्नो ये धर्माम्नाभ्नायंते, तेऽपि परस्मिन्नेवोपपद्यंते। "एत मृतम्" इति स्वाभाविक अमृतत्वम् "स्वेमहिम्नि" इत्यन्याधारत्वं "स एवाधस्ताद्" "इत्यादि" स एवेदं सर्वम्" इति सर्वात्मकत्वम् "आत्मतःप्राणः" इत्यादि प्राण प्रभृति सर्वस्योत्पादकत्वमित्यादयोहि धर्माः परमात्मन एव।

भूमा संबंधी जो विशेषतायें श्रुतियों में बतलाई गई हैं, वह परमात्मा में ही हो सकती हैं। "एतदमृतम्" से स्वाभाविक अमरता, "स्वे महिम्नि" से अनन्यधारकता, "स एवाधस्तात्" इत्यादि तथा "स एवेद सर्वम्" से सर्वात्मकता, "आत्मतः प्राणः" इत्यादि से प्राण आदि सभी की उत्पादकता; इत्यादि जो विशेषतायें बतलाई गई हैं वह परमात्मा में ही संभव हो सकती हैं।

यत्तु "अहमेवाधस्तात्" इत्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टं, तद्भूमविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहंग्रहणोपासनपमूदिश्यते "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यहग्रहोपदेशोपक्रमात्। अहमर्थस्य प्रत्यगात्मदोऽपि ह्यात्मा

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मेत्यंतर्यामिब्राह्मणादिषूक्तम् । अतः प्रत्यंगर्थस्य परमात्मपर्यवसानात् अहंशब्दोऽपि परमात्मपर्यंव सायीति प्रत्यगात्मशरीरकत्वेन परमात्मानुसंधानार्थोऽयं अहंग्रहोपदेशः परमात्मनः सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वात् प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा । तदेव "अथात आत्मोपदेशः" इत्यादिना" आत्मैवेदंसर्वम्" इत्यन्तेनोच्यते ।

"अहमेवाधस्तात्" इत्यादि मे जो सर्वात्मकता बतलाई गई है—वह भूमाविशिष्ट ब्रह्म की अन्तर्यामी रूप अहं की उपासना की, द्योतिका है। "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यादि श्रुति मे, उक्त अहं क्या है ? इत्यादि उपदेश का उपक्रम किया गया है। अन्तर्यामी (बृहदारण्यकोपनिषद के प्रथम) ब्राह्मण मे, परमात्मा को, जीवान्तर्यामी कहा गया है, इसलिए, जीवात्मा का पर्यवसान, परमात्मा मे होने से, अहं शब्द भी परमात्मा मे ही, पर्यवसित होता है। जीवात्मा परमात्मा का शरीर है, इसलिए शरीरी परमात्मा के अनुसधान के लिए, अहं शब्द का प्रयोग किया गया है। सारा जगत् परमात्मा का ही शरीर है, परमात्मा ही सबके आत्मा हैं इस प्रकार जीवात्मा के आत्मा भी, परमात्मा ही है, ऐसा—"अथात आत्मोपदेशः" से लेकर "आत्मैवेदं सर्वम्" तक बतलाया गया है।

एतदेवोपपादयितुं प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मभूतात् परमात्मनः सर्वस्योत्पत्तिरुच्यते "तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत् एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आकाशः" इत्यादिना । उपासकस्यान्तर्यामितया अवास्थितात् परमात्मनः सर्वस्योत्पत्तिरित्यर्थः । अतः परमात्मनः प्रत्यगात्म शरीरत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहंग्रहोपासनं कर्त्तव्यम् । तस्माद् भूमविशिष्टः परमात्मेति सिद्धम् ।

उक्त तत्त्व के समर्थन के प्रसंग में–जीवात्मा के भी, आत्मरूप परमात्मा से, समस्त की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है–"इस प्रकार दर्शन-श्रवण-मनन और विज्ञान संपन्न आत्मा से प्राण एवं आकाश हुए" इत्यादि । अर्थात् उपासक के अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा से,

ankurnagpal108@gmail.com

समस्त की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा, परमात्मा का शरीर है, इस ज्ञान को दृढ़ करने के लिए अहं ज्ञान पूर्वक उपासना करना आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि–भूमगुण विशिष्ट परमात्मा ही है।

३ अक्षराधिकरण

अक्षरमम्बरान्त धृतेः ।१।३।६॥

वाजसनेमिनो गार्गीप्रश्ने समामनंति "सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्" इत्यादि तत्र संशयः, किमेतदक्षरंप्रधानम्–जीवो वा परमात्मा-इति, किं युक्तम्? प्रधानमिति कुतः? "अक्षरात्परम् परः" इत्यादिष्वक्षर शब्दस्य प्रधाने प्रयोग दर्शनात् अस्थूलत्वादी ।। च तत्र समन्वयात्। "ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिषु परस्मिन्नप्यक्षरशब्दो दृश्यत इति चेत्–न, प्रमाणान्तर प्रसिद्ध श्रुति प्रसिद्धयोः प्रमाणान्तर प्रसिद्धस्य प्रथम प्रतीतेः, प्रतीत परिग्रहे विरोधाभावात्।

वाजसनेय के गार्गी के प्रश्न के प्रसंग में–"उन्होंने कहा–हे गार्गि! ब्राह्मण इस अक्षर को सूक्ष्म, स्थूल, दीर्घ, ह्रस्व, अलोहित, स्नेह और छाया रहित बतलाते हैं।" इत्यादि जो कहा गया उस पर संशय होता है कि–उक्त गुणों वाला अक्षर कौन है? प्रधान, जीव, या परमात्मा? कह सकते हैं कि–प्रधान है, क्योंकि–"अक्षरात् परतः परः" इत्यादि स्थलों में अक्षर शब्द का प्रधान के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है तथा स्थूल सूक्ष्म आदि विषम गुणों का समन्वय भी उसी में हो सकता है।" ययातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादि में, परमात्मा के लिए भी, अक्षर शब्द का प्रयोग देखा जाता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि–प्रमाणान्तर प्रसिद्ध और श्रुति प्रसिद्ध में प्रमाणान्तर प्रसिद्ध की, प्रथम प्रतीति होती है; प्रथम प्रतीत अर्थ के ग्रहण में किसी प्रकार के विरोध की संभावना नहीं रहती।

"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्याः" इत्यारभ्य सर्वस्य कालत्रितय वर्त्तिनः कारणभूताकाशाधारत्वे प्रतिपादिते "कस्मिन्नु

ankurnagpal108@gmail.com

खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्याकाशस्यापि कारणं तदाधारभूतं किमिति पृष्टे प्रत्युच्यमानमक्षरं सर्वविकारकारणतया तदाधारभूतं प्रमाणान्तर प्रसिद्धं प्रधानमिति प्रतीयते अतः अक्षरं प्रधानम् ।

तथा "गार्गि ! जो छायालोक से ऊपर और पृथ्वी से भी नीचे है" इत्यादि से लेकर कालत्रयवर्त्ती समस्त पदार्थों के आश्रयरूप कारण आकाश के प्रतिपादन के बाद "आकाश किसमें ओत प्रोत है ?" ऐसे आकाश के भी आधारभूत कारण के विषय में प्रश्न किये जाने पर समस्त है गतिक पदार्थों का आधारभूत कारण, अक्षर ही बतलाया गया है। उपदेश—प्रमाणान्तर प्रसिद्ध प्रधान ही प्रतीत होता है, इसलिए अक्षर, प्रधान ही है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—अक्षरमम्बरान्तधृतेः—अक्षरं-परंब्रह्म कुतः ? अम्बरान्त धृतेः, अम्बरस्य—आकाशस्य, अन्तः—पारभूतम्, अव्याकृतमंबरान्तः, तस्य धृतेः तदाधारतयाऽस्याक्षर-स्योपदेशादिति यावत् । अयमर्थः "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्यत्राकाश शब्दनिर्दिष्टं न वायुमदम्बरम्, अपितु तत्पार-भूतमव्याकृतम्, अत्रस्तस्याव्याकृतस्याप्याधारत्वेनोच्यमानमक्षरं नाव्याकृतं भवितुमर्हति इति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार "अक्षरमम्बरान्त धृतेः" सूत्र सिद्धान्तरूप से प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अक्षर परब्रह्म है क्योंकि—अम्बर अर्थात् आकाश के अन्त में स्थित अव्याकृत रूप को, अक्षर के आश्रित बतलाया गया है। "आकाश किसमें ओत प्रोत है ?" इत्यादि में, जिस आकाश का उल्लेख किया गया है, वह वायुपूरित आकाश नहीं है, अपितु उससे भी पार जो अव्याकृत आकाश है, उसी का उल्लेख है। उसी अव्याकृत आकाश के आधार के रूप में, अक्षर बतलाया गया है। ऐसे अव्याकृत आकाश का आधार विकृत प्रधान हो, ऐसा संभव नहीं है।

नन्वाकाश शब्दनिर्दिष्टो न वायुमानिति कथमवगम्यते ? उच्यते—"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्या यदंतराद्यावापृथ्वी,

ankurnagpal108@gmail.com

इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतं च प्रोतं च" इत्युक्ते त्रैकाल्यवर्त्तिनो विकारजातस्याधारतया निर्दिष्ट आकाशो न वायुमदाकाशो भवितुमर्हति, तस्यापि विकारान्तरगतत्वात्। अतोऽत्राकाशशब्दनिर्दिष्टं भूतसूक्ष्ममिति प्रतीयते। ततस्तस्यापि भूतसूक्ष्मस्याधारभूतं किमित पृच्छ्यते "कस्मिन्नुखल्वाकाशओतश्च प्रोतश्च" इति। अतस्तदाधारतया निर्दिश्यमानमक्षरं न प्रधानं भवितुमर्हति।

यदि कहो कि—उक्त प्रकरण में आकाश शब्द से अभिहित, परम् पूरित भूताकाश नहीं है, यह कैसे जाना? तो सुनो—"गार्गि! जो द्युलोक से ऊपर तथा पृथ्वी से नीचे है तथा द्युलोक और पृथ्वी जिसके अभ्यन्तर में हैं, जिसे भूत, वर्त्तमान् और भविष्य कहा जाता है, वह आकाश ही ओत प्रोत है" इत्यादि में कहा गया, त्रैलोक्यवर्त्ती, वैकारिक पदार्थों का आधार. आकाश, वायुमान आकाश नहीं हो सकता, क्योंकि वायुमान आकाश तो, विकृत है। इसलिए यहाँ, आकाश शब्द से निर्दिष्ट, भूतसूक्ष्म ही प्रतीत होता है। "आकाश किससे ओत प्रोत है?" यह प्रश्न भूतसूक्ष्म आकाश के लिए ही पूछा गया है। इन सबसे ज्ञात होता है कि–आधाररूप से निर्दिष्ट अक्षर तत्त्व, विकृत प्रधान नहीं हो सकता।

यत्तु श्रुतिप्रसिद्धात् प्रमाणान्तर प्रसिद्धं प्रथमं प्रतीयत इति तन्न, अक्षर शब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थं प्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात् संबंधग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते, न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीमम्।

जो यह कहा कि–श्रुति प्रसिद्ध से प्रमाणान्तर प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति प्रथम होती है, सो यह बात नहीं है, क्योंकि–अक्षर शब्द से सीधा सीधा जो अर्थ प्रतीत होता है, उसके प्रतिपादन के लिए, अन्य प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है; शब्द और अर्थ के संबंध, में अर्थ के स्वरूप

ankurnagpal108@gmail.com

बतलाने में जिन प्रमाणों की अपेक्षा होती है, वस्तु प्रतिपादन की स्थिति में उन प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती।

एवं तर्ह्यक्षर शब्द निर्दिष्टो जीवोऽस्तु, तस्यभूतसूक्ष्मपर्यन्तस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुन आधारत्वोपपत्तेः, अस्थूलत्वादुच्यमानविशेषणोपपत्तेश्च "अव्यक्तमक्षरेलीयते"—"यस्याव्यक्तं शरीरम्—यस्याक्षरं शरीरम्" "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादिषु—प्रत्यगात्मन्यप्यक्षर शब्द प्रयोगदर्शनादित्यत्रोत्तरम्—

उपदेश यदि प्रधान को, अक्षर नहीं मानते तो, जीव तो अक्षर शब्द से प्रथअभिधेय है ही, उसे ही भूतसूक्ष्म पर्यन्त समस्त जड़ वस्तुओं का आधार तथा अस्थूलता आदि विशेषताओं वाला कहा गया है जैसा कि-"अव्यक्त जिसका शरीर है, अक्षर जिसका शरीर है;" समस्त भूत क्षर हैं, अक्षर कूटस्थ है" इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा के लिए किए गए, अक्षर शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है। इस मत का ही उत्तर देते हैं—

सा च प्रशासनात् ।१।३।१०॥

सा चाम्बरान्तधृतिरस्याक्षरस्य प्रशासनादेव भवतीत्युपदिश्यते "एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, निमेषा मुहुर्त्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठंति" इत्यादिना। प्रशासनंप्रकृष्टं शासनं, न चेदृशं स्वशासनाधीनसर्वंवस्तु विधरणं बद्धमुक्तोभयावस्थस्यापि प्रत्यगात्मनः संभवति। अतः पुरुषोत्तम एव प्रशाशित्रक्षरम्।

वह अम्ब पर्यन्त समस्त वस्तुओं का आधार अक्षर के प्रशासन से ही होता है, ऐसा उपदेश दिया गया है। जैसा कि—"हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही सूर्य और चन्द्र स्थित हैं, गार्गि! इसी अक्षर के

ankurnagpal108@gmail.com

प्रशासन में द्यु और भूलोक स्थित हैं, तथा गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में, निमेष-मुहूर्त्त-अहोरात्र-अर्द्धमास-मास-ऋतु-संवत्सर आदि भी स्थित हैं ' इत्यादि से ज्ञात होता है। प्रशासन का अर्थ है प्रकृष्ट रूप से शासन करना अर्थात् नियमित रखना। बद्ध या मुक्त जीव, इस प्रकार के प्रशासन से, समस्त पदार्थों को नियमित कर सकें, ऐसा संभव नहीं है। इससे निश्चित होता है कि प्रशासक रूप से पुरुषोत्तम ही अक्षर है।

अन्यभावव्यावृतेश्च ।१।३।११॥

अन्य भावः अन्यत्वं प्रधानादिभावः। अस्याक्षरस्य परम् पुरुषादन्यत्वं, वाक्यशेषे व्यावर्त्यते "तद् वा एतदक्षरं गार्गि, अदृष्टं दृष्टृ श्रुतं श्रोत्रमतम् मंत्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदस्तोऽस्ति द्रष्टृ, नान्यदस्तोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदस्तोऽस्ति मंतृ, नान्यदस्तोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नुखल्वक्षरे गार्गि, आकाश ओतश्च प्रोतश्च।" अत्र द्रष्टृत्व श्रोतृत्व आदि उपदेशात् अस्याक्षरस्याचेतनभूत प्रधान भावो व्यावर्त्यते। सर्वैरद्रष्टस्यैव सतः सर्वस्य द्रष्टृत्वादि उपदेशाच्च प्रत्यगात्म-भावोव्यावर्त्यंते। अत इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषतां दृढयति।

इस सूत्र के, अन्यभाव का तात्पर्य है, अन्यत्व- प्रधानादि भाव। प्रस्तुत प्रकरण के अन्तिम वाक्य में, परमपुरुष और अक्षर पुरुष की भिन्नता का प्रतिषेध किया गया है, जैसे-"गार्गि ! यह अक्षर दृष्ट नहीं अपितु द्रष्टा, श्रव्य नहीं अपितु श्रोता, मनन का विषय नहीं अपितु मन्ता, ज्ञेय नहीं अपितु ज्ञाता, इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है" इत्यादि में अक्षर को श्रोता, द्रष्टा कहा गया है, जिससे यह भ्रम समाप्त हो जाता है कि-प्रधान, अक्षर है। तथा-अक्षर सबसे अदृष्ट होते हुए भी स्वयं द्रष्टा है, इससे जीवात्मा को अक्षर समझने का भ्रम भी निवृत्त हो जाता है। प्रधान, जीवात्मा संबंधी संशय के निवृत्त हो जाने पर, अक्षर की परम पुरुषता दृढ हो जाती है।

ankurnagpal108@gmail.com

एवं वाऽन्यभावव्यावृत्तिः, अन्यस्य सद्भावव्यावृत्तिरन्यभाव व्यावृत्तिः यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टं सदन्येषां द्रष्टृ च सत् स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूतम्, एवमनेनादृष्टमेतस्य दृष्टृ च सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन् "नान्यदस्तोऽस्ति द्रष्ट" इत्यादि वाक्यशेषो अन्यस्य सद्भावं व्यावर्त्तयन्यस्याक्षरस्य, प्रधानभावं, प्रत्यगात्मभावं च प्रतिषेधति ।

अन्य की सद्भावना की व्यावृत्ति भी, इस सूत्र का तात्पर्य हो सकता है। "इसके अतिरिक्त कोई अन्य द्रष्टा नहीं है" इस वाक्यांश में, अक्षर को अन्य से अदृष्ट तथा सभी का द्रष्टा बतलाकर, सभी का आश्रय सिद्ध किया गया है, इससे निश्चित होता है कि इसके दर्शन और आश्रय की, किसी भी अन्य से संभावना नहीं है। इस प्रकार, अन्यों की संभावना के प्रतिषिद्ध हो जाने पर अक्षर के प्रधान या जीवात्मभाव का स्वतः प्रतिषेध हो जाता है।

किंच—"एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि, ददतो मनुष्याः प्रशंसंति यजमानो देवाद्रर्वी पितरोऽन्वायत्ताः" इति श्रौतं स्मृत्तिं च यागदान होमादिकं सर्वकर्म यस्याज्ञया प्रवर्त्तते, तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तम एवेति विज्ञायते ।

तथा—"गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में ही, मनुष्य दाता की, देवता यजमान की तथा पितर दर्वी (चरुपात्र) की प्रशंसा करते है।" इत्यादि से भी ज्ञात होता है कि—श्रौत स्मार्त्त, याग-दान-होमादि सब कर्म जिनके प्रशासन में संपन्न होते हैं, वे अक्षर, परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हो सकते हैं।

अपि च—"यो वा एतदक्षरं गार्गि ! अविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद्भवति, यो वा एतदक्षरंगार्गि । अविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति

ankurnagpal108@gmail.com

सकृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि ! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ।" इति यदज्ञानात् संसार प्राप्ति यज्ज्ञानाच्चामृतत्त्व प्राप्ति स्तदक्षरं परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ।

तथा—'गार्गि ! जो लोग इस लोक में इस अक्षर को न जानकर होम यज्ञ करते हैं तथा हजारों वर्ष तपस्या करते हैं, उनका समस्त कर्म (पुण्यभोग के बाद) समाप्त हो जाता है, वे बेचारे दया के पात्र हैं। और जो अक्षर तत्त्व के ज्ञाता (निष्काम भाव से उसका चिंतन करते हैं) वे ही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं।' इत्यादि में, अक्षर को न जानने से संसार प्राप्ति और अक्षर ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे सिद्ध होता है कि–अक्षर परब्रह्म ही है।

४ ईक्षतिकर्माधिकरणः—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।१।३।१२॥

आथर्वणिकास्सत्यकाम प्रश्नेऽधीयते–"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणो-मित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दावेकविषयौ, ध्यानफलत्वादीक्षणस्य, "यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषः" इति न्यायेन ध्यान विषयस्यैव प्राप्यत्वात् "परं पुरुषं" इत्युभयत्र कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाच्च ।

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् के सत्यकाम के प्रश्न के प्रसंग में कहा गया कि–"जो त्रिमात्रात्मक अक्षर रूप परंपुरुष का ध्यान करते हैं वह तेज में सूर्य के समान होते हैं; जैसे कि सर्प अपना केचुल छोड़ देता है, वैसे ही वे भी पाप से छूट जाते हैं। वे सामगणों द्वारा, ब्रह्मलोक में ले जाए जाते हैं, वे इन जीवों से श्रेष्ठ परम पुरुष को हृदय में देखते हैं।' यहाँ ध्यान और दर्शन दोनों को एक ही बतलाया गया है। वैसे दर्शन

ankurnagpal108@gmail.com

या साक्षात्कार ध्यान का ही फल है "पुरुष इस लोक में जैसा चिन्तन करता है" इत्यादि में ध्यान को ही, प्राप्य वस्तु का कारण बतलाया गया है। ध्यान और दर्शन दोनों में "परंपुरुष" की प्राप्ति की अभिलाषा रहती है इसीलिए उक्त वाक्य में दोनों को एक विषयक दिखलाया गया है।

तत्र संशय्यते–किमिह "परं पुरुषम्" इति निर्दिष्टो जीवसमष्टिरूपोऽण्डाधिपतिश्चतुर्मुखः उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः इति किंयुक्तम् ? समष्टि क्षेत्रज्ञ इति, कुतः ? "स यो ह वैतद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमंवाव सतेन लोकं जयति" इति प्रक्रम्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोक प्राप्तिमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनस्य अंतरिक्ष लोक प्राप्तिमभिधाय, त्रिमात्रमुपासीनस्य प्राप्यतयाऽभिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो जीवसमष्टि रूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते तद्गतेन चेक्ष्यमाणः तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव। "एतस्माज्जीव घनात्परात्परम्" इति च देहेन्द्रियादिभ्यः पराद् देहेन्द्रियादिभिः सह घनीभूताज्जीवव्यष्टिपुरुषाद् ब्रह्मलोकवासिनः समष्टि पुरुषस्य चतुर्मुखस्य परत्वेनोपपद्यते। अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषः समष्टिपुरुषः चतुर्मुख एव। एवं चतुर्मुखत्वे निश्चिते सति अजरात्वादयो यथाकथंचिन्नेतव्याः।

अब संशय होता है कि–परं पुरुष पद से निर्दिष्ट, जीव समष्टि रूप ब्रह्माण्डपति चतुर्मुख हैं अथवा सर्वेश्वर पुरुषोत्तम ? कह सकते है कि समष्टि क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा ही है–जैसा कि–"हे भगवन् इस मनुष्य लोक में जो मनुष्य आजीवन ओंकार का चिंतन करते है वो कौन सा लोक जीत लेते हैं ?" ऐसा उपक्रम करके, एकमात्रा का चिंतन मनुष्य लोक की प्राप्ति कराता है, दो मात्रा का चिन्तन अंतरिक्ष लोक की प्राप्ति कराता है तथा त्रिमात्रा का चिन्तन अंतरिक्ष से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक की

ankurnagpal108@gmail.com

प्राप्ति कराता है जो कि जीव समष्टि रूप चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है; इत्यादि बतलाया गया है। उस ब्रह्मलोक में प्राप्त जीवों का दृश्यमान पर पुरुष चतुर्मुख ही है। "श्रेष्ठ जीवों से भी श्रेष्ठ" इत्यादि में देह इन्द्रिय आदि से श्रेष्ठ देह इन्द्रिय आदि सहित घनीभूत जीव पुरुष से, ब्रह्मलोकवासी समष्टि पुरुष चतुर्मुख की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-उक्त प्रसंग में जिस परंपुरुष का व्याख्यान किया गया है, वह समष्टि पुरुष चतुर्मुख ही है। इस प्रकार परंपुरुष की चतुर्मुखता निश्चित हो जाने पर, अजरत्व आदि गुणों का प्रतिपादन भी उन्हीं के लिए किसी न किसी प्रकार करना होगा।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः" ईक्षति कर्म सः परमात्मा। कुतः ? व्यपदेशात्—व्यपदिश्यते हीक्षतिकर्म परमात्वत्वेन। तथाहि ईक्षतिकर्मविषयतयोदाहृते श्लोके—"तमोंकारेणैवायनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छां तमजरममृतमत्रयं परं च" इति। परंशान्तमजरमभयममृतमिति हि परमात्मन एवैतद्रूपम्, "एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म" इत्येवमादि श्रुतिभ्यः। "एतस्माद् जीवघनात्परात्परम्" इति च परमात्मन एव व्यपदेशः न चतुर्मुखस्य, तस्यापिजीवधनशब्दगृहीतत्वात्। यस्य हि कर्मनिमित्तं देहित्वं स जीवघनइत्युच्यते। चतुर्मुखस्यापितच्छ्रूयते—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इत्यादौ। यत्पुनरुक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरिनिर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति प्रतीयते अतस्तत्रस्थचतुर्मुख इति; तदयुक्तम्—'यत्तच्छान्तमजरममृतमत्रयम्" इत्यादिनेक्षित कर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से "ईक्षतिकर्म" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् वह परमात्मा ईक्षति क्रिया का कम है। परमात्मा के लिए ही ईक्षण का निर्देश किया गया है। ईक्षण कर्म विषयक उदाहरण के श्लोक में जैसे—"विद्वान् पुरुष ओंकार के अवलंबन

ankurnagpal108@gmail.com

से ही, शांत-अजर-अमर-अक्षय स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है" इत्यादि। ऐसा शांत अजर अमर रूप परमात्मा का ही है, ऐसा "एतदमृत" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है। 'एतज्जीवघनात् परात्पर·" इत्यादि श्रुति में भी परमात्मा का ही निर्देश है, चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं। ब्रह्मा को भी जीवघन ही बतलाया गया है। कर्मों के फलस्वरूप देह प्राप्ति ही जीवघनत्व है। चतुर्मुख ब्रह्मा के जन्म की बात भी "जिन्होने प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया" इत्यादि में प्रसिद्ध है। जो यही कि—अंतरिक्ष लोक के ऊपर जो ब्रह्मलोक है, वह ब्रह्मा का ही लोक प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ के दर्शनीय पुरुष चतुर्मुख हैं; सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि—जब "यच्छान्तमजर" इत्यादि से परमात्मा का ईक्षण कर्म निश्चित हो चुका तब ब्रह्मलोक जो कि—ईक्षण कर्म वाले का ही स्थान है, वह क्षयशील ब्रह्मा का लोक, कैसे हो सकता है।

किं च—"यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामाभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्" इति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य प्राप्यतयोच्यमानं न चतुर्मुखस्थानम्। अतएव चोदाहरणश्लोके इममेव ब्रह्मलोकमधिकृत्यश्रूयते—"यत्तत्कवयो वेदयंते" इति। कवयः सूरयः। सूरिभिर्दृश्यं च वैष्णवं पदमेव "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः" इत्येवमादिभ्यः। न चान्तरिक्षात् परश्चतुर्मुखलोकः मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सद्भावात्।

तथा—"जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है, वैसे ही वह साधक भी पापों को छोड़ देता है, सामगण उसे ब्रह्मलोक पहुँचाते हैं।' इत्यादि में उदाहृत निष्पाप पुरुष के लिए जिस प्राप्य लोक का वर्णन किया गया है वह, चतुर्मुख का स्थान नही हो सकता। उदाहरणरूप से प्रस्तुत श्लोक में इस लोक को ब्रह्मलोक कहा गया है "जिसे कवि ही जानते हैं," इत्यादि कवयः का अर्थ सूरयः (ज्ञानीभक्त) है। सूरियों के द्वारा दृष्ट वैष्णव पद "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है। अंतरिक्ष के बाद चतुर्मुख का लोक ही नहीं है, मध्य में स्वर्ग आदि और भी बहुत से लोक हैं, इससे भी उक्त बात कट जाती है।

ankurnagpal108@gmail.com

अतः "एतद् वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोंकारः तस्माद् विद्वानेतेनैवायनेनैकतरमन्वेति" इति प्रतिवचने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनाना मैहिकं मनुष्यलोकावाप्ति रूपं फलमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनानामामुष्मिक अन्तरिक्ष शब्दोपलक्षितं फलं चाभिधाय, त्रिमात्रेण परब्रह्म वाचिना प्रणवेन परं पुरुषं ध्यायतां परमेव ब्रह्म प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वं समंजसम् । अत ईक्षति कर्म परमात्मा ।

"सत्यकाम ! जो यह ओंकार है, यही पर और अपर ब्रह्म है, उपासक विद्वान् इसकी उपासना करके एक एक लोकों की प्राप्ति करते हैं।" इस आचार्य द्वारा दिए गए उत्तर में, जिस अपर कार्यब्रह्म का उल्लेख किया गया है, उसके ऐहिक और आमुष्मिक दो रूप दिखलाकर, एकमात्रा के प्रणव के उपासकों की मनुष्य लोक प्राप्ति द्विमात्रा के उपासकों की, अंतरिक्ष नाम वाली आमुष्मिक प्राप्ति बतलाकर, त्रिमात्रा वाले पर ब्रह्म वाची प्रणव से, परंपुरुष के ध्यान करने वालों परब्रह्म की ही प्राप्ति बतलाई है, इस प्रकार प्रासंगिक असंगति का सांमजस्य कर दिया गया है। इससे निश्चित हो गया कि–ईक्षति कर्म परमात्मा का ही है।

५ दहराधिकरण :–

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१३॥

इदमामनंति छंदोगाः "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः तस्मिन्यदंतस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" इति । तत्र संदेहः–किमसौ हृदय पुण्डरीक मध्यवर्त्ती दहराकाशो महाभूत विशेषः उत प्रत्यगात्मा उत परमात्मा इति किं" तावद्युक्तम् ? महाभूत विशेष इति, कुतः ? आकाश शब्दस्य, भूताकाशे ब्रह्मणि च प्रसिद्धत्वेऽपि, भूताकाशे

ankurnagpal108@gmail.com

प्रसिद्धि प्रकर्षात् । "तदस्मिन्यदंतः तदन्वेष्टव्यम्" इत्यन्वेष्टव्यान्तरस्याधारतया प्रतीतेश्च ।

छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि—"इस ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म-पुंडरीक गृह है जिसमे कि सूक्ष्म आकाश विद्यमान है, उसके भी अंदर जो विद्यमान है, उसी के अन्वेषण और जानने की चेष्टा करनी चाहिए" इस पर संशय होता है कि—उल्लेख्य हृदयपुडरीक मध्यवर्त्ती दहराकाश, महाभूत विशेष आकाश है, अथवा जीवात्मा है अथवा परमात्मा ? कह सकते है कि—महाभूतविशेष आकाश ही है; आकाश शब्द, भूताकाश और परमात्मा दोनो के लिए ही प्रयुक्त होता है, पर भूताकाशरूप मे अधिक प्रसिद्ध है तथा "तदस्मिन्" इत्यादि में अन्वेष्टव्य का आन्तरिक आधार के रूप में जो वर्णन किया गया है उससे भी, भूताकाश की ही प्रतीति होती है ।

सिद्धान्तः—इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—दहरउत्तरेभ्यः दहराकाशः परं ब्रह्मः, कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः । "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प" इति निरुपाधिकात्मत्वमपह पाप्मत्वादिकं सत्य कामत्वं सत्यसंकल्पत्वं चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणाः, दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञाययंति ।

उक्त संयश की निवृत्ति के लिए सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "दहर-उत्तरेभ्यः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् दहराकाश पर ब्रह्म है—क्योंकि-उक्त वाक्य के परवर्त्ती वाक्य में जो दहर संबंधी हेतु प्रस्तुत किये गए हैं उनसे यही निर्णय होता है । "यह आत्मा निष्पाप-अजर-अमर-; शोक-भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है ।" इस परवर्त्ती वाक्य मे, दहराकाश के जो गुण कहे गए है, वे दहराकाश में स्थित, स्वाभाविक निष्पाप, सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्म की विशेषताओ के द्योतक है ।

"अथ ह इहात्मानमनुविद्य व्रजंत्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति "इत्यादिना" यं कामं कामयते

ankurnagpal108@gmail.com

सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठंति तेन संपन्नो महीयते" इत्यंतेन दहराकाशवेदिनः सत्यसंकल्पत्व प्राप्तिश्चोच्यमानं दहराकाशं परं ब्रह्मेत्यवगमयति ।

तथा—"जो इस लोक में, परमात्मा और उनके संकल्पों को जान लेता है, वह देहांत के बाद सभी लोकों में स्वच्छंदतापूर्वक भ्रमण कर सकता है" इत्यादि से तथा "ऐसा व्यक्ति जो भी कामनायें करता है, वह तत्काल उसके समक्ष प्रस्तुत हो जाती हैं जिससे कि वह प्रफुल्ल हो जाता है" इस अंतिम वाक्य से, दहराकाश के ज्ञाताओं की सत्यसंकल्पता की जो प्राप्ति बतलाई गई है, वह दहराकाश की पर ब्रह्मता का द्योतन करती है ।

"यावान्वाऽयमाकाशस्तावान् एषोऽन्तर हृदय आकाशः" इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य, भूताकाशत्वे नोपपद्यते । हृदयावच्छेदनिबंधन उपमानोपमेय भाव इति चेत्—तथा सति, हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादि सर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते ।

"जितना यह भूताकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश भी है" इसमें आकाश का उपमान—उपमेय भाव दिखलाया गया है । उपमान और उपमेय दो वस्तुएं एक नहीं हो सकतीं, इसलिए दहराकाश कभी भूताकाश नहीं हो सकता । यदि कहो कि—हृदय में पृथक् स्थित होने के कारण, दहराकाश और भूताकाश में उपमान उपमेय भाव दिखलाया गया है, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है; ऐसा मानने पर तो, शास्त्रों में जो दहराकाश की द्यु पृथ्वी आदि की आश्रयता बतलाई गई है, वह अवच्छिन्न (खण्ड) आकाश की तो हो नहीं सकती आश्रयता तो अखंड वस्तु में ही संभव है ।

ननु च—दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि ब्रह्मकाशोऽपमेयत्वं न संभवति "ज्यायान् पृथिव्याज्ज्यायानंतरिक्षात्" इत्यादौ सर्वस्मात् ज्यायिस्त्व श्रवणात्—नैवम्, दहराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्यवर्त्तित्वप्राप्तालपत्वनिवृत्ति परत्वादस्यवाक्यस्य, यथा अधिजवेऽपि सवितरि "इषुवद्गच्छति सविता" इति वचनं गतिमांद्यनिवृत्तिपरम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि—दहराकाश की परमात्मता मान लेने पर, ब्रह्माकाश की उपमेयता संभव नहीं है, "वह पृथ्वी से श्रेष्ठ आकाश से श्रेष्ठ है" इत्यादि वाक्यों में अनुपम बतलाया है अत: वह कैसे उपमेय हो सकता है ? बात ऐसी नहीं है—दहराकाश के हृदयपुंडरीक की अल्पता का निवारण ही उक्त वाक्य का प्रयोजन है—जैसे कि—अधिक वेगवान सूर्य के होते हुए भी "सूर्य तीर की तरह जाता है ।" इत्यादि में उसकी मंदगति का निवारण किया गया है ।

अथस्यात्—"एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना दहराकाशो न निर्दिश्यते "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इति दहराकाशान्तर्वर्त्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृतत्वादिह 'एष आत्माऽपहतपाप्मा" इति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं युक्तत्वात् ।

आपत्ति की जाती है कि—"यह आत्मा निष्पाप है" इत्यादि में दहराकाश का निर्देश नहीं है "दहर आकाश में जो आकाश है उसके अन्तर्वर्त्ती का अन्वेषण करना चाहिए' इत्यादि में, दहराकाशान्तर्वर्त्ती किसी अन्य के अन्वेषण का उल्लेख मिलता है, इसलिए 'यह आत्मा निष्पाप है" इत्यादि में उसी के अन्वेषण का निर्देश मानना संगत है ।

स्यादेतदेवम्—यदि श्रुतिरेव दहराकाशं तदन्तर्वर्त्तिनं च न व्यभांक्ष्यत्, व्यभांक्षीत्तु सा तथाहि—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदंतस्तदन्वेष्टम्" इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहित परब्रह्म: पुरत्वेनोपासक शरीरम् निर्दिश्य तन्मध्यवर्त्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्प परिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेश्मतयाभिधाय सर्वज्ञ सर्वशक्तिमाश्रित वात्सल्यैकजलधिमुपासकानुग्रहाय तस्मिन् वेश्मनि सन्निहितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य तदन्तर्वर्त्तिचापहृतपाप्मत्वादिस्वभावतोनिरस्तनिखिल हेयत्वसत्यकामत्वादि

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाभाविनवधिकातिशय कल्याणगुणजातं च ध्येयं "तदन्वष्टव्यम्" इत्युपदिश्यते । अत्र "तदन्वेष्टव्यम्" इति तच्छब्देन दहराकाशम्, तदन्तर्वर्तिगुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते, "तदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इत्यनूद्य तस्मिन् दहर-पुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशः, यच्च तदंतर्वतिगुणजातम् तदुभय-मन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः ।

आपत्ति उचित ही है क्योंकि उक्त श्रुति में दहराकाश और उसके मध्यवर्त्ती आकाश का भेद नहीं बतलाया गया है ऐसा प्रतीत होता है, पर उस श्रुति में भेद दिखलाया गया है, विश्लेषण करने पर ही ज्ञात हो सकता है—जैसे कि—"इस ब्रह्मपुर में दहर पुंडरीक कोष है, उसमें जो दहर आकाश है, उसके मध्यवर्त्ती का अन्वेषण करना चाहिए।" इस वाक्य में, ब्रह्मपुर शब्द से उपास्य परब्रह्म के स्थानीय उपासक के शरीर बतलाकर तथा, उस शरीर के मध्यवर्त्ती उसी के अवयव, कमल के आकार वाले सूक्ष्म हृदय को परब्रह्म का घर बतलाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, आश्रित, करुणा सागर, उपासक के अनुगृह के लिए उसी में स्थित, सूक्ष्मरूप से ध्येय को, दहराकाश शब्द से निर्देश करके, उसी के अन्तर्वर्त्ती, स्वभाव से निष्पाप, महान्, सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि गुणों वाले ध्येय को अन्वेष्टव्य कहा गया है। 'तदन्वेष्टव्यम्" पद में "तद्" शब्द दहराकाश और उसके अन्तवर्त्ती गुणों, दोनों का ही द्योतक है, इन दोनों को ही अन्वेषणीय कहा गया है। "इस ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म पुंडरीक गृह है" इस वाक्य में पुनरुल्लेख पूर्वक, उसी दहर पुंडरीक में स्थित दहराकाश और उनके अन्तवर्त्ती गुणों का अन्वेषण बतलाया गया है।

दहराकाश शब्द निर्दिष्टस्य परब्रह्मत्वं "तस्मिन्यदन्तः" इति निर्दिष्टस्य च तद्गुणत्वम्, तच्छब्देनोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्टव्यतया विधानं च कथमवगम्यत ? इति चेत्—तदवहितमनाश्शृणु—"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः" इति दहराकाशस्यातिमहत्तामभिधाय । "उभेऽस्मिन् द्यावापृथ्वी अंतरेव समाहिते

ankurnagpal108@gmail.com

उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यश्चंद्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वंजगदाधारत्वमभिधाय "यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति, सर्वं तदास्मिन्समाहितं" इति पुनरप्यास्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य तस्मिन्नस्योपासकस्येहलोके यद्भोग्यजातमस्ति, यच्च मनोरथमात्र गोचरमिह नास्ति, सर्वं तद्भोग्यजातं अस्मिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशय भोग्यत्वम् दहराकाशस्याभिधाय तस्य दहराकाशस्य देहावयवभूतहृदयांतर्वर्त्तित्वेऽपि देहस्य जराप्रध्वंसादौ सत्यपि परमकारणतयाऽति सूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वमुक्त्वा, तत एव–"एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्" इति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुरं निखिलजगदावास भूतमित्युपपाद्य, "अस्मिन्कामाः समाहिताः" इति दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य, काम्यभूतांश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य, तेषां दहराकाशांतर्वर्त्तित्वमुक्त्वा, त देव दहराकीशस्य काम्यभूत कल्याणगुण विशिष्टत्वं तस्यात्मत्वं च "एष आत्माऽपहतपाप्म" इत्यादिना "सत्यसंकल्पः" इत्यंतेन स्फुटीकृत्य "यथा ह्येवेव प्रजा अन्वाविशंति" इत्यरिभ्य "तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इत्यंतेन तदिदं गुणाष्टकं तद् विशिष्टं दहराकाशशब्दर्निर्दष्टं आत्मानंचाविदुषामेतद्व्यतिरिक्त भोग्यसिद्धये च कर्मकुर्वंतामंतवत्फलावाप्तिमस्य संकल्पत्वं चाभिधाय, "अथ य इमात्मादमनुविद्य ब्रजंत्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिना दहराकाश शब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदंतर्वर्त्तिनश्च काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिकान् गुणान्विजानताम् उदार गुणसागरस्य तस्य परमपुरुषस्य प्रसादादेव सर्वकामावाप्तिः सत्य-संकल्पता चोच्यते। तदेतत् वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति "तदास्मिन्यदंतरिति कामव्यपदेश." इत्यादिना। अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाश परमेव ब्रह्म।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहो कि–दहराकाश शब्द का तात्पर्य परब्रह्म तथा–"तस्मिन् यदंतः" इत्यादि में उसके गुणों को उपास्य कहा गया है, यह कैसे जाना ? तो ध्यान देकर सुनो--"जितना यह भूताकाश है, उतना ही हृदयस्थ आकाश है" इसमें दहराकाश की महत्ता बतलाकर–"द्युलोक और भूलोक, अग्नि और वायु, सूर्य और चंद्र, विद्युत और नक्षत्र, ये सभी अभ्यंतर में हैं" इसमें अस्मिन् शब्द से दहराकाश को स्वभावतः संपूर्ण जगत का आधार बतलाकर–"जो कुछ भी यहाँ है, और जो नहीं है, वह सभी कुछ इस दहर में समाहित है" इसमें पुनः अस्मिन् शब्द से दहराकाश का उल्लेख करके उपासक के शरीर में जो भोग्य हैं, जो कि एकमात्र अभिलाषा के विषयीभूत हैं, वे सारे ही इस निरतिशय दहराकाश के निरतिशय भोग्य हैं, इत्यादि का प्रतिपादन करके देह के अवयव हृदय में होते हुए भी, देह के जराध्वंस आदि विकारों से रहित, परमकारण अतिसूक्ष्म दहराकाश की निर्विकारत्मता का प्रतिपादन करते हुए, उसी दहराकाश को "यही सत्यस्वरूप ब्रह्मपुर है" समस्त जगत के आधार स्वरूप ब्रह्मपुर बतलाया गया है। "इसी मे कामनायें समाहित है" इत्यादि में अस्मिन शब्दवाची दहराकाश के काम्यगुणों को काम शब्द से बतलाते हुए अंतवर्त्ती कहा गया है। उस दहराकाश के काम्यभूत कल्याण गुण विशिष्टों को "एष आत्माअपहतपाप्मा" से लेकर "सत्यसंकल्पः" तक बतलाकर "प्राणी इसी में अनुप्रविष्ट होते हैं" इत्यादि से "उनकी सभी लोकों में यथेच्छगति हो जाती है" इस अंतिम वाक्यतक यह बतलाया गया कि–आठ विशिष्ट गुणों से युक्त दहराकाश नामवाले आत्मा को न जानने से ही, जीव भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए कर्मासक्त रहता है, जिससे उसे ध्वंशशील संसार ही प्राप्त होता है, उसके विचार भी असत्य होते हैं। तथा–"जो इस आत्मा को जानकर सत्य संकल्प वाला होता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति होती है" इसमें निर्दिष्ट दहराकाश आत्मा और उसके अन्तरस्थ-काम्यभूत निष्पाप आदि गुणों के ज्ञाता की, उदारगुण सागर परमपुरुष की कृपा से, सभी कामनाओं की प्राप्ति और सत्यसंकल्पता होती है। उक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि–दहराकाश परब्रह्म है, उसके अंदर स्थित निष्पापता आदि विशिष्ट गुणों सहित, उसका अनुसंधान करना चाहिए; उसे ही ज्ञातव्य बतलाया गया है। वाक्यकार ने भी ऐसा ही कहा है–"उसमें जो

ankurnagpal108@gmail.com

विशिष्ट गुणों का निर्देश है, वह ज्ञातव्य है'' इत्यादि से सिद्ध होता है कि–दहराकाश परब्रह्म है।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च ।१।३।१४॥

इतश्च दहराकाशः परंब्रह्म "तद्यथा हिरण्य निधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति एतमिति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य तत्राहरहरसर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनं, गंतव्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्द निर्देशश्च दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः।

इसलिए भी दहराकाश परब्रह्म है कि–"जैसे भूविद्या को न जानने वाले, भूमि के ऊपर-ऊपर ही घूमते रहते हैं, भूमिस्थ सुवर्णराशि को प्राप्त नहीं करते, वैसे ही सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणी, ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं कर पाते, क्योंकि वे अज्ञान से आवृत हैं" इस वाक्य में "एतं" पद से उल्लेख्य ब्रह्मलोक को बतलाकर–समस्त प्रजाओं के नित्य गमन की बात कही गई, तथा दहराकाश शब्द से ब्रह्मलोक का उल्लेख किया गया, इन दोनों से दहराकाश की परब्रह्मता ज्ञात होती है।

कथमनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमित्यत आह–तथाहि दृष्टम् इति। परास्मिन् ब्रह्मणि सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुषुप्तिकाले गमनमन्यत्राभिधीयमानं दृष्ठम् "एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामहे" इति। "सत आगम्य न विदुः सत् आगच्छामह" इति च। तथा ब्रह्मलोक शब्दश्च परास्मिन् ब्रह्मणि दृष्टः 'एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच" इति। माभूदन्यत्र ब्रह्मणि गमन दर्शनम्, एतदेव तु दहराकाशे सर्वेषा क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल एव निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिकालेऽवस्थानं श्रूयमाणमस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिंगम्। तथा ब्रह्मलोक शब्दश्च समानाधिकरण वृत्याऽस्मिन्दहराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तर

ankurnagpal108@gmail.com

निरपेक्षं पर्याप्तं लिंगामित्याह–लिंग च इति। निषादस्थपति न्याया-च्च षष्ठी समासात् समानाधिकरण समासो न्याय्यः।

यदि कहो कि–ये दोनों ही दहराकाश की ब्रह्मात्मकता को सिद्ध करने वाले हैं, यह कैसे जाना ? सो इनका ऐसा ही वर्णन मिलता है। सभी जीव, सुषुप्ति अवस्था में परब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, ऐसा भी वर्णन मिलता है– 'हे सौम्य ! ठीक इसी प्रकार यह सारी प्रजा, नित्य, सद्ब्रह्म से संपन्न होकर, यह नहीं जान पाती कि–वह सद्ब्रह्म से संलग्न है तथा सद्ब्रह्म से लौटने पर भी यह नहीं जान पाती कि–सद्ब्रह्म के निकट से लौटे हैं" इस प्रकार ब्रह्मलोक शब्द परब्रह्म के लिए प्रयुक्त देखा जाता है।" उसने कहा हे सम्राट ! यही ब्रह्मलोक है" इत्यादि ही ब्रह्म दर्शन संबंधी पर्याप्त प्रमाण हैं। प्रलय काल की तरह सुषुप्ति अवस्था में भी, दहराकाश में अवस्थान करने पर, जीवों के आत्यंतिक दुःख का अभाव हो जाता है, ऐसा श्रुतियों का वचन है। इसी से दहराकाश की ब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाती है। समानाधिकरण्य भाव से, दहराकाश के लिए प्रयुक्त, ब्रह्मलोक शब्द भी, इसका पर्याप्त प्रमाण है कि–दहराकाश परब्रह्म है, सूत्र में "लिंग च" पद से यही बात कही गई है। उक्त प्रयोग में निषाद-स्थपति न्याय की तरह तत्पुरुष समास की अपेक्षा, कर्मधारय समास करना उचित होगा।

अथवा "अरहर्गच्छन्त्यः" इति न सुषुप्ति विषयंगमनमुच्यते, अपित्वन्तरात्मत्वेन सर्वदावर्त्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थ-भूतस्य उपर्युपरि अहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन् काले वर्त्तमानाः तम-जानत्उस्तं न विदंति–न लभंते। यथा–हिरण्य निधि निहितं तत्स्थानमजाजानास्तदुपरि सर्वदावर्त्तमाना अपि न लभंते, तद्व-दित्यर्थः।

अथवा "प्राणी नित्य नित्य जाता है" इत्यादि में सुषुप्ति विषयक गमन की बात न मानकर, यह भी कहा जा सकता है कि–अंतरात्मा के रूप से सदा वर्त्तमान, परमपुरुषार्थ रूप दहराकाश की, वाह्य चाकचिक्य में भ्रमित होने से, प्राप्ति नहीं कर पाते, न जान ही पाते हैं जैसे कि–

ankurnagpal108@gmail.com

भूमि में गड़े हुए धन को, भूमि पर घूमते फिरते हुए भी न देख पाते हैं न जान पाते हैं, यह रहस्य भी वैसा ही है।

सेयमेवमंतरात्मत्वेन स्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नियमतानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। तथाहि अन्यत्र परस्यब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनियभ्याभिस्स्वस्मिन् वर्त्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं दृष्टम्। यथा अंतर्यामिब्राह्मणे "य आत्मनितिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमंतरौ यमयति" इति "अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता" इति च। मामूदन्यत्र दर्शनम्, स्वयमेवत्विदं निधिदृष्टान्तावगत परमपुरुषार्थं भावस्यास्य हृदयस्थस्योपरितदाधारतऽहरहस्सर्वदा सर्वासांप्रजानामजानातोना गतिस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिंगम्।

अन्तरात्मा रूप से अवस्थित दहराकाश के ऊपर की जो स्थिति है वह भी, उसी के नियमन पर आधारित है, यही दहराकाश की परब्रह्मता का प्रमाण है। अन्यान्य श्रुतिवाक्यों में भी, परब्रह्म की अन्तरात्मा रूप से स्थिति और नियामकता, तथा जीवात्मा की अल्पज्ञता का वर्णन किया गया है—जैसे कि—अन्तर्यामी ब्राह्मण में—"जो आत्मा में ही सदा स्थित है, पर आत्मा जिसे नहीं जानता, आत्मा ही उसका शरीर है, वह अन्दर बैठा ही आत्मा का संयमन करता है," वह अदृष्ट होकर भी द्रष्टा तथा अश्रुत होकर भी श्रोता है" इत्यादि। इससे अधिक अब और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। निधि के दृष्टांत से जिसकी परपुरुषार्थता बतलाई गई, हृदयस्थ उस दहराकाश के ऊपर ही ऊपर सदा वर्त्तमान जीवात्माओं की, उसकी ओर होने वाली गति ही, दहराकाश की परब्रह्मता का पर्याप्त प्रमाण है।

इतश्च दहराकाशः परब्रह्म—दहराकाश इसलिए भी परब्रह्म है कि—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः।१।३।१५॥

"अथ य आत्मा" इति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य "स सेतु-

ankurnagpal108@gmail.com

विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय" इत्यस्मिज्जगद्विधरणं श्रूयमाणं दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। जगद् विधरणं हि परस्यब्रह्मणो महिमा "एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानमसंभेदाय" इति "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिभ्यः। स चायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्याख्यो महिमाऽस्मिन् दहराकाश उपलभ्यते; अतो दहराकाश परब्रह्म।

"जो आत्मा में" इत्यादि में दहराकाश के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करके—"इस समस्त जगत के संभेद अर्थात् सांकर्म का निवारण करने वाला वह सेतु है" इत्यादि में जो जगद् धारकता बतलाई गई है, उससे दहराकाश की, परब्रह्मता ज्ञात होती है। परब्रह्म की महिमा की बतलाने वाली जगद्धारकता "यही सर्वेश्वर–भूताधियति-भूतपालक और जगत् की मर्यादा की रक्षा करने वाले सेतु हैं, "हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में ही सूर्य और चंद्र स्थित रहते हैं" इत्यादि वाक्यों से भी ज्ञात होती है। जगद्धारकता रूप परब्रह्म की महिमा, दहराकाश में भी उपलब्ध है, इसलिए भी दहराकाश, परब्रह्म है।

प्रसिद्धेश्च ।१।३।१६॥

आकाशशब्दश्च परस्मिन् ब्रह्मणि प्रसिद्धः "को वा ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनंदो न स्यात्"—"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिषु; अपहतपाप्मत्वादि-गुण सनाथा प्रसिद्धिर्भूताकाश प्रसिद्धेर्बलीयसी इत्यभिप्रायः।

"यह आकाश यदि आनंद स्वरूप न होता तो, आनंद की चेष्टायें कौन कर सकता?" सारे ही प्राणी आकाश से उत्पन्न होते है" इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त आकाश शब्द, परब्रह्म के लिए प्रसिद्ध है। निष्पापता आदि गुणों से युक्त जो प्रसिद्धि है, वही भूताकाश से, दहराकाश की श्रेष्ठता की द्योतिका है।

ankurnagpal108@gmail.com

एवं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रतिक्षिप्तम् । अथेदानीं दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमांशक्य, निराकर्त्तुमुपक्रमते ।

अब तक दहराकाश की, भूताकाशता का निराकरण किया गया । अब आगे दहराकाश की जीवात्मकता की आशंका करके, उसका निराकरण करते हैं—

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।१।३।१७॥

यदुक्तं वाक्य शेषवशाद् दहराकाशः परंब्रह्मेति, तदयुक्तम्; वाक्यशेषे परस्मादितरस्य जीवस्यैव साक्षात् परामर्शात् "अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इति । यद्यपि "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशः" इति हृदयपुंडरीक मध्यवर्त्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमेयभावाद्यसंभवाद् भूताकाशत्वं न संभवति, तथापि वाक्यशेषवशात् प्रत्यगात्मत्वं युक्तमाश्रयितुम् । आकाशशब्दोऽपि प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्त्तिष्यत इति चेत्—अत्रोत्तरं नासम्भवात्—इति । नायं जीवः, न हि अपहतपाप्मत्वादयो गुणाः जीवे संभवंति ।

जो यह कहा कि—अंतिमवाक्य से ज्ञात होता है कि—दहराकाश परब्रह्म है, सो कथन ठीक नहीं, उसमें तो परमात्मा से भिन्न जीवात्मा का ही स्पष्ट उल्लेख प्रतीत होता है—जैसे कि—"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, परंज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है यही अमृत-अभय-और ब्रह्मस्वरूप है ।" इत्यादि

यद्यपि—"दहर के अंदर का आकाश" इत्यादि में उल्लेख्य आकाश का वाह्याकाश के साथ उपमानोपमेय भाव संभव नहीं है, फिर भी हृदय पुंडरीक के मध्यवर्ती दहरकाश की भूताकाशता हो सकती है यह ठीक है, किंतु वाक्य शेष के अनुमार उसे जीवात्मा मानना उचित है । प्रकाशमयता आदि गुणों से संबद्ध होने से आकाश शब्द जीव वाची ही हो सकता है ।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय के उत्तर में सूत्र में कहा गया "नासंभवात्" अर्थात् निष्पापता आदि गुण जीव में संभव नहीं है, इसलिए यह जीव नहीं है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१८॥

उत्तरात्—प्रजापति वाक्यात्, जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुण योगो निश्चीयत इति चेत्—एतदुक्तं भवति—प्रजापति वाक्यं जीवपरमेव, तथाहि—"य अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति "इति प्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेणोपश्रुत्यान्वेष्टव्यात्म स्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेदुषे मघवते प्रजापतिर्जागरितस्वप्नसुषुप्यवस्थं जीवात्मानं स शरीरंक्रमेण सुश्रूषुयोग्यतापरीचिक्षिषयोपदिश्य तत्रतत्र भोग्यमपश्यते परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते—"मघवन् मर्त्यं वा इंद शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानं" इति शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृतामशरीरस्य च तस्यामृतत्वस्वरूपतां चोक्त्वा "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरास्ति । अशरीरं वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति कर्मारब्धशरीर योगिनस्तदनुगुणसुखदुःख भागित्वरूपानर्थं तद्विमोक्षे च तदभावमभिधाय "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति जीवात्मनः स्वरूपमेव शरीर वियुक्तमुपदिदेश ।

बाद के प्रजापति वाक्य से, निष्पापता आदि गुण, जीव के ही निश्चित होते है, कथन यह है कि—प्रजापति वाक्य जीव पर कही है—जैसा कि—"जो निष्पाप, अजर, अमर, शोक तथा भूखा-प्यासा रहित सत्य संकल्प है, वह अन्वेष्टव्य और जिज्ञास्य है, जो उसे जान लेते है, समस्त कामनाओं और समस्त लोकों को प्राप्त कर लेते हैं" इस प्रजापति

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्य को ऐतिह्य (जनश्रुति) के रूप श्रवण करके इन्द्र, अन्वेषणीय आत्म स्वरूप की जिज्ञासा से प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने जिज्ञासु की योग्यता की परीक्षा के लिए क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थात्रय संपन्न सशरीर जीवात्मा का उपदेश देकर देखा कि, इन्द्र पर उपदिष्ट विषयों में भोग्य का कोई असर नहीं हुआ तब, विशुद्ध आत्मस्वरूप उपदेश योग्य इन्द्र से उन्होंने–"हे मघवन् ! यह शरीर मर्त्य और मृत्यु ग्रस्त है, यही अशरीरी अमृत आत्मा का आश्रय स्थल है" इत्यादि से शरीर की अधिष्ठाज्ञता, आत्मा की अधिष्ठातृता तथा अशरीर आत्मा की अमृत स्वरूपता बतलाकर–"शरीरी रहते हुए दुःख सुख का अंत नहीं होता, सदा के लिए शरीर के समाप्त हो जाने पर सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता।" इस श्रुति से पुण्यपापमय कर्मोत्पादित, शरीर धारी की व्यक्ति के कर्मानुसार सुख दुःख आदि भोगों के ज्ञापन के लिए, शरीर की समाप्ति पर, सुख दुःख का प्रभाव बतलाकर–"यह संप्रसाद इस शरीर से उठकर, परं ज्योतिरूपता को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।" इत्यादि में शरीर विमुक्त जीवात्मा के स्वरूप का उपदेश दिया।

"स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा, यानैर्वा, ज्ञातिभिर्वा, नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" इति प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वम्, निवृत्तितिरोधानस्य परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलोके यथेष्टभोगावाप्तिम् प्रियाप्रियाविमुक्तकर्मनिमित्तशरीराद्यपुरुषार्थाननुसंधानं चाभिधाय– "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः" इति यथोक्त स्वरूपस्यैव संसारदशायां कर्मतंत्रम् शरोर योगं युग्यशकटयोगदृष्टांतेनाभिधाय-अथ यत्रैदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः सः चक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गंधायघ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहारय वागथ वो वेदेदं शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्, अथ यो

ankurnagpal108@gmail.com

वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षु:" इति चक्षुरादिनां करणत्वं, रूपादीनां ज्ञेयत्वमस्य च ज्ञातृत्वं प्रदर्श्य तत एव शरीरेन्द्रियेभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य "स वा एष एतेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके" इति तस्यैव विधूतकर्मनिमित्त शरीरेन्द्रियस्य मनः शब्दाभिहितेन दिव्येन स्वाभाविकेन ज्ञानेन सर्वकामानुभवमुक्त्वा "तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्माः सर्वे च कामा:" इत्येवंविधमात्मानं ज्ञानिनो जानंतीत्यभिधाय "सर्वांश्चलोकान्नाप्नोनि सर्वांश्चकामान्यस्तमात्मानंमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच" इत्येवंविधमात्मानं विदुषः सर्वलोकसर्वकामावाप्त्युपलक्षितं ब्रह्मानुभवं फलमभिधायोपसंहृतम्। अतस्तत्रापहतपाप्मत्वादि गुणको ज्ञातव्यतया प्रक्रान्तो जीव एवेत्यवगतम्। अतो जीवस्यापहतपाप्मत्वादयः संभवंति। अतो दहरवाक्यशेषे श्रूयमाणस्य जीवस्यापहपाप्मत्वादिगुणसंभवात् स एव दहराकाश इति निश्चीयते इति चेत् इति।

वह उत्तम पुरुष, उस अवस्था में, हंसता, खेलता, स्त्रीयान, और ज्ञाति जनों के साथ रमण करता हुआ, मानव देह को भुलाकर विचरण करता है" इस वाक्य में प्राप्य, परंज्योतिषरूप पुरुषोत्तमत्व, तथा अविद्याकृत स्वरूप तिरोधान निवृत्ति के उपरांत, परंज्योतिसंपन्न जीवात्मा की, ब्रह्मलोक में यथेष्ट भोगरवाप्ति, एवं प्रिय अप्रिय संयोग सहकृत कर्म से समुत्पन्न शरीरादि का अपुरुषार्थत्व बतलाकर-' जैसे कि घोड़ा या बैल गाड़ी से जुता रहता है, वैसे ही यह प्राण इस शरीर में जुटा हुआ है" इस क्षुद्र शकट के दृष्टांत द्वारा, जीव की संसार दशा में कर्माधीन शरीर संबंध की पुष्टि करके-"जिसमें यह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उसके रूप गुण के लिए नेत्रेन्द्रिय है, गंध ग्रहण के लिए नासिका है। जो ऐसा समझता है कि मैं शब्द बोलूं वही आत्मा है उसके शब्दोच्चारण के लिए वागिन्द्रिय है, जो ऐसा जानता है कि मैं शब्द श्रवण करूँ वह भी आत्मा है, उसके श्रवण के लिए

ankurnagpal108@gmail.com

श्रवणेन्द्रिय है। जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ वह आत्मा है, मन उसका दिव्य नेत्र है।" इत्यादि में चक्षु आदि इन्द्रियों की करणता, रूप आदि विषयों की ज्ञेयता, तथा जीव की ज्ञातृता बतलाकर—शरीरादि से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। "जो ये भोग इस ब्रह्मलोक में हैं उन्हे यह जीव मनोमय दिव्य चक्षु द्वारा देखता हुआ रमण करता है" इस श्रुति में कर्मजन्य शरीरेन्द्रिय संबंध परित्याग कर ही जीवात्मा स्वभावसिद्ध मानस ज्ञान के द्वारा, समस्त विषयों का अनुभव करता है, यह बतलाया गया है। "इस आत्मा की देवता उपासना करते हैं, इसी से उन्हें संपूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त है" इत्यादि में, ज्ञानी लोग ऐसे आत्मा को जानते हैं, ऐसा प्रतिपादन करके—"वह संपूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त करता है, जिसने कि ऐसे आत्मस्वरूप का अनुभव कर लिया है-प्रजापति ने ऐसा कहा" इस उपसंहारात्मक वाक्य में आत्माभिज्ञ व्यक्ति की, सर्वलोक और सर्वकाम विशेषित ब्रह्मानुभवात्मक फलावाप्ति होती है, यह निर्णय कर प्रकरण की पूर्त्ति की गई है। इससे निश्चित होता है कि--निष्पापता आदि जीव ही उक्त प्रकरण में ज्ञातृत्व बतलाया गया है, इस जीव में निष्पापता आदि गुणों की संभावना है दहर वाक्य के अंत में जीव के ही निष्पापता आदि गुण बतलाए गए हैं इसलिए वह जीव ही दहराकाश है। इत्यादि संशय उपस्थित किया।

सिद्धान्तः— तत्राह—"आविर्भूतस्वरूपस्तु" इति। पूर्वमनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धः शरीरात् समुत्थितः परं ज्योतिरुपसंपन्न आविर्भूतस्वरूपः सन्नपहतपाप्मत्वादिगुण विशिष्ट स्तत्र प्रजापति वाये‌ऽभिधीयते, दहरवाक्येत्वतिरोहित स्वभावापहतपाप्मत्वादिविशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते। आविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्यासंभावनीयाः सेतुत्वसर्वलोक विधरणत्वादयः सत्यशब्द निर्वचनावगतं चेतनाचेतनयोर्नियंतृत्वं दहराकाशस्य परब्रह्मतां साधयंति। सेतुः सर्वलोकविधरणत्वादय आविर्भूत स्वरूपस्यापि न संभवंतीति—"जगद्व्यापारवर्ज्यम्" इत्यत्रोपपादयिष्यामः।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय पर समाधान रूप से सूत्रकार "आविर्भूतस्वरूपस्तु" पद प्रस्तुत करते हैं अर्थात् प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि– जीवात्मा के जो अपहतपाप्मत्व आदि गुण हैं वे मिथ्या ज्ञान से आवृत रहते हैं, कर्म बन्धनों के विच्छेद के बाद, शरीर से छूटने पर–परं ज्योति· परमात्मा की प्रप्ति होने पर ही उसे अपना स्वाभाविक प्रकृत स्वरूप प्राप्त होता है, तभी वह अपहतपाप्मत्व आदि गुणों वाला होता है। दहर वाक्य में तो अतिरोहित, सदा एकरस अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला दहर बतलाया गया है। आविर्भूत स्वरूप होते हुए भी जीवात्मा में, सेतुत्व, सर्वलोक विधारकत्व आदि विशेषताओं की संभावना नहीं है। सत्य शब्द के निर्वचन से ज्ञात जड़ चेतन के नियंत्रण की क्षमता, ही, दहराकाश की परब्रह्मता, निश्चित करती है। सेतुत्व, सर्वलोक विधारकत्व आदि विशेषताये, आविर्भूत स्वरूप होने पर जीवात्मा में सभव नहीं हैं, यह हम "जगद्व्यापारवर्ज्यम्" सूत्र के प्रसंग में सिद्ध करेंगे।

यधेवम्–दहर वाक्य "अत एष संप्रसादः" इत्यादिना जीव प्रस्ताव किमर्थः? इतिचेत् तत्राह––

यदि ऐसी ही बात है तो, दहर वाक्य में "अतएष संप्रसादः" इत्यादि से, जीव को प्रस्तुत करने का क्या तात्पर्य है? इस संशय पर कहते हैं।

अन्यार्थश्च परामर्शः ।१।३।१९॥

दहराकाशस्यैवापहपाप्मत्वादि जगद्विधरणत्वादिवन्मुक्तस्य तदुपसंपत्त्याऽपहपाप्मत्वादि कल्याणगुणविशिष्ट स्वाभाविकरूप प्राप्ति कथनेन तद्हेतुत्वरूपं परमपुरुषासाधारणं गुणमुपदेष्टुं प्रजापति वाक्योक्तस्य जीवस्यात्र परामर्शः। प्रजापति वाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्य विज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तम्, ब्रह्मप्रेप्सोर्हि जीवात्मनः स्वरूपं च ज्ञातव्यमेव स्वयमपि कल्याण गुण एव सन्ननवधिकातिशयासंख्येय कल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुभविष्यतीति ब्रह्मोपासनफलांतर्गतत्वात् स्वरूप याथात्म्य विज्ञानस्य। "सर्वांश्च

ankurnagpal108@gmail.com

लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्" "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्" इत्यादिकं प्रजापति वाक्ये कीर्त्यमानं फलमपि, दहरविद्याफलमेव ।

दहराकाश में जैसे निष्पापता, जगद्विधारकता आदि विशेषतायें हैं, वैसे दहरोपासना द्वारा उक्त कल्याणमय गुण विशिष्ट स्वभाव सिद्ध स्वरूप मुक्त पुरुष मे भी, हो सकते है, इस बात को निर्णय करने के लिए तथा परम पुरुष के असाधारण गुण ही स्वरूप प्राप्ति के एक मात्र कारण है इस उपदेश के लिए, प्रजापति वाक्य में बतलाए गए जीवात्मा के स्वरूप को, इस दहर प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है। प्रजापति वाक्य में, मुक्तात्म स्वरूप के याथात्म्य ज्ञान के लिए, दहर विद्या की उपयोगिता बतलाई गई है, ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियो को जीवात्मा का प्रकृत स्वरूप भी अवश्य जानना चाहिए, क्यो कि—जीव स्वय कल्याणमय गुणो से संपन्न होते हुए भी, निरवधि, निरतिशय कल्याणमय गुणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है। स्व स्वरूप का याथात्म्य ज्ञान भी ब्रह्मो-पासना के फलस्वरूप ही होता है। प्रजापति वाक्य मे जो यह कहा गया कि—"वह समस्त लोक और समस्त काम्यफलो को प्राप्त करता है" "हास्य और क्रीड़ा करते हुए विचरण करता है" यह सब भी दहर विद्या के फलस्वरूप ही होता है।

श्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ।१।३।२०।।

"दहरोऽस्मिन्" इत्यल्पपरिमाण श्रुतिराराग्रोपमितस्य जीवस्यैवोपपद्यते, न तु सर्वस्माज्ज्यायसो ब्रह्मणः, इति चेत्-तत्रयुदुत्तरं वक्तव्यम्, तत्पूर्वमेवोक्तम्—"निचाय्यत्वादेवं" इत्यनेन । अतोदहराकाशोऽनाद्यीताविद्याद्यशेषदोषगंधः स्वाभाविकनिरतिशय ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्ति तेजः प्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तमः एव । प्रजापति वाक्यनिर्दिष्टस्तु "घ्नंति त्वेवैनं विच्छादयंति" इत्येवमादिभिरवगतकर्मनिमित्तदेह परिग्रहः पश्चात् परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूत अपहतपाप्मत्वादिगुण स्वरूप इति न दहराकाशः ।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहो कि–दहराकाश की अल्पता के प्रतिपादक "दहरोऽस्मिन् इत्यादि वाक्य में, आरा के अग्रभाग के समान सूक्ष्म जीवात्मा का ही उपपादन किया गया है, सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का नहीं ? इस विषय में हमें जो कुछ कहना था वह "निचाय्यत्वादेवम्" सूत्र में ही कह चुके हैं। अविद्या आदि समस्त दोषों से अनाघ्रात, स्वभावसिद्ध निरतिशय ज्ञान-बल-ऐश्वर्य वीर्य-शक्ति-तेज आदि अपरिमित उदार गुणों के सागर पुरुषोत्तम ही, दहराकाश हैं। "ध्रंति त्वेवैनं" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—जीवात्मा प्रायः प्राक्तनकर्मानुसार देहधारी रहता है, परंज्योति स्वरूप परब्रह्म को जानकर ही, अपहतपाप्मत्व आदि गुणों से संपन्न जैव स्वरूप से अभिव्यक्त होता है। इससे निश्चित होता है कि—प्रजापति वाक्य में जीव का ही निर्देश किया गया है, दहराकाश का नहीं।

इतश्चैतदेवम्– इससे भी यह बात स्पष्ट है कि—

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२१।।

तस्य दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः अनुकारात् अभयपहतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्त बंधः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः। तदनुकारः तत्साभ्यम् तथाहि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारः श्रूयते— "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यभुपैति" इति। अतोऽनुकर्त्ता प्रजापति वाक्य निर्दिष्टः अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः।

जीव जब, परब्रह्म दहराकाश के समान अपहपाप्मत्वादि गुणों से संपन्न होकर बंधनविमुक्त होता है, तो दहराकाश नहीं कह सकते। तदनुकार का तात्पर्य होता है तत्समान। विमुक्त जीवात्मा की परब्रह्मानुकृति निम्नोक्त श्रुति में प्रसिद्ध है—'जब यह दृष्टा (जीव) सबके शासक, ब्रह्मा के भी आदि कारण, संपूर्ण जगत के रचयिता, दिव्य प्रकाश स्वरूप परंपुरुष का साक्षात्कार कर लेता है, उस समय पुण्यपाप से विमुक्त होकर निर्मल वह ज्ञानी महात्मा, सर्वोत्तम समता को प्राप्त कर लेता है' इससे निश्चित होता है कि–प्रजापति वाक्य में अनुकर्त्ता

ankurnagpal108@gmail.com

जीव का ही उल्लेख है तथा दहराकाश प्रकरण में अनुकार्य ब्रह्म का उल्लेख है ।

अपिस्मर्यते ।१।३।२२।।

संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्ति लक्षणः परब्रह्मानुकारः स्मर्यते "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथंति च" इति ।

संसारी जीवात्मा की भी मुक्तावस्था में परम साम्यावस्था रूप परब्रह्मानुकारिता, स्मृति में भी बतलाई गई है--"इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष, न तो सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं न प्रलयकाल में व्यथित होते हैं ।"

केचित् "अनुकृतेस्तस्य च" अपिस्मर्यते "इतिसूत्रद्वयमधिकरणान्तरं" तमेव भांतमनुभाति सर्वं, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति" इत्यस्याः श्रुतेः परब्रह्मपरत्व निर्णमाय प्रवृत्तं वदंति । तत्तु "अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः" द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इत्यधिकरण द्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्मविषयत्व प्रतिपादनात्" ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भारूपत्वावगतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानादयुक्तम्, सूत्राक्षर वैरूप्यं च ।

कोई (श्री शंकर) "अनुकृते स्तस्य च" अपिस्मर्यते" इन दो सूत्रों, को, अन्य प्रकरण की "उसके प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं, उसी से यह सारा जगत प्रकाशित है" इत्यादि श्रुति के परब्रह्मत्व का' निर्णायक बतलाते हैं । यह बात कुछ जचती नहीं, क्योंकि-' अदृश्यत्वादि' द्युभ्वाद्यायतन "आदि दोनों अधिकरणों में परब्रह्म विषयक प्रतिपादन किया गया है । "ज्योतिश्चरणाभिधान" इत्यादि में भी परब्रह्म के भारूप की अवगति हो जाती है, इसलिए पुनः उसी विषय को यहाँ भी बैठाना, अयुक्त है तथा सूत्राक्षरों से विपरीत है ।

ankurnagpal108@gmail.com

६ प्रमिताधिकरण—

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३।।

कठवल्लीषु श्रूयते—"अंगुष्ठमात्रो पुरुषः मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानोभूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।" एतद्वैतत् "अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः, ईशानोभूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" एतद्वैतत्—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये संन्निविष्टः तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुंजादिवैषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्" इति । तत्रसंदिह्यते—किमयमंगुष्ठमात्र प्रमितः प्रत्यगात्मा, उतपरमात्मा इति किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति, कुतः ? जीवस्यान्यत्रांगुष्ठमात्रत्वश्रुतेः "प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः, अंगुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः" इति । न चान्यत्रोपासनार्थतयाऽपि परमात्मनोऽगुंष्ठमात्रत्वं श्रूयते । एवं निश्चिते जीवत्वे ईशानत्वं शरीरेन्द्रियभोग्यभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ।

कठवल्ली की श्रुति है कि—"अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष आत्मा में अवस्थित है, वही भूत और भविष्य का शासक है, उन्हें जान लेने वह किसी की निन्दा नहीं करता—यही है वह—(जिसके लिए तुमने पूछा था) अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है, वही भूतभविष्य का शासक है, वही आज है और कल भी रहेगा—यही है वह—सबका अंतर्यामी अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला पुरुष, सदैव प्राणियों के हृदय में स्थित है, उसे मूंज से सींक भाँति (जैसे कि सींक मूंज से भिन्न है) अपने शरीर से धीरतापूर्वक पृथक् करके देखे, उसी को अमृत स्वरूप समझे ।"

अब संशय होता है कि—यह अंगुष्ठ परिमाण वाला प्रमित, जीवात्मा है परमात्मा ? कह सकते हैं कि जीवात्मा । क्योंकि—अन्य श्रुतियों में जीव को अंगुष्ठ परिमाण वाला कहा गया है—जैसे कि—"प्राणों का

ankurnagpal108@gmail.com

अधिपति अपने कर्मों से प्रेरित होकर अनेक योनियों में विचरता हुआ, जो कि अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला है, वह सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप, सकल्प और अहंकार से युक्त है।'' किसी भी श्रुति में उपासना के लिए, परमात्मा के अंगुष्ठ परिमाण का वर्णन भी नही मिलता। इस प्रकार प्रमित की जीवता निश्चित हो जाने पर—शरीर-इन्द्रिय भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि में जीव की शासकता भी निश्चित हो सकती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते ब्रूमः—शब्दादेव प्रमितः—अंगुष्ठ प्रमितः परमात्मा, कुत. ? "ईशानो भव्यस्य" इति शब्दादेव। न च भूत भव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते।

उक्त संशय पर सिद्धात रूप से "शब्दादेवप्रमित" सूत्र प्रस्तुत किया गया, जिसका तात्पर्य है कि-अंगुष्ट प्रमित परमात्मा है "ईशानो-भूतभव्यस्य" शब्द से ही उसकी परमात्मकता सिद्ध होती है। कर्म परवश जीवात्मा में भूत भविष्य आदि समस्त की शासकता संभव नही है।

कथं तर्हि परमात्मनोऽगुंष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

परमात्मा की अंगुष्ठ मात्रता कैसे संभव है ? इस पर कहते हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२४।।

परमात्मन उपासनार्थमुपासक हृदये वर्त्तमानत्वादुपासक हृदयस्यांगुष्ठ प्रमाणत्वात्तदपेक्षयेदमंगुष्ठ प्रमितत्वमुपपद्यते। जीवस्यापि अंगुष्ठ प्रमितत्वं हृदयांतर्वर्तित्वात्तदपेक्षमेव, तस्याराग्रमात्रत्वश्रुतेः। मनुष्याणामेवोपासकत्व संभावनया, शास्त्रस्यमनुष्याधिकारत्वात् मनुष्य हृदयस्य च तत्तदंगुष्ठ प्रमितत्वात्खरतुरगभुजगादीनामनंगुष्ठ प्रमितत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः स्थितं तावदुत्तरत्र समापयिष्यते।

मनुष्य का हृदय अंगुष्ठ परिमाण का है, उसमें परमात्मा की उपासना की जाय, इसलिए आयतन के अनुरूप, परमात्मा के अंगुष्ठ परिमाण का वर्णन किया गया है। जीवात्मा के लिए भी जो अंगुष्ठ

ankurnagpal108@gmail.com

परिमाण का वर्णन मिलता है, वह भी हृदय के परिमाणानुसार ही है, अन्यथा श्रुतियों में तो जीव को आरा के अग्रभाग के समान अतिसूक्ष्म बतलाया गया है। उपासना मनुष्यों से ही संभव हो सकती है, शास्त्र का अधिकार भी मनुष्य का ही बतलाया गया है। मनुष्य का हृदय अपने अपने अंगुष्ठ परिमाण का होता है। गर्दभ घोड़ा सर्प इत्यादि का तो अंगुष्ठ परिमाण का प्रश्न ही नहीं उठता; जीव के अंगुष्ठ परिमाण पर किसी प्रकार की शंका का अवकाश भी नहीं है। इस विषय को अग्रिम अधिकरण में समाप्त करेंगे।

७ देवताधिकरण:—

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ।१।३।२५।।

परस्य ब्रह्मणोंऽगुष्ठप्रमितत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम्। तत्प्रसंगेनेदानीं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते। किं तावद्युक्तम्? नास्ति देवादीनामधिकार इति, कुतः? सामर्थ्याभावात्—न हि अशरीराणां देवादीनां विवेकविमोकादि साधनसप्तकानुग्रहीत ब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्यमस्ति। न च देवादीनां सशरीत्वे प्रमाणमुपलभामहे। यद्यपि परिनिष्पन्नेऽपि वस्तुनि व्युत्पत्ति संभावनया वेदान्तवाक्यानि परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवंति, तथापि देवादीनां विग्रहवत्त्व प्रतिपादन परं न किंचिदपि वाक्यमुपलभ्यते। मंत्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्यपरत्वान्न देवादि विग्रह साधने प्रभवंति। कर्मविधयश्च स्वापेक्षितोद्देश्यकारकत्वातिरेकि देवतागतं किमपि न साधयंति। अतएव तासामर्थित्वमपि न संभवति। अतः सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीनां अनधिकारः—इति।

परब्रह्म के अंगुष्ठमात्र परिमाण के प्रतिपादन का एकमात्र अभिप्राय है कि—मनुष्यमात्र का ही ब्रह्मोपासना का अधिकार है, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें ही अधिकारी माना गया है। इसी प्रसंग में विचार

ankurnagpal108@gmail.com

उपस्थित होता है कि–ब्रह्मविद्या (उपासना) में देवता आदि का भी अधिकार है या नहीं ? कह सकते हैं कि नहीं है, क्योंकि देवतादि में सामर्थ्य नहीं है, अशरीरी देवता आदि में विवेक-विमोक आदि सप्त प्रकार की साधनाओं की सहायता से ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने का सामर्थ्य ही नहीं है। उन लोगों के शरीरी होने का कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। यद्यपि शब्द द्वारा स्वतः सिद्ध (क्रिया संबंध रहित) वस्तु में व्युत्पादन की सभावना से वेदांत वाक्यों को परब्रह्म के संबंध में प्रमाण माना जा सकता है, फिर भी देवताओं के शरीरी होने के प्रमाण कहीं भी नहीं मिलते। मंत्र और अर्थवाद वाक्य भी, जो कि–कर्म विधि के अंगरूप से वर्णित हैं, अन्यार्थ बोधक हैं। देवताओं के शरीर अस्तित्व को प्रमाणित करने में वे भी असमर्थ हैं। कर्मविधि समूहक वाक्य भी, देव-ताओं के संबंध में, कर्मापेक्षित उद्देश्य के प्रतिपादन के अतिरिक्त कुछ और प्रमाणित नहीं कर पाते। इसलिए उनका अर्थित्व भी संभव नहीं है। सामर्थ्य और अर्थित्व के अभाव होने से, देवादिकों का, ब्रह्मविद्या में अनाधिकार सिद्ध होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्"–तदुपरि अपि, तद् ब्रह्मोपासनं उपरि–देवादिष्वपि, संभवतीति बादरायणे। मन्यते। तेषामर्थित्व सामर्थ्ययोः संभवात्। अर्थित्वंतावद् आध्यात्मिकादिदुर्विषहदुःखाभितापात् परस्मिन् ब्रह्मणि च निरस्तनिखिल दोषगंधेऽनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण-गुणगणे निरतिशय भोग्यत्वादिज्ञानाच्च संभवति। सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया संभवति। देहेन्द्रियादिमत्वं च ब्रह्मादीनां सकलोपनिषत्सु सृष्टि प्रकरणेषु उपासनप्रकरणेषु च श्रूयते। तथाहि–"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इत्यारभ्य–सर्वमचेतनं तेजोवन्नप्रमुखावस्याविशेषवद् व्याकृत्य–"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति संकल्प्य ब्रह्मादिस्थावरान्तं चतुर्विधंभूतजातं तत्तत्कर्मोचित्

ankurnagpal108@gmail.com

शरीरं तदुचित नामभाक्चायमकरोदित्युक्तम्। एवं सर्वत्र सृष्टि वाक्येषु देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना चतुर्विधा सृष्टिराम्नायते।

उक्त संशय पर सिद्धान्तरूप से उक्त "तदुपर्यपि" आदि सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, अर्थात् ब्रह्मोपासना, देवताओं में भी हो सकती है, ऐसा बादरायण का मत है। देवता आदि में अर्थित्व और सामर्थ्य है। दुःसह अध्यात्मिकादि दुःखों से तप्त होने से तथा समस्त दोषों से रहित, निरवधि, निरतिशय, असंख्य कल्याणमय, गुणों से युक्त परब्रह्म में भी निरतिशय भोग सद्भाव का ज्ञान होने से अर्थित्व, और कार्यक्षम उत्कृष्ट देह इन्द्रियादि की विद्यमानता से, उनमें सामर्थ्य भी है। सभी उपनिषदों में सृष्टि और उपासना के प्रकरणों में, ब्रह्मा आदि देवताओं की, देह इन्द्रिय आदि की सत्ता बतलाई गई है। "हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत सद् ही था, उसने संकल्प किया अनेक हो जाऊँ उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि से प्रारंभ करके–अव्यक्त तेज आदि समस्त अचेतनों की विशेष अवस्थाओं का विवेचन करके– 'इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा" ऐसा संकल्प के उस परमात्मा ने ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक चतुर्विध भूतवर्ग के विशेष कर्मानुसार उनके शरीर और नामरूप को विभक्त किया; ऐसा बतलाया गया है। इसी प्रकार सभी सृष्टि वाक्यों में, देवता पशुपक्षी-मनुष्य-स्थावर आदि चतुर्विध प्राणियो की सृष्टि का वर्णन किया गया है।

देवादि भेदश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोक प्रभृति चतुर्दशलोकस्थ फलभोगयोग्य देहेन्द्रियादियोगायत्तः आत्मनां स्वतो देवादित्वाभावात्। तथा–"तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरेते होचुः–इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्प्राणी प्रजापति सकाशमाजग्मतुः"—"तौ ह द्वत्रिंशत वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः तौ ह प्रजापतिरुवाच"–इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरेन्द्रियवत्वं देवादीनां प्रतीयते।

स्वरूपतः किसी आत्मा का देवादिभाव नही रहता; देवादिभाव तो केवल, ब्रह्मलोक आदि चौदह लोकों के विशेष कर्मानुयायी फलभोग

ankurnagpal108@gmail.com

के योग्य देह इन्द्रिय आदि के संबंध निबंधन से ही, कल्पित होता है। जैसा कि वर्णन मिलता है—"देवता और असुर दोनों ने ही, परंपरा से जान लिया उन्होंने कहा—देवों के राजा इन्द्र तथा असुरों के राजा विरोचन, दोनों आपस में स्पर्धा करते हुए, हाथों में समिधायें लेकर, प्रजापति के पास पहुँचे, उन्होंने बत्तीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया, तब उनसे प्रजापति ने कहा—"इत्यादि से, देवताओं के देह इन्द्रिय आदि की, स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कर्मविधिविशेषभूत मंत्रार्थवादेष्वपि "वज्रहस्तः पुरंदरः" "तेनेन्द्रो वज्रभुदयच्छत्" इत्यादिभिर्प्रतीयमानं विग्रहादिमत्वं प्रमाणांतराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव। नचानुष्ठेयार्थप्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्थान्तरा विवक्षा शक्यते वक्तुम्। स्तुत्याद्युपयोगित्वात्तेन विना स्तुत्याद्यनुपपत्तेश्च। गुणकथनेन हि स्तुतित्वम्। गुणानामसद्भावे स्तुत्वमेव हीयते। न चासतागुणेन कथितेन प्ररोचना जायते। अतः कर्म प्ररोचयंतो गुणसद्भावं बोधयंत एवार्थवादाः।

कर्मविधि के विशेष अंग मंत्र और अर्थवाद के—"वज्रहस्त पुरंदर" इन्द्र ने वज्र उठाया" इत्यादि वाक्यों से भी देह के अस्तित्व की प्रतीति होतीहै। यह वर्णन प्रमाणान्तरों के विरुद्ध भी नहीं है, इसलिए प्रामाणिक ही है। मंत्र और अर्थवाद वाक्य, कर्मानुष्ठान और स्तुतिपरक ही हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यार्थ भी, स्तुतिवाद के उपयोगी ही होते हैं; उक्त वाक्यों की अर्थान्तर विविक्षा न मानने से, स्तुतिवाद उपपन्न ही नहीं हो सकता। गुणकथन को ही तो स्तुति कहते हैं, यदि गुणों का ही असद्भाव हो जायेगा तो, स्तुतित्व भी नष्ट हो जायेगा असद्गुणों के कथन से तो लोगों की प्रवृत्ति उद्दीप्त हो नहीं सकती। कर्म के विषय में रोचक अर्थवाद ही; वर्णनीय गुणों के, सद्भाव के द्योतक होते हैं।

मन्त्राश्च कर्मसु विनियुक्तास्तत्रतत्र किंचित्करत्वायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयंतो देवतादिगतविग्रहादिगुणविशेषमभिदधत एव तत्र किंचित्

ankurnagpal108@gmail.com

कुर्वन्ति, अन्यथा इन्द्रादि स्मृत्यनुपपत्तेः। न च निर्विशेषा देवता धियमधिरोहति । तत्र प्रमाणान्तराप्राप्तान्गुणान् स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयंति। गुण विशिष्ट वा प्रकाशयंति, प्राप्तांश्चानूद्य तैः प्ररोचन प्रकाशने कुर्वन्ति, विरुद्धत्वे तु तद्वाचिभिः शब्दैरविरुद्धान् गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति। कर्मविधेश्च देवताया ऐश्वर्यमपेक्षितमेव । कामिनः कर्त्तव्यतया कर्मविधीयमानं स्वयं क्षण प्रध्वंसि कालांतरभाविनः फलस्य स्वर्गादेः साधकमपेक्षते ।

मंत्र समूह भी, कर्म के विनियुक्त विशेष विशेष विषयों में, कुछ न कुछ उपकार साधन के लिए ही, कर्मानुष्ठेय अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। मंत्र समूह देवादिकों के शरीरादि गुणविशेषों का प्रतिपादन करके ही, उपकारी होते हैं अन्यथा कार्यकाल में इन्द्रादि का स्मरण ही नहीं हो सकता। निर्विशेष (शरीरादि विशेषभाव रहित) केवल शब्दमय देवता, कभी बुद्धयारूढ़ (स्मृत) नहीं हो सकते। अन्य प्रमाणों जो गुणवर्णन पाया जाता है, वह स्वयं उद्‌बोधक या रुचिवर्द्धक होता है अथवा गुणविशिष्ट कर्मविशेष का प्रतिपादक होता है। जो गुण प्रमाणांतरों में मिलते हैं, वे सब अनुवाद या पुनरुल्लेख मात्र हैं, जो कि साधकों में, उत्कट श्रद्धा और कर्म स्वरूप का प्रकाशन करते हैं। (प्रमाणान्तरों के साथ) विरुद्धता उपस्थित होने पर गुणवाचक शब्दों से अविरुद्ध गुण समूहों को, लक्षित करके प्रतिपादन किया गया है। देवताओं का ऐश्वर्य या विभूति भी, कर्म सापेक्ष होते हैं। सकाम साधकों द्वारा, कर्त्तव्यरूप से विधीयमान कर्म, स्वयं क्षणभंगुर होते हैं, वे कालांतर में स्वर्गादिफल के रूप में, साधक की साधना के अनुसार प्रतिफलित होते हैं।

मंत्रार्थवादयोश्च—"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति"—"यदनेनहविषाऽशास्ते तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवाराधन्ताम्" इत्यादिषु देवताया कर्मणाऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीयमानमपेक्षतत्वेन वाक्यार्थे समन्वीयते ।

ankurnagpal108@gmail.com

"वायु वेगवान देवता हैं; उपासक अपने भागबल से ही वायु के अभिमुख भागपाता है वायु उपासक को ऐश्वर्य प्रदान करते है" "यजमान हवि द्वारा जो पाने की इच्छा करता है वह उसे मिले, उसकी वृद्धि हो, देवगण उसे उससे संपन्न करें" इत्यादि मंत्र और अर्थवाद वाक्यो मे जो प्रतीयमान, कर्माराधित देवताओं का फलदातृत्व एवं फलदान के उपयुक्त जो ऐश्वर्य संबंध है वह अपेक्षणीय या आवश्यकीय मान कर ही वाक्यार्थ के साथ, संबद्ध हो सकता है।

देवपूजाविधायिनो यजिधातोश्च यागाख्यंकर्म स्वाराध्य देवता प्रधानं प्रतीयते। तदेवं कृत्स्नवाक्य पर्यालोचनया वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमवगतमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्ति समयानवगतं कर्मविधिष्वभिधेयतया कल्प्यतया वाऽश्रयितव्यम्। तथा संकीर्ण ब्राह्मणमंत्रार्थवादमूलेषु धर्मशास्त्र इतिहास पुराणेषु ब्रह्मादीनां देवासुर प्रभृतीनांच देहेन्द्रियादयः स्वाभावभेदाः स्थानानि भोगा. कृत्यानिचेत्येवमादयः सुव्यक्ताः प्रतिपाद्यंते अतो विग्रहादिमत्वाद्देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव।

"यज्" धातु का अर्थ है देवता की पूजा, देवपूजावाचक "यज्" धातु का कर्मभूत याग भी, आराध्य देवता की प्रधानता की प्रतीति कराता है। इस प्रकार संपूर्णवाक्य की पर्यालोचना करने पर ज्ञात होता है कि—विधिवाक्य से जो जो अपेक्षित है, श्रुति वाक्य भी उसी की अवगति कराते हैं। शब्द व्युत्पत्ति के नियमानुसार अवगति नहीं हो सकती, अपूर्व या अदृष्ट आदि किसी भी कर्मविधि से, वाक्यार्थरूप या कल्पनीय रूप से भी आश्रय नही किया जा सकता। सभी ब्राह्मण मन्त्रों, अर्थवाद मूलक धर्मशास्त्र इतिहास पुराण आदि मे, ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरों के देह इन्द्रिय आदि के प्रभेद, स्वभावभेद, विशेष विशेष स्थान, भोग और कर्त्तव्य, आदि का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार विग्रह आदि के अस्तित्व से, ब्रह्मविद्या मे देवताओं का भी अधिकार निश्चित होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।१।३।२६॥

देवादीनां विग्रहादिमत्वाऽभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवत्वे "अग्निमग्नि आवह" "इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ" इत्यादिना आहूतस्य तस्य सन्निधानापपत्तेः दर्शयति चाग्न्यादीनां तत्रतत्रागमनं "कस्यवाह देवा यज्ञमागच्छंति कस्य वा न बहूनां यजमानानां यो वै देवताः पूर्व परिग्रहणाति स एनाश्श्वोभूते यजते" इति । अतो विग्रहादिमत्वे कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेत्, तन्न-अनेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्-दृश्यते हि सौभरि प्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदनेक शरीर प्रतिपत्तिः ।

(शंका) यदि कहें कि—देवादिकों के देहादि के अस्तित्व स्वीकारने में विद्या में भले ही अधिकार हो जाए पर कर्म में तो विरोध उपस्थित हो जायेगा । शरीरधारी एक इन्द्र, एक समय में विभिन्नकाल में होने वाले यज्ञों में "अग्निमग्नि आवह" "इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ" इत्यादि मंत्रों से आवाहन करने पर, एक साथ कैसे उपस्थित सकेंगे ?" कस्यवाह देवा यज्ञमार्गच्छंति" इत्यादि से, अग्नि आदि की उपस्थिति प्रमाणित है । इत्यादि—

(समाधान) आपका उक्त कथन, युक्तियुक्त नहीं है—योग शक्ति संपन्न सौभरि आदि मुनियों का, एक समय में ही, अनेक शरीर धारण कर, अनेक कार्य करने का उल्लेख मिलता है । इसलिए इन्द्रादि देवताओं में भी ऐसा संभव है ।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२७॥

विरोध इति वर्त्तते । मा भूत्कर्मणि विरोधोऽनेक शरीर-प्रतिपत्तेः । शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, अनित्यार्थ संयोगात्। विग्रहवत्वे हि सावयवत्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम् । अतो देवदत्तादिशब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग् विनाशादूर्ध्वं चेन्द्रादिशब्दानां

ankurnagpal108@gmail.com

वैदिकानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा वेदस्य स्यादिति चेत्—तन्न-अतः प्रभवात्-अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुनः पुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात् । एतदुक्तं भवति—यदि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादि शब्दा वैदिका व्यक्ति विशेष मात्रे संकेत पूर्वकाः प्रवृत्ताः, अपितु स्वभावत एव गवादि शब्दवत् आकृति विशेष वाचित्वेन, ततश्चैकस्यामिन्द्र व्यक्तौ विनष्टायामत एव वैदिकादिन्द्रशब्दान्मनसि विपरिवर्त्तमानादवगततद्वाच्य भूतेन्द्राद्यर्थाकारो धाता तदाकारमेवापरमिन्द्रं सृजति, यथा कुलालो घटशब्दान्मनसि विपरिवर्त्तमानात्तदाकारमेव घटम् इति ।

(संशय) ठीक है, कर्म में विरोध भले ही न हो पर वैदिक शब्दों में तो विरोध होने की सभावना है, क्योंकि—जब देवताओं का शरीर मानेगे तो, उनका उपचय-अपचय-विनाश आदि भी मानना ही पड़ेगा। शरीर मानने पर उनके अवयव भी मानेगे ही, अवयव निन्य होते नहीं, इसलिए इन्द्रादि की अनित्यता भी माननी पड़ेगी । देवदत्त आदि शब्दों की तरह, वैदिक इन्द्रादि शब्दो को भी अनित्य मानना होगा । इन्द्र की उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के बाद, फिर—वेदों में वर्णित इन्द्र का अस्तित्व ही क्या रह जायगा ? इन्द्र के अस्तित्व के सशयित हो जाने पर वेदों का अस्तित्व और नित्यता भी संशयित हो जावेगा । इत्यादि

(समाधान) उक्त सशय असगत है; इन्द्र आदि शब्द वेद में नित्य ही है, इन्द्र आदि का भले ही पुनः पुनः उद्‌भव अनुद्‌भव होता रहे, पर इन्द्र आदि शब्द, देवदत्त आदि शब्द की तरह, व्यक्ति विशेष के बोधक नही हैं, अपितु गो आदि शब्द की तरह आकृति विशेष के वाचक है । एक इन्द्र के विनष्ट हो जाने पर भी, वैदिक आकृति विशेष इन्द्र शब्द का मानसिक चिन्तन करके, विधाता, उसी आकार प्रकार के इन्द्र का सर्जन कर देते हैं, जैसे कि—कुम्हार, घट शब्द संपन्न आकार विशेष का चिन्तन, विनष्ट घर के समान अन्य घट का निर्माण कर देता है ।

कथमिदवमगम्यते ? प्रत्यक्षानुमानभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थं श्रुतिस्तावद्—"वेदेन रूपे व्याकरोत् सतासतो प्रजापतिः" इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

तथा—"स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्, स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत्" इत्यादि । वाचक शब्द पूर्वकं तत्तदर्थं संस्थानं स्मरन् तत्तदर्थं संस्थान विशिष्टं तंतमर्थं सृष्टवानित्यर्थः ।

स्मृतिरपि—"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रसूतयः" इति । "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" । संस्था संस्थानानि रूपाणीति यावत् । तथा "नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपंचनम्, वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इति अतो देवादीनां विग्रहवत्वेऽपि वैदिक शब्दानामानर्थक्यं, वेदस्यादिमत्वं न प्रसज्यते ।

यदि पूछें कि—तुम कैसे जान सके ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से श्रुति या स्मृति से ? तो भाई श्रुति ही का वचन है "प्रजापति ने वेद से, सत् और असत् इन दो रूपों को प्रकट किया" तथा "उन्होंने भू शब्द से भूमि की, भवः शब्द से अंतरिक्ष की, सृष्टि की" इत्यादि से ज्ञात हुआ कि—पदार्थ वाचक शब्दों का स्मरण करते हुए विशेष, विशेष पदार्थों के संस्थान आकृति विशेष का स्मरण करके, उन-उन आकृति विशेषों की सृष्टि की ।

स्मृति में भी इसी प्रकार—"स्वयम्भू ने सर्व प्रथम अनादि निधन वेदमय, दिव्य वाक्य प्रकाश किया, जिससे कि सारी सृष्टि होती है"—उस आदि पुरुष ने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों से ही पृथक्-पृथक् नाम-कर्म एवं विभिन्न प्रकार के संस्थानों का निर्माण किया"—"उन्होंने, देव आदि समस्त भूतों के नाम रूप एव विविध कर्त्तव्य विषयों की वैदिक शब्दों से ही सृष्टि की" इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि—देव आदि के शरीरी होते हुए भी, वैदिक शब्दों की नित्यता में कोई अंतर नहीं आता ।

अतएव च नित्यत्वम् ।१।३।२८॥

यत एवेन्द्र वशिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिनां तत्तदाकार वाचित्वं, तत्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्विका च तत्तदर्थसृष्टिः, तत

ankurnagpal108@gmail.com

एव "मंत्रकृतो वृणोते" नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्य: "अयं सोऽग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादिभिर्वशिष्ठादीनां मंत्रकृत्व कांडकृत्व ऋषित्वादौ प्रतीयमानेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते। एभिरेव "मंत्रकृत वृणीते" इत्यादिभिर्वेदशब्दैः तत्तत्कांडसूक्त मंत्रकृताऋषीणामाकृति शक्त्यादिकं परामृश्य, तत्तदाकारान् तत्ताच्छक्ति युक्तांश्च सृष्ट्व प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मंत्रादिकरणे नियुंक्ते। तेऽपि प्रजापतिन आहित शक्त्यस्तत्तादनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वं पूर्व वशिष्ठादि दृष्टान् तानेव मंत्रादीन् अनधीत्यैव स्वरतोवर्णतश्चासवलितान्प श्यंति। अतश्च वेदानां नित्यत्व मेषां च मंत्रकृत्वमुपपद्यते।

जैसे कि—देवता और ऋषिवाची, इंद्र वशिष्ट आदि शब्द आकृति विशेष के बोधक है, उनका स्मरण करके ही उनकी सृष्टि की जाती वैसे ही "मंत्रकृतोवृणीते—नमोऋषिभ्यो मंत्रकृद्ग्निय:—अयं सोऽन्निरिर्ति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादि वेदवाक्यों में, वशिष्ठ आदि क मंत्र कर्त्तृता, कांड कर्त्तृता, तथा ऋषित्व आदि की प्रतीति होते हुए भ वेदों की नित्यता अक्षुण्य रहती है। क्यों कि—"मंत्रकृतोवृणीते" इत्यादि शब्दों के आधार पर, प्रजापति उन-उन मंत्रों, सूक्तों और काण्ड कर ऋषियों की रचना कर, उन्हीं को उन मंत्रादि कार्य संपादन में नियुक्त करते है प्रजापति से प्राप्त शक्ति द्वारा वे ऋषि भी अपने-अपने कर्त्तव्या नुकूल तपश्चर्या द्वारा, अध्ययन पूर्वक, पूर्व-पूर्व वशिष्ठ आदि, दृष्ट नित्यसिद्ध मंत्रराशि का, यथायथ (जैसे का जैसा ही) स्वर और वर्ण अनुसार अविकल साक्षात्कार कर लेते हैं। इस प्रकार वेदों की नित्यत एवं वशिष्ठादिकों की मंत्रकर्त्तृता सिद्ध हो जाती है।

अथस्यात्— नैमित्तिक प्रलयादिषु इन्द्रादि उत्पन्तौ वेदशब्देभ्य पूर्वं पूर्वेन्द्रादिस्मरणेन प्रजापतिना देवादिसृष्टिरुपपद्यतां नाम प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेः भूतादि अहंकार परिणाम शब्दस्य च विनष्टत्वात् कथं प्रजापतेः शब्द पूर्विका सृष्टिरुत्पद्यते ? कथम्त

ankurnagpal108@gmail.com

विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वं ? अतो वेद नित्यत्ववादिना देवादीनां विग्रहवत्वाऽभ्युपगमेऽपि लोक व्यवहारस्य प्रवाहानादिताऽश्रयणीयेति ? अत्रोत्तरं पठति—

शंका—नैमितिक प्रलय के समय तो, ब्रह्म पूर्व सृष्ट्यानुसार वेद वाक्य स्मरण पूर्वक, आकृति विशेष इन्द्र आदि की सृष्टि कर लेते हैं, ऐसा तो मान भी सकते हैं, पर प्राकृत प्रलय में जब कि—सृष्टिकर्त्ता प्रजापति एवं भूतोपादान अहंकार के परिणाम स्वरूप शब्द का भी लय हो जाता है, तब प्रजापति की शब्दानुस्मरण पूर्विका सृष्टि कैसे संभव होगी, तथा विनष्ट वेदों की नित्यता भी कैसे रहेगी ? इसलिए वेद-नित्यता वादी, देवादिकों की देह सत्ता स्वीकारने पर भी, जो लोक व्यवहार में अनादि प्रवाह रूपता है, उसका समर्थन कैसे करेंगे ? इसी का उत्तर देते हैं—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च।१।३।२९॥

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्यावृत्तावपि पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद् विरोधः। तथाहि—स भगवान् पुरुषोत्तमः प्रलयावसान समये पूर्वसंस्थानं जगत्स्मरन् "बहुस्याम्" इति संकल्प्य भोग्यभोक्तृजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य महदादि ब्रह्माण्डं हिरण्यगर्भ पर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीविशेष संस्थानाविष्कृत्य हिरण्यगर्भायोपदिश्य पूर्ववदेव देवाद्याकार-जगत्सर्गे तं नियुज्य स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे। अतो यथोक्तं सर्वमुपपन्नम्। एतदेव च वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वंपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वातेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम् तदस्मासु सर्वेश्वरेऽपि समानम्। इयांस्तु विशेषः—संस्कारानपेक्षमेव स्वयमेवानुसंधत्ते पुरुषोत्तमः।

प्राकृत प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होने पर, पूर्वकथित समान नाम और रूप की संभावना में भी, कोई विरोध नहीं आता। देखिये वेदों में

ankurnagpal108@gmail.com

ही ऐसा कहा गया है कि–उन भगवान पुरुषोत्तम ने प्रलयावसान के समय पूर्व कल्पनीय संस्थान विशेष जगत का स्मरण करके "अनेक होऊँ' ऐसा संकल्प करके, केवल शक्ति रूप से स्वयं में विलीन भोग्य और भोक्तृ समूह को पृथक् पृथक् करके, महत्तत्व से लेकर ब्रह्मांड तक सृष्टि करके, हिरण्यगर्भ को उसका उपदेश देकर उन्हें पूर्व कल्पानुसार जैसी की जैसी आकृति वाले देव आदि समस्त जगत की सृष्टि में नियुक्त करके, स्वयं अन्तर्यामी रूप से सृष्ट जगत में प्रविष्ट हो गए इस प्रकार उक्त संशय का समाधान हो जाता है। इसी से वेदों की अपौरुषयेता और नित्यता भी प्रमाणित हो जाती है। वेदों का जो पूर्व पूर्व उच्चारण क्रम जन्य संस्कार है, उसी क्रम विशेष का स्मरण करके, सदा उच्चारण करना चाहिए, यह नियम हम लोगों और सर्वेश्वर दोनों के लिए समान है। सर्वेश्वर में, हमसे एक ही विशेषता है कि–वह पूर्व संस्कार निरपेक्ष होकर स्वयं ही अनुसंधान या स्मरण करते हैं [जब कि हम लोग पूर्व संस्कारानुसार ही स्मरण करने के लिए बाध्य हैं]

कुत इदं यथोक्तभवगम्यत इति चेत् ? तत्राह–दर्शनात् स्मृतेश्च। दर्शनं तावत् –"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति। स्मृतिरपि मानवी–"आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य-'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः, अतएव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्, तदण्डमभवद् हैमंसहस्रांशु समप्रथमम्। तस्मिज्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" इति। यथा पौराणिकी–"तत्र सुप्तस्य नाभौ पद्मभजायत् तस्मिन् पद्मे महाभाग वेदवेदांगपारणः, ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते।" तथा — "परोनारायणो देवः तस्याज्जातश्चतुर्मुखः" इति। तथा "आदिसर्गमहं वक्ष्ये" इत्यारभ्योच्यते–"सृष्ट्वा नारं तोयमंतः स्थितोऽहं येनस्यान्मे नाम नारायणेति, कल्पेकल्पेतत्र शयामि भूयः सुप्तस्य मे नाभिजं स्याद्यथाऽब्जं, एवम्भूतस्य मे देवि नाभिपद् मे चतुर्मुखः, उत्पन्नस्यमया चोक्तः प्रजाः सृजत् महामते" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

अतो देवादीनामप्यर्थित्व सामर्थ्ययोगात् ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ।

यदि पूछें कि उक्त बात कैसे जान सके ? उसपर सूत्रकार कहते हैं दर्शन और स्मृति से दर्शन जैसे—"जिन्होंने प्रथम ब्रह्मा की सृष्टि की तथा जिन्होंने सृष्टि के निमित्त उन्हें वेदों की प्रेरणा दी ।" इत्यादि । मनु स्मृति में जैसे—"यह जगत सृष्टि के पूर्व तमोभूत था" इत्यादि से प्रारंभ करके—"उन्होंने विविध प्रजासृष्टि की आकांक्षा करके, सर्व प्रथम अपने शरीर से जल की सृष्टि की, उसी से वीर्य की सृष्टि की, वह वीर्य ही हजारों सूर्यों के समान प्रभा संपन्न हिरण्मय अंड के रूप में परिणत हो गया, उस अंड में से ही पितामह ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ ।" पौराणिक स्मृति में भी जैसे—"क्षीर सागर में सुप्त नारायण की नाभि से कमल प्रकट हुआ उस कमल से वेद वेदांग पारंगत ब्रह्मा प्रकट हुए, उन्हें भगवान ने आज्ञा दी कि—महामति ! तुम प्रजा की सृष्टि करो ।' तथा—"प्रकाशमान नारायण ही श्रेष्ठ हैं, उन्ही से चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए" तथा—"आदि सृष्टि करूँ" इत्यादि से प्रारंभ करके—"नार जल की सृष्टि कर मैं उसी मे स्थित हो गया, उसी से मेरा नाम नारायण हुआ, प्रतिकल्प में मैं वहाँ बार बार शयन करता हूँ, सोये हुए मेरी नाभि से कमल उत्पन्न होता है, उस नाभि पद्म से चतुर्मुख ब्रह्मा का जन्म होता है, तब मैं उन्हें आज्ञा देता हूँ कि—तुम प्रजा की सृष्टि करो ।"

उक्त वर्णनों से सिद्ध होता है कि—देवताओं के शरीरी और समर्थ्यवान होने से, उन्हें ब्रह्मविद्या में अधिकार प्राप्त है ।

८ मध्वाधिकरण:—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ।१।३।३०।।

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम्, इदमिदानीं चिन्त्यते येषूपासनेषु या देवता एवोपास्यास्तेषु तासामधिकारोऽस्ति न इति, किं प्राप्तम् ? नास्त्यधिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? असंभवात् नहि आदित्यवस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वाद-

ankurnagpal108@gmail.com

योऽन्ये संभवंति । न च वस्वादीनां सतां वस्वादित्वं प्राप्यं भवति, प्राप्तत्वात्, मधुविद्यायामृग्वेदादि प्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मि द्वारेण प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया लब्धमधुब्दपदेशस्यादित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वंवस्वादित्वं च प्राप्यं श्रूयते— "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्युपक्रम्य—"तद्यत्प्रथमममृतं वेद वसूनामेवैकोभूत्वा अग्निनैव मुखेनैतदेवामृतम् दृष्ट्वा तृप्यति" इत्यादिना ।

ब्रह्मविद्या में देवादिक का अधिकार है, यह तो सिद्ध हो चुका। अब प्रश्न होता है कि- उपासनाओं में प्राय: उन सभी देवताओं की उपासना का विधान है, जिनके अधिकार की चर्चा की जा रही है, उन्हें स्वय अपनी उपासना करने का अधिकार है या नहीं ? जैमिनि आचार्य का मत है कि—मधु आदि विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है क्यों कि— ऐसा होना असंभव है, आदित्य वसु आदि देवता ही उक्त विद्याओं के उपास्य हैं, वे स्वयं उपासक कैसे हो सकते हैं ? वसु आदि को उपासना से वसु आदि का साक्षात्कार तो हो नहीं सकता, क्यों कि वे स्वयं तो उपासक रूप से उपस्थित हैं ही वे ही फिर उपास्य रूप से कैसे प्रकट हो सकते हैं ।

जैसा कि—मधु विद्या में, ऋग् वेदादि प्रतिपाद्य कर्म निष्पन्न मधुनामक आदित्य की रश्मियों द्वारा निस्यूत रस, उपास्य वसु आदि से उपभुक्त होकर, अंश रूप से उपासक को प्राप्त होता है, श्रुतियों में—"वह आदित्य देव मधु है" इत्यादि से प्रारंभ करके—"वहाँ जो प्रथम अमृत भाग है, उसे वसुगण उपभोग करते हैं, जो लोग इस प्रकार इस अमृत के रहस्य को जानकर उपासना करते है वे वसुओं के मध्य में ही जन्म लेकर अग्नि रूप मुख से अमृत का दर्शन मात्र करके तृप्त हो जाते हैं ।" इत्यादि में वर्णन किया गया है ।

ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३१।।

"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः आयुर्होपास्तेऽमृतम्" इति ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि उपासनं देवानां श्रूयते । देवमनुष्योभयसाधारणे

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्मोपासने देवानामुपासकत्वकथनं देवानामितरोपासन निवृत्ति द्योतयति । अत एषु वस्वादीनामनधिकारः ।

"देवगण ज्योतियों की ज्योति उस परब्रह्म को, आयु और अमृत मान कर उपासन करते हैं" ऐसी ज्योति रूप परब्रह्म की उपासना का वर्णन किया गया है। परब्रह्म की उपासना में देवताओं और मनुष्यों का तुल्याधिकार होते हुए भी, यहाँ जो पृथक् उपासकता बतलाई गई है, इससे, देवताओं के लिए अन्यों की उपासना की निवृत्ति का भाव द्योतित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि-मधु आदि विद्याओं मे देवताओं का अधिकार नहीं है [अर्थात् देवताओं के उपास्य एकमात्र ब्रह्म ही है, ऐसा उक्त उदाहरण से प्रतीत होता है, मधु आदि विद्याओं में देवताओं को स्वयं उपास्य बतलाया गया है, इसलिए वे स्वयं उसमें उपासक नहीं हो सकते, इन विद्याओं में मनुष्यों के ही अधिकार की बात निश्चित होती है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते सिद्धान्त :—

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।१।३।३२।।

आदित्य वस्वादीनामपि तेष्वधिकारभावं भगवान् बादरायणो मन्यते । अस्ति ह्यादित्य वस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्व प्राप्ति पूर्वक ब्रह्मप्रेप्सा संभवः । इदानीं वस्वादीनामपि सतां कल्पांतरेऽपि वस्वादित्व प्राप्तिश्चोपेक्षिता भवति ।

मधु आदि ब्रह्मविद्या में आदित्य वसु आदि का अधिकार भगवान बादरायण मानते हैं। आदित्य और वसु आदि भी, आत्मा में अवस्थित पर ब्रह्म की उपासना द्वारा, वस्वादि भाव पूर्वक ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक हो सकते हैं। इस जन्म में जो वसु आदि हैं, वे कल्पान्तर में भी वसु आदि ही हों, ऐसी अपेक्षा भी तो, उपासना द्वारा हो सकती है।

अत्रहि कार्यकारणोभयावस्थ ब्रह्मोपासनं विधीयते । "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य— "तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यतः

ankurnagpal108@gmail.com

प्रागादित्यवस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिष्यते । "अथतत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवास्थितं कारणावस्थमेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । तदेवं कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदंते कारणं परंब्रह्मैवाप्नोति ।

उक्त प्रकरण मे कार्य और कारण दोनों अवस्था वाले ब्रह्म की उपासना का विधान किया गया है। "असौ वा आदित्यो" इत्यादि से प्रारंभ करके "अथ तत ऊर्ध्वं" इत्यादि वाक्य के पूर्व तक, आदित्य वसु आदि को कार्य विशेषावस्थापन्न ब्रह्मोपासना का उपदेश दिया गया है। "अथ तत अर्ध्वं" इत्यादि वाक्य मे, आदित्य के अंतरात्मा मे अवस्थित, कारणावस्थ ब्रह्म की उपासना का उपदेश है। कार्य और कारण इन दोनों अवस्थाओ वाले ब्रह्म के उपासक, कल्पांतर में वसु आदि रूप प्राप्त कर, अन्त में कारण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, यही उक्त उपदेश का तात्पर्य है।

"न ह वा अस्मा उदेति न निम्रोचति सकृद् दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" इति कृत्स्नाया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषत्व श्रवणात् ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्वादित्वफलस्य श्रवणाच्च वस्वादि भोग्यभूत् आदित्यांशस्य विधोयमानमुपासनं तदवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यते । अतएवं विधमुपासनमादित्य वस्वादीनामपि संभवति । एवं च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्युपपद्यते । तदाह वृत्तिकारः—"अस्ति हि मध्वादिषु संभवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निचाय्यत्वात् ।

'जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद को जानते है, उनके लिए न तो सूर्य का उदय होता है न अस्त, उनके लिए तो सदा दिन ही दिन रहता है" इत्यादि में, समस्त मधुविद्या की ब्रह्मोपनिषद स्वरूपता, ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त वसु आदि रूप फल प्राप्ति, वसु आदि भोग्यभूत आदित्यांश की उपासना, उस अवस्था में ही ब्रह्मावाप्ति आदि, बातें ज्ञात होती है इससें

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्ध होता है कि—आदित्य वसु आदि से भी मधुविद्या की उपासना संभव है। इसीलिए ब्रह्म की भी उपास्यता "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि में बतलाई गई है। जैसा कि—वृत्तिकार भी कहते है–' सर्वत्र ब्रह्म की उपासना ही विहित है, इसलिए मधुविद्या आदि में देवतादि का अधिकार हो सकता है।"

९ अपशूद्राधिकरण :—

शुगस्यतदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।१।३।३३॥

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेति विचार्यंते; किं युक्तम्? अस्तीति, कुतः? अर्थित्वसामर्थ्य प्रयुक्तत्वादधिकारस्य शूद्रस्यापि तत्संभवात्। यद्यप्यग्निविद्या साध्येषु कर्मस्वनग्नि विद्यत्वाच्छूद्रस्यानधिकारः, तथापि मनोवृत्तिमात्रत्वाद् ब्रह्मोपासनस्य तत्राधिकारोऽस्त्येव, शास्त्रीय क्रियाऽपेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचित क्रियाया एवापेक्षितत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्ण शुश्रूषैव क्रिया भविष्यति। "तस्माच्छूद्रोयज्ञेऽनवक्लृप्तः" इत्यप्यग्निविद्यासाध्ययज्ञादिकर्मानधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूद्यते।

ब्रह्मविद्या में शूद्रों का अधिकार है कि नहीं? इस पर विचार करते है। कह सकते है कि है, क्यो कि—शूद्रो मे भी अन्यवर्णो की तरह अर्थित्व और सामर्थ्य संभव है। यद्यपि अग्निविद्या साध्य कर्मो में अग्निहोत्री न होने के कारण, शूद्रों का अनधिकार सिद्ध होता है, तथापि ब्रह्मविद्या जब एक मनोवृत्ति मात्र ही है, तब उसमे उनका स्वाभाविक अधिकार सिद्ध हो जाता है। उपासना, यदि शास्त्र क्रिया सापेक्ष्य हो तो भी, शास्त्रानुसार अपनी वर्णोचित क्रिया सुश्रूषा के आश्रय से, वे शूद्र भी, अन्य वर्णो की तरह, उपासना के अधिकारी हो सकते हैं। "शूद्र यज्ञ में अनधिकृत हैं" यह श्रुति तो, एकमात्र अग्निविद्या साध्य यज्ञादि कर्मो में ही, शूद्र के अनधिकार की पुष्टि करती है।

नन्वधीत वेदस्या श्रुतवेदांतस्य ब्रह्मस्वरूप तदुपासन प्रकारानभिज्ञस्य कथं ब्रह्मोपासनं संभवति? उच्यते-अनधीतवेदस्या श्रुतवे-

ankurnagpal108@gmail.com

दांतवाक्यस्यापीतिहासपुराण श्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनज्ञानं संभवति। अस्ति च शूद्रस्यापीतिहासपुराण श्रवणानुज्ञा श्रावयेच्चतुरोवर्णान् कृत्वाब्राह्मणमग्रतः" इत्यादौ। दृश्यंतेचेतिहासपुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठाः। तथोपनिषत्स्वपि संवर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्याधिकारः प्रतीयते-शुश्रूषु हि जानश्रुतिमाचार्यो रैक्वः शूद्रेत्यामंत्र्य तस्मैब्रह्मविद्यामुपदिशति–"आजहारेमाः शूद्रोनेनैव मुखेनालापयिष्यथाः" इत्यादिना। अतः शूद्रस्याप्यधिकारः संभवति।

यदि कहो कि- जिन्होंने वेदाध्ययन, वेदांत श्रवण नहीं किया तथा जो ब्रह्म के स्वरूप और उपासना से अनभिज्ञ हैं, वे ब्रह्मोपासना कर कैसे पावेंगे? तो सुनिये–वेदाध्ययन और वेदांतश्रवण के बिना भी पुराणेतिहास के श्रवण से ही ब्रह्मस्वरूप और उपासना पद्धति का ज्ञान संभव है। इतिहास पुराण के श्रवण की आज्ञा शूद्र को–"ब्राह्मण को अग्रवर्ती करके चारों वर्णों को रहस्य श्रवण करना चाहिए" इत्यादि से शास्त्र से ही प्राप्त है। इतिहास पुराण आदि में विदुरादि के ब्रह्मनिष्ठ होने की चर्चा है। उपनिषदों में भी संवर्ग विद्या के प्रकरण में, शूद्रों को ब्रह्मविद्या के अधिकार की चर्चा है। आचार्य रैक्व ने ब्रह्म शुश्रूषु जानश्रुति को "शूद्र" कह कर पुनः उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, जैसे कि–हे शूद्र! तू ये गौ कन्या आदि लाया है, तू इस विद्याग्रहण के बहाने ही मुझसे बातें कर रहा है" इत्यादि से ज्ञात होता है। इसलिए शूद्र का अधिकार सिद्ध होता है।

सिद्धान्त–इति प्राप्ते उच्यते–न शूद्रस्याधिकारः संभवति, सामर्थ्याभावात्, न हि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानतस्तदंगभूतवेदानुवचनयज्ञादिष्वनधिकृतस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यंसंभवः, असमर्थस्य च अर्थितत्व सद्भावेऽप्यधिकारो न संभवति, असामर्थ्यं च वेदाध्ययनाभावात्, यथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्ध-

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाध्याय संपाद्यज्ञान लाभेन कर्मविधयो ज्ञानतदुपायादीनपरान्न स्वीकुर्वन्ति, तथा ब्रह्मोपासन विधयोऽपि। अतोऽध्ययन विधिसिद्ध स्वध्याधिगतज्ञानस्यैव ब्रह्मोपासनोपायत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासन सामर्थ्यासभवः।

उक्त मत पर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि–शूद्र का अधिकार नहीं है, क्यों कि–उनमें सामर्थ्य का अभाव है। जो ब्रह्म के स्वरूप और उनकी उपासना प्रणाली को नही जानते तथा उपासना के अंगस्वरूप वेदपाठ यज्ञादि में जिनका अनधिकार है, उनमें उपासना के अनुकूल सामर्थ्य संभव नहीं है, वेदाध्ययन का अभाव ही, सामर्थ्य का अभाव है। ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के लिए वेदाध्ययन शास्त्र विहित है, वेदाध्ययन संपाद्य ज्ञान से ही उन लोगों को उपासना का अधिकार प्राप्त है। कर्म विधि जैसे कि—ज्ञान और तदुपयोगी अन्यान्य साधनों की अपेक्षा नहीं करती है, ब्रह्मोपासना की विधि भी उसी प्रकार है। अध्ययन विधि लभ्य वेदाध्ययन जन्य ज्ञान ही ब्रह्मोपासना का प्रधान उपाय है। वैदिक ज्ञान के अभाव से ही, शूद्रों में ब्रह्मोपासना का सामर्थ्य संभव नहीं है।

इतिहास पुराणे अपि वेदोपवृंहणं कुर्वंती एवोपायभावमनुभवतः न स्वातंत्र्येण शूद्रस्येतिहास पुराण श्रवणानुज्ञानं पापक्षयादिफलार्थम्, नोपासनार्थम्। विदुरादयस्तु भवान्तराधिगतज्ञाना प्रमीषात् ज्ञानवंतः प्रारब्धकर्मवशाच्चेदृशजन्मयोगिन इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम्।

इतिहास पुराण में भी, वेदोपवृंहण करके ही, उपासना के उपायों का विवेचन किया गया है, स्वच्छन्द विवेचन नहीं है। शूद्रों को जो इतिहास पुराण श्रवण का उपदेश दिया गया है वह, पापक्षय फल प्राप्ति के निमित्त से दिया गया है, उपासना के लिए नहीं दिया गया है। जन्मान्तराधिगत अविलुप्त ज्ञानसंपन्न विदुर आदि, प्रारब्ध कर्मवश शूद्र योनि मे गए थे, वस्तुतः वे जन्मसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ थे।

ankurnagpal108@gmail.com

यच्च-संवर्गविद्यायां शुश्रूषोः शूद्रेति संबोधनं शूद्रस्याधिकारं सूचयति–इति, तन्नेत्याह–शुगस्य तदनादर श्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि "शुश्रूषोर्जानश्रुतेः पौत्रायणस्य ब्रह्मज्ञानकैवल्येन हंसोक्तानादरवाक्य श्रवणात् तदैव ब्रह्मविदो रैक्वस्य सकाशं प्रत्याद्रवणाच्छुगस्य संजातेति हि सूच्यते, अतः स शूद्रेत्यामंत्रयते, न चतुर्थवर्णत्वेन।

संवर्ग विद्या में शुश्रूषु जानश्रुति को "शूद्र" कहा गया एकमात्र इसी आधार से शूद्रों के अधिकार की बात मान लेना भी, भ्रांति है इसके निवारणार्थ ही "शुगस्य तदनादर श्रवणात सूच्यतेहि" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है। ब्रह्मविद्या शुश्रुषु जानश्रुति का ब्रह्मविद्या ज्ञान के अभाव से, हंस द्वारा जो अनादर हुआ उससे म्लान होकर वह रैक्व के पास गया। इससे ज्ञात होता है कि—वह उस समय अत्यंत दुखी और संतप्त था, जिससे कि उसकी आकृति कान्तिहीन हो गई थी; रैक्व ने इसीलिए उसे शूद्र कहा था, चतुर्थवर्ण की दृष्टि से नहीं कहा था।

शोचतीति हि शूद्रः, "शुचेर्दश्च" इति र प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति। अतः शोचितृत्वमेवास्य शूद्र शब्द प्रयोगेन सूच्यते, न जातियोगः। जानश्रुतिः किल पौत्रायणो बहुद्रव्य प्रदो बह्वन्न प्रदश्च बभूव। तस्य धार्मिकाग्रेसरस्य धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चिन्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पिपादयिषतोः हंसरूपेण निशायामस्याविदूरे गच्छतोरन्यतर इतरमुवाच–"भो भो आर्य भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समंदिवा ज्योतिरातंत तत्मा प्रसांक्षीस्तत्वा मा प्रधाक्षीत्' इति। एवं जानश्रुतिः प्रशसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य परोहंस. प्रत्युवाच–"कम्बर एनमेतत् संतं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ" इति। कं सन्तमेनं जानश्रुति सयुग्वानं रैक्वं ब्रह्मज्ञमिव गुणश्रेष्ठमेतदात्थ, स ब्रह्मज्ञो रैक्व एव लोके गुण-

ankurnagpal108@gmail.com

वत्तरः महताधर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य को गुणः, यद्गुणजनितं तेजो रैक्वतेज इव मां दहेदित्यर्थः ।

जो शोक करे उसे शूद्र कहते हैं, "शुचेर्दश्च" इस पाणिनीय सूत्र से, र प्रत्यय होने पर शुच् धातु के उकार को दीर्घ और च के स्थान पर द होने से शूद्र शब्द बनता है । उक्त प्रसंग में शूद्र शब्द से शोकान्वित भाव ही सूचित होता है, जाति संबंध नहीं । पौत्रायण जानश्रुति, बहुद्रव्य और बहुअन्न का प्रसिद्ध दानी था, धार्मिकाग्रगण्य उसकी धर्मचर्या से परितुष्ट कोई दो महात्मा, उसकी ब्रह्मजिज्ञासा, को उद्बुद्ध करने के लिए, हंस रूप धारण करके, रात्रि के समय, यात्रा में उसके साथ चलते हुए इस प्रकार परस्पर वार्त्ता करने लगे--"अरे भल्लाक्ष ! पौत्रायण जानश्रुति का तेज आकाश में चारों ओर फैल रहा है, उसका स्पर्श मत करना, कहीं वह तुम्हें भस्म न कर दे" ऐसी जानश्रुति की प्रशंसा सुनकर दूसरा कहता है--"अरे तू इस राजा में कौन सी विशेषता देखकर ऐसी प्रशंसा कर रहा है, क्या तू इसे गाड़ी वाले रैक्व के बराबर मानता है ?" अर्थात् ब्रह्मज्ञ वह रैक्व जगत में सर्वाधिक गुणवान है, यह जानश्रुति महा धार्मिक होते हुए भी ब्रह्म ज्ञान रहित है, उसमें कौन सा गुण है जिससे कि उसमें रैक्व के समान दाहिका शक्ति आ गई जिससे मुझे दाह होगा ?

एवमुक्तेन परेण क्वोऽसौ रैक्व इति पृष्टः लोके यत्किंचित् साध्वनुष्ठितं कर्म यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञान-कर्मान्तर्भूतम् स रैक्व" इत्याह। तदेतद् हंसवाक्यं ब्रह्मज्ञानविधुरतया आत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तया च रैक्व प्रशंसा रूपं जानश्रुतिरुपश्रुत्य तत्क्षणादेवक्षत्तारं रैक्वान्वेषणाय प्रेष्य तस्मिन्विदित्वा आगते स्वय-मपि रैक्वमुपसद्य गवां षट्शतं निष्कमश्वतरी रथं च रैक्वायोपहृत्य रैक्वं प्रार्थयामास "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवता-मुपास्से" इति त्वदुपास्यां परां देवतां ममानुशाधीत्यर्थः ।

इस प्रकार उस हंस के कहने पर, दूसरे ने पूछा "यह रैक्व कौन है ?" इस पर उस हंस ने बतलाया कि--"इस जगत में जो भी कुछ

ankurnagpal108@gmail.com

उत्कृष्ट कर्म होते हैं तथा समस्त चेतन में जो कुछ ज्ञान निहित है, ये दोनों बातें जिसके ज्ञान और कर्म के अंतर्गत हैं व ी रैक्व है।" ब्रह्मज्ञान के अभाव से अपने निंदापूर्ण तथा ब्रह्मज्ञान के सद्भाव से रैक्व के स्तुति-परक उस हंस के वाक्य को सुनकर जानश्रुति ने तत्काल सारथी को रैक्व को खोजने को भेजा। सारथी, रैक्व को खोज कर आया तब, जानश्रुति स्वयं रैक्व के पास गया, जाकर उसने छः सौ गाय, स्वर्णहार, घोड़ेवाले रथ भेंट कर उनसे प्रार्थना की कि—"भगवन ! आप जिन देवता की उपासना करते हैं उनका मुझे उपदेश दें" अर्थात् अपने उपास्य परादेवता का मुझे भी उपदेश दो।

स च रैक्वः स्वयोगमहिम विदित लोकत्रयो जानुश्रुतेर्ब्रह्मज्ञान विधुरतानिमित्तानारदगर्भहंसवाक्य श्रवणेन शोकाविष्टतां तदनंतर-मेव ब्रह्मजिज्ञायोद्योगं च विदित्वाऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय चिरकाल सेवां बिना द्रव्यप्रदानेन शुश्रूषमाणस्यास्य यावच्छक्ति प्रदानेन ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन् तस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यापिकां शूद्र शब्देनामंत्रणेन ज्ञापयन्नि-दमाह—"अहहारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" इति। सह गोभि-रयं रथस्तवैवास्तु नैतावता मह्यं दत्तेन ब्रह्मजिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः।

अपनी योगशक्ति के प्रभाव से त्रिलोक तत्वज्ञ उस रैक्व ने समझ लिया कि—ब्रह्मज्ञानाभाव और हंसोक्त अनादर वचन श्रवण से जानश्रुति शोकाविष्ट है, इसीलिए यह असूयावश ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए उद्यत है। उसकी ऐसी ब्रह्मजिज्ञासा योग्यता को समझकर कि दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य की साधना के बजाय केवल भेंट द्वारा ही ब्रह्मविद्या ग्राहिका शक्ति आ जावेगी, ऐसा विचार कर अनुग्रह पूर्वक रैक्व ने जानश्रुति से कहा—"अरे शूद्र ! गौओं सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे" अर्थात्—गौ रथ आदि तू ही रख, इनको देने मात्र से ही, शोकाविष्ट ब्रह्म जिज्ञासु तुझमें ब्रह्म विद्या स्थिर नहीं हो सकती।

ankurnagpal108@gmail.com

स च जानश्रुतिर्भूयोऽपि स्वशक्त्यनुगुणमेव गवादिकं धनं कन्यां च प्रदायोपससाद, स रैक्वः पुनरपि तस्य योग्यतामेव ख्यापयन् शूद्र शब्देनामंत्र्याह—"आजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेनाला पयिष्यथाः" इति इमानि धनानि शक्त्यनुगुणान्याजहर्थ, अनेनैव द्वारेण चिरसेवया बिनाऽपि मां त्वदभिलाषितं ब्रह्मोपदेश रूपवाक्यमालापयिष्यतीत्युक्त्वा तस्मा उपदिदेश अतः शूद्रशब्देन विद्योपदेशयोग्यताख्यापनार्थं शोक एवास्य सूचितः न चतुर्थवर्णत्वम् ।

उस जानश्रुति ने और अधिक गौ कन्या आदि लाकर देते हुए ब्रह्मजिज्ञासा की—रैक्व ने उसकी योग्यता को जानने के लिए उसे पुनः शूद्र कहते हुए कहा—"अरे शूद्र। अपनी शक्ति के अनुसार जो गौवें और कन्यायें लाया है इनके द्वारा ही तू मुझसे, बिना चिरन्तन कालीन सेवा के, ब्रह्मोपदेश चाहता है" इतना कह उसे उपदेश दिया। इस प्रसंग के विवेचन से ज्ञात होता है कि—जानश्रुति की विद्योपदेश योग्यता की परीक्षा और असूयायुक्त शोक को सूचित करने के लिए ही उसे शूद्र कहा गया। अंतिमवर्ण का सूचक शूद्र शब्द नही है।

क्षत्रियत्वावगतेश्च ।१।३।३४।।

"बहुदायी" इति दानपतित्वेन "बहुपाक्यः" इत्यादिना" सर्वत एवं एतदन्नमत्स्यति "इत्यन्तेन बहुतरपक्वान्नप्रदायित्व प्रतीते ।" सहसज्जिहान एव क्षत्तारमुवाच" इति क्षत्रियत्व प्रतीतेश्च न चतुर्थवर्णत्वम् ।

"बहुत दान करने वाला" पद से दानशीलता तथा "बहुत अन्न पकाया गया" आदि से लेकर "सब लोग यहीं अन्न खावें" इस पद तक अनेक पक्वान्नों के दान की चर्चा से और "उसने शय्या त्याग करते ही सारथी से कहा" इत्यादि वर्णनों से क्षत्रियत्त्व की प्रतीति होती है, चतुर्थवर्ण शूद्रता की प्रतीति नहीं होती ।

ankurnagpal108@gmail.com

तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्व प्रतीतिरुक्ता, उपसंहार-गताख्यायिकायामपि क्षत्रियत्वमस्य प्रतीयत इत्याह—

उपाख्यान के उपक्रम से तो जानश्रुति का क्षत्रियत्व प्रतीत होता ही है, उपाख्यान के उपसंहार से भी क्षत्रियत्व की प्रतीति होती है-यही बतलाते हैं।

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् ।१।३।३५।।

अस्यजानश्रुतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्तरत्र कीर्त्यमानेनाभिप्रतारिनाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं गम्यते। कथम्? "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनि परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" इत्यादिना "ब्रह्मचा-रिन्नेदमुपास्महे" इत्यंतेन कापेयाभिप्रतारिणोर्भिक्षमाणस्य ब्रह्मचा-रिणश्च संवर्गविद्या संबंधित्वं प्रतीयते। तेषुचाभिप्रतारी क्षत्रियः इतरौ ब्राह्मणौ अतोऽस्यां विद्यायां ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रि-यस्यैवान्वयों दृश्यते, न शूद्रस्य। अतोऽस्यां विद्यायांमन्विताद् रैक्वाद् ब्राह्मणात् अन्यस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम्; न चतुर्थ-वर्णत्वम्।

जानश्रुति के उपदेश प्राप्त हो जाने के बाद, इसी संवर्ग विद्या के अंतिम प्रकरण में चित्ररथवंशज अभिप्रतारि को क्षत्रिय बतलाया गया है, जिससे कि क्षत्रियत्व की प्रतीति होती है। "कापेय शौनक और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी को भोजन परोसते समय ब्रह्मचारी ने भिक्षामांगी" इत्यादि से लेकर "ब्रह्मचारी! हम उसी की उपासना करते हैं" इस अंतिम वाक्य तक कापेय, अभिप्रतारी और ब्रह्मचारी का, संवर्ग विद्या से संबंध प्रतीत होता है। इन तीनों में अभिप्रतारी क्षत्रिय और दो ब्राह्मण थे, इस विद्या में ब्राह्मण और क्षत्रियों का ही संबंध दिखलाया गया है शूद्र का नहीं। इसलिए इस विद्या से सबद्ध रैक्व ब्राह्मण से भिन्न जानश्रुति को भी क्षत्रिय मानना ही युक्तियुक्त है, शूद्रा मानना ठीक नही है।

ankurnagpal108@gmail.com

नन्वस्मिन् प्रकरणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च नं श्रुतम् तत्कथमस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम् ? कथं वा क्षत्रियत्वं ? तत्राह–लिंगात् इति । "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम्" इत्यभिप्रतारिण: कापेयसाहचर्यल्लिंगादस्याभि प्रतारिण: कापेय संबंध: प्रतीयते । अन्यत्र च "एतेन वैचैत्ररथं कापेया अयाजयन्" इति कापेयसंबंधिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते, तथा चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं–"तस्माच्चैरथोनामैक: क्षत्रपतिरजायत्" इति। अतोऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च गम्यते ।

प्रश्न होता है कि–इस प्रकरण में अभिप्रतारी का चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व, स्पष्ट रूप से तो कहा नहीं गया, फिर यह कैसे जाना कि वह चित्ररथवंशज क्षत्रिय था ? कहते हैं कि–चिन्ह से ही ज्ञात होता है। "एक बार कापेय शौनक और काक्षसेनि अभिप्रतारी" इत्यादि वाक्य में कापेय के साथ अभिप्रतारी का वर्णन किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि अभिप्रतारी भी किसी गोत्र से संबद्ध था। अन्यत्र "कापेय इसके द्वारा ही चैत्ररथ को यज्ञ कराते हैं" इत्यादि में भी कापेय और चैत्ररथ का संबंध दिखलाया गया है, तथा–"चैत्ररथ नाम का एक क्षत्रपति था" इत्यादि से चैत्ररथ का क्षत्रियत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। इन सभी वर्णनों से अभिप्रतारी का चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व ज्ञात होता है।

तदेवं न्यायविरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिंगं नोपलभ्यत इत्युक्तम्, इदानीं न्याय सिद्ध: शूद्रस्यानधिकार: श्रुतिस्मृतिभिरनुगृह्यत, इत्याह––

युक्ति विरुद्ध शूद्राधिकार विषयक कोई प्रमाण नहीं है यह दिखलाया गया। शूद्रा का अनधिकार युक्तिसम्मत तथा श्रुति स्मृति अनुमोदित है, यही बतलाते हैं–

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६॥

ब्रह्मविद्योपदेशेषूपनयनसंस्कार: परामृश्यते–"उप त्वानेष्ये" "तं ह्योपनिन्ये" इत्यादिषु। शूद्रस्य चोपनयनादिसंस्काराभावोऽ-

ankurnagpal108@gmail.com

भिलप्यते-"न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति"-चतुर्थोवर्णं एकजातिर्न च संस्कारमर्हति" इत्यादिषु।

जहाँ ब्रह्मविद्योपदेश प्रकरणों में उपनयन संस्कार के विषय में "तुझे उपनीत करता हूँ" उसे उपनीत किया "ऐसा विचार किया गया हैं वही शूद्र के लिए उपनयन का अनधिकार भी बतलाया गया है-" शूद्र को किसी प्रकार का पाप नही लगता और न वह किसी संस्कार के योग्य ही है "चौथा वर्ण ही एक ऐसी जाति है जिसे सस्कार की आवश्यकता नही है" इत्यादि।

तदभाव निर्धारणे च प्रवृत्तेः ।१।३।३७।।

"नैतद ब्राह्मणो विवक्तु मर्हति समिधं सोम्याहर" इति शुश्रूणो जाबालस्य शूद्रत्वाभाव निर्धारणे सत्येव विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्याधिकारः।

"ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नही कर सकता इसलिए सौम्य ! तू समिधा ले आ" ऐसे शुश्रूषु जावालि के शूद्रत्व के अभाव को भली भाँति जानकर ही गौतम विद्योपदेश में प्रवृत्त हुए। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि-शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् ।१।३।३८।।

शूद्रस्य वेद श्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यंते- "पद्युहवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"-तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीय" इति। बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः। अनुपश्रृण्वतो अध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानानि न संभवंति, अतस्तान्यपि प्रतिसिद्धात्येव।

शूद्र को, वेद श्रवण, अध्ययन और वैदिक अनुष्ठानों का प्रतिषेध किया गया है-जैसे कि-"शूद्र चलता फिरता श्मशान है इसलिए उसके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए" शूद्र पशुतुल्य ही है यज्ञ के योग्य

ankurnagpal108@gmail.com

नहीं हैं" इत्यादि। जिसके लिए वेद श्रवण तक विहित नहीं है, उसके लिए वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान और वेदानुष्ठान आदि तो कभी संभव ही नहीं हैं। इसलिए वे सब भी उसके लिए प्रतिषिद्ध ही हैं।

स्मृतेश्च ।१।३।३६।।

स्मर्यंते च श्रवणादि निषेधः "अथ हास्यवेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुज-तुभ्यां श्रोत्रप्रातिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" इति। "न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" इति च। अतः शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम्।

श्रवण आदि का निषेध स्मृति में भी जैसे—"वेद सुनने वाले शूद्र के कानों को गर्म लोह और शीशे से पूर्ण करो, वेदपाठ करने पर जीभ काट लो, याद कर लेने पर शरीर काट दो" इत्यादि। "इसे धर्म का उपदेश मत दो, न व्रतानुष्ठान का ही उपदेश दो"। इत्यादि से शूद्र का अनधिकार सिद्ध होता है।

ये तु निर्विशेषचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थः, अन्यत् सर्वंमिथ्याभूतम् बंधश्चापारमार्थिकः, स च वाक्यजन्यवस्तुयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यः, तन्निवृत्तिरेवमोक्षः इति वदंति, तै ब्रह्मज्ञाने शूद्रादेरनधिकारो वक्तं न शक्यते। अनुपनीतस्य अनधीतवेदस्याश्रुतवेदांतवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थोऽन्यत्सर्वम् तस्मिन् परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानो-त्पत्तेः, तावतैव बंधनिवृत्तेश्च।

(शांकरमत निरसन) जो लोग निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को ही सत्य और सबको मिथ्या तथा देहादिबंधन को असत्य और तत्त्वमसि आदि वाक्य जन्य ज्ञान से बंधन की निवृति तथा उस निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं वे तो शूद्रों के वेदों के अनधिकार की बात कह ही नहीं सकते। उनके उक्त मत के अनुसार तो, अनुपनीत—वेदाध्ययन रहित—वेदांतवाक्यों से अपरिचित जिस किसी भी व्यक्ति को "निर्विशेष चिन्मात्र

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब कुछ मिथ्या है" इस वाक्य से ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाना चाहिए और उतने ज्ञान मात्र से ही बंधमुक्ति भी हो जानी चाहिए।

न च तत्त्वमस्यादि वाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यांतरेणेति नियंतुंशक्यम्, ज्ञानस्यापुरुषतंत्रत्वात् सत्यां सामग्रयामनिच्छितोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः। न च वेदवाक्यादेव वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति बंधनिवृत्तिर्भवतीति शक्यंवक्तुम्, येन केनापि वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति भ्रांतिनिवृत्तेः पौरुषेयादपि निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत् सर्वं मिथ्याभूतम् इति वाक्यात् ज्ञानोत्पत्तेस्तावतैव भ्रम निवृत्तिश्च। यथा पौरुषेयादप्याप्तवाक्याच्छुक्तिकारजतादि भ्रांति ब्राह्मणस्य शूद्रादेरपि त्रिवर्त्तते, तद्वदेवशूद्रस्यापि वेदवित् संप्रदायागतवाक्यात् वस्तुयाथात्म्यज्ञाने जगद् भ्रम निवृत्तिरपि भविष्यति।

ये भी नहीं कह सकते कि केवल "तत्त्वमसि" वाक्य से ही ज्ञानोत्पत्ति होती है, अन्य वाक्यों से नहीं हो सकती। सो भाई, ज्ञान कभी ज्ञाता पुरुष के अधीन तो नहीं रहता; प्रायः ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री की उपस्थिति में भी ज्ञान नहीं होता, और ज्ञानेच्छा न रहते हुए भी ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है।

और ये भी नहीं कह सकते कि—वेदवाक्य से ही यथार्थज्ञान हो जाने पर बंधन मुक्ति होती है; प्रायः देखा जाता है कि जिस किसी प्रकार से यथार्थ ज्ञान हो जाने से भी भ्रांति निवृत्त हो जाती हैं। किसी महान पुरुष के द्वारा "निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब कुछ मिथ्या है" इस वाक्य के उपदेश से ही ज्ञानोत्पत्ति और भ्रम निवृत्ति हो सकती है। जैसे कि—किसी प्रामाणिक आप्त पुरुष के द्वारा, निवृत्त की गई, सीप में हुई चाँदी की भ्रांति, ब्राह्मण और शूद्र दोनों के लिए समान है, वैसे ही वैदिक संप्रदाय के ज्ञाता विद्वान् पंडित के उपदेशात्मक वाक्य से, शूद्र को भी, वस्तु का यथार्थ ज्ञान और जगत् की भ्रमात्मक निवृत्ति भी हो सकती है।

ankurnagpal108@gmail.com

"न चास्योपदिशेद्धर्मंम्" इत्यादिना वेदविदः शूद्रादिभ्यो न वदंतीति च न शक्यं वक्तुम्, तत्त्वमस्यादि वाक्यावगत ब्रह्मात्मभावानां वेदशिरसि वर्त्तमानतया दग्धाखिलाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिंकरत्वाभावात् अतिक्रांतनिषेधैर्वा कैश्चिदुक्ताद्वाक्यात् शूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव।

आप यह भी नहीं कह सकते कि–"न चास्योपदिशेद्धर्मम्" इत्यादि वाक्यों से, वेदवेत्ता शूद्रों को उपदेश देने का विरोध करते है; क्यों कि– जिन्हें "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से ब्रह्मात्मभाव का परिज्ञान हो गया है, वे तो वेदों से भी अतीत स्थिति को प्राप्त कर चुके, उनके तो सारे ही कर्म बन्धन दग्ध हो चुके, वे तो शास्त्रीय निषेध के दास हो नहीं सकते वे तो निषेध का अतिक्रमण करके शूद्र को तत्त्वोपदेश देंगे, शूद्र को तो ज्ञान हो ही जायगा।

न च वाक्यं शुक्तिकादौ रजतादिभ्रम निवृत्तिवत् पौरुषेय वाक्य जन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्त्तत इति, तत्त्वमस्यादि वाक्य श्रवण समनन्तरं ब्राह्मणस्यापि जगद्भ्रमानिवृत्तेः। निदिध्यासनेन द्वैतवासनायां निरस्तयामेव तत्त्वमस्यादि वाक्यं निवर्त्तकज्ञानमुत्पादयतीति चेत्–पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रोदस्तथैवेति न कश्चिद् विशेषः। निदिध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मत्वभावाभिधायि वाक्यं यदर्थप्रतिपादन योग्यं तदर्थभावना, सैव विपरीतवासनां निवर्त्तयतीति दृष्टार्थत्वं निदिध्यासनविधेब्रूषे, वेदानुवचनादीन्यपि विविदिषोत्पत्तावेवोपयुज्यन्ते इति शूद्रस्यापि विविदिषायां जातायां पौरुषेय वाक्यान्निदिध्यासनादिभिर्विपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते, तेनैव अपारमार्थिको बन्धो निवर्त्तिष्यते, अथवा तर्कानुग्रहीतात् प्रत्यक्षादनुमानाच्च निर्विशेष स्वप्रकाशचिन्मात्र प्रत्यग्वस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतविविधविचित्र

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञातृज्ञेयविकल्परूपं कृत्स्नं जगच्चाध्यस्तमिति निश्चित्यैवम्भूतं-परिशुद्ध प्रत्यग्वस्तुन्यनवरतभावनया विपरीतवासनां निरस्य तदेव प्रत्यग्वस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्ष्यन्त इति मिथ्याभूत-विचित्रैवश्वर्यं विचित्रसृष्ट्याद्यलौकिकानंतविशेषावलम्बिना वेदांत वाक्येन न किंचित् प्रयोजनमिह दृश्यत इति शूद्रादीनामेव ब्रह्म-विद्यायामधिकारः सुशोभनः। अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीनामपि ब्रह्मवेदनसिद्धेरुपनिषच्च तपस्विनी दत्तजलांजलिः स्यात्।

आप यह नहीं कह सकते कि—सीप आदि में, रजतभ्रमनिवृत्ति की तरह, विद्वान् पुरुष के उपदेशात्मक वाक्य से शूद्र का जगद्भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता, ठीक है—तत्त्वमसि वाक्य श्रवण के बाद बहुत से ब्राह्मणों की भी तो भ्रमनिवृत्ति नही होती। यदि कहें कि–निदिध्यासन से द्वैतवासना के निरस्त हो जाने पर ही निवर्त्तक ज्ञान होता है; सो यह नियम तो उपदेशात्मक वाक्य में शूद्रों के लिए भी लागू हो सकता है, कोई ब्राह्मण के लिए ही तो निदिध्यासन का विशेष नियम है नहीं। तत्त्व के प्रतिपादन में समर्थ ब्रह्मात्मभाव बोधक वाक्य विषयक भावना (चिन्तन के प्रवाह) को ही तो निदिध्यासन कहते हैं, यह भावना ही तो तद्विषयक विपरीत वासना की निवृत्ति करती है, यही निदिध्यासन का फल है। वेदानुशीलन को भी ज्ञानेच्छा उत्पादन का, उपयोगी कहा जाता है। इसी प्रकार महापुरुष के उपदेश वाक्य से ज्ञानेच्छा होने पर निदि-ध्यासनादि द्वारा विपरीत संस्कार के निवृत्त हो जाने पर शूद्र को भी तत्त्वज्ञान हो जायगा और उसी से असत् बंधन की भी निवृत्ति हो जायगी। अथवा आपके मतानुसार यह भी तो संभव है कि–जो निर्विशेष और स्वप्रकाश चैतन्यमय परमात्मा से बहुबिध विचित्रतापूर्ण ज्ञातृ ज्ञेय कल्पनात्मक समस्त जगत समारोपित है, तर्क सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की सहायता से ज्ञानार्जन करके, शुद्ध चैतन्य परमात्मा की निरन्तर भावना करके, जगत सत्यता के उस भ्रांत संस्कार का निराकरण करके, सर्वव्यापी प्रत्यक्ष चैतन्य का साक्षात्कार करके, शूद्र आदि भी मुक्तिलाभ कर सकते हैं। मिथ्याभूत विचित्र ऐश्वर्य और विचित्र सृष्टि

ankurnagpal108@gmail.com

आदि अनंत अलौकिक विशेषावगाही वेदांत वाक्य का यहाँ कोई प्रयोजन तो दीखता नही उक्त प्रकार से ही शूद्रादि का ब्रह्मविद्या में अधिकार समधिक शोभित होता है। ब्राह्मणादि को भी उक्त नियम से ही, ब्रह्मज्ञान सिद्धि संभावना के लिए तपस्विनी उपनिषद् देवी को जलांजलि देनी होगी।

न च वाच्यं नैसर्गिक लोक व्यवहारे भ्राम्यतोऽस्य केनचिदयं लौकिकव्यवहारोभ्रमः, परमार्थस्त्वेवमिति समर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्त बुभुत्सा जायत इति तत्समर्पिका श्रुतिरप्यास्थेयेति, यतो भवभयभीतानां सांख्यादय एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षानुवृत्तबुभुत्सां जनयंति बुभुत्सायां च जातायां प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव विविक्तस्वभावाभ्यां नित्यशुद्धस्वप्रकाशाद्वितीयकूटस्थ चैतन्यमेव सत्, अन्यत्सर्वं तस्मिन्नध्यस्तमिति सुविवेचनम्। एवंभूते स्वप्रकाशिनि वस्तुनि श्रुति समधिगम्यं विशेषांतरं च नाभ्युपगम्यते—

आप यह भी नहीं कह सकते कि—लोक अनादि काल से स्वाभाविक लौकिक व्यवहार में विभ्रान्त है, "यह समस्त लौकिक व्यवहार भ्रमात्मक है, परमार्थ वस्तु अमुक है" किसी सुबुद्ध व्यक्ति के द्वारा ऐसा बतलाने पर ही, इस लोक में प्रत्यक्ष और अनुमानावगत बुभुत्सा (बोधेच्छा) उत्पन हो सकती है, इसलिए तदनुकूल श्रुति का आश्रय लेना आवश्यक है।

इस प्रकार तो निरीश्वरवादी सांख्य आदि भी, भव भयभीत प्राणियों में, प्रन्यक्ष और अनुमान की सहायता से वस्तु का निरूपण करते हुए, प्रत्यक्षानुमान विषयक व्यावहारिक बुभुत्सा जाग्रत करते है। उस बुभुत्सा के जागरित होने पर तो, निर्दोष प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से, नित्यशुद्ध स्वप्रकाश अद्वितीय चैतन्य कूटस्थ ही सत्, और बाकी सब उसी से अध्यस्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार स्वप्रकाश वस्तु में, अन्यान्य श्रौत धर्म भी स्वीकृत नहीं होते क्यों कि—आपके मतानुसार श्रुति तो एकमात्र, अध्यस्त मिथ्या रूप का ही निर्वर्त्तन करती है।

ankurnagpal108@gmail.com

न च सत आत्मन आनंदरूपताज्ञानायोपनिषदास्थेया चिद्रूपताया एव सकलेतरा तद्रूपव्यावृत्ताया आनंदरूपत्वात् । यस्य तु मोक्षसाधनतया वेदांतवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपासनरूपं, तच्च परब्रह्मभूत परमपुरुष प्रीणनम्, तच्चशास्त्रैक समधिगम्यम् । उपासन शास्त्रं चोपनयनादि संस्कृताधीत स्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकविमोकादिसाधनानुगृहीतमेव स्वोपायतया स्वीकरोति, एवं रूपोपासनप्रीत. पुरुषोत्तम, उपासक स्वाभाविकात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाशयम् बंधान् मोचयतोति पक्षः तस्ययथोक्तया नीत्या शूद्रादेरनधिकार उपपद्यते ।

सत् स्वरूप आत्मा के आनंदरूप ज्ञान के लिए, उपनिषदों का आश्रय लिया ही जावे, यह भी कोई आवश्यक नहीं है । क्यों कि–मिथ्याभूत अन्यान्य समस्त पदार्थों से पृथक् जो चैतन्य है, वस्तुतः आनदरूप ही तो उसका स्वाभाविक रूप है । जो लोग, वेदांतविहित उपासना रूप ज्ञान को मोक्ष का साधन मानते हैं तथा परब्रह्म परंपुरुष भगवान की साक्षात् कृपा की कामना से ही उपासना में सलग्न रहते हैं जो कि–एकमात्र शास्त्र सम्मत ही होती है । उपासना प्रतिपादक शास्त्र उपनयन आदि संस्कारों से संस्कृत, वेदाधीत, विवेक विमोक आदि साधनों से परिपोषित व्यक्ति के ज्ञान को ही, मोक्षोपाय रूप से स्वीकारता है । ऐसी उपासना से परितुष्ट पुरुषोत्तम ही (गुरुरूप से) उपासक को, स्वाभाविक स्वकीय यथार्थ ज्ञान का दान देकर, कर्मजनित अज्ञान का संहार कर बंधन से मुक्त करते हैं । ऐसे मत में ही, यथार्थ रूप से शूद्र का अनधिकार माना जा सकता है ।

प्रमिताधिकरण शेष :—

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्ताधिकारकथां परिसमाप्य प्रकृतस्य अंगुष्ठ प्रमितस्य भूतभव्येशितृत्वावगत परब्रह्म भावोत्तंभनं हेत्वंतरमाह—

इस प्रकार प्रासंगिक अधिकार विचार को समाप्त कर अब पुनः प्रस्तावित अंगुष्ठ परिमित के भूतभविष्य के स्वामित्व को बतलाने वाले ब्रह्मभाव के समर्थक अन्य कारणों का उल्लेख करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

कम्पनात् ।१।३।४०॥

"अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा "इत्यनयोर्वाक्ययोर्मध्ये" यदिदं किंच् जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति। भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।" इति कृत्स्नस्य जगतोऽग्निसूर्यादीनां चास्मिन्नंगुष्ठ मात्रे पुरुषे प्राणशब्द निर्दिष्टे स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्संजातमहाभयनिमित्तं एजनंकम्पनं श्रूयते । तच्छासनातिवृत्तौ किं भविष्यतीति, महतो भयाद् वज्राद् इवोद्यतात् कृत्स्नं जगत् कंपत् इत्यर्थः । "भयादस्याग्निस्तपति" इत्यनेनैकार्थ्यात् "महद्भयं वज्रमुद्यतम्" इतिपंचम्यर्थे प्रथमा । अयं च परस्यब्रह्मणस्स्वभावः "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः" इति परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्यैवं विधैश्वर्यावगतेः ।

"अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष शरीर के मध्य के हृदयाकाश में स्थित है "अंगुष्ट मात्र पुरुष अंतरात्मा है" इन दोनों वाक्यों के मध्य में ही—"परब्रह्म परमेश्वर से उत्पन्न यह सारा जगत, उस प्राण स्वरूप परमेश्वर में ही चेष्टा करता है, इस उठे हुए वज्र के समान महान् भय स्वरूप परमेश्वर को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, उसी भय से अग्नितपता है, सूर्यतपता है, इसी के भय से इन्द्र, वायु और पांचवे देवता मृत्यु अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं।" इत्यादि वर्णन भी मिलता है जिसका तात्पर्य है कि—समस्त जगत अग्नि सूर्यादि सहित, प्राण शब्द निर्दिष्ट इस अंगुष्ठ परिमाण पुरुष में ही स्थित हैं और उसी से प्रकट होकर उसके ही संयमन में, भयभीत होकर संसार कर्म को नियमित रूप से कर रहे हैं। इसमें जो भय से कपित होने वाली बात लिखी है, उसका

ankurnagpal108@gmail.com

तात्पर्य है कि–उसका शासन का अतिक्रमण करने पर अनिष्ट होगा, इस महान् भय से उठे हुए वज्र के समान उससे सारा जगत कांपता है।

"भयादग्निस्तपति" का जो अर्थ है वही "महद्भयं" इत्यादि का भी है, द्वितीय वाक्य मे पंचमी अर्थ की द्योतिका प्रथमा विभक्ति है। उक्त परब्रह्म के स्वभाव को–"हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चंद्र स्थित हैं, इसके भय से वायु डोलता है, सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि-चंद्र और पांचवा मृत्यु कार्य में संलग्न है" इत्यादि परब्रह्म पुरुषोत्तम के ऐश्वर्य बोधक वाक्यों से भी जाना जा सकता है।

इतश्चांगुष्ठ प्रमितः पुरुषोत्तमः—

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४१॥

तयोरेवांगुष्ठ प्रमितविषययोर्वाक्ययोर्मध्ये परब्रह्मसाधारणं सर्वं तेजसां छादकं सर्वतेजसां कारणभूतमनुग्राहकं चांगुष्ठ प्रमितस्य ज्योतिर्दृश्यते–"न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमाविद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनु भातिसर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति" इति। अयमेवश्लोक अथर्वणे परंब्रह्माधिकृत्यश्रूयते। पर ज्योतिष्ट्वं च सर्वत्रपरस्य ब्रह्मणः श्रूयते। यथा–"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"–तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्–"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादिषु। अतो अंगुष्ठ प्रमितः परं ब्रह्म।

उन दोनों अंगुष्ठ प्रमित विषयक दोनों वाक्यों के बीच में परब्रह्म के असाधारण धर्म सर्वतेजोभिभावक एवं समस्त तेजों के कारण अनुग्राहक ज्योतिष रूप का जो वर्णन मिलता है, अंगुष्ठ प्रमित के लिए भी वैसी ही ज्योति का वर्णन मिलता है–"वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चंद्रमा न तारों का समुदाय ही न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, इस अग्नि की तो गणना ही क्या है; उसके प्रकाशित होने पर ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह संपूर्ण जगत प्रकाशित होता है" यही श्लोक अथर्वण उपनिषद् में परब्रह्म के लिए कहा गया है,

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्म के लिए ही सर्वत्र परंज्योति स्वरूप का प्रयोग किया गया है, जैसे कि—"परं ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है" देवगण, उन्हें ज्योतियों की ज्योति, अमृत और वायु रूप से उपासना करते हैं "ये जो द्युलोक से ऊपर ज्योति प्रकाशित हो रही है।" इत्यादि, इससे सिद्ध होता है कि-अंगुष्ठ प्रमित परमात्मा ही है।

१० अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण :—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४२॥

छांदोग्ये श्रूयते—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इति। तत्र संशयः किमया-माकाश शब्द निर्दिष्टो मुक्तात्मा, उत परमात्मा—इति किं युक्तम्? मुक्तात्मेति, कुतः? "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि-संभवामि" इति मुक्तस्यानंतर प्रकृतत्वात् "ते यदंतरा" इति च नामरूपविनिर्मुक्तस्य तस्याभिधानात् "नामरूपयोर्निर्वहिता" इति च स एव पूर्वावस्थयोपलिलक्षयिषतः स एव हि देवादि रूपाणि नामानि च पूर्वमबिभः, तस्यैव नामरूपविनिर्मुक्ता सांप्रतिक्यवस्था "तद्ब्रह्म तदमृतम्" इत्युच्यते आकाशशब्दश्च तस्मिन्नप्यसंकुचित प्रकाशयोगादुपपद्यते। ननु दहर वाक्यशेषत्वादस्य स एव दहरा-काशोऽयमिति प्रतीयते, तस्य च परमात्मत्वं निर्णीतम्।मैवं, प्रजा-पति वाक्य व्यवधानात्। प्रजापति वाक्ये च प्रत्यगात्मनो मुक्त्यवस्थान्तं रूपमभिहितम्, अनन्तरं च "विधूय पापम्" इति स एव मुक्तावस्था प्रस्तुतः। अतोऽत्राकाशो मुक्तात्मा।

छांदोग्योपनिषद का वाक्य है—"आकाश ही नाम और रूप का निर्वाहक है, ये नामरूप जिसके अन्तर्यामी हैं, वही ब्रह्म, वही अमृत

ankurnagpal108@gmail.com

वही आत्मा है" इत्यादि। इस पर संशय होता है कि—आकाश शब्द निर्दिष्ट मुक्तात्मा है या परमात्मा ? कह सकते हैं कि मुक्तात्मा, क्यों कि "जैसे कि घोड़ा रोंए झाड़कर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों को धोकर, राहु के मुख से निकले चन्द्रमा के समान शरीर त्याग कर कृतकृत्य हो, नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ" ऐसा मुक्तात्मा का वर्णन मिलता है। "वह नाम और गुण उसके अन्तर्गत हैं" इस वाक्य में नाम रूप से मुक्त उसका वर्णन प्रतीत होता है "वह नाम रूप का निर्वाहक है" इस वाक्य में भी, इसी की, सृष्टि की पूर्व स्थिति का वर्णन किया गया है। उसने ही पहिले देवादि रूपों में बहुत से नाम धारण किये, वही ब्रह्म, वही अमृत है" इस वाक्य में भी उसी की नाम रूप रहित अवस्था का वर्णन है। अव्याहृत प्रकाश से संबद्ध होने से, उसे ही आकाश कहा गया है।

यह प्रकरण दहर वाक्य का शेषांश है इसलिए यह वर्णन दहराकाश का ही प्रतीत होता है, दहराकाश परमात्मा ही है, यह निर्णय कर ही चुके हैं, इसलिए यह परमात्मा का वर्णन है, इत्यादि शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि दहर प्रकरण और इस प्रकरण के मध्य में प्रजापति वाक्य का व्यवधान है। प्रजापति वाक्य में जीवात्मा की मुक्तावस्था का ही वर्णन है, उसके बाद ही "पापों को धोकर" वाक्य भी मुक्तात्मा का ही बोधक है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा ही आकाश है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्त उच्यते—आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् इति आकाशः परब्रह्म, कुतः ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। अर्थान्तर व्यपदेशस्तावत्—"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" इति नामरूपयोः निर्वोढृत्वं बद्धमुक्तोभयावस्थात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वमाकाशस्योपपादयति। बद्धावस्थः स्वयं कर्मवशान्नामरूपे भजमानो न नामरूपे निर्वोढु शक्नुयात्, मुक्तावस्थस्य जगद्व्यापारासंभवात् न नितरां नामरूपनिर्वोढृत्वम्। ईश्वरस्य तु सकल जगन्निर्माण धुरंधरस्य नामरूपयोः निर्वोढृत्वम् श्रुत्यैव प्रतिपन्नम्—"अनेन

ankurnagpal108@gmail.com

जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"–यः सर्वज्ञः सर्व-विद्यस्य ज्ञानमयंतपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते–"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यादिषु। अतो निर्वाह्यनामरूपात्प्रत्यगात्मनो नामरूपयोनिर्वो-ढाऽयमाकाशोऽर्थान्तरभूतः परमेव ब्रह्म। तदेवोपपादयति "ते यदंतरा" इति। यस्मादयमाकाशो नामरूपे अन्तरा–ताभ्यां अस्पृष्टोऽर्थान्तर-भूतः, तस्मात्तयोर्निर्वोढा अपहतपाप्मत्वात् सत्यसंकल्पत्वाच्च निर्व-हितेत्यर्थः। आदिशब्देन ब्रह्मत्वात्मत्वामृतत्वानि गृह्यंते। निरुपाधिक-वृहत्वादयो हि परमात्मन एव संभवंति, तेनात्राकाशः परमेव ब्रह्म।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "आकाशोऽर्थान्तर" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उनके मत से आकाश, परब्रह्म है, क्यों कि उपनिषदों में इसी अर्थ में आकाश शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि–"आकाश नाम रूप का निर्वाहक है" इत्यादि जिसे निर्वाहिका शक्ति की चर्चा की गई है, वही बद्धमुक्त उभय अवस्था वाले जीवात्मा से पार्थक्य बतलाती है। बद्ध अवस्था वाला जीव, कर्मों के वश होकर स्वयं ही नाम और रूप का अनुसरण करता है इसलिए वह तो निर्वाहक हो नहीं सकता। मुक्त अवस्था वाले जीव में जागतिक व्यवहार होता नहीं, इसलिए वह भी, नाम रूप का निर्वाहक नहीं हो सकता। सारे विश्व के निर्माण में पटु ईश्वर की नामरूप निर्वाकता शास्त्र प्रसिद्ध है–जैसे कि–"इस जीव में प्रवेश कर नामरूप का व्यवहार करूँगा"—सर्वज्ञ, सर्वविद्, ज्ञानमय तप वाले उस परमेश्वर से ही यह विराट जगत और नाम रूप तथा अन्न की उत्पत्ति हुई—"धीर परमेश्वर, समस्त रूप का विस्तार कर उनका नामकरण करके, उन्हीं नामों को व्यवहृत करते हुए स्थित हैं" इत्यादि से सिद्ध होता है कि–नाम रूप का निर्वाहक आकाश, अपने कार्यभूत नामरूप संपन्न जीवात्मा से भिन्न, परब्रह्म ही है। उसी का प्रतिपादन "ते यदन्तरा" इत्यादि वाक्य में किया गया है, उसमें बतलाया गया है कि–यह आकाश, नामरूप से अस्पृष्ट पृथक् पदार्थ है, इसीलिए वह नामरूप का निर्वाहक है, अर्थात् वह निष्पापता और सत्यसंकल्पता को

ankurnagpal108@gmail.com

चरितार्थ करने के लिए, नामरूप का निर्वाह करता है। सूत्र में प्रयुक्त आदि शब्द का तात्पर्य है-ब्रह्मत्व आत्मत्व और अमृतत्त्व। अहैतुक महानता आदि गुण परमात्मा में ही संभव हैं इसलिए इस प्रकरण का उपदिष्ट आकाश तत्त्व, परब्रह्म का ही रूप है।

यत् पुनरुक्तं "धूत्वा शरीरम्" इति मुक्तोऽनंतर प्रकृत. इति तन्न, 'ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इति परस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तर प्रकृतत्वात्। यद्यप्यभिसंभवितुर्मुक्तस्याभिसंभाव्यतया परं ब्रह्मनिर्दिष्टम्, तथाप्यभिसंभवितुर्मुक्तस्य नामरूपनिर्वोढृत्वाद्यसंभावादभिसंभाव्यं परमेव ब्रह्म तत्र प्रत्येतव्यम्।

"धूत्वाशरीरम्" यह परवर्त्ती वाक्य, मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा के लिए कहा गया है, यह कथन भी असगत है, "ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊँगा" यह वाक्य, उपर्युक्त वाक्य के ठीक बाद का जो कि परमात्मा के लिए कहा गया है। यद्यपि, ब्रह्मभाव लब्ध मुक्तपुरुष का प्राप्य रूप परब्रह्म ही कहा गया है, तथापि, उस ब्रह्मभाव लब्ध मुक्त पुरुष मे जब, नाम रूप निर्वाकत्व है नहीं, तो अभिसद्भाव्य परमात्मा को ही निर्वाहक मानना पड़ेगा।

किं च आकाश शब्देन प्रकृतस्य दहराकाशस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात् प्रजापतिवाक्यस्याप्युपासक स्वरूप कथनार्थत्वादुपास्य एव दहराकाशः प्राप्यतयोपसंह्रियत इति युक्तम्। आकाश शब्दश्च प्रत्यगात्मनि न कश्चिद् दृष्टचरः। अतोऽत्राकाशः परंब्रह्म।

उक्त प्रकरण में, आकाश शब्द से प्रस्तावित दहराकाश ही निर्दिष्ट है, मध्यवर्त्ती प्रजापति वाक्य का तात्पर्य, उपासक के स्वरूप का कथन मात्र है, इस जगह उपास्य रूप से दहराकाश को ही प्राप्य बतलाकर उपसंहार किया गया है, यही मानना युक्ति सगत है। आकाश शब्द का, जीवात्मा के लिए कहीं भी प्रयोग दिखलाई नही देता। इसलिए निश्चित होता है कि उक्त प्रकरण में आकाश शब्द, परब्रह्म का ही वाचक है।

ankurnagpal108@gmail.com

अथस्यात्–प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्मान्तरमेव, नास्ति, ऐक्योपदेशात् द्वैत प्रतिषेधाच्च। शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा, परमात्मा परंब्रह्म परमेश्वर इति च व्यपदिश्यते, अतः प्रकृतान्मुक्तात्मनोऽभिसंभवितुर्नार्थान्तरमभिसम्भाव्यो ब्रह्मलोकः अतोनामरूपयोर्निर्विहिता आकाशोऽपि स एव भवितुमर्हति-इति। अत उत्तरं पठति–

श्रुति वाक्यों के अद्वैत वर्णन और द्वैत के प्रतिषेध से ज्ञात होता है कि–जीवात्मा से पृथक् किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है, शुद्ध अवस्था वाला जीवात्मा ही, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर आदि नामों से उल्लेख्य है अभिसद्भविता (ब्रह्मभाव प्राप्त) मुक्तात्मा से अभिसद्भाव्य (प्राप्य) ब्रह्मलोक कोई भिन्न वस्तु नहीं है, इसलिए नाम रूप का निर्वाहक आकाश भी जीवात्मा ही है। इस भ्रांति का उत्तर सूत्रकार देते हैं––

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४३।।

व्यपदेशादिति वर्त्तते, सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्माऽस्त्येव। तथाहि–बाजसनेयके–"कतम आत्मायोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनः सुषुप्त्यवस्थायामकिंचिद्ज्ञस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिष्वंग आम्नायते–"प्राज्ञेनात्मनासंपरिष्वक्तो न वाह्यं वेद नान्तरम्" इति। तथोत्क्रांतावपि–"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति" इति। न च स्वपत उत्क्रामतो वा किंचिद् ज्ञस्य तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सतापरिष्वंगान्वारोहौ संभवतः न च क्षेत्रज्ञान्तरेण तस्यापि सर्वज्ञत्वासंभवात्।

जीवात्मा के लिए सुषुप्ति और उत्क्रांति इन दो अवस्थाओं का वर्णन मिलता है, जिससे, जीवात्मा–परमात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है, इसलिए जीव से भिन्न परमात्मा नामक कोई तत्त्व है यह मानना

ankurnagpal108@gmail.com

होगा। जैसा कि–वाजसनेय उपनिषद् में—"आत्मा कौन है ? जो कि—प्राणों के मध्य में विज्ञानमय नामवाला है" इत्यादि उपक्रम के बाद, सामान्य अज्ञ जीवात्मा का सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ परमात्मा से मिलन बतलाया गया है जैसे कि–"प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर वाह्याभ्यंतर ज्ञान से शून्य हो जाता है।" तथा उत्क्रान्ति में भी जैसे–"प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर (जीव) शरीर त्याग कर जाता है।" इन दोनों वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि–जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं, एक नही है, एक ही वस्तु में अज्ञता और प्राज्ञता, एकीभाव और प्रतिष्ठान आदि विलक्षणतायें सभव नहीं हैं और न क्षेत्रज्ञ जीवात्मा का साहचर्य ही संभव हैं क्योंकि–उसमें सर्वज्ञता का अभाव है।

इतश्च प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याह—

इसलिए भी जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न बतलाया जाता है कि—

पत्यादिशब्देभ्यः :१।३।४४॥

अयं परिष्वंजकः परमात्मा उत्तरत्र पत्यादिशब्दैः व्यपदिश्यते 'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः स न साधुनाकर्मणा भूयान्नो एव असाधुना कनीयान्, एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालन एष सेतुः विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय, तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजंति"–"स वा एष महानज आत्माऽन्नादोवसुदानः"–अजरोऽमृतोऽभयोब्रह्म" इति एते च पतित्व जगद्विधरणत्व सर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थेऽपि न कथचिद् संभवंति। अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तरभूतो नामरूपयोर्निर्विहिता आकाश.। ऐक्योपदेशस्तु सर्वस्य चिदाचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वायत्त इति "सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्जलान" इत्यादिभिर्वाक्यैः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेव समर्थितम्। द्वैत प्रतिषेधश्च तत एषेत्यनवद्यम्।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त प्रकरण के उत्तर भाग में, जीवात्मा से परिष्वक्त होने वाले परमात्मा को पति आदि शब्दों से बतलाया गया है—"वह सभी के अधि-पति, वश करने वाले, सभी के ईश्वर हैं, वह उत्तम कर्मों से महान् या मंद कर्मों से हीन नहीं होते, वे सबके ईश्वर भूतपाल, भूताधिपति हैं, वे ही समस्त जगत के विभाग संरक्षण करने वाले सेतु हैं, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण उन्हें वेदार्थ परिशीलन से जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें जानकर मौन हो जाते हैं। संन्यासी भी इन्हीं को जानने की इच्छा से संन्यास लेते हैं।" यह महान अज आत्मा ही अन्नभोक्ता और धनदाता हैं।" ब्रह्म अजर-अमर और अभय स्वरूप है।" इत्यादि वाक्यों में जो पतित्व, जगद्विधरणत्व और सर्वेश्वरत्व आदि गुण बतलाए गए हैं, वे मुक्त अवस्था वाले जीवात्मा में कदापि संभव नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि—मुक्तात्मा से भिन्न नामरूप निर्वाहक आकाश है। "यह सब कुछ ब्रह्म है" इत्यादि वाक्य में जो अद्वैत का प्रतिपादन है, उसका तात्पर्य है कि—जड़ चेतन सारा जगत ब्रह्म का ही कार्य है, तदात्मक और उनके अधीन है; इसका विवेचन पहिले भी कर चुके हैं। ब्रह्मात्मक भाव से ही द्वैत का प्रतिषेध भी किया गया है। ऐसा मानना ही निर्दोष सुसंगत मत है।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद समाप्त

---

ankurnagpal108@gmail.com

[प्रथम अध्याय]

चतुर्थ पाद

१. आनुमानिकाधिकरणः—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयतिच ।१।४।१॥

उक्तं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया जिज्ञास्यं जगज्जन्मादि कारणं ब्रह्माचिद्वस्तुनः प्रधानादेश्चेतनाच्च वद्धमुक्तोभयावस्थाद् विलक्षणं निरस्त समस्तहेयगंध सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं समस्त कल्याण गुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतम् निरंकुशैश्वर्यम् इति। इदानीं कापिलतंत्रसिद्धा ब्रह्मात्मक प्रधान पुरुषादि प्रतिपादन मुखेन प्रधान कारणत्व प्रतिपादनच्छायानुसारोष्यपि कानिचिद्वाक्यानि कासुचिच्छाखासु संतीत्याशंक्य ब्रह्मैककारणत्वस्थेम्ने तन्निराक्रियते।

तृतीय पाद तक, मोक्षसिद्धि के उपाय रूप से जिज्ञास्य, जगत् की सृष्टि आदि के कारण, प्रधान आदि अचेतन तथा बद्धमुक्त-अवस्था वाले चेतन जीवात्मा से विलक्षण, समस्त हीनता से रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सत्यसंकल्प, समस्त कल्याण गुणात्मक, सर्वान्तर्यामी, सर्वतंत्र स्वतंत्र परम पुरुषार्थ स्वरूप पर ब्रह्म, का विवेचन किया गया हैं। अब अनीश्वर-वादी कपिल के सांख्यशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रधान पुरुष में जो, प्रधान तत्त्व है उसका श्रुतियों में कुछ अंशों में, छायारूप से प्रतिपादन प्रतीत होता है, अतः वही जगत का कारण है, ऐसी आशंका करते हुए, ब्रह्मकारणवाद का दृढ़ता से संपादन करते हुए, उक्त आशंका का निराकरण करेंगे।

कठवल्लीष्वाम्नायते—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः, मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मामहान् परः, महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।" इति,

ankurnagpal108@gmail.com

तत्र संदेहः किं कापिल तंत्र सिद्धिमब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाव्यक्त शब्देनोच्यते, उत न इति। किं युक्तम्? प्रधानमिति, कुतः? "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः" इति तंत्रसिद्धतंत्र प्रक्रिया-प्रत्यभिज्ञानेन तस्यैव प्रतीतेः "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः" इति पंचविंशकपुरुषातिरिक्त तत्व निषेधाच्च। अतोऽव्यक्तम् कारणमिति प्राप्तम्। तदिदमुक्तम्—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्—इति। एकेषां शाखिनां शाखास्वानुमानिकं प्रधानमपि कारणमाम्नायत इति चेत्—

कठवल्ली में प्रसग आता है कि—"इन्द्रियों से शब्दादि विषय बलवान हैं, विषयों से मन बलवान है, मन से बुद्धि बलवती है बुद्धि से श्रेष्ठ महत् तत्त्व है, महत् तत्त्व से बलवती अव्यक्त माया है, उस अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है, उस पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं है वही सब की परम अवधि और परमगति है।"

इसको पढ़कर संदेह होता है कि—कपिल के सांख्य शास्त्र से सम्मत प्रधान को ही अव्यक्त नाम से बतलाया गया है अथवा नहीं, कह सकते हैं कि, प्रधान का ही वर्णन है, क्योंकि-अव्यक्त से पुरुष की जो बात कही गई है, वह सांख्यतंत्र की ही प्रणाली है। तथा 'पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वही परमगति और परम अवधि है" इत्यादि में जिस पुरुष का वर्णन किया गया है वह भी सांख्यतंत्र सिद्ध पंचविंशक पुरुष का ही वर्णन प्रतीत होता है। इसलिए जगत का कारण वह अव्यक्त प्रधान ही है ऐसा निश्चित होता है। इसी आशय से "आनुमानिक मप्ये केषाम्" अर्थात् किसी एक शाखा में आनुमानिक प्रधान को कारण माना गया है। इत्यादि—

सिद्धान्त—अत्रोत्तरं नेति। नाव्यक्तशब्देनाब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाभिधीयते। कुतः? शरीररूपक विन्यस्त गृहीतेः, शरीराख्य रूपक विन्यस्तस्य अव्यक्त शब्देनं गृहीतेः। आत्मशरीरबुद्धिमन इन्द्रियविषयेषु रथिरथादिभावेन रूपितेषु रथरूपेण विन्यस्तस्य

ankurnagpal108@gmail.com

शरीरस्यात्राव्यक्त शब्देन ग्रहणादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति-पूर्वत्र हि- "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च, बुद्धीं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च, इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्" इत्यादिना; "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्" इत्यतेन संसाराध्वनः पारं वैष्णवं पदं प्रेप्संतमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादीनि च रथरथां- रूपयित्वा यत्यैते रथादयो वशे तिष्ठंति, स एवाध्वनः पारं वैष्णवं पदमाप्नोतीत्युक्तवा, तेषु रथादिरूपित शरीरादिषु यानि येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानानि तान्युच्यन्ते "इन्द्रियेभ्यः परः" इत्यादिना। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषयाः वशी- कार्यत्वे पराः वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाविन्द्रियाणां दुर्निग्रह- त्वात्। तेभ्योऽपि परं प्रग्रहरूपितं मनः, मनसि विषय प्रवणे विषया- सन्निधानस्याप्यकिंचित्करत्वात्। तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिंचित्करत्वात्। तस्या अपि रथित्व रूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः, सर्वस्यचास्यात्मेच्छायत्त- त्वादात्मैव महानिति च विशेष्यते। तस्मादपि रथरूपितं शरीरं परम्, तदायत्तत्वाज्जीवात्मनः सकल पुरुषार्थसाधन प्रवृत्तीनाम्। तस्मादपि परः सर्वान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्वनः पारभूतः परं पुरुषः, यथोक्तस्यात्मपर्यन्तस्य समस्तस्य तत्संकल्पायत्त प्रवृत्तित्वात्। स खल्वन्तर्यामितयोपासनस्यापि निर्वर्तकः। "परात्तुतच्छ्रुतेः" इति हि जीवात्मनः कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तामिति वक्ष्यते। वशीकार्यो- पासन निर्वृत्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च स एव। तदिदमुच्यते "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इति।

सिद्धान्त—उक्त शंका का उत्तर नकारात्मक है। उक्त प्रसंग में अव्यक्त शब्द से प्रधान का उल्लेख नहीं है, क्योंकि—अव्यक्त के लिए शरीर के रूपक का वर्णन मिलता है जिसमें, आत्मा, शरीर, बुद्धि, मन,

ankurnagpal108@gmail.com

इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय, रथी और रथ आदि के रूप में कल्पना की गई है रथ रूप से उल्लेख्य शरीर को ही अव्यक्त शब्द से प्रस्तुत किया गया है। यह रूपक उक्त प्रकरण के पूर्व का ही है। रूपक इस प्रकार है-"आत्मा को ही रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, और मन को लगाम समझो, इन्द्रियों को घोड़ा, विषयों को उनकी विचरण भूमि" इत्यादि से लेकर "वही संसार मार्ग से पार वैष्णव पद को प्राप्त करते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, संसार मार्ग से पार वैष्णव पद को प्राप्त करने की इच्छावाले उपासक को रथी रूप से एवं उसके शरीर आदि को रथ और रथांग अश्व आदि रूप से कल्पना करके; यह दिखलाया गया है कि जो इन रथ आदि को वश में रखता है, वही संसार मार्ग से पार जाकर वैष्णव पद प्राप्त करता है। रथादि रूप से कल्पित शरीर आदि के मध्य में जिन्हें वशीभूत करने की बात कही गई है, उनमें भी सर्व प्रधान, जिनको वशीभूत करना सर्वाधिक कष्ट साध्य है "इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादि में उन्हीं वृत्तियों को "परा" शब्द से उल्लेख किया गया है इस वशीकरण कार्य में, अश्वरूप से कल्पित इन्द्रियों की अपेक्षा, गोचर रूप से कल्पित विषयों का समूह प्रधान है। क्योंकि-जिन लोगों ने एक मात्र इन्द्रियों को संयमित कर भी लिया, विषयों से विरक्ति नहीं हुई तो प्रायः उनकी इन्द्रियाँ असंयत हो जाती हैं। प्रग्रह (लगाम) रूप से कल्पित मन, उन विषयों से भी प्रधान है, क्योंकि-मन के विरत होने पर ही विषयों की न्यूनता होती है। सारथी रूप से कल्पित बुद्धि, मन की अपेक्षा और भी प्रधान है, क्योंकि—बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय न करने पर मन भी कुछ नहीं कर सकता। रथी रूप से कल्पित आत्मा, सर्वकर्त्ता होने के कारण, उस बुद्धि की अपेक्षा प्रधान है, क्योंकि उक्त सभी आत्माधीन हैं; इसलिए आत्मा को ही "महान्" ऐसा विशेष नाम वाला कहा गया है। रथ रूप से कल्पित शरीर, उस आत्मा की अपेक्षा प्रधान हैं, क्योंकि- शरीर ही, जीवात्मा के हर प्रकार के पुरुषार्थ साधन में, प्रवृत्ति प्रयोजक है। संसार मार्ग से पार सबके अन्तर्यामी, परम पुरुष परमात्मा उसकी अपेक्षा प्रधान हैं, क्योंकि पूर्वोक्त आत्मा पर्यन्त सभी पदार्थ समस्त प्रवृत्तियां, उन्हीं की इच्छाशक्ति के अधीन हैं, वे ही अंतर्यामी रूप से उपासना का भी निर्वाह करते हैं। "परात्त तच्छ्रुतेः" इस सूत्र में जीवात्मा का कर्त्तृत्व, परं पुरुष के अधीन है, ऐसा बतलाते हैं। वे

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मा ही आत्मवशीकरण और उपासना सिद्धि के उपायों में चरम उपाय एवं परं प्राप्य लक्ष्य हैं या परं पुरुषार्थ रूप हैं, यही बात "पुरुष से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, वही परम अवधि और परम गति है" इस श्रुति में कहा गया है।

तथा चान्तर्यामिब्राह्मणे "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादिभिः सर्वं साक्षात् कुर्वन्तः सर्वं नियमयतोत्युक्त्वा "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति नियंत्रंतरं निषिध्यते। भगवद्गीतासु च–"अधिष्ठानंतथा कर्त्ता करणं च पृथग् विधं, विविधाश्च पृथग् चेष्टा दैव चैवात्र पंचमम्।" दैवमत्र पुरुषोत्तम एव "सर्वस्यचाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इति वचनात्। तस्य च वशीकरणं तच्छरणागतिरेव। यथाह–"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया, तमेव शरणं गच्छ" इति। तदेवम् "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना रथ्यादिरूपक विन्यस्ता इन्द्रियादयः "इंद्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इत्यत्र स्वशब्देरेव प्रत्यभिज्ञायन्ते, न रथरूपितं शरीरमिति परिशेषात्तदव्यक्त शब्देनोच्यत इति निश्चीयते। अतः कापिलतंत्रसिद्धस्य प्रधानस्य प्रसंग एव नास्ति।

इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि वाक्य में उस परमात्मा को सबका दृष्टा और नियामक बतलाकर "नान्योऽतो" इत्यादि में इसके अतिरिक्त किसी अन्य नियामक का निषेध किया गया है। भगवद्गीता में भी–"अधिष्ठान (शरीर) एवं कर्त्ता, अनेक प्रकार के करण (इन्द्रियाँ) पृथक्-पृथक् विविध चेष्टायें तथा पांचवा दैव, ये ही क्रिया प्रवृत्ति के कारण हैं।" इसमें दैव का तात्पर्य पुरुषोत्तम ही है ऐसा—"मैं ही सबके हृदय में संन्निविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मरण, ज्ञान और अपोहन होते हैं"—इस वचन से ज्ञात होता है। उस परमात्मा को वशीकरण करने का उपाय उसकी शरणागति प्राप्त करना ही है। जैसा कि—इस गीता वाक्य से ज्ञात होता है–' ईश्वर अपनी माया से, सबके हृदय में विराज कर, सारे जगत् को यंत्रमयी कठपुतली की

ankurnagpal108@gmail.com

तरह नचाते रहते हैं, तुम उन्हीं की शरण में जाओ।" इसी प्रकार "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि से, रथी इत्यादि रूपक में चित्रित इन्द्रियाँ आदि "इन्द्रियेभ्यः परात्ह्यर्थाः" इस वाक्य में अपने-अपने नाम से ही बतलाए गए हैं, केवल रथ रूप से कल्पित शरीर को ही प्रकरण के अंत में, 'अव्यक्त" शब्द से बतलाया गया है, ऐसा निश्चित होता है। कपिलतंत्र सिद्ध प्रधान का तो प्रसंग ही नहीं है।

न चात्रतत्तंत्रसिद्ध प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा "इंद्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इतीन्द्रियेभ्योऽर्थानां शब्दादीनां परत्व कीर्त्तनात्। नहि शब्दादय इन्द्रियाणां कारणभूताः तद्दर्शने "अर्थेभ्यश्च परंमनः"इत्यादि न तत्त्रसंगतम्, बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्याभिधानाभ्युपगमात्। नहि महतो महान् परः संभवति। महत आत्मशब्देन विशेषणं च न संगच्छते अतोरूपक निन्यस्तानामेव ग्रहणम्।

उस प्रसंग में सांख्यतंत्र के विवेचन की प्रणाली भी ज्ञात नहीं होती, "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः" इस वाक्य में, इन्द्रियों से उनके अर्थ अर्थात् शब्द आदि विषयों को, श्रेष्ठ बतलाया गया है, सांख्य तंत्र में कहीं भी, शब्द आदि को इन्द्रियों का कारण नहीं बतलाया गया है। इसी प्रकार "अर्थेभ्यश्च परंमनः" वाक्य भी सांख्य तंत्र सम्मत नहीं है, इस तंत्र में विषयों का कारण मन नहीं है। "बुद्धेरात्मा महान् परः" वाक्य भी उक्त तंत्र के मत से विपरीत है क्योंकि—सांख्य में बुद्धि शब्द "महत्" शब्द वाची है, महत् कभी महान् से श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता "महत्" शब्द आत्म शब्द का विशेषण भी नहीं हो सकता, इसलिए उक्त कल्पित रूपक से आत्मा आदि अर्थ मानना ही युक्ति-युक्त है।

दर्शयति च तदेव—"एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि, ज्ञानंआत्मनि महतियच्छेद् तद्यच्छेच्छान्त-आत्मनि" इति। अजित बाह्याभ्यंतरकरणैरस्य परमपुरुषस्य दुर्दश-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वमभिधाय हयादिरूपितानामिद्रियादीनां वशीकार प्रकारोऽय मुच्यते । 'यच्छेद् वाङ्मनसी" वाचं मनसि नियच्छेत्—वाक्पूर्वकाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेद् इत्यर्थ.। वाक्छब्दे द्वितीयायाः "सुपां सुलुक्" इतिलुक्। "मनसी" इति सप्तम्या-श्छान्दसो दीर्घ.। "तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि" तन्मनौ बुद्धौ नियच्छेद्। ज्ञान शब्देनात्र पूर्वोक्ता बुद्धिरभिधीयते। ज्ञाने आत्मनि" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ। आत्मनि वर्त्तमाने ज्ञाने नियच्छेदित्यर्थः। "ज्ञान आत्मनि महति यच्छेत्" बुद्धिं कर्त्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत्।" तद्यच्छेच्छांत आत्मनि" तं कर्त्तरि परस्मिन् ब्रह्मणि सर्वान्तर्यामिणि नियच्छेत्। व्यत्ययेन तदिति नपुंसकलिंगता। एवम्भूतेन रथिना वैष्णवं पदं गन्तव्यमित्यर्थः।

उक्त रहस्य को श्रुति में इस प्रकार दिखलाया गया है कि—"यह सबका आत्मरूप परं पुरुष, समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी, माया के परदे में छिपा रहने से प्रत्यक्ष नही होता, केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों से ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।" बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वाणी आदि को मन में निरुद्ध करके, उस मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में विलीन करे तथा ज्ञान स्वरूप बुद्धि आत्मा में विलीन करे तथा उस महान् आत्मा को शांत स्वरूप परमात्मा में विलीन करे।"

उक्त प्रसंग में, जो लोग बाह्य और आभ्यंतर को जय नहीं कर पाते, उनके लिए परमात्म दर्शन बहुत दूर है, ऐसा बतलाते हुए, अश्व आदि रूप से कल्पित इन्द्रियो को वशीभूत करने के विशेष उपाय का निर्देश किया गया है। "यच्छेद् वाङ्मनसी" का तात्पर्य है, वागेन्द्रिय को मन में लीन करो अर्थात् वागेन्द्रिय सहित कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को लीन करो इस वाक्य में "सूपांसुलुक्" इस व्याकरणीय नियम से वाक् शब्द की द्वितीया विभक्ति का लोप हो गया है तथा "मनसी" पद में वैदिक व्याकरण के अनुसार सप्तमी विभक्ति में दीर्घ ईकार हो गया

ankurnagpal108@gmail.com

है। "तद् यच्छेद् ज्ञान आत्मनि" का अर्थ है, उस मन को बुद्धि में लीन करो इसमें ज्ञान शब्द से पूर्वोक्त बुद्धि ही लक्षित है। "ज्ञाने आत्मनि" में दो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है, जिसका तात्पर्यार्थ है आत्मा में वर्त्तमान ज्ञान में लीन करो। 'ज्ञानं आत्मनि महति यच्छेद" का तात्पर्य है बुद्धि को महान कर्त्ता आत्मा में लीन करो। "तद् यच्छेद् शांत आत्मनि" का तात्पर्य है–उस कर्त्ता को परब्रह्म सर्वान्तर्यामी परमात्मा में लीन करो। इस वाक्य में तत् शब्द का नपुन्सक लिंगात्मक प्रयोग, लिंग विपर्यय से हुआ है। ऐसा रथी ही वैष्णव पद प्राप्त कर सकता है, यही प्रकरण का तात्पर्य है।

अव्यक्त शब्देन कथं व्यक्तस्य शरीरस्याभिधानम् ? इत्याह–

अव्यक्त शब्द से, व्यक्त शरीर कैसे माना गया ? इसका निराकरण करते हैं -

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।१।४।२।।

भूतसूक्ष्ममव्याकृतं ह्यवस्था विशेष मापन्नं शरीरंभवः तदव्याकृतमिह शरीरावस्थमव्यक्त शब्देनोच्यते। तदर्हत्वात्-तस्य अव्याकृतस्य अचिद् वस्तुन एव विकारापन्नस्य रथवत् पुरुषार्थ साधन प्रवृत्यर्हत्वात्।

अव्याकृत सूक्ष्म भूत ही, अवस्था विशेष योग से शरीर होते है। शरीर रूप विशिष्ट अवस्था को प्राप्त इन अव्याकृतों को ही यहाँ अव्याकृत नाम से कहा गया है (अर्थात् अव्यक्त शब्द सूक्ष्मशरीर का वाची है) विकृतावस्था को प्राप्त अचित् वस्तु ही, रथ की तरह पुरुषार्थ साधन करने वाली है, यही उक्त कथन का तात्पर्य है।

यदि भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते, कापिल तंत्रसिद्धोपादानेकः प्रद्वेष ? तत्रापि हि भूतकारणमेमाव्यक्तमित्युच्यते। तत्राह–

अव्याकृत भूतसूक्ष्म को ही यदि अव्यक्त मानते हैं तो सांख्योक्त प्रकृति को ही मानने में क्या आपत्ति है ? वहाँ भी तो भूतकारण को ही अव्यक्त कहते हैं। इसका निराकरण करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३॥

परमकारणभूत परमपुरुषाधीनत्वात् प्रयोजनवत् भूत सूक्ष्मम्। एतदुक्तं भवति–न वयमव्यक्तं तत्परिणाम विशेषांश्च स्वरूपेण नाभ्युपगच्छामः। अपितु परमपुरुष शरीरतया तदात्मकत्वविरहेण। तदात्मकत्वेनैव हि प्रकृत्यादयः स्वप्रयोजनं साधयंति, अन्यथा स्वरूप-स्थिति प्रवृत्ति भेदास्तेषां न स्युः, तथाऽनभ्युपगमादेव तंत्रसिद्ध प्रक्रियानिरसनम् इति ।

परम कारण परं पुरुष परमात्मा के अधीनस्थ अव्याकृत भूत सूक्ष्मों का एक विशेष प्रयोजन है। कथन यह है कि–हम लोग अव्यक्त और उसके विशेष-विशेष परिणामों को स्वतंत्र रूप से एकाएक ही स्वीकार नही कर लेते, अपितु परमपुरुष के शरीर तदात्मक होने से ही, उनकी कृति को मानते हैं, तदात्मक होकर ही प्रकृति आदि सभी, अपने प्रयोजनों को पूरा कर पाते है। यदि ऐसा न होता तो, उनके स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति में भेद न होता उक्त प्रकार की प्रक्रिया सांख्यतंत्र में नहीं है, इसलिए सांख्यतंत्र प्रक्रिया का विरोध किया गया है।

श्रुतिस्मृत्योर्हि जगदुत्पत्ति प्रलयवादेषु परमपुरुषमहिमवादेषु च प्रकृति विकृतिपुरुषास्तदात्मकाः संकीर्त्यन्ते, यथा–"पृथिव्यप्सु-लीयते" इत्यारम्भ–"तन्मात्राणि भूतादौलीयन्ते, भूतादिर्महति लीयते, महानभ्यक्ते लीयते, अभ्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवएकीभवति" तथा–"शस्य पृथ्वी शरीरं यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं यस्यवायुः शरीरं यस्याकाशः शरीरं यस्याहंकारः शरीरं यस्य बुद्धिः शरीरं यस्य अव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युः शरीरं एष सर्व भूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" तथा–"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च, अहंकार इतीयं में प्रकृतिरष्टधा, अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्, जीवभूतां

ankurnagpal108@gmail.com

महाबाहो ययेदंधार्यते जगत्। एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीव्युपधारय, अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय, मयि सर्वामिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" इति। 'व्यक्तं विष्णुस्तथा अव्यक्तं पुरुषः कालएव च" इति। "प्रकृतिर्या 'मयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी, पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि परमात्मा च सर्वेषां आधारः परमेश्वरः" इति च।

श्रुति स्मृतियों में, जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय के बोधक, परम पुरुष की महिमा के प्रतिपादक, प्रकृति विकृति और पुरुष तदात्मक वाक्य मिलते हैं जैसे कि—"पृथ्वी जल में लीन हो जाती है" इत्यादि से प्रारंभ कर--"तन्मात्रा, भूतादि अहंकार में लीन हो जाती हैं, अहंकार, महान् अव्यक्त में लीन हो जाता है, अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन हो जाता है—तम, परमात्मा में लीन हो जाता है।" तथा—"पृथ्वी जिसका शरीर है, जल जिसका शरीर है, तेज जिसका शरीर है, वायु जिसका शरीर है, आकाश जिसका शरीर है, अहंकार अक्षर जिसका शरीर है, जिसका शरीर है, बुद्धि जिसका शरीर है, अव्यक्त जिसका शरीर है, मृत्यु जिसका शरीर है, वह सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण ही है।" तथा— "भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि और अहंकार ये मेरी आठ प्रकार की भिन्ना प्रकृति है, मेरी जीव रूपा एक अपरा प्रकृति भी है जो कि इससे भिन्न है, उसी से यह जगत स्थिर है, ये समस्त भूत समुदाय मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मैं ही समस्त जगत का उत्पत्ति और विलय स्थान हूँ, मेरे अतिरिक्त कुछ और नहीं है, सूत्र में पिरोई मणियों के समान मुझमें ही सारा जगत ग्रथित है। व्यक्त (जड) अव्यक्त चैतन्य, विष्णु और पुरुष और काल ये सभी उसी के रूप हैं। जिस व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति और पुरुष को मैं बतला रहा हूं वे दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा ही सर्वाधार पुरुषोत्तम है, उसे ही वेद और वेदांत में, विष्णु कहा गया है।" इत्यादि—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।१।४।४॥

यदि तंत्र सिद्धमिहाव्यक्तमविवक्षिष्यत्, ज्ञेयत्वमवक्ष्यत्, व्यक्ता-

ankurnagpal108@gmail.com

भ्यक्तज्ञविज्ञानात् मोक्षं वदद्भिस्तांत्रिकै स्तेषां सर्वेषां ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्, न चास्य ज्ञेयत्वमुच्यते, अतो न तंत्रसिद्धस्येह ग्रहणम् ।

यदि उपनिषदों में सांख्योक्त प्रधान को जगत का कारण माना गया होता तो, उसी को ज्ञेय भी कहा गया होता । व्यक्त-अव्यक्त और पुरुष, इन तीनों के विशेष ज्ञान से मोक्ष मानने वाले सांख्यवादी, इन तीनों को ज्ञेय मानते हैं, उपनिषदों में अव्यक्त को ज्ञेय नहीं मानते इसलिए श्रुतियों का प्रतिपाद्य, सांख्योक्त प्रधान नहीं है ।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।१।४।५॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्चयत्, अनाद्यमनंतं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते" इत्यव्यक्तस्य ज्ञेयत्वमनंतरमेव वदतीयं श्रुतिरेति चेत्-तन्न, प्राज्ञः परमपुरुष एवत्यत्र श्लोके निचाय्यत्वेन प्रतिपाद्यते । "विज्ञानसारः यस्तु मनः प्रग्रवान्नरः, सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्रय्या बुद्ध्यासूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः" इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात् । अतएव—"पुरुषान्न परंकिंचिद् "इति न पंचविंशक पुरुषातिरिक्त तत्त्व निषेधः, तस्य च परं पुरुषस्याशब्दत्वादयो धर्माः "तत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धाः । "महतः परम्" इत्यपि "बुद्धेरात्मा महान् परः" इति पूर्वप्रकृताज्जीवात्मनः परत्वमेवोच्यते ।

"शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध रहित, अनादि अनंत, महत् तत्त्व से भी परवर्त्ती, उस स्थिर वस्तु की उपासना करने से, मृत्यु से छुटकारा प्राप्त होता है" यह परवर्त्ती श्रुति तो अव्यक्त को ज्ञेय बतला रही है, ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है, प्राज्ञ परं पुरुष परमात्मा को ही इसमें उपास्य कहा गया है । "विज्ञान जिसका सारथी और मन जिसकी लगाम है, वही साधक, संसार मार्ग को पार कर विष्णु के परं पद को प्राप्त

ankurnagpal108@gmail.com

करता है"—"यह सबका आत्म रूप परम पुरुष समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी माया के परदे में छिपे रहने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्म तत्त्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।" इत्यादि में प्राज्ञ परमात्मा को ही उपास्य रूप से बतलाया गया है। "पुरुषान्न परं किंचित्" इस वाक्य में भी पंचविंशक पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व का निषेध प्रतीत नहीं होता। उस परम पुरुष की अशब्दत्व आदि जो विशेषतायें हैं, वे "अदृश्यमग्राह्यम्" इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध हैं। "महतः परम्" वाक्य भी, "बुद्धेरात्मा महान् परः" इस पूर्वकथित वाक्य के जीवात्मा से पर तत्त्व, परमात्मा की ओर ही इङ्गन कर रहा है।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।१।४।६।।

अस्मिन् प्रकरणे हि उपायोपेयोपेतृणां त्रायाणामेव चेवमुपन्यासः ज्ञेयत्वेनोपन्यासः तद्विषयश्च प्रश्नो दृश्यते, नान्यस्याव्यक्तादेः। तथा हि नचिकेता मुमुक्षुः सन्मृत्युप्रदत्ते वरत्रये प्रथमेन वरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतापादनीमात्मनि पितुः सुमनस्कतां प्रतिलभ्य द्वितीयेन वरेण मोक्षोपायभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वव्रे "स त्वमग्निं स्वर्ग्यध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम्। स्वर्गलोकाऽमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण" इति। स्वर्गशब्देनात्र परमपुरुषार्थलक्षणो मोक्षोऽभिधीयते, "अमृतत्वं भजन्ते" इति तत्रस्थस्यजननमरणाभावश्रवणादुत्तरत्रक्षयिफलकर्मनिंदादर्शनाच्च। "त्रिणाचिकेतः त्रिभिरेत्य संधिम् त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू" इति च प्रतिवचनात् तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपप्रश्न द्वारेणोपेयस्वरूपमुपेतृस्वरूपमुपायभूतकर्मानुग्रहीतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्—"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टः त्वयाऽहं वरामेणावेष वरस्तृतीयः" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकरण में उपाय (साधना) उपेय (साध्य) और उपेतृ (साधक) इन तीनों का ही उपन्यास अर्थात् तीनों को ही ज्ञेय रूप से बतलाया गया है, और उन्हीं के विषय में प्रश्न प्रस्तुत किया गया है, अव्यक्त आदि का प्रश्न ही नहीं है। ऐसा वर्णन मिलता है कि–मुमुक्षु नचिकेता ने मृत्यु प्रदत्त तीन वरों में सर्व प्रथम पुरुषार्थयोग्यतापादिनी पिता की प्रसन्नता प्राप्त की, दूसरे वर में मोक्ष साधन भूत नाचिकेताग्नि विद्या मांगी "हे मृत्यु ! आप स्वर्ग साधन भूत अग्नि विद्या को जानते है, मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करिये, स्वर्ग लोकगामी अमृतत्व भोग करते है, द्वितीय वर के रूप में मैं उसी की याचना करता हूँ।" यहाँ स्वर्ग शब्द परम पुरुषार्थ मोक्ष का द्योतक है। अमृतत्वं भजन्ते पद स्वर्गीय लोगों के जन्म मरण के अभाव और क्षयशील कर्म की निंदा का द्योतक है। "जो तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन करता है, वह माता पिता और आचार्य इन तीनो से संबंधित तीनो कर्मों से कृतकार्य हो चुका, वह जन्म मरण को भी अतिक्रमण कर चुका" इस उत्तर से भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। "तीसरे वर में मनुष्य के मरणोत्तर अस्तित्व को कोई मानता है, कोई नही मानता, आपके उपदेश से इस संशयात्मक रहस्य को जानना चाहता हूँ" इत्यादि में मोक्ष के स्वरूप विषयक प्रश्न द्वारा प्राप्तव्य, प्रापक और उसके उपायरूप कर्म-संपादित उपासना के स्वरूप की जिज्ञासा की गई है।

एवं मोक्षे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतां परीक्ष्योपदिदेश–"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति। तदेवं सामान्येनोपदिष्टे नचिकेताः प्रीतस्सन् "देवं मत्वा" इत्युपास्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्य-भूतस्य देवस्य "अध्यात्मयोगाधिगमेन" इति वेदितव्यतया निर्दिष्ट-प्राप्तुः प्रत्यगात्मनश्च "मत्वा धारो हर्षशोकौ जहाति" इति निर्दिष्टस्य ब्रह्मोपासनस्य च स्वरूप विशोधनाय पुनः पप्रच्छ–"अन्यत्र धर्मादन्य-त्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" इति। एवं सकलेतरातीतानागतवर्त्तमान साध्यसाधनसाधक-

ankurnagpal108@gmail.com

विलक्षणे त्रये पृष्टे प्रथमं प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यस्वरूपं, तदंतर्गतं च प्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपं चोपायं पुनरपि सामान्येन ख्यापयन् प्रणवं तावदुपदिदेश–"सर्वे वेदा यत् पदमामनंति तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति । एवमुपदिश्य पुनरपि प्रणवं प्रशस्य प्रथमं तावत् प्राप्तुः प्रत्यगात्मनः स्वरूपमाह–"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"इत्यादिना । प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोः स्वरूपम् "अणोरणीयान्" इत्यादिना "क इत्था वेद यत्र सः" इत्यंतेनोपदिशन् मध्ये "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इत्यादिनोपायभूतस्योपासनस्य भक्तिरूपतामप्याह । "ऋतं पिबन्तौ" इति चोपास्यस्योपासकेन सहावस्थानात् सूपास्यतामुक्त्वा "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना "दुर्गं पथस्तत् कवयो वदंति" इत्यंतेनोपासनप्रकारमुपासीनस्य च वैष्णवपरमपद प्राप्तिमभिधाय "अशब्द-मस्पर्शम्" इत्यादिनोपसंहृतम् । अतस्त्रयाणामेवात्र ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च, तस्मान्नेह तांत्रिकस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ।

उक्त मोक्ष विषयक प्रश्न के उपरान्त, नचिकेता की उपदेश ग्राहिका शक्ति की परीक्षा करके यमराज उपदेश देते हैं–"धीर पुरुष दुर्दर्श, गूढ़, सर्वान्तर्यामी, गुहावस्थित, हृदयकन्दरस्थ, पुराण पुरुषोत्तम देव का अध्यात्म बल से दर्शन करके सुख दुःख से छूटते हैं ।" ऐसे सामान्य सरल उपदेश से संतुष्ट नचिकेता "देवं मत्वा" पद से उपास्य रूप से निर्दिष्ट प्राप्य परमात्मा—"अध्यात्मयोगाधिगमेन" पद से वेदितव्य रूप से निर्दिष्ट जीवात्मा—"धीरो हर्षशोकौ जहाति" पद से निर्दिष्ट ब्रह्मोपासना और स्वरूपगत भाव को समझकर, इस तथ्य को विस्तृतरूप से जानने के लिए प्रश्न करता है–"हे यमराज ! धर्म और अधर्म से भिन्न, कार्य और कारण से पृथक् , अतीत और अनागत से पृथक् जो कुछ भी आप जानते हैं उसे बतलाइये ।" नचिकेता द्वारा इस प्रकार अतीत अनागत और

ankurnagpal108@gmail.com

वर्त्तमान तथा साध्य, साधक और साधन से विलक्षण तत्त्व की जिज्ञासा करने पर, यमराज ने, जिज्ञासा की प्रशंसा करते हुए, उपासना लभ्य प्रणव के वाच्यार्थ, प्राप्य स्वरूप, प्राप्ति के उपायरूप ब्रह्मवाचक प्रणव-स्वरूप का प्रकाश करने के लिए, प्रणवरहस्य का विवेचन किया–"सारे वेद जिस पद का बारबार प्रतिपादन करते हैं, संपूर्ण तप जिस पद को दिखलाते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूँ वह ओम् ही है।" ऐसा उपदेश देकर पुनः प्रणव की प्रशंसा करते हुए, सर्व प्रथम साधक जीवात्मा के स्वरूप को "विद्वान् का न जन्म होता है न मरता है' इत्यादि से, तथा प्राप्य परब्रह्म विष्णु के स्वरूप को "अणु से भी अणु" इत्यादि से लेकर–"वह ऐसा कहाँ स्थित है इसे कौन जाने" इत्यादि तक बतलाते हुए मध्य में "यह परमात्मा, प्रवचन, मेधा और शास्त्राभ्यास से लभ्य नही है" इत्यादि वाक्य से ब्रह्म प्राप्ति की उपाय रूप उपासना की भक्तिरूपता का प्रतिपादन करते हैं। "दोनों ही भोक्ता है" इत्यादि वाक्य में उपास्य और उपासक की एकत्र स्थिति दिखलाई गई है, इसलिए उपासना करना सरल है, इस रहस्य की ओर लक्ष्य करते हुए "आत्मा को रथी जानो" इत्यादि से लेकर 'ज्ञानी उसे दुर्गम पथ बतलाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक उपासना के विशेष प्रकार तथा उपासीन की पर वैष्णव पद की प्राप्ति बतलाकर "वह अशब्द और अस्पर्श है" इत्यादि से प्रसंग का उपसंहार करते हैं। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि इसमें उपास्य–उपासक–और उपासना की ही उक्त प्रसंग में जिज्ञासा की गई है, सांख्योक्त अव्यक्त संबंधी कोई प्रश्न नहीं है।

महद्वच्च ।१।४।७।।

यथा–"बुद्धेरात्मा महान् परः" इत्यनात्मशब्द सामानाधिकरण्यान्न तंत्रसिद्धं महत्तत्त्वं गृह्यते, एवमव्यक्तमप्यात्मनः परत्वेनाभिधानान्न कापिलतंत्रसिद्धं गृह्यत इति स्थितम्।

जैसे कि–"बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है" इस वाक्य में आत्मा शब्द के साथ महान् शब्द का अभेद संबंध होने से, महान् शब्द से सांख्योक्त महत् तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही "आत्मा से

ankurnagpal108@gmail.com

अव्यक्त श्रेष्ठ है" इस वाक्यगत अव्यक्त से, सांख्योक्त अव्यक्त को नहीं स्वीकार सकते ।

२ चमसाधिकरण—

चमसवदविशेषात् ।१।४।८।।

अत्रापि तंत्रसिद्ध प्रक्रिया निरस्यते, न ब्रह्मात्मकानां प्रकृति-महदहंकारादीनां स्वरूपम्, श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मकानां तेषां प्रतिपादनात्, यथा आथर्वणिका अधीयते—"विकारजननीमज्ञामष्ट-रूपामजां ध्रुवाम्। ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैव अधिष्ठताजगत्। गौरनाद्यंतवती सा जनित्री भूतभाविनी। सिताऽसिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः। पिवंत्ये-नामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः। एकस्तु पिवते देवः स्वच्छंदोऽत्र वशानुगाम्। ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुंक्तेऽसौ प्रसभं विभुः। सर्व-साधारणीं दोग्ध्रीं पीड्यमानां तु यज्वभिः" इति। अत्र प्रकृत्यादीनां स्वरूपमभिहितम् यदात्मकाश्चैते प्रकृत्यादयः स परमपुरुषोऽपि "तं षड्विंशकमित्याहुः सप्तविंशमथापरे, पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः" इति प्रतिपाद्यते। अपरे चाथर्वणिकाः—"अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः" इत्यधीयते। श्वेताश्वतराश्चैवं प्रकृति पुरुषेश्वर स्वरूपमामनंति—"संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्व-मीशः, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पापैः"—"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता, अनंतश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयंयदा विन्दते ब्रह्ममेतत्"—"क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः, तस्याभिध्याना-द्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चांते विश्वमायानिवृत्तिः"—"छंदांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदंति, अस्मान्मायी सृजते

ankurnagpal108@gmail.com

विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया संन्निरुद्धः"—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" इति। तथोत्तरत्रापि—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति-बंधहेतुः" इति।

इस प्रसंग में भी सांख्य तंत्र प्रक्रिया का खंडन किया गया है, ब्रह्मात्मक प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि का निराकरण नहीं है। श्रुति स्मृति में ब्रह्मात्मक प्रकृति आदि का प्रतिपादन ही मिलता है, जैसे कि आथर्वणिक श्रुति में—"समस्त कार्यो की कारण, आठ रूपों वाली, अचेतन, नित्यरूपा अजा प्रसिद्ध है, परमेश्वर उसमें अधिष्ठान पूर्वक उसे स्थूलादि रूपों में परिणत करते हैं, कार्योत्पादन में प्रेरित करते हैं, वह अजा ही परमेश्वर द्वारा परिचालित होकर जगत का प्रसव करती है। अतीत और अनागत स्वरूपा, श्वेत कृष्ण और रक्तवर्णा, जगज्जननी, आद्यंतरहित वह अजा ही परमेश्वर की सर्वकाम प्रसविनी गौ है। अज्ञानी बाल प्रकृति जीव, सर्वत्र समभाववाली इस गौ का भोग करता है। इस जगत में एकमात्र वह परमात्मा ही, अपनी वशवर्त्तिनी इस अजा का स्वच्छंद रूप से भोग करते हैं। ध्यान और क्रिया द्वारा पीड़िता और सर्व भोग्या, दूधवाली, याज्ञिकों द्वारा सरलता से प्राप्त इस गौ का, विभु भगवान बलपूर्वक भोग करते हैं, चौबीस प्रकार की यह अव्यक्त, व्यक्त होती है।" इत्यादि में प्रकृति का स्वरूप वर्णन किया गया है। ये सब जिससे आत्मीय संबंध रखती हैं उस परमपुरुष का भी जैसे—"कुछ लोग जिसे छब्बीस तत्त्वों वाला, कोई सत्ताइस तत्त्वों वाला बतलाते हैं, अथर्व शिरा उपनिषद् में इस संख्यावाले को निर्गुण बतलाया गया है।" इत्यादि प्रतिपादन किया गया है। दूसरी आथर्वणिक उपनिषद् में जैसे—"आठ प्रकार की प्रकृति और सोलह प्रकार के प्रकृति के विकार हैं।" इत्यादि—श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी प्रकृतिपुरुष का रूप इस प्रकार कहा गया है—"विनाशशील जड़वर्ग और अविनाशी जीवात्मा, इन दोनों के संयुक्त रूप व्यक्त और अव्यक्त इस विश्व का, परमेश्वर ही धारण पोषण करते हैं, जीवात्मा—इस जगत के विषयों का भोक्ता होने से प्रकृति के अधीन होकर इसमें बँध जाता है, परमपुरुष परमात्मा को जानकर ही

ankurnagpal108@gmail.com

हर प्रकार के बंधनों से मुक्त होता है। सर्वज्ञ और अज्ञानी, समर्थ और असमर्थ ये दो अजन्मा हैं, भोगने वाले जीव के लिए उपयुक्त सामग्री वाली अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। परमात्मा अनंत रूपों वाला होते हुए भी, कर्त्तापन के अभिमान से रहित है। जीवात्मा जब जीव, माया और ईश्वर इन तीनों के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तो ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति विनाश शील है, पर उसको भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इस विनाश शील और अमृत दोनों को परमात्मा अपने वश में रखता है। उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से अंततोगत्वा, समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है। छंद-यज्ञ-व्रत आदि तथा जिसका भी भूत-भविष्य-वर्त्तमान रूप से वेद वर्णन करते है ऐसे संपूर्ण जगत को, मायाधीश परमेश्वर भूत समुदाय से रचता है, मायाधीन जीवात्मा इस प्रपंच में बँधा हुआ है। माया प्रकृति तथा मायापति महेश्वर को जानना चाहिए, उसी के अंगरूप कारण और कार्य से यह सारा जगत व्याप्त है। प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी, समस्त गुणों का शासक, जन्म मृत्यु संसार में बांधने वाला, स्थिति रखने वाला, और उससे मुक्त करने वाला परमात्मा है।" इत्यादि।

स्मृतिरपि—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि, विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्। कार्यकारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। पुरुषः प्रकृतिस्थोऽहि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु। सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः, निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम।" तथा—"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यांति मामिकाम्, कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः, भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् हि परिवर्तते" तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वेन कापिल तंत्रसिद्धाः प्रकृत्यादयो निरस्यंते।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मृति में भी इसी प्रकार जैसे—"प्रकृति-पुरुष दोनों को ही अनादि जानों, विकारों और गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न जानों। कार्य कारण में प्रकृति कारण कहलाती है, सुखदुःख भोगने में पुरुष कारण कहलाता है। पुरुष, प्रकृति में स्थित हुआ ही, प्राकृतिक गुणों को भोगता है, गुणों की आसक्ति ही उसकी ऊँची-नीची योनि के जन्म का कारण है। सत्व रज तम आदि प्राकृतिक गुण ही, अव्यय आत्मा को देह में बांधते हैं।" तथा "कल्प के अंत में सारे भूत, मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, कल्प के आदि में मैं पुनः उनकी सृष्टि करता हूँ। प्रकृति के वशीभूत विवश समस्त भूत समुदाय को मैं, अपनी प्रकृति का अवलंबन कर, अनेक प्रकार से बार-बार सृजन करता हूँ। मुझ अध्यक्ष द्वारा प्रेरित, प्रकृति, समस्त चराचर जगत को उत्पन्न करती है, इसी से यह जगत चलता रहता है।" इत्यादि उदाहरणों से अब्रह्मात्मक सांख्य तंत्र सिद्ध प्रकृति आदि का स्वतः खंडन हो जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति। तत्र संदेहः, **किमस्मिन् मंत्रे केवला तंत्र सिद्धा प्रकृतिरभिधीयते, उत ब्रह्मात्मिका? इति, किं युक्तम्? केवलेति, कुतः? "अजामेकाम्" इत्यस्याः प्रकृतेरकार्यत्व श्रवणात्, "बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इति स्वातंत्र्येण सरूपाणां बह्वीनां प्रजानां स्रष्टृत्व श्रवणात्। इति।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रसंग आता है कि—"अपने ही समान भूत समुदायों को रचने वाली रक्त-श्वेत और कृष्ण वर्णा एक अजा को, निश्चय ही एक अज आसक्त होकर भोगता है, दूसरा अज इस भोगी हुई अजा को त्याग देता है।" इस पर संदेह होता है कि—इस मंत्र में सांख्योक्त केवला (स्वतः सिद्धा) प्रकृति का वर्णन है अथवा ब्रह्मात्मिका प्रकृति का? कह सकते हैं कि केवला का, क्यों कि—"अजामेकाम्" पद में प्रकृति की अकार्यता बतलाई गई है तथा "बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इस वाक्यांश में, अपने ही समान प्रजा का स्वतंत्र रूप से सर्जन कहा

ankurnagpal108@gmail.com

गया है, जिससे ज्ञात होता है कि–सांख्य तंत्र सिद्ध केवला का ही वर्णन है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते–"चमसवदविशेषात्"। न जायत इति अजा इति अजात्वमात्र प्रतिपादनात् तंत्रसिद्धाब्रह्मात्मकाजाग्रहणे विशेषाप्रतीतेः चमसवत्, यथा–"अर्वाग्विलश्चमश ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यस्मिन् मंत्रे चमसस्य भक्षणसाधनत्वमात्रं चमसशब्देन प्रतीयत इति न तावन्मात्रेण चमसविशेष प्रतीतिः, यौगिकशब्दानामर्थ-प्रकरणादिभिर्विनाऽर्थविशेषनिश्चयायोगात्, तत्र "यथेदं तच्छिरः एष हि अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यादिना वाक्यशेषेण शिरसः चमसत्वनिश्चयः, तथा अत्रापि अर्थ प्रकरणादिभिरेव अजा निर्णेतव्या, न चात्र तंत्रसिद्धा अजाग्रहणहेतवोऽर्थ प्रकरणादयो दृश्यन्ते, नचास्याः स्वातंत्र्येण स्रष्टृत्वं प्रतीयते "बह्वीः प्रजाः सृजमानां" इति स्रष्टृमात्रप्रतीतेः। अतोऽनेन मंत्रेण न अब्रह्मात्मिकाऽजाऽभिधीयते।

उक्त संशय पर "चमसवदविशेषात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि–इस प्रसंग में सांख्योक्त प्रकृति का वर्णन नहीं है, जो जन्म न ले उसे अजा कहते हैं, ऐसी सामान्य अजा का ही प्रतिपादन किया गया है। इससे सांख्योक्त अब्रह्मात्मक अजाविशेष की प्रतीति नहीं होती, जैसे कि–'अर्वाग्विलश्चमस" इत्यादि मंत्र में चमस शब्द भक्षण के साधनत्व मात्र का ही बोधक है, चमसविशेष की प्रतीति नहीं कराता। यौगिक शब्दों का अर्थ, प्रकरण आदि के बिना, अर्थ विशेष का बोधक नहीं होता। जैसे कि–"यथेदं तच्छिरः" इत्यादि वाक्य के शेषांश से चमस शब्द, शिर अर्थ की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार उक्त प्रसंग में भी, प्रकरण आदि से ही अजा शब्द का अर्थ निर्णय करना होगा। प्रकरण आदि में कहीं भी सांख्योक्त अजा की अर्थ प्रतीति नहीं होती, और न उसकी स्वतंत्र रूप से सृष्टि करने की ही प्रतीति होती है। "बह्वीः प्रजाः

ankurnagpal108@gmail.com

सृजमानां'' में तो केवल सृष्टिमात्र की ही चर्चा है। इससे निर्णय होता है कि—इस मंत्र में सांख्योक्त अब्रह्मात्मिका अजा अभिधेय नहीं है।

ब्रह्मात्मकाऽजाग्रहण एव विशेषहेतुरस्तीत्याह—

इस प्रकरण में ब्रह्मात्मक अजा ही मानी जायगी इसका विशेष कारण प्रस्तुत करते हैं—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके ।१।४।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थः, ज्योतिरुपक्रमैवैषाऽजा, ज्योतिः ब्रह्म "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः'' अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धेः। ज्योतिरुपक्रमा, ब्रह्मकारणिका इत्यर्थः। तथा हि अधीयत एके—हीति हेतौ, यस्मादस्या अजाया ब्रह्मकारणकत्वमेके शाखिनः तैत्तिरीया अधीयते—"अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः" इति हृदयगुहायामुपास्यत्वेन सन्निहितं ब्रह्माभिधाय "सप्त प्राणाः प्रभवंति तस्मात्" इत्यादिना सर्वेषां लोकानां ब्रह्मादीनां च तत उत्पत्तिमभिधाय सर्वकारणीभूताऽजा तत उत्पन्नाऽभिधीयते "अजामेकाम्" इत्यादिना। सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुजातस्य तत उत्पत्त्या तदात्मकत्वोपदेशे प्रक्रियमाणेऽभिधीयमानत्वात् प्राणसमुद्रपर्वतादिवदेषाप्यजा वह्वीनां सरूपाणां प्रजानां स्रष्ट्री कर्मवश्येनात्मना भुज्यमाना अन्येन विदुषात्मना त्यज्यमाना च ब्रह्मण उत्पन्ना ब्रह्मात्मिकाऽवगंतव्येत्यर्थः। अतो वाक्यशेषाच्चमसविशेषवच्छाखांतरीयादेतत्सरूपात् प्रत्यभिज्ञायमानार्थाद् वाक्यान्नियमिताऽजा ब्रह्मात्मिकेति निश्चीयते।

सूत्रस्थ तु शब्द निश्चयात्मक है। इस प्रकरण में कही गई अजा ज्योतिरुपक्रमा (ज्योतिर्मय ब्रह्मात्मिका) ही है। "देवता ज्योतियों की ज्योति की उपासना करते हैं, वह ज्योति द्युलोक के ऊपर चमक रही

ankurnagpal108@gmail.com

है" इत्यादि श्रुतियों में ज्योति ब्रह्म की प्रसिद्धि है। ज्योतिरुपक्रमा का अर्थ है ब्रह्मकारणिका, अर्थात् ज्योति ब्रह्म ही जिसका कारण है। तैत्तिरीयोपनिषद् की एक शाखा में इसे ब्रह्मकारणिका बतलाया गया है- "इस जीवात्मा की अन्तर्गुहा में, अणु से अणु और महान् से महान रूप वाला वह परमात्मा विराजमान है" इस वाक्य में, हृदय की गुहा में उपास्य रूप से सन्निहित ब्रह्म का वर्णन करके "सात प्राण उससे उत्पन्न होते हैं" इत्यादि में सभी लोकों और ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति उसी से बतलाकर, सबकी कारणीभूत अजा है उसी से सब उत्पन्न हुए हैं, ऐसा "अजामेकाम्" इत्यादि में बतलाया गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त, उत्पन्न होने वाले सारे पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं, ऐसे उपदेश के प्रसंग में, अनेक प्रजाओं की सृष्टि करने वाली, कर्माधीन जीवात्मा से भोग्या, अन्य ज्ञानी जीव से परित्यक्ता, ब्रह्मोत्पन्ना, इस अजा को भी, प्राण समुद्र पर्वत आदि की तरह, ब्रह्मात्मक मानना होगा। यही उक्त प्रकरण का तात्पर्य है। जैसे कि वाक्यांश से चमस शब्द की विशेष अर्थ प्रतीति होती है, वैसे ही उक्त शाखान्तरीय वाक्य से भी अजा शब्द की विशेष अर्थ प्रतीति होती है, इसलिए यह अजा ब्रह्मात्मिका है, ऐसा निश्चित होता है।

इहापि प्रकरणोपक्रमे "किं कारणं ब्रह्म" इत्यारभ्य "ते ध्यान-योगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढां" इति परब्रह्म शक्ति-रूपाया अजाया अवगते, उपरिष्टाच्च "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-त्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "यो योनिर्योनिमधितिष्ठत्येकः" इति च तस्या एव प्रतीतेर्नास्मिन्मंत्रे तंत्रसिद्ध स्वतंत्र प्रकृति प्रतिपत्ति गंधः।

इस प्रकरण के उपक्रम में "इस जगत का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है?" इत्यादि से प्रारंभ करके "उन्होंने ध्यान योग में स्थित होकर, अपने गुणों से आवृत आत्म शक्ति का साक्षात् किया" इस वाक्य तक जो वर्णन किया गया है उससे अजा परब्रह्म की शक्ति रूपा है, ऐसा परिज्ञान होता है। इसके बाद के वाक्य से भी यही निश्चित होता है, जैसे--

ankurnagpal108@gmail.com

"प्रकृति को माया तथा महेश्वर को मायाधीश जानो, उसी के अंगभूत कारण समुदाय से यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है।" इन सब से ब्रह्मात्मिका अजा की ही प्रतीति हो रही है। सांख्य तंत्रोक्त, स्वतंत्र स्वभावा अजा की तो इस मंत्र में लेशमात्र भी चर्चा नहीं है।

कथं तर्हि ज्योतिरुपक्रमाया लोहित शुक्ल कृष्ण रूपाया अस्याः प्रकृतेरजात्वम्, अजाया वा कथं ज्योतिरुपक्रमात्वमित्य-आह——

ज्योतिरुपक्रमा, रक्त श्वेत कृष्ण वर्णा इस प्रकृति का अजा होना कैसे संभव है? यदि अजा है तो वह ज्योतिरुपक्रमा कैसे है? इस शंका की निवृत्ति करते हैं——

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०।।

प्रसक्ताशंकानिवृत्यर्थश्च शब्दः। अस्याः प्रकृतेरजात्वं ज्योति-रुपक्रमात्वं च न विरुध्यते, कुतः? कल्पनोपदेशात्। कल्पनं क्लृप्तिः सृष्टिः जगद् सृष्ट्युपदेशादित्यर्थः। यथा—"सूर्याश्चंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति कल्पनं सृष्टिः। अत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति जगत् सृष्टिरुपदिश्यते। स्वेनाविभक्ताद-स्मात् सूक्ष्मावस्थात् कारणान्मायी सर्वेश्वरः सर्वं जगत् सृजती-त्यर्थः। अनेन कल्पनोपदेशेनास्याः प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्था-द्वयान्वयोऽवगम्यते। सा हि प्रलयवेलायां ब्रह्मतापन्ना अविभक्त नामरूपा सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठते। सृष्टि वेलायां तद्भूत सत्वादिगुणाः विभक्त नामरूपाऽव्यक्तादि शब्दवाच्या तेजोऽबन्नादिरूपेण च परिणता लोहित शुक्ल कृष्णाकारा चावतिष्ठते। अतः कारणाऽवस्था अजा कार्यावस्थाज्योतिरूपक्रमेति न विरोधः।

सूत्रस्थ च शब्द की गई शंका की निवृत्ति के लिए प्रयोग किया गया है। इस प्रकृति के अजात्व और ज्योतिरुपक्रमात्व में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि—कल्पना का उपदेश दिया गया है। क्लृप्ति का अर्थ

ankurnagpal108@gmail.com

होता है सृष्टि, इसलिए कल्पना के उपदेश का तात्पर्य है सृष्टि का उपदेश। जैसे कि—"विधाता ने वैसे ही सूर्य और चंद्र की कल्पना की" इस वाक्य में कल्पना शब्द सृष्टि वाची है। इसमें भी "यह मायावी भूत समुदाय से जगत की सृष्टि करता है" ऐसा जगत सृष्टि का उपदेश दिया गया है। उक्त वाक्य का तात्पर्य है कि—मायाधीश सर्वेश्वर, अपने से अभिन्न, सूक्ष्म कारण रूप में स्थित इस प्रकृति से ही जगत को रचते हैं। इस कल्पनोपदेश से इस प्रकृति की कार्यकारण रूप दोनों अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह प्रकृति प्रलयावस्था में, अविभक्त नाम रूप वाली होकर सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में लीन होकर स्थित रहती है। सृष्टि काल में यही, सत्त्व आदि गुणों के रूप में प्रकट विभक्त नाम रूपवाली, अव्यक्त आदि नामों वाली, तेज जल पृथिवी आदि रूपों में परिणत, रक्त शुक्ल कृष्ण आकार वाली हो जाती है। इस प्रकार कारण अवस्था वाली अजा और ज्योतिरुपक्रमा अजा में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

मध्वादिवत्—यथेश्वरेणादित्यस्य कारणावस्थायामेकस्यैवावस्थितस्य कार्यावस्थायामृग्यजुःसामाथर्व प्रतिपाद्य कर्मनिष्पाद्यरसाश्रयतया वस्वादि देवताभोग्यत्वाय मधुत्वकल्पनं उदयास्तमय कल्पनं च न विरुध्यते, तदुक्तं मधुविद्यायाम्—"असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेतानास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता" इत्यंतेन। एकलः एकस्वभावः। अतोऽनेन मंत्रेण ब्रह्मात्मिकाऽजैवाभिधीयते, न कापिलतंत्र सिद्धेति सिद्धम्।

जैसे कि—कारणावस्था में स्थित एक ही आदित्य की कार्यावस्था अर्थात् उदीयमान अवस्था की ऋग् यजु साम और अथर्व वेद में, कर्मफलावाप्ति के लिए, वसु आदि देवताओं की भोग्यता संपादन के लिए मधुरूप से की गई कल्पना में कोई विरुद्धता नहीं है, वैसे ही अजा के भी कार्यकारण रूप में कोई विरुद्धता नहीं है, मधुविद्या के—"यह आदित्य ही देवताओं का मधु है" इत्यादि से प्रारंभ कर "जैसा अब उदय हुआ है, वैसा अब उदय न होगा" इस अंतिम वाक्य तक के वर्णन से यही

ankurnagpal108@gmail.com

बात स्पष्ट होती है। मंत्र में प्रयुक्त एकल शब्द एक स्वभाव का वाची है। इस मंत्र से ब्रह्मात्मिका अजा की ही प्रतीति होती है, कापिल तंत्र-सिद्ध प्रकृति की नहीं यह निश्चित मत है।

अन्ये त्वस्मिन् मंत्रे तेजोबन्नलक्षणाऽजैकाभिधीयत इति ब्रुवते। ते प्रष्टव्याः, किं तेजोवन्नान्येव तेजोबन्नात्मिकाऽजेका, उत तेजोबन्न रूपं ब्रह्मैव, किं वा तेजोबन्नकारणभूता काचित्—इति। प्रथमे कल्पे तेजोबन्नानां अनेकत्वात् "अजामेकाम्" इति विरुध्यते। न च वाच्यं तेजोबन्नानामनेकत्वेऽपि त्रिवृत्करणे नैकतापत्तिरिति त्रिवृत्करणेऽपि बहुत्वानपगमात्—"इमास्तिस्रो देवताः" तासां त्रवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति प्रत्येकं त्रिवित्करणोपदेशात्। द्वितीयः कल्पो विकल्प्यः, किं तेजोबन्नरूपेण विकृतं ब्रह्मैवाजैका, किं वा स्वरूपेणावस्थितमविकृतमिति। प्रथमः कल्पो बहुत्वानपायादेव निरस्तः। द्वितीयोऽपि "लोहितशुक्लकृष्णां" इति विरुध्यते। स्वरूपेणावस्थितं ब्रह्म तेजोबन्नलक्षणमिति वक्तुमपि शक्येत। तृतीये कल्पेऽप्यजाशब्देन तेजोबन्नानि निर्दिश्य तैस्तत्कारणावस्थोपस्थापनी-येत्यास्थेयम्। ततो वरमजाशब्देन तेजोबन्नकारणावस्थायाः श्रुति-सिद्धाया एवाभिधानम्।

अन्य संप्रदाय वाले कहते हैं कि—इस मंत्र में तेज जल पृथ्वी रूपा एक अजा का वर्णन है। ऐसा कहने वालों से प्रश्न है कि-तेज जल पृथ्वी रूप ही तेज जल पृथिव्यात्मिका एक अजा है? अथवा तेज जल पृथ्वी रूप ब्रह्म ही अजा है? अथवा तेज जल पृथ्वी की कारण भूता कोई शक्ति विशेष है? प्रथम प्रकार तो संभव नहीं है क्योंकि तेज जल पृथ्वी आदि तो अनेक हैं और अजा एक है, यह विरुद्धता कैसे संभव होगी। आप यह नहीं कह सकते कि—तेज जल पृथ्वी अनेक होते हुए भी त्रिवृत् प्रक्रिया से एक ही माने जाते हैं। उनके त्र्यात्मक होते हुए भी उनकी अनेकता भंग नहीं होती, जैसा कि-"इन तीन देवताओं को एक-एक के तीन-तीन करूँगा" इत्यादि से ज्ञात होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

द्वितीय प्रकार भी वैकल्पिक है, अर्थात् यह अजा, तेज जल पृथ्वी रूप से विकृत ब्रह्म है, अथवा स्वरूपावस्थ अविकृत ब्रह्म है ? उसका विकृत रूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि विकृत रूप अनेक होता है, और अजा एक है। अविकृत रूप भी "लोहित शुक्ल कृष्णा" इस विकृत वर्णन से विरुद्ध है। इसलिए तेज जल पृथ्वी आदि रूप वाली स्वरूपावस्थिति है ऐसा तो कह नहीं सकते।

तृतीय प्रकार में भी, अजा शब्द से तेज जल पृथिवी आदि निर्दिष्ट उसकी कारणावस्था ही माननी पड़ेगी। यदि ऐसा ही मानना है तो, श्रुतिसिद्ध कारणावस्था के निर्देश को मानना ही श्रेष्ठ है।

यत्पुनरस्याः प्रकृतेरजाशब्देन छागत्वपरिकल्पनमुपदिश्यत इति, तदप्यसंगतम्, निष्प्रयोजनत्वात्। यथा–"आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायताख्यापनाय शरीरादिषु रथादिरूपणं क्रियते तद्वदस्यां प्रकृतौ छागत्वपरिकल्पनं क्वोपयुज्यते ? न केवल-मुपयोगाभाव एव, विरोधश्च, कृत्स्न जगत् कारणभूतायाः स्वस्मि-न्ननादिकाल संबद्धानां सर्वेषामेव चेतनानां निखिल सुखदुःखोपभोगा-पवर्ग साधनभूतायाः अचेतनायाः अत्यल्प प्रजासर्गकरागंतुक संगम-चेतन विशेषैकरूपा अत्यल्प प्रयोजन साधन स्वपरित्यागाहेतुभूत स्वसंबंधिपरित्याग समर्थ चेतन विशेषरूपच्छागस्वभावख्यापनाय तद्रूपत्वकल्पनं विरुद्धमेव। "अजामेकां" अजो ह्येकः "अजोऽन्यः" इत्यत्राजाशब्दस्य विरूपार्थकल्पनं च न शोभनम्। सर्वत्र छागत्वं परिकल्प्यत इतिचेत् "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति विदुष आत्यंतिक प्रकृति परित्यागं कुर्वतो अनेन वान्येन वा पुनरपि संबंध-योगछागत्वपरिकल्पनमत्यंत विरुद्धम्।

यदि यह कहें कि—अजा शब्द का अर्थ बकरी है, ऐसा कहना भी असंगत है, ऐसे अर्थ में अजा शब्द के प्रयोग का कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता। जैसे कि—"आत्मा को सारथी जानो" इत्यादि वाक्य में,

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म प्राप्ति की उपायता दिखलाने के लिए, शरीरादि की रथादि रूपकों में कल्पना की गई, वैसे ही इस अजा का बकरी अर्थ करने में क्या उपयोग है ? अजा शब्द का बकरी अर्थ करने में केवल प्रयोजन का ही अभाव नहीं है अपितु विरोध भी पड़ता है। संपूर्ण जगत की कारण रूपा प्रकृति, अचेतन होती हुई भी, अनादिकाल से अपने में संबद्ध विशिष्ट चेतनों के समस्त सुख दुखों के भोग की तथा अपवर्ग की साधनिका भी है। उसको अत्यल्प संतान समुत्पादनार्थ, चेतन विशेष के साथ अभिनव संगम संबंध से केवल दुग्ध प्रदान रूप प्रयोजन के लिए बकरी रूप से कल्पित करना, उसके स्वरूप के विरुद्ध ही होगा।

"अजामेकाम्, अजो ह्येकः, अजोऽन्यः" इन पदों में प्रयुक्त अजा शब्द जो कि क्रमशः प्रकृति, बद्धजीव और मुक्त जीव के लिए कहा गया है, यहाँ बकरी अर्थ करना अशोभनीय भी है। यदि कहो कि हम तीनों ही अर्थों में बकरी अर्थ करेंगे तो "दूसरा अज इस भुक्तभोगी अजा का त्याग करता है" इस वाक्य में संपूर्ण रूप से प्रकृति को त्याग करने वाले जिस ज्ञानी पुरुष अज का वर्णन किया गया है, उसकी बकरी रूप से कल्पना करना तो उस मुक्त पुरुष को पुनः माया संबंधी बकरी रूप से बाँधना है, जो कि अत्यंत विरुद्ध है।

३ संख्योपसंग्रहाधिकरण :—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।१।४।११॥

वाजसनेयिनः समामनंति—"यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इति। किमयं मंत्रः कापिलतंत्रसिद्ध तत्वप्रतिपादनपरः उत नेति संदिह्यते। किं युक्तम् ? तंत्रसिद्धतत्व प्रतिपादनपर इति, कुतः ? पंच-शब्द विशेषात् पंचजनशब्दात् पंचविंशति तत्त्व प्रतीतेः। एतदुक्तं भवति—"पंचजनाः" इति समासः समाहार विषयः। पंचानां जनानां समूहाः पंचजनाः "पंचपूल्य" इतिवत्। पंचजना इति लिंगव्यत्ययश्छांदसः, ते च समूहाः कतीत्यपेक्षायां पंचजनशब्द विशेषणेन

ankurnagpal108@gmail.com

प्रथमेन पंचशब्देन समूहाः पंचेति प्रतीयंते, यथा पंच पंचपूल्य इति। अतः "पंच पंचजनाः" इति पंचविंशतिपदार्थावगतौ ते कतम इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यतया स्मृति प्रसिद्धाः प्रकृत्यादय एव ज्ञायंते। "मूलप्रकृतिर्विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति हि कापिलानां प्रसिद्धिः, अतस्तंत्रसिद्ध तत्त्व प्रतिपादन परः।

वाजसनेयी बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया कि—"पाँच, पांचजन और आकाश जिसपर प्रतिष्ठित हैं, उसी को आत्मा मानकर अमृतस्वरूप ब्रह्मवेत्ता पुरुष अमर होते हैं।" इस पर संदेह होता है कि—यह कापिल तंत्रोक्त तत्त्व का प्रतिपादक है या नहीं ? कह सकते हैं कि - सांख्य तत्त्व का ही प्रतिपादक है, क्योंकि— इसमें पांच-पांच जनों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है, जो कि सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वों की ही प्रतीति कराता है। "पंचजनाः" पद समाहार समास विषयक है, पांच जनों के समूह को "पंचजन" कहते हैं, यह "पंचपुल्यः" की तरह समस्त पद है। इस पद में वैदिक व्याकरण के अनुसार लिंग विपर्यय है (पुल्लिग प्रयोग किया गया है अन्यथा स्त्रीलिंग "पंचजनी" प्रयोग होना चाहिए था)। ये पांच समूह कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर—पंचजन शब्द के विशेषणीभूत, दूसरे "पंच" शब्द से ऐसा ज्ञात होता है कि केवल पांच ही हैं; जैसा कि "पंच पंचपुल्यः" में है। "पंच पंचजनाः" इस वाक्य में कहे गए पांच पांच के वे पांच समूहित पदार्थ कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर—सांख्यतत्त्वप्रसिद्ध मुमुक्षुओं के लिए ज्ञातव्य प्रकृति आदि तत्त्व ही ज्ञात होते हैं, यह शास्त्र एकमात्र मोक्षाधिकार का ही उपदेश देता है। "मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात (रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द-महत्-अहंकार) प्रकृति विकृति दोनों हैं। सोलह (जिह्वा-चक्षु-कर्ण-त्वग्-घ्राण, हस्त-पाद-पायु-उपस्थ-वाक्-मन-पृथ्वी-जल-वायु-तेज-आकाश) विकार हैं, पुरुष न प्रकृति है न विकृति।" ये कापिल तंत्रसिद्ध पच्चीस तत्त्व हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि—उक्त श्रुति वाक्य इन तत्त्वों का ही प्रतिपादक है।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"न संख्योपसंग्रहादपि" इति। 'पंच पंचजनाः" इति पंचविंशति संख्योपसंग्रहादपि न तंत्रसिद्ध-तत्त्वप्रतीतिः, कुतः ? नानाभावात्—एषां पंच संख्या विशेषितानां पंचजनानां तंत्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्यः पृथग्भावात्, "यस्मिन् पंच पंच जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्येतेषां यच्छब्द निर्दिष्ट ब्रह्माश्रयतया ब्रह्मात्मकत्वं हि प्रतीयते। "तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इत्यत्र तमिति परामर्शेन यच्छब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मेत्यवगम्यते। अतस्तेभ्यः पृथग्भूताः पंचजना इति न तंत्रसिद्धा एते। अतिरेकाच्च तंत्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्योऽत्र तत्त्वातिरेकोऽपि भवति। यच्छब्दनिर्दिष्ट आत्मा आकाशश्चात्रातिरिच्येते। अतः "तं षड्विंशकमित्याहुस्सप्तविंशमथापरे" इति श्रुति प्रसिद्धसर्वतत्त्वाश्रयभूतः सर्वेश्वरः परमपुरुषोऽत्राभिधीयते, "न संख्योपसंग्रहादपि" इत्यपि शब्दस्य "पंच पंचजनाः इत्यत्र पंचविंशति तत्वप्रतिपत्तिरेव न संभवतीत्यभिप्रायः। कथम् ? पंचभिरारब्धसमूह पंचकासंभवात्, न हि तंत्रसिद्धतत्त्वेषु पंचसु पंचस्वनुगतं यत्संख्यानिवेशनिमित्तं जात्याद्यस्ति, न च वाच्यं, पंच कर्मेन्द्रियाणि, पंच ज्ञानेन्द्रियाणि, पंच महाभूतानि, पंच तन्मात्राणि, अविशिष्टानि पंच—इत्यवांतरसंख्यानिवेशाय निमित्तमस्त्येव इति। आकाशस्य पृथङ्निर्देशेन, पंचभिरारब्धमहाभूतसमूहासिद्धेः। अतः "पंचजनाः" इत्ययं समासो न समाहार विषयः, अयंतु "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति संज्ञाविषयः, अन्यथा पंचजनाः इति लिंगव्यत्ययश्च। पंचजना नाम केचित्संति, ते च पंच संख्या विशेष्यन्ते, "पंच पंचजनाः" इति, "सप्त सप्तर्षय" इति वत्।

उक्त संशय पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "न संख्योप" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् उक्त वाक्य का पच्चीस संख्या अर्थ मान लेने पर भी सांख्योक्त तत्त्वों की प्रतीति नहीं होती, सांख्योक्त तत्त्वों से

ankurnagpal108@gmail.com

पृथक्ता है। इन पंच संख्याविशेषित पांच जनों की सांख्योक्त तत्त्वों से पृथक्ता दिखलाई गई है। यत् शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म के आश्रित होने से, इन तत्त्वों की ब्रह्मात्मकता प्रतीत होती है। "उसको ही आत्मा मानकर जो अमृत स्वरूप ब्रह्म को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं" इस वाक्य में प्रयुक्त तत् शब्द से यत् शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। इससे स्पष्ट है कि—पंचजन सांख्योक्त तत्त्व से पृथक् हैं। इसमें जो तत्त्व वतलाये गए हैं वे सांख्य तत्त्वों से संख्या में अधिक भी हैं। यत् शब्द निर्दिष्ट आत्मा और आकाश ये दो सांख्य तत्त्व से अधिक हैं। "उन्हें कुछ लोग छब्बीस तथा कुछ सत्ताइस तत्त्वों वाला कहते हैं" ऐसे श्रुति प्रसिद्ध, समस्त तत्त्वों के आश्रय सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तम ही उक्त श्रुति के प्रतिपाद्य हैं।

सूत्रस्थ अपि शब्द यह निर्देश कर रहा है कि—"पंच-पंचजनाः" पद से पच्चीस तत्त्वों की प्रतीति कदापि संभव नहीं है। क्योंकि पांच-पांच समूहों का व्यवस्थित रूप से आरंभ करना संभव नहीं है। सांख्योक्त तत्त्वों की पांच-पांच संख्यावाली कोई सुनियोजित पद्धति नहीं है। ऐसा नहीं कह सकते कि—पंच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा और पंच अवशिष्ट (महत्, अहंकार, प्रकृति, मन, पुरुष) ऐसी क्रमबद्ध शृंखला है, क्योंकि—वाक्य में जो आकाश का पृथक् निर्देश किया गया है, उससे पंचमहाभूत समूह असिद्ध हो जाता है। यह "पंचजनाः" पद समाहार समस्त पद नहीं है अपितु "दिक् संख्ये संज्ञायाम्" सूत्र के अनुसार संख्यावाची है। यदि ऐसा न होता तो इस पद में लिंगविपर्यय अवश्य हो जाता (अर्थात् पंचजनी होता), "पंच पंचजनाः" वाक्य "सप्त सप्तर्षयः" की तरह संख्यावाची ही है।

के पुनस्ते पंचजनाः ? इत्यत आह—

तो फिर वे पांच कौन हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

प्राणादयो वाक्यशेषात्। १।४।१२॥

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं अन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" इति वाक्यशेषात् ब्रह्माश्रयाः प्राणादय एव पंचपंचजनाः इति विज्ञायन्ते।

ankurnagpal108@gmail.com

"वे प्राणों के प्राण, नेत्रों के नेत्र, श्रोत्रों के श्रोत्र, अन्नों के अन्न और मनों के मन कहे जाते हैं" इस वाक्यांश में कहे गए, ब्रह्माश्रित प्राण आदि ही उक्त वाक्य में पांच संख्यावाले तत्त्व ज्ञात होते हैं।

अथ स्यात् काण्वानां माध्यन्दिनानां च "यस्मिन् पंच पंचजना:" इत्ययं मंत्रः समानः। "प्राणस्य प्राणः" इत्यादि वाक्यशेषे काण्वानामन्नस्य पाठो न विद्यते। तेषां पंच पंचजनाः प्राणादय इति न शक्यते वक्तुम्—इति, तत्रोत्तरम्।

आपकी बात ही ठीक हो सकती है, पर काण्व और माध्यंदिन दोनों शाखाओं में "पंच पंचजना:" इत्यादि मंत्र समान रूप से मिलता है, किंतु "प्राणस्य प्राणः" इत्यादि काण्व शाखीय वाक्यशेष में अन्न पाठ नहीं है, इसलिए उसमें तो प्राणादि को पांच तत्त्व कह नहीं सकते। इसका उत्तर देते हैं—

ज्योतिषैकेषाम सत्यन्ने ।१।४।१३॥

एकेषां काण्वानां पाठे असत्यन्ने ज्योतिषः पंचजनाः इंद्रियाणीति ज्ञायंते, तेषां वाक्यशेषः प्रदर्शनार्थः। एतदुक्तं भवति—"यस्मिन् पंच पंचजना:" इत्यस्मात्पूर्वस्मिन् मंत्रे "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वे ब्रह्मण्यभिधीयमाने ब्रह्माधीनस्वकार्याणि कानिचित् ज्योतींषि प्रतिपन्नानि, तानि च विषयाणां प्रकाशकानीन्द्रियाणीति। "यस्मिन् पंच पंचजना" इत्यनिर्धारितविशेषनिर्देशेनावगम्यंते इति। "प्राणस्य" इति प्राण शब्देन स्पर्शनेन्द्रियं गृह्यते, वायुसंबंधित्वाद् स्पर्शनेन्द्रियस्य मुख्य प्राणस्य ज्योतिः शब्देन प्रदर्शनायोगात्। चक्षुष इति चक्षुरिन्द्रियम्, श्रोत्रस्येति श्रोत्रेन्द्रियम्, अन्नस्येति घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादामम्, अन्न शब्दोदित पृथ्वी संबंधित्वात् घ्राणेंद्रियमनेन गृह्यते। अद्यते अनेनेत्यन्नम् इति रसनेन्द्रियमपि गृह्यते। मनस इति मनः।

ankurnagpal108@gmail.com

घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादानमिति पंचत्वमप्यविरुद्धम्। प्रकाशकानि मनः पर्यन्तानींद्रियाणि पंचजनशब्दनिदिष्टानि तदविरोधाय घ्राणरसनयोस्तंत्रेणोपादनम्। तदेवम्–"यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति पंचजन शब्दनिर्दिष्टानि इन्द्रियाणि आकाश शब्द प्रदर्शितानि महाभूतानि च ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानीति सर्वतत्त्वानां ब्रह्माश्रयत्व प्रतिपादनात् न तंत्रसिद्ध पंचविंशति तत्त्व प्रसंगः। अतः सर्वत्र वेदांते संख्योपसंग्रहे तदभावे वा न कापिल-तंत्रसिद्ध तत्त्वप्रतीतिः, इति स्थितम्।

काण्व शाखीय पाठ में अन्न शब्द के न होते हुए भी, ज्योति शब्द के निर्देश से इन्द्रियों की ही "पंचजन" शब्द से प्रतीति होती है। उक्त अर्थ के प्रकाशन के लिए ही वाक्य के शेष में "पंचजन" शब्द का प्रयोग किया गया है। कथन यह है कि—"पंच पंचजनाः" वाक्य के पूर्ववर्त्ती "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि वाक्य में, ज्योतियों के प्रकाशक के रूप में ब्रह्म का निरूपण किया गया है। उन ज्योतियों का अपना अपना प्रकाशन कार्य ब्रह्म के ही अधीन है। 'यस्मिन् पंच" इत्यादि में जो विशेष निर्देश किया गया है उससे, विषयों की प्रकाशक पांच इन्द्रियों का ही बोध होता है। "प्राणस्य" पद में कहे गए प्राण शब्द से स्पर्शनेन्द्रिय का ग्रहण होता है, इस इन्द्रिय का वायु के साथ संबंध है। ज्योति शब्द का मुख्य प्राण से तो ग्रहण किया जा नहीं सकता। "चक्षुषः" से चक्षु-रिन्द्रिय, "श्रोत्रस्य" से श्रोत्रेन्द्रिय का निर्देश किया गया है। "अन्नस्य" से घ्राण और रसन दोनों इन्द्रियों का निर्देश किया गया है। अन्न का अर्थ है पृथ्वी, घ्राणेंद्रिय का पृथ्वी से संबंध है, क्योंकि यह इन्द्रिय गंध-गुणवाली पृथ्वी से ही प्रकट हुई है। "अद्यते अनेन इति अन्नम्" इस व्याख्या के अनुसार, रसनेन्द्रिय भी अन्न शब्दवाची हो सकती है। "मनसः" शब्द से मन का निर्देश है। घ्राण और रसन के एक साथ निर्देश होने पर भी, पांच संख्या में कोई अन्तर नहीं आता। प्रकाश स्वभाव वाली मनपर्यन्त इन्द्रियाँ ही "पंचजन" शब्द से निर्दिष्ट हैं, संख्या विषयक विरोध के परिहार के लिए ही घ्राण और रसन दोनों

ankurnagpal108@gmail.com

का एक साथ निर्देश किया गया है। "पंच पंचजनाः" इत्यादि का तात्पर्य है कि--पचशब्द निर्दिष्ट पाच इन्द्रियाँ और आकाश शब्द निर्दिष्ट आकाशादि पंच महाभूत, ब्रह्म में अधिष्ठित है। इस प्रकार समस्त तत्त्वो के ब्रह्माश्रयत्व प्रतिपादन से ही यह निश्चित हो जाता है कि साख्य तत्र सिद्ध तत्त्वो की उक्त मत्र में चर्चा नही है। सांख्या का ग्रहण हो न हो, वेदात वाक्यों में कहीं भी, कापिल तंत्र सिद्ध तत्त्वों की प्रतीति ही नही होती, यह निश्चित है।

४ कारणत्वाधिकरण:—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः १।४।१४॥

पुनः प्रधान कारणवादी प्रत्यवतिष्ठते—न वेदांतेषु एकस्मात् सृष्टिराम्नायत इति, जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न युज्यते इति। कथम्? तथाहि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति सत्पूर्विका सृष्टिराम्नायते, "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यसत् पूर्विका च, अन्यत्र "असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्" इति च। अतो वेदांतेषु स्रष्टुरव्यवस्थितेर्जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न निश्चेतुं शक्यम्, प्रत्युत प्रधानकारणत्वमेव निश्चेतुं शक्यते।

प्रधान-कारणवादी पुनः सामने आते हैं, वे कहते हैं कि वेदांत वाक्यों में केवल एक से ही सृष्टि नहीं बतलाई गई है, इसलिए जगत का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है, ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। देखें—"पहिले यह जगत् सत् स्वरूप ही था" इसमे सत्पूर्विका सृष्टि तथा—"पहिले यह जगत असद् रूप ही था" इसमें असत्पूर्विका सृष्टि का वर्णन मिलता है तथा "यह जगत् पहिले असत् ही था, वही सत् था, वही संभूत हुआ" ऐसा उभयात्मक भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार वेदांत वाक्यों में सृष्टिकर्त्ता के विषय में जो अव्यवस्थित वर्णन मिलता है, उससे एकमात्र ब्रह्म को ही जगत् की सृष्टि का निश्चित कारण नहीं कह सकते, अपितु प्रधान को ही निश्चित रूप से जगत का कारण कह सकते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

"तद्धेदं तर्हि व्याकृतमासीत्" इत्यव्याकृते प्रधाने जगतः प्रलय-मभिधाय "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इत्यव्याकृतादेव जगतः सृष्टि-श्चाभिधीयते । अव्याकृतं अव्यक्तम् , नामरूपाभ्यां न व्याक्रिय ते न व्यज्यत इत्यर्थः । अव्यक्तं प्रधानमेव । अस्य च स्वरूप नित्यत्वेन परिणामाश्रत्वेन च जगत्कारणवादिवाक्यगतौ सदसच्छब्दौ ब्रह्म-णीवास्मिन्न विरोत्स्येते । एवं अव्याकृत कारणत्वे निश्चिते सतीक्ष-णादयः कारणगताः सृष्ट्यौन्मुख्याभिप्रायेण योजयितव्याः । ब्रह्मा-त्मशब्दावपि बृहत्वव्यापित्वाभ्यां प्रधान एव वर्त्तेते अतः स्मृतिन्याय-प्रसिद्धं प्रधानमेव जगत्कारणं वेदांतवाक्यैः प्रतिपाद्यते ।

"यह जगत् उस समय अव्याकृत था" इस वाक्य में अव्याकृत शब्द वाच्य प्रकृति में प्रलय बतलाकर "वह अब्याकृत ही नाम रूप से ब्याकृत हो गया" इस वाक्य में उस अब्याकृत प्रकृति से ही जगत् की सृष्टि भी बतलाई गई है । अव्याकृत का अर्थ है अव्यक्त, अर्थात् जो नामरूप से व्यक्त न हो । अव्यक्त तो प्रधान है ही । यह प्रधान स्वरूपतः नित्य और संपूर्ण परिणामों का आधार होने से, जगत् कारण के प्रतिपादक सत् और असत् दोनों पदों से व्यवहृत हो सकता है, जैसे कि—ब्रह्म का दोनों शब्दों से प्रयोग होता है । इस प्रकार जगत् के कारण रूप से, अव्याकृत के निश्चित हो जाने पर, कारण के संबंध में कहे गए ईक्षण आदि गुणों को भी, सृष्ट्रयोन्मुखी भाव के अभिप्राय से, अव्यक्त के साथ ही जोड़ना होगा । ब्रह्म और आत्मा शब्दों को भी, जो कि बृहत्व और ब्यापकत्व के द्योतक हैं, प्रधान के लिए ही मानना होगा । इसलिए निश्चित ही सांख्यस्मृति-प्रसिद्ध प्रधान ही वेदांत वाक्यों में जगत कारण के रूप से प्रतिपादित है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"कारणत्वेन चा काशाषु" इत्यादि, च शब्दस्तुशब्दार्थे, सर्वज्ञात् सर्वेश्वरात् सत्यसंकल्पान्निरस्त निखिलदोषगन्धात् परस्माद् ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यत इति निश्चेतुं

ankurnagpal108@gmail.com

शक्यते, कुत: ? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टस्योक्ते:, सर्वज्ञत्वादि विशिष्टत्वेन "जन्माद्यस्य यत:" इत्येवमादिषु प्रतिपादितं ब्रह्म यथा व्यपदिष्टमित्युच्यते, तस्यैकस्यैवाकाशादिषु कारणत्वेनोक्ते:। "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:" "तत्तेजोऽसृजत्" "इत्यादिषु सर्वज्ञं ब्रह्मैव कारणत्वेनोच्यते। तथाहि "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति प्रकृतं विपश्चिदेव ब्रह्म तस्माद् वा एतस्मादिति परामृश्यते। तथा-"तदैक्षत् बहुस्याम्" इतिनिर्दिष्टं सर्वज्ञं ब्रह्मैव "तत्तेजोऽसृजत्" इति परामृश्यते। एवं सर्वत्र सृष्टि वाक्येषु द्रष्टव्यम् अतोब्रह्मैक कारणं जगदिति निश्चीयते।

उन सांख्यवादियों के कथन पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "कारणत्वेन चाकाशादिषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्र में च शब्द तु शब्द वाची है। सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सत्य संकल्प, निर्दोष परब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि हुई है ऐसा निश्चित कह सकते हैं। क्योंकि-आकाशादि में कारण रूप से ब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है। "जन्माद्यस्य यत:" सूत्र में सर्वज्ञ आदि गुणविशिष्ट रूप से प्रतिपादित ब्रह्म ही, यथाव्यपदिष्ट रूप से कहा गया है, आकाशादि में एकमात्र उसी को कारण बतलाया गया है। "उसी से आकाश हुआ, उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि में ब्रह्म को ही कारण बतलाया गया है। उसी प्रकार--"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप है" "वह सर्वदर्शी, ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को भोगता है" इत्यादि में जिस सर्वज्ञ ब्रह्म का वर्णन किया गया है, "तस्माद् वा एतस्माद्" में उसी का उल्लेख है। "उसने सोचा बहुत हो जाऊँ" इत्यादि में निर्दिष्ट सर्वज्ञ ब्रह्म का ही "उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि में उल्लेख है। इसी प्रकार सभी जगह सृष्टि परक वाक्यों में देखना चाहिए। इससे निश्चित होता है कि--जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है।

ननु "असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यसदेव कारणत्वेन

ankurnagpal108@gmail.com

व्यपदिश्यते। तत्कथमिव सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य ब्रह्मण एव कारणत्वं निश्चीयत इत्यत आह——

"सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् था" इस वाक्य में तो असत् को ही कारण रूप से दिखलाया गया है, तब सर्वज्ञ सत्य संकल्प ब्रह्म की जगतकारणता कैसे निश्चित होगी ? इसका समाधान करते हैं——

समाकर्षात् ।१।४।१५॥

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यत्रापि विपश्चिदानंदमयं सत्यसंकल्पं ब्रह्मैव समाकृष्यते। कथम् ? "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः,-सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति-इदं सर्वमसृजत, यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादिना ब्राह्मणेनानंदमयं ब्रह्म सत्यसंकल्पं सर्वस्य स्रष्टृ सर्वानुप्रवेशेन सर्वात्मभूतमभिधाय "तदप्येष श्लोको भवति" इत्युक्तस्यार्थस्य सर्वस्य साक्षित्वेनोदाहृतोऽयं श्लोकः "असद् वा इदमग्र आसीत्" इति। तथोत्तरत्र "भीषाऽस्माद् वातः पवते" इत्यादिना तदेव ब्रह्म समाकृष्य सर्वस्य प्रशासितृत्वनिरतिशयानंदत्वादयोऽभिधीयंते। अतोऽयं मंत्रस्तद्विषय एव। तदानीं नामरूपविभागाभावेन तत्संबंधितयाऽस्तित्वाभावात् ब्रह्मैवासच्छब्देनोच्यते। "असदेवेदमग्र आसीत्" इत्यत्राप्ययमेव निर्वाहः।

"सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् था" इस वाक्य में भी सर्वदर्शी आनंदमय, सत्य संकल्प, ब्रह्म का ही संबंध है। सो कैसे ? (उत्तर) "निश्चय ही पहिले कहे हुए, विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न, उसके भीतर रहने वाले आत्मा आनंदमय परमात्मा हैं,-उस परमेश्वर ने विचार किया कि प्रकट होकर बहुत हो जाऊँ,-जो कुछ भी देखने और समझने में आता है उस सबकी रचना की,-उस जगत की रचना करके वह स्वयं

ankurnagpal108@gmail.com

उसी में साथ-साथ प्रविष्ट हो गए,–उसमें प्रविष्ट होकर मूर्त्त और अमूर्त्त हो गए" इत्यादि ब्राह्मण मंत्रों से आनंदमय, सत्य संकल्प, सर्व-स्रष्टा ब्रह्म को, सब मे प्रविष्ट सर्वात्मभूत बतलाकर "उस विषय में भी यह श्लोक है" उपरोक्त अर्थ का प्रतिपादक साक्षी स्वरूप "प्रकट होने से प्रथम यह जडचेतनात्मक जगत अव्यक्त ही था" यह श्लोक कहा गया। तथा इसी प्रकरण के बाद—"इसी के भय से पवन चलता है" इत्यादि वाक्य में, उसी ब्रह्म से संबद्ध सर्व प्रशासकता निरतिशय आनंदमयता का वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त मंत्र ब्रह्मविषयक ही है। सृष्टि के पूर्व नाम रूप का विभाग न होने से, नाम रूप से संबद्ध उसका अस्तित्व भी नहीं था, इसलिए उस अवस्था वाले ब्रह्म का असत् शब्द से उल्लेख किया गया है। "असदेवेदमग्र आसीत्" वाक्य की भी इसी प्रकार अर्थ संगति करनी होगी।

यदुक्तं "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्" इति प्रधानमेव जगत्कारणत्वेनाभिधीयत इति, नेत्युच्यते। तत्राप्यव्याकृतशब्देनाव्याकृतशरीरं ब्रह्मैवाभिधीयते, "स एष हि प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन आत्मेत्येवोपासीत्" इत्यत्र "स एषः" इति तच्छब्देनाव्याकृतशब्दान्निर्दिष्यान्तः प्रविश्य प्रशासितृत्वेनानुकर्षात् "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्-अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति स्रष्टुः सर्वज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशनामरूपव्याकरण प्रसिद्धेश्च।"अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इति नियमनार्थत्वादनुप्रवेशस्य प्रधानस्याचेतनस्यैवंरूपोऽनुप्रवेशो न संभवति।

जो यह कहा कि—"उस समय यह जगत् अव्याकृत था", इत्यादि वाक्य में अव्याकृत प्रधान को ही कारण कहा गया है। यह कथन भी असंगत है, इसमें भी अव्याकृत शरीर ब्रह्म का ही वर्णन है। "वह आत्मा इस शरीर में नख से शिख पर्यन्त प्रविष्ट है उसके देखने से चक्षु, सुनने से श्रोत्र तथा मनन करने से मन आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उसे

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मा मानकर उपासना करो" इस वाक्य में "स एषः" वाक्यगत तत् शब्द से अव्याकृत शब्दनिर्दिष्ट पदार्थ को ही, अन्तर्यामी प्रशासक रूप से स्थिर किया गया है। "उसने सृष्टि करके उसी में प्रवेश किया" तथा इस जीव में प्रवेश करके नाम रूप को प्रकाशित करूँगा" इत्यादि में जगत् स्रष्टा, सर्वज्ञ परब्रह्म के कार्यानुप्रवेश और नामरूपाभिव्यक्तीकरण का प्रसिद्ध वर्णन है। "वह अन्तर्यामी सबका शासक है" इत्यादि वाक्य में, उसका अनुप्रवेश और जगत शासकता ही एकमात्र उद्देश्य है, प्रधान में जडता के कारण ऐसी अनुप्रवेश शक्ति संभव नहीं है।

अतः अव्याकृतम्—अव्याकृतशरीरं ब्रह्म "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत्" इति तदेवाविभक्तनामरूपं ब्रह्म सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं स्वेनैव विभक्त नामरूपं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युच्यते। एवं च सति ईक्षणादयो मुख्या एन भवंति ब्रह्मात्मशब्दावपि निरतिशयबृहत्वनियमनार्थव्यापित्वाभावेन प्रधाने न कथंचिदुपयद्यते। अतो ब्रह्मैककारणं जगदिति स्थितम्।

अव्याकृत शरीर ब्रह्म को ही अव्याकृत बतलाया गया है, जैसी कि—"वह नामरूपाकार में अभिव्यक्त हुआ" इत्यादि में अव्याकृत सर्वज्ञ सत्यसंकल्प ब्रह्म की नामरूपाकार में अभिव्यक्ति बतलाई गई है। इस प्रकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति सिद्ध हो जाने पर ईक्षण आदि गुण भी उन्हीं के सिद्ध होते हैं। ब्रह्म और आत्मा शब्द भी, निरतिशय बृहत्व और सर्वनियमनोपयोगी व्यापकता के अभाव से, प्रधान में कभी भी संभव नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि जगत का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है।

५ जगद्वाचित्वाधिकरण :—

जगद्वाचित्वात् ।१।४।१६॥

पुनरपि सांख्यं प्रत्यवतिष्ठते—यद्यपि वेदांत वाक्यानि चेतनं जगत्कारणत्वेन प्रतिपादयंति, तथापि तंत्रसिद्धप्रधानपुरुषातिरिक्त

ankurnagpal108@gmail.com

वस्तु जगत्कारणं वेद्यतया न तेभ्यः प्रतीयते । तथाहि–भोक्तारमेव पुरुषं कारणं वेद्यतयाऽधीयते कौषीतकिनो बालाक्यजातशत्रु-संवादे––"ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य "यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वेतत्कर्म स वै वेदितव्य." इति उपक्रमे वक्तव्यतया बालाकिनोपक्षिप्त ब्रह्माजानते तस्मा एव अजात-शत्रुणा "स वै वेदितव्य." इति ब्रह्मोपदिश्यते । "यस्य वैतत्कर्म" इति कर्मसबंधात् प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुषो वेदितव्योपदिष्टं ब्रह्मेति निश्चीयते । नाथनिरम्, तस्य कर्मसंबंधानभ्युपगमात् । कर्म च पुण्यापुण्यलक्षणं क्षेत्रज्ञस्यैव संभवति ।

साख्यवादी पुनः प्रतिपक्षी होकर उठते है––यद्यपि वेदान्त वाक्यो मे चेतन को ही जगत् कारण रूप से प्रतिपादित किया गया है, तथापि उनमे साख्य तत्र सिद्ध प्रधान पुरुष के अतिरिक्त, कोई अन्य वस्तु जगत् कारणरूप से नही प्रतीत होती। कौषीतकि शाखा के बालाकि और अजातशत्रु के कथोपकथन मे, भोक्ता को ही, कारण रूप से, ज्ञातव्य बतलाया गया है। "तुझे ब्रह्मोपदेश करता हूँ" इत्यादि से प्रारंभ करके "हे बालाकि ! जो इस पुरुष समुदाय का कर्त्ता है, एवं जगत जिसका कार्य है, वही ज्ञातव्य तत्त्व है"। बालाकि ने उपक्रम मे जिस ब्रह्म को जानने की अभिलाषा प्रकट की, बालाकि उस ब्रह्म को नही जानता ऐसा समझकर अजातशत्रु ने स्वतः ही उसे ब्रह्म सबधी उपदेश उक्त वाक्य में दिया। "यही जिसका कर्म है" इत्यादि वाक्य मे, कर्म के साथ सबंधित होने से यह निश्चित होता है कि–ज्ञातव्यरूप से उपदिष्ट ब्रह्म तत्त्व, सांख्य सम्मत प्रकृति प्रेरक, भोक्ता पुरुष से भिन्न, कोई दूसरा नही है ऐसा प्रतीत होता है। उक्त प्रसग मे जिस ब्रह्म का उल्लेख किया गया है, वह परब्रह्म नही हो सकता, क्योकि––परब्रह्म का कही भी, कर्म के साथ संबध नही बतलाया गया है। पुण्य पाप लक्षण वाले कर्म का संबंध तो क्षेत्रज्ञ (जीव) से ही हो सकता है।

न च वाच्यम्–क्रियत इति कर्मेति व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षादि प्रमाणो-पस्थापितं जगदेतत्कर्मेति निर्दिश्यते, यस्यैतत्कृत्स्नं जगत् कर्म, स

ankurnagpal108@gmail.com

वेदिव्य इति क्षेत्रज्ञादर्थान्तरमेव प्रतीयतेइति। "यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देश वैयर्थ्यात् , कर्मशब्दस्य च लोकवेदयोः पुण्य पाप रूप एव कर्मणि प्रसिद्धेः। तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वात् जगदुत्पत्तेरेतेषां पुरुषाणां कर्त्तेति च भोक्तुरेवोपपद्यते। तदयमर्थः—एतेषां आदित्यमंडलाद्यधिकरणानां क्षेत्रज्ञभोग्य भोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां यः कारणभूतः, एतत्-कारणभावहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं च कर्म यस्य स वेदितव्यः, तत्स्व-रूपं प्रकृतेर्विविक्तं वेदितव्यम्—इति।

ऐसा नहीं कह सकते कि—जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं, इस व्याख्या के अनुसार, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध जगत ही, इस ब्रह्म के कर्म के रूप में बतलाया गया है। "जिसका यह सारा जगत कर्म है, वही ज्ञातव्य है" इत्यादि में क्षेत्रज्ञ से विलक्षण, परब्रह्म ही प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर तो "हे बालाकि ! जो इन पुरुषों का कर्त्ता है, एवं यह जगत् जिसका कर्म है" इत्यादि में किया गया कर्त्ता और कर्म का पृथक् निर्देश ही व्यर्थ हो जायेगा। कर्म शब्द की, लोक और वेद में पाप और पुण्य रूप कर्म से ही प्रसिद्धि है। विभिन्न भोक्ताओं के कर्मानुसार ही जगत् की उत्पत्ति होती है, इस नियम के अनुसार "इन सब पुरुषों का कर्त्ता" इत्यादि वक्तव्य से, भोक्ता संबंधी कर्म ही, सिद्ध होता है। उक्त प्रसंग से यह तात्पर्य निकलता है कि, जो आदित्य मंडल आदि में स्थित हैं, एवं जीव के भोग्य और भोगोपकरण रूप इन पुरुषों के कारण हैं तथा कारण भाव के हेतुभूत, पाप और पुण्य कर्म वाले हैं, उन्हें ही जानना चाहिए, अर्थात् उनके स्वरूप को, प्रकृति से भिन्न रूप से जानना चाहिए।

तथोत्तरत्र— "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः तं यष्टिना चिक्षेप" इति सुप्तपुरुषागमनयष्टिघातोत्थापनादीनि च भोक्तृप्रतिपादन एव लिंगानि। तथोपरिष्टादपि भोक्तैव प्रतिपाद्यते "तद् यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुंक्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुंजंत्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुंक्ते

ankurnagpal108@gmail.com

एवमेवैत आत्मान एनं भुंजंति"इति। तथा "क्वैषा एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदायात्" इति पृष्टमर्थमजानते तस्मै स्वयमेवाजातशत्रुरुवाच-"हिता नाम नाड्यस्तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कथंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति मनः सर्वैः ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति सुषुप्त्याधारतता स्वप्नसुषुप्तिजागरितावस्थासु वर्त्तमानं वागादिकरणाप्ययोदगमस्थानमेव जीवात्मानम् "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्युक्तवान्।

प्रकरण के उत्तर भाग में कहा गया है कि—"वे दोनों सोए हुए पुरुष के निकट आए, और छड़ी से प्रहार किया" इत्यादि में सुप्त के पास आना और छड़ी के प्रहार से उठाना आदि, भोक्तृप्रतिपादन के ही चिन्ह है [प्रकृत आत्मा देह इन्द्रिय आदि से भिन्न तत्त्व है, यह समझाने के लिए, अजातशत्रु बालाकि के साथ एक सोते पुरुष के पास जाकर छड़ी से मारने लगे, उसकी निद्रा भंग हो गई। इससे स्पष्ट हो गया कि—यह आत्मा यदि भोक्ता न होता तो, छड़ी के स्पर्श से उसमें संज्ञा का संचार न होता, छड़ी का स्पर्श भी एक प्रकार का भोग ही है, तभी तो उसे संज्ञा प्राप्त हुई]। इसी प्रकार प्रकरण के पूर्व भाग में भी भोक्ता का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—"सेठ जिस प्रकार धन का भोग करता है, ठीक उसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा भी, इन देह इन्द्रिय आदि से भोग करता है, ये देहेन्द्रिय आदि भी उसका भोग करते है" तथा—"हे बालाकि ! यह जो पुरुष है, जब सोया था, तब कहाँ था, अब यह कहाँ से आया ?" इस प्रश्न द्वारा बालाकि को अज्ञानी जानकर अजातशत्रु ने स्वयं ही उससे कहा—"हिता नाम की जो, हृदय से संबद्ध शरीर में व्याप्त नाडियाँ हैं, उनके द्वारा, बुद्धि सहित हृदय में जाकर शयन करता है, सुषुप्ति में वह स्वप्न नही देखता, उस समय सारे प्राण एकत्र होकर स्थित रहते हैं, वागेन्द्रिय समस्त शब्दों के साथ उसके निकट पहुँच जाती

ankurnagpal108@gmail.com

है। मन भी समस्त चिन्तनों के साथ उसके पास उपस्थित रहता है। जब यह जागता है तब, अग्नि से प्रस्फुटित चिनगारियों की तरह, इन्द्रियाँ इससे अलग होकर यथा स्थान पहुँच जाती हैं, उन इन्द्रियों से उनके अधिष्ठातृ देवता तथा उन देवताओं से समस्त लोक अर्थात् शब्दादि विषय अलग हो जाते हैं" इत्यादि में स्वप्न, सुषुप्ति और जागृति अवस्थाओं मे वर्त्तमान, वाग आदि इन्द्रियों का विलय और उद्भवस्थान जीवात्मा ही बतलाया गया है।

अस्मिन् जीवात्मनि प्राणभृत्त्वनिबंधनोऽयं प्राणशब्दः-"स यदा प्रतिबुध्यते" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य प्रबोधश्रवणात् मुख्यप्राणस्येश्वरस्य च सुषुप्तिप्रबोधयोऽसंभवात्, अथवा "अस्मिन् प्राण" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ अस्मिन्नात्मनि वर्त्तमाने प्राण एवैंकधा भवति वागादिकरणग्राम इति। प्राणशब्दस्य मुख्य प्राण परत्वेऽपि जीव एवास्मिन् प्रकरणे प्रतिपाद्यते, स्वतः प्राणस्य जीवोपकरणत्वात्। अतो वक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म पुरुष एवेति, तद्व्यतिरिक्तेश्वरासिद्धेः। कारणगताश्चेक्षणादयश्चेतनधर्माः अस्मिन्नेवोपपद्यंत, इत्येतदधिष्ठितं प्रधानमेव जगत्कारणम्।

यह जीवात्मा प्राणभृत अर्थात् प्राण विधारक है, इसी लिए उसमें प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है। "वह जिस समय उठता है" इस स्थल में, प्राणशब्दनिर्दिष्ट पदार्थ का ही प्रबोध या जागरण प्रतीत होता है। मुख्य प्राण अर्थात् प्राणों के ईश्वर का प्रबोध या जागरण कभी संभव नहीं है। अथवा "अस्मिन् प्राणे" इस स्थल में जो दो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, वह व्यधिकरण (अर्थात् दोनों में विशेष्य विशेषण भाव नहीं है) का प्रतिपादन करता है, जिससे निश्चित होता है कि—इस वर्त्तमान प्राण में ही वागादि इन्द्रियाँ एकत्र हो जाती हैं। प्राण शब्द के मुख्य प्राण परक होते हुए भी, उक्त प्रकरण में, जीव अर्थ में ही उसका प्रयोग किया गया है, प्राण तो स्वतः ही जीव का उपकरण (भोग का साधन) है। प्रकरण के प्रारंभ में वक्तव्य रूप से जिस

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म का उपक्रम किया गया है, वह निश्चित पुरुष ही है, इसके अतिरिक्त उक्त प्रकरण में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। कारणगत ईक्षण आदि चेतन धर्म भी इस पुरुष (जीव) में ही घटते हैं। इस चेतन पुरुष द्वारा परिचालित प्रकृति ही जगत का कारण है, यह भी निश्चित होता है।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्वाचित्वात्, अत्र पुण्यापुण्य परवशः क्षेत्रज्ञः स्वस्मिन् प्रकृतिधर्माध्यासेन तत्परिणामहेतुभूतः पुरुषो नाभिधीयते, अपितु निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणनिधिर्निखिल जगदेककारणभूतः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। कुतः? "यस्य वैतत्कर्म" इति, अत्रैतच्छब्दान्वितस्य कर्मशब्दस्य परमपुरुषकार्यभूतजगद्वाचित्वात्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "जगद्वाचित्वात्" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकरण में, पुण्यपाप परवश क्षुद्र क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) जो कि स्वतः कर्तृत्व आदि प्राकृतिक धर्मों को कार्यरूप में परिणत करने में असमर्थ है, वह पुरुष अभिधेय नहीं है। अपितु अविद्या आदि दोषों से रहित, अगणित अपार असंख्य कल्याणगुण सागर, समस्त जगत का एकमात्र कारणभूत पुरुषोत्तम ही अभिधेय है। "यह जगत् जिसका कर्म है" इत्यादि वाक्य में "एतत्" शब्द से प्रयुक्त "कर्म" शब्द, परम पुरुष परमेश्र के कार्यरूप जगत का ही वाचक है।

एतच्छब्दो ह्यर्थप्रकरणादिभिरसंकुचितवृत्तिरविशेषण प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रितजगद्विषयः। न च पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मात्र कर्मशब्दाभिधेयम् "ब्रह्मते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य ब्रह्मत्वेन बालाकिना निर्दिष्टादित्यमण्डलाद्यधिकरणानां पुरुषाणामब्रह्मत्वेन "मृषा वै खलु मा संवादयिष्ठाः" इतितम ब्रह्मवादिनमपोद्य तेनाविदितब्रह्मज्ञानायाजातशत्रुणेदं वाक्यमवतारितं "यो वै बालाके" इत्यादि। पुण्यापुण्यलक्षण कर्मसंबंधिन आदित्याद्यधिकरणाः तत्स-

ankurnagpal108@gmail.com

जातीयाश्चपुरुषास्तेनैव विदिता इति तदविदितपुरुषविशेषज्ञापन-परोऽयं कर्मशब्दो न पुण्यापुण्यमात्रवाची, अपितु कृत्स्नस्यजगतः कार्यत्ववाची। एवमेवखल्वविदितोऽर्थउपदिष्टो भवति। पुरुषस्य कर्मसंबंधोपलक्षितस्वाभाविकस्वरूपस्याज्ञातस्य वेदितव्योपदेशे च लक्षणा, कर्मसंबंधमात्रस्यैव वेदितव्यस्वरूपलक्षणत्वात् यस्य कर्म स वेदितव्य, इत्येतावतैव तत्सिद्धेः "यस्य वैतत्कर्म" इत्येतच्छब्द वैयर्थ्यं च।

"एतत्" शब्द का अर्थ, प्रकरण आदि से बहुत ही स्पष्ट और सामान्य ढंग से, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ग्रहीत, चेतन अचेतन युक्त समस्त जगत का वाची प्रतीत होता है। इस प्रसंग में प्रयुक्त कर्म शब्द, पुण्यपाप रूप ही कर्म नहीं है। "तुम्हें ब्रह्म तत्त्व बतलाता हूँ' इत्यादि से बालाकि को आदित्यमण्डल से अधिष्ठित जिस पूर्ण पुरुष ब्रह्म का निर्देश किया गया, उसी को "मुझे झूठी बातों से मत ठगो" ऐसी अब्रह्म-वादी बालाकि द्वारा निन्दा करने पर, उसके अज्ञान निवारण के लिए अजातशत्रु ने "यो वै बालाके" इत्यादि वाक्य से अविज्ञात ब्रह्म तत्त्व का निरूपण किया। पुण्यपाप संबद्ध आदित्य आदि के आश्रयभूत एवं उसके समानजातीय पुरुष को तो बालाकि स्वयं ही जानता था, उसको वैसा ही उपदेश देने का कोई मतलब ही नहीं था, इससे निश्चित होता है कि—"कर्म" शब्द एकमात्र पुण्यापुण्य का ही वाचक नही है, अपितु संपूर्ण जगत की कार्यता का भी बोधक है। ऐसा मानने से ही, सही अर्थों में अविज्ञात तत्त्व का उपदेश घटित होता है। जो स्वतः सिद्ध स्वरूप है, समय विशेष में ही कर्म से संबद्ध होता है, उस अविज्ञात पुरुष की यदि ज्ञातव्योपदेश रूप से कल्पना की जाय तो, वह लक्षणा द्वारा ही संभव है, क्योंकि—कर्म के साथ जो संबंध है, एकमात्र उससे ही जिसके स्वरूप का ज्ञान होता है, वहां ज्ञातव्य तत्त्व है। "यह जगत जिसका कर्म है, उसे जानो" इतना कहने मात्र से ही उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है। यदि जगत् रूप कर्म का संबंध ज्ञेय से तोड़ दिया जाय तो वाक्यगत "एतत्" शब्द की उपयोगिता ही समाप्त हो जायगी।

ankurnagpal108@gmail.com

"य एतेषां कर्ता यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देशस्य चायमभिप्रायः, ये त्वया ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टाः तेषां यः कर्त्ता,ते यत्कार्यभूताः, किं विशिष्याभिधीयते, कृत्स्नस्यजगद्यस्यकार्यम्, उत्कृष्टा अपकृष्टाः चेतनाअचेतनाश्च सर्वेपदार्था यत्कार्यत्वे तुल्याः, स परमकारणभूतः पुरुषोत्तमो वेदितव्यः, इति। जगदुत्पत्तेर्जीवकर्मनिबंधनत्वेऽपि न जीवः स्वभोग्यभोगोपकरणादेः स्वयमुत्पादकः, अपितु स्वकर्मानुगुण्येनेश्वरसृष्टं सर्वं भुंक्ते, अतो न तस्य पुरुषान् प्रति कर्त्तृत्वमुपपद्यते। अतः सर्वं वेदांतेषु परमकारणतया प्रसिद्धं परंब्रह्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते।

"जो इसका कर्त्ता है, एवं यह जिसका कर्म है" इत्यादि में किये गए कर्त्ता कर्म के पृथक् निर्देश का अभिप्राय है कि—तुम्हारे द्वारा जो ब्रह्मत्वरूप से निर्दिष्ट पुरुष है तथा जो कर्त्ता है, जिसके वे सब कार्यरूप हैं, अधिक क्या, सारा जगत ही जिसका कार्य है, भला बुरा, जड चेतन सभी पदार्थ उसके कार्य के समान हैं, वह परमकारण रूप पुरुषोत्तम ही ज्ञातव्य हैं। जीव का पापपुण्यमय कर्म ही यदि जगत की उत्पत्ति का कारण है तो प्रश्न उठता है कि—जीव अपने भोग्य और भोगोपकरणों का उत्पादक कैसे होगा? वह तो अपने कर्मों के अनुसार, ईश्वर सृष्ट पदार्थों का भोग मात्र कर सकता है, जीव का जीवों के प्रति कर्तृत्व कभी संभव नही है। सभी वेदांत वाक्यो मे परम कारण रूप से प्रसिद्ध परब्रह्म ही उक्त प्रकरण के ज्ञातव्य विषय हैं।

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ।१।४।१७।।

अथ यदुक्तम्—जीवलिंगान्मुख्यप्राणसंकीर्त्तनाच्च लिंगाद् भोक्तैवाऽस्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, न परमात्मा इति, तद् व्याख्यातम्। तस्य निर्वाहः प्रतर्दनविद्यायामभिहितः। एदतुक्तं भवति—यत्रोपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया ब्रह्मपरं वाक्यमिति निश्चितम्, तत्रान्यलिंगानि तदनुरोधेन वर्णनीयानीति तत्र प्रतिपादितम्। अत्राप्युक्रमे "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति ब्रह्मोपक्षिप्तम्, मध्ये च "यस्य वै

ankurnagpal108@gmail.com

तत्कर्म" इति निर्दिष्टं न पुरुषमात्रम् अपितु निखिलजगदेककारणम् ब्रह्मैवेत्युक्तम् ।

जो यह कहते हो कि— इस प्रसंग में जीव शब्द और मुख्य प्राण बोधक शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि—भोक्ता पुरुष का ही इस प्रकरण में प्रतिपादन किया गया है, परमात्मा का नहीं। इस विषय की व्याख्या हम कर चुके हैं, इसका समाधान भी प्रतर्दन विद्या के प्रसंग में कर चुके हैं। अब तो कथन यह है कि—जब प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार की पर्यालोचना से यह निश्चित हो चुका कि सारा प्रसंग परब्रह्म परक ही है, इसलिये प्रयुक्त जितने भी शब्द हैं, उनका तदनुसार ही अर्थ करना चाहिए यही बात वहाँ प्रतिपादित भी है। इस प्रसंग के उपक्रम में भी जैसे—"तुझे ब्रह्मोपदेश देता हूँ" ब्रह्म का उल्लेख किया गया है। प्रसंग के मध्य के—"यह जिसका कर्म है" इस निर्देश में केवल पुरुष मात्र ही नहीं अपितु संपूर्ण जगत के कारण रूप से ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है।

उपसंहारे च— "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मोपासनैकान्तं सर्वपापापहतिपूर्वकं स्वाराज्यं च फलं श्रुतम्, अतोऽस्यवाक्यस्य परब्रह्मपरत्वनिश्चयेनजीवमुख्यप्राणलिगान्यपि तत्परतया वर्णनीयानि—इति ।

प्रातर्दने हि उपासात्रैविध्येन जीवमुख्यप्राणलिगानां ब्रह्मपरत्वमुक्तम्, अत्रापि—"अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इति सामानाधिकरण्य संभवे वैयधिकरण्यसमाश्रयणायोगात् ब्रह्मण्येव प्राणशब्द प्रयोग निश्चयेन च प्राणशरीरकब्रह्मोपासनार्थं प्राणसंकीर्तनं लिगं युज्यते ।

उपसंहार में भी—"जो इस प्रकार जानता है वह समस्त पापों को भस्म करके, संपूर्ण भूतों के श्रेष्ठतम रूप स्वर्ग राज्य का आधिपत्य

ankurnagpal108@gmail.com

निश्चित होता है कि–जीव का वर्णन, जीव से भिन्न परमात्मा के प्रतिपादन के लिए ही किया गया है।

यदुक्तं प्रश्नव्याख्याने जीवपरे सुषुप्तिस्थानं च नाड्यएव, कारणग्रामश्च प्राणशब्दनिर्दिष्टे जीवएवैकधा भवति इति, तदयुक्तम् नाडीनां स्वप्नस्थानत्वात् उक्तरीत्याब्रह्मण एव सुषुप्तिस्थानत्वात्। प्राणशब्द निर्दिष्टे ब्रह्मण्येव जीवस्य तदुपकरणभूतवागादिकरणग्रामस्य चैकतापत्ति विभागवचनाच्च।

अपिचैवमेके–वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव वालाक्यजातशत्रु संवादे सुषुप्तादविज्ञानमयात् भेदेन तदाश्रयभूतं परमात्मानमामनंति–"य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष, तदाऽभूत्कुत एतदागात्"यत्रैष एतत् सुप्तो अभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदैतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन् शेते" इति आकाश शब्दश्च परमात्मनि प्रसिद्धः। "दहरोऽत्रस्मिन्नंतर आकाशः" इति। अतोऽत्र जीव संकीर्त्तनं तस्मादर्थान्तरभूतस्यप्राज्ञस्यपरस्यब्रह्मणः प्रतिबोधनार्थमित्यवगम्यते। तस्मादस्मिन्वाक्ये पुरुषादर्थान्तरभूतस्य निखिलजगत्कारणस्यपरस्यैवब्रह्मणो वेदितव्यतयाऽभिधानान्नतंत्रसिद्धस्य पुरुषस्यतदधिष्ठितस्य वा प्रधानस्य कारणत्वं क्वचिदपि वेदाते प्रतीयत इति स्थितम्।

प्रश्न और उत्तर दोनों ही जीव परक हैं, परमात्मा परक नहीं, नाड़ियां ही जीव का शयन स्थल है परमात्मा नही तथा इन्द्रियाँ ही प्राण बोधक हैं जो कि जीव मे एकत्र हो जाती है, इत्यादि कथन भी असगत है। नाड़ियो को शयन स्थल मानकर तुम उक्त मत स्थिर करते हो, उसी तरह हम, परमात्मा को शयन स्थल मानकर यह निर्णय करते है कि–प्राण शब्द निर्दिष्ट, जीव की साधन रूप वागादि इन्द्रियाँ, ब्रह्म में ही एकत्र होती और भिन्न होती है। ऐसा ही इसी वाजसनेयी की एक शाखा मे बालाकि अजातशत्रु के संवाद में, सुप्त पुरुष से भिन्न, उसके

ankurnagpal108@gmail.com

आश्रयभूत परमात्मा का ऐसा वर्णन मिलता है कि—"यह जो विज्ञानमय पुरुष है, वह उस समय (सुप्तावस्था में) कहाँ था ? और बाद में (जागरितावस्था में) कहाँ से आ गया ? यह जब सुप्त था तब यह विज्ञानमय पुरुष, प्राण समूह विज्ञान के साथ, स्वीय विज्ञान को ग्रहण करके, इ-। हृदयस्थ आकाश में शयन कर रहा था" "दहरोऽस्मिन्नंतर आकाश"इत्यादि में आकाश शब्द परमात्मा के लिए प्रसिद्ध है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—उक्त प्रसंग में जो जीव का उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्म परक ही है तथा पुरुष से भिन्न संपूर्ण जगत का कारण परब्रह्म ही ज्ञातव्य है। सांख्यतंत्रसिद्ध पुरुष और उससे अधिष्ठित प्रधान का कारणरूप से वेदांत वाक्यों में कहीं भी उल्लेख नहीं है।

६ वाक्यान्वयाधिकरण :—

वाक्यान्वयात् ।१।४।१९॥

अत्रापि कापिलतंत्रसिद्धपुरुषतत्त्वावेदनपरंवाक्यं क्वचित् दृश्यत इति, तदतिरिक्त ईश्वरो नाम न कश्चित् संभवतीत्याशंक्य निराकरोति।

इस प्रकरण में भी कापिलतंत्र सिद्ध पुरुष तत्त्व को बतलाने वाले वाक्य कहीं-कहीं दिखलाई देते हैं, इसलिए उसके अतिरिक्त ईश्वर नामक कोई दूसरा नहीं हो सकता, ऐसी शंका करके उसका निराकरण करते हैं।

बृहदारण्यके मैत्रेयी ब्राह्मणे श्रूयते—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यारभ्य "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् इति।

बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है कि—"अरे पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता" इत्यादि से लेकर "अरे सब की कामना से सब प्रिय नहीं होते, आत्मा को ही देखो, सुनो, मनन करो और अभ्यास करो, अरी मैत्रेयी ! इस आत्मा में ही देखने, सुनने, मनन करने और जानने से यह सारा जागतिक प्रसार ज्ञात हो जाता है।" यहाँ तक।

ankurnagpal108@gmail.com

तत्र संशयः, किमस्मिन्वाक्ये द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानः तंत्रसिद्धः पुरुष एव, अथवा सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः सर्वेश्वरः ? इति किं युक्तम् ? पुरुष इति, कुतः ? आदिमध्यावसानेषु पुरुषस्यैव प्रतीतेः, उपक्रमे तावत् पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियत्वयोगाज्जीवात्मैव प्रतीयते। मध्येऽपि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्युत्पत्तिविनाशयोगात्स एवावगम्यते। तथाऽन्ते च "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति स एव ज्ञाता क्षेत्रज्ञ इति प्रतीयते, नेश्वरः। अतस्तंत्रसिद्धपुरुष प्रतिपादनपरमिदं वाक्यमिति निश्चीयते।

उक्त वाक्य के विषय में संशय होता है कि-इसमें द्रष्टव्य रूप से उपदिष्ट, तंत्रसिद्ध पुरुष ही है, अथवा सर्वज्ञ सत्यसंकल्प सर्वेश्वर हैं ? कह सकते हैं कि पुरुष ही है; वाक्य के आदि मध्य और अन्त से पुरुष की ही प्रतीति होती है। उपक्रम में पति स्त्री पुत्र वित्त पशु आदि की प्रियता का संपर्क दिखलाया गया है जिससे जीवात्मा की ही प्रतीति होती है। मध्य में भी जैसे-"विज्ञानघन ही इन पंच भूतों का अनुगत होकर व्यक्त होता है तथा उनके विनष्ट होने पर विनष्ट हो जाता है, मृत्यु के बाद कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रह जाता"-उत्पति और विनाश के साथ जो संयोग दिखलाया गया है, उससे भी उसी (जीव) का बोध होता है। इसी प्रकार अन्त में भी-"अरे! विज्ञाता को और कैसे जानेगी ?" वह क्षेत्रज्ञ ही ज्ञाता होता है, ईश्वर नहीं। इससे निश्चित होता है कि-यह वाक्य सांख्य तंत्रोक्त पुरुष परक ही है।

ननु "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इत्युपक्रमामृतत्वप्राप्त्युपायोपदेशपरमिदं वाक्यमिदमवगम्यते। तत्कथं पुरुषप्रतिपादन परत्वमस्यवाक्यस्य तदुच्यते, अतएव ह्यत्र पुरुषप्रतिपादनम्। तंत्रे हि अचिद्धर्माध्यासविमुक्तपुरुषस्वरूपरूपयाथात्म्यविज्ञानमेवामृतत्वहेतुत्वेनोच्यते, अतो जीवात्मनः प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमिहामृतत्वाय "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

"धन से अमृतत्व प्राप्ति की आशा नहीं है" इस उपक्रमवाक्य से तो ज्ञात होता है कि अमृतत्व प्राप्ति के उपाय का उपदेश ही इस वाक्य में दिया गया है, इसे पुरुष प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर देते हैं कि–इसमें पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है। सांख्य शास्त्र में अचित् धर्म (सुखदुःखादि) के बंधन से मुक्त पुरुष स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को ही अमृतत्व प्राप्ति का कारण कहा गया है "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादि में, जीवात्मा के, प्रकृति बंधन से मुक्त स्वरूप का ही, अमृतत्व प्राप्ति के लिए उपदेश दिया गया है।

सर्वेषामात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्वात्मयाथात्म्यविज्ञानेन सर्व एवात्मानो विदिता भवंतीत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नम्। देवादिस्थावरांतेषुसर्वेषुभूतेष्वात्मस्वरूपस्य ज्ञानैकप्रकारत्वात् "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यैकात्म्योपदेशः देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वात् "सर्वं तं परादात्" इत्यादिनाऽन्यत्वनिषेधश्च "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इति च नानात्वनिषेधेनैकस्वरूपे हि आत्मनि देवादिप्रकृति परिणामभेदेन नानात्वं मिथ्येत्युच्यते। "तस्य वा एतस्यमहतोभूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" इत्याद्यपि प्रकृतेरधिष्ठातृत्वेन पुरुषनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तेरुपपद्यते। एवमस्मिन्वाक्ये पुरुषपरे निश्चिते सति तदैकार्थ्यात् वेदांताः तंत्रसिद्धं पुरुषमेवादधतीति तदधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगदुपादानम्, नेश्वरः, इति।

सभी आत्माओं का प्रकृति बंधन से मुक्त स्वरूप एक सा है, इसलिए प्रकृति बंधन से अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, सभी आत्माओं का परिज्ञान हो जाना स्वाभाविक है, इसलिए अपने ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है, यह सिद्धान्त भी समीचीन है। देवादिस्थावर पर्यन्त सभी भूतों में आत्मज्ञान स्वरूप धर्म समान है इसलिए "यह सब आत्मस्वरूप है" ऐसा एकात्मोपदेश दिया गया, देवादि का आकार तो ज्ञानस्वरूप है नहीं। "सारे पदार्थ ही उसे प्रतारित करते हैं" इससे भेद बुद्धि का प्रतिषेध किया गया है तथा "जिससे द्वैतबुद्धि होती है" इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

से भेद निषेध करते हुए दिखलाया गया है कि—एक स्वरूप आत्मा में, प्रकृति के परिणाम स्वरूप देव, मनुष्य, पशु आदि मिथ्या भेद प्रतीत होता है। "उस नित्य सिद्ध महत् का निश्वास यह ऋग्वेद है" इत्यादि से भी प्रकृति का अधिष्ठाता पुरुष ही जगत का निमित्त है ऐसा सिद्ध होना है। इस प्रकार इस वाक्य के पुरुष परक निश्चित हो जाने पर, समस्त वेदांत वाक्यों का एकमात्र अर्थ यही होता है कि—सांख्योक्त पुरुष और उससे अधिष्ठिता प्रकृति ही जगत के उपादान कारण हैं, ईश्वर नहीं।

सिद्धान्त—–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे, वाक्यान्वयात्—इति। सर्वेश्वर एवास्मिन्वाक्ये प्रतीयते, कुतः ? एवमेवहि वाक्यावयवानामन्योन्यान्वयः समंजसो भवति। "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति याज्ञवल्क्येनाभिहिते 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतत्वानुपायतया वित्ताद्यनादरेणामृतत्वप्राप्त्युपायमेव प्रार्थयमानायैमैत्रेय्यै तदुपायतया द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः" इत्यादिभिरमृतत्वस्य परमपुरुषवेदनैकोपायतया प्रतिपादनात्। परमपुरुषविभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनः स्वरूपयाथात्म्यअपवर्गसाधनपरमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽवगंतव्यम्, न स्वत एवोपायत्वेन। अतोऽत्र परमात्मैवामृतत्व उपायतया "द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते।

उक्त संशय पर सिद्धान्तरूप से "वाक्यान्वयात्" सूत्र प्रस्तुत है। उक्त वाक्य में सर्वेश्वर को ही प्राप्तव्य कहा गया है। ऐसा मानने से ही वाक्यों के अर्थ की परस्पर सामंजस्यपूर्ण संगति हो सकती है। "धन से अमरता प्राप्ति की आशा नहीं है" ऐसा याज्ञवल्क्य के कहने पर "जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् ! जो आप अमरता की साधना जानते हों उसे मुझे बतलावें" इत्यादि में मुक्तिलाभ के अनुपयोगी धन संपत्ति का अनादर करते हुए, मुक्ति के उपाय की जिज्ञासु मैत्रेयी को, द्रष्टव्य रूप से जिस आत्मा का उपदेश प्राप्त हुआ,

ankurnagpal108@gmail.com

वह परमात्मा ही है। "उसे जानकर ही मृत्यु को अतिक्रमण करता है" "उसको भली भाँति जानकर इस लोक में ही अमर हो जाता है, इसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में परम पुरुष परमात्मा को ही एक मात्र ज्ञेय और उपायरूप प्रतिपादन किया गया है। परम पुरुष परमात्मा के विभूतिरूप, मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवात्मा का जो स्वरूपगत यथार्थ ज्ञान है, उसे भी मुक्ति प्राप्ति के उपायभूत परमात्मज्ञान का उपयोगी बतलाया गया है। स्वतः उसकी उपायरूप से कोई सत्ता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि–इस प्रसंग में 'द्रष्टव्य" इत्यादि वाक्य में मोक्षोपायरूप से परमात्मा का ही उपदेश दिया गया है।

तथा–"तस्य ह वा एतस्य महतोभूतस्य निश्वसितभूतद्यद् ऋग्वेदः" इत्यादिना कृत्स्नस्यजगतः कारणत्वमुच्यमानं परमपुरुषाद न्यस्य कर्मपरवशस्यमुक्तस्यनिर्व्यापारस्य च पुरुषमात्रस्य न संभवति। तथा "आत्मनो वा अरे दर्शनेन" इत्यादिना एकविज्ञानमभिधीय-मानं सर्वात्मभूते परमात्मन्येवावकल्पते। यत्त्वेतदेकरूपत्वादात्मना-मेकात्मविज्ञानेन सर्वात्मविज्ञाममुच्यत इति, तदयुक्तम् अचेतन प्रपंच ज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानाभावात्। प्रतिज्ञोपपादनाय च "इदं ब्रह्मेदं क्षत्रम्" इत्युपक्रम्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति प्रत्यक्षादिसिद्धं चिद चिन्मिश्रं प्रपचं "इदम्" इति निर्दिश्य "एतदयमात्मा" इत्यैकात्म्यो-पदेशश्च परमात्मन एवोपपद्यते।

तथा "यह ऋग्वेद उस परमात्मा का निश्वास है" इत्यादि में संपूर्ण जगत् के कारण रूप से कहे गए पुरुष, परमपुरुष परमात्मा ही हो सकते हैं, प्राक्तन शुभाशुभ कर्माधीन, जागतिक क्रियाकलापों से रहित, मुक्त पुरुष नहीं हो सकता। ऐसे ही "आत्मा का दर्शन ही" इत्यादि मे जो एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की बात कही गई है, वह भी सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही घट सकती है। सारी आत्मायें एक रूप होने से ज्ञान स्वरूप हैं, इसलिए एक आत्मा के ज्ञान से सभी का ज्ञान हो सकता है,

ankurnagpal108@gmail.com

यह कहना भी युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि—अचेतन प्रपंचमय जगत के ज्ञान के बिना समस्त ज्ञान हो नहीं सकता। उक्त प्रतिज्ञा (एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है) के प्रतिपादन के लिए "यही ब्राह्मण यही क्षत्रिय" इत्यादि से लेकर "यह सब कुछ आत्मास्वरूप है" यहाँ तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध चिदचिद् मिश्रित सारे प्रपंचमय जगत को "इदं" शब्द से बतलाकर "यह जो सब आत्म स्वरूप है" इत्यादि में उसकी आत्मा के साथ एकता दिखलाई गई है, ऐसी एकता परमात्मा में ही संभव हो सकती है।

नहीदंशब्दवाच्यं चिदचिन्मिश्रं जगत् पुरुषेणाचित्संसृष्टेन तद्वियुक्तेनस्वरूपेणवावस्थितेन चैक्यमुपगच्छति। अतएव "सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इति व्यतिरिक्तत्वेन सर्व वेदन निन्दा च तथा प्रथमे च मैत्रेयीब्राह्मणे "महद्भूतमनंतमपारम्" इति श्रुता महत्त्वादयो गुणाः परमात्मन एव संभवंति। अतः स एवात्र प्रतिपाद्यते।

पुरुष चैतन्य हो अथवा जडमिश्रित हो, किसी भी रूप से वह इदं पद वाच्य जडचेतनात्मक जगत के साथ अद्वैत भाव से रह नहीं सकता। इसीलिए "जो लोग आत्मा के अतिरिक्त सब पदार्थों को जानते हैं (अर्थात् सारे जगत को आत्मा से भिन्न मानते हैं) सारे पदार्थ उन्हे ही प्रतारित करते हैं" इत्यादि में जगत् को परमात्मा से भिन्न मानने की निन्दा की गई है। तथा प्रथम मैत्रेयीब्राह्मण के—"अनंत अपार स्वतः सिद्ध महान्" इत्यादि में उक्त महत्त्वादि गुण भी उस परमात्मा में ही संभव हो सकते हैं। इससे निश्चित होता है कि वह परमात्मा ही उक्त प्रकरण के प्रतिपाद्य हैं।

यत्तूक्तं—पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियान्वयिनोजीवात्मन उपक्रमेत्वन्वेष्टव्यतया प्रतिपादनात्तद्विषयमेवेदंवाक्यमिति, तदयुक्तम, "आत्मनस्तु कामाय" इत्मात्मशब्देन जीवात्मसंशब्दने, तस्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेनान्वयप्रसंगात्।" आत्मा

ankurnagpal108@gmail.com

वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वोपयोगितया "आत्मनस्तु कामाय" इत्युपदिष्टमिति प्रतीयते। आत्मनस्तुकामाय—आत्मनः कामसंपत्तये, काम्यन्त इति कामाः, आत्मन इष्टसंपत्तय इति यावत्। न च जीवात्मन इष्टसंपत्तये पत्यादयः प्रिया भवंति, इत्युक्ते सति तस्यजीवस्य स्वरूपमन्वेष्टव्यं भवति। प्रियमेवहि अन्वेष्टव्यम्, न तु प्रियंप्रति शेषिणः प्रियवियुक्तं स्वरूपम्। यस्मादात्मन इष्ट संपत्तये पत्यादयः प्रिया भवंति, तस्मात् पत्यादिप्रियं परित्यज्य तद्वियुक्तमात्मस्वरूपमन्वेष्टव्यमित्यसंगतं भवति।

जो यह कहा कि—वाक्य के प्रारंभ में पति-पत्नी-पुत्र-धन-पशु आदि प्रिय वस्तुओं से संपर्कित होने से "दृष्टव्य" इत्यादि में जीवात्मा को ही दृष्टव्य आदि कहा गया है, सो यह कथन भी असंगत है। "आत्मनस्तु कामाय" में आत्मनः पद से जीवात्मा का निर्देश मानने से "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादि वाक्य के साथ उसकी संगति बैठ ही नहीं सकती, क्योंकि—"आत्मा ही दृष्टव्य है" इत्यादि में आत्मदर्शन को उपयोगी बतलाकर "आत्मा की कामना से" इत्यादि उपदेश दिया गया है, जिसका तात्पर्य होता है "आत्मा की कामपूर्ति के लिए" "काम" शब्द का तात्पर्य होता है, कामना का विषयीभूत अर्थात् अभीष्ठ विषयराशि। इस अर्थ के अनुसार आत्मनस्तु कामाय" इत्यादि का तात्पर्य होगा कि—"आत्मा की इष्ट संपत्ति के लिए ही पति पुत्रादि प्रिय होते हैं" ऐसा अर्थ होने पर जीवात्मा का स्वरूप अन्वेष्टव्य नहीं हो सकता। प्रिय वस्तु ही अन्वेषणीय होती है; प्रियवस्तु का अंगीभूत प्रियवियुक्त आत्मा का स्वरूप कभी अन्वेषणीय नहीं हो सकता। पति आदि प्रिय पदार्थों की पुंजीभूत राशि, आत्मा के प्रिय संपादन के लिए साधन हो सकती है, उन पत्यादि प्रिय वस्तुओं के अन्वेषण को छोड़कर, प्रियतारहित आत्मा के स्वरूप को अन्वेष्टव्य कहना असंगत है।

प्रत्युत न पत्यादिशेषतया पत्यादीनां प्रियत्वम्, अपितु आत्मनः शेषतया पत्यादीनां प्रियत्वमित्युक्ते स्वशेषतया त एवोपादेयाः स्युः।

ankurnagpal108@gmail.com

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यस्य परेणानन्वये वाक्यभेदः प्रसज्येत, अभ्युपगम्यमानेऽपि वाक्यभेदे पूर्ववाक्यस्य न किंचित् प्रयोजनं दृश्यते। अतः पत्यादि सर्वप्रियं परित्यज्यात्मन एवान्वेष्टव्यत्वं यथा प्रतीयते, तथा वाक्यार्थो वर्णनीयः।

ऐसी कल्पना करना अधिक युक्ति संगत होगा कि—पति आदि इसलिए प्रिय नहीं हैं कि वह पति आदि के अंश है अपितु परमात्मा के अंश होने से उन पत्यादि की प्रियता है, ऐसा मानने से वे स्व के मान्य अंश होंगे और उपादेय होंगे। "आत्मा की कामना से सब प्रिय होते हैं" इस वाक्य का, परवर्त्ती वाक्यों के साथ यदि संबंध नही रहेगा तो वाक्य भेद हो जायगा, यदि वाक्य भेद को मानेंगे तो पूर्ववर्त्ती वाक्यों का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। इसलिए पत्यादि समस्त प्रियवस्तुओं को छोडकर, परमात्मा के अन्वेषण की ही जिसमें प्रतीति हो, वैसा वाक्यार्थ करना अधिक समीचीन होगा।

सोऽयमुच्यते—"अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति वित्तादीनां नित्यनिर्दोषनिरतिशयानंदरूपामृतत्वप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा वित्तपुत्रपतिजायादीनां सातिशयदुःखमिश्रकाचित्कप्रियत्वमनुभूयमानं न पत्यादिस्वरूपप्रयुक्तम्, अपितु निरतिशयानंदस्वभावपरमात्मप्रयुक्तम्। अतो य एव स्वयं निरतिशयानंदः सन् अन्येषामपि प्रियत्वलेशास्पदत्वमापादयति स परमात्मैव द्रष्टव्यः, इत्युपदिश्यते। तदयमर्थः "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" न हि पतिजायापुत्रवित्तादयो मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियः स्यामिति स्वसंकल्पात् प्रिया भवन्ति, अपि तु आत्मनः कामाय परमात्मनः स्वाराधक प्रियप्रतिलम्भनरूपेष्टनिर्वर्त्तय इत्यर्थः।

प्रसंग मे कहा गया कि—"धन से अमरता की आशा नहीं है" अर्थात् ये धन आदि क्षणभंगुर पदार्थ, नित्यनिर्दोष सर्वातिशय परमानंदमय मुक्ति लाभ के उपाय नहीं है। पति स्त्री पुत्रादि में जो कुछ दुःख

ankurnagpal108@gmail.com

मिश्रित प्रियता की उपलब्धि होती है वह, पत्यादि के स्वरूप से नहीं होती, अपितु वे सब अत्यानंदमय परमात्मा के अंश हैं, इसलिए होती है। जो स्वयं अत्यानंदमय होकर दूसरों को भी उस आनंद के लेश से आप्लावित करता है, ऐसा परमात्मा ही दृष्टव्य है, ऐसा उपदेश किया गया है। इसका तात्पर्य हुआ कि--"अरे पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता" इत्यादि का यह अर्थ नहीं है कि--"पति, स्त्री, धन आदि सब मेरे ही प्रयोजन के साधन हैं, मैं ही इनका प्रिय हूँ"; अपितु आत्मा की प्रीति के लिए अर्थात् परमात्मा की आराधना के लिए, ये सब अभीष्ट प्रियता प्रदान करते हैं; ऐसा मानना चाहिए।

परमात्मा हि कर्मभिराराधितस्तत्तत्कर्मानुगुणं प्रतिनियतदेशकालस्वरूपपरिमाणमाराधकानां तत्तद्वस्तुगतं प्रियत्वमापादयति "एष ह्येवानंदयाति" इति श्रुतेः। नतु तत्तत्वस्तुस्वरूपेण प्रियम-प्रियंवा। यथोक्तं— "तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते, तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्मात् दुःखात्मकं नास्ति न च किंचित्सुखात्मकम्" इति। "आत्मनस्तु कामाय" इत्यस्य जीवात्मपरत्वेऽपि "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इति तु परमात्मा विषयमेव।

"एष ह्येवानंदयाति" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—परमात्मा, आराधना के अनुसार उन आराधकों को, देश-काल-स्वरूप-परिमाण-आकृतिगत प्रियता प्रदान करते हैं--जैसा कि—कहा गया—"एक ही वस्तु जो एक बार प्रीतिकारक होती है, वही पुनः दुखदायी हो जाती है, जो वस्तु क्रोधकारक होती है वही प्रीतिकारक हो जाती है, इससे ज्ञात होता है कि कोई भी वस्तु सुखात्मक या दुःखात्मक नहीं है।" कोई भी वस्तु तत्वतः स्वरूप से प्रिय वा अप्रिय नहीं होती। "आत्मनस्तु कामाय" इस वाक्य के जीवात्मा परक होते हुए भी, "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" वाक्य तो परमात्म विषयक ही है।

तत्रायमर्थः, यस्मात् पत्यादीनां इष्ट संपत्तये तत्परवशेन पत्यादयः प्रियत्वेन नोपादीयंते, अपितु आत्मेष्ट संपत्तये स्वतंत्रेण स्वीप्र-

ankurnagpal108@gmail.com

यत्वेन उपादीयंते, तस्माद् य एवात्मनो निरुपाधिकनिर्दोषनिरव-धिकः प्रियः परमात्मा, स एव हि दृष्टव्यः, नदुःखमिश्राल्पसुखदुःखो-दर्काः परायत्त तत्तत्स्वभावाः पतिजायापुत्रवित्तादयोविषयाः, इति ।

अस्मिंस्तु प्रकरणे, जीवात्मवाचिशब्देनापि परमात्मन एवाभि-धानात् "आत्मनस्तु कामाय" आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "इति पूर्वोक्त प्रक्रिययोभयत्रात्मशब्दावेकविषयौ ।

उक्त कथन का सारांश यह है कि—पति आदि की प्रीति के लिए, पति आदि प्रिय पदार्थों को, प्रियरूप में ग्रहण नहीं किया जाता अपितु अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए, उन सबको प्रिय रूप से ग्रहण किया जाता है, यदि तुम स्वाभाविक निर्दोष अपार प्रिय स्वरूप परमात्मा को, पति, स्त्री, पुत्रादि सभी में देखोगे तो तुम्हारी वास्तविक अभीष्ट सिद्धि होगी, क्योंकि–ये सांसारिक जीव दुःखमिश्रित अल्प सुखदायी, परिणाम में दुःखप्रद एवं स्वरूप और स्वभाव से परतंत्र हैं इनको देखने से शांति मिलने के बजाय दुःख ही पल्ले पड़ेगा । इसलिए परमात्मा ही दृष्टव्य हैं, पति पुत्र आदि नहीं । इस प्रकरण में तो, जीवात्मवाची शब्द से भी, परमात्मा ही अभिधेय हैं ' आत्मनस्तु कामाय'' "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" ये पूर्वोत्तर वाक्य, उक्त समाधान के अनुसार एक विषयक ही हैं ।

मतान्तरेणापि जीव शब्देन परमात्माभिधानोपपादनमाह—

अन्य दूसरे मत से भी, जीव शब्द परमात्मवाची है इसका प्रति-पादन करते हैं—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।१।४।२०।।

एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा सिध्देरिर्दलिगम् , यज्जी-वात्मवाचिशब्दैः परमात्मनोऽभिधानम् ,इत्याश्मरथ्याचार्यो मन्य-तेस्म । यदि अयंजीवः परमात्म कार्यतया परमात्मैव न भवेत् ,तदा तद्व्यतिरिक्ततया परमात्मविज्ञानादेतद्विज्ञानं न सेत्स्यति । आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत् "इति प्राकसृष्टेरेकत्वावधारणात्

ankurnagpal108@gmail.com

"यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवंते सरूपाः, तथाऽक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायंते तत्र चैवापियंति।" इत्यादिभिर्ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्ति श्रवणात् तस्मिन्नेव लय श्रवणाच्च जीवानां ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणैक्यमवगम्यते। अतो जीव शब्देन परमात्माभिधानमिति।

एक के ज्ञान से संपूर्ण का ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए ही उक्त प्रसंग में केवल आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे कि जीवात्मवाची शब्दों से परमात्मा का अर्थबोध होता है; ऐसा आश्मरथ्य आचार्य की मान्यता है। यदि यह जीवात्मा, परमात्मा का कार्य होने से, परमात्मा ही न होता, उससे एकदम भिन्न होता तो, परमात्मा को जान लेने पर, इसका ज्ञान नहीं हो सकता था। "सृष्टि के पूर्व यह जगत, एकमात्र आत्मस्वरूप ही था" ऐसे सृष्टिपूर्व के अद्वैत प्रतिपादक वाक्य से उक्त बात की ही पुष्टि होती है। "जैसे प्रज्वलित अग्नि ज्वाला से हजारों चिनगारियां बाहर छिटकती हैं, हे सौम्य! उसी प्रकार विविध प्रजा भी उस परब्रह्म से उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है।" इत्यादि वाक्य में कही गई, ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति और प्रलय से जीवों की ब्रह्म कार्यता, और ब्रह्मात्मकता ज्ञात होती है। इसलिए जीव शब्द से परमात्मा का ही वर्णन किया गया है, यह निश्चित मत है।

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।१।४।२१॥

यदुक्तं जीवस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणैक्येनैकविज्ञानेन सर्व विज्ञानप्रतिज्ञोपादनार्थं ब्रह्मणो जीवशब्देन प्रतिपादनमिति, तदयुक्तम् "न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" इत्यादिनाऽजत्वश्रुतेः जीवात्मनां प्राचीनकर्मफल भोगाय जगत्सृष्ट्यभ्युपगमाच्च, अन्यथाविषमसृष्ट्यनुपपत्तेश्च ब्रह्मकार्यस्यजीवस्य ब्रह्मतापत्तिलक्षणो मोक्ष आकाशादिवदवर्जनीय इति, तदुपायविधानानुष्ठानानर्थक्याच्च, घटादिवत् कारणप्राप्तेर्विनाशरूपत्वेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च।

ankurnagpal108@gmail.com

जीवात्मन उत्पत्तिप्रलयवादोपपत्तिरुत्तरत्र प्रपंचयिष्यते। अतः "एषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति-दिव्यम्" इत्युत्क्रमिष्यतः परमात्मभावात् जीवशब्देन परमात्मनोऽभिधानम् इति औडुलोमिराचार्यो मन्यतेऽस्म।

जीव ब्रह्म का कार्य है, इससे जीव और ब्रह्म एक हैं, एक के ज्ञान से संपूर्ण का ज्ञान होता है, इस प्रतिज्ञा के प्रतिपादन के लिए ही, ब्रह्म का जीव शब्द से वर्णन किया गया है, यह कथन असंगत है। "ज्ञानी न उत्पन्न होता है न मरता है" इत्यादि में जीव को अजन्मा बतलाया गया है। जीवों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार ही जगत् की सृष्टि का भी वर्णन मिलता है, यदि ऐसा न होता तो, सृष्टि में विषमता न होती। ब्रह्म के कार्य आकाश आदि की तरह ब्रह्म के कार्य जीवात्मा का भी यदि ब्रह्मतापत्तिलक्षण वाला मोक्ष अनायास ही हो जाय तो, मोक्ष प्राप्ति के उपाय अनुष्ठान आदि सब व्यर्थ हो जावेंगे [अर्थात् जैसे आकाश स्वतः प्रकट होकर प्रलय में स्वतः लीन हो जाता है वैसे ही यदि जीवों की भी उत्पत्ति और प्रलय होवे तो अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है] घट आदि की तरह स्वतः ही विनष्ट होने पर अपने कारणत्व को यदि जीव भी पा जावे तो, मोक्षनामक पुरुषार्थ को मानने की आवश्यकता ही क्या है? जीवात्मा के संबंध में जो उत्पत्ति और प्रलय की प्रसिद्धि है उसका विवेचन आगे करेंगे।

"यह जीव इस शरीर से बाहर निकल कर परमात्मा की परंज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर लेता है, 'जैसे कि बहती हुई नदियाँ अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।" ऐसे, उत्क्रमणकारी जीव के परमात्मभाव के निरूपण से ज्ञात होता है कि उक्त प्रसंग में जीव शब्द से परमात्मा का ही वर्णन किया गया है। ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।

ankurnagpal108@gmail.com

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४।२२॥

यदुक्तमुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावाद् ब्रह्मणस्तच्छब्देनाभिधानमिति, तदप्ययुक्तम्, विकल्पासहत्वात् । अस्य जीवात्मनउत्क्रान्तेः पूर्वमनेवंभावः किं स्वाभाविकः उतौपाधिकः अपारमार्थिकः वेति । स्वाभाविकत्वे ब्रह्मभावो नोपपद्यते, भेदस्य स्वरूप प्रयुक्तत्वेन स्वरूपे विद्यमाने तदनपायात् । अथभेदेनसह स्वरूपमप्यपैतीति, तथासति विनष्टत्वादेव तस्य न ब्रह्मभावः अपुरुषार्थत्वादिदोषप्रसंगश्च । पारमार्थिकौपाधिकत्वे प्रागपि ब्रह्मैवेति "उत्क्रमिष्यत एवंभावात्" इति विशेषो न युज्यते वक्तुम् । अस्मिन् पक्षे हि उपाधिब्रह्मव्यतिरेकेण वस्त्वंतराभावान्निरवयवस्य ब्रह्मण उपाधिनाच्छेदाद्यसंभवाच्चोपाधिगत एव भेद इत्युत्क्रान्तेः प्रागपि ब्रह्मैव । औपाधिकस्य भेदस्यापारमार्थिकत्वे कस्यायमुत्क्रान्तौ ब्रह्मभाव इति वक्तव्यम् । ब्रह्मणएवाविद्योपाधितिरोहितस्वरूपस्येति चेन्न, नित्यमुक्तस्वप्रकाशज्ञानस्वरूपस्याविद्योपाधितिरोधानासंभवात् । तिरोधानं नाम वस्तुस्वरूपेविद्यमाने तत्प्रकाशनिवृत्तिः । प्रकाश एव वस्तु स्वरूपमित्यंगीकारे तिरोधानाभावः स्वरूपनाशो वा स्यात् । अतो नित्याविर्भूतस्वस्वरूपत्वात्तस्योत्क्रान्तौ ब्रह्मभावे न कश्चिद् विशेषः, इति "उत्क्रमिष्यतः" इति विशेषणं व्यर्थमेव । "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय" इति पूर्वमनेवंरूपस्य न तदानीं ब्रह्मतापत्तिमाह, अपितु पूर्वसिद्धस्वरूपस्याविर्भावम् । तथाहि वक्ष्यते "संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" इत्यादिभिः ।

उत्क्रमण करने वाले जीव को ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसीलिए जीव शब्द से ब्रह्म का वर्णन किया गया है, इत्यादि कथन भी असंगत है । ऐसा तो विकल्प से भी नहीं हो सकता (एक विषय के लिए दो तीन या इससे अधिक पक्षों की कल्पना करना ही विकल्प है) उक्तमत वालों से मैं पूछता हूँ कि—जीवात्मा में उत्क्रांति के पूर्व जो ब्रह्मभाव का अभाव है,

ankurnagpal108@gmail.com

वह स्वभाविक है या औपाधिक ? वह भी पारमार्थिक है या आपारमार्थिक ? यदि वह स्वाभाविक है तो जीवात्मा में कभी ब्रह्मभाव संभव नहीं हैं, क्योंकि–जब भेद स्वतः सिद्ध है तो, वस्तुस्थिति में उस भेद का अवगम हो नहीं सकता। यदि कहो कि भेद समाप्ति के साथ उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है, ऐसा मानने पर तो, विनष्ट होने वाले उसका ब्रह्मभाव होना और भी कठिन है, साथ ही मुक्ति के संबंध में, अपुरुषार्थत्व दोष, उपस्थित हो जाता है। यदि यह पारमार्थिक और औपाधिक है तो यह समझना चाहिए कि उत्क्रांति के पूर्व जीव ब्रह्म ही है, तब "उत्क्रमण कर वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है" इत्यादि कहना निरर्थक है। इस स्थिति में (पारमार्थिक औपाधिकावस्था में) एक बात और है, उपाधि ब्रह्म इन दो के अतिरिक्त कुछ और तो रहता नही तथा उपाधिद्वारा, निरवयव ब्रह्म में विभाग तो सभव है नहीं, इससे यह सिद्ध होता है कि–वह केवल औपाधिक ही हो सकता है, पारमार्थिक नही, इसलिए जीव, उत्क्रमण के पूर्व भी ब्रह्मस्वरूप ही था। यदि वह औपाधिक भेद अपारमार्थिक है, तो फिर उत्क्रांति के बाद ब्रह्मभाव किसका होता है ? यदि कहो कि अविद्या रूप उपाधि से विरहित ब्रह्म ही, ब्रह्मभाव है, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि-नित्यमुक्त और नित्य प्रकाश ज्ञान स्वभाव परब्रह्म में, अविद्याजन्य आवरण निमित्तक तिरोधान असंभव है। वस्तुस्वरूप के रहते हुए उसके प्रकाश की निवृत्ति हो जाना ही तो तिरोधान कहलाता है, प्रकाश स्वरूप परब्रह्म का तिरोधान मानना तो प्रकाश निवृत्ति होने से उसके स्वरूप का नाश मानना ही है। यदि नहीं मानते तो जीव का नित्यब्रह्मभाव निश्चित होता है, उत्क्रांति से उसमें कोई विशेषता तो होगी नहीं, 'उत्क्रमिष्यत्त··" यह विशेषण व्यर्थ ही है। "इस शरीर से उठकर" इत्यादि मे मृत्युपूर्वी अब्रह्मभाव वाले जीव की, तत्काल ब्रह्मप्राप्ति कही गई हो ऐसा भी नही है, अपितु पूर्वसिद्ध उसके अपने वास्तविक स्वरूप का पुनः आविर्भाव मात्र बतलाया गया है। यही बात सूत्रकार "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्" इत्यादि में कहते हैं।

अतः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"– य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोयम-

ankurnagpal108@gmail.com

यति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"— योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः"— अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्वात्मा" इति स्वशरीरभूते जोवात्मन्यात्मतयाऽवस्थिते जोव शब्देन ब्रह्म प्रतिपादनमितिकाशकृत्स्न आचार्यो मन्यतेस्म ।

अतः "जीवात्मा के स्वरूप में प्रवेश करके" जो आत्मा में स्थित रहते हुए भी आत्मा से पृथक् है आत्मा जिसको नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा को नियमित करता है, वही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा है "जो अक्षर (जीव) में संचरण करता है, अक्षर ही जिसका शरीर है अक्षर जिसे नहीं जानता ऐसा सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है" सबका आत्मस्वरूप परमेश्वर अन्तर्यामी शासक है" इत्यादि श्रुतियों में, अपने ही शरीररूप जीवात्मा में आत्मा रूप से उनकी स्थिति बतलाई है, इसीलिए जीवात्मवाची शब्दों से परमात्मा का वर्णन किया गया है। ऐसा काशकृत्स्न आचार्य का अभिमत है।

जीवशब्दश्च जीवस्य परमात्मपर्यन्तस्यैव वाचको न, जोवमात्रस्येति पूर्वमेवोक्तम् "नामरूपे व्याकरावाणि" इत्यत्र। एवमात्मशरीरभावेन तादात्म्योपपादने परस्यब्रह्मणोऽपहृतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वादिगोचरा जोवस्याविदुषः शोचतो ब्रह्मोपासनान् मोक्षवादिन्यो जगत्सृष्टिप्रलयाभिधायिन्यो जगतो ब्रह्मतादात्म्योपदेशपराश्च सर्वाः श्रुतयः सम्यगुपपादितां भवेतीति काशकृत्स्नीयंमतं सूत्रकारः स्वोकृतवान् ।

जीव शब्द, जीव के परमात्मभाव तक का वाचक है केवल, जीवभाव मात्र का ही वाचक नहीं है, ऐसा "नामरूपे व्याकरवाणि" के प्रसंग में भी बतला चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, परमात्मा के शरीर रूप जीवात्मा के साथ, तादात्म्य भाव स्थिर होता है। परब्रह्म के

ankurnagpal108@gmail.com

निर्दोष और सर्वज्ञ आदि गुणों के प्रतिपादक, तत्त्वज्ञान के अभाव में शोक संतप्त जीव के ब्रह्मोपासना के फलस्वरूप होने वाले मोक्ष के प्रतिपादक, जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय के प्रतिपादक, तथा ब्रह्म के साथ ब्रह्म के साथ जगत के तादात्म्य के प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का भी उक्त प्रकार से ही समाधान हो सकता है। इस काशकृत्स्न आचार्य के मत को ही सूत्रकार ने स्वीकार किया है।

अयमत्रवाक्यार्थः, अमृतत्वोपाये मैत्रेय्या पृष्टे याज्ञवल्क्यः "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मोपासनममृतत्वोपायमुक्त्वा" आत्मनि खल्वरे दृष्टे" इत्यादिनोपास्यलक्षणम्, दुंदुभ्यादिदृष्टांतैश्चोपासनोपकरणभूत मन. प्रभृतिकरणनियमनं च सामान्येभिधाय "सऽयथाऽर्द्रैन्धाग्ने" इत्यादिना "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" इत्यादिना चोपास्यभूतस्य परस्यब्रह्मणो निखिलजगदेककारणत्वम्, सकलविषयप्रवृत्तिमूलकरणग्रामनियमनं च विस्तीर्णमुपदिश्य "स यथा सैन्धवघनः" इत्यादिना अमृतत्वोपाय प्रवृत्तिप्रोत्साहनाय जीवात्मस्वरूपेणावस्थितस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारतामुपपाद्य तस्यैवापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य संसार दशायां भूतपरिणामानुवृत्ति "विज्ञनघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यःसमुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यभिधाय "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मोक्षदशायां स्वाभाविकापरिच्छिन्नज्ञानसंकोचाभावेन भूतसंघातेनैकीकृत्याऽत्मनि देवादिरूपज्ञानाभावमुक्त्वा पुनरपि "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इत्यादिना अब्रह्मात्मकत्वेन नानाभूतवस्तुदर्शमज्ञानकृतमिति निरस्तनिखिलाज्ञानस्य ब्रह्मात्मकं कृत्स्नं जगदनुभवतो ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावेन भेददर्शनं निरस्य "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इति च जीवात्मा स्वात्मतयाऽवस्थितेन येन परमात्मना आहितज्ञानः सन्निदं सर्वं विजानाति, अयंतं केन विजानीयात्, न केनापीति परमात्मनो दुरवगमत्वमुपपाद्य "स एष नेति नेति"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादिनाऽयं सर्वेश्वरः स्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्वरूप एव सर्वशरीरः सर्वस्यात्मतयाऽवस्थित इति स्वशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतैः दोषैर्न स्पृश्यत इत्यभिधाय 'विज्ञातारमरेकेन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति समस्त वस्तुविसजातीयं निखिलजगदेककारणभूतं सर्वस्य विज्ञातारं पुरुषोत्तममुक्तप्रकारादुपासनात् ऋते केन विजानीयात् इतोदमेवोपासनममृतत्वोपायः, ब्रह्मप्राप्तिरेव च अमृतत्वमभिधीयते, इत्युक्तवान्। अतः परब्रह्मैवास्मिन्वाक्ये प्रतिपाद्यत इति परमेवब्रह्म जगत्कारणं, न पुरुषस्तदधिष्ठिता च प्रकृतिरिति स्थितम्।

उक्त मत के अनुसार प्रासंगिक वाक्यों का अर्थ इस प्रकार किया जावेगा कि—मैत्रेयी के, मोक्ष प्राप्ति के उपाय पूछने पर याज्ञवल्क्य ऋषि ने प्रथम तो "आत्मा ही दृष्टव्य है" इत्यादि से परमात्मोपासना को ही, मुक्ति प्राप्ति का उपाय बतलाया फिर "आत्मा में दर्शन करने से ही" इत्यादि से उपास्य वस्तु का स्वरूप तथा दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त से उपासना की सहायक मन आदि इन्द्रियों के संयम का उपदेश सामान्यतः करके "अग्नि जैसे आर्द्र काष्ठ में है वैसे ही वह भी है" तथा "समुद्र ही जैसे सब जलों का एकमात्र आश्रय है, वैसे ही वह भी है" इत्यादि से उपास्य परब्रह्म को ही समस्त जगत का कारण बतलाते हुए समस्त प्रवृत्तियों की मूल उत्स, इन्द्रियों के नियमन का विस्तृत रूप से विवेचन करके "सैन्धव नमक का टुकड़ा जैसे बाहर भीतर एक रस है वैसे ही वह भी आनंदैकरस स्वभाव है" इत्यादि से, मोक्ष प्राप्ति के उपायों अनुष्ठानों की वृत्ति को उत्साहित करने के लिए, जीवात्मा में अवस्थित परमात्मा को अपरिच्छिन्न ज्ञान का मूल कारण बतलाकर "विज्ञान मूर्त्ति (जीव) इन प्रपंचों से संसक्त होकर उत्पन्न होता है और उन्हीं के साथ विनष्ट हो जाता है" इत्यादि से अपरिच्छिन्न ज्ञानैकमूर्ति परमात्मा की ही संसारदशा में पंचभूत परिणाम रूप शरीरादि की अनुवृत्ति बतलाकर अन्त में कहा कि "मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता" अर्थात ज्ञान ही जो कि आत्मा का एक मात्र स्वभावसिद्ध स्वरूप है, मोक्षावस्था में भी उस अपरिच्छिन्न ज्ञान

ankurnagpal108@gmail.com

में कोई न्यूनता नही आती, जिससे ज्ञात होता है कि –देहरूप से संबद्ध आत्मा मे अज्ञानमूलक देव– मनुष्य– दानव आदि बुद्धि होती है। "जब द्वैतबुद्धि होती है" इत्यादि मे ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति न होने से वस्तुओ मे विभिन्नता प्रतीत होती है जो कि अज्ञान मूलक है, जिसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसे सारा जगत ब्रह्मात्मक ही प्रतीत होता है वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और देखता ही नही, इसलिए उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है, ऐसा प्रत्याख्यान करके "जिसके द्वारा यह सारा जगत ज्ञात हो जाता है उसे जानने के लिए और कौनसा उपाय शेष रह जाता है?" इत्यादि में दिखलाया गया कि– जीवात्मा, अपने अन्तर्यामी परमात्मा की सहायता से विज्ञान सपन्न होकर सपूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, 'इसलिए उसे ज्ञान प्राप्त के लिए किन्ही अन्य उपायो की अपेक्षा नही होती। "स एष नेति नेति" इत्यादि से बतलाया गया कि– सर्वेश्वर निश्चित ही जड़चेतन सभी वस्तुओ से विलक्षण है, सारे पदार्थ उसके शरीर है, वही आत्मारूप से सभी मे अनुस्यूत है, फिर भी वह अपने शरीर रूप इस जड़चेतन जगत की दोष राशि से अस्पृष्ट रहता है "अरी मैत्रेयी! उस विज्ञाता को अब अधिक और क्या जाना जा सकता है? तुमने यह तत्त्वोपदेश प्राप्त कर लिया, यहाँ तक ही अमृतत्त्व का व्याख्यान है" अर्थात् समस्त पदार्थों से विलक्षण, समस्त जगत के एकमात्र कारण, संपूर्ण रहस्य के ज्ञाता परब्रह्म पुरुषोत्तम को, उक्त प्रकार की उपासना के अतिरिक्त और किन उपायों से जाना जा सकता है, इसलिए उपासना ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, ब्रह्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष कहा गया है।

इत्यादि विवेचन से सिद्ध होता है कि– परब्रह्म ही इस संपूर्ण प्रसंग के प्रतिपाद्य विषय हैं, वही एकमात्र जगत के कारण है, पुरुष अधिष्ठिता प्रकृति जगत का कारण नहीं है।

७ प्रकृत्यधिकरण:–

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।१।४।२३॥

एवं निरीश्वर सांख्ये निरस्ते सति, सेश्वरसांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। यद्यपि ईक्षणादि गुणयोगात् सर्वज्ञमीश्वरं जगत्कारण-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वेन वेदान्ताः प्रतिपादयंति, तथापि वेदांतैरेव जगदुपादानतया प्रधानमेव प्रतिपाद्यत् इति प्रतीयते । न हि वेदांताः सर्वज्ञस्य अपरिणामिनोऽधिष्ठातुरोश्वरस्यांधिष्ठेयेनाचेतनेन परिणामिना प्रधानेन विना जगतः कारणत्वमवगमयंति । तथाहि अपरिणामिनं प्रधानमेनं प्रकृतिं चैतदधिष्ठितां परिणामिनीमधीयते—"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः "विकारजननीमज्ञामष्टरूपमजां ध्रुवाम्" ध्यायते अध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः, सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्, गौरनाद्यंतवती सा जनित्री भूतभाविनी" इति । तथा प्रकृतिमुपादानभूतामधिष्ठायैवेश्वरो विश्वं जगत्सृजतीति श्रूयते "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" मायांतु प्रकृतिंविद्यान्मायिनं तुमहेश्वरम्" इति । स्मृतिरपि "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इति एवम् श्रुतेऽपि प्रधानोपादानत्वे ब्रह्मणो जगत्कारणत्व श्रुत्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रधानस्वरूपं तस्येश्वराधिष्ठितस्य जगदुपादानत्वं च सिद्ध्यति ।

इस प्रकार निरीश्वर सांख्य के परास्त हो जाने पर, सेश्वरसांख्य सामने उपस्थित होता है। यद्यपि ईक्षण आदि गुणों के होने के सर्वज्ञ ईश्वर को ही, जगत के कारण रूप से सारे वेदांत प्रतिपादन करते हैं, तथापि वे ही वेदांत, जगत की उपादान कारण प्रधान (प्रकृति) है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए भी प्रतीत होते हैं। वेदांत वाक्य, ईश्वराधिष्ठित परिणामी अचेतन प्रकृति के अतिरिक्त, केवल अपरिणामी (निर्विकार) सर्वज्ञ ईश्वर को ही जगत कारण रूप से प्रतिपादन करते हों, ऐसा नहीं है। जैसा कि—ईश्वर को अपरिणामी तथा ईश्वराधिष्ठित प्रकृति को परिणामी बतलाने वाले निम्नवाक्यों से प्रतीत होता है "ब्रह्म अखंड, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और निरंजन है "यह महान् आत्मा अजर और अमर है" समस्त विकारों की मूलकारण आठ प्रकार की अचेतन प्रकृति अजन्मा और नित्य है "वह प्रकृति, परमात्मा से अधिष्ठित होने से ज्ञेय है, परमात्मा ही उसका विस्तार करके उसे जगत् सृष्टि की प्रेरणा देते हैं, वह प्रकृति उन्ही से अधिष्ठित होकर पुरुषार्थ (भोग और अपवर्ग) और जगत का सृजन करती

ankurnagpal108@gmail.com

है, आदि अन्तरहित, भूतभव्यात्मक गोरूपा वह प्रकृति ही सबकी जननी है।" इत्यादि। वह ईश्वर, उपादान कारणरूपा प्रकृति के अधिष्ठान पूर्वक ही सपूर्ण जगत का निर्माण करते है–" मायाधीश इस प्रकृति से ही जगत् की सृष्टि करते है "माया को प्रकृति तथा मायाधीश को महेश्वर जानो" मेरी अध्यक्षता मे प्रकृति, जडचेतन जगत् का प्रसव करती है" इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्यो से ज्ञात होता है। उक्त उदाहरणो से एकमात्र ब्रह्म की ही जगत कारणता सिद्ध नहीं होती, अपितु प्रधान की उपादान कारणता का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी प्रकृति के बिना कार्य हो नही सकता इस उल्लेख से, ईश्वराधिष्ठित उस प्रकृति का अस्तित्व और उपादान कारणत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

एवमेवहि लोके निमित्तोपादानयोरत्यतभेदो दृश्यते। मृत्सुवर्णादेरचेतनस्य घटकटकाद्युपादानत्वं चेतनस्य कुलालसुवर्णकारादेर्निमित्तत्वं च नियतमुपलभ्यते कार्यनिष्पत्तिश्च नियमेनानेककारकसव्यपेक्षत्वनियम च अतिक्रम्यक्रमेव ब्रह्मोपादानं निमित्त च प्रतिपादयितु न प्रभवंति वेदांतवाक्यानि अतोब्रह्मनिमित्तकारणमेव नोपादानम्। उपादानं तु तदधिष्ठितंप्रधानमेव इति।

ऐसे ही व्यवहार जगत मे भी उपादान कारण और निमित्त कारण का अन्तर दृष्टिगत होता है। अचेतन मिट्टी और सुवर्ण, उपादान कारण के रूप मे तथा चेतन कुभकार और सुवर्णकार, निमित कारण के रूप मे दीखते है। सभी कार्यो मे, अनेक कारणो की अपेक्षा नित्य दृष्टिगत होती है निमित्त और उपादान कारणों के नियमित भेद तथा कार्यो की अनेक कारण सापेक्षता का उल्लघन करके, एकमात्र ब्रह्म को ही, उपादान और निमित्त कारण के रूप मे, वेदात वाक्य प्रतिपादन नही कर सकते। इसलिए यही मानना चाहिए कि ब्रह्म निमित्त कारण मात्र है, उपादान नही, उपादान कारण तो ब्रह्म से अधिष्ठित प्रकृति ही है।

सिद्धान्तः— एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे– प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्-इति प्रकृतिश्च उपादानं च। न निमित्त कारण मात्रं

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म, उपादानकारणं ब्रह्मेत्यर्थः। कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवमेवहि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्रोक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया। दृष्टान्तश्च–"यथा सौम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना" यथा सौम्येकेन नखनिकृन्तनेन" इति कारणविज्ञानात् कार्यविज्ञान विषयः। यदि निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म, तदा तद्विज्ञानान्न समस्तंजगद्विज्ञातं स्यात्। नहि कुलालादिविज्ञानेन घटादिर्विज्ञायते। अतः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोर्बाध एव। ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिंडलोहमणिनखनिकृंतनविज्ञानेनघटमणिकटकमुकुटायसीपरश्वत्थादितत्कार्यविज्ञानवन्निखिलजगदुपादानभूतेब्रह्मणिविज्ञाते तत्कार्यं निखिलं जगत्विज्ञातं स्यात्। कारणमेवावस्थान्तरान्नंकार्यम्, न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेणावस्थितमृत्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञासमर्थनाद् ब्रह्म जगदुपादानं चेति निश्चीयते।

उक्त मत का प्रत्याख्यान करते हुए सूत्रकार सिद्धान्त रूप से "प्रकृतिश्च दृष्टान्तानुपरोधात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। प्रकृतिश्च अर्थात् वह उपादान भी है। वह निमित्त कारणमात्र नहीं है उपादान कारण भी है। प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों, इसविषय में एकमत हैं। प्रतिज्ञा जैसे–"हे सौम्य! तुम स्तब्ध हो, क्या तुमने कभी किसी प्राज्ञ से उसे जानने की इच्छा की है? जिसे जानकर अश्रुत श्रुत, अचिन्त्य चिन्त्य, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है" इत्यादि में एक के ज्ञान से समस्तज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है। दृष्टांत जैसे–"हे सौम्य! जैसे एक मिट्टी के डेले से, संपूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है" तथा "एक लोहमणि से" एक लोहनिकृन्तन (नहन्ना) से" इत्यादि में कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है, ऐसे दृष्टांत दिए गए। यदि ब्रह्म, जगत का निमित्त कारण मात्र है तो उसके ज्ञान से समस्त जगत का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे कि कुम्हार आदि की जानकारी से घर की जानकारी नहीं हो

ankurnagpal108@gmail.com

जाती। ऐसा मानने से प्रतिज्ञा और दृष्टांत मे बाधा उपस्थित होती है। ब्रह्म को उपादान कारण मानने से ही, उसके कार्य रूप समस्त का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि– उपादान कारण रूप मिट्टी, सोना, लोहा आदि की जानकारी से, उनसे निर्मित, घडा मटकी, कगन मुकुट, कुठार आदि का ज्ञान हो जाता है। अवस्थान्तर की प्राप्ति ही तो कार्य है, वस्तु का बदल जाना कभी कार्य नही कहलाता। ऐसे कारण कार्य भाव मानने से, मिट्टी और उनके विकार घट आदि की तरह ब्रह्म और उसका कार्यरूप जगत प्रतिज्ञानुसार निश्चित होता है, इससे यह भी निश्चित है कि–ब्रह्म, उपादान कारण भी है।

यत्तुनिमित्तोपादानयोर्भेद. श्रुत्यैव प्रतोयत इति, तदसत् निमित्तोपादानयोरैक्य प्रतीतेः "उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इति। आदिश्यते प्रशिष्यतेऽनेनेत्यादेश. "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" इत्यादि श्रुते.। साधकतमत्वेनकर्त्ता विवक्षितः। तमादेष्टारमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति, येनादेष्ट्राऽधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतंभवतीति, निमित्तोपादानयोरैक्यं प्रतीयते। **"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात् अद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणाच्च।**

जो यह कहा कि– निमित्त और उपादान का भेद तो श्रुति से ही प्रतीत होता है, यह कहना भी गलत है; "जिससे अश्रत भी श्रुत हो जाता है" इत्यादि वाक्य ही निमित्त और उपादान की एकता बतला रहा है। जिसके द्वारा आदिष्ट अर्थात् उत्तमरूप से शासित हो, उसे आदेश कहते है, इस आदेश की बात "इस अक्षर के प्रशासन मे सूर्य और चद्र स्थिर है" इत्यादि वाक्य मे कही गई है। ब्रह्म ही क्रियासिद्धि के प्रधान उपाय है, इसलिए वे ही कर्त्ता रूप से विवक्षित है। इस आदेष्टा (शासक) के विषय में कहा गया कि "जिसको जान लेने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है" अर्थात् जो आदेष्टा (प्रकृति का अधिष्ठाता) है, उसके श्रुत हो जाने पर, अन्यान्य अश्रुत विषय भी श्रुत हो जाते हैं। इस कथन से निमित्त और उपादान की एकता प्रदान होती है "हे सौम्य!

ankurnagpal108@gmail.com

सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् स्वरूप ही था" इस श्रुति में, एकत्वावधारणता बतलाने वाली अद्वितीयता बतलाई गई है, जिससे किसी अन्य की अधिष्ठातृता का निवारित हो जाता है।

ननु एवं सति—"विकारजननीम् गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिभिः प्रकृतेराद्यन्त विरहेण नित्यत्वं जगदुपादानत्वं च श्रूयमाणं कथमुपपद्यते ?

तदुच्यते— तत्राप्यविभक्तनामरूपं कारणावस्थं ब्रह्मैव प्रकृति शब्देनाभिधीयते। ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात्। तथाहि श्रुतयः "सर्वं यो परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् किं केन पश्येत् ? "इत्याद्याः। सर्वं खल्विदं ब्रह्म "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति कार्यावस्थं कारणावस्थं च सर्वं जगत् ब्रह्मात्मकमिति श्रवणाच्च।

प्रश्न होता है कि—एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मान लेगे तो, "विकारों की जननी" आदि अन्त रहित गौ "इत्यादि वाक्यों में जो प्रकृति की आद्यन्तरहितनित्यता और जगत् उपदानता बतलाई गई है, उसका समाधान कैसे होगा ?

उसका उत्तर देते हैं कि— उन वाक्यों में भी अव्यक्त नामरूप वाले कारणावस्थ ब्रह्म को ही प्रकृति शब्द से बतलाया गया है। वैसी ही बात अन्य श्रुतियों में भी जैसे— "सब उसका विरोध करते हैं, जो इस जगत को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं" जब यह सब कुछ आत्मा ही है तो किससे किसको जाना जाय ? "इत्यादि तथा"—यह सब कुछ ब्रह्म ही है "यह सब ब्रह्मात्मक ही है" इत्यादि से कार्यावस्थ और कारणावस्थ समस्त जगत को ब्रह्मात्मक बतलाया गया है।

एतदुक्तं भवति—"यः पृथ्वीमंतरे संचरन्यस्य पृथ्वी शरीरं यं पृथ्वी न वेद" इत्यारभ्य "योऽव्यक्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद" योऽक्षरमन्तरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं

ankurnagpal108@gmail.com

न वेद" यः पृथ्व्यांतिष्ठन् पृथिव्याअन्तरो यं पृथिवी न वेद, पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरोयमयति" इत्यारभ्य–'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति त आत्माऽन्तर्याम्यमृत." इति च सर्वचिदचिद्वस्तुशरीर-तया सर्वदा सर्वात्मभूतं परंब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपं, कदा-चिच्चाविभक्त नामरूपम्, यदा विभक्त नामरूपं तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते, यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारण-मिति च। एवं सर्वदा चिदचिद् वस्तु शरोरस्य परस्य ब्रह्मणोऽ-विभक्त नामरूपा या कारणावस्था सा "गौरनाद्यंतवती" विकारजननीमज्ञाम् "अजामेकाम्" इत्यादिभिरभिधीयते इति।

कथन यह है कि–"जो पृथ्वी में संचरण करता है, पृथ्वी ही जिसका शरीर है, जिसे पृथ्वी नही जानती" इत्यादि से प्रारभ करके "जो अव्यक्त मे सचरण करता है, अव्यक्त ही जिसका शरीर है, अव्यक्त जिसे नहीं जानता" "जो अक्षर में सचरण करता है, अक्षर ही जिसका शरीर है, जिसे अक्षर नहीं जानता" यहाँ तक तथा–"जो पृथ्वी मे स्थिति है, उस अन्तर्यामी को पृथिवी नही जानती, पृथ्वी ही उसका शरीर है, वह अन्तर्यामी ही पृथ्वी का सयमन करता है" इत्यादि से प्रारंभ करके "जो आत्मा में स्थित है, उस अन्तर्यामी को आत्मा नही जानता, आत्मा ही उसका शरीर है, वह अन्तर्यामी ही आत्मा का संयमन करता है वह अन्तर्यामी ही अमृत है" यहाँ तक बतलाया गया कि–समस्त जड चेतन शरीरवाला, सर्वदा, सर्वात्मा वह परब्रह्म कभी विभक्त नामरूप वाला और कभी अविभक्त नाम रूपवाला होता है, जब वह विभक्त नाम रूप वाला होता है, तब उसे अनेक कार्यो के रूप में वर्णन किया जाता है और जब वह अविभक्त नाम रूपवाला रहता है, तो उसे "एक वही अद्वितीय कारण है" ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सदा जड चेतन शरीर उस परब्रह्म की अविभक्त नामवाली कारणावस्था को "आदि अन्त रहित गौ" विकारजननी "एकाअजा" इत्यादि नामों से बतलाया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च –"महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तम् अक्षरे लीयते" इति प्रलयश्रुतेरव्यक्तस्योत्पत्तिप्रलयौ प्रतीयेते, तथा च महाभारते "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विज सत्तम" अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये संप्रलीयते" इति । नैष दोषः, अचिद् वस्तुशरीरस्यब्रह्मणोऽव्यक्तशब्दाभिधेयायास्त्रिगुणावस्थायाःकार्यत्वात् । "यदातमस्तत्र दिवा न रात्रिः" इति कृत्स्न प्रलयदशायामपि ब्रह्मात्मकस्यातिसूक्ष्मस्याचिद्वस्तुनः स्थित्यभिधाना जगद्कारणस्य परस्य ब्रह्मणः प्रकारभूतमतिसूक्ष्मं चाचिद्वस्तु नित्यमेवेति तत्प्रकारं ब्रह्मैव "गौरनाद्यंतवती" इत्यादिष्वभिधीयते ।

प्रश्न यह होता है कि–"महान अव्यक्त में लीन हो जाता है, अव्यक्त अक्षर में विलीन हो जाता है" इस प्रलय को बतलाने वाली श्रुति से तो उत्पत्ति और प्रलय कार्य अव्यक्त (प्रकृति) का ही प्रतीत होता है। वैसा ही महाभारत में भी कहा गया कि–"उससे ही त्रिगुणात्मक अव्यक्त का जन्म हुआ, वह अव्यक्त उस पूर्ण पुरुष (परमात्मा) में ही लीन हो जाता है" इत्यादि। ठीक है इसमें कोई दोष नहीं आता; अचेतनात्मक शरीरधारी ब्रह्म की जो त्रिगुणात्मक अव्यक्त अवस्था है वही तो कार्य रूप में व्यक्त हो जाती है। "प्रलयकाल में जब तम ही था, दिन रात कुछ नहीं था" ऐसी आत्यंतिक प्रलय की अवस्था में भी ब्रह्मात्मक अति सूक्ष्म अचेतन वस्तु का अस्तित्व बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–जगत् के कारण परब्रह्म की ही, प्रकार रूप, अति सूक्ष्म अचित् वस्तु नित्य है; उस अवस्था वाले ब्रह्म का ही "गौरनाद्यंतवती" इत्यादि श्रुतियों में उल्लेख किया गया है।

अतएव च "अक्षरं तमसिलीयते तमः परे देव एकीभवति" इति तमसि एकीभावमात्रमेव श्रूयते,नतुलयः। एकीभाव इति तमोविधानातिसूक्ष्म अचित् प्रकारस्य ब्रह्मणोऽविभक्त नामरूपतयाऽवस्थानमभिधीयते । "तम आसीत्तमसा गूढमग्रेप्रकेतं तमसस्तन्महिमा-

ankurnagpal108@gmail.com

जायतैकम्' इत्याद्यपि एतदेव वदति। तथा च मानवं वच: "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् अतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत:" इति। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्"। इत्यादिअनंतरमेवोपपादयिष्यते, ब्रह्मणोऽपरिणामित्वश्रुतयश्च।

इसी प्रकार-"अक्षर अंधकार में विलीन हो जाता है, अंधकार परम देव से एकीभूत हो जाता है" इत्यादि में, अंधकार का एकीभाव मात्र बतलाया गया है, लय नहीं। ब्रह्म की विशेष अति सूक्ष्म "तम" नामवाली जो अचित् वस्तु स्थिति है, उस अव्यक्तनामरूपवाली अवस्था को ही "एकीभाव" में दिखलाया गया है। "तम ही था" "सृष्टि के पूर्व समस्त विचित्रतायें, तम आवृत थीं, उसकी महिमा उस तम में ही एकीभूत थी" इत्यादि श्रुति, उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है। मनुस्मृति भी ऐसा ही कहती है-"यह जगत तमोभूत अलक्ष्य था, अज्ञात अतर्क्य यह सब उसी में सुप्त था" इत्यादि। मायाधीश ईश्वर ने इस (प्रकृति) के द्वारा इसकी सृष्टि की" इत्यादि वाक्यो में, बाद में भी इसी बात का प्रतिपादन किया गया है तथा ब्रह्म की अपरिणामिता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी ऐसा ही निर्णय करती हैं।

यत्तु एकस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च न संभवति, एक कारकनिष्पाद्यत्वं च कार्यस्य, लोके तथा नियमदर्शनात्। अतोऽग्निना सिचेदितिवद्वेदांतवाक्यान्येकस्मादेवोत्पत्ति प्रतिपादयितुं न प्रभवंतीति। अत्रोच्यते-सकलेतरविलक्षणस्यपरस्यब्रह्मण: सर्वशक्ते: सर्वज्ञस्यैकस्यैव सर्वमुपपद्यते। मृदादेश्चेतनस्य ज्ञानाभावेनाधिष्ठातृत्वायोगादाधिष्ठातु: कुलालादेर्विचित्रपरिणामशक्तिविरहादसत्यसंकल्पतया च तथा दर्शननियम:। अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च।

जो यह कहा कि—लोक दृष्ट नियमानुसार, एक ही का निमित्त और उपादान होना संभव नहीं है, तथा एक ही कारण से अनेक कार्यों

ankurnagpal108@gmail.com

की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। "अग्नि से सींचूंगा" इत्यादि की तरह, वेदांत वाक्य, एक ही कारण से समस्त की उत्पत्ति का, अनहोना प्रतिपादन नहीं कर सकते [अर्थात् जैसे आग से सींचना असंभव है, वैसे ही ब्रह्म का जडचेतन होना असंभव है] इसका उत्तर देते हैं—सबसे विलक्षण सर्वशक्ति संपन्न, सर्वज्ञ उस ब्रह्म से सब कुछ होना संभव है। मिट्टी आदि पदार्थों में ज्ञान के अभाव से स्वतः तो अधिष्ठातृत्व होता नहीं तथा अधिष्ठाता कुम्हार आदि मे पदार्थों को बिगाड़ कर दूसरे रूप में गढ़ने के अतिरिक्त, दूसरे तत्त्व में परिवर्त्तन करने की सत्यसंकल्पता तो होती नहीं इसलिए दृष्ट जगत् में निमित्त और उपादानता भिन्न-भिन्न है। इत्यादि विवेचन से निश्चित होता है कि—ब्रह्म, निमित्त और उपादान दोनों है।

अभिध्योपदेशाच्च ।१।४।२४॥

इतश्चोभयं ब्रह्मैव "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इति स्रष्टुर्ब्रह्मणः स्वस्यैव बहुभवन संकल्पोपदेशात्। विचित्रचिदचिद्रूपेणाहमेव बहुस्यां तथा प्रजायेयेति संकल्प पूर्विका हि सृष्टिरुपदिश्यते।

"उसने कामना की कि मैं बहुत होकर जन्म लूं" उसने स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त किया" इत्यादि में, स्रष्टा ब्रह्म की, स्वयं को ही अनेक रूपों में, प्रकट होने की संकल्पपूर्विका सृष्टि, बतलाई गई है, इससे भी ब्रह्म की निमित्त उपादान कारणता सिद्ध होती है। विचित्र जडचेतन रूप से मैं ही स्वयं, अनेक हो जाऊंगा, ऐसी संकल्पपूर्विका सृष्टि का उपदेश दिया गया है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।१।४।२५॥

न केवलं प्रतिज्ञादृष्टान्ताभिध्योपदेशादिभिरयमर्थो निश्चीयते, ब्रह्मण एव निमित्तत्वमुपादानत्वं साक्षादाम्नायते "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष

ankurnagpal108@gmail.com

आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" इति। अत्र हि स्रष्टुर्ब्रह्मणः किमुपादानं कानि चोपकरणानीति लोकदृष्ट्या पृष्टे सकलेतरविलक्षणस्यब्रह्मणः सर्वशक्तियोगो न विरुद्ध इति ब्रह्मैवोपादानमुपकरणानि चेति परिहृतम्। अतश्चोभयं ब्रह्म।

केवल प्रतिज्ञा दृष्टांत और अभिध्या (संकल्प) आदि के (श्रौत) उपदेश से ही उक्त अर्थ निश्चित होता हो, सो बात नही है अपितु ब्रह्म की निमित्तोपादानकता स्पष्ट बतलाई गई है–"यह बन क्या है? यह वृक्ष भी क्या है? सत्य संकल्प परमात्मा ने जिसके द्वारा आकाश और पृथ्वी का निर्माण किया वह कौन सी वस्तु है? सारा जगत स्थिरतापूर्वक जिसमें स्थित है वह कौन सी शक्ति है? ऐसा मनीषियों द्वारा मनन करने पर उन्हें मन से ही उत्तर मिला कि–अरे! ब्रह्म ही बन है, ब्रह्म ही वृक्ष स्वरूप है, उन्ही से आकाश और पृथ्वी का निर्माण हुआ, सारे जगत को बना करके वह ब्रह्म ही अधिष्ठित है।" इत्यादि में लौकिक व्यवहारानुसार, उपादान और उपकरण (साधन) की जिज्ञासा होने पर सर्वपदार्थ विलक्षण, सर्वशक्तिसंपन्न ब्रह्म को ही अविरुद्ध उपादान और उपकरण के रूप में निर्देश किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि–दोनों प्रकार के कारण परब्रह्म परमात्मा ही है।

आत्मकृतेः।१।४।२६॥

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इति सिसृक्षुत्वेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति सृष्टेः कर्मत्वं कर्त्तृत्वं च प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रतीयते। अविभक्तनामरूप आत्मा कर्त्ता, स एव विभक्त नामरूपः कार्यमिति, कर्त्तृत्वकर्मत्वयोर्नविरोधः। स्वयमेवात्मानं तथाऽकुरुतेति निमित्तमुपादानं च।

ankurnagpal108@gmail.com

"उसने कामना की कि अनेक होकर प्रकटूँ" इस श्रुति में सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म को "उसने स्वयं को ही बहुत किया" इत्यादि में कार्यरूप से वर्णन किया गया है, इन दोनों वाक्यों से ब्रह्म का कर्मत्व और कर्तृत्व प्रतीत होता है इस स्वयं को ही बहुत कर देने की बात से, उसका ही निमित्त और उपादान होना निश्चित होता है। वही अविभक्त नाम रूप आत्मा कर्त्ता है और वही विभक्त नामरूप कार्य है। इस प्रकार कर्तृत्व और कर्मत्व में कोई विरोध नहीं है। जो अपने को स्वयं उस रूप में परिणत करता है वही, निमित्त और उपादान है।

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" आनंदोब्रह्म अपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः "निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं-निरञ्जनम् "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः" इति स्वभावतो निरस्तसमस्तचेतनाचेतनवर्त्तिदोषगंधस्य निरतिशयज्ञानानंदैकतानस्य परस्यब्रह्मणो विचित्रानंतापुरुषार्थास्पदचिदचिन्मिश्र प्रपंचरूपेणात्मनो बहुभवनसंकल्पपूर्वकं बहुत्वकरणं कथमुपपद्यत इत्याशंक्याह—

"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत स्वरूप है" आनंद ब्रह्म है "वह निष्पाप अजर अमर शोक भूख प्यास रहित है" वह निष्क्रिय, निरंजन, निर्दोष और शांत स्वभाव है "वह महान् आत्मा जरामरणरहित है" इत्यादि वक्यों से प्रतिपादित परब्रह्म जब स्वभाव से ही जडचेतनात्मक समस्त दोषों से रहित है तथा सर्वाधिक ज्ञान और आनंद का धाम है, तो उसका स्वेच्छापूर्वक अनंतविचित्रमय जडचेतन मिश्रित, जगदाकार-रूप में परिणत होना कैसे संभव है ? इस शंका का निवारण करते हैं—

परिणामात् ।१।४।२७॥

परिणामस्वाभाव्यात्, नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन् ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वभावः प्रत्युत निरंकुशैश्वर्यावहत्वमेवेत्यभिप्रायः। एवमेव हि परिणाम उपदिश्यते। अशेषहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतानं स्वेतरसमस्तवस्तविलक्षणं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं अवा-

ankurnagpal108@gmail.com

प्तसमस्तकाममनवधिकातिशयानन्दं स्वलीलोपकरणभूतसमस्तचिद-चिद्वस्तुजातशरीरतया तदात्मभूतंपरंब्रह्मस्वशरीरभूते प्रपंचे तन्मात्राहंकारादिकारणपरम्परया तमः शव्दवाच्यातिसूक्ष्म प्रचिद्-वस्त्वेकशेषेसति, तमसि च स्वशरीरतयाऽपि पृथङ्निर्देशानर्हाति-सूक्ष्मदशापत्त्या स्वस्मिन्नेकतामापन्ने सति तथाभूततमः शरीरं ब्रह्म पूर्ववद्विभक्त नामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपंचशरीरं स्यामिति संकल्प्याप्य-यक्रमेण जगच्छरीरतया आत्मानं परिणमयतीति सर्वेषु वेदांतेषु परिणामोपदेशः ।

परमात्मा परिणाम स्वभाव वाला है इसलिए उसका विचित्र जगदाकार रूप से परिणत होना असंभव नही है । इस प्रसंग में परब्रह्म संबंधी जिस परिणाम का वर्णन है, वह उनके स्वाभाविक परिणाम का है, इसलिए दोषी वह नहीं है, इससे तो उस परमात्मा का स्वभाविक अप्रतिहत ऐश्वर्य ही प्रकाशित होता है । समस्त उपादेय कल्याण गुणों के आकर, अन्यान्य वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, पूर्णकाम सर्व-श्रेष्ठ, असीम आनंदस्वरूप लीला के उपकरण रूप, अपने शरीर स्थानीय समस्त जडचेतन वस्तुओं के आत्मा परब्रह्म अपने शरीर इस प्रपंच में तन्मात्रा अहंकार आदि क्रम से "तम" शब्द वाच्य अतिसूक्ष्म वस्तु के रूप में एकमात्र शेष होकर, अपने ही शरीर रूप उस तम से पृथक् न कह सकने योग्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म उस तम के भी अपने में ही एकता प्राप्त कर लेने पर, वही तम शरीरी ब्रह्म "मै पुन. पूर्वकल्पानुसार नामरूपविभाग संपन्न जडचेतन शरीर वाला होऊँ" ऐसा संकल्प करके, प्रलयक्रमानुसार ही क्रमशः अपने को जगत् शरीर रूप में परिणत करते है; ऐसा ही समस्त वेदांत वाक्यों का परिणामोपदेश है ।

तथैव वृहदारण्यके कृत्स्नस्यजगतो ब्रह्मशरीत्वं ब्रह्मणस्तदात्म-त्वं चाम्नायते –"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयत्येष स आत्माऽन्त-र्याम्यमृतः" इत्यारभ्य "यस्यापः शरीरं" "यस्याग्निःशरीरम्"

ankurnagpal108@gmail.com

यस्यान्तरिक्षं शरीरम् यस्य वायुः शरीरम् यस्यद्यौः शरीरं यस्यादित्यः शरीरम् यस्यदिशः शरीरम् यस्य चंद्रतारकं शरीरम् यस्याकाशः शरीरम् यस्यतमः शरीरम् यस्य तेजः शरीरम् यस्य सर्वाणिभूतानि शरीरम् यस्य प्राणः शरीरम् यस्य वाक्छरीरम् यस्य चक्षुः शरीरम् यस्य श्रोत्रं शरीरम् यस्यमनः शरीरम् यस्य त्वक्छरीरम् यस्य विज्ञानं शरीरम् यस्यरेतः शरीरम् इत्येवमंतेन काण्वपाठे, माध्यंदिनेतु पाठे विज्ञानस्थाने यस्यात्माशरीरम् इति विशेषः। लोकयज्ञवेदानां परमात्मशरीरत्वमधिकम्।

तथा इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् में संपूर्ण जगत को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म का तादात्म्य बतलाया गया है—"जो पृथिवी में स्थित होकर भी पृथ्वी से भिन्न हैं, पृथ्वी जिन्हे नहीं जानती, पृथिवी ही जिनका शरीर है, जो अंतर्यामी होकर पृथिवी का संयमन करते हैं. वे ही अंतर्यामी अमृत हैं" इत्यादि से प्रारंभ करके क्रमशः जल-अग्नि-अंतरिक्ष-वायु-द्यौ आदित्य-दिक्-चंद्रतारा-आकाश-तम-तेज-सर्वभूत-प्राण-वाक्-चक्षु- श्रोत-मन -त्वक्-विज्ञान-वीर्य इत्यादि सभी को उनका शरीर बतलाया गया है, उक्त काण्व शाखीय पाठ से माध्यन्दिन शाखा के पाठ में विज्ञान के स्थान पर "आत्मा" ऐसा विशेष पाठ किया गया है। तथा लोक यज्ञ और वेद को भी परमात्मा का शरीर स्थानीय कहा गया है।

सुबालोपनिषदि च पृथिव्यादीनां तत्त्वानां परमात्मशरीरत्वमभिधाय वाजसनेयकेऽनुक्तानामपि तत्त्वानां शरीरत्वं ब्रह्मण आत्मत्वं च श्रूयते –"यस्य बुद्धिः शरीरम् यस्याहंकार शरीरम् यस्य चित्तं शरीरम् यस्याव्यक्तं शरीरम् यस्याक्षरंशरीरम् योमृत्युमंतरे संचरन् यस्यमृत्युः शरीरम् यं मृत्युर्नवेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः इति। अत्र 'मृत्यु शब्देन परमसूक्ष्ममचिद्वस्तु तमः शब्दवाच्यमभिधीयते "अव्यक्तमक्षरे लीयते

ankurnagpal108@gmail.com

अक्षरं तमसि लीयते" इतितस्यामेवोपनिषदि क्रमप्रत्यभिज्ञानात् । सर्वेषां आत्मनां ज्ञानावरणार्थमूलत्वेन तदेव हि तमो मृत्युशब्दव्यपदेश्यम् ।

सुबालोपनिषद् में भी—ऐसे ही पृथिवी आदि तत्त्वों को परमात्मा का शरीर बतलाकर जिन्हे वाजसनेयी बृहदारण्यक मे नही बतलाया गया उन तत्त्वों को भी शरीर स्थानीय तदात्मक बतलाया गया है "बुद्धि जिनका शरीर है, अहंकार जिनका शरीर है, चित्त जिनका शरीर है, अव्यक्त जिनका शरीर है, अक्षर जिनका शरीर है, जो कि मृत्यु मे संचरण करते है मृत्यु उनका शरीर है, मृत्यु उन्हे नही जानता ऐसे सर्वान्तर्यामी निष्पाप, दिव्य देव एकमात्र नारायण ही है ।" इस प्रसंग में "मृत्यु" शब्द से, अतिसूक्ष्म वस्तु "तम" का ही उल्लेख किया गया है, इसी उपनिषद् के "अव्यक्त अक्षर में विलीन होता है, अक्षर, तम में लीन होता है" इस वाक्य से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है । यह "तम' ही, समस्त आत्माओं के ज्ञान का आवरक होकर अनर्थ करने वाला मूल कारण हैं, इसीलिए "मृत्यु" शब्द से उसका उल्लेख किया गया है ।

सुबालोपनिषद्येव ब्रह्मशरीरतया तदात्मकानां तत्त्वानां ब्रह्मण एव प्रलय आम्नायते – "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि लीयन्ते, तेजो वायौ लीयते, वायुराकाशे लीयते, आकाशइंद्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ लीयंते, भूतादिर्महति लीयते, महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरेलीयते, अक्षरंतमसि लीयते, तमः परेदेव एकीभवति" इति । अविभागापत्तिदशायामपि चिदचिद्वस्त्वति सूक्ष्मं सकर्मसंस्कारं तिष्ठतीत्युत्तरत्रवक्ष्यते न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति ।

इस सुबालोपनिषद् में ही ब्रह्म के शरीर स्थानीय तदात्मक तत्त्वों का, ब्रह्म में ही लय बतलाया गया है "पृथ्वी, जलों में लीन होती है, जल तेज में लीन होते हैं, तेज, वायु में लीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है, आकाश इन्द्रियों में लीन होता है, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में लीन

ankurnagpal108@gmail.com

होती हैं, तन्मात्रायें भूतों में लीन होती हैं, भूत महत् में लीन होते हैं, महत् अव्यक्त में लीन होता है अव्यक्त अक्षर में लीन होता है, अक्षर तम में लीन होता है, तम परमात्मा में एकीभूत हो जाता है।" उक्त प्रकार की अविभक्त दशा में भी समस्त जडचेतन वस्तु, अतिसूक्ष्म रूप से, कर्मों के संस्कारों सहित उपस्थित रहते है, ऐसा सूत्रकार "न कर्माविभागादिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कहते हैं।

एवं स्वस्माद्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मनैकीभूतात्यंतसूक्ष्म चिदचिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानंदात् सर्वज्ञात् सत्यसंकल्पाद्ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीर-तया बहुभवनसंकल्प पूर्वको जगदाकारेण परिणामः श्रूयते। "सत्यं-ज्ञानमनंतंब्रह्मः" तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽनंदमयः "एष ह्येवानंदयाति" सोऽकामयत् , बहुस्यां प्रजा-येयेति स तपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तंचानिरुक्तं च, निलयनंचानिलयनं च विज्ञानंचाविज्ञानं च, सत्यंचानृतं च सत्यमभवत्" इति।

इसी प्रकार, ब्रह्म से भिन्न न कहने योग्य, परमात्मा में ही एकीभूत अत्यंतसूक्ष्म जडचेतन शरीर अद्वितीय, अत्यानंदमय सर्वज्ञ, सत्य संकल्प परब्रह्म ही नामरूप विभाग करने योग्य स्थूल जडचेतन शरीर वाला होने का संकल्प करता हुआ जगदाकाररूप में परिणत होता है, ऐसा—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंत है' "इस विज्ञानमय से सूक्ष्म अन्य आत्मा आनंदमय है "यही दूसरे को आनंदित करते हैं" उसने कामना की कि—अनेक होकर जन्म लूँ, इसलिए उसने तप किया, उसने तप करके ही इस समस्त जगत की सृष्टि की, वे दृष्ट अदृष्ट इस सबकी सृष्टि कर उसी में प्रविष्ट हो गए, प्रविष्ट होकर सत् असत्, निरुक्त अनिरुक्त, निलयन अनिलयन, विज्ञान अविज्ञान, सत्य और असत्य हो गए।" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्र तपः शब्देन प्राचीनजगदाकारपर्यालोचनरूपं ज्ञानं अभिधीयते "यस्य ज्ञानमयंतपः" इत्यादिश्रुतेः। प्राक् सृष्टं जगत् संस्थानांमालोच्येदानीमपि तत्संस्थानं जगदसृजदित्यर्थः, तथैव हि ब्रह्म सर्वेषु कल्पेष्वेकरूपमेव जगत् सृजति" सूर्याश्चंद्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः "यथा ऋतिषु मवृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये, दृश्यंते तानितान्येव तथाभावा युगादिषु" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः। तदयमर्थः, स्वयमपरिच्छिन्न ज्ञानानंदस्वभावोऽत्यंतसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पस्वलीलोपकरणचिदचिद् - वस्तु शरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रानंतक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभत प्रकृति पुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनः सत्यच्छब्दवाच्य विचित्र चिदचिद्मिश्र देवादिस्थावरान्तजगद्रूपोऽभवत्—इति।

यहाँ तप शब्द से, पूर्व कल्पीय जगत के स्वरूप का पर्यालोचन ज्ञान ही अभिहित है "ज्ञानमयता ही जिसका तप है" इस श्रुति से यही बात सिद्ध होती है। ब्रह्म ने, सृष्टि की पूर्वतन जगदाकृति का चिन्तन कर इस समय भी, तदनुरूप सृष्टि की रचना की, यही उक्त कथन का तात्पर्य है। उसी प्रकार, यह ब्रह्म,सभी कल्पों में, एक रूप वाले जगत की सृष्टि करते हैं. ऐसा "विधाता ने पूर्व सृष्टि के अनुसार सूर्य और चंद्र की कल्पना की, द्यु लोक, पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्गलोक भी उसी प्रकार बनाया।" "जैसे नियमित रूप से ऋतुएँ एक के बाद एक सदा प्रवृत्त होती हैं वैसे ही युगों की नियमित प्रवृत्ति होती है" इत्यादि श्रुति स्मृति प्रमाणों से ज्ञात होता है। इसका तात्पर्य यह है कि—प्रलयकाल में परमात्मा का लीलोपकरण रूप, जडचेतन वस्तुमय शरीर अत्यंत सूक्ष्म होने से "असत्" ज्ञात होता है। अपरिच्छिन्न ज्ञान और आनंद स्वभाव स्वयं परमात्मा, पुनः उन्हीं अनंतविचित्रतापूर्ण अपने लीलोपकरणों को प्रकट करने की इच्छा से, अपने शरीर स्थानीय प्रकृति पुरुष आदि को, समुदाय क्रम से महाभूत पर्यन्त, विशेष विशेष शरीरों के आकार में

ankurnagpal108@gmail.com

प्ररिणत करके, स्वयं भी तन्मय होकर प्रत्यक्ष और परोक्षात्मक जडचेतन युक्त विचित्र, देवता से स्तम्ब पर्यन्त जगदाकार रूपों में परिणत हो गए।

"तदेवानुप्राविशत्तदनुप्रविश्य" इति कारणावस्थायामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयाऽवस्थाय तत्तदभवदित्युच्यते। एवं परमात्मचिदचिद् संघात रूपजगदाकार परिणामे परमात्मशरीरभूतचिदंशगताः सर्व एवापुरुषार्थाः तथाभूताचिदंशगताश्च सर्वे विकाराः परमात्मनि कार्यत्वम् तदवस्थयोस्तयोः नियतृत्वेनात्मत्वम्, परमात्मा तु तयोः स्वशरीरभूतयोर्नियंतृतयाऽत्मभूतस्तद्गता पुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते, अपरिच्छिन्नज्ञानानंदमयः सर्वदैकरूप एव जगत् परिवर्त्तनलीलयाऽवतिष्ठते। तदेतदाह–"सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इति। विचित्र चिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवाभवत् निरस्तनिखिलदोषगंधमपरिच्छिन्नज्ञानानंदमेकरूपमेवाभवदित्यर्थः।

"उन्होंने उन सब में प्रवेश करके" इत्यादि में कहा गया कि-जगत की कारणावस्था के रूप में स्थित परमात्मा ही कार्य रूप से परिणत वस्तु में आत्मा रूप से स्थित होकर उन्हीं रूपों के हो गए। परमात्मा का जडचेतन समष्टि रूप जो परिणाम है, वह परमात्मा के शरीर स्थानीय, चेतन अंशरूप (जीवों) के लिए पुरुषार्थ नहीं है (अपितु निवार्य है) तथा परमात्मा के ही शरीर भूत समस्त अचेतन विकार ये दोनों (चेतनांश जीव और अचेतनांश जगत) ही परमात्मा के कार्य हैं, इन दोनों में अतर्यामी रूप से स्थित होकर नियंत्रण करने वाले परमात्मा के ये आत्मीय भी है। परमात्मा इन दोनों शरीरों के नियंता और अन्तर्यामी होते हुए भी, उनके अपुरुषार्थ और विकारों को स्पर्श नहीं करते, वह तो अनिवार्य ज्ञानानंदमय, सदा एक रूप से स्थित रहते हुए, जगत की परिवर्त्तन रूप लीला का संपादन करते रहते है। इसी लिए

ankurnagpal108@gmail.com

कहा गया कि—' वह सत्यस्वरूप परमात्मा, सत्य और असत्य रूप हो गए।" इत्यादि विचित्र जडचेतन रूप से विकृत होते हुए भी, ब्रह्म स्वयं सत्य ही है, अर्थात् समस्त दोषों से अनस्पृष्ट, अनिवार्य ज्ञानानंदमय वह सदा एक रूप रहते है।

सर्वाणि चिदचिद्वस्तूनि, सूक्ष्मदशापन्नानि स्थूलदशापन्नानि च परस्य ब्रह्मणे लीलोपकरणानि सृष्ट्यादयश्चलीलेति, भगवद् द्वैपायन पराशरादिभिरुक्तम् "अव्यक्तादिविशेषांतं परिणामर्धिसंयुतम् क्रीडाहरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्" क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय बालः क्रीडनकैरिव इत्यादिभिः। वक्ष्यति च—"लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इति।

सारी जडचेतन वस्तुएं, चाहे वह सूक्ष्मदशा में हों अथवा स्थूल दशा में हों, परब्रह्म की लीलोपकरण मात्र है, यह सब सृष्टि आदि परमात्मा की लीला ही है, ऐसा भगवान द्वैपायन और पराशर आदि का कथन है। "परिणाम युक्त, अव्यक्त से लेकर विशेष (स्थूल विकार) तक सब कुछ, हरि की क्रीडा मात्र है, इसे क्षर ही मानना चाहिए, हरि की इस क्रीडा को, बालकों की क्रीडात्मक चेष्टा ही समझना चाहिए" बालक जैसे खिलौना आदि से खेलता है वैसे ही—इत्यादि। लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इस सूत्र में भगवान बादरायण उक्त बात ही कहते हैं।

"अस्मान्मायी सृजेत विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मामया सन्निरुद्धः" इति ब्रह्मणि जगद्रूपतया विक्रियमाणेऽपि तत्प्रकारभूताचिदंशगताः सर्वे विकाराः तत्प्रकारभूत क्षेत्रगताश्चापुरुषार्था इति विवेक्तुं प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मशरीरभूतयोस्तदानीं तथा निर्देशानर्हीति सूक्ष्मदशापत्त्या ब्रह्मणैकीभूतयोरपि भेदेनव्यपदेशः "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिभिरैकार्थ्यात्। तथा च मानवं वचः—"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अतएव ससर्जादौ तासुवीर्यमपासृजत्" इति। अतएव ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिर्विकारत्वश्रुतयश्चोपपन्नाः अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च।

ankurnagpal108@gmail.com

"मायाधीश इस प्रकृति से, इस विश्व की सृष्टि करते हैं, और दूसरा (जीव) माया द्वारा इस सृष्टि में बांधा जाता है" इत्यादि में यह बतलाया गया है कि-ब्रह्म के जगदाकार रूप में विकृत होने पर उनका जितना भी विकार है वह तो सारा का सारा उनके शरीर स्थानीय अचेतनांश में प्रतिष्ठित रहता है, तथा जो कुछ अपुरुषार्थ (परिहार्य अनर्थ) है वह परमात्मा के ही शरीर स्थानीय क्षेत्रज्ञ (जीव) में रहता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही, ब्रह्म की शरीर भूत अवर्णनीय अतिसूक्ष्म अवस्था वाली वस्तु प्रकृति और पुरुष को ब्रह्मात्मक होते हुए भी, भिन्न बतलाया गया है। ऐसा मानने से ही "उन्होंने स्वयं अपने को जगद् रूप में परिणत किया" इत्यादि वाक्यों का सामंजस्य हो सकता है। ऐसा ही मनुजी का भी वचन है-"उन्होंने अपने शरीर से विविध प्रजा की सृष्टि की इच्छा से सर्व प्रथम जल की सृष्टि की और उसमें वीर्य का रोपण किया।" इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और निर्विकारता श्रुतियों से सिद्ध होती है। ब्रह्म ही जगत के निमित्त और उपादान कारण है।

योनिश्च हि गीयते ।१।४।२८।

इतश्च जगतोनिमित्तमुपादानं च ब्रह्म, यस्माद् योनित्वेनाप्यभिधीयते "कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" इति। "यद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः" इति च योनिशब्दश्चोपादानवचन इति। "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इति वाक्यशेषादवगम्यते।

इसलिए भी, ब्रह्म, जगत के निमित्त और उपादान कारण हैं कि परमात्मा को सब की योनि बतलाया गया है। "जगत कर्त्ता पुरुष, योनि स्वरूप ब्रह्म को" "उस भूत योनि को साधक लोग दर्शन करते हैं" इत्यादि में उन्हें योनि शब्द से निर्देश किया गया है "जैसे कि मकड़ी सृजन और ग्रहण करती है" इत्यादि वाक्यशेष से, उसकी उपादानता भी ज्ञात होती है।

८ सर्वव्याख्यानाधिकरणः—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।१।४।२९।।

ankurnagpal108@gmail.com

एतेन पादचतुष्टयोक्तन्यायकलापेन, सर्ववेदांतेषु जगत् कारण प्रतिपादनपराः सर्वे वाक्य विशेषाः चेतनविलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म प्रतिपादनपरा व्याख्याताः। "व्याख्याताः" इति पदाभ्यासो अध्याय परिसमाप्ति द्योतनार्थः।

इस अध्याय के चारों पादो का जिस प्रणाली से विवेचन किया गया है, उससे निश्चित होता है कि—समस्त वेदांतशास्त्र के जगत प्रतिपादक विशेष वाक्यों में, जडचेतन से विलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न ब्रह्म का प्रतिपादन ही, एकमात्र तात्पर्य है। "व्याख्याताः" पद की द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की सूचिका है।

प्रथम अध्याय समाप्त

THE ACADEMY OF SANSKRIT RESEARCH,
MELKOTE-571431.
(KARNATAKA STATE)

Accn. No. 6892

ankurnagpal108@gmail.com

जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत

Accn. No. 6873



श्री भाष्य

द्वितीय खंड

THE ACADEMY OF SANSKRIT RESEARCH
MELKOTE
(KARNATAKA STATE)

प्रस्तोता

आचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी



श्री निम्बार्काचार्य पीठ
१२, महाजनी टोला
प्रयाग

ankurnagpal108@gmail.com

मुन्निलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्री निम्बार्क पीठ
१२ महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : इक्यावन रुपये मात्र

ACADEMY ... RESEARCH
MEL... LIBRARY
Acc. No ...
Date

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय, इलाहाबाद

ankurnagpal108@gmail.com

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

१ स्मृत्यधिकरण :—

स्मृत्यनवकाश दोषप्रसंग इतिचेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात् ।२।१।१।

प्रथमे अध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाण गोचरादचेतनात्तत्संसृष्टाद् वियुक्ताच्च चेतनादर्थान्तरभूतं निरस्तनिखिलाविद्याद्यपुरुषार्थ गंधमनंतज्ञानानंदैकतानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेक कारणं सर्वान्तरात्मभूतं परंब्रह्म वेदांतवेद्यमित्युक्तम् । अनन्तरस्या र्थस्य संभावनीयसमस्तप्रकारदुर्धर्षणत्वप्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते । प्रथमंतावत् कपिलस्मृति विरोधात् वेदांतानाम-तत्परत्वमाशंक्य तन्निराक्रियते ।

प्रथम अध्याय में कहा गया कि-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुस्पष्ट, अचेतन से संयुक्त और वियुक्त, चेतन जीव से भिन्न, अविद्या आदि सभी अपुरुषार्थों से रहित, असीम ज्ञान और आनंद से पूर्ण, अपरमित उदार गुणों के सागर, समस्त जगत के एक मात्र कारण, सर्वान्तर्यामी परंब्रह्म ही वेदांत वाक्यों के वेद्य तत्त्व हैं। इसके बाद अब, उक्त संबंध में संभावनीय सभी प्रकार की शंकाओं के निवारण के लिए और तत्त्व के प्रतिपादन के लिए, द्वितीय अध्याय का प्रारंभ करते हैं। सर्व प्रथम, सांख्य स्मृति के साथ विरोध होने से, वेदांत वाक्यों का, अन्यपरत्व है, ऐसी आशंका करते हुए, उसका निवारण करेंगे।

कथं स्मृति विरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम् ? उक्तं हि "विरोधे-त्वनपेक्ष्यंस्यात् "इति श्रुतिविरुद्धायाः स्मृतेरनादरणीयत्वम् । सत्यम्

ankurnagpal108@gmail.com

"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इत्यादिषु स्वतएवार्थं निश्चयसंभवात्त-द् विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव, इहतु वेदांतवेद्यतत्त्वस्य दुःखबोधत्वेन परमर्षिप्रणीत स्मृति विरोधे सत्ययमर्थ इतिनिश्चयायोगात् स्मृत्या श्रुतेरतत्परत्वोपपादनमविरुद्धम् ।

सांख्य स्मृति, विरुद्ध होने से श्रुति वाक्यों का अन्य परत्व कैसे संभव है? कहते हैं कि "श्रुति के साथ, विरोध अर्थ वाली स्मृति अनपेक्षणीय है" इत्यादि में, श्रुति विरुद्ध स्मृति की अनादरणीयता बतलाई गई है वह ठीक ही है । "उदुम्बरी का स्पर्श करके गान करो।" इत्यादि स्थलों में तो विना विचारे ही, श्रुति का अर्थ निश्चय किया जा सकता है । इसलिए यह स्मृति, श्रुति विरुद्ध और अनादरणीय मानी जावेगी किन्तु वेदांत तत्त्व दुर्बोध हैं, इसलिए कापिल स्मृति के विरुद्ध होते हुए भी उनका यही अर्थ होगा ऐसा निश्चित करना कठिन है, अतः स्मृति से श्रुति का अन्यपरत्व मानना ठीक ही है ।

एतदुक्तं भवति-प्राचीनभागोदितनिखिलाभ्युदयसाधनभूत अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि यथावदभ्युपगच्छता श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन संकीर्त्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिःश्रेयसतत्साधनावबोधित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपबृंहणेन विना अल्पश्रुतैर्मंदमतिभिर्वेदांतार्थ निश्चयायोगाद्यथाश्रुतार्थग्रहणे चाप्तप्रणीतायाः सांख्यस्मृतेः सकलाया एवानवप्रकाशप्रसंगाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदांतवेद्य इति बलादभ्युपगमनीयमिति ।

कहने का तात्पर्य यह है कि-महर्षि कपिल कर्मकाण्ड में उपदिष्ट अभ्युदय के साधन-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि कर्मों की महिमा यथारूप में स्वीकारते हैं, तथा श्रुति-स्मृति -इतिहास -पुराणादि में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" इत्यादि में उन्हे आप्त ऋषि भी कहा गया है। इसलिए कपिल प्रणीत, परमनिःश्रेयस (मोक्ष) और उसके साधनों के

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपादक, स्मृति शास्त्र की सहायता के विना, अल्पज्ञ और मंदबुद्धि व्यक्तियों को, वेदांत के वास्तविक अर्थ का ज्ञान असंभव है, ऐसा मानना चाहिए। यथाश्रुत (अविचारित) अर्थ का मान लेने से तो आप्त प्रणीत सांख्य स्मृति की निर्विषयता हो जायेगी जो कि–दोष है, इसलिए सांख्य स्मृति प्रसिद्ध (प्रतिपादित) विषय ही, वेदांत शास्त्र का प्रतिपाद्य है, ऐसा तुम्हें, अनिच्छा होते भी स्वीकारना पड़ेगा।

न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्ववादिनामेवं-सति अनवकाशदोष प्रसंग इति, धर्मप्रतिपादनद्वारा प्राचीन भागोप-बृहंणएव सावकाशत्वात्। अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वा-त्तथाऽनभ्युपगमे निरवकाशत्वमेव स्यात्। तदिमाशंकतेस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंग इति चेत्।

ऐसा मानने से तो, एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मानने वाली मनु आदि स्मृतियाँ भी निर्विषय हो जावेंगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों-कि-मनु आदि स्मृतियों की तो, पूर्वकाण्डोक्त धर्म के प्रतिपादन से ही, चरितार्थता है। यह सांख्य स्मृति तो सारी की सारी, तत्त्व प्रतिपादन में ही तत्पर है, यदि उसके एक अंश को भी अस्वीकार करेंगे तो वह, पूरी ही निर्विषय हो जावेगी यही बात सूत्र में "स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंग इतिचेत्" में निहित है, जो कि शंका रूप से प्रस्तुत की गई है।

सिद्धान्त:—तत्रोत्तरं-नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात् इति। अन्या हि मन्वादिस्मृतयो ब्रह्मैककारणतां वदंति, यथाह मनुः "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्, महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः, अपएव ससर्जादौ तासुवीर्यम-पासृजत्" इति। भगवद्गीतासु च "अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। अहं सर्वस्यप्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इति च॥ महा-भारते- "कुतः सृष्टिमिदं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम्, प्रलये च

ankurnagpal108@gmail.com

कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह !" इति पृष्टश्राह-"नारायणोजगन्मूर्त्तिरनंतात्मा सनातनः" इति। तथा-"यस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणद्विजसत्तम" इति। "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्क्रिये सम्प्रलीयते" इति च। आह च भगवान् पराशरः "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ,स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौजगतोऽस्य जगच्चसः" इति। आहचापस्तम्बः "पूः प्राणिनः सर्वएवगुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्मषस्य इत्यारभ्य-"तस्मात्कायाः प्रभवंतिसर्वे समूलं शाश्वतिकः सनित्यः" इति। यदिकपिलस्मृत्या वेदांतवाक्यार्थव्यवस्थास्यात् तदैतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान् दोष प्रसज्येत्।

सूत्रकार सिद्धान्त रूप से उक्त शंका के उत्तर में- "नान्यस्मृत्यनवकाश दोषप्रसंगात्" ऐसा वाक्य सूत्रार्थ में प्रस्तुत करते हैं। अन्य मनु आदि स्मृतियाँ,, ब्रह्मैककारणता का ही प्रतिपादन करती हैं–जैसे–कि–मनु में- "यह सब तमोभूत था से प्रारंभ करके- "इसके बाद अव्यक्त (प्राकृत बुद्धि से अगोचर)भगवान स्वयम्भू, महाभूत आदि चौबीस तत्वों में स्वशक्ति संचार करके जगत को क्रमशः अभिव्यक्त करके तमोनुद (प्रलय कालीन अंधकार शक्ति) को विध्वस्त कर प्रकट हो गए उन्होने विविध प्रजा की सृष्टि की और उसमें वीर्य का संचार किया" इत्यादि। भगवद् गीता में भी इसी प्रकार–"मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ "मैं ही समस्त जगत का कारण हूँ, मुझसे ही सारा जगत प्रादुर्भूत होता है इत्यादि। महाभारत में भी"हे पितामह! स्थावर जंगममय यह सारा जगत कहाँ से उत्पन्न हुआ है? एवं प्रलय काल में कहाँ रहता है? "ऐसा पूछने पर उत्तर "अनंतमूर्त्ति सनातन नारायण ही जगत रूपी मूर्त्ति हैं "तथा– "हे द्विजसत्तम, उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त (प्रकृति का उद्भव हुआ, वह अव्यक्त, निष्क्रिय और निरवयव नारायण में विलीन हो जाता है। ऐसा ही भगवान पराशर विष्णु पुराण में कहते हैं–"यह जगत विष्णु से उत्पन्न है एवं उन्ही में अवस्थित है, वे ही इस जगत के संयामक है, यह जगत उन्ही का रूप है" इत्यादि, आपस्तम्ब स्मृति में भी जैसे–"ये सारे प्राणी, सर्वान्तर-

ankurnagpal108@gmail.com

यामी, अविनश्वर निष्पाप (विष्णु) के शरीर हैं "सारे शरीर उन्हीं से प्रकट हुए हैं, वह परमात्मा ही मूल और निर्विकार हैं एवं वही नित्य हैं" इत्यादि। यदि कपिल स्मृति के अनुसार वेदांत वाक्यों का निर्णय किया जावेगा तो, उक्त सभी स्मृतियां निर्विषय हो जावेंगी, तब तो महान् दोष होगा।

अयमर्थ :—यद्यपि वेदांतवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादि सकलेतर प्रमाण संभावनाभूमिभूतार्थंप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थं वैशद्यायाल्पश्रुतानां प्रतिपत्तॄणां तदुपबृंहणमपेक्षितम् 'तथापि तदर्थानुसारिणीनामाप्ततम प्रणीतानां बह्वीनां स्मृतीनां तदुपबृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं मा प्रसांक्षीदिति श्रुतिविरुद्धार्थ कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया।

कहने का तात्पर्य यह है कि-यद्यपि समस्त वेदांत, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतीत परमात्मा के प्रतिपादन में तत्पर हैं, तथापि अल्पज्ञों के लिए इसका विशदीकरण आवश्यक है। वेदांत अर्थ का अनुसरण करने वाली आप्ततम (कपिल से भी अधिक मान्य) वेदांत तत्त्व के उपबृंहण में संलग्न स्मृतियाँ निर्विषय न हो जायें, इसलिए भी, वेदांतविरुद्ध कपिल स्मृति उपेक्षणीय है।

उपबृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थं विशदीकरणम्। तच्च विरुद्धार्थ-या स्मृत्या न शक्यते कर्त्तुम्। न चैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांश विशदीकरणेन सावकाशत्वम्, परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेनधर्मान् विदधतीनामेतासामाराध्यभूतपरमपुरुष प्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्मं प्रतिपादनासंभवात्।

श्रुति प्रतिपादित अर्थ के विशदीकरण को ही उपबृंहण कहते हैं। वह उपबृंहण, विरुद्धार्थ प्रतिपादिका स्मृति से होना संभव नहीं है। एक मात्र कर्म काण्ड के धर्मांशा के प्रतिपादन से ही, मनुआदि स्मृतियों की सार्थकता हो, ऐसा कहना असंगत है, परब्रह्म परमात्मा की उपासना के उद्देश्य से ही धर्म का प्रतिपादन करने वाली ये स्मृतियाँ हैं, यदि इन स्मृतियों में आराध्य परमपुरुष का प्रतिपादन किया न गया होता तो

ankurnagpal108@gmail.com

आराधनारूपी धर्म के प्रतिपादन का क्या अर्थ होता? अर्थात् बिना परब्रह्म के प्रतिपादन के आराधनारूपी धर्म का प्रतिपादन हो नहीं सकता।

तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मर्यते—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदंततम्। स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धि विंदंति-मानवः"॥"ध्यायेन्नारायणंदेवं स्नानादिषु च कर्मसु। ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहावर्त्ततेपुनः॥"यैः स्वकर्मपरैर्नाथनरैराराधितोभवान्।ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये॥"इति, न च ऐहिकामुष्मिक-सांसारिकफलसाधनकर्मप्रतिपादनेनैतासां सावकाशत्वम्, यतस्तेषामपि कर्मणां परमपुरुषाराधनत्वमेवस्वरूपम्,यथोक्तं "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः, तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। नतु मामभिजानंति मयाच्युत, हव्यकव्यभुगेकस्त्वम् पितृदेवस्वरूपधृक "इति।

सभी कर्मों को, परमपुरुष की आराधना के साधन रूप से स्मृतियों में स्पष्ट वर्णन किया गया है—"जिनसे समस्तभूतों की उत्पत्ति है, एवं जो समस्त जगत में व्याप्त है, मनुष्य अपने अधिकारानुसार कर्मों से उनकी अराधना करके, सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करते हैं "स्नानादि कर्मों में नारायण काध्यान करना चाहिए, ऐसा करने वाले ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं, फिर कभी इसलोक में नहीं लौटते "हे प्रभु जो अपने अधिकारानुसार कर्मों में आरूढ रहकर आपकी आराधना करते हैं, वे माया से मुक्त होने के लिए ही ऐसा करते हैं।"इत्यादि, ऐहिक व पारलौकिक,सांसारिक फलों के साधन रूप कर्मों का प्रतिपादन करने के कारण ही, इन स्मृतियों की सार्थकता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः परमपुरुष अराधना ही, इन समस्त कर्मों का स्वरूप है जैसा कि—"जो भक्ति और श्रद्धा से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे भी मेरी ही, विधिरहित पूजा करते हैं "मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ किन्तु साधक मुझे भली भाँति नहीं जानते इसलिए पतित होते हैं, "हे सर्वदेवमय अच्युत! आप सदा समस्त यज्ञों द्वारा अर्चित होते हैं, एकमात्र आपहीदेव-

ankurnagpal108@gmail.com

रूप धारण करके यज्ञीय और श्राद्धीय द्रव्य को ग्रहण करते हैं "इत्यादि से ज्ञात होता है।

यदुक्तं "ऋषिं प्रसूतं कपिलम् "इति कपिलस्याप्तत्या संकीर्त्तनात्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यवस्थापनंन्याय्यम्-इति, तदसत् ,बृहस्पतेः श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतिशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन संकीर्त्तनात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्यर्थव्यवस्थापनप्रसक्तेः, इति

जो यह कहा कि—शास्त्रों में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्,, इत्यादि कह कर कपिल की आप्त रूप से प्रशंसा की गई है, इसलिए उनकी स्मृति के अनुसार वेदांतार्थ का व्यवस्थापन करना उचित है, यह कथन भी असंगत है, ऐसा मानोगे तो, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों के अग्रगण्य परं बुद्धिमान बृहस्पति का श्रुतिस्मृतियों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उल्लेख किया गया है, उनके लोकायत (नास्तिक) सिद्धान्त के अनुसार भी वेदांतों का सामंजस्य करना पड़ेगा।

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धेः तत्स्मृत्यनुसारेण वेदांतार्थो व्यवस्थापयितव्यः इति अतउत्तरं पठति। यदि कहें कि...इसका उत्तर देते हैं

इतरेषां चानुपलब्धेः।२।१।२॥

च शब्दः तु शब्दार्थः चोदिताशंकानिवृत्यर्थः। इतरेषां मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिम साक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिल जगद् भेषजभूतस्ववाक्यतया "यद्वैकिंच मनुरवदत्तदभेषजम्"इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिल दृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेः श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदांतार्थश्चालयितुं शक्य इतिसिद्धम्।

सूत्रस्थ "च" शब्द "तु" शब्द का समानार्थक है, जो कि की गई शंका की निवृत्ति के उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। अन्यान्य मनु आदि अनेक महात्माओं ने अपने अर्जित यौगिक बल से परतत्त्व (ईश्वर) और

ankurnagpal108@gmail.com

अपरतत्त्व (जगत) का यथार्थ रूप से साक्षात् करके, अपने अर्जित ज्ञान को जगत के लिए औषधिरूप से प्रस्तुत किया "जो कुछ भी मनु कहता है वह औषध रूप है "इत्यादि। उन्हीं मनु आदि के ग्रन्थों में कहा गया है कि-कपिल के उपदेश से अनुरूप तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती इसलिए कपिल की उपलब्धि (तत्त्व चिन्तन प्रणाली) श्रुति विरुद्ध और भ्रांति मूलक है। इसलिए वेदांतार्थ के यथार्थ स्वरूप को, उसके आधार पर, अन्यथा नहीं किया जा सकता।

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण:

एतेन योगप्रत्युक्तः ।२।१।३॥

एतेन—कापिलस्मृति निराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता कापुनरत्राधिशंका, यन्निराकरणायन्यायातिदेशः योगस्मृतावपि ईश्वराभ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदांतविहितयोगस्य चाभिधानात् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्य सर्ववेदांतप्रवर्त्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदांतोपवृंहणं न्याय्यम्-इति।

इस कपिल स्मृति के निराकरण से, योग स्मृति का भी निराकरण हो जाता है,। प्रश्न होता है कि-योग स्मृति में कौन सी ऐसी वेदांत भिन्न विशेषता है, कि जिसके निराकरण की आवश्यकता पड़ गई? योग स्मृति में भी, वेदांत विहित, मोक्ष साधना रूप, ईश्वर प्रणिधान को मान्यता दी गई है, योगवक्ता हिरण्यगर्भ ने, लोक प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही, संपूर्ण वेदांत तत्त्वों का उपदेश दिया है, इसलिए योग स्मृति के अनुसार, वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्याय संगत ही है।

परिहारस्तु — अब्रह्मात्मकप्रधानकारणवादानिमित्ताकारण-मात्रेश्वराभ्युपगमात् ध्यानात्मकस्य योगस्यध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयोरात्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वकल्याणगु-णात्मकत्वविरहेण अवैदिकत्वाद् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि क्षेत्रज्ञ-भूतस्य कदाचिद्रजस्तमोभिभवसंभवाच्च योगस्मृतिरपितत्प्रणीत रजस्तमोमूलपुराणवद्भ्रांतिमूलेति न तया वेदांतोपवृंहणंन्याय्यम्-इति

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय का परिहार करते हैं-योग स्मृति, अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद का ही अनुमोदन करती है तथा ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानती हैं। उनके मत में, ध्येय आत्मा और ईश्वर को अब्रह्मात्मक तथा जगत को उपादान कारण संपूर्णगुणात्मक तत्त्वों का निराकरण एवं वेदविरुद्ध तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जीव रूप हिरण्यगर्भ भी कभी, रज, तम गुणों से अभिभूत हो जाता है, इसलिए योग स्मृति भी उन्ही के प्रणीत, रजस्तमोमूलक पुराण की तरह भ्रांतिमूलक ही है इसलिए योगस्मृति के आधार पर वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्यायोचित नहीं है।

३ विलक्षणत्वाधिकरणः—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४।।

पुनरपि स्मृतिविरोधवादी तर्कमवलम्बमानः प्रत्यवतिष्ठते, यत्सांख्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, तन्नोपपद्यते, अस्यप्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानीश्वरत्वेन दुःखात्मकत्वेन चोपलभ्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः भवदभ्युपेतात् सर्वज्ञात् सर्वेश्वराद् हेयप्रत्यनीकादानंदैकतानात् ब्रह्मणो विलक्षणत्वात्।

विरोधी, स्मृति वादी पुनः तर्क का आश्रय लेकर सम्मुख आते है कि-जो तुमने सांख्य स्मृति का निराकरण करके, जगत को ब्रह्म का कार्य बतलाया 'वो असंगत् है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह जगत, अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर, दुःखात्मक और जड़चेतानात्मक है तथा वह तुम्हारे अभिमत सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वोत्तम एकमात्र आनंदमय से विलक्षण है।

न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव जगतो वैलक्षण्यमुपलभ्यते, शब्दत्वाच्च तथात्वं विलक्षणत्वम् उपलभ्यते-"विज्ञानं चाविज्ञानं च" एवमेवैताभूममात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राप्राणेऽर्पिता "समानेवृक्षेपुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमानः" अनीशश्चात्मा-बध्यतेभोक्तृभावात् इत्यादिभिः। कार्यस्य हि जगतोऽचेतनत्वदुःखि-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वादयोनिर्दिश्यंते। यद्धि यत्कार्यं, तत्तस्मादविलक्षणम् यथा मृत्सुवर्णादि-कार्यंघटरुचकादि। अतो ब्रह्मविलक्षणस्यास्यजगतः तत्कार्यत्वं न संभवतीति सांख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्यसलक्षणं प्रधानमेव कारणंभवितुमर्हति।

केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही जगत की विलक्षणता ज्ञात होती हो ऐसा नहीं है अपितु शब्द शास्त्र भी उसे विलक्षण बतलाता है-"यह जगत विज्ञान और अविज्ञान (जड़ चेतन) है "ये भूतमात्रायें (शब्द आदि विषय) बुद्धि वृत्ति के अधीन हैं, वह बुद्धि प्राण के अधीन है "जीव एक ही वृक्ष पर अवस्थित होकर,अनीश्वर होने से,मुग्ध और शोकाकुल होता है जीव भोक्ता होने के कारण, पराधीन होकर विषयानुभूति करता है" इत्यादि शास्त्र वाक्यों में कार्यभूत जगत की जड़ता, दुखात्मकता आदि विलक्षणतायें बतलाई गई हैं। जिस कारण का जो कार्य होता है, वह कारण से कभी विलक्षण नहीं होता, जैसे कि मिट्टी और सुवर्ण के, घट, आभूषण आदि कार्य। इसलिए ब्रह्म से विलक्षण, यह जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं हो सकता। कार्य के अनुरूप,सांख्य प्रतिपादित प्रधान ही,जगत की कारण हो सकती है।

अवश्यं च शास्त्रस्यानन्यापेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनु-सरणीयः, यः, यतः सर्वेषां प्रमाणानां क्वचिद् क्वचिद् विषये तर्कानुगृहीतानामेवार्थनिश्चय हेतुत्वम्। तर्को हि नाम अर्थस्वभाव-विषयेण वा सामग्री विषयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणंव्यवस्था-पयत्तद्इतिकर्त्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानं तदपेक्षा च सर्वेषां प्रमाणानां समाना, शास्त्रस्य तु विशेषणाकांक्षासन्निधियोग्यताज्ञाना-धीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा, उक्तं च मनुना-"यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मं वेदनेतरः" इति तदेवहि तर्कानुगृहीत शास्त्रार्थं प्रतिष्ठापनंश्रुत्या च मन्तव्यः इत्युच्यते।

निश्चित ही इंद्रियातीत, अर्थ प्रतिपादक शास्त्र, अपने अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी उसके लिये तर्क का आश्रय

ankurnagpal108@gmail.com

लेना आवश्यक हो जाता है। क्यों कि-सभी प्रमाण, किसी न किसी विषय में तर्क का सहारा लेकर ही, वास्ताविक अर्थ का निर्णय कर पाते हैं। वस्तु विशेष के स्वाभावविशेष के निरूपण से हो अथवा सामग्री (कारण) विशेष के निरूपण से हो, ऐसे विषय विशेष के प्रामाण्य व्यवस्थापक, इत्तिकर्त्तव्यता रूपी ज्ञान का नाम ही तर्क है, इसी का दूसरा प्रर्यायवाची नाम "ऊह" है [अर्थात्- किसी एक विषय में, दो या उससे अधिक प्रमाणों के परस्पर विरोधी होने पर, जिसके द्वारा उक्त विरोध का परिहार करके सांमंजस्य स्थापना की जाय उसे ही तर्क या ऊह कहते हैं- विरोध परिहार के दो उपाय हैं-(१) विवादास्पद विषय के स्वाभाविक, विषय का निर्धारण (२) विवाद के कारण की पर्यालोचना] त्रिषय के समाधान में, सभी प्रमाणों की तरह तर्क भी अपेक्षा होती है. ऐसा मनु ने भी कहा है "जो तर्क को द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म तत्त्व को जान पाता है, दूसरा नहीं "ऐसे तर्क की सहायता से, शास्त्रार्थ निरूपण को ही श्रुति में "मंतव्य" कहा गया है।

अथोच्येत्–श्रुत्या जगतो ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति ,तत्कार्यस्यापि जगतश्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युपगभ्यते। यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलभ्भः ,तथा घटादिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्भूतं अतएव चेतनाचेतन विभाग इति। नैतदुपपद्यते यतो नित्यानुपलब्धिरसद् भावमेव साधयति। अतएव चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः। यस्यहि क्वचित्कदाचिदपि यत् कार्यानुपलब्धिः ,तस्य तत्कार्यशक्ति ब्रुवाणो, बन्ध्योसुतसमितिषु तज्जननीनां प्रजननशक्ति ब्रूताम्।

यदि कहो कि-श्रुति से जगत के एकमात्र कारण ब्रह्म को निश्चिय कर देने से, तदनुसार उसके कार्य रूप जगत को भी चैतन्य वृत्ति वाला मानलेंगे, जैसे कि-चैतन्य की सुषुप्ति मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में, चैन्योचित चेष्टायें नहीं पाई जातीं, उसी प्रकार घट आदि जागतिक पदार्थों में भी, जो कि चैतन्य ही हैं, चैतन्यता अव्यक्त रहती है, ऐसा मानने से, चेतनाचेतन का भेद भी संगत हो जाता है इत्यादि, तुम्हारा यह कथन सर्वथा हास्यास्पद है, जागतिक घट आदि पदार्थ सदा ही

ankurnagpal108@gmail.com

अचेतन रहते हैं, कभी भी उनमें चेतनता नहीं पाई जाती, इसलिए, जगत् में अव्यक्त चैतन्य शक्ति भी है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। किसी अवस्था या किसी काल में भी, जिसका निर्धारित कार्य, प्रतीत गोचर नहीं होता उसे शक्ति संपन्न कहना तो वैसा ही हास्यास्पद है जैसे, कि-वह बंध्यापुत्रों की माताओं की प्रजनन शक्ति की चर्चाकर रहा हो।

किं च वेदांतैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादन निश्चये सति-घटादीनां चैतन्यशक्तेः चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सद्भावनिश्चय-इतीतरेतराश्रयत्वम्। विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव न शक्यते।

एक बात और भी है-जब समस्त वेदांतों में ब्रह्म ही जगत का एक मात्र उपादान कारण निश्चित है तो घटादि जागतिक पदार्थों की चैतन्य शक्ति और उनकी चैतन्यस्वरूप अव्यक्त सत्ता भी निश्चिय हो जाती है, तथा उस अव्यक्त सत्ता के निश्चित हो जाने पर, ब्रह्मोपादानकारणता भी निश्चित हो जाती है इस प्रकार दोनों में परस्पर आश्रयता सिद्ध होती है। विसदृश पदार्थों का कार्य कारणरूप प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

किं पुनः प्रकृतिविकारयोः सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावाज्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनसंभवं ब्रूषे, न तावत् सर्वधर्मसारूप्यम्, कार्यकारणभावानुपपत्तेः। न हि मृत्पिडकार्येषु घटशरावादिषु पिण्डत्वाद्यनुवृत्तिर्दृश्यते। अथयेनकेनचिद्धर्मेण सारूप्यम्, तज्जगद्ब्रह्मणोरपि सत्तादिलक्षणं संभवतितदुच्यते, येनस्वभावेन कारणभूतं वस्तु वस्त्वंतराद्व्याबृत्तम् तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य कारण सालक्षण्यम् येनहि आकारेण मृदादिभ्यो हिरण्यं व्यावर्त्तते तदाकारानुवृत्तिः तत्कार्येषु कुंडलादिषु दृश्यते। ब्रह्म च हेय प्रत्यनीकज्ञानानंदैश्वर्यस्वभावम, जगच्च तत्प्रत्मनीकस्वभावमिति न तदुपादानम्। ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते, यथा

ankurnagpal108@gmail.com

चेतनापुरुषादचेतनानि केशखदंतलोमानिजायंते, यथाचाचेतनाद्-गोमयाच्चेतनो वृश्चिकोजायते, चेतनाच्चोर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः, नैतदेवम्, यतस्तत्राप्यचेतनांश एव कार्यकारणभावः।

(विवाद) आप, प्रकृति और विकार रूप जगत में किस प्रकार की समता मानते हैं कि जिसके अभाव में, ब्रह्मोपादानकता असंभव बतलाते हैं, कारण और कार्य में सभी प्रकार की समानता तो प्रायः होती नहीं, यदि ऐसा हो तो कार्य और कारण भाव की प्रतीति होगी कैसे? मिट्टी रूपी कारण में, घट आदि कार्यों की आकृति तो दृष्टिगोचर होती नहीं। इसलिए किसी न किसी प्रकार की समानरूपता कारण और कार्य में भी माननी होगी,जगत और ब्रह्म में भी सत्ता आदि रूपी समानता हो सकती है। कारण वस्तु में जो अपनी एक विशेषता होती है, जिससे कि वह अन्य वस्तुओं से पृथक् प्रतीत होती है, कारण की वही विशेषता यदि कार्य में भी तदनुरूप ही दिखलाई दे तो कारण और कार्य को समान कहना पड़ेगा। जैसे कि आकृति गुण आदि में मिट्टी, सोना से भिन्न है, वैसे है, सुवर्ण निर्मित पदार्थों से, मिट्टी के निर्मित प्रदार्थों में भी तन्नि-मित्तक भिन्नता दीखती है। पर ब्रह्म तो अत्युत्तम ज्ञान-आनंद और ऐश्वर्य स्वभाव से संपन्न है, जगत उससे सर्वथा विपरीत स्वभाव का है, इसलिए ब्रह्म, जगत का उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? यदि कहें कि–विपरीत रूपों में भी कारण कार्य भाव देखा जाता है, जैसे कि चेतन पुरुष से अचेतन नख-दंत-केश आदि की उत्पत्ति तथा अचेतन गोबर से चेतन गुबरैले कीड़ों की उत्पत्ति एवं चेतन मकड़ी से अचेतन सूत्र की उत्पत्ति इत्यादि, वैसी ही विलक्षणता ब्रह्म और जगत में भी हो सकती है। यह कथन असंगत है, क्यों कि- वहाँ तो अचेतनांश में ही कारण कार्य भाव है [चेतनांश में नहीं]

अथ स्यात्- अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगः श्रुतिषु श्राव्यते "तं पृथिव्यब्रवीत् "आपोवाअकामयन्त "त हेमेप्राणाअहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति। नदीसमुद्रपर्वतादीनामपि चेतनत्वं पौराणिक आतिष्ठंते, अतो नवैलक्षण्यमिति। अत उत्तरं पठति-

ankurnagpal108@gmail.com

आप जिन्हें अचेतन कहते हैं, उन्हें ही श्रुतियों में चैतन्ययुक्त कहा गया है जैसे कि–"पृथ्वी ने उससे कहा "जलों ने कामना की "वे इंद्रिया आपस में अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ती हुई ब्रह्मा के पास गई" इत्यादि ऐसे ही, नदी समुद्र पर्वत आदि की भी, पौराणिक चैतन्यता मानते हैं, इसलिए कारण कार्य में कोई विलक्षणता नहीं है। इसका उत्तर देते हैं–

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५।।

तु शब्दश्चोदिताशंकानिवृत्त्यर्थः, पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः "तं पृथिव्यब्रवीत" इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते। कुतः? विशेषानुगतिभ्यां-विशेषः, विशेषणं, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्यादयोऽभिधीयंते "हंताऽहमिमास्तिस्रो देवताः "इति तेजोऽबन्नानि देवताशब्देन विशेष्यंते "सर्वाहवै देवताअहं श्रेयसे विवदमानाः" ते देवाःप्राणेनिः श्रेयसं विदित्वा" इति च। अनुगतिः, अनुप्रवेशः, "अग्निर्वाग्भूत्वामुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशत् वायुः प्राणोभूत्वानासिके प्राविशत् "इत्यादिना वागाधभिमानित्वेनाग्न्यादीनां अनुप्रवेशः श्रूयते। अतोजगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः तर्कानुग्रहीतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदांतैः प्रतिपाद्यते इति

सूत्रस्थ तु शब्द की गई शंका के निवारण के लिए प्रयुक्त है। पृथ्वी आदि के अभिमानी देवता ही "पृथ्वी ने उससे कहा" इत्यादि वाक्यों में पृथ्वी आदि शब्दों से बतलाए गए हैं। पृथ्वी आदि देवताओं को विशेष नाम तथा अनुप्रवेश वाला कहा गया है। सूत्रस्थ विशेष्य शब्द विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है, देवता शब्द से विशेष्य, पृथिवी आदि का ही निर्देश है। "मैं इन तीनों देवताओं को नाम रूप वाला करूँगा" इत्यादि में तेज जल पृथिवी आदि, देवता शब्द से विशेषित किये गए हैं।" सारे देवता अपनी अपनी प्रधानता बतलाते हुए पहुँचे "वे देवता प्राण में निःश्रेयस जानकर" इत्यादि में भी इन्द्रियादि को देवता कहा गया है। सूत्रस्थ अनुगत शब्द का अर्थ है, मध्य में प्रवेश करना। "अग्नि वाक्

ankurnagpal108@gmail.com

रूप से मुख में प्रविष्ट है" सूर्य चक्षु रूप से नेत्रों में प्रविष्ट है," वायु प्राण रूप से नासिका में प्रविष्ट है" इत्यादि में वागादि इन्द्रियों के अभिमानी अग्नि आदि देवताओं का अनुप्रवेश बतलाया गया है। इसलिए युक्ति संगत सांख्य स्मृति के मतानुसार, वेदांतशास्त्र में, प्रकृति को ही जगत का उपादान कारण प्रतिपादन किया गया है, ऐसा ही मानना चाहिए।

उक्त तर्क के निराकरण में सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—एवं प्राप्तेऽभिधीयते,

दृश्यते तु ।२।१।६॥

तु शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, यदुक्तं जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादानत्वं न संभवति, इति, तदयुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्यं-कारणभाव दर्शनात्। दृश्यते तु माक्षिकादेर्विलक्षणस्य कृम्यादेस्त-स्मादुत्पत्तिः। ननु उक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र साल-क्षण्यम्। सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमत साल-क्षण्यसिद्धिः। यथाकथंचित्सालक्षण्ये सर्वस्य सर्वसालक्षण्येन सर्व-स्मात्सर्वोत्पत्ति प्रसंग भयाद्वस्तुनो, वस्त्वंतराद्व्यावृत्तिहेतु भूतस्याकारस्यानुवृत्तिः सालक्षण्यं भवताऽभ्युपेतं, स तु नियमो माक्षिकादिभ्यः कृम्यादि उत्पत्तौ न दृश्यत इति ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम्। न हि मृत्हिरण्यघटमुकुटा-दिष्विव वस्त्वंतरयावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्माक्षिक गोमयकृमिवृश्चिकादिषु दृश्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द, परपक्ष का द्योतक है। विलक्षणता के कारण जगत का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, यह कथन असंगत है, क्योंकि कार्य और कारण में विभिन्नता भी देखी जाती है। शहद की मक्खियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यदि कहें कि उक्त उदाहरण में केवल अचेतनांश में ही कार्य कारण की समानता है, सो तो आपने ठीक ही कहा, आपके कथन मात्र से ही, कार्य कारण की समानता सिद्ध न

ankurnagpal108@gmail.com

होगी [अर्थात् अचेतन मक्खियों के शरीर में चेतनांश भी तो है, उसे किस कारण का कार्य सिद्ध करेंगे ?] जिस किसी भी प्रकार की समानता तो हर पदार्थ में अवश्य होती है, अतः यह मान्य होगा कि समस्त पदार्थों में किसी न किसी प्रकार की समानता विद्यमान है, तथा इस समानता के सिद्धान्त के अनुसार यह भी मानना पड़ेगा कि—हर वस्तु से हर वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है ? सो तुम मानने में हिचकोगे और तुम्हें यह स्वीकारना पड़ेगा कि—वस्तु से वस्तु का भेद बतलाने वाला जो लक्षण है वही समानता का भी लक्षण है। किन्तु यह नियम मधुमक्खी के प्रसंग में घटित नहीं होता, इसलिए विलक्षण ब्रह्म से, जगत की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा, उपस्थित नहीं होती। मिट्टी से निर्मित घट एवं सुवर्ण रचित मुकुट आदि में, मिट्टी और सुवर्ण जैसी, अनुरूप आकृति समानता दिखाई देती है, वैसी मधुमक्खी, गुबरैले आदि में तो दीखती नहीं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७॥

यदि कार्यभूताज्जगतः, कारणभूतं ब्रह्मविलक्षणम् तर्हि कार्य-कारणयोर्द्रव्यांतरत्वेन कारणे परस्मिन् ब्रह्मणि कार्यं जगन्न विद्यत इत्सत एव जगदुउत्पत्तिः प्रसज्यत् इति चेत्—नैतदेवम्, कार्य-कारणयोः सालक्षण्य नियम प्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वसूत्रेऽभिप्रेतम्, न तु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम्, कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्-विलणणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत्तु न परित्यक्तम्, कृमिमा-क्षिकयोरपि हि सति च वैलक्षण्ये, कुण्डलहिरण्योरिव द्रव्यैक्यमस्त्येव।

इस पर, यदि कहो कि—कार्य रूप जगत से, कारण रूप ब्रह्म भिन्न लक्षण वाला है, तो कार्य और कारण दो भिन्न पदार्थ हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि—परब्रह्म में, इस कार्य रूप जगत का अस्तित्व नहीं है, तथा इस जगत् की उत्पत्ति जड से ही है। सो ऐसी बात नहीं है ऊपर के सूत्र में केवल, कार्य और कारण की समानता के नियम का ही प्रतिषेध किया गया है, कारण से कार्य भिन्न है, ऐसा नहीं कहा गया है, तथा कारण ब्रह्म, जो कि—असमान स्वभाव जगत् के रूप में परिणत

ankurnagpal108@gmail.com

हो जाते हैं, इस बात को भी छोड़ा नहीं गया है। कृमि और मक्खी आदि में स्वभावगत असमानता तो है, किन्तु सुवर्ण कुंडल की तरह द्रव्यैक्य भी है।

उक्त कथन का पुनः प्रधान कारणवादी खंडन करते हैं—अत्र चोदयति

अपीतौ तद्वतप्रसंगाद समंजसम् २।१।८॥

अपीताविति अपीतिपूर्वकसृष्ट्यादेः प्रदर्शनार्थम् "सदेव सोम्यइदमग्रआसीत् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु अप्ययावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात् सृष्ट्यादेः। यदि कार्यकारणयो-र्द्रव्यैक्यमभ्युपेतम् तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मणि अप्ययसृष्ट्यादिषु सत्सु, ब्रह्मण एव तत्तदवस्थान्वय इति कार्यगताः सर्व एवापुरुषार्था ब्रह्मणि प्रसज्येरन्, सुवर्ण इव कुंडलगताविशेषाः। ततश्चं वेदांत-वाक्यं सर्वमसमंजसं स्यात् यः सर्वज्ञः सर्ववित् "अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युः" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्य-धिकश्च दृश्यते "तयोरन्नं पिप्पलं स्वाद्वत्ति" अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् "अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्येकस्मिन्नेव-वस्तुनि येषां परस्परे विरुद्धानां प्रसक्तेः।

सूत्र में अपीति शब्द प्रलय पूर्विका सृष्टि का वाचक है। "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह सारा जगत् सत् ही था" सृष्टि के पूर्व यह जगत एकमात्र आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में सृष्टि के पूर्व की प्रलयावस्था का वर्णन किया गया है। यदि कार्य और कारण को एक ही द्रव्य माना जायेगा तो, ब्रह्म सृष्ट इस जगत का, जो कि उन्हीं से उत्पन्न, स्थित और लय हो जाता है, उसका ब्रह्म के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही होगा ऐसा होने से कुंडल की द्रव्यगत विशेषतायें जैसे सुवर्ण में मिल जाती हैं, वैसे ही जगत् की अपुरुषार्थ रूप त्याज्य वस्तुएँ भी प्रलय काल में ब्रह्म से संसक्त हो जावेंगी। इस प्रकार—"जो सर्वज्ञ और सर्वविद है" वह निष्पाप जरामृत्यु रहित है" उसमें कार्य और

ankurnagpal108@gmail.com

कारण नहीं हैं, और न उसमें वृद्धि और ह्रास ही है "उन दोनों में दूसरा जीव ही स्वादुफल का भोग करता है" परतंत्र जीव ही भोक्ता होने के कारण बंधन में पड़ता है "परतंत्र होने से ही मोहवश शोक करता है" इत्यादि वाक्यों में जो परस्पर भिन्नता दिखलाई गई है, वह कार्यकारण की एकता मानने से, असंगत हो जावेगी, अर्थात् उक्त वेदांत वाक्यों में असामंजस्य हो जावेगा।

अथोच्येत–चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कार्य-कारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतत्वाच्च दोषाणाम् न शरीरिणि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थेच प्रसंगः, इति। तद-युक्तम्जगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावस्यैवासंभवात्, संभवे च, ब्रह्मणि शरीर संबंधनिबंधनदोषाणामनिवार्यत्वात्; न हि चिदचिद्-वस्तुनोर्ब्रह्मणः शरीरत्वं संभवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःख-भोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः, पंचवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूत संघातविशेषः, तथाविधस्यैव लोकवेदयोः शरीरत्व प्रसिद्धेः। पर-मात्मनश्च "अपहतपाप्मा विजरः अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति-अपाणिपादोजवनोग्रहीतापश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अप्राणो ह्यमनाः" इत्यादिभिः कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोग-। त्वाभावात्प्राणवत्त्वाभावाच्च न तं प्रति चेतनाचेतनयोः शरीरत्वम् न चाचेतनव्यष्टिरूपतृणकाष्ठादीनां समष्टिरूपस्यभूतसूक्ष्मस्य च न विद्यते। चेतनस्य तु ज्ञानैकाकारस्य सर्वमेतन्नसंभवतीति नितरां शरीरत्वसंभवः।

जो यह कहते हो कि–चैतन्यजडमय समस्त वस्तुएँ ब्रह्म का ही शरीर हैं, इस लिए उनका ब्रह्म के साथ कारण कार्य भाव संबंध है, जड़चेतनमय वस्तुओं के समस्त दोष शरीरी ब्रह्म में संसक्त नहीं होते, वह तो उसकी कार्य कारण अवस्था में ही रह जाते हैं। इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से तो जगत और ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव ही असंभव हो जायेगा, यदि उनमें शरीर शरीरी भाव है, तो ब्रह्म में शरीर संबंध के कारण दोषों की अनिवार्यता भी निश्चित है। जड़-चेतनमय वस्तु, ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकती, क्योंकि—कर्मफल सुखदुःख आदि के उपभोग कासाधन रूप, इन्द्रियों का आश्रय पंचवृत्ति (प्राण अपान उदान व्यान समान) के अधीन रहने वाला, पृथिव्यादि भूतों का संघात रूप विशेषाकार ही, लोक और वेद में शरीर रूप से प्रसिद्ध है। परमात्मा को तो "निष्पाप अजर अमर" "भोग नहीं करता केवल देखता ही है" बिना हाथ पैर का होते हुए भी दौड़ कर पकड़ने वाला, बिना नेत्र के देखने वाला, बिना कर्ण के सुनने वाला प्राण एवं मन हीन" कहा गया है। न वाक्यों से ज्ञात होता है कि—परमात्मा के लिए कर्म और कर्म का भोग नहीं है, और न इन्द्रिय साध्य भोग ही संभय हैं, तथा प्राणों संयोग भी संभव नहीं है। इसलिए उसे जडचेतन शरीर वाला नहीं कह सकते। और न, अचेतन व्यष्टि रूप तृण काष्ठ आदि के सूक्ष्म भूत सृष्टि रूप का, इन्द्रियों के आश्रित रहना ही संभव है तथा पृथ्वी आदि और सूक्ष्म भूत समष्टि का संघात (अर्थात् शरीराकार में परिणत होना) संभव ही है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप चेतन में तो इन सब का होना, एक दम ही असंभव है। इसलिए उसका शरीरी होना भी संभव नहीं है।

न च भोगायतनत्वं शरीरत्वसंभवः भोगायतनेषु वेश्मादिषु शरीरत्वाप्रसिद्धः, यत्र वर्त्तमानस्यैव सुखदुःखोपभोग, तदेव भोगायतनमितिचेन्नत परकायप्रवेशजन्म सुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वाप्रसिद्धेः, ईश्वरस्य तु स्वतः सिद्धनित्यनिरतिशयानंदस्य भोगं प्रति चिदचितयोरायतनत्व नियमो न संभवति। एतेन भोगसाधनमात्रस्य शरीरत्वं प्रत्युक्तम्।

भोगायतन ही शरीर है, इस नियम से भी परमात्मा का शरीर होना असंभव है क्योंकि भोगायतन घर आदि को कहीं भी शरीर नहीं कहा गया है। यदि कहें कि जिसमें रहकर आत्मा को भोग प्राप्त होता है,

ankurnagpal108@gmail.com

वही शरीर है ; तो परकाय प्रवेश जनित सुख दुःख आदि भोग के आयतन प्रविष्ट रूप में, परकाय में प्रविष्ट व्यक्ति का नहीं सुना जाता, अर्थात् परकाय में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को शरीर संबन्ध होने पर भी सुख–दुःख आदि भोग का अनुभव नहीं होता। विशेष रूप से स्वतः सिद्ध नित्य निस्सीम आनन्दमय ईश्वर के भोग साधन के लिये जड़चेतन वस्तु को, आयतन या देह कहना संगत नहीं है। इस विवेचन से, भोग मात्र ही शरीर है, इस कथन का भी निराकरण हो जाता हैं।

अथ मतं–यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत् तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन ईश्वर शरीरत्वं संभवति इति, तदपि न साधीयः, शरीरतया, प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतनेच्छायत्तस्वरुपत्वाभावात् रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावात् मृतशरीरस्य तदात्मायत्तास्थित्वाभावच्च, सालभंजिकादिषु चेतनेच्छाधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिषु तच्छरीत्वाप्रसिद्धेश्च, चेतनस्यनित्यस्येश्वरेच्छायत्त स्वरूपत्वाभावाच्च न तच्छरीत्वसंभवः।

यदि कहो कि–जिसकी स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति उसकी इच्छा के ही अधीन है, वह इच्छा ही उसका शरीर है, जड़चेतनमय समस्त जगत का स्वरूप, स्थिति और चेष्टा, ईश्वर के इच्छा के ही अधीन है। इसलिए वही उसका शरीर है यह बात भी असंभव है। क्योंकि संसार में कहीं भी चेतन की इच्छानुसार शरीर के चेष्टा नहीं देखी जाती, चेतन की इच्छा होते हुये भी रुग्ण शरीर में, तदनुरूप कोई चेष्टा नहीं होती, मृत शरीर भी तो शरीर है, उसमें भी चेतन की इच्छा के अनुसार कोई प्रवृति नहीं होती। कठपुतली में चेतन की इच्छानुसार चेष्टा में अवश्य होती हैं, परन्तु वह चेतन का शरीर नहीं है। चेतन (जीव) स्वयं नित्य है, इसलिए उसका स्वरूप कभी ईश्वरेच्छा के अधीन तो हो नहीं सकता। इन सब कारणों से ईश्वर के इच्छामय शरीर का होना असंभव है।

ankurnagpal108@gmail.com

न च यद्येकनियाम्यम् , यदेकधार्यम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्तस्यशरीरमिति वाच्यम्, क्रियादिषु व्यभिचारात्। "अशरीरंशरीरेषु" "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः प्रतिपाद्यते। अतो जगद्ब्रह्मणोःशरीरशरीरि भावस्य असंभवात्तत्संभवे च ब्रह्मणि दोषप्रसंगात्ब्रह्मकारणवादे वेदांतवाक्यानाम सामंजस्यम्—इति।

जो जिससे एकमात्र नियम्य, एकमात्र धार्य तथा कर्मभोग का सहायक हो, वही उसका शरीर हो, ऐसा भी कहना कठिन है, ऐसा मानने से क्रिया आदि में अड़चन पड़ेगी। अर्थात् सारी क्रियायें कर्त्ता की अधीनस्थ होकर परिचालित होती हैं तथा भोगादि साधन करती हैं, यदि उक्त प्रकार का शरीर का लक्षण स्वीकारेंगे तो समस्त क्रियायें उस कर्त्ता का शरीर हो जायेंगीं। "वह अशरीरी होकर शरीरों में स्थित है वह हाथ पैर वाले न होकर भी दौड़कर पकड़ते हैं" इत्यादि वाक्यों में कर्ता को शरीर रहित बतलाया गया हैं, इसलिए जगत और ब्रह्म में शरीर शरीरी भाव न होने से अथवा होने से किसी भी प्रकार, ब्रह्म में दोष प्रसंग उपस्थित करने वाले, ब्रह्मकारणवादी वाक्यों का असामंजस्य बना ही रहता है।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर सिद्धांत रुप से प्रस्तुत करते हैं।

न तु दृष्टांत भावात् ।२।१।९।।

नैवमसामंजस्यम्-एकस्यैवावस्थाद्वयान्वयेऽपि गुणदोष व्यवस्थितेर्हृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात्। तु शब्दोऽत्र हेयसंबंधगंधस्या संभावनीयतां द्योतयति। एतदुक्तं भवति—चिदाचिद् वस्तु शरीरतया तदात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणः संकोचविकासात्मककार्यकारण भावावस्थाद्वयान्वयेऽपि न कश्चिद् विरोधः यतः संकोच विकासौ परब्रह्म शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ शरीरर्यतास्तुदोषा नात्मनि प्रसक्यन्ते, आत्मगताश्चगुणाः न शरीरे अथ च "देवोजातो मनुष्योजातः, तथा स एव बालो युवा स्थविरश्च" इति व्यपदेशश्च मुख्यः

ankurnagpal108@gmail.com

"भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति" "तदन्तर प्रतिपत्तौ" इति वक्ष्यते।

उक्त प्रकार के असमंजस की संभावना नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के अवस्थाभेद से गुण और दोष की व्यवस्था होती है, ऐसे दृष्टांत विद्यमान हैं। तु शब्द हेय संबंध की असंभावना का द्योतक है। कथन यह है कि-जड़चेतनमयशरीर होने से तदात्मक परब्रह्म की संकोचविकासात्मक कार्यकारणाभावरूप, दो अवस्थाओं के होते हुए भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि संकोचविकास, परब्रह्म के शरीरभूत जड़चेतनगत ही हैं। शरीरगत दोष आत्मा में तथा आत्मगत गुण शरीर में संसक्त नहीं होते। फिर भी "देवता हुआ, मनुष्य हुआ, वह बालक युवक बृद्ध हैं" इत्यादि व्यवहार जीव के लिए ही होता है, वस्तुतः सूक्ष्मभूत शरीर का ही, देव मनुष्य आदिभाव होता है, ऐसा "तदन्तर प्रतिपत्तौ" सूत्र में सूत्रकार बतलाते हैं।

यत्पुनरुक्तं-चिदचिदात्मकस्य जगतः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नोपपद्यते-इति। तदनाकलित सम्यङ्‌ न्यायानुगृहीत वेदांत वाक्य गणस्य स्वमतिपरिकल्पित कुतर्क कविविजृंभितम् सर्व एवहि वेदांताः स्थूलस्य चेतनस्याचेतनस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं श्रावयंति, वाजसनेयके तावत् काण्वशाखायां चांतर्यामिब्राह्मणे "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्यपृथ्वी शरीरम्" इत्यारभ्य पृथिव्यादि समस्तमचिद्वस्तु "यो विज्ञाने तिष्ठन्-यस्य विज्ञानं शरीरं "य आत्मनि तिष्ठन्-यस्यात्मा शरीरं" इति चेतनमचेतनं च पृथङ्‌ निर्दिश्य तस्य तस्य परमात्मशरीरत्वमभिधीयते। सुबालोपनिषदि च "यः पृथिवीमंतरेसंचरन् यस्य पृथ्वीशरीरम्" इत्यारभ्य तद् व देव चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमात्म शरीरत्वमभिधाय "एष सर्वं भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति तस्य सर्वभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि – स्थूल सूक्ष्मामक जडचेतनमय जगत परमात्मा का शरीर हो ही नहीं सकता, यह कथन, वेदान्तशास्त्र के सम्यक् ज्ञान न होने से मनः कल्पित कुतर्क का फल है। सारे ही वेदांतशास्त्र स्थूल सूक्ष्म चेतन अचेतन समस्त को परमात्मा का शरीर बतलाते हैं। वाजसेनयी काण्व और माध्यंदिन शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में जैसे—"जो पृथ्वी में स्थित हैं पृथ्वी जिनका शरीर है' इत्यादि से पृथिव्यादि समस्त अचिद् वस्तु तथा "जो विज्ञान में स्थित हैं विज्ञान जिनका शरीर है" "जो आत्मा में स्थित हैं आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि से चेतन वस्तुओं का पृथक—पृथक निर्देश करके, उनको परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। सुबालोपनिषद में भी इसी प्रकार "जो पृथ्वी में संचरण करते हैं, पृथ्वी जिनका शरीर है' तथा "जो आत्मा में संचरण करते हैं, आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि में उसी प्रकार चिदचिद की समस्त अवस्थाओं को परमात्मा का शरीर बतलाकर "वह सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं" इत्यादि से उन परमात्मा को भूतों का अन्तर्यामी बतलाया गया है।

स्मरन्ति च "जगत्सर्वं शरीरं ते यदम्बुवैष्णवंकायः" "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" तानिसर्वाणि तद्वपुः "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्" इत्यादि। भूतसूक्ष्मत्वात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः। लोके च शरीर शब्दो घटादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियत वृत्तिमनासादितः कृमिकीटपतंगसर्पनरपशुप्रभृतिष्वत्यंत विलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्त व्यवस्थापनं सर्वं प्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम् त्वदुक्तं च "कर्मफलभोगहेतुः" इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्त लक्षणं न सर्वं प्रयोगानुगुणम्, यथोक्तेष्वीश्वर शरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः।

"सारा जगत तुम्हारा ही शरीर है, जल विष्णु का शरीर है" यह सब हरि का शरीर है। "उन्होने संकल्प करके अपने शरीर से" इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। लोक में शरीर शब्द, घर आदि शब्दों की तरह, अनेक प्रकार के द्रव्य संघातमय, कृमि-कीट-

ankurnagpal108@gmail.com

पतंग-सर्प-नर-पशु आदि विभिन्न आकारों के लिए प्रयोग किया जाता है। प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुसार ही शरीर शब्द का प्रयोग करना चाहिए। तुमने जो "कर्म फल के भोग का हेतु शरीर" इत्यादि लक्षण बतलाया वह सर्व प्रयोगानुसारी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शरीर रुप से वर्णित पृथ्वी आदि में, उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है [अर्थात् तुम्हारे लक्षणानुसार शास्त्रनिहित जगतशरीरत्व की सिद्धि नहीं होती]

किं च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मुक्तानां च "स एकधा भवति" इत्यादि वाक्यावगतेषु विग्रहेषु तल्लक्षणमव्याप्तम्, कर्मफलभोग निमित्तत्वाभावान्तेषाम्, परमपुरुषेच्छा विग्रहाश्च न पृथिव्यादि भूतसंघात विशेषाः "न भूतसंघ संस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति स्मृतेः। अतोभूतसंघात रुपत्वं च शरीरस्याव्याप्तम्। पंचवृत्ति प्राणाधीन धारणत्वं च स्थावरशरीरेष्वव्याप्तम्। स्थावरेषु हि प्राणसद्भावेऽपि तस्य पंचधा अवस्थाय शरीरस्य धारकत्वेनावस्थानं नास्ति। अहल्यादीनां कर्मनिमित्त शिलाकाष्ठादिशरीरेष्विन्द्रिया-श्रयत्वं सुखदुःख हेतुत्वं चाव्याप्तम्।

तथा ईश्वर के इच्छामय शरीर और "वह मुक्त पुरुष एक दो तीन आदि होता है" ऐसे मुक्त शरीर में भी तुम्हारा लक्षण अव्याप्त होता है। क्योंकि ये शरीर कर्मफल के भोग के लिए नहीं होते। परम पुरुष भगवान का स्वेच्छामय विग्रह पृथिव्यादि भूतों का संघात नहीं होता। "परमात्मा का यह देह भूत समुदायों का संस्थान नहीं है" ऐसा स्मृति का ही वचन है। इसलिए भूतसंघातत्व या भौतिकत्व लक्षण वाले शरीर की तुम्हारे लक्षणानुसार अव्याप्ति होती है। पांचवृत्ति वाले प्राणों के आधार पर जिनकी धारणा और रक्षा होती है, ऐसे स्थावर वृक्ष आदि) शरीरों में भी (उक्त लक्षण) अव्याप्त होगा। यद्यपि स्थावर आदि शरीरों में प्राण का अस्तित्व है, किन्तु पांच प्रकार के प्राणों के आधार पर ही उसकी स्थिति हो, ऐसा नहीं है। कर्म निमित्तक अहल्या आदि के पत्थर लकड़ी आदि के शरीरों में, इंद्रियाश्रमता और सुख दुःख हेतुता का अभाव होने से भी अव्याप्ति होगी।

ankurnagpal108@gmail.com

अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियंतु धारयितुं च शक्यम्, तच्छेषतैक स्वरुपंच तत्तस्य शरीरमिति शरीरलक्षण–मास्थेयम्। रुग्णशरीरादिषु नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमन शक्तेः प्रतिबंधकृतम्, अग्न्यादेः शक्ति प्रतिबंधा दौष्ण्याद्य दर्शनवत्। मृतशरीरं च चेतनवियोग समय एव बिशरितुमारब्धम् क्षणान्तरे च विशीर्यते पूर्वशरीरतयापरिक्लप्त संघातैक देशत्वेन च तत्र शरीत्व व्यवहारः। अतः सर्वंपरं पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाक्यं धार्यं तच्छेषतैक स्वरुपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्।

जो चेतन को आत्मीय रुप से नियमन और धारण करने में समर्थ हो और वह उसके अधीन रहे, उसी द्रब्य को शरीर कहा जा सकता है। रोगी आदि शरीरों में जो स्वेच्छानुसार परिचालन क्षमता नहीं होती, वह दाहिका शक्ति रहित अग्नि की अनुष्णता के समान ही शक्त्यावरोध है। मृत शरीर आत्मा से अलग होते समय ही विशीर्ण होने लगता है और तत्काल बाद ही पूर्णतः विषण्ण हो जाता है, पहले वह जीवात्मा, का शरीर था, इसलिए बाद में भी उसमें शरीर रुप से व्यवहार किया जाता है। यह सारा जगत, परं पुरुष परमात्मा से नियंतृत, धारित और हर प्रकार से अधीनस्थ है, इसलिए इसे उनका शरीर कहा गया है।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि च कर्म निमित्त शरीर प्रतिषेध-परम् यथोक्त सर्बशरीत्वश्रवणात्। उपरितनादिकरषु चैतदुपपादयिष्यते। "अपोतौ तद्वत्प्रसंगादसमंजसं" नतु दृष्टान्तभावात्" "इतरव्यपदेशात्" इत्यधिकरण सिद्धोऽर्थः स्मारितः।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि वाक्य में, परमात्मा के कर्मनिमित्तक भोग्य शरीर का ही निषेध किया गया है, उनके सामान्य शरीर की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। बाद के अधिकरण में इस विषय का उपपादन करेंगे, "अपीतौ तद्वत् प्रसंगाद समंजसम्" न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों से "इतरव्यपदेशात्" अधिकरण की सिद्धि का स्मरण किया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वपक्षदोषाच्च ।२।१।१०।।

न केवल ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्समाश्रयणम्, प्रधान कारणवादस्य, दुष्टत्वाच्च तत्परित्यज्यैतदेव समाश्रयणीयम्। प्रधान कारणवादे हि जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। तत्रहि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकसस्य पुरूषस्य प्रकृति सन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यास निबन्धना जगत् प्रवृत्तिः। निर्विकारस्य चिन्मात्ररुपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिसन्निधानं किं रुपम् इति विवेचनीयम्, किं प्रकृतेःसद्भाव एव उततद्गतः कश्चिद् विकारः अथ पुरुषगत एव कश्चिद् विकारः। न तावद् पुरुषगतः, अनभ्युपगमात्। नापि प्रकृतेर्विकारः तस्याध्यास कार्यतयाऽभ्युपेतस्यासहेतुत्वासंभवात्, सद्भाव मात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यास प्रसंग इति त्वत्पक्षे जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। अयमर्थः सांख्य प्रतिक्षेपसमये "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" इत्यादिना प्रपंचामिश्यते।

न केवल ब्रह्म कारणवाद के निर्दोष होने के कारण उक्त मत अग्राह्य है, अपितु, प्रधान कारणवाद दोषपूर्ण होने से स्वयं अग्राह्य है, इसलिए ब्रह्मकारणवाद, उक्त मत का त्याग कर ग्राह्य है। प्रधान कारणवाद के आधार पर जगत की रचना सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि उस मत में, निर्विकार एक मात्र चित्स्वरुप पुरूष में, प्रकृति के साहचर्य से, प्राकृतिक धर्मो के अध्यास से जगत की रचना होती है।

निर्विकार चिन्मात्र स्वरूप पुरुष का प्रकृति के धर्मों के अध्यास का कारण, प्रकृति का साहचर्य, किस प्रकार का होता है; यह विवेचनीय है। क्या प्रकृति का सद्भाव मात्र रहता है, अथवा उसका किसी प्रकार का विकार रहता है? अथवा पुरुष का ही किसी प्रकार का विकार रहता है? सो पुरुष का विकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि—पुरुष में विकार स्वीकार नहीं किया गया है। प्रकृति का भी विकार नहीं हो सकता, क्योंकि—उसे ही अध्यास रूप कार्य स्वीकार किया गया है, अध्यास ही

ankurnagpal108@gmail.com

अध्यास का पूर्व कारण नहीं हो सकता। प्रकृति का सद्भाव (विद्यमानता) सानिध्य मानने से तो मुक्त पुरूष का भी अध्यास हो जाएगा। इसलिए प्रधान कारणवाद से जगत की रचना नहीं बनती। "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" सूत्र की व्याख्या के समय सांख्य मत का नियम विस्तृत रूप से करेंगे।

तर्काप्रतिष्ठानादपि ।२।१।११।।

तर्कस्या प्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयः न प्रधानकारणवादः। शाक्योलूक्याक्षयादक्षपणकपिलपतंजलि तर्काणामन्योन्यव्याधातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते।

जो श्रुति सम्मत नहीं होता उस तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, श्रुति मूलक ब्रह्म कारणवाद ही समाश्रयणीय है, प्रधान कारणवाद नहीं। शाक्य, उलूक्य, अक्षपाद, क्षपणक, कपिल, पतंजलि आदि के तर्क परस्पर भिन्न और खंडित हो जाते है, इसलिए वे सारे तर्क अप्रतिष्ठित माने जावेंगे।

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्य निर्मोक्ष प्रसंगः ।२।१।१२।।—

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुद्दूष्यान्यदथा प्रधान कारणवादमतिक्रान्ततदुपदर्षितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्, एवमपि पुरुषबुद्धिमूल तर्कैकावलम्बनस्य तथैव देशान्तर कालान्तरेषु त्वदधिक कुतर्क कुशल पुरुषोत्प्रेक्षिततर्क दूष्यत्व संभावनया तर्का प्रतिष्ठान दोषादनिर्मोक्षोदुर्वारः। अतोऽतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्, तदुपबृंहणायैव तर्क उपादेयः तथा चाह—"आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिना, यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेदनेतरः इति'। वेदाख्यशास्त्र विरोधिनेत्यर्थः। अतो वेद विरोधित्वेन वेदार्थविशदीकरणरुपवेदोपबृंहणतर्कोपादानाय सांख्य स्मृतिर्नादरणीया।

हम विद्यमान शाक्य आदि के तर्कों का उद्धोष करते हुए प्रकारान्तर से, प्रधान कारण वाद की ऐसी सत्ता का अनुमान करेंगे जिससे कि दोष

ankurnagpal108@gmail.com

उसमें घटित न हो सकेंगे, ऐसा तुम्हारा कथन भी व्यर्थ ही है क्योंकि-तुम मानव बुद्धि के आधार पर ही ऐसी चेष्टा करोगे, देशांतर या कालांतर में तुम्हारे बुद्धिजन्य तर्कों को काटने वाली कोई ऐसी तीक्ष्ण मानव बुद्धि, तुम्हारे समक्ष उपस्थित हो जाएगी, जिससे तुम्हारे सारे तर्क व्यर्थ हो जावेंगे, तुम्हारे तर्कों की प्रतिष्ठा बच न सकेगी। वस्तुतः अतीन्द्रिय अर्थ में शास्त्र ही प्रमाण हैं, उनके विवेचन में ही तर्क की उपादेयता है, ऐसा ही कहा भी गया है "जो वेदशास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा ऋषिप्रोक्त धर्मोपदेश को जानने की चेष्टा करते हैं वे ही वास्तविक धर्मतत्व को जानते हैं, दूसरे नहीं"। वेद विरोधी होने से, वेदार्थ विशदीकरण रूप उपवृंहण तर्क का उपपादन करने की चेष्टा करने पर भी, सांख्य स्मृति, आदरणीय नहीं है।

४ शिष्टा परिग्रहाधिकरणः—

एतेन शिष्टापरिग्रहा, अपि व्याख्याताः ।२।१।१३।।

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेद परिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः शिष्टाश्चापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः, एतेन वेदापरिगृहीत सांख्य पक्ष क्षपणेन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षाक्षपाद क्षपणक भिक्षुपक्षाः क्षपिता वेदितव्याः। परमाणु कारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात् कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं न शक्यते वक्तुं इत्याधिकाशंका।

शिष्टा का तात्पर्य है परिशिष्ट तथा अपरिग्रह का अर्थ है, जिसे वेदार्थ ग्रहण नहीं करता। वेदानुमत न होने से सांख्य मत की तरह परिशिष्ट, कणाद, अक्षपाद, क्षपणक (बौद्ध) भिक्षु (जैन) इत्यादि भी अग्राह्य हैं। परमाणु कारणवाद में कणाद आदि सभी जब एकमत हैं, तो कारणवस्तु परमाणु के विषय में, जो कि तर्क से अप्रतिष्ठ हो ही चुका, और अधिक कहने को क्या शेष रह जाता है? (अर्थात् जब परमाणु कारणवाद को जब परास्त कर चुके तब परमाणु को माननेवाले सभी को परास्त ही समझना चाहिए सबका अलग-अलग खंडन करने की क्या आवश्यकता है?)

ankurnagpal108@gmail.com

तावन्मात्र संवादेऽपि तर्कमूलत्वाविशेषात् परमाणु स्वरूपेऽपि शून्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वक्षणिकत्व नित्यत्वैकान्तत्वानेकान्तत्वसत्यासत्यात्मकत्वादि विसंवाद दर्शनाच्चा प्रतिष्ठितत्वमेवेति परिहारः।

केवल एक मात्र परमाणु में ही सबका एकमत है, उसमें भी ये लोग परस्पर शून्यात्मक अशून्यात्मक, ज्ञानात्मक, अर्थात्मक सत्यत्व, असत्यत्व, एकान्तत्व, अनेकान्तत्व आदि विभिन्न भेद मानते हैं, इसलिए इन सबका अलग अलग अप्रतिष्ठित रूप में परिहार करना आवश्यक है।

५ भोक्त्रापत्यधिकरणः—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।२।१।१४॥

पुनरपि सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाज्जीव ब्रह्मणोः स्वभाव विभाग उपपद्यते—इति, स तु विभागो न संभवति—ब्रह्मणः शरीरत्वे तस्य भोक्तृत्वापत्तेः, स शरीरत्वे जीवस्येवेश्वरस्यापि सशरीरत्व प्रयुक्त सुख दुःखयोर्भोक्तृत्वस्यावर्जनीयत्वात्।

सांख्यवादी पुनः समक्ष उपस्थित होता है—कि वेदांत में स्थूल सूक्ष्म चिदचिद् जब सभी परब्रह्म के शरीर हैं और सभी का कारण ब्रह्म है, तथा जीव उसका कार्य है, तो जीव और ब्रह्म का भेद कहना असंभव नहीं हैं (अर्थात् वे तो स्वभाव से ही भिन्न हैं) पर वस्तुतः ऐसा कोई भेद होना नहीं चाहिए जबकि परमात्मा का शरीर संबंध है तो उसमें भी जीव की तरह शरीर के भोग्य सुख दुःख आदि अनिवार्य हो जावेगे।

ननु च—"संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशष्यात्" इत्यत्रेश्वरस्य भोग प्रसंग परिहार उक्तः, नैवम् तत्रहि उपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य शरीरान्तर्वर्त्तित्वमात्रेण भोग प्रसंगो न विद्यत इत्युक्तम्, इह तु जीववद् ब्रह्मणोऽपि शरीरत्वे तद्वदेव सुख दुःखयो भोक्तृत्व

ankurnagpal108@gmail.com

प्रसंगो दुर्वारि इत्युच्यते, दृश्यते हि स शरीराणां जीवानां शरीरगत बालत्वस्थविरत्वादिविकारासंभवेऽपि शरीर धातु साम्यवैषम्य निमित्त सुखदुःखयोगः । श्रुतिश्च "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपह तिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति अतः सशरीर ब्रह्मकारणवादे जीवेश्वर स्वभावविभागा संभवात् केवल ब्रह्मकारणवादे मृत्सुवर्णा दिवज्जगद्गता पुरुषार्थादि सर्वविशेषाश्रयत्व प्रसंगाच्च प्रधानकारणवाद एव ज्यायान् इति चेत्—

—"संभोग प्राप्ति" इत्यादि सूत्र में भोग संभावना का परिहार कर दिया गया है इसलिए ब्रह्म में भोग संभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—उस सूत्र में तो उपास्य रूप से हृदयायतन में शरीरान्तर्वती होने मात्र से उनमें भोग प्रसंग नहीं होता, ऐसा कहा गया । पर यहां तो जीव की तरह ब्रह्म को भी शरीरी कहा गया है अतः वह जीव के समान सुख-दुःख आदि भोगों में अनिवार्य रूप से आसक्त होगा, शरीरी जीवों में शरीरगत बालत्व, स्थविरत्व आदि विकारों के न होते हुए भी धातु वैषम्य (वात पित्त कफ आदि की विषमता) से सुख दुःख होते देखा जाता है । श्रुति का भी ऐसा वचन है कि—"पुरुष जब तक शरीराभिमानी रहता है तब तक प्रिय अप्रिय संबंध निवारित नहीं होते पर अशरीरी होते ही उसे प्रिय अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर पाते" इत्यादि से जीव ब्रह्म का भेद परिहृत हो जाता है तो घट कुंडल आदि के उपादान मिट्टी और सुवर्ण की तरह ब्रह्म में भी जागतिक हेय तत्त्वों का संक्रामित होना आवश्यक है इसलिए प्रधानकारणवादी सांख्यमत ही उत्कृष्ट है ।

सिद्धान्तः—"स्याल्लोकवत्" इति । स्यादेव विभागो जीवेश्वर स्वभावयोः नहि जीवस्य शरीर धातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वम् सशरीरत्व कृतं, अपितु पुण्यपापरूपकर्मकृतम् । "न ह वै सशरीरस्य" इत्यादि कर्मारब्ध देहविषयम्—"स एकधा भवति त्रिधाभवति"—स यदि पितृलोक कामो भवति—"स तत्र पर्येतिजक्षद् क्रीडन् रममाणः" इति कर्मबंधविनिर्मुक्तस्याविर्भूतस्वरूपस्य सशरीर-

ankurnagpal108@gmail.com

स्यैवापुरूषार्थ गंधाभावात् । अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनः स्थूलसूक्ष्म रूपकृत्स्नजगच्छरीरत्वेऽपि कर्मसंबंधगंधो नास्ति इति नतरामपुरूषार्थ गंधप्रसंगः । लोकवत्—यथा लोके राजशासनानुवर्त्तिनां च राजानुग्रहनिग्रहकृत सुखदुःखयोगेऽपि न शरीरत्वमात्रेण शासके राज्ञ्यपि शासनानुवृत्यतिवृत्तिनिमित्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्व प्रसंगः ।

उक्त वक्तव्य का खंडन करते हुए कहते है कि—लोक व्यवहार की तरह दोनों का विभाग हो सकता है, जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेद है, शारीरिक धातु वैषम्य के कारण जो जीव को सुखदुःखादि का अनुभव होता है, उसका कारण शरीरी होना नहीं हैं, अपितु पुण्य पाप रूपकर्म ही उसका कारण है । " शरीराभिमानी जीव के प्रिय अप्रिय अनिवार्य हैं" इत्यादि श्रुति भी, प्रारब्ध कर्मलब्ध देह संबंध का ही द्योतन करती है । "वह एक और बहुत हो जाता है, जब वह पितृलोक में जाने की इच्छा करता है तो वहाँ पहुँच जाता है, वह भोग-आमोद और क्रीडा करता है "इत्यादि वाक्यों में कर्मबंधन से मुक्त जीव के ब्रह्मभाव प्राप्त सूक्ष्म स्वरूप को, जागतिक हेय तत्त्वों से अस्पृष्ट बतलाया गया है । निष्पाप परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत रूप शरीर वाले होकर भी, कर्मबद्ध न होने से जागतिक हेय तत्वों से सदा अस्पृष्ट ही रहते हैं । जैसे कि लोक में राजाज्ञा को मानने वाले और न मानने वाले राजा के अनुग्रह और कोप के भाजन होकर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, पर शरीरी होते हुए भी राजा का शासन निमित्तक सुख दुःख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता ।

यथाह—द्रविडभाष्यकारः—"यथा लोके राजा प्रचुरदंदशकेघोरेऽनर्थसंकटेऽपि प्रदेशे वर्त्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् परिपालयति, भोगांश्च गंधादीनविश्वजनोप भोग्यान्धारयति, तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यं चामरोदोषैर्न-स्पृश्यते, रक्षति च लोकान् ब्रह्मलोकादीन्, भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान्धारयति "इति मृत्सुवर्णावद् ब्रह्मस्वरूप परिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अविकारत्वनिर्दोषत्वादि श्रुतेः ।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसा कि-भाष्यकार दविडाचार्य जी ने कहा भी है-"जैसा कि-राजा मक्खी मच्छर आदि कष्ट प्रद स्थान में भी पंखा और चमर आदि के ढुलने के कारण, उन कष्टों का अनुभव नहीं करता तथा अपने अभीष्ट सुखों को प्राप्त करता है और गंध आदि जागतिक भोग्य पदार्थों को धारण करता है; वैसे ही लोकेश्वर, अव्याहृत शक्ति रूप चामर के निरन्तर ढुलने से जागातिक दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं तथा समस्त जगत का परिपालन करते हुए, जागतिक और ब्रह्मलोकादि भोगों का आनंद लेते रहते हैं। "श्रुति जब ब्रह्म को निर्विकार और निर्दोष बतला रही है, तब मिट्टी और सुवर्ण की तरह, उसका परिणाम नहीं स्वीकारा जा सकता।

यत्तु परैर्ब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशक्य समुद्रफेनतरंगदृष्टांतेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रंव्याख्यातम्, तद्युक्तम् अन्तर्भावितशक्त्यविद्योपाधिकाद् ब्रह्मणः सृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमाक्षेपपरिहारयोरसंगतत्वात् कारणान्तर्गतशक्त्यविद्योपाधि उपहितस्य भोक्तृत्वाद् उपाधेश्च भोग्यत्वात्। विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न संभवति, स्वरूप परिणामस्तु तैरपिनाभ्युपेयते "न कर्माविभादितिचेन्नानादित्वात्" इति क्षेत्रज्ञानां तद्गत कर्मणां चानादित्व प्रतिपादनात्। स्वरूपपरिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्यविभागाशंका कस्यचिदपि न जायते मृत्सुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकटकमुकुटादिविभागवद् भोक्तृभोग्यविभागोपपत्तेः स्वरूप परिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामंजस्य स्यमेव।

जो लोग, ब्रह्मकारणवाद में भोक्ता और भोग्य विभाग न होने की आशंका करते हैं तथा समुद्र और उनके फेन तरंग आदि का दृष्टांत देकर इस सूत्र की व्याख्या करते हैं वे भी असंगत है, क्योंकि—वे लोग जब आवरण और विक्षेप शक्ति समन्वित, अविद्या उपहित ब्रह्म से सृष्टि मानते हैं तो उनके द्वारा, इस प्रकार का शंका समाधान कभी हो नहीं सकता (यदि वे करते हैं तो ग़लत करते हैं) क्योंकि आवरण विक्षेप अविद्या शक्तियुक्त ब्रह्म, स्वयं भोक्ता तथा उपाधिअविद्या (और अविद्या का परिणाम जगत) उसका योग्य है सिद्ध होता है, इस प्रकार उन दोनों में

ankurnagpal108@gmail.com

वैलक्षण्य के रहते, परस्पर एकभावापत्ति (अविभाग) संभव नहीं है। अन्य लोग तो स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम ही नहीं स्वीकारते । परवर्त्ती "न कर्मविभागात्" इत्यादि सूत्र में, जीव और जीवगत कर्मों की अनादिता का प्रतिपादन किया गया है, तब साक्षात् संबंध से, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकारने पर भी, भोक्ता और भोग्य के भेद के विषय में कोई आशंका कर ही नहीं सकता, क्योंकि मिट्टी सुवर्ण आदि के परिणाम घट मुकुट आदि की तरह, यहाँ भी भोक्ता और भोग्य का विभाग सिद्ध हो जाता है। फेन तरंगादि के दृष्टांत को स्वीकारने पर, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हुये भी, एक ही ब्रह्म में, भोक्ता और भोग्य भाव सिद्ध हो जाता है इसलिए इस मत में पुनः असामंजस्य ही उपस्थित होता है।

६ आरम्भणाधिकरणः—

तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१५।।

"असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इत्यादिषु कारणभूताद् ब्रह्मणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगद्कारण त्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते।

"असदिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कारण भूत ब्रह्म और कार्यभूत जगत् की अनन्यता बतलाकर, ब्रह्म की जगत्कारणता का प्रतिपादन किया गया है। अब उस अनन्यता पर आक्षेप करते हुए, समाधान करेंगे।

तत्र काणादाः प्राहुः, न कारण कार्यस्यानन्यत्वं संभवति विलक्षण बुद्धि बोध्यत्वात्, न खलु तंतुपटमृत् पिंडघटादिषु कार्यकारण विषया बुद्धिरेकरूपा। शब्दभेदाच्च, नहि तन्तवः पट इत्युच्यंते घटो वा तंतव इति। कार्यभेदाच्च, नहि मृत्पिंडेनोदकमाह्रियते, घटे न वा कुड्यं निर्मियते। कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणं, अपरकालं च कार्यम्। आकारभेदाच्च, पिंडाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारम्, तथा सत्यामेव मृदि घटोनष्ट इति व्यवह्रियते।

ankurnagpal108@gmail.com

संख्याभेदश्च दृश्यते, बहवस्तंतवः, एकश्च पटः । कारकव्यापार वैयर्थ्यं च कारणमेवचेत्कार्यं किं कारणकव्यापारसाध्यं स्यात् । सत्यपि कार्ये कार्मोंपयोगितया कारक व्यापारेण भवतिब्यं चेत्–सर्वदा कारक व्यापारेणनोपरन्तव्यम् । सर्वस्य सर्वदा सत्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात् । अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारक-व्यापारेणभिन्यज्यते अतः कारक व्यापारार्थवत्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते, तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वे अनस्यवानाद पेक्षत्वेकार्यस्य नित्योपलब्धि प्रसंगात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवाद प्रसंगात् ।

कणाद कहते हैं कि–कारण से कार्य की अनन्यता कभी हो नहीं सकती कार्य कारण में देखने से भिन्न बुद्धि ही होती है । सूत और कपड़ा, मिट्टी और घट को देखकर स्पष्ट भिन्नता की प्रतीति होती है । दोनों का नाम भी भिन्न है, सूत को कपड़ा या कपड़े को कभी सूत नहीं कहा जा सकता । दोनों का कार्य भी भिन्न है मिट्टी के ढेले में जल नहीं भरा जा सकता, और न घड़े से कूंड़ा ही बनाया जा सकता है दोनों में काल का भी भेद है, पहिले वह कारण था बाद में कार्य हो गया । दोनों में आकार भेद भी है, कारण पिंड आकार था जो कि कार्य रूप में, सुराही के आकार का हो गया । घड़ा का चूरा मिट्टी होते हुए भी प्रयोग यही होता है कि घड़ा फूट गया । दोनों में संख्या भेद भी है सूत अनेक होते हैं, कपड़ा एक होता है । कार्य यदि कारण सा ही रहे तो विचारे कर्त्ता द्वारा किए गए श्रम का प्रयोजन ही क्या होगा ? इन दोनों को एक मानने से कर्त्ता की क्रिया ही व्यर्थ हो जावेगी । यदि कहो कि–कार्य के रहते भी कारण उपस्थित रहता है, तब तो विचारे कर्त्ता की सारी क्रिया ही गुड़गोबर हो जावेगी, वह विचारा जीवन पर्यन्त बनाता ही रह जावेगा । सब की सदा सत्ता मानने से नित्य और अनित्य का भेद भी तो न रह जाएगा ।

यदि कहो कि–कार्य की सत्ता सदा रहती है, पूर्व में अव्यक्त कार्य, कर्त्ता के क्रिया कौशल से, बाद में व्यक्त हो जाता है, इसलिए कर्त्ता के श्रम की विफलता तथा वस्तु की नित्यता अनित्यता का प्रश्न ही नहीं

ankurnagpal108@gmail.com

उठता। तुम्हारा यह कथन असंगत है। क्योंकि—यदि अव्यक्ति से भिन्न कोई दूसरी अनभिव्यक्ति मानी जावेगी तो अनवस्था दोष होगा, यदि ऐसा नहीं मानते तो कार्य की नित्योपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा, तथा उत्पत्ति मानने पर असत् कार्यवाद का सिद्धांत उपस्थित होता है (जो कि तुम्हारे मत से भिन्न हमारा अभिमत है)

किं च कारकव्यापारस्याभिव्यंजकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण कारकादेष्वभिव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यंजकभावेषु दीपादिष्वाभिव्यंग्य विशेष नियमादर्शनात् नहि घटार्कमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनक्ति। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्ति हेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्वम अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः। न च नियत कारणोपादानं सत एव कार्यत्वं साधयति कारणशक्ति नियमादेव तदुपपत्तेः नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारोनोपपद्यते, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्वात्। कार्यादन्य कारकव्यापारेण भवितव्यम्, तत्रान्यत्वा विशेषात्तंतुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरऽपि प्रसज्यते, नैव यत्कार्योत्पादन शक्तं यत्कारणम, तद्गत कारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्ति सिद्धेः।

जैसे कि—अभिव्यंजक प्रदीप आदि के आलोक में, पहले से स्थित सारी वस्तुएं, आपसे आप दीखने लगती हैं, दीप वाहक को उसमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही पाषाण में यदि पहिले से ही मूर्ति आदि का अस्तित्व है तो शिल्पी को प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ? मूर्ति को तो केवल चेष्टा मात्र से स्वयं ही व्यक्त हो जाना चाहिए। क्या घड़े के खोजने के लिए जलाए गए दीपक से अन्यान्य वस्तुएं प्रकाशित नहीं होती ? असत् कार्यवाद मानने पर ही शिल्पी की कार्य सार्थकता सिद्ध होती है, इसलिए सत्कार्यवाद गलत है। भिन्न-भिन्न उपादानों को मानने से भी सत्कार्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि—भिन्न कारणों में विभिन्न प्रकार की शक्ति निहित है, सभी वस्तुओं में सब कुछ प्रकट

ankurnagpal108@gmail.com

करने की उर्वरा शक्ति नहीं होती इसलिए भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न उपादान मानना आवश्यक है यदि कहें कि—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता न मानने से असत्कार्य वादी के पक्ष में भी कर्त्ता का प्रयास सफल नहीं हो सकता; क्योंकि—उनके मत से, कार्य से भिन्न पदार्थों के आधार पर ही, कर्त्ता का व्यापार है, तो तंतुओं के साथ प्रयास करने से घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिए। सो बात भी नहीं है क्योंकि—जिस कार्य की क्षमता, जिस कर्त्ता में होती है, वह उसके कारण से उसी कार्य की उत्पत्ति कर सकता है (जैसे कि—कुम्हार मिट्टी से घड़ा आदि जुलाहा सूत से वस्त्र आदि। कुम्हार कपड़ा या जुलाहा घड़ा नहीं बना सकता)

अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्यम् नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यंनामवस्तु इति, अविद्या निबंधनत्वात् सकलकार्यतद्व्यवहारयोः। अतो यथा कारणभूतान्मृद्रव्याद् घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद्व्यतिरिक्तं घट शरावादिकार्य व्यवहारमात्रालंबनं मिथ्या, कारणभूतं मृद्व्यमेव सत्यं, तथा निर्विशेष सन्मात्रात् कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यो अहंकारादि व्यवहारावलंबनः कृत्स्नः प्रपंचोमिथ्या, कारणभूत सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम्। तस्माद कारणव्यतिरिक्तंकार्यं नास्तीति कारणादन्यत्कार्यंम्। न च वाच्यं, शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्याणामसत्यत्व प्रसिद्धे दृष्टांतानुपपत्तिरिति, यतस्तत्रापि युक्त्या मृद्द्व्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते, तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते का पुनरत्र युक्तिः ? मृद्द्व्यमात्रस्यानुवर्त्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्त्तमानत्वम् रज्जुसर्पादिषु हि अनुवर्त्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेः सत्यता, व्यावर्त्तमानस्य च सर्पभूदलनांबुधारादेरसत्यता दृष्टा, तथाऽनुवर्त्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्द्व्यमेव सत्यम्; व्यावर्त्तमानास्तु घटशरावादयोऽसत्यभूताः।

इस पर सत्कार्यवादी कहते हैं कि—कारण से कार्य अभिन्न है, वस्तुतः कारणके अतिरिक्त, कार्यनाम की कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी कार्य

ankurnagpal108@gmail.com

कारण व्यवहार है वह सब अविद्या (भ्रांति) मूलक है। मिट्टी के विकार घड़े आदि व्यवहारास्पद कार्य, जिस प्रकार काल्पनिक हैं, मिट्टी ही एकमात्र सत्य है उसी प्रकार "मैं और मेरा कहलाने वाला व्यवहारास्पद जगत प्रपंच, अपने कारण निर्विशेष शुद्ध सत्य स्वरूप ब्रह्म के बजाय, मिथ्या है। सत् पदार्थ ही यथार्थ सत्य है, इसलिए कारण से भिन्न, कार्यनामक कोई वस्तु नहीं है, और न कार्य ही कारण से भिन्न हैं।

ऐसा नहीं कह सकते, शुक्ति में रजत की मिथ्या भ्रांति का उदाहरण जैसे प्रसिद्ध है, वैसे घट आदि कार्यों में तो मिथ्या भ्रांति का उदाहरण प्रसिद्ध है नहीं इसलिए उक्त कथन असंगत है। उल्लेख मिट्टीघट आदि के प्रसंग में, युक्ति द्वारा केवल मिट्टी की ही सत्यता बतलाई गई तथा उनकी पृथकता की बात भी केवल युक्तिमात्र ही है। यदि कहें कि इसमें क्या युक्ति है? तो सुनिये-मिट्टी के सारे कार्यों में मिट्टी की अनुवृत्ति सदा रहती है तथा घट आदि आकृतियों में परस्पर व्यावृत्ति होने से सदा भिन्नता रहती है। रज्जुसर्प, शुक्ति रजत आदि में भ्रम कल्पित सर्प आदि की आश्रयभूत रज्जु सदा ही अनुवृत्त (जैसी की तैसी) रहती है, कभी भी उसकी रज्जुता का त्याग नहीं होता; इसलिए वह सर्प ही सत्य है, रज्जु, पृथ्वी की रेखा, जल की धारा, जिनमें कि सर्प भ्रांति होती है नितांत असत्य हैं। वैसे ही घट आदि कार्यों की आश्रय मिट्टी, मिट्टी से निर्मित पदार्थों से अनुवृत होने से सत्य, तथा परस्पर व्यावृत स्वभाव वाले घट प्याला आदि कार्य असत्य या मिथ्या हैं।

किं च सतश्रात्मनो विनाशाभावादसतश्च शशविषाणादेरुपवलब्ध्यभावादपलब्धिविनाशयोपिकार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव। तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्।

एक बात और भी है कि–सत्वस्वरूप आत्मा का विनाश नहीं होता तथा शशशृंग ऐसे असत् पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि–उपलब्धि (प्रतीति) और विनाश का विषयीभूत कार्य समूह अनिर्वचनीय है, अनिर्वचनीय वस्तु शुक्ति में रजत की भ्रांति के

ankurnagpal108@gmail.com

समान मिथ्या ही होती है। शुक्तिऔर रजत की जो अनिर्वचनीयता है वह प्रतीति और बाधा द्वारा ही सिद्ध होती है।

किं च कार्यमुत्पादयन् मृदादि कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कंचन विशेषमापन्नम्। न तावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पाकत्वप्रसंगात्। नापिविशेषांतरमापन्नम्, विशेषान्तरापत्तेरपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन भवितव्यम् तस्याअपि तथेत्यनवस्थानात्। अविकृतमेव देशकालनिमित्त विशेषसंबंधं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न। देशादिविशेषसंबंधोऽपि हि अविकृतस्य विशेषांतरमापन्नस्य च पूर्ववन्नसंभऽति।

तथा–मिट्टी आदि कारण, जो घट आदि कार्य उत्पन्न करते हैं वे अविकृत उत्पादन करते हैं या विकृत कार्योत्पादन करते हैं? अविकृत उत्पादन तो हो नहीं सकता, क्यों कि-वैसा होने से, एकही कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जावेगी। विशेष अवस्थावाला विकृतोत्पादन भी नहीं हो सकता, वैसा होने से पुन पुनः विशेष अवस्था ही होती रहेगी जिससे अव्यवस्था हो जावेगी। देश–काल और कारण संबंध से अविकृत उत्पादन ही होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, अविकृत अथवा विशेष अवस्थापन्न विकृत, दोनों का ही, पूर्वोक्त युक्ति से, देश काल आदि से संबंध संभव नहीं है।

न च वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनां उत्पत्तिदृश्यते, शुक्तिकारजतादिवद् देशकालादिप्रतिपन्नोपाधौबाधश्च न दृऽश्यते, अतः प्रतीतिशरणानां कारणात् कार्योत्पत्तिरवश्याश्रयणीया इति, विकल्पासहत्वात्-किं हेमादिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम् उतरुचकादि, अथरुचकद्याश्रयो हेमादिः, न तावद् हेमादिमात्रमा-रम्भकम्, हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मनः आरम्भकत्वासंभवाच्च। हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यते इतिचेत्-

ankurnagpal108@gmail.com

न हेमव्यतिरिक्तं तत् हेम प्रत्यभिज्ञानात् तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च ।

यह भी नहीं कह सकते कि–मिट्टी–सुवर्ण दूध आदि कारणों से क्रमशः घट–कुंडल और दही आदि कार्यो की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, किन्तु शुक्ति में रजत की सी मिथ्या प्रतीति, किसी भी काल देश और कारण से, इन पदार्थों में नहीं होती। इसलिए–प्रतीति प्रामाण्य स्वीकृति के अतिरिक्त जिसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है, उसके लिए कारण से नवीन कार्योत्पत्ति स्वीकारनी ही होगी। आपकी यह युक्ति विचार शून्य है, मैं पूछता हूँ कि–केवल सुवर्ण ही अलंकारों का उपादान कारण है, या हार आदि भी हैं? या जिसके आश्रय से हार आदि अलंकार उत्पन्न होते हैं वे सुवर्ण आदि समस्त कारण हैं? केवल सुवर्ण तो कारण हो नहीं सकता, सुवर्ण के विना, उसके कार्यरूप अलंकारों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, न वे अलंकार ही स्वयं अपने कारण हो सकते हैं। सुवर्ण के विना भी अलंकार होते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, वे सब सुवर्ण से भिन्न हैं भी कहाँ? उनको सोना ही कहा जाता है, उन अलंकारों में सुवर्ण के अतिरिक्त कुछ मिलता भी नहीं।

बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरादीनां शुक्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवत् भ्रांतिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसद्भावस्यासाधकत्वात्, नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हि रुचकं पश्वतन्तवो भवतापि नोपलभ्यते। नापिरुचकाश्रयभूतं हेम रुचकाश्रयाकारेण हेम्नः स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः, अतोमदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्यत्वदर्शनात् ब्रह्मव्यतिक्तं कृत्स्नं जगत् कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्, तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम्। परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घटरुचकादिकर्यवन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकर्यत्वाविशेषात् ।

यदि कहो कि–बुद्धि और शब्द से ही, कार्य कारण का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है (अर्थात् सुवर्ण को देखकर सुवर्ण निमित्तक धारणा

ankurnagpal108@gmail.com

होती है तथा अलंकार को देखकर अलंकार निमित्तक धारणा होती है। इसी प्रकार सुवर्ण को सुवर्ण तथा अलंकार को अलंकार कहा जाता है) सो ऐसा नहीं है क्यों कि-जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होने पर "रजत" शब्द और तद् विषयक ज्ञान द्वारा, रजत का अस्तित्व, जैसे प्रमाणित नहीं हो पाता, वैसे ही अन्यत्र भी ठोस प्रमाण के बिना, एकमात्र शब्द भेद और ज्ञान भेद से वस्तु की कल्पना करना कठिन होता है। वस्तुतः स्वर्ण विकार हार आदि, अन्य अलंकारो के उपादान कारण नहीं हो सकते सुवर्ण ही उनका यथार्थ उपादान है। जैसे वस्त्र में सूत्र दीखते हैं, वैसे अलंकारों में हार तो आपको भी न दीखता होगा। और न हार के आश्रयभूत सुवर्ण में, अलंकारों के आश्रयभूत सुवर्ण की ही प्रतीति होती होगी (अर्थात् हार रूप में परिणत सुवर्ण में, पूर्व निर्मित स्वस्तिकादि परिणत सुवर्ण की प्रतीति तो होती नहीं) इसलिए जैसे कि-मिट्टी आदि कारण के अतिरिक्त, उनके कार्यों की सत्यता नहीं देखी जाती, वैसे ही ब्रह्म के अतिरिक्त संपूर्ण जगत कार्यरूप होने से मिथ्या है। मिट्टी आदि के दृष्टान्तों से, ब्रह्म से भिन्न जगत की मिथ्यता, सहजरूप से ही ज्ञात हो जाती है। मिट्टी आदि में वास्तविक सत्यता न होते हुए भी काल्पनिक (व्यावहारिक) सत्यता मानकर, समस्त ब्रह्मकार्यों की असत्यता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः मिट्टी, सुवर्ण इत्यादि कारण भी मिथ्या हैं, क्यों कि वे भी, ब्रह्म के ही कार्य हैं।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्–"नेहनानास्ति किंचन् मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति"–यत्रहि द्वैतामिव भवति तदितरइतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत्"– इंद्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते न चागमावगतार्थस्य प्रत्यक्ष विरोधः शंकनीयः, यथोक्तप्राकरेण कार्यस्यसर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च विरोधे सत्यप्यसंभावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपसद्भावादौ प्रत्यक्षादि अपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकांक्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। अतः कारणभूतात्ब्रह्मणोऽन्यत् सर्वं मिथ्या।

ankurnagpal108@gmail.com

"यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, वह ब्रह्म ही सत्य है-"इस ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है, जो लोग इसमें भेद देखते हैं, वे बार बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं-"जिस समय लोगों की द्वैत बुद्धि हो जाती है, तभी वे दूसरा देखते हैं जब वह इस जगत को आत्मा ही देखते हैं तो किसके द्वारा किसको देखेंगे?" "ईश्वर अपनी माया से अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं "इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। शास्त्र द्वारा निर्धारित विषय में, कभी भी, प्रत्यक्ष से विरुद्धता नहीं पाई जाती, शास्त्र से सभी पदार्थों की मिथ्यता निर्धारित होती है तथा प्रत्यक्ष से, वस्तु की सत्तामात्र सिद्ध होती है। वस्तुत: निर्दोष शास्त्र, प्रत्यक्ष से, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्यों कि-प्रत्यक्ष के बाद लिपिवद्ध हुए हैं। शास्त्र के अर्थ जानने में चाहे, प्रत्यक्ष की थोड़ी बहुत अपेक्षा हो भी जाय, पर शास्त्रलभ्य ज्ञान में प्रत्यक्ष की, रंचमात्र की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए शास्त्र सम्मत कारण ब्रह्म से भिन्न, सब कुछ मिथ्या है।

न च प्रपंचमिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमाशंकनीयम्, ब्रह्मण एव जीव भावात्। ब्रह्मैथहि सर्वशरीरेषुजीवभावमनुभवति"- अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"-एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः"-एको देवो बहुधा निविष्टः" एष सर्वेषुभूतेषु गुढात्मा न प्रकाशते"-नान्योतोऽस्तिद्रष्टा" इत्येवमादिभ्यः।

सारा प्रपंचमय जगत मिथ्या है, इसलिए जीव भी मिथ्या होगा ऐसी शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि-स्वयं ब्रह्म ही जीव भाव से समस्त शरीरों में जीवत्व की अनुभुति करते हैं, इसलिए वह तो मिथ्या हो ही नहीं सकता। "मैं इस जीवात्मा के रूप से अनुप्रविष्ट होकर"–एक ही देव समस्त भूतों में छिपे हैं –"एक ही देव अनेक रूपों में प्रविष्ट हैं– "यही परमात्मा सभी भूतों में गुप्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते"– इनके अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टा नहीं है "इत्यादि वाक्य आलोच्य विषय के प्रमाण हैं।

नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्-"पादे मे वेदना" शिरसि मे सुखम्" इतिवत् सर्वशरीरेषु सुखदुःख प्रतिसंधानं

ankurnagpal108@gmail.com

स्यात्, जोवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वादि व्यवस्था च न स्यात्। अत्र केचिद् द्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयंत एवैनं समादधते, एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबिंबभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव मुखस्य प्रतिबिंबानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानामल्पत्वमहत्व-मलिनत्व-विमलत्वादिवसतदुपाधिवाशात् व्यवस्थाप्यंते।

प्रश्न होता है कि–जब एक ही ब्रह्म, समस्त शरीरों में जीवभाव अनुभूति करते हैं तो, "मेरे पैर में दर्द है" "शिर में आनंद है" इत्यादि जो शरीर संबंधी अनुभूति होती है, उस सुख दुःखात्मक अनुभूति का ब्रह्म से भी संबंध होगा तथा, जीव-ईश्वर-बद्ध-मुक्त-शिष्य-गुरु-ज्ञानी अज्ञानी आदि का भेद भी न हो सकेगा। क्योंकि, ब्रह्म, नित्यमुक्त और निर्विशेष है तो बद्ध और मुक्त होगा कौन? इसके समाधान में कोई ब्रह्म के अद्वैत-रूप को मानते हुए कहते हैं कि–मणि–कृपाण–दर्पण में पड़ती हुई एक ही मुख की छायाओं में जैसे–छोटी–बड़ी–धुंधली,–स्वच्छ आदि दीखती हैं, उसी प्रकार विभिन्न उपधियों से, एक ही ब्रह्म के प्रतिबिंबस्वरूप जीवों में, तारतयानुसार सुख दुःख आदि की व्यवस्था होती है।

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतेर्न जीवा ब्रह्मणोभिद्यंत इत्युक्तम्, सत्यम्, परमार्थतः, काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते। कस्य पुनः कल्पना? नतावद् ब्रह्मणः, तस्य परिद्ध ज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। नापिजीवानाम्, इतरेराश्रयत्व प्रसंगात्– कल्पनाधीनो हि जीवभावः, जीवाश्रया च कल्पना-इति। नैतदेवम्-अविद्या जीवभावयोर्बीजांकुरन्यायेनानादित्वात्।

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जो ब्रह्म जीव की एकता बतलाई वह ठीक ही है क्यों कि-भेद तो काल्पनिक है वास्तविक नहीं। पर वह कल्पना है किसमें? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती, क्यों कि-वह तो विशुद्ध ज्ञानमय है इसलिए कल्पनानीत अनिर्वचनीय है। कल्पना जीव में भी नहीं हो सकती, ऐसा करने से अन्योन्याश्रय संबंध होगा, अर्थात् कल्पनाधीन जीवभाव होगा तथा जीवाश्रित कल्पना होगी।

ankurnagpal108@gmail.com

सो ऐसा न होगा-बीजांकुर न्याय से अविद्या एवं जीवभाव अनादि हैं [प्रश्न होता है कि-वृक्ष पहिले हुए या बीज, इस संशय की निवृत्ति के लिए, बीज और वृक्ष का कारण कार्य भाव अनादिमान लिया गया है। ऐसा ही नियम अविद्या और जीव के संबंध में भी है। अविद्या अनादि काल से जीवाश्रिता है तथा अविद्या सापेक्ष जीवभाव भी अनादि है, यह तर्कातीत विषय है]

किं च, प्रासाद निगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायामविद्यायां नेतरेतराश्रयत्वादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिभावहंति। वस्तुतो ब्रह्मव्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिवातमुखप्रतिबिंबश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धि सभवादविद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकस्वोपपत्तिः। प्रतिबिंबगतश्यामतादिवज्जीवगता शुद्धिरपि भ्रांतिरेव अन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसंगात्। जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वान्नतद् हेतुरन्वेषणीयः, इति।

प्रासाद निगरण (महल का निगलना) आदि नितांत असंभव बातें हैं, किन्तु योगमाया का तो यह स्वरूप ही है, वह तो अघटन घटना परीयसी है, इसीलिये वह अवास्तविक है, ऐसी अवास्तविक अविद्या में, अन्योन्याश्रय आदि वस्तु दोष न होते हों, ऐसी बात नहीं है वस्तुतः जीव, ब्रह्म से भिन्न तो है नहीं इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है, फिर भी कृपाणादि में प्रतिबिंबित मुख में जैसे, मलिनता आदि दोष दीखते हैं, वैसे ही विशुद्ध जीव में, दोष आरोपित होते हैं, इसलिए उसकी काल्पनिक अविद्याश्रयता भी होती है। प्रतिबिंबगत मलिनता आदि की तरह, जीवगत दोष भी भ्रांति मात्र ही हैं यदि ऐसा न हो तो, जीव की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती [यद्यात्मा मलिनो अस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः, न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि "कूर्म पुराण]

तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धालुजनसबहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भितम्। तथाहि-जीवस्याकल्पितस्वाभविकरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्मात् तदतिरिक्तेनतस्मिन्

ankurnagpal108@gmail.com

कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वेजस्ऽयविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् न खलु अद्वैतवादिनः तदुभयव्यति-रिक्तमाकारमभ्युपगच्छंति। कल्पिताकार-विशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमितिचेत्त्-तत्र-स्वरूपस्याखंडैकर-सस्याविद्यामंतरेण विशिष्ट रूपत्वासिद्धेः अविद्याश्रयकर एवहि निरूप्यते।

जीवों का भ्रमप्रवाह अनादि है, इसलिए उसके कारण का अन्वेषण नहीं करना चाहिए—ऐसा, अद्वैत तत्त्व को न जानने वाले, भेदवाद में श्रद्धा रखने वाले, अद्वैत तत्त्व को जानने की इच्छावाले, लोगों को उपदेश दिया गया है। काल्पनिक न मानकर, यदि जीव को वास्तविक अविद्या-श्रित माना जावेगा तो, ब्रह्म को भी अविद्याश्रित कहना पड़ेगा। जीव को यदि काल्पनिक अविद्याश्रित मानते हैं तो, कोई जड़ भी अविद्याश्रित हो सकता है, यह भी मानना होगा। अद्वैतवादी दोनों प्रकारों को नहीं मानते। —जीव कल्पित अविद्याश्रित होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्यों कि जो वस्तु स्वभाव से ही अखंड एक रूप होती है, अविद्या संबंध से उसका कोई, विशिष्ट रूप नहीं हो सकता। अविद्याश्रय का तो एक रूप मानलिया गया है, वास्तव में अविद्या का आश्रय होता नहीं।

किं च बंधमोक्षादि व्यवस्थासिद्धयर्थं हि जीवाज्ञानवादाश्र-यणम्, सातुव्यवस्था जीवाज्ञान पक्षेऽपि न सिध्यति।

तथा—बद्ध मोक्ष आदि व्यवस्था की सिद्धि के लिए जो जीव का, अज्ञा नाश्रय बतलाया गया है [अर्थात् एक के बंधन से दूसरा बद्ध नहीं हो सकता और न एक की मुक्ति से दूसरे का मोक्ष ही संभव है, इसलिए जीव को अज्ञानाश्रित बतलाकर बद्ध स्वरूप का निरूपण किया गया है] जीव को अज्ञानाश्रित मानने पर भी, वह व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

अविद्या विनाश एव हि मोक्षः, तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविना-शादितरेऽपि विमुच्येरन्। अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्तर्हि एकस्याप्यमुक्तिः स्यात्। अविद्याया अविनष्टत्वात्। प्रतिजीवम-विद्या भेदः कल्प्यते, तत्र यस्याविद्या विनष्टा, स मोक्ष्यते, यस्यत्व-

ankurnagpal108@gmail.com

विनष्टा, स भन्त्स्य इति चेत्—तन्न, प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे। स जीवभेदः किं स्वाभाविकः उताविद्याकल्पितः ? न तावत् स्वाभाविकः, अनभ्युपगमात्, भेदसिद्ध्यर्थस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्। अथ अविद्याकल्पितः तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मणः, उतजीवानाम् ? ब्रह्मणः इति चेत्—आगतोऽसि मदीयं मार्गम्। अद्यजीवानां, किमस्या जीवभेद क्लृप्तिसिद्ध्यर्थतां विस्मरसि अथप्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्था सिद्ध्यर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते, ताभिरेवजीवभेदोऽपीति मनुषे, जीवभेदसिद्धताः सिद्ध्यंति तासु सिद्धासु जीवभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। न चात्र बीजांकुर न्यायःसिध्यति, वीजांकुरेषु हि अन्यदन्यद् वीजमन्यस्यान्यस्यांकुर-स्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यंते, तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशंकनीयता। अथ वीजांकुरन्यापेन पूर्वंपूर्वजीवाश्र-याभिरविद्यारुत्तरोत्तर जीवकल्पनां मन्यसे, तथासति जीवानां भंगु-रत्वमकृताभ्यागमकृत विप्रणाशादि प्रसंगश्च। अतएव ब्रह्मणः पूर्वं-पूर्वं जीवाश्राभिरविद्याभिरुत्तरोत्तर जीवभावकल्पनमित्यपि निर-स्तम्। अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्कल्पित जीवभावस्यापि तद्-वत् प्रवाहानादिता स्यात्। न ध्रुव रूपता, आमोक्षच्चजीवस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिध्येत्।

जब अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, तब एक के मुक्त हो जाने पर सभी जीवों को मुक्त हो जाना चाहिए, यदि कहें कि-अन्य अविद्या ग्रस्तहैं इसलिए मुक्त नहीं हो सकते, यदि अविद्या से ग्रस्त हैं तब तो किसी का भी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या तो नष्ट हुई ही नहीं। यदि कहें कि प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न अविद्या है, अतः जिसकी अविद्या विनष्ट हो गई वह मुक्त है और जिसकी नष्ट न हुई वह बद्ध है। ऐसा तो कहना ठीक नहीं, इस कथन से तो यह ज्ञात होता है कि—प्रति जीव से जीवों का भेद है। अब प्रश्न होता है कि—यह जीव भेद स्वाभाविक है या अविद्या

ankurnagpal108@gmail.com

कल्पित ? जब तक जीव को अविद्याश्रय, स्वाभाविक नहीं मानते, तबतक स्वाभाविक नहीं मानते, तब तक स्वाभाविक भेद तो माना नहीं जा सकता। यदि जीव का भेद अविद्या कल्पित मानते हैं तो प्रश्न होता है कि–वह भेद कल्पिका अविद्या, जीवाश्रित है या ब्रह्माश्रिता ? यदि ब्रह्माश्रिता मानते हैं तो वह हमारे मार्ग का ही अनुसरण है । यदि कहें कि–जीवाश्रिता है, तो जीव भेद की सिद्धि के लिये ही तो अविद्या की कल्पना की गई थी, इसे भूल गए क्या ? यदि कहें कि– प्रत्येक जीव का बद्ध मुक्त व्यवस्था की रक्षा के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई, उसी से जीव का भेद भी संपादित हो जावेगा। ऐसा होने से तो, जीव भेद की सिद्धि से अविद्या की सिद्धि और अविद्या की सिद्धि से जीव भेद की सिद्धि होगी फिर वही अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा यहाँ वीजांकुर न्याय से भी कार्य नहीं बनेगा, क्योंकि—भिन्न २ बीज से भिन्न २ अंकुरोत्पत्ति होती है, यहाँ तो अविद्या जिस जीव से कल्पित होती है, उसी के आश्रित भी रहती है। यदि वीजांकुर न्याय से, पूर्व पूर्वजीवों की आश्रिता अविद्याओं से उत्तरोत्तर जीवों की कल्पना मानते हैं तो जीवों में अनित्यता, कृतनाश अकृताभ्यागम आदि दोष उपस्थित होते हैं। तथा पूर्व पूर्व जीवाश्रित अविद्या द्वारा, ब्रह्म की जो उत्तरोत्तर जीवभाव की कल्पना है, वह भी समाप्त हो जावेगी। यदि अविद्या का अनादि प्रवाह मानते हैं तो, उससे उसकी ध्रुव रूपता सिद्ध नहीं होती, तथा मुक्ति न होने तक, जीव की ध्रुव रूपता को स्वीकारते हो वह भी समाप्त हो जाती है।

यच्चोक्तमविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपपन्नतैकवेषाया नतेरेतरा–श्रयत्वाद्या वस्तुदोषा, अनवक्लृप्तिभावहन्ति इति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्मांश्रयेदविद्याः, शुद्ध विद्यास्वरूपत्वादशुद्धरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुवर्त्तिन्यविद्या। एवं तर्हि उक्ताभिरुपपत्तिभिर्जीवान।मपि नाश्रयेत्।

यदि कहें कि–अविद्या कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, अनुपपत्ति ही उसका वास्तविक रूप है, इसलिए अन्योन्याश्रय आदि वास्तविक दोष, अविद्या की कल्पना में बाधक नहीं होगे। यदि ऐसा है तब तो वह वद्ध जीवों की तरह, मुक्त जीवों और परब्रह्म को भी आश्रित कर लेगी। यदि

ankurnagpal108@gmail.com

कहें कि-मुक्त पुरुष और परब्रह्म तो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिए अशुद्धिरूपा (मलिना) अविद्या, उनके पास तक नहीं जा सकती। तो क्या अविद्या उपपत्त्यानुवर्त्तिनी (संगत असंगत का विचार कर कार्य करने वाली है)? यदि ऐसा है तो, वह कभी जीवों का तो आश्रय ले नहीं सकती।

किंच जीवाश्रया अविद्यायास्तत्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो वा, न वा, ? यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् नो चेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्त जीवत्वावस्थानात्।

और यदि, तत्त्वज्ञान के होने पर, जीवाश्रित अविद्या का विनाश होता है तो उस अविद्या के नष्ट हो जाने से, जीवत्व का विनाश होता है या नहीं? यदि जीवत्व का भी विनाश हो जाता है तो कहना होगा कि-जीव का स्वरूपोच्छेद ही मोक्ष है। यदि विनाश नहीं होता तो, अविद्या के विनष्ट होने पर भी, मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न, जीवत्व की स्थिति रहेगी।

यच्चोक्तं—मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानमुखम्लिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्धयशुद्धया व्यवस्थोपपत्तिः, इति। तत्रेदं विमर्शनीयम्—अल्पत्वमलिनत्वादय उपाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्, किं तदाऽल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिविंबं तिष्ठति वा न वा? तिष्ठति चेत्—तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्ष प्रसंगः, नश्यति चेत्—तद्वदेव जीवनाशात् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्।

जो यह कहा कि—मणिकृपाण और दर्पण आदि में, उनकी चमक के अनुसार, प्रतिविंवित मुख भी मलिन और विमल दीखता है, वैसे ही उपाधि के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार जीव में भी शुद्धि-अशुद्धि आदि भेद होते हैं। इसमें विचारणीय बात यह है कि—उपाधिगत मलिनता अल्पता आदि दोष, नष्ट कब होते हैं? कहें कि—वे तो कृपाण

ankurnagpal108@gmail.com

आदि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, तो फिर अल्पता आदि का आश्रय, प्रतिविंब रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो, उसका स्थानीय जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता । यदि वह प्रतिविंब नष्ट हो जाता है, तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा; जिसे कि स्वरुपोच्छेद मोक्ष कहते हैं, वही हो गया ।

किं च यस्य हि अपुरूषार्थरूपदोष प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोष प्रतिमासो विंवस्थानीयस्य ब्रह्मणः उत प्रतिबिंबस्थानीयस्य जोवस्य, उतान्यस्यकस्यचित् आद्ययोः कल्पयोः दृष्टान्तोऽयं न संगच्छते, मुखस्यमुख प्रतिविंवस्य चाल्पत्वादिदोष प्रतिमास शून्यत्वात्, न हि मुखं तत् प्रतिबिंब वा चेतयते, ब्रह्मणो दोष प्रतिमासे ब्रह्माविद्याप्रसंगश्चे । तृतीयाऽपि कल्पो न कल्पयते जोवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात् ।

यदि, उपाधि संयोग से जो अनर्थमय (दुःखादि रूप) दोष प्रतीत होते हैं, उनका उच्छेद होने से ही, पुरूषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न होता है कि-वह औपाधिक दोष प्रतीति, विंवस्थानीय ब्रह्म की है अथवा प्रतिविंवस्थानीय जीव की ? या किसी अन्य की ? यदि ब्रह्म जीव की है, तो यह दृष्टांत ही असंगत है, क्योंकि—मुख और उसका प्रतिविंव दोनों ही अचेतन हैं, इसलिए इन दोनों में अल्पता आदि दोष की प्रतीति असंभव है । ब्रह्मस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकारने से, ब्रह्म का अविद्या आश्रय भी स्वीकारना होगा जीव और ब्रह्म के अतिरिक्त जब तीसरा कोई द्रष्टा ही नहीं है, तो किसी और में दोष प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता ।

किं च अविद्याकल्पस्य जीवस्य, कल्पकः कः ? इति निरूपणीयम्, न तावदविद्या, अचेतनत्वात् । नापि जीवः, आत्माश्रयदोष प्रसंगात् शुक्तिकारजतादिवदेविद्याकल्पत्वाच्चजीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकामिति चेन्—ब्रह्माज्ञानमेवायातम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

अविद्या कल्पित जीव के, जीव भाव की कल्पना कौन करता है ? इसका निरूपण करना भी आवश्यक है, अविद्या ही कल्पना करती है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह अचेतन है। जीव भी कल्पना नहीं कर सकता, ऐसा होने से तो आत्माश्रय दोष होगा (अर्थात् स्वयं अपने लिए ही कल्पना करना एक दोष है) यदि कहें कि—अविद्या कल्पित, शुक्ति रजत की तरह, जीव भाव भी, ब्रह्म कल्पित ही है, तब तो ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

किं च ब्रह्माज्ञानामभ्युपगमे, किं ब्रह्म जीवान् पश्यति वा न वा ? न पश्यतिचेत्—ईक्षापूर्विका विचित्र सृष्टिर्नामरूप व्याकरण-मित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्। अथ पश्यति, अखंडैकरसं ब्रह्म ना विद्यामंत-रेण, जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञान प्रसंगः। अतएव मायाविद्या विभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमंतरेणहि मायिनोऽपि ब्रह्मणो जीव दर्शित्वं न स्यात्। न च मायावी पलानदृष्ट्वा मोहयितुमरम्। नापि मायामायाविनो दर्शनसाधनम्,दृष्टेषु परेषु,तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः। अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीव दर्शित्वं कुर्वंती जीवमोहन-स्य हेतुरिति मन्यसे, तर्हि परिशुद्धस्याखंडैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया, मायापरपर्याया अविद्यैवस्यात्। अथमतम् विपरीतदर्शनहेतुरविद्या। माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्या-त्वेन न दर्शयंती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः। अतस्तस्यानाविद्या-त्वमिति।

और यदि ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? यदि नहीं देखता, तो मानना होगा कि–इच्छापूर्विका विस्तृतनामरूपवाली, विचित्र सृष्टि, ब्रह्म की नहीं है। यदि देखता है तो, अखंड एक रस ब्रह्म द्वारा, अविद्या रहित मुक्त जीव, का दर्शन संभव नहीं हैं, उसको देखने के लिए, ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक होगी। इस प्रकार माया, अविद्या का अभेदवाद भी असिद्ध हो जावेगा। ब्रह्म को

ankurnagpal108@gmail.com

मायी (मायायुक्त) मानने से, अविद्या रहित जीव का दर्शन उसके द्वारा संभव नहीं है। मायावी जिसे देख न पावेगा उसे कभी, विमोहित नहीं कर सकता। माया ही जो कि मायावी की दृष्टि साधन है, वह भी नहीं हो पावेगी। क्योंकि—देखे गए पदार्थ को ही, विमोहित करने की माया में सामर्थ्य है। यदि यह माने कि-ब्रह्म की माया, ब्रह्म में जीव दर्शन की क्षमता समुत्पादनपूर्वक, जीव का सम्मोहन करती है, तब तो कहना होगा कि-जो अखंड एक रस विशुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म को भी अपर दर्शन की क्षमता प्रदान करती है, तो वह अविद्या ही है। यदि कहें कि-अविद्या, विपरीत ज्ञानोत्पादिका है माया, ब्रह्म में वैसा विपरीत ज्ञानोत्पन नहीं करती, केवल ब्रह्म से अतिरिक्त, मिथ्यावस्तु, के मिथ्यात्व का प्रकाशन मात्र करती है। इसलिए माया और अविद्या एक नहीं है।

नैवम्—चंद्रैकत्वेज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात्। यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोहयति, नहि अनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहयितुमीहते। अथापुरूषार्थपरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो ना पुरूषार्थंदर्शनहेतुअतोऽस्या नाविद्यात्वमितिमतम् तन्न, द्विचंद्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभावेनापुरूषार्थत्वाभावेऽपि तद्हेतुविद्यैव तन्निरसने च प्रयस्यंति, यदि च नापुरूषार्थ दर्शनकरी माया, तर्हि अनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरुपानुवंन्धिनीस्यात्।

उक्तमान्यता उपयुक्त नहीं है, क्यों कि-एक चंद्र है ऐसा ज्ञान होते हुए भी, जो दो चंद्रों की प्रतीति होती है, उसमें अविद्या ही कारण है। यदि ब्रह्म, अपने से अतिरिक्त सभी को मिथ्या ही समझें तो कभी किसी को मोहित नहीं कर सकते। जो पागल नहीं है, वह कभी जानबूझ कर, झूठी वस्तु को मोहित करने की चेष्टा नहीं करेगा। यदि कहें कि-जो अपुरुषार्थं और अपरमार्थ (असत्य) हैं, -अविद्या उन्ही की प्रतीति कराती है। माया, ब्रह्म को वैसी प्रतीति नहीं कराती, इसलिए वह कभी अविद्या नहीं हो सकती। नहीं यह बात भी असंगत है; देखो, दो चन्द्रों के दर्शन

ankurnagpal108@gmail.com

में किसी प्रकार का दुःख तो होता नहीं, इसलिए अपुरुषार्थ साधक नहीं कहा जा सकता, फिर भी उस प्रतीति में अविद्या को ही, कारण माना जाता है। उस अविद्या के निवारण में लगी हुई माया, यदि अपुरुषार्थ साधिका नहीं है तो, वह अनुच्छेद्य अतएव नित्य होने से, ब्रह्म स्वरूप की अनुबंधनी हो जावेगी।

अस्तु को दोष इति चेत्—द्वैत दर्शनमेव दोषः। "यत्रहि द्वैतामिव भवति—यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् "इत्यादि अद्वैत श्रुतयः प्रकुप्येयुः। परमार्थविषया अद्वैत श्रुतयः, मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत् अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ता चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते।

यदि कहो कि—इसमें क्या दोष है? द्वैत प्रतीति होने लगेगी, तथा—"जो द्वैत की तरह होती है—जब सब कुछ आत्मा है, तो कौन किसको देखेगा इत्यादि अद्वैत बोधकश्रुति प्रकुपित हो जावेगी। यदि कहो कि-अद्वैत श्रुतियाँ तो परमार्थ बोधक हैं और माया अपरमार्थ तत्त्व है, इसलिए उसमें कोई विरोध नही होगा। यह कथन भी असंगत है, क्यों कि-ब्रह्म अपरिच्छिन्न एकमात्र आनंदस्वरूप हैं, उनमें, अपरमार्थ रूप मायादर्शन, या उसी की सी अविद्या का संबंध कदापि संभव नहीं है।

किं च अपरमार्थभूतया नित्यया मायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणः? जीव मोहनमिति चेत्-अपुमुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनम्? क्रीडेति चेत्-अपरिच्छिन्ननंदस्य किं क्रीडया? परिपूर्णं भोगानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेत्-नैवमिहोपपंद्यते, नाहि अपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैः अपरमर्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयापरमार्थभूतेकन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तनां क्रीडारसो निष्पद्यते। मायाऽश्रयतया अभिमतब्रह्म व्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पना संभवश्चपूर्ववदेव दृष्टव्यः। अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्या स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयद् भिरभ्युपेत्यम्।

ankurnagpal108@gmail.com

और फिर अपरमार्थभूत नित्य माया से, ब्रह्म को प्रयोजन ही क्या है? यदि जीव को मोहित करना ही प्रयोजन है तो, अपुरुषार्थ और अनुपयोगी मोहन से ही उसे क्या मिल जाता है? यदि कहो कि- यह तो उसकी क्रीडा है; भाई! अपरिच्छिन्न आनंदैकरसं को क्रीड। की क्या आवश्यकता है? यदि (अर्थात् ऐश्वर्यवान् की क्रीडा ही पुरुषार्थ होता है) ठीक है, परंतु यह वैसी क्रीडा नहीं है, क्योकि-क्रीडा, क्रीडा के उपभरण जब असत्य हैं यथा उसकी प्रतीति एक भ्रांति है तो, एक स्वस्थ वुद्धि को तो उसमें कोई आनंद आ नहीं सकता, उन्मत्त, भले ही उसमें आनंद अनुभूति करे। ब्रह्म को माया के आश्रित तथा जीव को अविद्या के आश्रित मानकर भी, ऐसा नहीं हो सकता। इस स्थिति में भी, क्रीडा में रसानुभूति नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म की अद्वैतता मानते हुए "अनादि अविद्या संवलित ब्रह्म स्वतः ही विभिन्नता देखता है "यही मानना पड़ेगा।

यत्तुबंधमोक्षव्यवस्थानोपपद्यतइति, न तद् ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम्, एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वाज्ञाननिवृत्यामोक्ष्यमाणत्वाद्बद्धमुक्तादि व्यवस्थायाः एवाभावात्, व्यवह्रियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात्, स्वप्न दर्शिन इव चैकस्यैवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्नदृशा हि एकेन दृष्टाः शिष्याचार्यादयः तदविद्या कल्पिता एव। अतएव बहु अविद्याकल्पनमपि न युक्तिमत्।

जो यह कहा कि–बंध मोक्ष व्यवस्था नहीं बन पाती । सो जो लोग, ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानते हैं, उनके लिए तो इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि-अज्ञानाश्रित ब्रह्म स्वरूपतः है तो, एक ही यदि वह अपने अज्ञानाश्रय की निवृत्ति करता है तो, उसका तात्पर्य हुआ कि वह मुक्त हो जाता है। इसलिए बंध मोक्ष की व्यवस्था ब्रह्म के लिए तो है नहीं। फिर भी जो, बद्ध मोक्ष आदि व्यवहार दीखता है वह काल्पनिक है, जैसे कि–स्वप्नद्रष्टा, एक होते हुए भी, अविद्यावश बहुरूप की कल्पना कर लेता है, वैसे ही, मोक्ष की व्यवस्था भी है। अर्थात् स्वप्न द्रष्टा की तरह, एक ही तत्त्व में शिष्य आचार्य आदि अनेक रूपों की कल्पना की जाती है। जो कि—अविद्या कल्पित ही है। अविद्या अनेक हैं, ऐसी कल्पना करना भी, युक्तिसंगत न होगा।

ankurnagpal108@gmail.com

पारमार्थिकी बंधमोक्षव्यवस्था स्वपरव्यवस्था च जीवाज्ञानवादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्योपपद्यते । प्रयोगश्च बंधमोक्षव्यवस्थाः स्वपर व्यवस्थायाश्च, स्वाविद्याकल्पिताः, अपारमार्थिकत्वात् स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति । शरीरान्तराण्यपि, मयै-वात्मवंति, शरींरत्वात्, एतच्छरीरवत् । शरीरान्तराण्यपि मदविद्याकल्पितानि शरीरत्वात्, कार्यत्वात्, जड़त्वात्, कल्पितत्वाद् वा एतच्छरीवत् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वात्, मदनहम्, तदचेतनं दृष्टम् यथा घटः । अतः स्वपरविभागो बद्धमुक्त शिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनामपि, बद्धमुक्तव्यवस्था दुरूपयादा, अतीतानां कल्पानां आनंत्यात् एकैकस्मिन् कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसंभवादमुक्तानुपपत्तेः ।

जो लोग, जीवगत अज्ञानाश्रय मानते हैं, वे भी, बंधन और मोक्ष, तथा स्व-पर भेद की, व्यावहारिक सत्यता नहीं स्वीकारते । उनकी दृष्टि में, यह सारा व्यवहार अपारमार्थिक (असत्य) है इसलिए वे एकमात्र अज्ञानाश्रय मानकर बंधनमोक्ष की व्यवस्था का समाधान कर लेते हैं । उक्त मत से यह निश्चित होता है कि-बंधमोक्ष और स्वपर व्यवस्था, अविद्या कल्पित है, क्योंकि वह अपारमार्थिक है, यह भी, स्वप्नद्रष्टा की सी व्यवस्था है । स्वप्न में जो अन्य शरीर दीखते हैं, वे मेरे ही तरह सप्राण जीव हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वह सब हमारी अविद्या की ही कल्पना है ये सारे शरीर, अन्य पदार्थ, जड़ पदार्थ, एवं कल्पित पदार्थ सभी, उस (अविद्या) के आधार हैं । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शरीर ही है [अर्थात् जैसा हम देखते है, उसी का कल्पना करते हैं] विवादास्पद, चेतन तत्त्व "अहं' ही है, क्योंकि-इसी से चेतनता की प्रतीति होती है । जो "अहं" पदवाच्य नहीं है, वह जड़ है, जैसे कि-घट । इससे निश्चित होता है कि-बद्धमोक्ष का भेद, स्व-पर का भेद तथा शिष्य आचार्य की कल्पना, सब कुछ अविद्या कल्पित ही हैं । द्वैतवादियों के मत से भी, बंधमोक्ष की व्यवस्था का समाधान करना, सहज नहीं है, क्योंकि-

ankurnagpal108@gmail.com

अनंत कल्प बीत चुके हैं, यदि एक एक कल्प में एक एक व्यक्ति भी मुक्त होते रहते तो अब तक किसी को बद्ध नहीं रहना चाहिए था।

अनंतत्वादात्मनाममुक्ताश्च संतीति चेत्—किमिदमनंतत्वम्? असंख्येयत्वमिति चेत्—न भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव। तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्। आत्मनां निःसंख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्यावेदनाभावो नासर्वज्ञतावहतीति चेत्—भिन्नत्वे संख्यविधुरत्वं नोपपद्यते। आत्मानः संख्यावंतः, भिन्नत्वात् भाषसर्षपघटपटादिवत्। भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवज्जड़त्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते।

यदि कहें कि—जीवात्मा अनंत हैं, उनमें अनेक मुक्त भी हैं। भाई! इस अनंतता का क्या स्वरूप है? असंख्यतावाची अनंतता तो हो नहीं सकती, अल्पज्ञों के लिए वह भले ही असंख्य हो, पर सर्वज्ञ ईश्वर के लिए तो, वे गण्य हैं ही, यदि वह ईश्वर भी इनकी गणना करने में असमर्थ है तो, वह सर्वज्ञ नहीं है। यदि कहें कि आत्मा? निःसंख्य अर्थात् उनके लिए संख्या शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर की सर्वज्ञता निर्वाध है। सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जब प्रत्येक जीव भिन्न है तो वह निःसंख्य नहीं हो सकते। आत्मायें संख्य ही हैं, क्योंकि-उर्द, सरसों, घट-पट आदि की तरह उनकी भिन्नता है, जब ऐसी भिन्नता स्वीकार्य है तो घट-पट आदि की तरह उनमें भी जड़ता, अनात्मता और विनाशशीलता स्वीकारनी होगी [इसलिए जीवों के भेद की कल्पना असंगत है]

ब्रह्मणश्चानन्तत्वं न स्यात्। अनंतत्वंनाम् परिच्छेदरहितत्वम्। भेदवादे च वस्त्वंतराद् विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः, परिच्छेद रहितत्वं न शक्यते वक्तुम्। वस्त्वंतरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः वस्तुतः परिच्छिन्नस्य, देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते। वस्त्वंतराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः, तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्म च वस्तुतः

ankurnagpal108@gmail.com

THE ACADEMY OF SANSKRIT RESEARCH
MELKOTE-571431.
KARNATAKA STATE

परिच्छिन्ना: देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यते । एवं च "सत्यंज्ञानमनंतम्" इत्यादिभि: सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः। उत्पत्ति विनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद एव उत्पत्तिविनाशभागित्वं अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्याविजृंमितम् ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सुख दुःखप्रतिसंधानव्यवस्थादयोऽपि स्वाप्नव्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यंते । तस्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाश स्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्त्तत इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्सदनन्यत्वं जगतः, इति ।

अनंतता ब्रह्म की भी नहीं हो सकती, परिच्छेद रहितत्व ही तो अनंतत्व है। भेदवाद में, ब्रह्म को, अन्य सभी वस्तुओं से विलक्षण कहा गया है, यदि अनंतता का अर्थ अपरिछिन्नता मानते हैं तो, भेदभाव के ब्रह्म का अपरिच्छिन्न भाव समाप्त हो जावेगा। उसे वे फिर अपरिच्छिन्न नहीं कह सकते। अन्यान्य वस्तुओं का सद्भाव ही तो परिच्छेद है वास्तविक परिच्छेद का देश और काल से अपरिच्छेद नहीं हो सकता। एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण, वास्तविक परिच्छन्न घट आदि देश और काल से भी परिच्छन्न ही देखे जाते हैं। वैसे ही सभी चेतनजीव और ब्रह्म, वस्तुत: परिच्छिन्न हैं और देश काल से भी परिच्छेद्य हैं। ऐसा मानना पड़ेगा; ऐसा मानने से फिर "सत्यज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से जिस ब्रह्म को निर्विशेष (सभी प्रकार के परिच्छेदों से रहित) कहा गया है उससे विरोध उपस्थित होगा। साथ ही जीवों और ब्रह्म की उत्पत्ति और विनाश का प्रसंग भी उपस्थित होगा, क्यों काल द्वारा किया गया परिच्छेद ही तो विनाश कहलाता है। इसलिए यही मानना समीचीन है कि-एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म का, अविद्या विलासात्मक यह संपूर्ण जगत, सुख दुःखानुभूतिजन्यव्यवस्थाभेद, आदि सभी कुछ स्वप्नकालीन व्यवहार की तरह, अविद्यात्मक होने से स्वतः घटित होता है। तथा नित्यमुक्त और प्रकाश स्वभाव अद्वैत ब्रह्म ही अविद्यावश जगदाकार रूप से विवर्त्त होता है; परमार्थत: ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, यह जगत उससे अभिन्न है।

Accn. No. 6893

ankurnagpal108@gmail.com

अत्रोच्यते:—निर्विशेष स्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मनाद्यविद्या तिरोहित स्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशानिवृत्तिरूप तिरोधाने स्वरूपनाश प्रसंगेन तिरोधान संभवादिभ्य: सकल प्रमाणविरुद्धं स्ववचन विरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तम् । यत्पुनरूक्तं—कारणव्यतिरिक्तं कार्यं युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिका रजतादिवद्भ्रम:, इति, तदयुक्तम्, युक्तेरभावात् । यत्त्वनुवर्त्तमानस्य कारणमात्रस्यत्सत्वम्, व्यावर्त्तमानानां घटशरावादिकार्याणामसत्यत्वमिति, तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्त्तमानता न बाधिकेत्यादिभि: पूर्वमेव परिहृतम् । यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृषात्वमिति, तदसत्, उपलब्धि विनाशयोर्यो हि, न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनित्यत्वम् । यद् देश काल संबंधितया यदुपलब्धं, तद्देशकालसंबंधितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतु: । देशांतरकालान्तर संबंधितयोपलब्धस्यान्य देशकालसंबंधित्वेन बाधितत्वं देशांतराकालांतराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्यात्वम् । प्रतियोगश्च घटादि कार्यं सत्यम्, देशकालादि प्रतिपन्नोपाधावबाधित्वात्, आत्मवत् ।

(शाँकरमत निरसन) उक्त कथन पर कहते हैं कि—एकमात्र प्रकाश स्वरूप निर्विशेष, ब्रह्मअनादि अविद्या द्वारा अपने स्वरूप के तिरोहित हो जानेसे ही विभिन्नता देखता है । अखंड प्रकाश स्वरूप उसके प्रकाश निवृत्ति रूप, स्वरूपावरण से ही, स्वरूप का विनाश हो सकता है, परंतु उसके स्वरूप का आवृत होना ही असंभव है, यदि ऐसा संभव हुआ तो, वह शास्त्र प्रमाणों अपने वचनों के ही विरुद्ध होगा । ऐसा हम कह भी चुके हैं । जो यह कहा कि—कारण से भिन्न कार्य की सत्ता, युक्ति बाधित होने, शुक्ति रजत की तरह भ्रम मात्र है; यह भी असंगत बात है, क्योंकि—तदनुरूप कोई युक्ति नहीं है । तथा यह कहना कि—कार्यरूप में अनुवर्त्तमान कारण ही एकमात्र सत्य है तथा व्यावर्त्तमान (कारण से अनुगत) घट प्याला आदि कार्य सब असत्य हैं । असंगत बात है, इसको भी हम—

ankurnagpal108@gmail.com

"एक स्थल में दृष्टव्यावर्त्तमानता, अन्यत्र देखे गए विषय की बाधक नहीं होती" इत्यादि में पहिले ही निराकरण कर चुके हैं। प्रत्यक्ष, विनाशशील सदसदनिर्वचनीय, मानकर कार्य को मिथ्या मानना भी असंगत है, प्रत्यक्षोपलब्धि और विनाश के आधार पर कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं होसकती अनित्य तो हो सकती है। जो वस्तु जिस देश और जिस काल में उपलब्ध होती है, वह वस्तु उसी देश और उसी काल में यदि वाधित हो जाय (गलत सिद्ध होजाय) तब तो मिथ्या है। अन्यथा देशांतर या कालांतर देखी गई वस्तु अव्याप्ति की ही द्योतिका हो सकती है, मिथ्या नहीं। उक्तप्रकार के मिथ्यावादी सिद्धांत से तो विपरीत धारणा भी बन सकती है कि-"घटआदि कार्य सत्य हैं, क्योंकि—अनुभूत देश काल आदि उपाधियों से वे अवाधित हैं जैसे कि—आत्मा अवाधित होता है"। इत्यादि।

यच्चोक्तं कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्योत्पत्तिर्न संभवति—इति, तदसत्—देशकालादिसहकारिसमवहितात् कारणात् कार्योत्पत्ति संभवात्। तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न संभवति इति यदुक्तम्, तदयुक्तम्—पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधान संभवात्। अविकृतत्वाविशेषात् पूर्वमपिदेशकालादिसमवधानं प्रसज्यत इति चेन्न, देशकालादि समवधानस्य कारणान्तरा यत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्। अतो देशकालादि समवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पादयतीति न किंचिदवहीनम्। कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमवाधितं दृष्यमानं न केनापि प्रकारेणापहनोतुं शक्यते।

जो यह कहा कि—अविकृत या विकृत कारण स्वरूप से कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी असंगत बात है, क्योंकि—देश काल आदि सहकारी कारणों से संयुक्त कारण द्वारा ही कार्योत्पत्ति हो सकती है केवल एक कारण से नहीं) यदि कहो कि—अविकृत या विकृत किसी प्रकार के कारण से, सहकारी संयोग नहीं हो सकता, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि— कार्योत्पत्ति के पूर्व अविकृत कारण के साथ, देशकाल का संबंध हो सकता है। यदि कहो कि अविकृत भाव में किसी प्रकार की

ankurnagpal108@gmail.com

विलक्षणता नहीं होती, इसलिए कार्योत्पत्ति के पूर्व भी देशकाल आदि का समवधान हो सकता है। सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देशकाल आदि के साथ जो समवधान (संयोग) होता है, वह किसी अन्य कारण के अधीन होता है। यह उपादान कारण किसी से अधीन तो है नहीं; इसलिए इसे अधीनता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार विशिष्ट देश काल आदि के संयोग से अवस्थाविशेष को प्राप्त वही कारण, यदि कार्योत्पादन करता है, तो उससे कोई क्षति नहीं होती। कार्य में कारण की उपादानता जब अवाध्यहोती है तो उसे किसी भी प्रकार से छिपाना कठिन है [अर्थात् उपादान कारण जब प्रत्यक्ष और निर्वाध रूप से कार्योत्पादक हो तो उसे अमान्य नहीं कह सकते]

यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादिकार्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वंन संभवति-इति,तदयुक्तम्, हेमादिमात्रस्यैव तथोक्तपरिकरयुक्तस्यारंभकत्व संभवात्। न चारम्भक हेम व्यतिरिक्त कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं न शक्यम् हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात् बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरस्य साधितत्वाच्च। न चायं शुक्तिकारजतादिवद् भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल उपलभ्यमानस्य तद्देशकाल संबंधितया बाधादर्शनात् न। चास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिदृश्यते। प्रागनुपलब्धेस्वस्तिकोपलब्धि वेलायामपि हेम प्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेम्नोऽप्यनुवृत्तो रविरुद्धा। श्रुतिभिस्तु प्रपंचमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्। यच्चान्यदत्र प्रत्यक्ष विरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुष्ठूक्तम्।

जो यह कहा कि-एकमात्र सुवर्णादि ही, हार आदि कार्य और आश्रयभूत सुवर्णता आदि के आरंभक (उपादान कारण) नहीं हो सकते। यह कथन भी युक्ति शून्य है; देश काल आदि सहकारी कारणों से युक्त एकमात्र सुवर्ण आदि ही, हार आदि के उपादान कारण हो सकते हैं। यह एक भी नहीं कह सकते कि-आरंभक सुवर्ण से भिन्न, कोई कार्य नहीं देखा जाता, सो बात भी नहीं है हेम से भिन्न स्वस्तिक (आभूषण विषेश

जिसमें सुवर्ण की मात्रा कम तांवा अधिक होता है) आदि कार्य देखे जाते हैं। प्रतीति भेद और शब्द भेद से, वस्तु में भिन्नता मानी जाती है। यह, शुक्तिका रजत का सा भ्रम नहीं है, क्यों कि-इसमें उत्पत्ति और विनाश की मध्यवर्त्ती देश और काल संबंधी कोई बाधा नहीं है और न इसमें कोई दूसरी उपलब्धि (प्रतीति) की बाधिका युक्ति ही दीखती है। पूर्व अननुभूत स्वस्तिक की उपलब्धि के समय जो सुवर्ण संबंधी प्रत्यभिज्ञा (यह वही सुवर्ण है, ऐसी प्रतीति) होती है, वह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वस्तिक के आश्रयभूत, सुवर्ण की झलक रहती है। वेदवाक्यों से जगत को मिथ्या सिद्ध करने वाली बात का तो हम, पहिले ही निराकरण कर चुके हैं, तथा जो प्रत्यक्षविरोधी आदि तर्कों का निराकरण करना था, उन उन सबका भी पहिले बहुत अच्छे ढंग से कर चुके हैं।

यच्चोक्तम्—एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवंति, इति, तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःख प्रतिसंधान प्रसंगात् सौभरि प्रभृतिषु हि आत्मनएकत्वेनानेकशरीरप्रयुक्त सुखादिप्रतिसंधानमेकस्य दृश्यते न चाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तद् भेदात् प्रतिसंधानाभावो नात्मभेदादितिवक्तुं शक्यम्, आत्माज्ञातैव, स चाहमर्थ एव, अंतःकरणभूतस्त्वहंकारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेत्युपपादित्वात्। अथशरीरत्वजडत्कार्यत्वकल्पितत्वैः सर्वशरीराणां एकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तम्, तदपि सर्वशरीराणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम्। तद्भावंश्चाबाधितस्य सत्यत्वोपपादनात्। यच्च चेदनादन्यस्य जडत्वदर्शनात् सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तम् तदपि सुख-दुःख व्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम्।

जो यह कहा कि—एक ही आत्मा से सारे शरीर आत्मवान कहलाते हैं, यह भी असंगत बात है, ऐसा होने से तो, एक ही आत्मा, सभी शरीरों के सुख दुःख आदि को भोगने वाला सिद्ध होता है। सौभरि आदि ऋषियों के जो एक आत्मा के अनेक शरीर थे उनमें भोग भिन्न भी एक ही प्रकार का था, भिन्न नहीं था। अहं पदार्थ ही वास्तविक ज्ञाता है, प्रतिदेह में वह

ankurnagpal108@gmail.com

भिन्न है, इसलिए प्रतिदेह की अनुभूति भिन्न भिन्न होती है। वह आत्मा के भेद से तो होती नहीं; इत्यादि भी नहीं कह सकते क्योंकि-आत्मा ही ज्ञाता है, ज्ञातृत्व स्वरूप वह आत्मा ही "अहं" है, दोनों भिन्न नहीं हैं,पर अंतःकारण रूप अहंकार जड़ एवं ज्ञान का साधन होने से, शरीर और इन्द्रियों की तरह ज्ञाता नहीं हो सकता, ऐसा प्रथम ही कह चुके हैं। शरीरत्व, जडत्व, कार्यत्व कल्पितत्व होने से सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं; यह कथन भी असंगत है, सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं, इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, अबाधित पदार्थ की सत्यता सिद्ध हो जाने से ही यह बात अप्रामाणिक हो जाती है। तथा–चेतन से जड भिन्न है, इसलिए सब चेतन एक है, "यह बात भी-सुख दुःख भोग की भेद व्यवस्था से जो भेदवाद सिद्ध किया गया, उसी से निराकृत हो चुकी।

यत्तु-मयैवात्मवंति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वंचेतन जातमित्यमहमर्थस्यैक्यमुपपादितम्, तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रांति-जल्पितम्, अहं त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं हि आत्मात्वन्मते। किं च निर्विशेष चिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति वदतो मोक्षार्थं श्रवणादि प्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात्, शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपा-नादि प्रयत्नवत्। मोक्षार्थं प्रयत्नोऽव्यर्थः कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्य-त्वात् शुकप्रह्लादवामदेवादि प्रयत्नवत्। तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानम् नं बन्धनिवर्तकम्, अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्, स्वयं-मविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयत्वात् कल्पिताचार्यायत्त-श्रवणजन्यत्वाद्वा स्वाप्नबंधनिवर्त्तनवाक्यजन्यज्ञानवत्। किं च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अविद्याकार्यज्ञानगम्यत्वात् अविद्या-कल्पितज्ञात्राश्रयज्ञानगम्यत्वात्, अविद्यात्मकज्ञानगम्यत्वाद् वा, यदेवंतत्तथा यथा स्वाप्नगंधर्वनगरादिः। न च निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते, येन न प्रमाणान्तरमपेक्षते। यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं दृश्यते, तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। यानि च तस्य निर्विशेषत्व साधकानि यौक्तिकानि

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञानान्युपन्यस्तानि, तानि चानन्तरोक्तैरविद्याकार्यत्वादिभिरनुमानैर्निरस्तानि। न च निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहंकारादि जगद् भ्रमश्चोपपद्यते, साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगतादृष्टाः न ज्ञप्तिमात्रगताः, न च तस्य प्रकाशत्वं स्वायत्त प्रकाशता वा सिध्यति, प्रकाशो हि कस्यचित्पुरुषस्य कंचनार्थविशेषं प्रति सिद्धरूपोदृश्यते तत एव हि तस्य स्वयम्प्रकाशतोपाद्यते भवद्भिरपि। न चातादृशस्य निर्विशेषस्यप्रकाशता संभवति यः पुनः स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादपि परमार्थकार्यं दृश्यत इत्युद्घोषः,सोऽपितानि कार्याणि सर्वाण्यबाधितकल्पानिव्यावहारिकसत्यानि, वस्तुतस्त्वविद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः। अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्भिः पूर्वमेव निरस्तः।

ये सारे शरीर मेरे से ही आत्मवान हैं, मेरी ही अविद्या से कल्पित हैं, मैं ही समस्त चेतन हूँ, इत्यादि जो, अहंभाव के अद्वैत भाव का प्रतिपादन किया गया है, वह, अपने सिद्धान्त को न जानते से,भ्रांतिमूलक है तुम्हारे मत में तो, आत्मा, मैं और तू इत्यादि से विलक्षण, केवल चैतन्य स्वरूप है। जो यह कहते हो कि-निर्विशेष चैतन्य के अतिरिक्त सव कुछ मिथ्या है, तब तो मोक्ष के लिए किए जाने वाले, श्रवण-मनन आदि सारे प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि-ये भी तो अविद्या कल्पित ही हैं। शुक्ति का रजत में जैसे रजत आदि मिथ्या को जानने का प्रयास विफल है, वैसे ही उक्त प्रयास भी विफल ही होगा। इससे तो यह भी धारणा बनती है कि-मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न भी व्यर्थ है, क्योंकि-वह अविद्या कल्पित आचार्य के अधीन ज्ञान से साध्य होता है। जैसे कि-शुक प्रह्लाद वामदेव आदि के प्रयास [परंतु बात सर्वथा भिन्न है, इन तीनों का मोक्ष शास्त्र प्रसिद्ध है] इस प्रकार तो "तत्वमसि" आदि वाक्यजन्य ज्ञान भी बंधनों को काटने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि-अविद्या कल्पित वाक्यजन्य है, तथा स्वयं अविद्यात्मक, अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित, कल्पित आचार्य से आयत्त होने से कल्पित श्रवण जन्य है, जैसे कि-स्वप्न

ankurnagpal108@gmail.com

में सुना गया ज्ञानात्मक वाक्य। और फिर इस मत से तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि वह भी तो स्वयं, अविद्या जन्य ज्ञान का विषय ही तो है। जो कि अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित ज्ञान से जाना जाता है, तथा वह ज्ञान भी तो अविद्या कल्पित ही है। यह सब तो वैसा ही है जैसा कि-स्वप्न में दृष्ट गन्धर्व नगर आदि। यह नहीं कह सकते कि-निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वयं प्रकाशवान है, इस लिए उसे प्रमाणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती स्वयं प्रकाश ज्ञान आत्मसाक्षिक होता है, वह तो ज्ञेय विशेष (ब्रह्म) सिद्धिरूप ज्ञाता के अधीन देखा जाता है, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं तथा उस ब्रह्म की निर्विशेषता की साधिका ज्ञानमूलक जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, उन सबका, अविद्या कार्यत्व आदि घटित अनुमानों से निराकरण भी कर चुके हैं। निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के संबंध में, अज्ञान साक्षित्व और अहंकार आदि जगद्भ्रम का अरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि-साक्षित्व भ्रमादि तो किसी किसी ज्ञाता विशेष में ही होते हैं। वह ज्ञानगत नहीं होते, और न उस ज्ञान का प्रकाश ही होता है, न उसमें स्वतः प्रकाश की क्षमता ही हो सकती है। प्रकाश का अर्थ होता है, किसी व्यक्ति विशेष में, किसी वस्तु की अभिव्यक्ति होना। ऐसा स्वयं प्रकाश का भाव, आपके द्वारा ही बतलाया गया है। जो ऐसे लक्षण से घटित न हो सके उस निर्विशेष की ज्ञान प्रकाशता संभव नहीं है। असत् पदार्थ से ही सत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं,ऐसा जो आपका अपनी गोष्ठी में उद्धोष है वह,आप ही के "सारे उत्पन्न होने वाले पदार्थ, एक रूप से अबाध व्यावहारिक सत्य हैं, वस्तुतः तो वे सब अविद्यात्मक ही हैं" इत्यादि मत से, समाप्त हो जाता है। परमार्थ कारण से ही, सर्वत्र सब कार्यो की उत्पत्ति होती है, ऐसा हमारा घोष भी, पहिले ही कट चुका है।

न च त्वयैषामनुमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते, श्रुतेरपि अविद्याकार्यत्वेन अविद्यात्मकत्वेन चोक्त दृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावात्। यन्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधः दर्शनाद् ब्रह्म सत्यमेव इति, तदसत्, दुष्टकारणजन्य ज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधा दर्शनस्याकिंचित्करत्वात्, यथा शून्यमेवतत्त्वमिति

ankurnagpal108@gmail.com

वाक्यजन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम् ।

तुम हमारे किये गए उक्त अनुमानों को श्रुतिविरुद्ध नहीं कह सकते-क्यों कि- तुम्हारे ही प्रतिपादन से यह लक्षित हो चुका है कि श्रुति भी अविद्या का कार्य है अतएव अविद्यात्मक है, इसलिए गत दृष्टान्तों से कोई विशेष बात श्रुतियों में कही गई हो ऐसा समझ में नहीं आता [अर्थात् मिथ्या दृष्टान्तों की तरह, श्रुति भी मिथ्या दृष्टान्त रूपही हैं] ब्रह्म अपारमार्थिक ज्ञान से गम्य होते हुए भी, ज्ञानोत्तर काल में उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं देखी जाती, इसलिए ब्रह्म तो सत्य ही है, यह कहना भी बेकार ही होगा क्योंकि-ब्रह्म ज्ञान गम्य है तथा वह ज्ञान दोषावह कारणों से जन्य है ऐसा जब तर्क से निश्चित हो चुका तब उसमें,बाद में बाधा भले ही न पड़े उससे-कुछ होता नहीं [अर्थात् अविद्या-जन्य ज्ञान से ही जब ब्रह्म की प्रतीति होती है तो यही कौन कम बाधा है ?] जैसे कि-"शून्य ही एकमात्र तत्त्व है" इत्यादि से जो प्रतीति होती है भले ही उसमें बाधा न पड़े, पर है तो दोषमूलक हो, वैसे ही उक्त मत की असत्यता भी निश्चित होती है ।

किं च "नेह नानाऽस्तिकिंचन" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति विज्ञा-मात्रातिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात् पश्चात्तन बाधादर्शनमुच्यते,शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतः तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधो दृश्यते । सर्वशून्यत्वातिरेकि-निषेधासंभवात्तस्यैव पश्चात्तनबाधादर्शनम्, दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदांत जन्मनः सर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम् । अतः सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञातृगतं, स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्, तत्र किंचनज्ञानं दोषमूलम्, दोषश्च परमार्थः, किंचिच्च निर्दोषं पारमार्थिक सामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते, न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्चसेत्स्यति । लोकव्यवहारोऽपि पारमार्थिको भ्रांतिरूपश्च, पारमार्थिकज्ञातृगतार्थ विशेष सिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः, निर्विशेष

ankurnagpal108@gmail.com

सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमार्थिकस्य च प्रतिभासादेर्हेतुत्वासंभवात् लोकव्यवहारो न संभवति। यच्च-तैर्निरधिष्ठानभ्रमासंभवात् सर्वाध्यासाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमुक्तम्, तदपि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपत्तेर्निरस्तम्। अथ अधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे। हन्त तर्हि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्व ज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति, दर्शननानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्यमवश्याश्रयणीयमिति न कंचिद् विशेषोऽन्यत्र तत्संरंभात्।

"इस जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है "ब्रह्म विज्ञान और आनंद स्वरूप है "इत्यादि में विज्ञान से अतिरिक्त समस्त पदार्थों के निषेध तथा इन वाक्यों के परवर्त्ती होने से; ब्रह्म संवंधी बाधा की संभावना नहीं रह जाती परंतु "शून्य ही तत्त्व है "इस, उक्त वाक्य के भी परवर्त्ती वाक्य से, जो कि उसके भी प्रभाव को द्योतन कर रहा है, बाधा उपस्थित ही रहती है। सर्व शून्य से और अधिक निषेध की बात तो हो नहीं सकती, इसलिए इस परवर्त्ती शून्यवाद बोधक वाक्य का बोध तो हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की तरह, वेदांत का यह सर्व शून्यवाद भी दोषमूलक है। इसलिए जब तक, समस्त विज्ञान की सत्योपलब्धि, एवं वस्तु विशेष अभिव्यंजक विज्ञान की सत्यता, तथा किसी किसी ज्ञान की निर्दोषता, सत्य सृष्टिकरणता, आदि नहीं स्वीकारी जावेगी तब तक सत्य मिथ्या विभाग और लोकव्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि-पारमार्थिक और भ्रमात्मक दोनो प्रकार के लोकव्यवहार,- परमार्थ के ज्ञाता के लिए तो पहिले से ही,, वस्तुविशेष के प्रकाशक प्रकाश सहित अपेक्षित रहते हैं केवल निर्विशेष सत् स्वरूप कभी पारमार्थिक या अपारमार्थिक भाव में, प्रतीति का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए उससे लोकव्यवहार भी संपन्न नहीं हो सकता। तथा-किसी एक आश्रय के विना भ्रम होता ही नहीं, ऐसा मानकर जो समस्त अध्यासों के अधिष्ठान शुद्ध सत् पदार्थ

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म की पारमार्थिकता बतलाई, वह भी-दोष,दोष के आश्रय, ज्ञान और ज्ञातृत्व आदि के अपारमार्थिक होते हुए जैसे भ्रमोत्पादन हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान की अपारमार्थिकता होते हुए भी भ्रम उत्पन्न हो सकता हैं, इस संभावित बात से कट जाती है। यदि कहो कि जब, अधिष्ठान की अपारमार्थिकता में भ्रम नहीं दीखता, तब तो शुद्ध सत्पदार्थ की पारमार्थिकता अवश्य ही माननी पड़ेगी। ठीक है, तब तो, दोष दोषाश्रया ज्ञातत्व और ज्ञान आदि की अपारमार्थिकता में भी जब कहीं भ्रम नहीं दीखता, तब लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए, इन सब की पारमार्थिकता भी अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। इस विषय में केवल वाक्याडम्बर के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है।

यत्तु भेदपक्षेऽव्यतीतकल्पानामानन्त्यात् सर्वेषामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासंभवात् बद्धमुक्त व्यवस्था न संभवति,तदात्मानंत्येन परिह्लतम्। यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषसर्षपघटपटादिवत्संख्यावत्त्वमवर्जनीयम् इति, तत्र घटादीनामप्यनंतत्वात्दृष्टांतः साध्यविकलः स्यात्। दशघटाः सहस्रभाषाः, इति संख्यावत्त्व दृश्यत इतिचेत्—सत्यम्, तत्तु न घटादिस्वरूपगतम्, अपितु देशकालाद्युपाधिमद् घटादिगतम्, तादृशं तु संख्यावत्वमात्मनामभ्युपगच्छामः। न च तावता सर्वमुक्ति प्रसंगः आत्मस्वरूपानन्त्यात्। यत्तु आत्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वानात्मत्वक्षयित्व प्रसंगः, इति तदयुक्तम्, एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानांजात्यन्तरत्वानापादकत्वात्। न हि घटानांभेदः, तेषां पटत्वमापादयति। यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद्देशकालाभ्यामपि परिच्छेदोब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनंतत्त्वब्रह्मणो न सिध्यतीति,तदयुक्तम, वस्तुतःपरिच्छिन्ना नामपिदेश कालपरिच्छेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनात्। देशकालसंबंधेयत्तायाः प्रमाणांतराप्तनिर्णयत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसंबंधस्यापि प्रमाणान्तरादापतप्ये विरोधाभावात्। वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानंत्यासिद्धरिति चेत्, तदभवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयतः

ankurnagpal108@gmail.com

समानम् । अतः सतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद् ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषाः सर्वे तवापि प्रसज्येरन् । यद्यविद्या-विलक्षणत्वं नाभ्युपेयते, तर्ह्यविद्यात्मकमेव ब्रह्मस्यात् । "सत्यं-ज्ञानमनंतंब्रह्म" इति लक्षणवाक्यमपि तत एवापार्थकं स्यात् । भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्ष परपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावाद सर्वमसमंजसं स्यात् आनंत्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्व मात्रेण, ने वस्तुतोऽपि परिच्छेद रहितत्त्वेम, तथा विधस्य शशविषा-णायमानस्यानुपलब्धेः । भेदवादिनस्तु सर्वंचिदचिद् वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणः सर्वप्रकारत्वात् स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते । तदेवोपादयद्भ्योऽवगम्यते । आरम्भणशब्दआदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्याकारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद् ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद् ब्रह्मणोऽन्यदेव ।

जो यह कहा कि—अतीत कल्पों की अनन्तता होने से सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने से, भेदवाद में भी बद्ध मुक्त व्यवस्था नहीं बनती, इस कथन का निराकरण जीवों की अनन्तता के आधार पर किया जा चुका है । जो यह कहो कि—आत्माओं की भिन्नता मानने से, उर्द, सरसों, घट पट आदि की तरह, संख्यावत्त्व अर्थात् सान्तत्त्व होगा, सो यह दृष्टांत ही गलत है, घट आदि तो स्वतः ही अनंत हैं । यदि कहो कि—दस घट, हजार भाव आदि गणना तो की जाती है, ठीक है की जाती है, पर यह गणना, घट आदि के रूप की नहीं है, यह तो देशकाल आदि से विशिष्ट घट की है । ऐसी ही संख्या आत्मा की भी है [अर्थात् किसी स्थान किसी समय कुछ आत्मायें विभिन्न आकारों में उपस्थित हो तो हम उनकी गणना भले ही कर लें, पर हैं तो वह अनंत ही] इसलिए एक साथ सबकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि आत्मायें अनंत हैं ।

जो यह कहा कि—आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानने से उनमें जडता, अनात्मता, विनाश आदि दोष हो सकते हैं, यह बात भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि—एक जातीय पदार्थ का भेद, कभी उस जातीय पदार्थ से

ankurnagpal108@gmail.com

भिन्न जातीयता नहीं बतला सकता, जैसे कि--घटों के पारस्परिक भेद में, पटत्व का भान नहीं होता। यह कहना कि-भेद मानने से आत्माओं का वस्तुगत परिच्छेद हो जायगा, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म का देश काल परिच्छेद (ससीमभाव) संभावित होगा, जिससे ब्रह्म की अनंतता सिद्ध न होगी। यह भी असंगत बात है, परिच्छिन्न पदार्थों का भी, देश कालात्मक परिच्छेद का न्यूनाधिक भाव देखा जाता है। देशकाल संबंधी जो परिच्छेद होता है, उसे प्रमान्तरों के सहारे ही, निरूपण किया जा सकता है, इसलिए ब्रह्म का, देशकाल आदि का जो संबंध है, वह भी प्रमाणान्तरों से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए इसमें कोई विरूद्ध भाव नहीं है। यदि कहें कि-आत्मा का रूप, वस्तु से परिच्छिन्न होते हुए भी, तथा उससे भिन्न सभी प्रकार के परिच्छेद का अभाव होते हुए भी, ब्रह्म की अनंतता सिद्ध नहीं होती। ठीक है, ब्रह्म को जब तुम, अविद्या से पृथक् तत्त्व मानते हो, तब भी तो यही दोष उपस्थित होता है। सत् स्वरूप ब्रह्म को, अविद्या से विलक्षण मानने पर ब्रह्म जब अविद्या से पृथक् हो जाता है तब भेद संबंधी जितने भी दोष तुम प्रस्तुत करते हो वे समी, संभावित हो सकते हैं। यदि अविद्यात्मक भिन्नता नहीं मानते, तो भी ब्रह्म तो अविद्यात्मक ही रहता है, जिससे "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतस्वरूप है" यह वाक्य घटित नही होता। यदि तात्त्विक भेद ही मानते हो तो तुम्हारे पास अपने पक्ष के पुष्टि और दूसरे के पक्ष के दूषणों को विश्लेषण करने का कोई उपाय ही नहीं रह जायेगा। अतः सब कुछ असामंजस्य पूर्ण हो जायेगा। देशकाल परिच्छेद के न होने मात्र से ही "अनंतता" सिद्ध हो जायेगी तथा वस्तुगत परिच्छेद की अपेक्षा न होगी, ऐसा खरगोश की सींग का सा अनहोना, परिच्छेद तो कहीं भी दृटिगत नहीं होता। भेदवादियों के मत से जब, सभी जड़चेतन ब्रह्म का शरीर है, तब सारे पदार्थ, विशेषित ब्रह्म से, स्वतः या परतः किसी भी रूप में परिच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि—कारण से भिन्न, कार्य के सत्य होने से, ब्रह्म का कार्य, सारा जगत निश्चित ही पृथक् है।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः तस्माद् परम् कारणाद ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः, आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि। आरम्भण शब्द आदिर्येषां वाक्यानां

ankurnagpal108@gmail.com

तान्यारम्भण शब्दादीनि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।" "सदेव साम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" सन्मूला: सोम्येमा:सर्वा: प्रजा:सदायतना: सद्प्रतिष्ठा: "ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो:" इत्येतानि प्रकरणा-न्तरस्थानि अप्येवंजातीयकानि अत्राभि प्रेतानि। एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुत्पादयंति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार "तदन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य:" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात्–ब्रह्म के साथ जगत के अभेद के प्रतिपादक "आरम्भण' आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि––परमकारण ब्रह्म से, यह जगत अभिन्न है। जिन वाक्यों में उक्त शब्दों का प्रयोग है वे इस प्रकार है–"विकारमात्र, वाक्यारब्ध नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है– "सृष्ठि के पूर्व यह सारा जगत् सत्स्वरूप था, तब परमात्मा ने एक से अनेक होने की कामना करके तेज की सृष्टि की—"उसने इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रवेश करके"–हे सौम्य ! ये सारे पदार्थ मूल से ही सत्, सत् में ही स्थित तथा सत् में ही विलीन हैं–"यह सब आतमस्वरूप हैं, वही एकमात्र सत्य आत्मा है, श्वेतकेतु ! तुम वही हो" इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकरणस्थ वाक्यों की एकता बतलाने के लिए ही सूत्र में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ये सारे वाक्य एक ही तत्त्व के बोधक हैं। ये सारे ही वाक्य चिदचिदात्मक जगत की, परब्रह्म से अनन्यता बतलाते हैं।

तथा हि–"स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातम् ।" इति कृत्नस्यजगतो ब्रह्मैककारणत्वं, कारणकार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूत ब्रह्म विज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणानजानता शिष्येण "कथं न्य भगव: स आदेश:" इत्यनुज्ञानेन अन्यज्ञातता संभवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिक प्रती-

ankurnagpal108@gmail.com

तिसिद्धं कारणात् कार्यस्यानन्यत्वं तावत् "यथा सौम्येकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दर्शयति । यथैकमृत्पिंडारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तं द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः ।

इसी प्रकार "वत्स ! तुम गर्व करते हो, तुमने इस विषय की कभी गुरु से जिज्ञासा की है ? जिसे जानकर, अश्रुत विषय श्रुत, अचिन्त्य विषय चिन्त्य एवं अविज्ञात विषय भी ज्ञात हो जाता है "इत्यादि श्रुत से, संपूर्ण जगत की ब्रह्मैक कारणता, कारण से कार्य की अभिन्नता समझाते हुए, गुरू ने, कारणस्वरुप ब्रह्म के ज्ञान से कार्य भूत जगत का ज्ञान होता है, इस तथ्य को बतलाया । एकमात्र ब्रह्म ही जगत का कारण है इस तथ्य को न जानने वाले शिष्य द्वारा पुनः "उस रूप का उपदेश भगवन् ! किस प्रकार का होगा ?" जिज्ञासा करने पर "हे सौम्य ! एक मिट्टी के ढेले से जैसे मिट्टी की निर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार" इत्यादि उत्तरसे गुरु ने एक विषय के ज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान होना असंभव है, ऐसी लोक व्यवहारानुगत प्रतीति सिद्ध कारण कार्य की अभिन्नता बतलाई । इसका तात्पर्य है कि—एक मिट्टी के पिण्ड से समुत्पन्न घट प्याले आदि उस मृत पिण्ड से अभिन्न माने जाते हैं । उस मिट्टी के ढेले की जानकारी से ही उक्त धारणा बनती है ।

अत्र काणाद वादेन कारणात् कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशंक्य लोक प्रतीत्यैव कारणात् कार्यस्यानन्यतामुपपादयति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम्" इति । आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते इत्यारम्भणं "कृत्यल्युटोबहुलम्" इति कर्मणिल्युट् । वाचा-वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । "घटेनोदकमाहर" इत्यादि वाक्यपूर्वको हि उदकाहरणादिव्यवहारः तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणोविकारः संस्थानविशेषः, तत्प्रयुक्तं च घटइत्यादिनामधेयम्, स्पृश्यते-उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्धयर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानांतरनामधेयांतरभागवति । अतोघटाद्यपि मृत्तिके-

ankurnagpal108@gmail.com

त्येव सत्यम् मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम् प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः न तु द्रव्यान्तरत्वेन। अतस्तस्यैवमृद्हिरण्यादे द्रव्यस्य संस्थानांतरभाक्त्व मात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्था भेदैः "बालोयुवास्थविरः" इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यंते।

इस विषय में कणाद मत में, कारण से कार्य भिन्न द्रव्य है ऐसी आशंका पूर्वक लोक प्रतीति के अनुसार ही कारण कार्य की अद्वैत प्रतीति होती है, इत्यादि प्रतिपादन किया गया है। "घट आदि विकार—कहने मात्र को भिन्न हैं, मिट्टी ही सत्य है" इत्यादि वाक्य में आरंभण शब्द का अर्थ है, आरंभ करने योग्य, आलंबन करने योग्य। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ कर्म में ल्युट प्रत्यय हुआ है "वाचा" का अर्थ है, वाक्यपूर्वक व्यवहार के अनुसार "घट से जल लाओ" इत्यादि शब्दोच्चारण द्वारा ही, जल लाना आदि व्यवहार पूरा होता है उस व्यव-हार के संपादन के लिए, मिट्टी के स्थूल गोलाकार, मिट्टी के विशिष्ट आकृति वाले "घट" नाम का स्पर्श करता है, अर्थात् जल आहरण रूप विशेष व्यवहार संपादन के उद्देश्य से, मिट्टी की अन्य प्रकार की आकृति का "घट" नाम पड़ा। वस्तुतः घट और मिट्टी एक ही हैं, मिट्टी ही उसका सत्य रूप है, अर्थात् घट आदि पात्र मिट्टी होने से सत्य हैं। जैसे कि–देव-दत्त नामक व्यक्ति अवस्था विशेष के अनुसार "बालक-युवा-वृद्ध" कह-लानाहै, ये भेद बुद्धि और शब्द व्यवहार के ही हैं, वास्तविक नहीं हैं वैसे ही एक ही मिट्टी के बनी विभिन्न आँकृतियाँ घट प्याला आदि नामों से समझी और पुकारी जाती हैं।

यदुक्तं सत्यामेव मृदि "घटो नष्टः" इति व्यवहारात् कारणाद् अन्यत्कार्यमिति, तदुत्पत्ति विनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्-थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम्। तत्तदवस्थस्यैकस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तम्। द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तस्यार्थवत्त्वम् अभिव्यक्तयनुबंधीनि चोद्यानि-

ankurnagpal108@gmail.com

तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि। उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यं-वादो न विरूध्यते, सत एवोत्पत्तेः। विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमे-वसत्, तदुत्पद्यते च इति। अज्ञातोत्पत्ति विनाश याथात्म्यस्येदंचोद्यम्, द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थान योगः पूर्वं पूर्वं संस्थान संस्थितस्य विनाशः स्वावस्थस्यतूत्पत्तिः। अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्वात्सत्कार्यंवादो न विरूध्यते।

जो यह कहा कि—मिट्टी के सत्य होते हुए भी "घट फूट गया" ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए कारण से कार्य भिन्न है। तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, वह शब्द व्यवहार मात्र ही है, उत्पत्ति विनाश आदि, कारण भूत द्रव्य की अवस्था के ही होते हैं। विशेष विशेष अवस्था को प्राप्त, एक ही द्रव्य, विशेष विशेष शब्द और कार्य भेद के रूप में प्रयुक्त होता है, द्रव्य की वे सारी विशेष अवस्थायें, कारक व्यापार के अधीन होती हैं। इसी से कर्त्ता के प्रयास की सार्थकता भी होती है। अभिव्यक्ति संबंधी प्रस्तुत दोषों का निराकरण,अभिव्यक्ति को अस्वीकार करने से ही हो जाता है। अभिव्यक्ति को स्वीकारने पर भी सत्कार्यवाद (कार्य कारण अनंतत्ववाद) विरुद्ध नहीं होता। क्योंकि-इस मत में सत् से ही उत्पत्ति मानते हैं। उत्पत्ति के पूर्व ही जब सत् था तब "वह उत्पन्न हुआ' ऐसा प्रयोग तो अपनी ही बात को काटने वाला है? जो लोग उत्पत्ति विनाश के रहस्य को नहीं जानते वे ही ऐसा दोषारोपण करते हैं। द्रव्य का जो उत्तरोत्तर नूतन आकृतियों के साथ संभव है, वही पूर्वतन आकृति संपन्न द्रव्य का विनाश है। अपनी स्वाभाविक वर्त्तमान स्थिति का नाम ही उत्पत्ति है, सभी अवस्थाओं में द्रव्य की सत्ता अव्याहत रहती है, इसलिए उक्त बात सत्कार्यवाद से विरूद्ध नहीं है।

संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यंवाद प्रसंग इति चेत्-असत्कार्यंवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्वे सत्कार्यंवाद प्रसंगः। उत्पत्ति-मत्वे च अनवस्था। अस्माकंत्ववस्थानां पृथक् प्रतिपत्तिकार्यंयोगान् अनर्हत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमितिनिरवद्यम्।

यदि कहो कि-अविद्यमान आकृति विशेष की उत्पत्ति स्वीकारने से तो असत् कार्यवाद संभव होगा। नहीं, असत् कार्यवादी कभी भी उत्पत्ति

ankurnagpal108@gmail.com

से उत्पत्ति नहीं मानते, यह सत्कार्यवाद का ही प्रसंग है, उत्पत्ति की उत्पत्ति मानने से तो अनवस्था हो जायेगी [अर्थात्-अद्वैतवादी कहते हैं कि-जो असत् है वह आकाश पुष्प की तरह सर्वथा मिथ्या है, उसकी कभी उत्पत्ति हुई है न हो सकती है, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व ही कारण वस्तु में कार्य की बीज रूप स्थिति माननी चाहिए। जो सूक्ष्मरूप से अनाभिव्यक्त था वही कर्त्ता-करण आदि की उपयुक्त चेष्टा से अभिव्यक्त होकर कार्य के आकार में प्रकाशित होता है, उसे ही उत्पत्ति कहते हैं, ऐसी उत्पत्ति से पुनः उत्पत्ति हो नहीं सकती इस अभिव्यक्ति का साधन ही, कर्त्ता के व्यापार की सार्थकता है। असत्कार्यवादी (द्वैतवादी) कहते हैं कि-उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं कर्ताओं की चेष्टासे अभिनव कार्योत्पत्ति होती है। प्रत्येक वस्तु में विशेष विशेष कार्योत्पादन की शक्ति निहित है, इसलिए हर कारण से हर कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसपर आपत्ति की जाती है कि-कार्य की तरह उत्पत्ति की भी उत्पत्ति हो सकती है या नहीं ? स्वीकार करने पर उस उत्पत्ति का क्रम प्रवाह सदा चलता रहेगा तो सृष्टि क्रम में अनवस्था होगी। इसलिए उत्पत्ति से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, परंतु अभिव्यक्ति के पूर्व उसका अस्तित्व स्वीकारना होगा। सत् से उत्पत्ति की अभिव्यक्ति मात्र मानकर प्रकारांतर से द्वैतवादी भी सत्कार्यवाद को स्वीकारते है] हम लोग (सत्कार्यवादी) तो अवस्थाओंकी पृथक्रूप से प्रतीति और कार्यव्यवहार की योग्यता स्वीकारते नहीं, इसलिए अवस्थित वस्तु की ही उत्पत्ति आदि स्वीकारते हैं, हमारा मत ही निर्दोष है।

कपालत्वचूर्णत्वपिंडत्वावस्था प्रहाणेन घटत्वावस्थादेकत्ववस्था प्रहाणेन बहुत्वावस्था तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिद् विरोधः।

घटोत्पत्ति की पूर्ववर्त्ती, कपालचूर्ण और पिंडरूप तीन अवस्थाओं के समाप्त हो जाने पर ही जैसे घटाकार अवस्था विशेष होती है वैसे ही उस घटाकार अवस्था को बिगाड़ कर उसे अनेक आकृत्तियों में परिवर्तित कर सकते हैं, और पुनः एकाकार अवस्था में किया जा सकता है। इसलिए हमारे मत में कोई विरुद्धता नहीं है।

तथा—"सदेवसोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम् "इति सदेवेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगत्,अग्रेनामरूपविभागा-

ankurnagpal108@gmail.com

भावेन एकमेवासोत्, सर्वशक्तित्वेन अधिष्ठात्रन्तरासहतया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवौपपादितम्। तथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय "इति स्रक्ष्यमाणतेज:प्रभृति विविध विचित्रस्थिरत्रसरूप जगत्वेनात्मनो बहुभवनं संकल्प्य जगत् सर्गाभिधानात् कार्यभूतस्यजगतः परमकारणात् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते।

जैसे कि— "हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था "इत्यादि श्रुति में, सत्स्वरूप होते भी, वत्तमान काल में नामरूप में विभक्त, अनेक आकारों वाला यह जगत्, सृष्टि के पूर्व नामरूप के भेदों से रहित एक ही सर्वशक्ति संपन्न था, इसलिए इसके परिचालन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं थी, वही एक अद्वितीय था, ऐसा अनन्यता का प्रतिपादन किया गया। तथा—"उसने संकल्प किया कि-अनेक होकर जन्म लूँ "इत्यादि सृष्टव्य तेज आदि विविध स्थावर जंगमाकार में, स्वयं को अनेक रूपों की अभिव्यक्ति के संकल्प और उसके अनुसार सृष्टि कार्य के, उपदेश से ज्ञात होता है कि-कार्य स्वरूप यह जगत्, परमात्मा से अभिन्न है।

सच्छब्दवांच्यस्य परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्यसत्यसंकल्पस्य निरवद्यस्यैव सदेवेदमिति निर्देशहिजगत्वम्,सच्छब्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूप विभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्षत्वम्, पुनरपि तस्यैव विचत्रस्थिर त्रसरूपजगत्वेन वहुभवन संकल्परूपेक्षणम्, यथा संकल्पं सर्गश्चकथमुपपद्यत इत्याशंक्याह—"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो-देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणीतितासां त्रिवृतं त्रिवृतम् "इत्यादि "तिस्रो देवताः "इति कृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मक जीवानुप्रवेशेनैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्युक्तम्। अनेन जीवेनात्मना—मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्-विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः। स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनु-प्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति। "यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्या सच्चत्यच्चाभवत्" इति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं

ankurnagpal108@gmail.com

जगत्परेण ब्रह्मणा आत्मतयाऽनुप्रविष्टम् इति तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद् वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्म शरीरत्वम्, परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वम्, अन्तर्यामिब्रह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्। अनेन पूर्वोक्ताशंका निरस्ता।

सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वदोष रहित, सत्पदार्थ परब्रह्म की ही "यह सत् स्वरूप ही था "इत्यादि निर्दिष्ट जगद् रूपता तथा सत् पदवाच्य उस जगत् की नामरूप विभाग रहित एकता, अन्यपरिचालक निरपेक्षता, पुनः उसी का विचित्र स्थावरजंगमात्मक जगदाकार रूप में बहुत होने का संकल्प तथा संकल्पानुसार सृष्टि इत्यादि कैसे संभव हैं? इत्यादि शंका पर ही कहा गया कि-"उस देवता ने विचार किया कि-मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके इन तीनों देवताओं को नामरूप से प्रकट करूँगा और उनको भी तीन तीन अर्थात् भूतयात्मक करूंगा "इसमें "तीनों देवों" इस पद से समस्त चिद्अचिद् वस्तु का निर्देश करके, स्वात्मक जीवानु प्रवेश से इसे विचित्रनाम रूपवाला करूँगा, तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" से, सत्स्वरूप जीवरूप आत्मा के अभ्यंतर में प्रवेश पूर्वक इस जगत को विचित्र नाम रूपवाला करूंगा; ऐसा वतलाया गया है। ऐसी ही दूसरी श्रुति "उसकी सृष्टि करके, उसी में प्रविष्ट हो गए, और प्रविष्ट होकर प्रत्यक्ष और परोक्ष हुए "इत्यादि में, स्पष्ट रूप से शरीर रूपी जगत में परब्रह्म का आत्मरूप से प्रवेश बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-कार्यावस्थ और कारणावस्थ, जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, सब कुछ परमात्मा का ही शरीर है, परब्रह्म की और इस जगत की ऐसी आत्मीयता, अंतर्यामी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है। इत्यादि से उक्त शंका निवृत्त हो गई।

अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवास्थिते नामरूपव्याकरण वचनात् चिदचिद् वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति "सदेवेदमग्रएकमेवासीत् "इत्यादि सर्वमुपन्नतरम् शरीभूतचिदचिद्वस्तुगताः सर्वे विकाराश्चापुरुषार्थाऽश्चेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितम्। तस्मादेतत्—"अधिकं तु भेदनिर्देशात् "इत्यनन्तरमेव वक्ष्यति।

ankurnagpal108@gmail.com

परमात्मा ने आत्मा रूप से स्थित होकर, जडचेतन वस्तुमय जगत को नाम रूप में अभिव्यक्त किया, इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि-जडचेतनवस्तुमय शरीर वाले ब्रह्म ही जगत् पदवाच्य हैं। "सृष्टि से पूर्व जगत् एक सत् स्वरूप ही था "इत्यादि से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। शरीर रूप जडचेतन वस्तुगत सारे विकाश और अपुरुषार्थ, परब्रह्म की निर्दोषता और कल्याणगुणाकरता को अव्यवस्थित नहीं कर पाते, इसी बात को-"अधिकं तु भेद निर्देदशात् "सूत्र में कहेंगे।

तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति। तदेव च "तत्त्वमसि" इति निगमयति तथा प्रकरणान्तरेषु अपि वाक्येषु—"सर्वं खल्विदंब्रह्म"—"आत्मनि -खल्वरे दृष्टे श्रुतेमते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"—"इदंसर्वं यदयमात्मा"-ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"आत्मैवेदं सर्वम्"इत्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते।"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" "नेहनानास्ति-किंचन अमृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति"इति तथा-"यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्? 'इत्यविदिषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयन् अनन्यत्वमेव तत्त्वमिति प्रतिपादयति। तदेवमारंभणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणाद् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते।

तथा—"यह सारा जगत् इस ब्रह्म का आत्मीय है" इस श्रुति में समस्त चिदअचिद् की ब्रह्मात्मकता का उपदेश दिया गया है "तुम वही हो"इस वाक्य में भी उसी को प्रकारान्तर से बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी-"यह सब कुछ ब्रह्म है-आत्मा के दृष्ट, श्रुत चिंतित हो जाने से ही सारे जगत का ज्ञान हो जाता है-यह जो कुछ है वह आत्मा ही है-यह सब कुछ ब्रह्म ही है-यह सब आत्मा ही है"इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म और जगत की अनन्यता और द्वैतका निषेध किया गया है। "जो लोग सब पदार्थों को आत्मा से भिन्न मानते है' 'सारे पदार्थों से वे वंचित रह जाते हैं"-इस जगत में कुछ भी भिन्न नहीं है, जो इसमें भिन्नता देखते हैं वे बार बार मरते रहते हैं"—जब तक द्वैतभाव रहता है तभी तक दूसरा

ankurnagpal108@gmail.com

दीखता है, जब सब कुछ आत्मरूप हो जाता है, तब किससे किसको देखा जा सकता है? "इत्यादि वाक्यों में अज्ञानियों के द्वैतभाव और ज्ञानियों के अद्वैतभाव का प्रतिपादन किया गया है। यथा अद्वैत को ही तत्त्व बतलाया गया है इसी प्रकार आरंभण शब्द आदि से—परमकारण पर ब्रह्म और जगत् का उपपादान किया गया है।

अत्रेदं तत्त्वं—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार ब्रह्मैवसर्वदा सर्वशब्दाभिधेयं, तत्कदाचित् स्वस्मात् शरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तत्करणावस्थं ब्रह्म, कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद् वस्तुशरीरम् तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदन्यत् शरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्चकारणावस्थायां-कार्यावस्थायांश्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया गुणदोषव्यवस्थया च "न तु दृष्टान्तभावात् "इत्यत्रोक्त।

उक्त कथन का तत्त्व यह है कि—जड़चेतन सभी वस्तु ब्रह्म का शरीर है, इसलिए तद्विशिष्ट ब्रह्म ही हर जगह "सर्व"शब्द से प्रतिपाद्य हैं। सर्व शब्दवाच्य वह ब्रह्म ही, कभी अपने ही' शरीर रूप, पृथक् न कहने योग्य, सूक्ष्मदशा को प्राप्त जड़चेतन शरीर वाला होकर कारणावस्थ ब्रह्म कहलाता है,और कभी बिभक्त नामरूपो में व्यवहार्य,स्थूल दशा के प्राप्त जड़चेतन वस्तु शरीर का होकर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है। इसलिए कारणभूत परब्रह्म से उसी का कार्यभूत यह जगत भिन्न नहीं है। जड़चेतन वस्तुमय शरीर के शरीरी ब्रह्म के, कारण कार्यरूप और अवस्थागत स्वभावभेद तथा गुण दोष विभाग व्यवस्था आदि, जो कि सैकड़ों श्रुतियों से सम्मत है, उन सबका विवेचन "न तु दृष्टान्ततभावात्" सूत्र में किया गया है।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयंति, न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः, तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वंवास्यात्।

ankurnagpal108@gmail.com

जो लोग (शांकर) कार्यरूप जगत को मिथ्या मानकर कार्यकारण की अनन्यता बतलाते हैं, वस्तुत: उसके अनुसार तो कार्य कारण अनन्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती, सत्य और मिथ्या की एकता संभव ही कैसे है? यदि उनकी एकता मानने का प्रयास करेंगे तो ब्रह्म में मिथ्यात्व तथा जगत् में सत्यता हो जावेगी।

ये च कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयंतएव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमनन्यत्वम्, स्वाभाविकंचानन्यत्वम्, अचिद् ब्रह्मणोऽस्तु द्वयमपि स्वाभाविकामिति वदंति, तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावान्निरवयवस्याखंडितस्य ब्रह्मण एवोपाधिसंबंधातब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामात् शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्मणो: कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणामवदिन्य: श्रुतयो व्याकुलीभवेयु:

और जो लोग (भास्कराचार्य आदि) कार्य की पारमार्थिकता स्वीकारते हुए भी, जीव ब्रह्म के भेद को औपाधिक तथा अभेद को स्वाभाविक कहते हैं, उनके मतानुसार, उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य के न होने से, अखंड निरवयव ब्रह्म के साथ, उपाधि संबंध कल्पित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म की ही हेय जगत के रूप में परिणिति होती है। ब्रह्म और शक्ति का परिणाम स्वीकारने पर भी, शक्ति और शक्तिमान ब्रह्म जब अनन्य हैं; तब जीव की कर्माधीनता, ब्रह्म की निष्पाप स्वभावता आदि व्यवस्था तथा अचेतन का परिणाम और चेतन का अपरिणाम बतलाने वाली श्रुतियाँ व्याकुल हो जावेंगी।

ये पुन: निरस्तनिखिल भोक्तृत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म, तच्च प्रलयवेलायां शांताशेष सुख दु:खानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुप्तात्मवदचिद्विलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां मृत्तिका द्रव्यमिव घटशरावादिरूपं, समुद्र इव च फेनतरंग बुद्बुदादिरूपो भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेणांशतयावस्थमवतिष्ठते, अतो भोक्तृभोग्यनियंतृत्वानि तत्प्रयुक्ताश्चगुणदोषा: शरावत्वघटत्व-

ankurnagpal108@gmail.com

मणिकत्ववत्तदमतकार्यभेदवच्चव्यवतिष्ठंते। भोक्तृभोग्यनियंतृणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते, अतः सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वावस्थावस्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठंते, तेषां सकलश्रुतिस्मृति इतिहासपुराणन्याय विरोधः, सर्वाहि-श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणाः सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं निरवद्यं देशकालानवच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परम-कारणं ब्रह्म प्रतिादयंति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशिसन्मात्रम्।

और जो लोग (श्री निवासादि) भोक्तृत्व आदि समस्त विकल्प बाधाओं से रहित, सर्वशक्तिसंपन्न, कारणीभूत शुद्ध सत् स्वभाव ब्रह्म को प्रलयकाल में सब प्रकार की सुखदुःखानुभूतियों से शून्य स्वप्रकाश बत-लाकर सुप्त आत्मा की तरह स्थित और अचेतन से पृथक बतलाते हैं तथा सृष्टि के समय मिट्टी जैसे घट प्याला आदि रूपों में तथा समुद्र जैसे फेन तरंग आदि रूपों में रहता है वैसे ही वह ब्रह्म, भोक्तृ भोग्य और नियंता रूप तीन अंशावस्थाओं में रहते हैं घट प्याला आदि विकृत पदार्थों की बिकृति की तरह, भोक्तता, भोग्यता और नियंतृता भी अपने गुणदोषों सहित कार्यभेद भी उनमें स्थित रहते हैं। घट प्याला आदि विकृत पदार्थ जैसे मृदात्मक हैं, वैसे ही भोक्ता, भोग्य और नियंता आदि भी सदात्मक होने से एक हैं, इस प्रकार एकमात्र द्रव्यरूपी सत् पदार्थ ही अनेक अवस्थाओं में अवस्थान करता है यही ब्रह्म और जगत की अनन्यता का रूप है, ऐसा बतलाते हैं। उनका यह मत संपूर्ण श्रुति स्मृति इतिहास पुराण आदि से विरुद्धमत है सारी श्रुतियाँ स्मृति इतिहास पुराणादि, सर्वेश्वर, सत् स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न सत्यसंकल्प, निरवद्य, देश काल आदि से अनवच्छिन्न, अतिशय आनंदमय परमकारण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते है, परमेश्वर के भिन्न अंश ईश्वर आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

तथाहि– सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"–तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"–ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् एकमेव तदेकं सन्नव्य भवतत्च्छ्रेयो रूपमत्यसृजतक्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणींद्रो वरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान् इति"–आत्मा वा इदमेक

ankurnagpal108@gmail.com

एकाग्रआसीत् नान्यत् किंचनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"– एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानोनेमे द्यावापृथ्वी न नक्षत्राणिनापोनाग्निर्नसोमो न सूर्यः, सएकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य" इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते।

तथा–"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् था" "उन्होने विचारा कि अनेक होकर प्रकटूँ"–यह जगत पहिले एक ब्रह्म स्वरूप ही था"–कार्य साधन में अपने को अकेला समझकर उन्होने श्रेय के साधन क्षत्रिय की रचना की, ये सारे देवता क्षत्रिय हैं जो कि–इन्द्र–वरुण–यम–रुद्र पर्जन्य–सोम और ईशान नाम से प्रसिद्ध हैं"–सृष्टि पूर्व जगत एक आत्म स्वरूप ही था, स्पन्दमान कुछ भी नहीं था, उन्होंने संकल्प किया कि लोक समूह की सृष्टि करूँगा"–एक नारायण ही थे,ब्रह्म, ईशान, द्यु पृथ्वी, नक्षत्र–जल-अग्नि-सोम सूर्य आदि कुछ न थे, वे एकाकी होने का अनुभव ही नहीं करते थे, वह उस समय समाधिस्थ थे "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर परम कारण नारायण हैं।

सद् ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थाः तत्तुल्यप्रकरणस्थेन नारायणशब्देन विशेषिताः तमेवावगमयंति। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" सकारणं कारणाधिपाधियो न चास्यकश्चिद् जनिता न चाधिपः" इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते। स्मृतिरपिमानवो" ततः स्वयंभूर्भगवान्" इति प्रकृत्य-"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अह एव ससर्जादौ तासुवीर्यमपासृजत् "इति। इतिहासपुराणान्यपि पुरुषोत्तमं एव परमकारणमभिदधति –"नारायणोजगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः, स सिसृक्षुः सहस्रांशाद् असृजत् पुरुषान् द्विधा, विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् "इत्यादिषु।

सत् ब्रह्म और आत्मा शब्द, एक से ही प्रकरणों में, नारायण शब्द के ही विशेषण के रूप में प्रयोग किये गए हैं। "वह ईश्वरों के भी परम

ankurnagpal108@gmail.com

महान ईश्वर तथा देवताओं के परमदेव हैं" वही परम कारण इंद्रियों के स्वामी, जीवों के भी स्वामी हैं, उनका कोई जनक नहीं है स्वामी „इत्यादि में भी ईश्वर की परमकारणता बतलाई गई है। तथा मनुस्मृति में भी-"वह स्वयंभूभगवान ''इत्यादि उपक्रम करते हुए "उन स्वयंभू ने प्रजासृष्टि की इच्छा से, सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, उसमें अपने वीर्य का निक्षेप किया" इसी प्रकार इतिहासपुराणों में भी पुरुषोत्तम को ही परमकारण बतलाया गया है—"अनन्तआत्मा, सनातन जगत मूर्त्ति नारायण ने जगतसृष्टि की इच्छा से अपने हजारवें हिस्से के एक हिस्से से द्विविध (स्थावरजंगम) जीवों की सृष्टि की "विष्णु से ही उत्पन्न यह जगत उन्हीं में स्थिर है। "इत्यादि,

न चेश्वर सन्मात्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात् सविशेषत्वाच्च। न च तस्य ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुंशक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादिभ्यः। ज्ञानानंदादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इतिमावोचः। "शक्तिः स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ् निर्देशात् लक्षणाप्रसंगाच्च।

वह ईस्वर एक मात्र सत्स्वरूप ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते उसकी अंशविभूतियाँ भी हैं और वह सगुण भी हैं। उनका जो ज्ञान आनंद आदि कल्याणमय गुणों से संबंध है वह भी कादाचित्क (कभी रहता है कभी नहीं रहता) है, ऐसा भी नहीं कह सकते, वे आनंद आदि तो उनके स्वाभाविक होने से सनातन गुण हैं। जैसा कि—"उसकी स्वभाविकी पराशक्ति ज्ञान बल क्रिया आदि विविध रूपों की सुनी जाती है "वह सर्वज्ञसर्वविद है ''इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। केवल ज्ञान और आनंद आदि शक्ति योग से ही उसमें स्वाभाविकी शक्ति हो सो बात नहीं है अपितु ज्ञान बल क्रिया आदि की पृथक रूप से स्वाभाविकता बतलाई गई है। यदि इससे भिन्न कुछ अर्थ करेंगे तो वह लक्षणा से ही कर सकेंगे।

न च पाचकादिवत् "सर्वज्ञः" इत्यादिषु शक्तिमात्रे कृत् प्रत्ययइतिवक्तुं शक्यम्, कृत् प्रत्ययमात्रस्यशक्तावस्मरणात्-

ankurnagpal108@gmail.com

"शक्तौ हस्तिकवाटयोः इत्यादिषु केषांचिदेवकृत्प्रत्ययानां शक्ति विषयत्वस्मरणात्। पाचकादिषुत्वगत्यालक्षणासभाश्रीयते।

यहाँ "पाचक" आदि शब्दों की तरह "सर्वज्ञ" इत्यादि शब्दों में केवल शक्तिमान अर्थ के द्योतन के लिए ही कृत् प्रत्यय किया गया हो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि–समस्त कृत् प्रत्यय शक्ति अर्थ में ही नहीं होता है। " हस्ति और कवाट शब्द के पूर्ववर्त्ती होने पर ही शक्ति अर्थ में हन् धातु के बाद ढक् प्रत्यय होता है" इस व्याकरणीय नियम के अनुसार प्रयोग विशेष में ही, कृत् प्रत्यय का, शक्ति विषयक प्रयोग बतलाया गया है। पाचक आदि शब्दों में तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है इसलिए लक्षणा का आश्रय लेकर अर्थ किया जाता है [पाचक का लक्षणा द्वारा "पाकानुकूल शक्ति संपन्न" अर्थ किया जाता है]

किं च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तंरगात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात् "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "इत्यादीनीश्वरविषयाणि परः शतानि वचांसि बाध्येरन्।"

यदि ईश्वर उस सत्त् का अंश विशेष है और वह उसके अंशी हैं तो अंश रूप तरंग से अंशीरूप समुद्र की तरह मानने पर "वह ईश्वरों के भी परमईश्वर हैं, उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है" इत्यादि सैकड़ों ईश्वरविषयक वाक्यों में बाधा उपस्थित होगी (अर्थात् ईश्वर को तो श्रेष्ठ कहा गया है, तुम उसे अंश बतलाकर सामान्य सिद्ध करते हो, श्री कृष्ण को ब्रह्म बतलाकर, नारायण ईश्वर को अंश बतलाते हो, यही श्रुति वाक्यों में बाधा है)

किं च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहन्येरन्। नहिमणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः। स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि त पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तूनीतिचेन्न,

ankurnagpal108@gmail.com

घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्व तदंशत्व प्रसंगात्।

यह कहते हो कि—एक मात्र सत्पदार्थ ही अपने समस्त अंशों में परिपूर्ण रहते हैं, उसके अंश ईश्वर में भी उसकी पूर्णता विद्यमान है इसलिए सारी वस्तुएं तदात्मक और तदंशभूत (ईश्वरात्मक और ईश्वरांश) कही गई हैं। ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा कहने से तो यह सिद्ध होता है कि–घट भी सत का अंश और ईश्वर भी सत का अंश दोनों एक से ही हैं; घट भी सदात्मक होने से परिपूर्ण है तथा ईश्वर भी सदात्मक है इसलिए दोनों अभिन्न हैं, तो यह समझना चाहिए कि ईश्वर घटात्मक भी है और घट का अंश भी है।

न च सन्मात्रस्य "घटोऽस्ति "पटोऽस्ति" इति वस्तुगततयाऽवगतस्यद्रव्यत्वंकारणत्वंवोपपद्यते। व्यवहारयोग्यता हिसत्वम्। विरोधि व्यवहार योग्यता तद् व्यवहार योग्यस्यासत्वम्। द्रव्यमेवसदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्त्व प्रसंगः। क्रियादिषु काशकुशावलंबनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरूपपादा। सदात्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसंधानात् सर्वगुणदोषसंकर प्रसंगश्च पूर्वमेवोक्तः अतोयथोक्त प्रकारमेवानन्यत्वम्।

सद् वस्तु की "घट है" पट है "ऐसी वस्तु धर्म संबंधी द्रव्यता और कारणता भी साध्य नहीं है। सत् का अर्थ होता है, जो वस्तु व्यवहार योग्य हो, जिसमें व्यवहार योग्यता का अभाव हो वही असत् है केवल द्रव्य को ही सत् मानने से उसके सारे कार्य असत् हो जावेंगे [अर्थात् बिना व्यवहार योग्य सद् वस्तु से उत्पन्न सारी वस्तुएं व्यवहार योग्यता के बिना असत् ही हैं] क्रिया आदि में यदि थोड़ा बहुत सत् का आश्रय स्वीकारें तो भी, सर्वत्र अद्वैत का प्रतिपादन करना संभव नहीं हो सकता सब पदार्थों को सत् स्वरूप से यदि अभिन्न मानेंगे तो, सर्वज्ञ संबंधी जो गुण दोष आदि स्वभावों की पर्यालोचना की जाती है, वह नहीं कर पावेंगे। जैसा हम पहिले अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं वही समीचीन है।

ankurnagpal108@gmail.com

अथोच्येत्–एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बाल-त्व युवत्वादिषु दृश्यंते, मृद्दारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपिदृश्यंते, तत्र मृद् घटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिवंधना एवेति कुतो निर्णीयते ? इति। तत्रोत्तरम्—

प्रश्न होता है कि–एक ही पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं के स्वीकारने पर जैसे बालत्व युवत्व आदि की प्रतीति और तद्‌बोधक शब्दों का प्रभेद देखा जाता है, वैसे ही मिट्टी लकड़ी सोना आदि द्रव्यों की पृथक् सत्ता भी देखी जाती है। पर मिट्टी, घट आदि कारण कार्यों में, शब्द और प्रतीति के अनुसार, किस प्रकार का अवस्था भेद माना जावेगा? इसी का उत्तर देते हैं –

भावे चोपलब्धेः।२।१।१६॥

कुण्डलादि कार्य सद्भावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः "इदं कुन्डलं हिरण्यम्" इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। न चैत्रं हिरण्यादिषु द्रव्यान्तरेषु मृदादय उपलभ्यंते। अतोबालयुवादिवत् कारणभूतमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते, द्रव्यान्तरवा-दिनऽप्यभुपेतेनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिषूपपन्नेष्वनुपलब्ध-द्रव्यान्तर कल्पनाऽनुपपत्तेश्च।

कुन्डल आदि कार्यो में, कारणभूत स्वर्ण की सत्ता रहती है, तभी "यह कुन्डल स्वर्ण का है" ऐसी प्रतीति होती है, ऐसी उपलब्धि में स्वर्ण को मिट्टीतो कहा नहीं जा सकता, अर्थात् एक द्रव्य में अन्य की उपलब्धि तो होती नहीं। इसी प्रकार, कारणभूत वस्तु बाल युवा आदि अवस्थांतरों को प्राप्त होकर भी, उनमें निहित रहता है। जो लोग, द्रब्यान्तरवाद मानते हैं उनके मत से शब्द और प्रतीति के प्रभेद मानने पर भी, अनुप-लब्ध अन्य द्रव्य की कल्पना तो की नहीं जा सकती (अर्थात् एक ही द्रव्य के अवस्थांतर रूप में दूसरे किसी द्रव्य की प्रतीति तो हो नहीं सकती)

न च जाति निवंधनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याश्रयभूतद्रव्यांतरानुप-लब्धेः। एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्थं दृश्यते। न

ankurnagpal108@gmail.com

च द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्या कार्ये प्रतिसंधानमिति वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे सत्याश्रयानुवृत्तिमात्रेण तदाश्रित द्रव्यांतरे प्रतिसंधानानुपपत्तेः। गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादि प्रतिसंधा-नं न दृश्यत इतिचेन्न, तत्राप्याद्य कारणभूतपृथ्वीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानात्। अग्निकार्येधूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यत इति चेत्, भवतु न तत्र प्रत्यभिज्ञानं, तथापि न दोषः अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वात्। अग्नि-संयुक्तार्देन्धनकार्यमेव धूमः। अतः कार्यभावे च तदेवेदमित्युपलब्धे-र्बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्र निबंधनाः, इत्यवगम्यते। तस्माद् कारणादन्यत्कार्यम्।

द्रव्य की जाति संबंधी प्रतीति से, उस जाति से आश्रित किसी अन्य द्रव्य की उपलब्धि भी नहीं हो सकती (अर्थात् सुवर्ण में सुवर्ण की ही प्रतीति हो सकती है मिट्टी की नहीं) एक ही सुवर्ण जातीय द्रव्य में कार्य-कारण रूप दो अवस्थायें देखी जाती हैं, एक जाति कारण हो, दूसरी जाति कार्य हो, ऐसा तो देखने में आता नहीं। भिन्न द्रव्यों का समवायि कारण एक है इसलिए कार्य का संधान एक सा ही हो, ऐसा कोई निश्चित नहीं है। यदि वस्तुतः ही द्रव्यभेद हो तो, आश्रयभूत समवायि कारण की प्रवृत्ति से पृथक् तदाश्रित द्रव्य में अभेद प्रतीति हो नही सकती यदि कहें कि-गोबर से होने वाले कीड़ों में, गोबर के रूप की प्रतीति नहीं होती तो भाई! गोबर की भी कारण पृथ्वी के रूप की प्रतीति तो होती है [हैं तो वे पार्थिव ही] यदि कहें कि—अग्नि के कार्य धुएं में तो अग्नि की प्रतीति होती नहीं? ठीक है न हो उसमें दोष ही क्या है, अग्नि तो निमित्त कारण मात्र ही है, धुआं तो गीली लकड़ी की अग्नि से होता है, उसमें उसीकी गंध भी आती है। इससे निश्चित होता है कि—कार्यरूप में "उसी उपादान का यह कार्य है" ऐसी निश्चित प्रतीति, बुद्धि और शब्द भेद से अवस्थांतर में ही होती है, द्रव्यांतर में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि—कारण से कार्य अभिन्न है।

इतश्च—इसलिए भी कारण से कार्य अभिन्न है कि—

ankurnagpal108@gmail.com

सत्वाच्चापरस्य ।२।१।१७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्वाच्च कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम् । लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते, यथालोके "सर्वमिदं-घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृत्तिकैवासीत्" इति । वेदे च – "सदेव सोम्येदमग्रआसीत् ।"

कार्य में कारण की सत्ता रहती है, इसलिए कारण और कार्य की अनन्यता निश्चित है, लोक और वेद में कार्य को ही कारण रूप से निर्देश किया गया है—जैसे कि लोक में कहा जाता है कि –"ये घड़े प्याले आदि सब सबेरे मिट्टी ही तो थे" तथा वेद में जैसे—"सृष्टि के पूर्व ये सारे पदार्थ सत् ही तो थे ।" इत्यादि ।

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तरेण वाक्याशेषाद्युक्तेः शब्दांतराच्च । ।२।१।१८

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत, इति, तदयुक्तम्, असद् व्यपदेशात् "असदेवेदमग्रआसीत्" "असद् वा इद-मग्र आसीत्""इदं वा अग्रेनैवकिंचनासीत्" इति–लोके च "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णेनासीत्"इति। अतो यथोक्तंनोपपद्यत इति चेत् तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशात् । स खल्वसद्व्यपदेशस्तस्यैव कार्य-द्रव्यस्य पूर्वकालेनधर्मान्तरेण–संस्थानांतरेण, न भवदभिप्रेतेनतुच्छ त्वेन । सत्त्वासत्त्वेहि द्रव्यधर्मावित्युक्तम् । तत्रसत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमस त्वम् । इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतः सत्त्वधर्मो नामरूपे, असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् ।

जो यह कहा कि—कारण में कार्य की स्थिति लोक और वेद से ज्ञात होती है, यह बात असंगत है, आपके कथन के विपरीत असत् का ही उल्लेख मिलता है–जैसे कि–"यह सब कुछ सृष्टि के पूर्व नहीं था" यह सब पहिले असत् ही था "सृष्टि के पूर्व यह जगत कुछ नहीं था" इत्यादि वेद

ankurnagpal108@gmail.com

में तथा लोक में जैसे—"ये सब घड़े प्याले आदि सबेरे कुछ नहीं थे" इत्यादि। इसलिए उक्त कारण में कार्यस्थिति की बात असंगत है यह कहना उपयुक्त नहीं है, असद् का जो उल्लेख किया गया है वह वस्तु के धर्मान्तरीय रूप का ही द्योतक है, वास्तविकता का नहीं। अर्थात् जिसका असत् रूप से उल्लेख है वह उसी कार्य द्रव्य की पूर्वकालीन स्वरूपांतर अवस्था का उल्लेख है, आपकी अभिप्रेत उच्छिन्न (अस्तित्वहीन) अवस्था का नहीं। सत्व और असत्व ये दो द्रव्य के धर्म हैं। सत्व धर्म से विपरीत दूसरा धर्म असत्व है। "इदं शब्द से निर्दिष्ट जगत का, सत्त्व धर्म, नाम और रूप में है तथा असत्त्व धर्म उन दोनों की ही विपरीत सूक्ष्म अवस्था में है। इससे स्पष्ट है कि—जगत की नाम रूप युक्त स्थिति से विपरीत सूक्ष्म दशा ही असत्त्व है।

कथमिदमवगम्यते ? वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च। वाक्य-शेषस्तावत्—"इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" इत्यत्र "तदसदेव सन्मनोऽकुरूत स्यामिति" इति अनेन वाक्यशेषगतेन मनस्कारलिंगेन असच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते तदैकार्थ्यात् "असदेवेदम्" इत्यादिष्वपि असच्छब्दस्यायमेवार्थ इति निश्चीयते। युक्तेश्चासत्त्वस्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते, युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्मावगमयति। मृद्द्रव्यस्य पृथुवुध्नोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहार हेतुः, तस्यैवतद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहार हेतुः, तत्रकपालाद्यवस्थास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः। न च तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते, न च कल्प्यते तावतैवाभावव्यवहारोपपत्तेः। तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्तरयोग एवावगम्यते। शब्दान्तरंच पूर्वोदाहृतम् "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिकम्। तत्र हि "कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यात् "इति तुच्छत्वमाक्षिप्य "सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति स्थापितम् "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतं आसीत्तन्नामरूपाभ्यांव्याक्रियत" इति सुष्पष्टमुक्तम्।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि—उक्त निष्कर्ष किस आधार पर निकाला? तो सुनिये—युक्ति और शब्दांतर प्रयोग तथा वाक्य के अंतिम वर्णन से। अंतिमवर्णन जैसे–"सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ नहीं था" कहने के बाद ही "आत्मसर्जन की इच्छा से उस असत् ने मन की सृष्टि की" इत्यादि में मन की सृष्टि का वर्णन किया गया है, जिससे निश्चित होता है कि—असत्-शब्द तुच्छ के अतिरिक्त, कुछ विशेष अर्थ का बोधक है नाम रूपात्मक जगत् और उसकी सूक्ष्मावस्था की एकार्थता को बतलाने के लिए ही "यह सब असत् ही था" ऐसा कहा गया। इस वाक्य में प्रयुक्त "असत्" शब्द का, उक्त विशेष अर्थ ही, निश्चित होता है। युक्ति जैसे–"असत्" शब्द धर्मान्तरत्त्व का द्योतक है, युक्ति से ही, सत्त्व और असत्व इन दो धर्मों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि—मिट्टी रूपी द्रव्य की स्थूल गोलाकार आकृति ही घट कहलाती है, उस आकृति के नष्ट हो जाने पर "घट नहीं है" ऐसा प्रयोग किया जाता है, या घट निर्माण के पूर्व की जो, दो कपालों के रूप में आकृति होती है वह "घट नहीं है" इस विपरीत अवस्था की परिचायक होती है। इस प्रकार की विपरीत अवस्था को घटाभाव नहीं कहा जाता और न उसका नाम घटाभाव ही पड़ जाता है; उसकी स्थिति ही उसके अभाव का द्योतन करती है। शब्दांतर प्रयोग जैसे–"हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व सत् ही था", इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में धर्मान्तर के द्योतक–असत् के स्थान पर सत् शब्द का प्रयोग किया गया है। उस प्रसंग में–'हे सौम्य! ऐसा कैसे संभव?" ऐसी शंका करते हुए–"हे सौम्य! यह प्रपंचमय जगत पहिले सत् ही था" ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया गया है। "सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, वही नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ" ऐसा सुस्पष्ट उल्लेख है।

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां दर्शयति।

अब आगे के दो सूत्रों से कार्यकरण की अनन्यता के दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं

पटवच्च ।२।१।१९॥

यथा तन्तव एव व्यक्तिषंगविशेष भाजः पट इति नाम रूप कार्यान्तरादिकं भजन्ते, तद्वद् ब्रह्मापि।

जैसे कि—सूतों की विशेष बुनावट को वस्त्र कहा और माना जाता है वैसे ही ब्रह्म भी, विशिष्ट नामरूप वाले होकर जगत् कहलाते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०॥—

यथा च वायु रेक एव शरीरे वृत्ति विशेषं भजमानः प्राणापानादिनाम् रूपकार्यान्तराणिभजते, तद् वद् ब्रह्मै कमेव विचित्रस्थिरत्रस्वरूपं जगद् भवतीति परम कारणात्परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगतः सिद्धम् ।

जैसे कि—एक ही वायु, शरीर में विशेष वृत्ति का आश्रय लेकर प्राण अपान, उदान, व्यान, समान आदि नाम और रूपवाला होकर कई प्रकार से व्यवहृत होता है, वैसे ही, एक ही ब्रह्म, स्थावर और जंगमात्मक विचित्र जगदाकार को प्राप्त होता है। इससे परमकारण परब्रह्म से, जगत की अभिन्नता सिद्ध होती है।

७ इतरव्यपदेशाधिकरणः—

इतरव्यपदेशाद् हिताकारणादिदोष प्रसक्तिः ।२।१।२१॥—

जगतो ब्रह्मान्यत्वं प्रतिपादयद्भिः "तत्त्वमसि "अयमात्माब्रह्म" इत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वंव्यपदिश्यत इत्युक्तम्, तत्रेदंचोद्यते, यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्रह्मणः सार्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वादियुक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमहितरूपजगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन् । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानंतदुःखाकरं चेदं जगत्, न चेदृशेस्वानर्थे स्वाधीनोबुद्धिमान् प्रवर्त्तते । जीवाद् ब्रह्मणो भेदवादिन्यःश्रुतयोः जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदतात्वमैवपरित्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः ।

जगत और ब्रह्म की अनन्यता के प्रतिपादक" तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म "इत्यादि वाक्यों से जीव की ब्रह्म से अनन्यता बतलाई गई है। इस कथन पर आपत्ति करते हैं कि—उक्त श्रुति में यदि जीव से भिन्न ब्रह्म, की अनन्यता अभिहित है तो, सत्य संकल्पता सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त परब्रह्म में, अपने हित के लिए, जगत की रचना करना तथा अहित होने पर न करना इत्यादि दोष लागू हो जावेंगे। यह जगत् आध्या-

ankurnagpal108@gmail.com

त्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों का आकर है, ऐसे दुःखपूर्ण जगत को कोई भी बुद्धिमान स्वतंत्र अपने लिये नहीं रचेगा। जीव और ब्रह्म की अनन्यता बतलाने के लिए, जीव ब्रह्म के भेद की प्रतिपादिका श्रुतियों को तुम छोड़ देते हो तभी तुम अनन्यता की सिद्धि कर पाते हो अन्यथा, भेद के रहते अभेद की सिद्धि हो नहीं सकती।

औपाधिक भेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्च अभेद श्रुतयइतिचेत्–तत्रेदंवक्तव्यम्–स्वभावतः स्वस्माद्भिन्नं जीवं किमनुपहितम् जगत्कारणं ब्रह्मजानाति वा, न वा? न जानातिचेत्–सर्वज्ञत्व हानिः। जानाति चेत्– स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुःखंस्वदुःखमिति जानतो ब्रह्मणो हिताकरणाहितकरणादिदोष-प्रसक्तिरनिवार्या।

यदि कहो कि—श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के, औपाधिक भेद तथा स्वाभाविक अभेद, का प्रतिपादन करती हैं। इस पर कथन यह है कि–जगत का कारण, अनुपहित (उपाधिसंबंध रहित निर्विशेष) ब्रह्म, स्वभाव से अभिन्न जीव को जानता है या नहीं? यदि नहीं जानता तो उसकी सर्वज्ञता समाप्त होती है। यदि जानता है, तो वह अपने से अभिन्न जीव के दुःखों को अपना ही दुःख मानता है, तब तो, ब्रह्म की, हित करण और अहित प्रकरण आदि दोषों से, मुक्ति कदापि संभव नहीं है (अर्थात् वह सुख की ही सृष्टि करेगा दुःख की नहीं)

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतोभेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरितिचेत् तत्रापि जीवाज्ञानपक्षे पुर्वोक्तोविकल्पः तत्फलं च तदवस्थम्। ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्यब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न संभवति। अज्ञानेन प्रकाशः तिरोहितश्चेत्–तिरोधानस्य प्रकाश निवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात् स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोष सहस्रं प्रागेवोदीरितम्। अतइदमसंगतम् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहो कि–भेद समर्थिका श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के अज्ञानकृत भेद का प्रतिपादन करती हैं। तब, जीव के अज्ञानपक्ष में, पूर्वोक्त दोषा–नुसंगादि विकल्प के फलस्वरूप होने वाली अनवस्था होती है तथा ब्रह्म के अज्ञान पक्ष में–स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म का, अज्ञान का साक्षी होना और उससे संवद्ध जगत् की रचना करना असंभव है। यदि कहें कि–अज्ञान से (ब्रह्म का) प्रकाश तिरोहित हो जाता है; प्रकाश निवृत्ति करना ही तो, तिरोधान का कार्य है, प्रकाश ही परब्रह्म का स्वरूप है, प्रकाश का तिरोधान मानने का अर्थ होता है, ब्रह्म का स्वरूपनाश; ऐसे ही हजारों दोष उपस्थित होंगे, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। इसलिए ब्रह्म की जगत् कारणता असंगत है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते–सिद्धान्तः

उक्त संशय पर—सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकन्तु भेद निर्देशात् ।२।१।२२।।—

तु शब्दः पक्षंव्यावर्त्तयति, आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगात्मनः अधिकं अर्थान्तरभूतं ब्रह्म। कुतः भेदनिर्देशात्–प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्व-मेति। "स कारणं करणाधिपाधिपः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः "अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्योमायया सन्निरुद्धः "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः "नित्यो नित्यानांचेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" "योऽव्य-क्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एषसर्वभूतांतरात्माऽप-हतपाप्मादिव्योदेवएकोनारयणः "इत्यादिभिः।

ankurnagpal108@gmail.com

सूत्रस्थ तु शब्द उपर्युक्त पक्ष का निराकरण करता है, आध्यात्मिक आदि दुःखों के योग्य जीव की अपेक्षा, ब्रह्म श्रेष्ठ होने से, भिन्न है, ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है। ब्रह्म और जीव की भिन्नता, निम्नांकित श्रुतियों से स्पष्ट होती है "जो आत्मा में स्थित होकर भी उससे भिन्न हैं, आत्मा जिन्हें नहीं जानता, जो आत्मा के शरीरी हैं और अन्तर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते हैं, वे आत्मान्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं।" जीव अपने से पृथक् परमात्मा का चिंतन, प्रेरक रूप से करके उनकी प्रीति प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" वह इन्द्रियों के कारण जीव के भी, स्वामी हैं" उन दोनों में एक फल का आस्वाद करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है "वे दोनों अज, अज्ञ—प्राज्ञ, ईश्वर—अनीश्वर हैं" प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर "प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" मायी ब्रह्म, माया के सहयोग से इस जगत की सृष्टि करते हैं, दूसरा जीव, इस जगत में माया से बंधा रहता है "वे परमात्मा, प्रधान प्रकृति और क्षेत्रज्ञ जीवों के, स्वामी और गुणेश हैं" "जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, एक होकर अनेक कार्यो का संचालन करते हैं" जो अव्यक्त अक्षर में संचरित हैं, अक्षर जिनका शरीर है, वह उन्हें नहीं जानता। जो मृत्यु में संचरित है, मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु उन्हें नहीं जानता, ऐसे सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, दिव्य देव, एक नारायण ही हैं" इत्यादि।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।२।१।२३॥

अश्मकाष्ठलोष्ठतृणादीनामत्यंतहेयानां सततविकारास्पदानामचिदविशेषाणां निरवद्यनिर्विकारनिखिलहेय प्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतर समस्त वस्तुविलक्षणानन्त ज्ञानानंदैक स्वरुपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्म स्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य द्यतोतकल्पस्य अपहतपाप्मा "इत्यादि वाक्यावगत सकलहेय प्रत्यनीक अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुणाकर ब्रह्म भावानुपपत्तिः।

जैसे कि—पत्थर, लकड़ी, मिट्टी और तृण आदि अत्यंत तुच्छ, सदा विकारशील अचेतन पदार्थों से, विशिष्ट, निर्दोष, निर्विकार समस्त वस्तुओं

ankurnagpal108@gmail.com

से विलक्षण, कल्याण तत्पर, अनंतज्ञानानंदमय अनंत महाविभूतियों से परिपूर्ण, पर ब्रह्म का ऐक्य कभी संभव नहीं हैं; वैसे ही—अनंत दुःख भोगने वाले, जुगनू से टिमटिमाते चेतन (जीव) से—"अपहतपाप्मा" इत्यादि विशेषताओं वाले, तुच्छ पदार्थों से विपरीत, निरवधि असंख्य कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म परमात्मा की, कभी एकता संभव नहीं है।

सामानाधिकरण्यनिर्देशः "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वाद् ब्रह्मणो जीव शरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकार ब्रह्म प्रतिपादन परश्चैतदविरोधी, प्रत्युतैतस्यार्थस्योपपादकश्चेति "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादिभिरसकृदुपपादितम्।

"आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीरी होने के कारण ब्रह्म जीव में निवास करते हैं। इस सामान्य वर्णन से जीव ब्रह्म की अभिन्नता निश्चित होती है। इससे किसी भी प्रकार की शंका का स्थान नहीं रह जाता, अपितु वक्तव्य की पुष्टि होती है। "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादि सूत्रों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

अतः सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद् वस्तु शरीरमिति सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मकारणं, तदेव ब्रह्म स्थूल चिदचिद् वस्तुशरीरम् जगदाख्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्योपपत्तिः, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्, ब्रह्मणोऽनन्यत्वम्, अचिद्वस्तुनो जीवस्य च ब्रह्मणश्च परिणामित्व दुःखित्वकल्याणगुणाकरत्व स्वभावासंकरः सर्वश्रुत्यविरोधश्च भवति।

इससे ज्ञात होता है कि—जड़चेतन वस्तु शरीरी ब्रह्म ही विविध अवस्थाओं में स्थित हैं। सूक्ष्म जड़चेतन शरीरी ब्रह्म कारण स्वरूप हैं तथा वे ही स्थूलजड़चेतन शरीरी होकर जगत नाम से, कार्य रूप होते हैं. इस प्रकार जगत और ब्रह्म की परिणामता, दुःखपूर्णता, कल्याण गुणाकरता आदि परस्पर विरोधी गुण दोषों का, जो कि शास्त्रों में वर्णित है, सामंजस्य हो जाता है।

ankurnagpal108@gmail.com

"सदेव सोम्येदमेकमेवासीत्" इत्यविभागावस्थायां अपि अचिद् युक्त जीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानं अवश्याभ्युपगंतव्यम् 'वैषम्यनैघृ ण्ये न सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च "इति सूत्र द्वयोदितत्वात्तदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्तु नामरूपविभागाभावादुपपद्यते। अतो ब्रह्मकारणत्वं संभवत्येव।

"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एकमात्र सत् ही था" इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि-अव्यक्त प्रलयावस्था में भी ब्रह्म का शरीर स्थानीय अचित युक्त जीव, सूक्ष्म रुप से उसमें स्थित रहता है "वैषम्य-नैघृ ण्ये" न कर्माविभागादिति" इत्यादि दो सूत्रों में, अव्यक्त अवस्था में, जीव की सूक्ष्मरुप से स्थिति बतलाई गई है। इस प्रकार के नामरुप के अभाव से, जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है, और ब्रह्म की कारणता भी निश्चित हो जाती है।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येमं भेदंवर्णयन्ति तेषामिदं सर्वमसंगतं स्यात्। न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वनियंतृत्वमित्यादीनिसंति। अनेनैवरूपेण हि आभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते। तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात्। न चाविद्या परिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिका रजतादिभेदवत् परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेण "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" इत्यादिषु प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रकान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणस्य वेदांत वेद्यत्वं, तस्य च स्मृतिन्यायविरोध परिहारश्च क्रियते। "अपीतौ तद्वत प्रसंगादसमंजसम्" न तु दृष्टांत भावात्" इति सूत्रद्वयमेवदधिकरणसिद्धमनुवदति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभाव संभव एवाधिकरणार्थः। "असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इति च पूर्वाधिकरणस्थ मनु वदति।

ankurnagpal108@gmail.com

जो लोग जीव की अविद्यारहित अवस्था को लक्ष्य करके, जीव ब्रह्म का भेद बतलाते हैं, उनके अनुसार उक्त सारी व्यवस्था असंगत हो जाती है। जीव की उस अविद्या रहित अवस्था में, कभी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, समस्त कारणता, सर्वात्मकता, सर्वनियामकता आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार का भेद ऊपर बतला चुके हैं, वही शास्त्रो का प्रतिपाद्य है। यह जगत मिथ्या है, यह परिकल्पना अविद्या जन्य है। अविद्या परिकल्पित शुक्ति रजत के भेद की तरह, जीव जगत और ब्रह्म का भेद "अधिकस्तु भेद निर्देशात्" सूत्र में स्वीकार्य हो, सो बात नहीं है, अपितु ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्त्तब्य मानते हुए, जिज्ञास्य रुप से उपक्रांत जगत के कारण ब्रह्म को ही वेदांत वेद्य बतलाकर सूत्रकार उनसे संवद्ध स्मृति शास्त्रीय और युक्ति पूर्ण विरोधों का परिहार मात्र करते हैं। "अपीतौ तद्वत्" एवं "न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों में इस अधिकरण का अनुवाद मात्र करते हैं। वहाँ पर भी दोनों विलक्षण वस्तुओं का कार्यकारणभाव से प्रतिपादन करना ही अधिकरण का उद्देश्य है। "असद्दिति चेत्" इायदि सूत्र भी, पूर्व अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय का अनुवादक मात्र है।

८ उपसंहारदर्शनाधिकरण:—

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्द्धि।२।१।२४॥

परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य स्थूलसूक्ष्मावस्थ सर्वचेतनाचेतनवस्तु शरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतर बिलक्षणत्वं चाविरूद्धमिति स्थापितम्। इदानीं सत्यसंकल्पस्य परस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रेणविचित्र जगत् सृष्टि योगो न विरूद्ध इति स्थाप्यते।

अब तक सर्वज्ञ सत्य संकल्प, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, समस्त जड़ चेतन शरीर वाले, समस्त पदार्थो से विशिष्ट सर्वात्मा, अन्य सभी से विलक्षण, अविरूद्ध परब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। अब सर्वज्ञ, सत्य-संकल्प परब्रह्म की, संकल्पमात्र से विचित्र जगत की सृष्टि कार्यता भी विरुद्ध नहीं है, इस मत की स्थापना करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च परिमित शक्तीनां कारककलापोपसंहार सापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः कारककलापानुपसंहारेण जगद्कारणत्व विरोधः कथमाशंक्यते ?

प्रश्न होता है कि–परिमित शक्ति वाले लोगों का कार्य, अनेकों कारकों से अपेक्षित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म को भी, कार्य में अनेक कारकों का साहाय्य अपेक्षित होगा, उनके बिना उस सर्वशक्तिमान के लिए, जगत का कार्य करना असंभव है, ऐसी आशंका क्यों की जाती है?

उच्यते—लोके तत्कार्य जननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्व दर्शनात्— सर्वशक्ति युक्तस्य परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्रष्ट्रत्वंनोपपद्यत इति कस्यचिन्मदधियः शंका जायत इति सा निराक्रियते घटपटादिकारणभूतानां कुलालकुविन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि कानिचिदुपकरणान्युपसंह्लत्यैव जनयितृत्वं दृश्यते। तज्जननाशक्ताः कारककलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति, शक्ताः पुनः कारक कलापोषसंहारे जनयंतीत्येतावानेव विशेषः। ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामुपसंहारे नोपपद्यते। प्राक्सृष्टेश्च असहायत्वं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" एको ह्लवैनारायण आसीत्"इत्यादिषु प्रतीयते। अतः स्रष्ट्रत्वं नोपपद्यत इत्येवंप्राप्तं, तदिदमाशंकते उपसंहार दर्शनान्नेति चेत् इति।

उक्त शंका पर कहते हैं कि–लोक में विशेष विशेष कार्य शक्ति होते हुए भी, उन उन कार्यो से संबद्ध उपकरणों की अपेक्षा देखी जाती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान परब्रह्म, सृष्टि संबंधी उपकरणों के बिना सृष्टि करने में असमर्थ हैं, ऐसी किसी मंदबुद्धि को ही आशंका होती है। उनका कथन है कि–घट पट आदि कार्यों के कर्त्ता कुम्हार और जुलाहा आदि में उनके बनाने की सामर्थ्य के होते हुए भी, कार्य की पूर्ति के लिये कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है जो इन कार्यों को नहीं जानते, उनके

ankurnagpal108@gmail.com

समक्ष यदि सारे साधन एकत्र भी हो तो भी उनमें इन कार्यों को करने की सामर्थ्य नहीं हैं' वे नहीं कर सकते। जो कर सकते हैं वे साधनों के एकत्र होने मात्र से कार्य करते हैं, यही उनकी विशेषता है। ब्रह्म सर्व-शक्ति और सर्वकार्य कुशल होते हुए भी साधनों के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकते। सृष्टि के पूर्व उनकी असमर्थता—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत सत् ही था" एकमात्र नारायण ही थे "इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होती है। इसलिए उनसे सृष्टि होना असंभव है, यही बात "उप-संहार दर्शनान्नेति चेत्" में कही गई है।

सिद्धान्तः—परिहरति—न क्षीरवद् हि इति। न सर्वेषां कार्यंज-ननशक्तानामुपसंहारसापेक्षत्वमस्ति, यथाक्षीरजलादेर्दधिहिमजन-नशक्तस्य तज्जनने, एवं ब्रह्मणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वमुपपद्यते। होति प्रसिद्धवन्निर्देशश्चोद्यस्य मंदताख्यापनाय। क्षीरादिष्वातंचनाद्यपेक्षा न दध्यादिभावाय, अपिशैघ्रयार्थं रस विशेषार्थं वा।

उक्त शंका के परिहार में सूत्रकार सिद्धांत रूप से "क्षीरवद् हि" कहते हैं—वे कहते हैं कि—सर्व कार्य समर्थ परमात्मा को साधन संग्रहों की अपेक्षा नहीं होती। जैसे कि—दही और बर्फ आदि के कारण दूध और जल को, उक्त कार्यों के रुप में परिणत होने में, किन्हीं साधनों की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही—परमात्मा में, जगत रुप से परिणत होने की पूर्ण सामर्थ्य है, उनसे सृष्टि संभव है। उक्त सिद्धांत की प्रसिद्धि और आशंका की हीनता का द्योतक सूत्रस्थ "हि शब्द है। दूध को जमाने के लिए जो आतंचन (फिटकरी आदि दामन) का प्रयोग किया जाता है वह, शीघ्रता या स्वाद विशेष के लिए होता है, जमाने के लिए नहीं होता।

देवादिवदपि लोके ।२।१।२५॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके संकल्प मात्रेण स्वापेक्षितानि सृजंति, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्प मात्रेण सृजति। देवादीनां वेदावगतशक्तीनां दृष्टांततयोपादानम्, ब्रह्मणो वेदावगतशक्तेः सुखग्रहणायेति प्रतिपत्तव्यम्।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि-देवगण, अपने अपने लोकों में अपनी अपेक्षित वस्तुओं की संकल्पमात्र से सृष्टि कर लेते हैं वैसे ही यह पुरुषोत्तम भी संपूर्ण जगत की सृष्टि संकल्पमात्र से करते हैं देवों की ऐसी शक्ति महिमा वेदों में प्रख्यात है, इसका दृष्टान्त इसलिए प्रस्तुत किया गया कि-परब्रह्म की वेदोक्त महिमा को सुखपूर्वक जाना जा सके।

६ कृत्स्न प्रसक्त्याधिकरणः—

कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपो वा २।१।२६॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु कारणावस्थायां निरस्त्र चिदचिद् विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम्, तदविभागमेकं निरवयवमेव ब्रह्म "बहुस्याम् "इति संकल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ विभागं चाभवदिति चोक्तम्, एवं सति तदेव परं ब्रह्म कृत्स्नं कार्यत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगंतव्यम्। अथ चिदंशः क्षेत्रज्ञविभागविभक्तः, अचिदंशश्चाकाशादि विभाग विभक्तः, इत्युच्यते, तदा "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् "ब्रह्मैकमेव-आत्मैक एव" इत्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्ववादिनः शब्दाः कुप्येयुः बाधिता भवेयुः।

"हे सोम्य! सृष्टि के प्रथम, यह जगत् सत् स्वरूप ही था" "उस समय यह सब कुछ नहीं था" यह सब सृष्टि के पूर्व आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में, बतलाया गया है कि-सृष्टि से पूर्व जडचेतन का विभाग न होने से एकमात्र, निराकार कारणावस्थ ब्रह्म ही था। अविभक्त निराकार एक ब्रह्म ने "बहुत हो जाऊँ "ऐसा संकल्प करके, आकाश पृथ्वी आदि विभाग तथा ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त जीवों में अपने को व्यक्त किया वही पर ब्रह्म, संपूर्ण कार्यरूपों में परिणत हुए, यही मानना चाहिए। यदि यह मानें कि-ब्रह्म का चेतनांश जीवों के रूप में तथा अचेतानांश पृथ्वी आकाशादिरूपों में विभक्त हुआ, तब, कारण ब्रह्म की निराकारता के

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपादक "हे सौम्य! यह जगत सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् था" "ब्रह्म निश्चित ही एक है "आत्मा निश्चित ही एक है "इत्यादि वाक्य, विरुद्ध समझे जावेगे।

यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्मकारणम्, स्थूलचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते, तथापि शरीरि अंशस्यापि कार्यत्वाभ्युपगमादुक्त दोषो दुर्वारः। तस्य निरवयवस्य बहुभवनं च नोपपद्यते। कार्यत्वानुपयुक्तांशास्थितिश्च नोपपद्यते। तस्माद समंजसमिवाभाति। अतो ब्रह्म कारणत्वं नोपपद्यते।

यद्यपि सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कारण तथा स्थूल चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य है, ऐसा मानते हैं, फिर भी शरीरी के अंश की कार्यता स्वीकारने में उक्त दोष उपस्थित हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि-निराकार का अनेक होना संभव नहीं है अंश की कार्यरूप में कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसे एक अंश की अवस्थिति भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। इसलिए ब्रह्म कारणवाद सिद्ध नहीं होता।
इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्।२।१।२७॥

तु शब्द उक्त दोषं व्यावर्तयति नैवमसामंजस्यम्, कुतः? श्रुतेः श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्र सर्गं चाह। श्रौतेऽर्थे यथा श्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः। ननु च श्रुतिरपि अग्निना सींचेदिति-वत् परस्परान्वयायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्थाः, अतआह शब्दमूलत्वादिति शब्दैक प्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वाद-स्यार्थस्य विचित्रशक्ति योगो न विरुध्द्यत इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वा अर्हति ब्रह्म।

सूत्रस्थ "तु" शब्द उक्तदोष के परिहार का बोधक है, आप जिस असमंजसता की शंका कर रहे हैं वह नहीं होगी, क्योंकि श्रुति, ब्रह्म की निराकारता, और विचित्र जगत् सृष्टि, दोनों का ही वर्णन करती हैं, श्रुति प्रतिपाद्य विषय को श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि कहें

ankurnagpal108@gmail.com

कि-श्रुति "अग्नि से सेचन करो "इत्यादि की तरह अनहोनी बात का प्रतिपादन नहीं कर सकती; तो श्रुतियाँ—शब्द मूलक हैं, अर्थमूलक नहीं इसलिए ऐसा होना संभव है। ब्रह्म समस्त पदार्थों से, विजातीय है, यह बात एकमात्र, शब्द प्रमाणगम्य है, इसलिए श्रुतिकथित ब्रह्म का विचित्र शक्ति संबंध होना, कोई विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म कभी, सामान्यतोदृष्ट साधनं या दोषाक्षेप का विषय नहीं हो सकता (अर्थात् ब्रह्म को लौकिकदृष्टांन्तों के आधार पर आक्षिप्त नहीं किया जा सकता)

आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि ।२।१।२७॥

किं च—एवं वस्त्वंतर संबंधिनो धर्मस्य वस्त्वंतरे चारोपणे सति, अचेतने घटादौ दृष्टा धर्मास्तदविसजातीये चेतने नित्ये आत्मन्यपि प्रसज्यन्ते। तदप्रसक्तिश्च भावस्वभाववैचित्र्यादित्याह-विचित्राश्चहि इति-यथा-"अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयाना मौष्ण्यादि शक्तयश्च विसजातीया दृश्यन्ते, तद्वल्लोकदृष्ट विसजातीये परे ब्रह्मणि तत्रतत्रादृष्टाः सहस्रशः शक्तयः सन्तीति न किंचिदनुपपन्नम्। यथोक्तं भगवता पराशरेण-"निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते" इति सामान्यदृष्टया परिचोद्य, "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः, भवंतितपतां श्रेष्ठ पावकस्ययथोष्णता" इति। श्रुतिश्च—"किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यद-ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्, ब्रह्मबनं ब्रह्मस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" इति। सामान्यतो दृष्टं चोद्यं सर्ववस्तुविलक्षणे परे ब्रह्मणि नावतरतीत्यर्थः।

संशय होता है कि—इस प्रकार तो, अन्य वस्तु संबंधी गुण का अन्य में अरोपण करने से, अचेतन घट आदि में, दृष्ट गुण, विसजातीय नित्य

ankurnagpal108@gmail.com

चेतनआत्मा में भी आरोपित हो जावेंगे?, वस्तु में स्वभावगत वैलक्षण्य मानने से ऐसा नहीं होगा। परस्पर विसजातीय अग्नि जल आदि पदार्थों में, उष्णता शीतलता आदि विचित्र शक्तियाँ देखी जाती हैं, ऐसी जगत में दृश्यमान समस्त विचित्रतायें, परब्रह्म में एक साथ अविरुद्ध रूप से स्थित रहती है, जैसा कि-भगवान पराशर ने कहा भी है-"निर्गुण अपरिच्छिन्न, शुद्ध विमल स्वभाव परब्रह्म से सृष्टि कैसे संभव है? ' ऐसी, सामान्यतः शंका करके —"अग्नि में जैसे उष्णता है, वैसे ही वस्तु निष्ठ सृष्टि आदि शक्तियाँ परब्रह्म में स्वभावतः स्थित हैं। "ऐसी ही श्रुति भी है-"मैं जिज्ञासा करता हूँ कि-जिससे द्युलोक और पृथ्वी निसृत हुए, वह बन है अथवा कुछ और? वह वृक्ष है अथवा कुछ और? परमेश्वर जिसमें अधिष्ठान करके जगत का परिचालन करते हैं, वेवन और वृक्ष सभी ब्रह्म हैं, द्युलोक और पृथ्वी उन्ही से प्रादुर्भूत हुए। "इनका तात्पर्य यह है—कि—जागतिक सारे पदार्थ विलक्षण हैं, इसलिए उन विलक्षण परब्रह्म में, उनकी स्वाभाविक स्थिति है।

स्वपक्ष दोषाच्च ।२।१।२६॥

स्वपक्षे, प्रधानादिकारणवादे, लौकिकवस्तु विसजातीयत्वाभावेन प्रधानादेः लोकदृष्टा दोषास्तत्र भवेयुरिति सकलेतर विलक्षणं ब्रह्मैव कारणमभ्युपगन्तव्यम्। प्रधानं च निरवयवयम्, तस्य निरवयवस्य कथमिव महदादिविचित्र जगदारम्भ उपपद्यते।

जो लोग प्रधान आदि को जगत का कारण बतलाते है, उनके स्वयं अपने मत में भी, लौकिक पदार्थ विसजातीय न होने के कारण, लोक दृष्ट दोष, प्रधान आदि में लागू होते हैं। वे लोग प्रधान को निराकार मानते हैं; निराकार प्रधान से, महत आदि बिचित्र जगत की सृष्टि कैसे संभव है?

सत्त्वंरजस्तम इति तस्यावयवा विद्यन्त इति चेत्, तत्रेदं विवेचनीयम्, किं सत्त्वरजस्तमसां समूहः प्रधानं, उत सत्त्वरजस्तमोभिरारब्धं प्रधानम्? अनन्तरे कल्पे, प्रधानं कारणमिति स्वाभ्युपगम- विरोधः, स्वाभ्युपेतसंख्याविरोधश्च, तेषामपि निरवयवानां

ankurnagpal108@gmail.com

कार्यारम्भ विरोधश्च। समूहपक्षे च तेषां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां न स्थूल द्रव्यारम्भकत्व सिद्धिः। परमाणुकारणवादेऽपि तथैव अणवो निरंशाः निष्प्रदेशाः, प्रदेशभेदमनपेक्ष्य परस्परं संयुज्यमाना अपि न स्थूलकार्यारम्भाय प्रभवेयुः।

यदि कहें कि—सत्त्व रज और तम, ये तीनों गुण ही उसके अवयव हैं, तो विचार करना होगा कि--सत्त्व रज तम का समूह, प्रधान है अथवा सत्त्व रज तम से आरब्ध वस्तु विशेष, प्रधान है? यदि इन तीनों गुणों का कार्य प्रधान को मानें तो "प्रधान ही एक मात्र कारण है "ऐसा तुम्हारा कथन कट जावेगा और तुम्हारी अभिमत संख्या में भी विरोध होगा तथा निरवयव उन गुणों से, कार्य वस्तु का संभव भी, विरुद्ध बात होगी। यदि तीनों गुणों के समूह को प्रधान मानें तो, निरवयव उनके कारण, किसी अंश का परस्पर संयुक्त होना संभव न होगा। इस कारण, स्थूल द्रव्यों का उत्पादन भी असिद्ध हो जावेगा।

परमाणुवाद में भी, वही बातें हैं, क्यों कि अणु, चिदंश और निष्प्रदेश (भाग रहित) हैं, इसलिए उनके परस्पर मिल जाने पर भी स्थूल रूप में, उनका कार्यान्वित होना असंभव है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३०

सकलेतरवस्तु विसजातीया परा देवता सर्वशक्त्युपेता च। तथैव परां देवतां दर्शयंति हि श्रुतयः" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च" तथा– "अपहतपाप्मा विजरो-विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः "इति सकलेतर विसजातीयतां परस्या देवता याः प्रतिपाद्य "सत्यकामः सत्यसंकल्पः "इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयंति। तथा–"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्व कर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्य नारदः "इति च।

ankurnagpal108@gmail.com

अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण परा देवता सर्वशक्ति सम्पन्ना है, ऐसा ही उस परा के संबंध में श्रुत्रियों का कथन है–"इसकी परा शक्ति स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया आदि अनेक नामों की है"तथा"वह निष्पाप, अजर-अमर-विशोक-भूख प्यास रहित है "परा देवता की ऐसी विलक्षणता बतलाकर "सत्यकाम सत्यसंकल्प "इत्यादि सर्वशक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है। तथा–"वह मनोमय अर्थात् मानस संकल्पवाला है, प्राण उसका शरीर तथा दीप्ति उसका स्वरूप है, वह सत्यकाम, सत्यसंकल्प, आकाश सदृश, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस वाक्य और आदर रहित, समस्त जगत में परिव्याप्त है। "इत्यादि।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३१॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतर विलक्षणं सर्वशक्तिः, तथापि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते "इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भः संभवतीति चेत्–तत्रोत्तरं–"शब्दमूलत्वात्"। "विचित्राश्चहि "इत्युक्तं शब्दैक प्रमाण सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करण विरहेणापि तत्तत्कार्यसमर्थमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीताः "इत्येवमाद्या।

यद्यपि ब्रह्म, एक अद्वितीय, अन्य पदार्थों से बिलक्षण सर्वशक्तिमान हैं, फिर भी "उनके देह इन्द्रियाँ नहीं हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि–वह करण रहित हैं, इसलिए उनसे कार्यों का होना संभव नहीं है। इस कथन का उत्तर "शब्दमूलत्वात् विचित्राश्च हि "इत्यादि के प्रसंग में दे चुके हैं। शब्दैक प्रमाणगम्य, सबसे विलक्षण, करणों से रहित भी वह, सब कार्यों को करने में समर्थ हैं। ऐसी श्रुति भी है–"नेत्ररहित देखते हैं, कानरहित सुनते हैं, बिना हाथ पैर के दौड़कर पकड़ते हैं "इत्यादि।

१० प्रयोजनवत्त्वाधिकरणः—

न प्रयोजवत्त्वात् ।२।१।३२॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतर विलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेवविचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, तथापीश्वर

ankurnagpal108@gmail.com

कारणत्वं न संभवति। प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्। बुद्धि पूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः परार्थो वा। न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाप्तसमस्त-कामस्य जगत् सर्गेण किंचन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते। नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति, न चेदृशगर्भजन्म-जरामरण नरकादि नानाविधानंतदुःख बहुलं जगत् करुणया सृजति, प्रत्युत सुखैकतानमेव जनयेज्जगत् करुणया सृजन्। अतः प्रयोजनाभावात् ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपद्यत इति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही थे, सबसे विलक्षण होने से, सर्वशक्तियुक्त, वह स्वयम् ही जगत की सृष्टि करने में समर्थ भी हैं, फिर भी–उनकी कारणता संभव नहीं है, क्यों कि–विशिष्ट सृष्टि, प्रयो–जनाधीन होती है, ईश्वर में उस प्रयोजन का अभाव है। जो विवेचना-पूर्वक कार्य करता है, कार्यारम्भ में उसके दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं एक स्वार्थ, दूसरा परार्थ। परब्रह्म जब स्वभाव से ही अभीष्ट विषयों से तृप्त अर्थात् आप्त काम हैं, तब जगत् सृष्टि से उन्हे किस अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति का प्रयोजन हो सकता है। उनका प्रयोजन परार्थ भी नहीं हो सकता, क्यों कि वे आप्त काम हैं, उनके अनुग्रह मात्र से दूसरे की कार्यं सिद्धि हो सकती है। वे करुणावान, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-नरकादि युक्त अनेक प्रकार के दुखों से पूर्ण, जगत की सृष्टि नहीं कर सकते। यदि वे जगत को रचते भी तो अपनी करुणा से एकमात्र सुख पूर्ण रचना करते। इसलिए प्रयोजन के अभाव से ब्रह्म की कारणता सिद्ध नहीं होती।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—इस पर उत्तर देते हैं—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम्।२।१।३३॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसंकल्प विकार्यविविध-विचित्र चिदचिन्मिश्र जगत् सर्ग लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्-यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः संपूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैक प्रयोजनाः कंदुकाद्यारम्भादृश्यंते, तथैव

ankurnagpal108@gmail.com

परस्यापि ब्रह्मणः स्वसंकल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैकव प्रयोजनमिति निरवद्यम्।

जो समस्त काम्य वस्तुओं से तृप्त और परिपूर्ण हैं, उनके लिए जडचेतन युक्त विविध विचित्र जगत् सृष्टि, केवल लीलामात्र है। जैसे कि—लोक में, सप्तद्वीपों वाली पृथ्वी के अधिष्ठाता महाराज, संपूर्ण शौर्य वीर्य पराक्रमवाले होकर भी, केवल मनोविनोद के प्रयोजन से, कंदुक क्रीडा इत्यादि करते हैं, वैसे ही परब्रह्म भी, अपने संकल्प मात्र से जगत की सृष्टि–स्थिति–संहार आदि कार्य, लीला के प्रयोजन से ही करते हैं, जो कि निर्दोष है।

वैषम्यनैघृर्ण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति २।१।३४॥

यद्यपि परम पुरुषस्य सकलेतरचिदचिद् वस्तु विलक्षणस्याचिन्त्यशक्तियोगात् प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्र जगत् सृष्टि संभाव्येत, तथापि देवतिर्यङ् मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्ट-मध्यमापकृष्ट सृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत्। अतिघोर दुःख योगकरणान्नैघृर्ण्यं चावर्जनीयमिति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व, अद्वितीय निरवयव जडचेतन आदि समस्त पदार्थों से विलक्षण परमपुरुष परमेश्वर से, अपनी अव्यक्त शक्ति द्वारा जडचेतन युक्त विचित्र जगत की सृष्टि संभव हो सकती है, तथापि, उत्तम, मध्यम और अधम रूप देव, मनुष्य और पशु आदि की सृष्टि करना उनके लिए दोषावह है तथा घोर दुःख संयोगमयी सृष्टि से उनकी निर्दयता निश्चित होती है।

तत्रोत्तरं-न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैघृर्ण्ये, कुतः? सापेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञ कर्मसापेक्षत्वाद् विषमसृष्टेः देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्म सापेक्षं दर्शयन्ति हि श्रुतिस्मृतयः "साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा "तथा भगवता

ankurnagpal108@gmail.com

पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः, सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्त "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि, प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः। निमित्त मात्रं मुक्त्वैवनाम्यद् किंचिदपेक्षते, नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्। "इति, स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादि वस्तुताप्राप्तिरिति।

उक्त संशय का उत्तर देते हैं कि–वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों की संभावना नहीं होगी, क्योंकि—सृज्यमान देवता आदि जीवों के कर्मो के तारतम्यानुसार ही सृष्टिगत वैषम्य है, देव आदि जीवों का, देवादि शरीरों से जो संयोग होता है, वह अपने अपने कर्मो से सापेक्ष होता है ऐसा ही श्रुति स्मृतियों का मत है—"उत्तम कार्य करने वाला, उत्तम होता है, पाप कर्म करने वाला पापी होता है, पुण्य से पुण्य तथा पाप से पाप की प्राप्ति होती है।" सृज्मान जीवों के प्राक्तन कर्म ही देवादि विचित्र सृष्टि के कारण होते हैं, ऐसा भगवान पराशर भी कहते हैं–"उत्पाद्य जीवों की सृष्टि में, भगवान केवल निमित्त मात्र है, सृष्ट्य जीवों की कर्मशक्ति ही प्रधान कारण है, जीवों को निमित्त की अपेक्षा होती है, पर स्वकीय शक्तिबल से वे वस्तुत्त्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् वस्तु रूप में प्रकाशित होते हैं।" अपनी शक्ति अर्थात् अपने कर्म से ही, देव आदि योनियाँ होती हैं, इसलिए परमात्मा दोषी नहीं हैं।

न कर्माविभागादितिचेन्नादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।२।१।३५।।

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञाः न सान्ति, कुतः, ? अविभाग श्रवणात् "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इति, अतस्तदनीं तदंभावात्तत्कर्मं न विद्यते, कथं तदपेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्युच्यत इति चेत्—न अनादित्वात् क्षेत्रज्ञानां तत्कर्म प्रवाहाणां च। तदनादित्वेऽप्यविभाग उपपद्यते च, यतः तत् क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनारूपं ब्रह्मशरीरतयाऽपि पृथगव्यपदेशानर्हम् प्रति सूक्ष्मम्। तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमकृत विप्रणाश प्रसंगश्च।

ankurnagpal108@gmail.com

सृष्टि से पूर्व जीव नहीं थे, ऐसा अविभाग बोधक "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व सत् ही था" इस वाक्य से ज्ञात होता है। उस समय उनके न रहने से, उनके कर्म भी नहीं थे, तब यह कैसे कह सकते हैं—कि सृष्टि-विषमता जीवकर्म सापेक्ष है? ऐसा कथन असंगत है, जीव और जीवों के कर्म का प्रवाह अनंत है, उनके अनादि होते हुये भी, उनका अविभाग संभव है। वे क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म के शरीर में नाम रूप विहीन होकर, ब्रह्म से अलग न रह सकने योग्य, अति सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेगे तो अकृताभ्यागम और कृतविनाश दोष उपस्थित होंगे (अर्थात् प्रकृति का प्रवाह यदि अनादि नहीं है तो, जीवों का फलभोग आकस्मिक होने से अकृताभ्यागम दोष होगा। तथा पूर्व कल्प में किये हुये कर्मों का फल यदि बिना भोगे ही नाश होगा तो कृतनाश दोष होगा। सृष्टि प्रवाह को अनादि मानना ही उपयुक्त है।

उपलभ्यते च तेषामनादित्वं "न जायते म्रियते वा विपश्चित" इति, सृष्टिप्रवाहानादित्वं च "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ "तद्धेदं तर्हि अव्याकृत्मासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नाम रूप व्याकरणमात्र श्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम्। स्मृतावपि "प्रकृतिं पुरूषं चैव विध्यनादीउभावपि" इति। अतः सर्व विलक्षणत्वात् सर्वशक्तित्वात् लोलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगात् ब्रह्मैव जगत् कारणम्।

उनकी अनादिता का वर्णन मिलता भी है—जीव का जन्म और मृत्यु नहीं होती" सृष्टि प्रवाह की अनादिता भी जैसे—"विधाता ने पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य और चंद्र की सृष्टि की।" सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, उसे ही नाम रूप से व्यक्त किया" इस वाक्य में केवल नाम रूप का वर्णन होने से, जीवों की स्वरूपतः अनादिता सिद्ध होती है। "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो इस स्मृति वाक्य से भी अनादिता सिद्ध होती है। सब से विलक्षण और सर्व शक्ति संपन्न ब्रह्म एक मात्र लीला के प्रयोजन से, जीवों के कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करते हैं, वे ही जगत के कारण हैं, यही मानना चाहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३६॥

प्रधान परमाण्वादीनां कारणत्वे यद् धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनो ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत् कारणमिति स्थितम् ।

प्रधान और परमाणु को कारण बनाने में जो कारण धर्मों में असंगति होती है, उसे आगे बतलाया गया है। कारणता के उपपादक समस्त धर्म, ब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत के कारण है यही निश्चित मत है।

॥ द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त ॥

ankurnagpal108@gmail.com

[द्वितीय अध्याय]

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्याधिकरण ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ।२।२।१॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति, तत्र परैरुद्भाविताश्च दोषाः परिहृताः । इदानीं स्वपक्ष रक्षणाय पर पक्षाः प्रतिक्षिप्यंते, इतरथ्धा कस्यचिन्मंदधिय स्तेषां पक्षाणां युक्त्याभासमूलतामजानतः प्रामाणिकत्व शंकया वैदिक पक्षे किंचिद् श्रद्धा वैकल्यं जायेतापि, अतः परपक्ष प्रतिक्षेपायानन्तरः पादः प्रवर्त्तते । तत्र प्रथमं तावत् कापिलमतं निरस्यते । वैदिकानुमतसत्कार्यवादाद्यर्थ संग्रहेणैतस्य सत्यक्षनिक्षेप संभावनाभ्रम हेतुत्वातिरेकात् ।

अब तक जगत के जन्म आदि के कारण ब्रह्म का समर्थन किया गया तथा दूसरों द्वारा किए गये दोषों का परिहार किया गया । अपने अपने मत की रक्षा के लिये, दूसरों के दूषण बतलावेंगे, यदि परमत दोषों का उद्घाटन नहीं करेंगे तो मंद बुद्धिवाले, उनके तर्क पूर्ण कथनों के चक्र में पड़कर, वैदिक मत के प्रति अश्रद्धालु हो जावेंगे । इसलिये विरुद्ध मतों के खंडन से इस पाद को प्रारम्भ करते है । सर्व प्रथम कापिल मत का ही खंडन करेगे, क्योंकि—ये लोग वैदिक समस्त सत्कार्यवाद को मानते हैं, जिससे वैदिक से प्रतीत होते हैं, इसलिये सर्वाधिक भ्रमोत्पादक हैं ।

"ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादिभिर्वैदिकवाक्यानामतत्परत्वमात्रमुक्तम्, अत्रैव तत्पक्ष स्वरूप प्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्त्याशंका । एषा सांख्यानां दर्शनस्थितिः, "मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति

ankurnagpal108@gmail.com

तत्त्वसंग्रहः। मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघव प्रकाश चलनोपष्टंभनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीद्रियाणी कार्यैकनिरूपण विवेकान्यन्यूनातिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसिद्रव्याणि। सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेक चेतन भोगापवर्गार्था नित्या सर्वगता सततविक्रिया न कस्यचिद् विकृतिः, अपितु परमकारणमेव, महदाद्यास्तद् विकृतयो अन्येषां च प्रकृतयः सप्त, महानहंकारः शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रम्, गंधतन्मात्रम् इति। तत्राहंकारस्त्रिधा—वैकारिकस्तैजसोभूतादिश्च क्रमात् सात्विकोराजसस्तामसश्च, तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, इन्द्रियादि, भूतादिस्तामसो महाभूतहेतुभूततन्मात्र हेतुः, तैजसो राजसस्तूभयोऽनुग्राहकः, आकाशादीनि पंचमहाभूतानि, श्रोत्रादीनि पंचज्ञानेंद्रियाणि, वागादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि, मन इति केवल विकाराः षोडश, पुरुषस्तु निष्परिणामत्वेन न कस्यचित् प्रकृतिः, न कस्यचिद् विकृतिः, तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निष्क्रियः सर्गगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च, निर्विकारत्वान्निष्क्रियत्वाच्चतस्य कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं चन संभवति एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः प्रकृतिपुरुष सन्निधि मात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य प्रकृतेश्च कर्तृत्वं स्फटिकमणाविव जवाकुसुमस्यारूणिमानं पुरूषेऽध्यस्य "अहंकर्त्ता भोक्ता" इति मन्यन्ते। एवमज्ञानाद्भोगः तत्त्वज्ञानच्चापवर्गः। तदेतत्प्रत्यक्षानुमानागमैः साधयंति। तत्र प्रत्यक्ष सिद्धेषु पदार्थेषु नातीव विवादपदमस्ति। आगमोऽपि कपिलादि सर्वज्ञज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे कांडे प्रमाणलक्षणे निरस्त प्रायः। यदिदं प्रधानमेव जगत्कारण। मित्यनुमानं, तन्निरसनेन तन्मतं सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

वैदिक वाक्यों का तात्पर्य, प्रकृति कारणवाद का सम्मोदन करना नहीं है, यह बात "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि में बतला चुके हैं। सही रूप से कापिलमत का खंडन अब करते हैं, इसलिए पुनरूक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये ! सांख्य दर्शन का मत है कि—"मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृत दोनों हैं, किन्तु पुरुष न प्रकृत है न विकृत, वह तो एकमात्र अनुभव स्वरूप है।" सुख–दुःख-मोहात्मक–लघुता–प्रकाश–स्पन्दन–धारण–गुरूता और आवरण इत्यादि धर्म युक्त अतिशय अतीन्द्रिय तत्त्व विशेष ही, मूल प्रकृति है। इसका पार्थक्य एकमात्र कार्यगम्य है। न्यूनाधिक भाव शून्य, साम्य अवस्था को प्राप्त सत्त्वरज और तम द्रव्य ही प्रकृति है, जो कि नित्य सर्वव्यापी, निरन्तर विकारशील स्वतः अचेतन होते हुये भी, अनेक चेतनो (जीवों) के भोग और अपवर्ग का साधन करती है, यही उसका मुख्य प्रयोजन है। वह किसी का कार्य नहीं है, अपितु चरम कारण स्वरूप है। महत्–अहंकार–शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा–रूप तन्मात्रा–रसतन्मात्रा–गन्धतन्मात्रा इत्यादि सात, मूल प्रकृति के कार्य हैं, तथा अधस्तन तत्त्व समूहों के कारण भी हैं। अहंकार तीन प्रकार का है, वैकारिक, तैजस और भूतादि, ये क्रमशः सात्त्विक राजसिक और तामसिक है। वैकारिक सात्विक अहंकार इन्द्रियों का कारण है। भूतादि तामस अहंकार, पृथ्वी आदि महाभूत और पंच तन्मात्राओं का कारण हैं। तैजसराजस अहंकार, दोनों (सात्विक तामस) संस्कारों का अनुग्राहक (उपकारक) है। आकाश आदि पंचमहाभूत, श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रिय और ये सोलह केवल विकारमात्र है। पुरूष परिणाम हीन है, अतः न किसी की विकृति है न प्रकृति। इसी से पुरूष निर्गुण, एकमात्र चैतन्यस्वरूप नित्य, निष्क्रिय, सर्वव्यापक, प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। निर्विकार और निष्क्रिय होने से, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार के तत्त्व को जानते हुये भी, मूढ लोग, प्रकृति और पुरूष के सानिध्य होने से, पुरूष के चैतन्य को, प्रकृति से आरोपित करके स्फटिक मणि में प्रतिबींबित जवाकुसुम की लालिमा की भांति प्रकृति के कर्त्तृत्व को पुरूष में आरोपित करके "मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूँ" ऐसा मानते हैं। इस प्रकार के अज्ञान से भोग तथा तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है। प्रत्यक्ष- अनुमान और आगम प्रमाणों से, उक्त सिद्धांत स्थिर करते हैं। प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थों में कोई

ankurnagpal108@gmail.com

विवाद नहीं है आगम प्रमाण, कपिल ऐसे सर्वज्ञ पुरूषों के ज्ञान से उद्बुद्ध है प्रथम अध्याय में उनके आगम प्रमाण को प्राय: खंडित किया जा चुका है। प्रधान की, जगत कारणता के विषय में जो अनुमान करते हैं, उसका निराकरण करने से उनका सारा मत ही निराकृत हो जायगा, इसलिये अब उसी का निराकरण करते हैं।

ते चैवं वर्णयन्ति—कृत्स्नस्य जगत् एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अनेकेभ्यः कार्योत्पत्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात्। तंतुप्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशभूतैः षड्भिः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, ते च तंत्वादयः स्वावयवैस्तथाभूतैरूत्पाद्यंते, ते च तथाभूतैः स्वावयवैरिति परमाणुभिरपिस्वकीयैःषड्भिःपार्श्वैः संयुज्यमानैरेव स्वाकार्योत्पादनमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः। परमाणवो अप्यंशित्वेन स्वांशैस्तथैवोत्पाद्यंते, ते च स्वांशैरिति न क्वचिद् कारणव्यवस्थितिः अतः कारणव्यवस्था सिध्यर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वयमप्रच्युत स्वरूपमेव महदाद्यनंता-वस्थाश्रयः कारणमाश्रयणीयम्। तच्चैकं कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपन्यस्यंति– 'भेदानां परिणामात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्" इति।

वे लोग वर्णन करते हैं कि—किसी एक पदार्थ को जगत का मूल कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अनेक कारणों को मानने से, कारणगत अनवस्था होगी। देखा जाता है कि—तंतु आदि अवयव, अपने अंशभूत छः पार्श्वों से संयुक्त होकर अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, वे तंतु आदि अवयव, पूर्वानुरूप स्वीय अवयवों से समुत्पादित होते हैं, वैसे ही वे अवयव अपने अवयवों से समुत्पादित होते हैं। ऐसी ही परमाणु समूह भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर, अपने कार्य पदार्थ का समुत्पादन करते हैं, इसे स्वीकारना होगा। अन्यथा पदार्थ की स्थूलता, हो नहीं सकती। अंशी सावयव परमाणु भी, स्वकीय अंशो से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार कारण

ankurnagpal108@gmail.com

कल्पना की कभी समाप्ति नहीं हो सकती। इसलिए कारण व्यवस्था की सिद्धि के लिए, अनेक विचित्रताओं वाले, परिणाम शक्ति संपन्न, स्वतः अच्युतस्वभाव, महत्तत्व आदि अनंत अवस्थाओं के आश्रयीभूत किसी एक कारण को स्वीकारना चाहिए। सत्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही उक्त प्रकार का कारण है जो कि प्रधान है। ऐसे काल्पनिक प्रधान की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"भेदों के परिणाम से, कार्य और कारण के समन्वय से, शक्त्यानुसार प्रवृत्ति से, कार्य और कारण के विभाग से, कारण कार्य के तादात्म्य संबंध से, जिसकी विशेषता ज्ञात होती है, ऐसा अव्यक्त ही कारण है।

अयमर्थः विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम् विचित्रसन्निवेश तनुभुवनादि कृत्स्नंजगत्, तच्च जगद् विचित्र सन्निवेशत्वेन कार्यभूतं तत्सरूपाव्यक्त कारणम्, कुतः ? कार्यत्वात्; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात् कारणविशेषात् विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते। यथा घट मकुटादेः कार्यस्य तत् सरूपान्मृत्सुवर्णादेःकारणाद् विभागस्तस्मिन्नेव चा विभागः अतो विश्वरूपस्य जगतः तत्सरूपात प्रधानादुत्पत्तिस्तास्मिन्नेवलयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत्। गुणत्रय साम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणं सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्त्वाज्जगतः। यथा मृदात्मनाघटस्य मृद् द्रव्यमेव कारणम् तदेव हि तदुत्पत्याख्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात्। अव्यक्तस्य गुणसाम्य रूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महदहंकारतन्मात्रादीनां परिमितत्वादवगम्यते। महदादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्न जगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद् गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानैककारणमिति निश्चीयते।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि—विश्वरूप ही वैश्वरूप्य (अर्थात्—देह भुवन आदि संपूर्ण जगत्) है। विचित्र सन्निवेश समन्वित कार्यरूप यह जगत, तदनुरुप अव्यक्त कारण से उद्भूत है। सारे होने वाले पदार्थ,

ankurnagpal108@gmail.com

अपने ही समान स्वभाव वाले विशिष्ट कारण से विभक्त और तिरोभूत होते देखे जाते हैं। जैसे कि-घट मुकुट आदि, अपने समान रूप वाले मिट्टी और सुवर्ण आदि से विभक्त और लीन होते हैं। वैसे ही विचित्र सन्निवेश विशिष्ट जगत, प्रधान से ही, उत्पन्न और लीन होता है। इसलिए प्रधान को ही, जगत का उपादान कारण स्वीकारना चाहिए। यह जगत सत्व-रजतमोगुणमयसुखदुःखमोहात्मक है, इसलिए तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान ही, जगत् के स्वभावानुरुप कारण है। जैसे कि-मृत्तिकात्मक घट की कारण मृत्तिका ही हो सकती है, मृत्तिका में उस घट के उपादान पाये जाते हैं। भेद समूह (महत्-अहंकार और पंचतन्मात्र) पदार्थ, परिमित (परिच्छिन्न) हैं, इससे ज्ञात होता है कि–देशकाल आदि से अपरिच्छिन्न गुणसाम्यरुप अव्यक्त ही, इन सब का कारण है। महत् आदि तत्व समूह, घट आदि पदार्थों की तरह, परिच्छिन्न हैं, इसलिए वे सब तो, जगत के उत्पादन में समर्थ हो नहीं सकते। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप, प्रधान ही, त्रिगुणात्मक जगत् की एकमात्र कारण निश्चित होती है।

अत्रोच्यते–रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च अनुमीयत इत्यनुमात्रं, न भवदुक्तं प्रधानं विचित्रजगत् रचना समर्थं, अचेतनत्वे सति तत्स्वभावाविज्ञानधिष्ठितत्वात्, यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रासादादिनिर्माणे केवल दार्वादिकम्। दार्वादेरचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भानुपपत्तेः दर्शनात्, तज्ज्ञानाधिष्ठितस्य कार्यारम्भप्रवृत्तेदर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति।

उक्त मत पर कथन यह है कि-रचना और तद् विषयक प्रवृत्ति की अनुपपत्ति और अनुमान से ऐसा निश्चित होता है कि–प्रधान कारण नहीं हो सकती। जिसकी अनुभूति की जाय वही अनुमान है, अनुमित प्रधान तत्व विचित्र जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है क्योंकि–वह स्वयं अचेतन है, उसके स्वभाव से भिन्न कोई दूसरा चेतन यदि उसका परिचालन नहीं करता तो, जैसी है वैसी ही सदा रहेगी जैसे कि-रथ प्रासाद आदि के निर्माण में केवल लकड़ी आदि ही समर्थ नहीं है, चेतन शिल्पी से अपरि-

ankurnagpal108@gmail.com

चालित लकड़ी से कोई कार्य होता देखा नहीं जाता, अपितु उसके अधिष्ठान में ही कार्यारम्भ होता है। वैसे ही किसी एक प्राज्ञ से अधिष्ठित हुए बिना प्रधान भी जगत का कारण नहीं हो सकती।

चकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोति, नहि अन्वितं शौक्ल्यगोत्वादि कारणत्व व्याप्तं। न च वाच्यं माभूदन्वितानामपि शौक्ल्यादिधर्माणां कारणत्वं,द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितस्य कारणत्वव्याप्तिरस्त्येव सत्वादीन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारणत्व व्याप्तानि इति। यतः सत्वादयो द्रव्य धर्माः न तु द्रव्यस्वरूपम्, सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्व प्रकाशादि हेतुभूताः तत्स्वभाव विशेषा एव, न तु मृद्हिरण्यादिवत् द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यंते, गुणा इत्येव च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिः।

सूत्रस्थ "च" के प्रयोग से, कार्यकारणानुवृत्ति की अनैकान्तिकता ज्ञात होती है। शुक्लता और गोत्व आदि धर्मों के अन्वित अर्थात् कार्य में अनुवृत्त होते हुये भी, कारणता धर्म से वह व्याप्त नहीं होता [अर्थात् यही कार्य का कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता] शुक्लता आदि से अन्वित होते हुये, कारण धर्म व्याप्त नहीं होता तो न सही, मुकुट आदि कार्यों से अन्वित सुवर्ण आदि में तो कारणता है, अतएव सत्त्व आदि गुण द्रव्य पदार्थ, जब कारण से अनुवृत्त हैं, तो उनमें कारणता व्याप्ति क्यों न होगी? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—सत्त्व आदि गुण धर्म ही है। स्वयं द्रव्य स्वरूप नहीं हैं। पृथिवी आदि पदार्थ गत लघुता और प्रकाश आदि के प्रवर्त्तक, सत्त्व आदि गुण, पृथ्वी आदि के, एक प्रकार से स्वभाव ही हैं, वह कभी मिट्टी और सुवर्ण की तरह द्रव्य रूप से किसी कार्य में अन्वित नहीं हो सकते। सत्त्व आदि तो गुण नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

यच्च कारणव्यवस्था सिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम्, तदपि सत्वादीनामनेकत्वान्नोपपद्यते। अत एव कारणव्यवस्था च न सिध्यति। साम्यावस्थाः सत्त्वादय एवहि प्रधानमिति त्वन्मतम्। अतः कारणबहुत्व। दनवस्थातदवस्थैव। न च तेषाम परिमितत्वेन

ankurnagpal108@gmail.com

व्यवस्थासिद्धिः । अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वगतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद वैषम्यासिद्धेः कार्यारम्भा संभवात् । कार्यारम्भायैव परिमितत्वमवश्याश्रयणीयम् ।

जो यह कहा कि—अनेक कारण मानने से अव्यवस्था होगी वह भी सत्त्व आदि गुणों के अनेक होने से असंगत बात है। इससे भी कारणव्यवस्था नहीं बनती। तुम्हारे मत से, साम्यावस्थापन्न सत्त्वादि ही "प्रधान" है तो गुणों की अनेकता होने से, कारण बाहुल्य सिद्ध होता है इस प्रकार अनवस्था दोष तुम्हारे ही गले पड़ता है। तुम जो गुणों को अपरिमित मानते हुए, व्यवस्था की रक्षा करने की चेष्टा करते हो, वह भी नहीं हो पाती, क्योंकि—उनमें न्यून अधिक भाव तो हो नहीं सकता और वैषम्यावस्था सिद्ध नहीं होती, बिना वैषम्यावस्था के कार्यारम्भ नहीं हो सकता, इसलिए कार्यारम्भ के लिए तुम्हें उनकी परिमितता अवश्य स्वीकारनी होगी।

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठित्वं दृष्टम्, तद्व्यरिक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह——

रथ आदि के निर्माण में चेतनाधिष्ठान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, उससे भिन्न और सब पदार्थ पक्षीकृत हैं, इस संशय पर कहते हैं—

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।२॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपत्तिरिति, तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते। पयसस्तावद्दधि भावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽद्यपरिस्पन्द प्रभृति परिणाम परंपरा स्वत एवोपपद्यते, यथा च वारिदविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारिकेलतालचूतकपित्थ निम्बर्तित्रिण्यादित्ररसरूपेण परिणाम प्रवृत्तिःस्वत एव दृश्यते तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिसर्गावस्थायां सदृश परिणामेनावस्थितस्य सर्गावस्थायां गुण वैषम्यनिमित्ति विचित्र परिणाम उपपद्यते। यथोक्तं-"परिणा-

ankurnagpal108@gmail.com

मतः सलिलवत् प्रतिगुणाश्रयविशेषात्" तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं-प्रवर्त्तत इति चेत्-अत उत्तरं तत्रापि इति। यत् क्षीरजलादिदृष्टान्ततया निदर्शितं तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते तदपि पूर्वत्र पक्षीकृतमित्यभिप्रायः। "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद हि" इत्यत्र दृष्टपरिकरान्तर रहितस्यापि स्वासाधारण परिणाम उपपद्यत, इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधिष्टितत्त्वं पराकृतम् "योऽप्सुतिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः।

जो यह कहा कि-अभिज्ञ चेतन से अभिष्टित न होने से, प्रधान जगत की रचना करते में समर्थ नहीं है, यह असंगत बात है, दुग्ध और जल की तरह उसकी भी प्रवृत्ति हो सकती है। कारणान्तर निरपेक्ष, दधिरूप में परिणत, दुग्ध में जो, परिस्पन्दन आदि परिणाम परम्परा होती है वह स्वतः ही होती है। तथा मेघ से पतित जल जैसे एकरस होते हुए भी—नारियल, ताल, आम, कैथा, नीम, आदि विचित्र स्वादु रसों में स्वतः ही परिणत होता है, वैसे ही, परिणाम शील प्रधान, प्रलयावस्था में किसी अन्य से परिचालित न होकर, सदृश परिणाम विशिष्ट के रूप में स्थित रहकर, सृष्टिकाल में, सत्व आदि गुणों की विषमता से विचित्र आकारों में परिणत होती है। जैसा कि कहा भी गया है-"जल की तरह, गुणों में भी, निश्चित आश्रयों में, परिणाम भेद होता है, और उसी से कार्य वैचित्र्य होता है। "इससे निश्चित होता है कि-अव्यक्त अनन्यापेक्ष होकर, सृष्टि रूप में परिणत होती है। इस कथन का उत्तर-सूत्र में तत्रापि पद से दिया गया है अर्थात् दृष्टान्त रूप से जिन दुग्ध आदि का उदाहरण दिया गया है, उनमें भी प्राज्ञ के अधिष्ठान (चेतन के परिचालन) के बिना प्रवृत्ति संभव नहीं है। इस बात को, पूर्व सूत्रोक्त आपत्ति की पक्ष श्रेणी (विवादास्पद स्थल) में रक्खा गया है। पूर्वोक्त "उपसंहार दर्शनात्" इत्यादि सूत्र में, केवल यही कहा गया है कि—लौकिक सहायता शून्य पदार्थ भी, स्वकीय असाधारण शक्ति के आधार पर, विशेष विशेष कार्यों के आकार में परिणत होते हैं, प्राज्ञ अधिष्ठाता की वहाँ पर अपेक्षा नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता; "जो जल में अधिष्ठान करते हैं "इत्यादि श्रुति प्राज्ञ अधिष्ठान का समर्थन करती है।

ankurnagpal108@gmail.com

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।३॥

इतश्च सत्यसंकल्पेश्वराधिष्ठानापेक्षपरिणामित्वे सर्गव्यतिरेकेण प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थित प्रसंगाच्च नप्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्, प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसंकल्पत्वेन सर्गप्रतिसर्गविचित्र सृष्टिव्यवस्था सिद्धिः। न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यावाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्यानवधिकाधिकातिशयानंदस्य निरवद्यस्य निरंजनस्य सर्गप्रतिसर्गव्यवस्था हेत्वभावात् विषम सृष्टौ निर्दयत्व प्रसंगाच्च समानोऽयं दोष इति। परिपूर्णस्यापि लीलार्थं प्रवृत्ति संभवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्न प्रकृति दर्शनरूप सर्गं प्रतिसर्ग विशेष हेतोः संभवात्, क्षेत्रज्ञ कर्मणामेव विषम सृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च।

सत्य संकल्प परमेश्वर की अधिष्ठातृता से रहित, प्रधान की परिणति स्वीकारने से, प्रलयावस्था में प्रधान में, सारे जगत की स्थिति कदापि संभव नहीं है। प्राज्ञ परमेश्वर से अनधिष्ठित, प्रधान, जगत की कारण नहीं हो सकती। प्राज्ञ द्वारा परिचालित मानने से ही, उसकी सत्य संकल्प जन्य सृष्टि,प्रलय और सृष्टिगत विचित्रता की व्यवस्था हो सकती है। यदि कहो कि-प्रधान को प्राज्ञ से अधिष्ठित मान लेने पर भी, प्राप्त काम परिपूर्ण निरवधि, अतिशय आनंदमय, निर्दोष, निरंजन परमेश्र के लिए सृष्टि और प्रलय के किसी उपयोगी कारण के न होने से, वैषम्य पूर्ण सृष्टि परक निर्दयता की बात उठ सकती है, इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष तो समान ही है। तुम्हारा यह कथन भी असंगत है; परिपूर्ण, केवल लीला के लिए ही सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर के पक्ष में, विशेष परिणामापन्न प्रकृति का दर्शन ही सृष्टि और प्रलय का हेतु हो सकता है। विशेषतः, जीवों के प्राक्तन कार्य ही, सृष्टिगत विषमता के कारण हैं।

नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वावस्थाः सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा, पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्म संस्कृता प्रकृतिरेव

ankurnagpal108@gmail.com

पुरुषार्थानुरूपं तथा तथा व्यवस्थया परिणंस्यते, यथा विषादि दूषितानां अन्नपानादीनामौषधविशेषाप्यायितानां च सुख दुःख हेतु भूतः परिणामविशेषो देशकालव्यवस्थया दृश्यते, अतः सर्ग प्रतिसर्ग व्यवस्था देवादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकार परिणाम-शक्तियुक्तस्य प्रधानस्यैवोपपद्यत इति ।

यदि ऐसा ही है कि-जीवों के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मो से ही सारी वैषम्यव्यवस्था होती है तो-प्रधान के अधिष्ठाता परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? जैसे कि—विष आदि के संसर्ग से दूषित, औषधविशेष के संयोग से परिशोषित्, अन्न जल आदि का, देशकाल के अनुसार, सुखदुःख-कर विचित्र परिणाम देखा जाता है, वैसे ही, प्रकृति भी, पुरुषानुष्ठित पुण्यापुण्य कर्म संस्कार के सहयोग से, तदनुरूप, पुरुषभोग संपादन के लिए, विशेष वैचित्र्यमय कार्य के आकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार—हर प्रकार के परिणाम वाली प्रधान से सम्बधित होकर-सृष्टि प्रलय की व्यवस्था, देवादि सृष्टिगत वैषम्य, और मोक्ष की व्यवस्था आदि सब, संपन्न हो जाती है।

अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः, पुण्यापुण्यस्वरूपेहि शास्त्रैक समधिगम्ये, शास्त्रं चानदिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदाया-नाघ्रातप्रमादादिदोषगंधवेदाख्याक्षरराशिः तच्च परमपुरुषाराधनतद्-विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रह निग्रहायत्ते च तत्फले सुखदुःखे इति वदति। तथाह द्रमिडाचार्यः "फलसंविभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषंति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा "इति। तथा च श्रुतिः "इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्तिभुवन-स्य नाभिः "इति। तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं-"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततं, स्व कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदन्ति मानवः "इति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्क्षिपाम्यजस्रम-शुभानासुरीष्वेवयोनिषु" इति च।

ankurnagpal108@gmail.com

(उत्तर) आप, पुण्यापुण्य कर्म के स्वरूप विभाग के विषय से अनभिज्ञ हैं। पुण्यापुण्य का स्वरूप एकमात्र शास्त्र गम्य है। उत्पत्ति विनाश रहित अविच्छिन्न पाठ संप्रदाय, प्रमाद आदि दोषों से असंस्पृष्ट, वेदनामक अक्षर राशि ही शास्त्र है। वह शास्त्र ही परमपुरुष परमेश्वर के आराधात्मक कर्म को पुण्य तथा उससे विपरीत कर्म को अपुण्य तथा परमेश्वर के निग्रह और अनुग्रह के अधीन सुख दुःख को, पुण्य अपुण्य का फल बतलाता है। द्रमिडाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं–"फल प्राप्ति की इच्छा से कर्मों द्वारा जो आत्मा को प्यार करते हैं, वह प्रीत हो जाने पर फल प्राप्त कर लेते हैं, यही शास्त्र मर्यादा है" (अर्थात् फलरूपा पराभक्ति से जो परमात्मा से प्रीत करते हैं, उन्हे फलस्वरूप प्रीति की प्राप्ति हो जाती है) ऐसा ही श्रुति का भी मत है-"जगत का नाभिस्वरूप अनेक प्रकार के इष्टापूर्त्त कर्म ही, जात और जायमान जगत को धारण करते हैं"। स्वयं भगवान भी ऐसा ही कहते हैं—" जिससे प्रणिमात्र की एवं जिसके द्वारा यह सारा जगत परिव्याप्त है, मानव स्वकीय वर्णाश्रमोचित कर्म द्वारा, उसकी अर्चना करके सिद्धिलाभ करते है "संसार में ईश्वर द्वेषी क्रूर प्रकृति वाले पापिष्ठ अधमनरों को मैं, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ"।

स भगवान् पुरुषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीला प्रवृत्तः एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्म द्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रियादिकं तन्नियमनशक्ति च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनावबोधि शास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमंतृतया च नियच्छंस्तिष्ठति। क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्तयः तत्प्रदिष्टकरण कलेवरादिकास्तदाधाराश्च स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते। ततश्चपुण्यापुण्य रूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्त्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षैर्वर्धयते शासनातिवर्त्तिनं च तद् विपर्ययैर्योजयति, अतः स्वातंत्र्यादिवैकल्य चोद्यानि नावकाशं लभन्ते।

ankurnagpal108@gmail.com

वही आप्तकाम, सर्वज्ञ, सत्यसंल्कप, सर्वेश्वर भगवान पुरुषोत्तम अपनी महिमायुक्त लीला में प्रवृत्त होकर, उत्तम और अधम कर्मो का निर्धारण करके, समस्त जीवों को, कर्मग्रहणोपयुक्त देहेन्द्रिय और उसकी संयमन शक्ति प्रदान कर, लोग उनका शासन स्वीकारें, ऐसा शास्त्रोपदेश देकर-स्वयं सर्वान्तिर्यामीरूप से प्रविष्ट होकर, संयमन करते हुए स्थित रहते हैं। जीव उन परमात्मा से शक्ति प्राप्त कर, उनके प्रदत इन्द्रिय और शरीर धारण करके, स्वेच्छानुसार पाप और पुण्य कर्मों का उपपादन करते हैं। वह परमात्मा पुण्य कर्म करने वालों को, अपने शासन के अनुगत मानकर, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा बढ़ाते हैं, तथा शासन के उल्लंघन करने वालों को उससे विपरीत गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ईश्वर संबंधी स्वातंत्र्य हानि आदि दोषों का कोई स्थान ही नहीं रहता।

दयाहि नाम स्वार्थे नरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता, सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्त्तमाना न गुणायावकल्पते, प्रत्युतापुंस्त्वमेवाबहति, तन्निग्रह एव तत्र गुणः,अन्यथा शत्रु निग्रहादीनामगुणत्वप्रसंगात्। स्वशासनातिवृत्तिव्यवसाय निवृत्तिमात्रेणानाद्यनंतकल्पोपचितदुर्विषहानंतापराधानंगीकारेण निरतिशय सुखसंवृद्धये स्वयमेव प्रयतते। यथोक्तं—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामिबुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते। तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः, नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। "इति, अतः प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं न कारणम्।

स्वार्थ संबंध रहित, परदुःख को न सह सकना ही दया है जो जीव ईश्वर के शासन का उल्लंघन करते हैं, उन पर भी प्रभु की वैसी दया है, परंतु, वह उपकार न करके अपुरुषार्थ (दुःख) का उत्पादन करती है भगवान की ऐसी दयामय अकृपा भी, उनका एक गुण है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, शत्रु निग्रह आदि कार्य दोषावह मानें जावेंगें। शासनातिक्रमण विषयक अध्यवसाय से निवृत्त हो जाने पर, भगवान स्वयं ही, जीवों के अनादिकाल संचित अपराधों की उपेक्षा करके, अत्यानंद सुख समृद्धि प्रदानकरने की चेष्टा करते हैं। जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं—"निरन्तर

ankurnagpal108@gmail.com

एकाग्रचित्त से प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त कर सके। उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं, आत्मा में स्थित होकर, उज्वल ज्ञान दीप द्वारा, उनके आंतरिक अज्ञानांधकार को दूर करता हूँ। "इत्यादि से निश्चित होता है कि-प्राज्ञ से अशासित, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

अथस्यात्—यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पंद प्रवृत्तिरपि न संभवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षाया एव परिणामप्रवृत्तिः संभवति तथादर्शनात्, धेन्वादिनोपयुक्तं हि तृणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणममानं दृश्यते। अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणंस्यते। इति तत्राह—

उक्त कथन पर आपत्ति करते हैं कि-परमेश्वर की प्रेरणा के विना अचेतन प्रधान में क्रिया की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह तो ठीक है परंतु अनपेक्षित भाव से प्रधान में, परिणाम प्रवृत्ति तो हो सकती है, वैसा देखा भी जाता है, कि-गौद्वारा उपभुक्त-तृण जल आदि स्वतः ही दुग्ध के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति भी स्वतः जगत के आकार में परिणत हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं--

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।४॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाद् दृष्टांतासिद्धेः, कथमसिद्धिः? अन्यत्राभावात्—यदि हि तृणोदकादिक मनुड्हाद्युपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणंस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्यत, न चैतदस्ति, अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरी करोति। "पयोम्बुवच्चेति तत्रापि" इत्युक्तमेवात्र प्रपंचितम् तत्रैव व्यभिचार प्रदर्शनाय।

उक्त तर्क असंगत है, तृण आदि, परमेश्वर की प्रेरणा बिना स्वतः ही दुग्ध हो जाये, ऐसा दृष्टांत नितांत असिद्ध है, गौ आदि के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ऐसा क्यों नहीं हो जाता? तृण खाने वाले वैल आदि में यदि दुग्ध परिणति हो जाती तो, परमेश्वर के प्रेरणा बिना,

ankurnagpal108@gmail.com

प्रधान की जगदाकार परिणति मान ली जाती, किन्तु ऐसा तो संभव है नहीं। वस्तुतः गाय आदि से उपभुक्त तृण आदि की दुग्ध रूप में जो परिणति होती है, वह परमेश्वर की प्रेरणा से ही होती है। "पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि" सूत्र में कहे गए नियम के व्यभिचार को प्रदर्शित करने के लिए ही, इस सूत्र में विवेचन किया गया है।

पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि ।२।२।५॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दृक्च्छक्तिविकलम् तथापि-पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानप्रवर्त्तते तथा दर्शनात्, गमनशक्तिविकलदृक्छक्ति युक्त पंगुसंनिधानात्तच्चैतन्योपकृतो दृक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्त्तते, अयस्कांताश्मसन्निधानाच्चायः प्रवर्त्तते। एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत् सर्गः प्रवर्त्तते। यथोक्तं—"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य, पंग्वंधवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृतः सर्गः। "इति पुरुषस्य प्रधानोपभोगार्थं कैवेल्यार्थं च पुरुष सन्निधानात् प्रधानं सर्गादौ प्रवर्त्तत इत्यर्थः।

कहते हैं कि—यद्यपि चैतन्यमात्र शरीर पुरुष निष्क्रिय है और प्रधान भी दर्शनशक्ति हीन है, फिर भी, पुरुष के सानिध्य में रहने वाली अचेतन प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, जैसे कि दर्शनशक्ति विहीन क्रियाक्षमअंधा व्यक्ति, गमनशक्ति रहित, देखने में समर्थ पंगुव्यक्ति के सानिध्य से कार्य करता है तथा चुम्बक के सानिध्य से लोहा स्पंदित होता है। उसी प्रकार प्रकृति भी चैतन्य के संयोग से जगत की सृष्टि करती है। जैसा कि कहा भी है—"पुरुष, प्रधान का भोग करके, स्वयं भी मुक्तिरूप कैवल्य की प्राप्ति करे, इसलिए पंगु और अंध की तरह, पुरुष और प्रकृति संयोग करते हैं, जिसके फलस्वरूप जगत की सृष्टि होती है"अर्थात् पुरुष के प्रकृति संबंधी भोग और मोक्ष के लिए, पुरुष के सहारे प्रकृति, सृष्टि का विस्तार करती है।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्रोत्तरं–तथापीति, एकमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसंभवस्तदवस्थ एव, पंगोर्गमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषः सहस्रशः सन्ति, अंधोऽपि चेतनः सन् तदुपदेशाद्यवगनेन प्रवर्त्तते, तथा अमस्कांतमणेरप्ययः समीपागमनादयःसंति। पुरुषस्यतु निष्क्रिमस्य न तादृशा विकाराः संभवंति। सन्निधानमात्रस्य निकत्वेन नित्य सर्गप्रसंगो नित्यमुक्तत्वेन, बंधाभावोऽपवर्गाभावश्च।

"तथापि" कहकर उक्त तर्क का निराकरण करते हैं। अर्थात् इस स्थिति में भी, प्रकृति का अभाव पूर्ववत् ही है। पंगु में गमन शक्ति न होते हुए भी, मार्ग दर्शन के सूचक उपदेश आदि हजारों साधन उसे मिल सकते हैं, अन्धा भी सचेष्ट होकर पंगु के उपदेश से जानकारी प्राप्त कर अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, चुम्बक की ओर लोहा भी खिच सकता है; पर निष्क्रिय पुरूष में ऐसा विकार संभव नहीं है। यदि प्रधान और पुरूष का साहचर्य सदा मानते हो तो, सृष्टि भी सदा रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं, साथ ही जब पुरूष नित्यमुक्त है, तो बंधन और मुक्ति इन दोनों का ही अभाव रहेगा ? [जो कि–तुम्हारे मत से विपरीत बात है]

अंगित्वानुपपत्तेश्च ।२।२।६॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनिबंधनांगांगिभावाद् हि जगत् प्रवृतिः "प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेपात्" इति वदद्भिः भवद्भिरभ्युपगम्यते। प्रतिसर्गायस्थायां तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तम सामन्योन्याधिक-न्यूनत्वाभावादंगांगिभावानुपपतेर्न जगत् सर्ग उपपद्यते। तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्ग प्रसंगः। अतश्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्।

सत्त्व आदि गुणों की जो आश्रयगत विशेषता है, उसी से विचित्र परिणाम होता है, तुम्हारे इस कथन के अनुसार गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष एवं तारतम्य के अनुसार अंग अंगी भाव से जगत की प्रवृत्ति होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि की स्थिति में, साम्यअवस्था को प्राप्त सत्व

ankurnagpal108@gmail.com

रजतम में न्यूनाधिकता का अभाव होने से, अंग अंगी भाव तो हो नहीं सकता इसलिए जगत की सृष्टि भी नहीं हो सकती। यदि गुण वैषम्य स्वीकारते हो तो सृष्टि सदा बनी रहेगी। इससे निश्चित होता है कि प्राज्ञ से अनधिष्ठित प्रधान, जगत का कारण नहीं हो सकती।

अन्यथानुमितौ चज्ञशतिवियोगात् ।२।२।७॥

दूषित प्रकारातिरिक्त प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितौ च प्रधानस्य ज्ञानतृत्वशक्तिवियोगात् ते एव दोषः प्रादुःष्युः। अतो न कथंचिदप्यनुमानेन प्रधान सिद्धिः।

तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत, प्रधान कारण संबंधी सभी युक्तिया दूषित हो गई, इनके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से, प्रधान के संबंध में अनुमान करो भी तो, जब प्रधान में ज्ञानशक्ति का ही अभाव है, तब तुम्हारे अनुमान भी दूषित हो जावेगे। किसी भी प्रकार, प्रधान की कारणता, प्रमाणित नहीं होती।

अभ्युपगमेऽप्यर्काभावात् ।२।२।८॥

अनुमानेन प्रधान सिद्धि अभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजनाभावान्त तदनुमातव्यम्। "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति प्रधानस्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गाबभिमतौ तौ च न संभवतः। पुरुषस्य चैतन्यमानवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य तत एव नित्य मुक्त स्वरूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद् वियोगरूपोऽपवर्गश्च न संभवति एवं रूपस्यैव प्रकृतिसंन्निधानात्तत् परिणामविशेपसुखदुःख दर्शन रूपभोग संभावनायां प्रकृति सन्निधानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गौ न सेतस्यति।

अनुमान से किसी प्रकार प्रधान का अस्तित्व स्वीकार भी ले, पर सृष्टि कार्य में प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं समझ में आता इसलिए उसके लिए अनुमान करना ही व्यर्थ है। "पुरुष के कैवल्य तथा प्रधान के दर्शन के लिए ही" अर्थात् पुरुष, प्रकृति का दर्शन का मोक्ष लाभ करे यही एक-

ankurnagpal108@gmail.com

मात्र प्रयोजन है इस सांख्योक्ति से ज्ञात होता है कि–पुरूष का सुख दुःख भोग और मुक्ति लाभ ये दो ही सांख्य सम्मत प्रयोजन पुरूष के लिए संभव भी तो नहीं है क्योंकि–पुरूष स्वभाव से ही चेतन्य स्वरुप निष्क्रिय, निर्विकार और निर्मल होने से नित्यमुक्त स्वरूप है इसलिए उसमें प्रकृति दर्शन रूप भोग और प्रकृति से संबंध विच्छेद रूप मुक्ति की संभावना ही कहाँ है ? यदि किसी प्रकार, प्रकृति के सानिध्य से, प्रकृति के परिणाम विशेष सुख दुःख अनुभवात्मक भोग को पुरूष में मान भी ले तो, जब प्रकृति पुरूष के नित्य सानिध्य में रहती है, तब पुरुष की मुक्ति तो कभी हो नहीं सकती।

विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ।२।२।६।।

विप्रतिषिद्धं चेदं सांख्यानां दर्शनम्। तथाहि-प्रकृतेः परार्थत्वेन दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन च प्रकृतेर्भोक्तारं अधिष्ठातारं च द्रष्टारं साक्षिणं च पुरुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव साधनभूतया तस्य कैवल्यमपि प्राप्यं वदंत एव तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकर्त्तृत्वं कैवल्यं च स्वरूपमेवाहुः, तत एव बंधमोक्षसाधनानुष्ठानं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः एवंभूतनिर्विकारोदासीनपुरुषसंन्निधानात् प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादि प्रवृत्ति पुरुषभोगापवर्गार्थत्वंचाहुः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कैवल्यं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वं कर्त्तृभावश्च "इति। "पुरुष विमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" इत्युक्त्वैवमाहुः "तस्मान्नबध्यते नापि मुच्येत नापि संसरति कश्चित्, संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः इति," तथा–"तस्मात्‌त् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिवलिंगम्, गुणकर्त्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंग्वंध वदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः इति"।

ankurnagpal108@gmail.com

साख्यों का यह् दर्शन परस्पर विरूद्ध तथ्यों को भी उपस्थित करता है, जैसे कि-प्रकृति स्वयं पुरुषार्थ, जड और पुरुष भोग्या है, इसलिए पुरुष को उसका भोक्ता, द्रष्टा और अधिष्ठाता, साक्षी कहा गया है। प्रकृतिरूपी साधन से पुरुष की कैवल्य प्राप्ति बतलाई गई है साथ ही पुरुष को नित्य, निर्विकार चैतन्यस्वरूप, निष्क्रिय और कैवल्य कहा गया है। इसीलिए बंधन से मुक्त होने के लिए साधनानुष्ठान और मोक्ष प्रकृति सापेक्ष कहा गया है। निर्विकार उदासीन पुरुष की नित्य सन्निधि होने से, प्रकृति पुरुष में इतरेतर अध्यास (अर्थात् प्रकृति में पुरुष के और पुरुष में प्रकृति के गुण मिल जाने से) होने से सृष्टि आदि कार्य और पुरुषीय भोगापवर्ग साधन में, प्रकृति की प्रवृत्ति बतलाई गई है जैसे कि-"संघात परार्थता (समष्टिरूप सावयव पदार्थों की पर प्रयोजनीयता) त्रिगुणों की विपरीतता, अधिष्ठान पुरुष संबंधी भोक्तृभावना तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्ति से, पुरुष नामक पदार्थ की स्थिति निश्चित होता है। पूर्वोक्त विपरीत के कारण ही पुरुष का साक्षित्व, विशुद्धता, औदास्य, द्रष्टत्व और अकर्त्तृत्व सिद्ध होता है। आत्मा की मुक्ति के अनुरूप ही प्रधान की चेष्टायें होती हैं। "इत्यादि कहने के बाद ही कहते हैं "इसलिए कोई आत्मा, बद्ध-मुक्त या संसारी नहीं होता, अपितु परिवर्त्तनशील प्रकृति ही, संसारी, बद्ध या मुक्त होती है। "इसलिए पुरुष के संयोग से अचेतन प्रकृति, चेतन की तरह होती है और पुरुष स्वभाव से निष्क्रय होते हुए भी कर्त्ता सा प्रतीत होता है। पुरुष की कैवल्य सिद्धि के लिए तथा पुरुष द्वारा प्रकृतिदर्शन के लिए, अंधे और लंगड़े के संयोग का सा, प्रकृति पुरुष का संयोग होता है जिसके फलस्वरूप सृष्टि होती है।

साक्षित्व द्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्त्तु रुदासीनस्य कैवल्यैक स्वरूपस्य न संभवंति। एवं रूपस्य तस्याध्यासमूलभ्रमोऽपि न संभवति, अध्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात्। प्रकृतेश्च तौ न संभवतः, तयोश्चेतन धर्मत्वात्। अध्यासोहिनाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्य धर्मानुसंधानं स च चेतन धर्मो विकारश्च। न च पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधि मात्रेणाध्यासादयः संभवंति, निर्विकारत्वात्। संभवति चेत्, नित्यं प्रसज्येरन्, सन्निधेरकिंचित्करत्वं च" न

ankurnagpal108@gmail.com

विलक्षणत्वात् "इत्यत्र प्रतिपादितम्।

साक्षित्व, द्रष्टटव, भोक्तृत्व आदि, धर्म, नित्य, निर्विकार, उदासीन अकर्त्ता, कैवल्यैकस्वरूप पुरुष में नहीं हो सकते, तथा ऐसे स्वभाव वाले पुरुष में, अध्यासमूलक भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यास और भ्रम दोनों ही विकारात्मक हैं। प्रकृति में भी, अध्यास और भ्रम नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों चेतन के धर्म हैं, प्रकृति अचेतन है। किसी चेतन को,किसी एक पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ के धर्म या गुणों की प्रतीति हो, उसे अध्यास कहते हैं, यह अध्यास, चेतन का विकारात्मक धर्म है यदि कहो कि-प्रकृति के साहचर्य से चेतन में अध्यास आदि होते हैं, सो भी नहीं हो सकता, क्यों कि पुरुष स्वभाव से निर्विकार है। यदि कहो कि-प्रकृति के नित्य साहचर्य से, पुरुष में संभव हो सकते हैं; तब तो, इन्हें पुरुष में सदा ही आरोपित मानना पड़ेगा। प्रकृति पुरुष के सानिध्य की अकिंचित् कार्यता हम न विलक्षणत्वात् "सूत्र में दिखला चुके हैं।

प्रकृतिरेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्-कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी सेत्युच्यते? वदंतिहि—"नानाविधैरुपायैरुपकारिण्य-नुपकारिणः पुंसः, गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति "इति तथा- प्रकृतिर्येन पुरुषेण यथास्वभावादृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव निवर्तत इति चाहुः। "रंगस्यदर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा वृत्तात् पुरुषस्यतथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः प्रकृतेः सुकुमारतरं न किं चिदस्तीति मेमतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति-पुरुषस्यै इति। तदप्यसंगतम्-पुरुषोहि नित्यमुक्तत्वान्निर्विकारत्वान्नतां कदाचिदपि पश्यति नाध्यस्यति च। स्वयं स्वात्मानं न पश्यति, अचेतनत्वात्। पुरुषस्य स्वात्मदर्शनं, स्वदर्शनमिति नाध्यवस्यति स्वयमचेतनत्वात् पुरुषस्य च दर्शनरूप विकारासंभवात्।

यदि कहो कि—प्रकृति ही संसरित, बद्ध और मुक्त होती है; तो उसे नित्यमुक्त पुरुष की उपकारिणी कैसे कह सकते हो? सांख्यों का कथन है कि-"गुणवती (सत्त्वरजतमोमयी अथवा सद्गुण संपन्ना स्त्री)

ankurnagpal108@gmail.com

पुरुष (आत्मा या स्वामी) के अपकार करने पर भी, गुणहीन उस पुरुष का, उपकार ही करती है, अपना प्रयोजन होते हुए भी, उसी का प्रयोजन साधती है।"वे ये भी कहते हैं कि-प्रकृति, जिस पुरुष से, जैसे स्वभाव से देखी जाती है, उस पुरुष के निकट से वह वैसी ही, उस समय लौट आती है-जैसे कि-"नर्त्तकी, रंगशाला में स्थित पुरुषों को नृत्य दिखलाकर, लौट जाती है, वैसे ही प्रकृति, पुरुष को अपनी झलक दिखलाकर लौट आती है। प्रकृति से अधिक, कोई और सुकुमार नहीं हो सकता, ऐसी मेरी मति है, पुरुष ने मुझे पहिचान लिया, ऐसा सोचते ही वह लज्जित होकर पुनः उसके सामने नहीं जाती। "इत्यादि कथन भी असंगत है—पुरुष जब नित्य मुक्त और निर्विकार है तो वह, उस प्रकृति को न देख सकता है और न स्वतः अध्यस्त ही हो सकता है। वह प्रकृति स्वयं अपने को तो देख नहीं सकती, क्यों कि अचेतन है। वह जो, पुरुष को अपना दर्शन देती है, उसमें स्वयं तो अध्यस्त (लिप्त) हो नहीं सकती, क्योंकि—अचेतन है। पुरुष भी निर्विकार है, इसलिए दर्शन कर नहीं सकता।

अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमित्युच्यते, सन्निधेर्नित्यत्वेन नित्य दर्शन प्रसंग इत्युक्तम्। स्वरूपातिरिक्तकादाचित्क सन्निधिरपि नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते।

जो यह कहा कि—प्रकृति की सन्निधि होने मात्र से, दर्शन की प्रवृत्ति होती है, तो नित्य सन्निधि से, दर्शन की प्रवृत्ति भी नित्य होगी। यदि नित्य सन्निधि न मानकर कभी कभी की सन्निधि मानते हो तो भी, नित्यनिर्विकार पुरुष में दर्शन प्रवृत्ति की संभावना नहीं है।

किं च मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव दर्शनं चेत्-बंधहेतुरपि तदेवेति नित्यवद् बंधो मोक्षश्चस्याताम्। अथवा दर्शनं बंधहेतुः यथावत् स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरिति चेत्-उभयविधस्यापि दर्शनस्य सन्निधानरूपतानतिरेकात्सदोभय प्रसंग एव। सन्निधिरनित्यत्वे तस्यहेतुरन्वेषणीयः, तस्यापीत्यनवस्था। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपसद्भाव एव सन्निधिरिति तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन

ankurnagpal108@gmail.com

नित्यवद्बंधमोक्षौ। अत एवमादेर्विप्रतिषेधात् सांख्यानांदर्शन-मसमंजसम्।

यदि कहो कि–प्रकृतिसानिध्य दर्शन ही, पुरुष का मोक्ष है, तो वह प्रकृति बंधन का कारण भी तो है, इस प्रकार तो बंधन और मोक्ष दोनों साथ साथ रहेंगे। यदि कहो कि–भ्रांतिपूर्णज्ञान ही बंधन का कारण है तथा आत्मा का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है; तो इन दोनों प्रतीतियों से उक्त सन्निधि से कोई भेद नहीं है, वही बंधन और मुक्ति की साथ साथ होने वाली बात, उठती है। यदि सन्निधि को अनित्य मानें तो उसकी अनित्यता का कारण खोजना होगा, उससे भी अनवस्था होगी। दोष परिहार के लिए यदि प्रकृति और पुरुष के स्वरूप सद्भाव को ही सन्निधि मानें, तो जब दोनों का ही स्वरूप नित्य माना है, बंधन और मोक्ष भी नित्य हो जावेंगे। इस प्रकार की अनेक अनर्गल बातों से सांख्यों का दर्शन असंगत सिद्ध होता है।

येऽपिकूटस्थनित्यनिर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रं ब्रह्माविद्या–साक्षित्वेनापारमार्थिक बंधमोक्षभागिति वदंति तेषामप्युक्तनीत्याऽ-विद्यासाक्षित्वाध्यासाद्यसंभवादसामंजस्यमेव, इयांस्तुविशेषः, सांख्याः जननमरण प्रतिनियमादिव्यवस्था सिध्यर्थं पुरुषबहुत्वमिच्छंति, तेतु तदपि नेच्छंतीति सुतरामसामंजस्यम्।

और जो लोग (शांकरमतावलंबी) कूटस्थ, नित्य निर्विशेष, स्वप्रकाश, चैतन्यमात्र स्वरूप ब्रह्म को ही अविद्या का साक्षी और द्रष्टा बतलाकर बंधन और मोक्ष के मिथ्यात्व की बात कहते हैं, उनके मतानुसार भी, ब्रह्म के अविद्या साक्षित्व आदि धर्मों का अध्यास संभव नही हो सकता, असामंजस्य ही होता है. इनकी सांख्यों से इतनी ही विशेषता है कि-सांख्य लोग-जननमरणव्यवस्था की रक्षा के लिए अनेक पुरुषों की कल्पना करते हैं, जब कि शांकर वो भी नहीं करते अर्थात् अद्वैत स्वीकारते है, असामं-ज़स्य तो हर स्थिति में होता ही है।

ankurnagpal108@gmail.com

यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्या पारमार्थ्यविभागेन वैषम्यमुक्तं, तदयुक्तम्, पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकार स्वप्रकाशैकरस चिन्मात्रस्य स्वव्यतिरिक्त साक्षित्वाद्यनुपपत्तेः। अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्यत्वबाध्यत्वाभ्युपगमात् सुतरामसंगतम्। औपाधिक भेदवादेऽपि उपाधिसंबंधिनो ब्रह्मणोऽप्यमेवस्वभाव इत्युपाधिसंबंधा-द्यनुपपतेरसामंजस्यं पूर्वमेवोक्तम्।

और जो, प्रकृति की परमार्थता और अपरमार्थता के आधार पर वैषम्य का समर्थन किया वह भी असंगत है; प्रकृति परमार्थ हो या अपरमार्थ, नित्य–निर्विकार–स्वप्रकाश–एकमात्र चिन्मय वस्तु के लिए अपने से अतिरिक्त कोई और साक्षी, नहीं हो सकता। यदि प्रकृति को अपरमार्थ मानते हैं तो प्रकृति में दृश्यत्व और बाध्यत्व भी मानने ही पड़ेंगे, इस स्थिति में, पुरुष का साक्षित्व मानना असंगत होगा। प्रकृति के पारमार्थिक भेद मानने पर भी, उपाधिसंबंद्ध ब्रह्म का और उसका स्वभाव जब एक सा ही है, तब उपाधि संबंध आदि घट नहीं सकता, इन समस्त कारणों से जो असामंजस्य होता है, उसे तो पहिले ही बतला चुके हैं।

२ महद्दीर्घाधिकरणः—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् ।२।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्त्याभासमूलतय विप्रतिसिद्धत्वाच्चा-सामंजस्यमुक्तम्। संप्रति परमाणुकारणवादस्याप्यसामंजस्यम् प्रतिपाद्यते- "महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् "इति। असमंजसमिति वर्त्तते, वा शब्दश्चार्थे। ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम्, द्वयणुकपरमाणुभ्यां, महद्दीर्घवत् त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत्, अन्यच्च-तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम्, परमाणुभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण

ankurnagpal108@gmail.com

जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमंजसमित्यर्थः। तथाहितंतु प्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, परमाणवोऽपि स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना एव द्वयणुकादीनां उत्पादकाभवेयुः, अन्यथा परमाणूनां प्रदेशभेदभावे सति, सहस्रपरमाणुसंयोगेऽपि एकस्मात् परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया-अणुत्व ह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वाद्यसिद्धिः स्यात्। प्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणवोऽपि सांशाः स्वकीयैरंशै। ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था।

असद् युक्तिमूलक, परस्पर विरुद्ध मतवाले, प्रधान कारणावाद की असंगति बतला दी गई। अब "महद्दीर्घवद् "इत्यादि सूत्र से परमाणु कारणवाद की असंगति का प्रतिपादन करते हैं। सूत्र में वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका तात्पर्य है कि-यहाँ भी असामंजस्य है ह्रस्व और परिमंडल अर्थात् द्व्यणुक और परमाणु से महद्दीर्घवत् अर्थात् त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है इत्यादि मत के साथ ही कणाद के अन्य मत भी असामंजस्यपूर्ण हैं। अर्थात् परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन जैसे असंगत है, वैसे ही अन्य विषय भी असंगत हैं। जैसे कि वस्त्र के अवयव तंतु अपने छः पार्श्वों से परस्पर संयुक्त होकर, अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, परमाणु भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर ही द्व्यणुक आदि के उत्पादक होंगे, अन्यथा अंशरहित परमाणु हजारों हजारों परमाणुओं से संयुक्त होने पर भी, बड़े परिमाण के हो ही नहीं सकते, इसके फलस्वरूप, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, महत्त्व आदि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। परमाणुओं के अंशभेद स्वीकारने से, वे परमाणु अपने अपने अंशों से सावयव होंगे, इस प्रकार अनवस्था होगी।

न च वाच्यम्-अवयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्षपमहीधरयोः वैषम्यासिद्धेः। अवयवापकर्षकाष्टावश्याभ्युपगमनीया इति। परमाणूनां प्रदेश भेदाभावे सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा न जायेतेति, सर्षपमहीधरयोरेवासिद्धेः। किं कुर्मः? इति चेत्, वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम्।

ankurnagpal108@gmail.com

यह नहीं कह सकते कि-अवयवों की अल्पता और दीर्घता द्वारा ही सरसों और पर्वत रूप विषमता होती है। परमाणुओं के अनंत अवयवों को मानने पर, अवयवों के अनंतत्व साम्य होने से सरसों और पर्वत के मध्य में, कभी विभिन्न परिमाण, प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अवयव की चरम सूक्ष्मता, अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। परमाणु के अवयव भेद को न स्वीकारने से, एक परमाणु का जो परिमाण है, उसके द्वारा, उससे अधिक परिमाण स्थूलता, कभी हो नहीं सकती, इसलिए सरसों और पर्वत का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि-फिर क्या करें? वैदिक पक्ष स्वीकारो।

यत्तु परैः ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्रंव्याख्यातम्, तदसंगतम्। पुनरुक्तं च, ब्रह्मकारणवादे परोक्तान्दोषान् पूर्वस्मिन पादे परिहृत्य परपक्षप्रतिक्षेपो हि अस्मिन् पादे क्रियते। चेतनाद् ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिसंभवश्च "न विलक्षणत्वात् "इत्यत्रैव प्रपंचितः। अतो ह्रस्वपरिमंडलाभ्यां महद् दीर्घाणु ह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच् च तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम् इत्येव सूत्रार्थः।

जो लोग, ब्रह्म कारणवाद दूषण परिहार परक इस सूत्र की व्याख्या करते हैं, वह असंगत और पुनरूक्ति मात्र है। पूर्वपाद में ही, ब्रह्मकारणवाद पर किये गए, परपक्ष के प्रहारों का परिहार करके इस द्वितीयपाद में परपक्ष का प्रत्याख्यान करते हैं। चेतन ब्रह्म से ही, जगत् की उत्पत्ति संभव हो सकती है, ऐसा "न विलक्षणत्वात्" सूत्र में विस्तृत रूप से बतला दिया गया है। ह्रस्व और परिमंडल से जैसे-महत्-दीर्घ अणु और ह्रस्व परिमाण युक्त पदार्थों की उत्पत्ति जैसे असंगत है, वैसे ही कणाद के अन्य मत भी असंगत हैं, यही सूत्र का तात्पर्य है।

किमन्यदसमंजसमित्याह-और असंगति क्या हैं? इसका उत्तर देते हैं।

उभयधाऽपि न कर्मातस्तदभाव:।२।२।११।।

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकर्मजनित तत्संयोगपूर्वक-द्वयणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्रनिखिलजगदुत्पत्तिकारणभूत

ankurnagpal108@gmail.com

परमाणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते "अग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं अणु मनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि "इति।

जो परमाणु को जगत का उपादान मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि-परमाणु से सर्वप्रथम क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है, जिससे द्वयणुक आदि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है। उसमें विशेषता यह है कि- समस्त जगत् की उत्पत्ति की कारणभूत जो परमाणुओं की आदिम क्रिया है, वह अदृष्ट परिचालित है। "अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला, वायु की तिरछी चाल, परमाणु और मन की आदिम क्रिया आदि, अदृष्ट परिचालित हैं, "इत्यादि।

तदिदं परमाणुगतंकर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्ट कारितं वा? उभयथाऽपि न संभवति, क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनित-स्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासंभवात्, संभवे च सदोत्पादकत्व प्रसंगः। आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणुगतकर्मोत्पत्तिहेतुत्वंन संभवति।

प्रश्न यह है कि-परमाणु की जो आद्यक्रिया है, वह परमाणुगत अदृष्ट द्वारा संपादित है अथवा, आत्मगत अदृष्ट द्वारा संपादित है? दोनों प्रकार से नहीं हो सकती, क्योंकि-जीवकृतशुभ अशुभ कर्म जनित अदृष्ट की कभी परमाणु में अवस्थिति नहीं हो सकती यदि संभव भी हो तो सदा क्रियोत्पत्ति होती रहेंगी, कभी विराम न होगा। आत्मगत अदृष्ट, कभी परमाणुओं में, कर्मोत्पादन कर नहीं सकता।

अथादृष्टवदात्मसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तिः। तदातस्य अदृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसर्ग प्रसंगः। नन्वदृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम्। कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते, कानिचिज्जन्मान्तरे कानिचित्कल्पान्तरे। अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदोत्पादकत्वप्रसंगः इति, नैतत्, अनंतरैरात्मभिः संकेतपूर्वकमयुगपदनुष्ठतानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन् काले एकरूपविपाकस्याप्रामाणिकत्वात्। अतएव युगपत् सर्वसंहारो द्विपरार्ध

ankurnagpal108@gmail.com

कालं अविपाकेनावस्थानं च न संगच्छते। न चेश्वरेच्छाहितविशेषादृष्टसंयोगादणुषुकर्म; आनुमानिकेश्वरासिद्धेः "शास्त्रयोनित्वात्" इत्यत्रोपपादित्वात्। अतो जगदुत्पत्तेरणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः।

यदि कहो कि-अदृष्ट विशिष्ट आत्मा के साथ संयोग होने से परमाणुगत क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा होने से तो, जीव के अदृष्ट प्रवाह (पापपुण्य धारा) की नित्यता सिद्ध होती है साथ ही सृष्टि की नित्यता भी। परिपक्वावस्था को प्राप्त अदृष्ट ही, फल प्रदान करता है। कोई कोई अदृष्ट (जिनका फल भोग इसी जन्म में संभव है) तत्क्षण ही परिपक्व हो जाते हैं, कोई अदृष्ट जन्मान्तर में और कोई कल्पान्तर में परिपक्व होते हैं। इसलिए अदृष्ट जीव ही जब, विपाक सापेक्ष है तब उससे, सदा उत्पादन की ही आशा रखना व्यर्थ है। नहीं आत्मायें अनन्त हैं, उनके द्वारा विभिन्न काल में अनुष्ठित क्रियायें, उन सबका कर्मजन्य अदृष्ट, एक ही समय, एकसा परिपक्व होगा, इसका तो कोई ठिकाना हैं नहीं। इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का संहार, द्विपरार्धकाल, और विपाक रहित अदृष्ट की स्थिति संभव नहीं है। ईश्वर की इच्छानुरूप, अदृष्ट में कोई विशेष गुण हो जावे या उस अदृष्ट के संयोग से परमाणु में प्रथम स्पंदन हो जावे। ऐसा भी नहीं कह सकते, "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र में आनुमानिक ईश्वर को असिद्ध कर चुके हैं। इसलिए जगत की उत्पत्ति में अणुगत कर्म पूर्वकता नहीं हो सकती।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्चासमंजसम्, कुतः? साम्यादनवस्थितेः समवायस्याप्यवयविजातिगुणवदुपपादकान्तरस्यापि तथेत्यनवस्थितेरसमंजसमेव। एतदुक्तं भवति-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः संबंधः, स समवाय इति समवायोऽभ्युपगम्यते। अपृथक्स्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथा भावस्य निर्वाहकत्वेन चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि तत्साम्यात्तथाभाव-

ankurnagpal108@gmail.com

हेतुरन्वेषणीयः तस्याऽपितथेत्यनवस्थितिः । समवायस्य तदप्रथक्-सिद्धत्वं स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्—जातिगुणनामे वैष स्वभावः परिकल्प्यनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैव स्वभाव इति कल्पयितुं युक्तम् इति ।

समवाय संबंध मानने से भी, यह मत असंगत है । ऐसा मानने से साम्य होता है, जिससे कि अव्यवस्था हो सकती है । अवयवी की जाति और गुण के उपपादन के लिए, जैसे समवाय संबंध मानते हो, वैसे ही समवाय की सिद्धि के लिए भी किसी अन्य हेतु का अन्वेषण करना पड़ेगा, फिर उस कल्पित हेतु के हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार कल्पना की समाप्ति न होने से असामंजस्य होगा । कथन यह है कि—जिसकी कोई पृथक् स्थिति नहीं आधार आधेयभाव से ही जिसकी स्थिति होती है, उसकी आश्रयता बतलाने वाला संबंध ही समवाय है, ऐसी एक समवाय संबंध की कल्पना की गई । जिनकी पृथक् रूप से स्थिति और उपलब्धि नहीं होती, जाति गुण आदि की जिनसे अपृथक् स्थिति और उपलब्धि है, केवल इतना बतलाने के लिए ही यदि समवाय संबंध की कल्पना करते हैं तो, समवाय भी तो उसी प्रकार का एक द्रव्य होगा, जिसकी पृथक् स्थिति और उपलब्धि नहीं हो सकती, उसकी अपृथक्ता के लिए एक कारण की कल्पना करनी आवश्यक हो जायगी, उस कल्पित हेतु के हेतु की भी कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होगी । यदि कहें कि—उससे अपृक् सिद्धता ही समवाय का स्वभाव है तो, जाति गुण आदि का भी ऐसे ही स्वभाव मानने में क्या हानि है । परंतु कल्पनातीति, समवाय की कल्पना करके, उसके ऐसे स्वभाव की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है ।

समवायस्यनित्यत्वे अनित्यत्वे चायं दोषः समानः नित्यत्वेदोषान्तरं चाह—समवाय की नित्यता अनित्यता दोनों ही स्थिति में उक्त दोष समान रूप से होगा । नित्यता की स्थिति के दोषों को बतलाते हैं ।

नित्यमेव च भावात् ।२।२।१३॥

समवायस्य संबंधत्वात् संबंधस्य नित्यत्वे संबंधिनोजगतश्च नित्यमेव भावादसमंजसम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

समवाय एक संबंध विशेष है, उस संबंध की नित्यता स्वीकारने से, उससे संबंधी जगत की भी नित्यता हो जावेगी, जो कि असंगत बात है।

रूपत्वादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१४।।

परमाणुनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरस गंधस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेण अनित्यत्वस्थूलत्व सावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनां अनित्यत्व तथाविधकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनाऽनुगुण्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषेव्यवस्थापयितुं शक्यः । दर्शनानुगुण्येन हि परमाणुनां रूपत्वादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते। अतोप्यसमंजसम् ।

पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय इन चार प्रकार के परमाणुओं को रूप-रस-गंध और स्पर्श विशिष्ट स्वीकारने पर भी तुम्हारी अभिमत नित्यता और निराकारता के विपरीत, अनित्यता स्थूलता और साकारता संभावित हो जाती है। रूपादि विशिष्ट घट आदि को अनित्य और स्वानुरूप कारणों से उत्पन्न होते देखा जाता है। लोक प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ की कल्पना करते हुए, अपने अभिप्रेत विशेषार्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते। इसलिए तुम्हारा मत असंगत है।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया परमाणुनां रूपादिमत्त्वंनाभ्युपगभ्यते तत्राह—

यदि उक्त दोष के परिहार के लिए परमाणुओं के रूपादि को नहीं स्वीकारते तो उस पर कथन है।

उभयथा च दोषात् २।२।१५।।

न केवलं परमाणुनां रूपादिमत्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादि विरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानां पृथिव्यादयो रूपादिशून्याः

ankurnagpal108@gmail.com

स्युः तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्वाभ्युपगमे पूर्वोक्त दोष इत्युभयथा च दोषात् असमंजसम् ।

केवल परमाणुओं को रूपादिमान मानने से ही दोष उपस्थित होता हो, सो बात नहीं है, अपितु रूपादि के बिना भी, कारण का गुण कार्य में आ जाता है, इस नियम के अनुसार, परमाणुजन्य पृथ्वी आदि कार्य रूप आदि से शून्य हो जावेंगे। इस दोष के परिहार के लिए यदि, परमाणुओं का रूपादि संबंध स्वीकारते हो तो वही अनित्यता आदि दोष उपस्थित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में दोष होने से, असामंजस्य निश्चित है।

अपरिग्रहाच्चात्यंतमनपेक्षा ।२।२।१६॥

कापिल पक्षस्य श्रुतिन्यायविरोध परित्यक्तस्यापि सत्यकार्यवादादिना क्वचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्यतु काणादपक्षस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहात् अनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः कार्या ।

श्रुति और युक्ति विरुद्ध होने से कपिल का मत परित्यक्त है पर उनके सत्कार्यवाद आदि किन्ही अंशो को वैदिकों ने स्वीकारा है। इस कणादमत का कोई भी अंश, वैदिकों द्वारा नहीं स्वीकारा गया, तथा यह युक्ति विरुद्ध भी है। इसलिए मुमुक्षुओं को इसकी एकदम उपेक्षा करनी चाहिए।

३ समुदायाधिकरणः—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१७॥

परमाणुकारणवादिनो बैशेषिका निरस्ताः। सौगताश्च जगतः परमाणुकारणत्वमभ्युपगच्छनीत्यनंतरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद् व्यवहारादिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधा; केचित्पार्थिवाप्यतैजसवायवीय परमाणुसंघातरूपान् भूत भौतिकान् वाह्यांश्चित्त चैत्तरूपांश्चाभ्यंतरानर्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धानभ्युपयंति । अन्ये तु

ankurnagpal108@gmail.com

वाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्यादीन् विज्ञानानुमेयान् वदंति । अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत् वाह्यार्थस्तु स्वाप्नार्थकल्पा इत्याहुः त्रयोऽप्येते स्वाभ्यूपगतं वस्तु क्षणिकमाचक्षते, उक्तभूतभौतिकचित्त-चैतव्यतिरिक्तमाकाशादिकं स्वरूपेणैवनानुमन्वते अन्ये तु सर्व-शून्यत्वमेव संगिरंते । तत्र ये वाह्यार्थास्तित्ववादिनः, ते तावन्निरस्यंते, ते चैवं मन्यन्ते रूपरसस्पर्शगंधस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, रूपरस स्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्चतैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः, पृथिव्यपतेजोवायुरूपेण संहृन्यन्ते, तेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्य शरीरेन्द्रियविषयरूपसंघाता भवंति, तत्र च शरीरान्तर्वर्त्ती ग्राहकाभिमानारूठो विज्ञानसंतान एवात्मत्वे-नावतिष्ठन्ते, तत एव सर्वो लौकिकोव्यवहारः प्रवर्त्तते इति ।

परमाणु कारणवादियों का वैशेषिक मत निरस्त हो चुका। अब, सौगत (बौद्ध) भी परमाणुकारणवाद को जगत् की सृष्टि के लिए स्वीकारते हैं, उनके मतानुसार भी, जगत की उत्पत्ति आदि का व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता, इत्यादि का प्रतिपादन करते हैं। वे बौद्ध चार संप्रदायों में विभक्त हैं, उनमें से एक-पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओं की समष्टि को भूत (पृथ्वी आदि) और भौतिक (घट-पट-आदि) तथा चित्त और चैतसिक (चित्तगतसुखदुःखादि) रूप से वाह्य और आभ्यंतर पदार्थ मानते हैं, ये लोग प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ऐसा मानते हैं। दूसरे-पृथ्वी आदि समस्त वाह्य पदार्थों को बुद्धि अनुमेय बतलाते हैं, प्रत्यक्षसिद्ध नहीं मानते। तीसरे-विज्ञान (बुद्धि वृत्ति को ही एकमात्र सत्य मानते हैं, वाह्य पदार्थों को स्वप्न की तरह काल्पनिक मानते हैं। ये तीनों ही अपने स्वीकृत पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। इन भूत भौतिक-चित्त चैतसिक पदार्थों के अतिरिक्त, आत्मा और आकाश आदि का स्वरूपतः अस्तित्व नहीं मानते। चौथे-सब कुछ शून्य ही बतलाते हैं [अर्थात् शून्य ही एकमात्र सत्य, और सब कुछ मिथ्या है] इनमें वाह्यार्था-स्तित्ववादी कहते हैं कि—रूप-रस-स्पर्श और गंध, ये चार गुण, पार्थिव परमाणुओं के; रूप-रस और स्पर्श ये तीन गुण, जलीय परमाणुओं के;

ankurnagpal108@gmail.com

रूप और स्पर्श ये दो गुण, तैजस परमाणुओं के; स्पर्शमात्र वाययीव परमाणुओं के; स्वाभाविक गुण हैं। ये चारों पृथ्वी आदि चार स्थूल आकारों में एकत्र होते हैं तब इनके सम्मिलन से, शरीर, इन्द्रिय, और इंद्रियों के विषय रूप संघात होते हैं। शरीर का अन्तर्वर्त्ती जो, ज्ञातृत्वाभिमानी, विज्ञान संतान (बुद्धि का वृत्ति प्रवाह) है, वही आत्मा है उसी से सारे लौकिक व्यवहार संपादित होते हैं।

तत्राभिधीयते-समुदाय उभयहेतुकेऽपि, तदप्राप्तिः, योऽयं अणुहेतु पृथिव्यादिभूतात्मकः समुदायः, यश्च पृथिव्यादि हेतुकः शरीरेन्द्रिय विषयरूपः समुदायः, तस्मिन् उभय हेतुकेऽपि समुदाये, तत्प्राप्तिर्नोप-पद्यते-जगदात्मकसमुदोयात्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। परमाणुनां पृथिव्यादि भूतानां च क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणध्वंसिनः परमाणवो भूतानि च कदा संहतौ व्याप्रियन्ते, कदावा संहन्यंते, कदा विज्ञान विषयभूताः, कदा च हानोपादानादिव्यवहारास्पदतां भजंते, को वा विज्ञानात्मा, कं च विषयं स्पृशति, कश्चविज्ञानात्मा, कमर्थं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं, कश्च कदोपादत्ते, स्प्रष्टा हिनष्टः, स्पृष्टश्चनष्टः, तथा वेदिता विदितश्चनष्टः, कथं चान्येन स्पृष्टमन्यो वेदयते, कथंचान्येन विदितमर्थमन्य उपादत्ते? संतानानामेकत्वेऽपि, संतानिभ्यस्तेषां वस्तुतो वस्त्वन्तरत्वानभ्युपगमान्नतन्निबंधनं व्यवहारादिकमुपपद्यते, अहमर्थ एवात्मा, स च ज्ञातैवेति, चोपपादितं पुरस्तात्।

इस पर कथन यह है कि—दोनों प्रकार के कारणों के मानने पर भी, संघात संभव नहीं है। अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न पृथ्वी आदि का भूतात्मक समुदाय, तथा पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न, भौतिक शरीर-इंद्रिय और विषयों का समुदाय, इन दोनों को मानने पर भी, जगदाकार समुदायोत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि—परमाणु और पृथ्वी आदि भूतों को जब क्षणिक मानते हो तो उन क्षणिक विनाशशील परमाणुओं और भूतों का संगठन कब होगा? और वे बुद्धिगम्य किस क्षण में होंगे? उनका

ankurnagpal108@gmail.com

हेय और उपादेय रूप से व्यवहार कब होगा? विज्ञानात्मा किसे कहोगे और विषय को ग्रहण करने वाला किसे कहोगे? विज्ञानात्मा किस विषय को कब ग्रहण करेगा? उस ज्ञात विषय का कौन, कब अनुभव करेगा? जब स्पर्श करने वाला, स्पर्श होने वाला, तथा ज्ञाता और ज्ञेय आदि सभी क्षणभंगुर नष्ट हैं, तब कब, कौन, किस वस्तु का, स्पर्शजन्य अनुभव कर सकेगा? तथा ज्ञात विषय का, किसी दूसरे से कैसे उल्लेख कर सकेगा? परंपरित संघात को जब पृथक् वस्तु नहीं मानते अपितु एक मानते हो तो, लोकव्यवहार सध नहीं सकता, क्योंकि-"अहं" पदार्थ ही तो आत्मा है, उसे ही पहिले ज्ञाता रूप में बतला चुके हो।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्

।२।२।१८।।

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं संघातभावादिकमिति चेत्, एतदुक्तं भवति-यद्यपिक्षणिकाः सर्वे भावाः, तथाऽप्यविद्ययैतत्सर्वमुपपद्यते, अविद्या हि नाम विपरीत बुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादिगोचराः तया संस्काराख्याः रागद्वेषादयोजायंते, ततश्चित्ताभिज्वलनरूपं विज्ञानं ततश्च नामाख्याश्चित्तचैताः पृथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम् ततः षडायतनाख्यमिन्द्रियषट्कम् ततः स्पर्शाख्यः कायः, ततोवेदनादयः, ततश्चपुनरप्यविद्यादयो यथोक्ता, इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्र परिवृत्तिः, एतच्च सर्वं पृथिव्यादिभूतभौतिकसंघातमंतरेण नोपपद्यते। अतः संघातभावादिकमुपपन्नम् इति।

यदि कहो कि–अविद्या आदि पदार्थों में, परस्पर हेतुता है, जिससे कि–संघात सद्भावादि उपपन्न हो जाते हैं। यद्यपि सारे भावक्षणिक हैं, तथापि अविद्या द्वारा ये सब उपपन्न होते हैं। क्षणिकता आदि में स्थिरता आदि विपरीत बुद्धि का होना ही अविद्या है, उस अविद्या से ही राग द्वेष आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, उससे चित्त का स्फुरण रूप विज्ञान पैदा होता है, उस विज्ञान से, संज्ञात्मक चित्त और चैत्तधर्मसमुदाय तथा रूप युक्त पृथिवी आदि समुदाय होते हैं, उससे छः इन्द्रियाँ, स्पर्शनामक देह, उससे वेदना या अनुभूति का जन्म होता है, फिर उसी प्रकार अविद्या

ankurnagpal108@gmail.com

आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार अनादिकाल से परस्परमूलक अविद्यादि चक्र घूम रहा है। पृथ्वी आदि भूत भौतिकमय संघात के प्रभाव में यह चक्र बंद हो जाता है। इसलिए संघात सद्भाव ठीक है।

तत्रोत्तरं—न संघातभावानिमित्तत्वात्—इति। नैतदुपपद्यते एषामविद्यादीनां पृथिव्यादिभूतभौतिक संघातभावं प्रत्यनिमित्तत्वात् न खल्वस्थिरादिषु, स्थिरत्वादिबुद्ध्यात्मिकाऽविद्या तन्निमित्तारागद्वेषादयो वाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संहति हेतुतां प्रतिपद्यंते, शुक्तिकारजतादिबुद्धिर्हि न शुक्त्याद्यर्थं संहतिहुतुर्भवति। किं च यस्य क्षणिके स्थिरत्वबुद्धिः सतदैव नष्ट इति कस्य रागादयः उत्पद्यंन्ते। संस्काराश्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या कल्पयितुम्।

उसका उत्तर देते हैं—संघात सद्भाव आदि उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि संघात भाव की निमित्त, अविद्या नहीं है। जैसे कि—पृथ्वी आदि भूत भौतिक समुदाय में, अविद्या, निमित्त नहीं है, वैसे ही चक्र भ्रम का सिद्धान्त भी असंगत है। स्थिरता रहित पदार्थों में, स्थिरता बुद्धिवाली अविद्या और उससे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष, कभी अन्य क्षणिक पदार्थों के साथ, संघात भाव से समुत्पादन के कारण नहीं हो सकते। सीप में जो चाँदी की प्रतीति होती है, वह कभी सींप आदि पदार्थों के संघात की हेतु नहीं हो सकती। एक बात और भी है कि—क्षणिक पदार्थों में, जिसकी स्थिरत्व बुद्धि होती है वह क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो जाती है, फिर राग आदि होंगे किस आधार पर? जो स्थिरतर किसी एक द्रव्य को, ज्ञान संस्कार का आश्रय नहीं मानते, उनके मतानुसार, ज्ञान संस्कार की जो उत्तरोत्तर अनुवृत्ति है, उसकी कलपना होगी कैसे?

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। २।२।१९॥

इतश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणोत्पत्ति वेलायां, पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः, अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत् अथ पूर्वक्षणवर्त्तित्वमेव

ankurnagpal108@gmail.com

हेतुत्वमित्युच्यते, एवं तर्हि कंचिदेव घटक्षणः तदुत्तरकालभाविनां सर्वेषामेव गोमहिषाश्वकुड्यपाषाणादीनां त्रैलोक्यवर्त्तिनां हेतुः स्यात्। अथैक जातीयस्यैव पूर्वक्षणवर्त्तिनो हेतुत्वमिष्यते, तथापि सर्वदेशवर्त्तिनामुत्तरक्षणभाविनां घटानामेक एव पूर्वक्षणवर्त्तिघटो हेतुः स्यात्, अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे, तथापि, कस्यैकस्य को हेतुः ? इति न ज्ञायते। अथ यस्मिन् देशे यो घटक्षणः स्थितः, तद्देशसंबंधिन एवोत्तरक्षणस्य स हेतुरिति; किं देशस्य स्थिरत्वं मनुषे ? किंच चक्षुरादिसंप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानवियत्वं संभवति।

इस लिए भी क्षणिक वादियों के मत से जगदुत्पत्ति संभव नहीं है-कि—कार्य क्षण की उत्पत्ति के समय ही, कारण क्षण तत्काल नष्ट हो जाता है, इसलिए वह, परवर्त्ती कार्यक्षण का, कारण तो कहलायेगा नहीं। यदि पूर्वक्षण के ध्वंस को ही कारण मानें तो, सभी स्थानों में, सभी क्षणों में, सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी। यदि कहो कि—पूर्वक्षण की जब स्थिति रहती है, उसे ही हेतु मानते हैं, तो उत्तर काल में होने वाले गाय, भैंस, घोड़ा, भींत-पत्थर आदि सभी जागतिक पदार्थों का वह हेतु होगा (किसी विशेष का कारण कैसे स्थिर करोगे ?) यदि कहो कि हम एक जातीय पूर्वक्षण को ही कारण मानते हैं, तो पूर्वक्षणवर्त्ती एक ही घट, उत्तर क्षणवर्त्ती, सर्व देशीय सभी घटों का कारण माना जावेगा। यदि एक क्षण को, एक कार्य का ही, कारण मानो, तो कौन सा क्षण किस कार्य का कारण है ? इसका निर्णय कैसे करोगे ? यदि कहो कि—जिस स्थान में जो घटक्षण है, वह उसी स्थान में स्थित उत्तर घटक्षणों का कारण होगा। तो क्या आप उस स्थान को स्थिरतर मानते हैं ! और भी एक बात है नेत्र के साथ जो पदार्थ का संबंध होता है, ज्ञानोत्पत्ति काल में यदि वह पदार्थ विद्यमान न रहेगा, तो कोई भी पदार्थ, ज्ञान का विषय होगा कैसे ?

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा। २।२।२०॥

असत्यपिहेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्, सर्वं सर्वत्रसर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्,

ankurnagpal108@gmail.com

न केवलमुत्पत्ति विरोध एव, प्रतिज्ञा च भवतामुपरुध्येत, अधिपति-सहकार्यालम्बनसमनन्तर प्रत्ययाश्चत्वारो विज्ञानोत्पत्तौ हेतवः इति वः प्रतिज्ञाः, अधिपतिः इन्द्रियम्। अथ प्रतिज्ञानुपरोधाय घट क्षणे स्थित एव घटक्षणान्तरोत्पत्तिरिष्यते तथा च सति द्वयोः कार्यकारणयोर्यौगपद्येनोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तथोपलभ्यते, क्षणिकत्व प्रतिज्ञा चैवं हीयेत। क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेत्—इंद्रियसंप्रयोगज्ञानयोर्यौगिपद्यं प्रसज्येत्।

हेतु के अभाव में भी यदि कार्य की उत्पत्ति मानो तो, हर समय, हर स्थान में, हर कार्य की उत्पित्त होती रहेगी। इतना ही नहीं, तुम्हारी प्रतिज्ञा में भी व्याघात होगा, तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि—अधिपति, सहकारी अवलंबन और समनंतर प्रत्यय, इन चार कारणों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। अधिपति का अर्थ इन्द्रिय है। उक्त दोष के परिहार के लिए, यदि एक ही घटक्षण के समकाल में, अपर घट की उत्पत्ति मानों तो, कार्य और कारण दोनों घटक्षणों की, एक साथ उपलब्धि होती, दो क्षणों की, एक साथ स्थिति कहीं भी देखी नहीं जाती, इसलिए तुम्हारा क्षणिकवाद हीन सिद्ध होता है। यदि कहो कि क्षणिकत्व का सिद्धान्त ही स्थिर है, तब तो विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग और तद्विषक ज्ञान, एक साथ होंगे [जो कि तुम्हें स्वीकार नहीं है]

प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्।२।२।२१॥

एवं तावदसत् उत्पत्ति निरस्ताः, सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोपपद्यत इत्युच्यते, क्षणिकत्ववादिभिर्मुद्गराभिघाताद्यनंतरभावित-योपलब्धियोग्यः सदृशसंतानावसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसंताने प्रतिक्षणभावी चोपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मश्च यो निरन्वयो विनाशः प्रति-संख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिधीमते, तौन संभवत इत्यर्थः। कुतः? अविच्छेदात्—सतो निरन्वयविच्छेदासंभवात्। असंभवश्चसत् उत्पत्तिविनाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव, अवस्था योगि

ankurnagpal108@gmail.com

तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति कारणादन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः 'तदनन्यत्वम्' इत्यत्र प्रतिपादितम्। निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाशदर्शनादन्यत्ररपि विनाशो निरन्वयोऽनुमीयत इति चेन्त, घटशरावादौ मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश इति निश्चिते सति, प्रदीपादौ सूक्ष्मदशापत्याऽप्यनुपलब्धोपपत्तेः। तत्राप्यवस्थान्तरापत्ति कल्पनस्यैव युक्तत्वात्।

असद् उत्पत्ति का निराकरण कर चुके अब सत् के निरन्वय और विनाश की अनुपपत्ति बतलावेंगे। क्षणिकतावादी मुद्गर प्रवाह के बाद के क्षण में उपलब्धि के योग्य समान प्रवाहों की स्थूल परम्परा के विनाश को प्रति संख्या निरोध, तथा उन प्रवाहों के मध्यवर्त्ती अतिसूक्ष्म उपलब्धि के अयोग्य प्रवाहों के विनाश को अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। अर्थात् स्थूल विनाश का नाम प्रतिसंख्यानिरोध और सूक्ष्म विनाश का नाम अप्रति संख्या निरोध है। ये दोनों नहीं हो सकते क्योंकि—जिसका कारण के साथ किसी प्रकार का संयोग ही न होगा, उसके विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश तो, अवस्थान्तर प्राप्ति मात्र है। "तदन्यत्वम्" इत्यादि सूत्र के प्रसंग इसका प्रतिपादन कर चुके हैं, अवस्थावान् द्रव्य स्थिरतर एक ही है, इसलिए कारण से कार्य, भिन्न वस्तु है। यदि कहें कि—दीप निर्वाण के बाद, दीप का निरन्वय (स्थूल) विनाश देखा जाता है, उसी के अनुसार अन्यत्र भी, निरन्वय विनाश का अनुमान किया जा सकता है। नहीं ऐसा नहीं कर सकते। घट प्याला-आदि सत्तावान पदार्थों में, उनकी कारण मिट्टी की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ती है, जिससे निश्चित होता है कि—सत्पदार्थ की अवस्थान्तर प्राप्ति का नाम ही विनाश है। विनाश के बाद, प्रदीप आदि के रहते हुए भी, दीप ज्वाल का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका एकमात्र कारण है कि—वह सूक्ष्म है। स्थूल तत्त्व की ही अवस्थांतर विनाश कल्पना की जा सकती है।

उभयथा च दोषात्।२।२।२३॥

क्षणिकत्ववादिभिरभ्युपेता तुच्छादुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छता-

ankurnagpal108@gmail.com

पत्तिश्च न संभवतीत्युक्तम्, तदुयमप्रकाराभ्युपगतौ दोषश्च भवति। तुच्छादुत्पत्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं स्यात्, यद्धि यस्मादुत्पद्यते, तत्तदात्मकंदृष्टम्-यथा मृत्सुवर्णादेरुत्पन्नं मणिमकुटादि मृत्सुवर्णाद्यात्मकं दृष्टम्, न च जगत्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते, न च प्रतीयते। सतो निरन्वयविनाशे सत्येकक्षणादूर्ध्वं कृत्स्नस्य जगतः तुच्छतापत्तिरेव स्यात् पश्चात्तुच्छाज्जगदुत्पत्तौ अनंतरोक्तं तुच्छात्मकत्वमेवस्यात्। अत उभयथाऽपि दोषान्न भवदुक्तप्रकारावुत्पत्तिनिरोधौ।

क्षणिक वादी कहते हैं कि—कार्य वस्तु तुच्छ कारण से उत्पन्न होती है और उत्पत्ति के बाद भी तुच्छ रूपता को ही प्राप्त होती है, उनकी यह बात भी संभव नहीं है, दोनों बातें दोषपूर्ण हैं। तुच्छ से उत्पन्न होनेवाला कार्य भी तुच्छात्मक ही होगा, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही देखा जाता है जैसे कि मिट्टी सुवर्ण आदि से निर्मित घट-मुकुट आदि मिट्टी सुवर्णात्मक ही दीखते हैं। आप स्वयं भी जगत को तुच्छात्मक नहीं स्वीकारते, और न ऐसी प्रतीति ही होती है। सत्पदार्थ का यदि निरन्वय विनाश ही ठीक है तो अवस्थिति के तत्काल बाद ही सारे जगत की तुच्छता हो जायगी, तुच्छ कारण से यदि जगत की उत्पत्ति हो तो भी वही तुच्छता होगी, इस प्रकार दोनों ही प्रकारों से दोष की संभावना होने से तुम्हारा उत्पत्ति विनाश का सिद्धान्त, असंगत ठहरता है।

आकाशे चाविशेषात्।२।२।२३॥

वाह्याभ्यंतरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या निरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता, तत्प्रसंगेन ताभ्यांसह तुच्छत्वेन सौगतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिक्षिप्यते। आकाशे च निरुपाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाशस्यापि अबाधितप्रतीति सिद्धत्वाविशेषात्। प्रतीयते हि आकाशः "अत्रश्येनः पतति, अत्रगृध्रः" इतिश्येनादिपतनदेशत्वेन।

ankurnagpal108@gmail.com

वाह्य और आभ्यंतर पदार्थों की स्थिरता बतलाने के लिए प्रति-संख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की तुच्छरूपता का निराकरण किया गया, बौद्ध इन दोनों के साथ आकाश को भी तुच्छ बतलाते हैं, प्रसंगत उसका भी निराकरण करते हैं। आकाश की तुच्छता युक्ति संगत नहीं है, जब पृथ्वी आदि का अस्तित्व स्वीकारते हो, उसी प्रकार आकाश की भी तो प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व क्यों नहीं मानोगे? "आकाश में बाज उड़ता है, गिद्ध उड़ता है" ऐसे बाज आदि के उड़ने के स्थान रूप से, आकाश की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।

न च पृथिव्याद्यभावमात्र प्रकाश इति वक्तुं शक्यम्, विकल्पासहत्वात्। पृथिव्यादेः प्रागभावः, ध्वंसाभावः, इतरेतराभावः अत्यन्ताभावोवा आकाशः, सर्वथाऽप्याकाश प्रतीत्यनुपपत्तिः स्यात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिषु वर्त्तमानेषु आकाश प्रतीत्ययोगात् निराकाशं जगत्स्यात्। इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इतरेतराभावस्य तत्तद्वस्तुगतत्वेन तेषामंतराले आकाश प्रतीतिर्नस्यात्। अत्यंताभवस्तु पृथिव्यादीनां न संभवति। अभावस्य विद्यमानपदार्थावस्था विशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम्। अंडान्तर्वर्त्तिनश्चाकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेश प्रदर्शित पंचीकरणेन रूपवत्वात् चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः।

यह नहीं कह सकते कि–पृथ्वी आदि सत्तावान पदार्थों का अभाव ही आकाश है, ऐसा कहना विचार पूर्ण नहीं होगा। पृथ्वी आदि के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव में से किस प्रकार का अभाव आकाश को मानोगे। इनमें से किसी भी प्रकार को मान लो, आकाश की प्रतीति में तो कोई बाधा आने से रही। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानते हो तो पृथिवी आदि के रहते हुए, आकाश की प्रतीति कभी हो नहीं सकती, जगत को आकाश शून्य होना चाहिए। यदि इतरेतराभाव मानते हो तो, यह अभाव जब वस्तुनिष्ठ है, तब आकाश की प्रतीति हो नहीं सकती। पृथिवी आदि का अत्यंताभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए आकाश, अत्यंताभाव रूप नहीं है। विद्यमान भाव पदार्थ की, अवस्था

ankurnagpal108@gmail.com

विशेष को ही अभाव माना जाय तब भी आकाश अभाव स्वरूप होते हुए भी तुच्छ नहीं हो सकता। त्रिवृतकरण श्रुति में प्रदर्शित पंचीकरण पद्धति के अनुसार, ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में, नीलिमा रूप की स्थिति प्रमाणित होती है, आकाश चाक्षुष विषय है, इसलिए भी उसका अस्तित्व मान्य है।

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२४॥

पूर्वंप्रस्तुतं वस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते—अनुस्मरणं—पूर्वानुभूत-वस्तु विषयं ज्ञानम्—प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः। तदेवेदमिति सर्ववस्तुजातं अतीतकालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते। न च भवद्भिर्ज्वालादिष्विव सादृश्यनिबंधनोऽयमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम्। व्यामुह्यतो ज्ञातु-रेकस्यानभ्युपगमात्। तर्हि अन्यानुभूतेनैकत्वं सादृश्यं वा स्वानुभूत-स्यान्योऽनुसंधत्ते। अतोभिन्नकालवस्त्वाश्रयसादृश्यानुभवनिबंधनमेक-त्वव्यामोहं वदद्भिः ज्ञातुरेकत्वमवश्याश्रयणीयम्।

पहिले जो वस्तु की स्थिरता प्रतिपादन की गई, यहाँ उसका ही उपपादन किया जायेगा। अनुस्मृति का अर्थ है, पूर्वानुभूत वस्तु विषयक ज्ञान, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। पूर्वानुभूत समस्त वस्तु "यह वही वस्तु है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा, ज्ञान का विषय होती है। आप यह नहीं कह सकते कि—अग्नि की ज्वालाओं में जैसे सदृशता होने से, एक ज्वाला का सा भ्रम होता है, वैसे ही यह प्रत्यभिज्ञा भी, सादृश्य भ्रम मूलक है। क्योंकि—आप किसी मोह ग्रस्त एक ही ज्ञाता व्यक्ति का अस्तित्व तो मानेगे ही नहीं। दूसरा कोई व्यक्ति किसी अन्य के अनुभूत विषय के साथ, अपनी स्वानुभूति की एकता तो मानता नहीं है। इसलिए—जिसने, विभिन्न कालवर्त्ती वस्तुनिष्ठ सादृश्यानुभव मूलक एकत्व भ्रम निर्देश किया, दोनों कालों में अनुभव करने वाला कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

न च ज्ञेयेष्वपि घटादिषु ज्वालादिष्विव भेदसाधन प्रमाणमुप-लभामहे, येन सादृश्य निबंधनां प्रत्यभिज्ञां कल्पयेम्। यदपि चेदमु-च्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिध्यति, प्रत्यक्षं तावत् वर्त्तमानार्थविषयमवर्त्तमानाद्वस्तुनो व्यावृत्तं स्वविषयमवगमयति,

ankurnagpal108@gmail.com

नीलं इव पीतात् एवं च भूतभविष्यद्भ्यां वर्त्तमानस्य वस्त्वंतरत्वमवगतं भवति। अनुमानमपि अर्थ क्रियाकारित्वात् सत्वाच्च घटादिः क्षणिकः यदक्षणिकं शशविषाणादि, तदनर्थक्रियाकार्यसच्च। तथा अन्त्य घटक्षणसत्वात् पूर्वघटक्षणसत्त्वानि विनाशीनि, घटक्षणसत्वात् अंत्यघटक्षणसत्ववत् इति। तच्चकार्यकारणभावानुपपत्यादिभिः पूर्वमेव निरस्तम्।

अग्निशिखा आदि में जैसा भेद साधक प्रमाण मिलता है, ज्ञातव्य घट आदि में वैसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि--प्रत्यभिज्ञा को सादृश्य-मूलक भ्रम कहा जा सके। जो यह कहा कि–प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से ही घटादि की क्षणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि वर्त्तमान विषय का ही ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। जैसे कि पीतिमा से नीलिमा भिन्न दीखती है। वैसे ही--प्रत्यक्ष प्रमाण, अपने विषय की, भूत और भविष्य से पृथक् प्रतीति कराता है। तथा क्षणिकवाद की सिद्धि के लिए जो अनुमान किया जाता है कि--घट आदि पदार्थ में, अर्थ क्रियाकारिता तथा सद्रूपता के कारण क्षणिकता की प्रतीति होती है। जो अक्षणिक शशशृंग आदि हैं वे अनर्थ क्रियाकारी असत् हैं। परवर्त्ती घटक्षण की अपेक्षा, पूर्ववर्त्ती घटक्षण का अस्तित्व, विनाशशील होने से ही, घटक्षण का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे कि–अंतिम घटक्षण का अस्तित्व। इत्यादि कार्यकारण भाव की अनुपपत्ति बतलाते हुये इस मत का पहिले ही निराकरण कर चुके हैं।

किं च प्रत्यक्षगम्या वर्त्तमानस्यावर्त्तमानाद्व्यावृत्तिर्नवर्त्तमानस्य वस्त्वंतरत्वमवगमयति, अपितु वर्त्तमान कालयोगिता मात्रम्। न च तावता वस्त्वंतरत्वं सिध्यति, तस्यैवकालान्तरयोग संभवात्। यत्तु सत्वादर्थ क्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभिमतविपरीत साधनत्वाद्विरूद्धम्। सत्वादर्थ क्रियाकारित्वाद् वा घटादि स्थास्नु, तदस्थास्नु, तदसदनर्थ क्रियाकारि च यथा शशविषाणमित्यपि हि वक्तुं शक्यम्, किं च अर्थ क्रियाकरित्वमक्षणिकत्वमेव

ankurnagpal108@gmail.com

साधयेत्। क्षणध्वंसिनो हि व्यापारासंभवादर्थक्रियाकारित्वं च संभवतीत्युक्तम्।

एक बात और भी है कि-वर्त्तमान की जो अवर्त्तमान वस्तु से व्यावृत्ति (भेद) है, वह प्रत्यक्ष होते हुए भी, वस्तुतः उस वस्तु से भिन्नता नहीं बतलाती अपितु उस वस्तु का वर्त्तमान में अस्तित्व ही ज्ञापन करती है, इसलिए उसकी पृथक् वस्तुता नहीं सिद्ध होती और उस वर्त्तमान वस्तु का अतीतकाल के साथ संबंध स्थापित होना सरल हो जाता है। क्षणिकत्व साधन के लिए जो सत्त्व और अर्थ क्रियाकारिता, इन दो कारणों का उल्लेख किया है, वह भी तुम्हारे अभिप्राय का प्रतिपादक न होकर विरूद्ध ही सिद्ध होता है। उससे क्षणिकता सिद्ध नहीं होतीं। ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि-घट आदि स्थास्नु (स्थिर) हैं, इस लिए सत् और अर्थ क्रियाकारी हैं, जो स्थिर नहीं है, वह असत् और अनर्थ क्रियाकारी हैं, शशविषाणादि उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। तथा-अर्थ क्रियाकारिता वस्तु की अक्षणिकता का भी साधन करती है, क्षण-ध्वंसी पदार्थों में जब किसी प्रकार की कार्यक्षमता ही नहीं है, तब उसमें अर्थ क्रियाकारिता भी संभव नहीं है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं।

तथा अन्त्य घट क्षणस्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशाः स्युरित्यामुद्गरादिहेतु उपनिपातात् स्थास्नुत्वमेव। न च वाच्यं, न मुद्गरादयो विनाशहेतवः, अपितु कपालादि विसदृश संतानोत्पत्ति हेतव इति, कपाल त्वावस्थापत्तिरेव घटादीनां विनाश इत्युपपादित्वात्। कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमेऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुद्गरादेरानन्तर्याद्युक्तम्। अतः प्रत्यभिज्ञाया स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम्। पूर्वापरकाल संबंध्यर्थैक्य विषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नीलादिज्ञानानामपि नीलादेरर्थान्तर विषमत्वं ब्रूयात्।

तथा-अंतिम घट क्षण का जब कारणाधीन विनाश देखा जाता है, तब अन्यान्य घटक्षणों का कारणाधीन विनाश भी निश्चित है।

ankurnagpal108@gmail.com

यह भी नहीं कह सकते कि–मुद्गर आदि विनाश के कारण नहीं हैं, केवल कपाल के रूप में परिवर्त्तित घटावयव ही विनाश के कारण हैं; कपाल के रूप में परिवर्त्तित हो जाना ही तो घट का विनाश है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। विनाश को यदि, कपाल से भिन्न मानते हो तो, मुद्गर के प्रहार के बाद जो घट का विनाश दीखता है, उसे देखकर मुद्गर आदि ही विनाश के कारण सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा से ज्ञात वस्तु की स्थिरता को, किन्हीं भी प्रमाणों से झुठलाया नहीं जा सकता। और यदि अतीत और वर्त्तमान कालवर्त्ती, एक वस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञा के विषय भेद की कल्पना करते हो तो, नीलिमा विषयक ज्ञान को भी, नीलादि भिन्न पदार्थ विषयक मानना पड़ेगा।

किं च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं वदद्भिर्व्याप्त्यवधारणतत्स्मरणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुःशकः। तथा इदं क्षणिकमित्यादि प्रतिज्ञापूर्वकहेतुपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम्। प्रतिज्ञोपक्रमक्षण एव वक्तुर्विनष्टत्वात् नहि अन्येनोपक्रान्तमजानद्भिरन्यैः समापयितुं शक्यम्।

तथा जो–प्रमाता (ज्ञाता) और प्रमेय (ज्ञेय) इन दोनों के अनुमानोपयोगी व्याप्ति के अवधारण और उसके स्मरण पूर्वी अनुमान की कल्पना को भी सहज नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने से "यह क्षणिक है" इत्यादि प्रतिज्ञा का उल्लेख भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि–आप के मतानुसार तो साध्यनिर्देश के उपक्रम काल तक वक्ता को नष्ट हो जाना चाहिए, दूसरे को वह बता भी कैसे सकेगा तथा दूसरा बिना जाने उस कार्य को पूरा भी कैसे कर सकेगा।

नसतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२५

एव तावद्वैभाषिक सौतांत्रिकयोर्वाह्यास्तित्ववादिनोः साधरणानि दूषणान्युक्तानि, तत्र यदुक्तं–संप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं संभवतीति, तत्र सौतांत्रिक प्रत्यवतिष्ठते–न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्व

ankurnagpal108@gmail.com

हेतुः ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेवहि ज्ञानविषयत्वम् । न चैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्व प्रसंगः, स्वाकार समर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वाभ्युपगमात्। ज्ञाने स्वाकारं समर्प्य विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्याकारेणानुमीयते । न च पूर्वं पूर्वं ज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञान संततौ पीतज्ञानानुत्पत्ति प्रसंगात् । अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम् ।

वाह्य पदार्थ के अस्तित्व मानने वाले, वैभाषिक और सौत्रांतिकों के मत के साधारण दोषों का दिग्दर्शन कराया गया । उनमें जो यह कहा कि–ज्ञानोत्पत्ति के समय इन्द्रिय संयुक्त विषय की स्थिति न होने से, कोई वस्तु ज्ञान का विषय नहीं हो सकती । इस पर सौत्रांतिक, प्रतिपक्षी के रूप में कहते हैं कि–ज्ञान के समय वस्तु की स्थिति नहीं रहती, इसलिए वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि–ज्ञान का विषय ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होता है, दृश्यवस्तु से जब प्रतिदिन ज्ञान होता है तब वह ज्ञान का विषय कैसे म होगा ? चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही ज्ञान का विषय हो जावेगी, ऐसा भी नहीं हैं, क्योंकि—जो अपने आकार सहित ज्ञानोत्पादन कराता है, वही ज्ञान का विषय कहा जा सकता है । नील आदि दृश्य पदार्थ अपने आकार से, नीलिमा विषयक ज्ञान कराकर यदि नष्ट भी हो जावें, तो भी नीले आकार को देखकर उनका अनुमान हो सकता है । यह नहीं कह सकते कि पूर्व पूर्व ज्ञान की सहायता से ही उत्तरोत्तर ज्ञान के आकार की सिद्धि होती है, ऐसा मानने से नीलाकार में पीताकार की प्रतीति न हो सकेगी इसलिए मानना होगा कि ज्ञेय विषय ही, ज्ञानगत वैचित्र्य (पार्थक्य का कारण होता है ।

अत्रोच्यते—"नासतोऽदृष्टत्वात्" इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिराकार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नार्हति, कुतः ? अदृष्टत्वात्–न खलु धर्मिणि विनष्टे तद्धर्मस्यार्थान्तरे संक्रमणं दृष्टम् । प्रतिबिंबादिकमपि स्थिरस्यैव भवति । तत्रापि न धर्ममात्रस्य । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमर्थस्य ज्ञानकालेऽवस्थानादेव भवति ।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त मत पर सूत्रकार–"नासतोऽदृष्टत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं कि-असत् में कार्य जनन शक्ति कदापि संभव नहीं है, ज्ञान में जो, नीलादि विषयक आकार दीखता है, वह कभी विनष्ट अर्थात् असत् पदार्थ का आकार नहीं हो सकता, ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता धर्म या गुण जिसके आश्रय में रहता है, वह धर्मी यदि नष्ट हो जाय तो, उसका धर्म कहीं अन्यत्र संक्रामित हो जाता है, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। प्रतिबिंब भी, स्थिर वस्तु में ही संक्रमित होता है । प्रतिबिंब में केवल धर्म का संक्रमण नहीं होता । इसलिए दृश्य पदार्थ की विचित्रता से जन्य जो ज्ञान वैचित्र्य है, वह ज्ञान के समय, ज्ञेय पदार्थ की स्थिति में ही संभव हो सकता है ।

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—पुनः साधारण दुषण बतलाते है—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः।२।२।२६॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुक विनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामनुद्युंजानानामपि सर्वार्थ सिद्धिः स्यात्, इष्ट प्राप्तिरनिष्टिनिवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिः साध्यते, क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्व पूर्व वस्तु तद्गतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुबर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किंचिदस्ति । एवं सत्यहेतुसाध्यत्बात् सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिक फलं मोक्षश्च सिध्येत् ।

क्षणिकता, असदुत्पत्ति और अहेतुक विनाश स्वीकारने से उदासीन निश्चेष्ट व्यक्तियों की अभिलाषा भी स्वतः सिद्ध हो जायेगी, तथा साधारण प्रयास से अभिष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति हो जायेगी सारे पदार्थ यदि क्षणिक होंगे तो समस्त भाव पदार्थों की, पूर्व पूर्व वस्तु और उनके संस्कार आदि या विद्या आदि विशेषतायें, परवर्त्ती पदार्थो में अनुवृत्त न हो पावेगी, जिसके फलस्वरूप प्रयास करने पर भी कोई कार्य न हो सकेगा । ऐसा मानने से, बिना कारण के फलावाप्ति होगी, जिससे निश्चेष्ट उसीसीन व्यक्ति भी, ऐहिक सुख और पारलौकिक मोक्ष आदि सब कुछ अनायास ही प्राप्त कर लेगे ।

ankurnagpal108@gmail.com

४ उपलब्ध्यधिकरणः—

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२७॥

विज्ञानमात्रास्तित्व वादिनो योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठंते । यदुक्तमर्थवैचित्र्यकृतं, ज्ञानवैचित्र्यमिति, तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकाराणां स्वयमेव विचित्रत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनावशादेवोपपद्यते । वासना च विलक्षण प्रत्यय प्रवाह एव । यद् घटाकारज्ञानं कपालाकार ज्ञानस्योत्पादकं, तस्यतथाविधस्योत्पादकं तत् पूर्वं घटज्ञानम् । तस्य च तथा विधस्योत्पादकं ततः पूर्वं घट ज्ञानं इत्येवं रूपः, प्रवाह एव वासनेत्युच्यते । कथंवहिष्ठ सर्षपमहीधराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्थम् अर्थस्यापि व्यवहार योग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्तं, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशय प्रसंगात् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याश्रयणीयम्, निराकारस्य प्रकाशायोगात् । एकश्चायमाकार उपलभ्यमानो ज्ञानस्यैव । तस्य च वहिर्वदवभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भ नियमाच्च ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः ।

विज्ञान मात्र का अस्तित्व स्वीकारने वाले योगाचार बौद्ध, प्रतिपक्षी रूप में उपस्थित होते हैं, उनका कथन है कि तुम लोग जो वाह्य पदार्थों की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता मानते हो, वह असंगत है, क्योंकि वाह्य पदार्थों की तरह, ज्ञान और ज्ञानी का आकार स्वयं ही विचित्रता पूर्ण होता है। उस स्वाभाविक विचित्रता के वासनात्मक संस्कारवश ही, उस ज्ञाता में, वस्तु के प्रति विचित्रता की भावना होती है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही तो वासना है। घटाकार संबंधी जो ज्ञान होता है, वही उस घट के पूर्वरूप, कपाल के आकार का ज्ञान भी, उत्पन्न कर देता है घट संबंधी ज्ञान भी उसी प्रकार होता है। इस प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही वासना है। वाह्य स्थित सरसों पहाड़ आदि का आकार, आंतरिक ज्ञान का विषय है, यह कैसे कहते

ankurnagpal108@gmail.com

हो ? वह इस प्रकार है—वाह्य पदार्थों की जो व्यवहार योग्यता होती है, वह ज्ञान प्रकाशक के अधीन होती है—(अर्थात् कोई ज्ञाता व्यक्ति अपनी स्वानुभूति के अनुसार किसी वस्तु के नाम गुण आदि का निर्देश करता है, तभी वह वस्तु उस नाम गुण आदि से व्यवहृत होती हैं) यदि ऐसा नहीं मानोगे तो, अपने और पराये व्यवहार्य पदार्थ में भेद करना कठिन होगा। प्रकाशमान ज्ञान की साकारता भी स्वीकारनी होगी, निराकार का तो प्रकाश हो नहीं सकता ज्ञेय और ज्ञान में जो समानाकार प्रतीत होती है, वस्तुतः वही ज्ञान का आकार है, उस आकार को वाह्य मानना नितांत भ्रम है। ज्ञान और ज्ञेय की जो एक साथ उपलब्धि होती है, उससे यह स्पष्ट है कि—ज्ञान से ज्ञेय अभिन्न है।

किं च वाह्यमर्थमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञानेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थासाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमंतरेण नोपपद्यत इत्यवश्यं ज्ञानेऽर्थस्वरूपं रूपमास्थेयम्। तावतैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यतिरिक्तार्थ कल्पना निष्प्रामाणिका। अतोविज्ञान मात्रमेव तत्त्वम्, न वाह्यार्थोऽस्ति इति।

जो लोग ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, उनके मत में भी, घट पट आदि के जो विशेष गुण रूप आदि हैं, वे ग्राह्य विषय की तरह, किन्ही अन्य में तो हो नहीं सकते। इसलिए ज्ञान विषय के अनुरूप, कोई एक रूप अवश्य स्वीकारना होगा। एक मात्र ज्ञानीय आकार को मान लेने से ही, जब सारे लौकिक व्यवहार संपन्न हो सकते हैं, तब उस ज्ञान से भिन्न विषय की कल्पना करना निष्प्रामाणिक है। एक मात्र विज्ञान ही सत्य पदार्थ है, उससे भिन्न वाह्य कोई वस्तु नहीं है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे "नाभाव उपलब्धेः" इति। ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्याभावो वक्तुं न शक्यते, कुतः ? उपलब्धेः, ज्ञातुरात्मनोऽर्थविशेष व्यवहारयोग्यतापादन रूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः। एवमेव हि सर्वे लौकिकाः प्रतियंति—"घटमहं जानामि" इति। एवं रूपेण सकर्मकेण सकर्तृकेन ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभाव-

ankurnagpal108@gmail.com

मानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थं इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवंतीत वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्ध निराकरणे निपुणतरं प्रपंचितम् ।

उक्त मत पर सूत्रकार "नाभाव उपलब्धेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका कथन है कि ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य विषयों को अस्तित्व हीन नहीं कह सकते; क्यों कि—ज्ञाता को जो ज्ञान की उपलब्धि होती है वह अपने प्रयोजनानुरूप विशेष व्यवहार निष्पादन के रूप से होती है। सामान्यतः लोग "मैं घट जानता हूँ" ऐसा ही अनुभव करते हैं। सब के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशमान, ऐसे सकर्मक, सकर्तृक, ज्ञा धातु का अर्थ यदि, केवल ज्ञान और पारमार्थिक ही मान लें तो उपाहास्पद होगा। यह बात हम, वेदवाद की आड़ में छिपकर बौद्धमत का प्रचार करने वालों (शंकर) के मत का निराकरण करते समय, विस्तृत रूप से कह चुके हैं।

यत्तु—"सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्धियोः" इति, तत्स्ववचन विरुद्धम्, साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात्। तदर्थव्यवहार योग्यतैकस्वरूपस्य ज्ञानस्यतेन सहोपलम्भ नियमस्तस्मादवैलक्षण्यसाधनमिति च हास्यम्। निरन्वयविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्त्तमानस्थिराकारविरहादवासना च दुरुपपादा। विनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तरज्ञानंकथं वास्यंते। अतोज्ञानवैचित्र्यमप्यर्थवैचित्र्यकृतमेव। तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसंबंधायत्तं तत्तदसाधारण्यम्। संबंधश्च संयोगलक्षणः। ज्ञानमपि हिद्रव्यमेव। प्रभाद्रव्यस्यप्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरुद्धमित्युक्तं अतो न बाह्यार्थाभावः।

"एक साथ उपलब्धि होने से नील और तद्विषयक ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है" यह कथन तो, उनके स्वयं के ही विरुद्ध है, क्योंकि पदार्थगत भेद ही, उक्त प्रकार की प्रतीति कराता है, अर्थात्—यदि पदार्थ भिन्न न हो तो, एक साथ प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। एक साथ

ankurnagpal108@gmail.com

के व्यवहार में जब, ज्ञान को ही एक मात्र स्वरूप योग्य मानते हो और उस पदार्थ के साथ, एकत्र उपलब्धि के नियम से सहोपलंभन को स्वीकारते हुए, उसके अर्थ के साथ अभेद व्यवस्था का कारण रूप से प्रतिपादन करते हो तब, उपाहास्पद सा प्रतीत होता है।

जिसमें कुछ भी अवशिष्ट न हो ऐसे निरन्वय विनाशशील, ज्ञान समूह के अनुगत स्थिरतर किसी आकार या स्वरूप विशेष के न रह जाने पर ज्ञानीय वासना का अस्तित्व स्थिर करना भी कठिन है। पूर्व ज्ञान के नष्ट हो जाने पर, पूर्व ज्ञान से अनुत्पन्न उत्तर ज्ञान, किस प्रकार वासना का उत्पादन कर सकता है? इत्यादि विचार से निश्चित होता है कि सांसरिक पदार्थों की विचित्रता से ही ज्ञान का भी वैचित्र्य होता है। जिसके फलस्वरूप विशेष विशेष पदार्थों के व्यवहार भेद से, ज्ञानगत वैलक्षण्य संपन्न होता है। वह संबंध, संयोग के अतिरिक्त, कुछ और नहीं है, एवं उक्त ज्ञान भी, निश्चित ही द्रव्य पदार्थगत है। प्रदीप की गुण रूप प्रभा जैसे द्रव्य है, वैसे ही, आत्मा के गुण स्वरूप ज्ञान की भी द्रव्यता है, है, इसमें कोई विरुद्धता नहीं है, ऐसा हम पहिले भी बतला चुके हैं। इसलिए वाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता।

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टांतेन, जागरित ज्ञानानमि निरालंवनत्व-मुक्तम् तत्राह,

जो स्वप्नगत ज्ञान के द्रष्टांत से, जागरित ज्ञान की निर्विषयता कहो, उस पर कहते हैं—

वैधार्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।२।२।२८॥

स्वप्न ज्ञान वैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुम्। स्वप्नज्ञानानिहि निद्रादि दोषदुष्टकरण जन्यानि, बाधितानि च, जागरित ज्ञानानि तु तद्विपरीतानि तेषां न तत्साम्यम्। सर्वेषां च ज्ञानानां अर्थशून्यत्वे भवद्भिः साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति। निरा-लंवनानुमानस्याप्यर्थ शून्यत्वात्। तस्यार्थवत्वे ज्ञानत्वस्यानैकान्त्या-त्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वप्नकालीन ज्ञान से विपरीत, जागरित ज्ञान की समता करते हुए अर्थ शून्यता वतलाना उपयुक्त नहीं है। स्वप्न ज्ञान, निद्राआदि दोषों से कलुषित इन्द्रियों से जन्य होता है, जो कि जगने पर मिथ्या सिद्ध होने पर वाधित हो जाता है। जागरित ज्ञान, इससे एकदम विपरीत होता है, इसलिए उसकी इससे कोई समता नहीं है। सभी ज्ञानों को यदि अर्थशून्य मान लें तो, तुम्हारे अभिप्रेत पदार्थ की भी सिद्धि न हो पावेगी। क्यों कि आधार रहित अनुमान अर्थ शून्य होता है। यदि अनुमान के विषयी भूत पदार्थ का अस्तित्व मानते हो तो, ज्ञान के अनेक हेतु हो जावेंगे, जिससे कि शून्यता की बात ही समाप्त हो जावेगी।

न भावोऽनुपलब्धेः २।२।२९।

न केवलस्यार्थशून्यस्यज्ञानस्य भावः संभवति, कुतः ? क्वाचिदप्यनुपलब्धेः, न हि अकर्त्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः। स्वप्नज्ञानादिष्वपिनार्थशून्यत्वमिति ख्याति निरूपणे प्रतिपादितं।

वाह्य पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर, केवल ज्ञान का ही अस्तित्व शेष रह जाय ऐसा कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। कर्त्ता और कर्म शून्य ज्ञान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न कालीन ज्ञान में भी अर्थशून्यता नहीं होती, ऐसा हम ख्यातिवाद निरूपण के प्रसंग में प्रतिपादन कर चुके हैं।

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरणः—

सर्वथानुपपत्तेश्च।२।२।३०

अक सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते। शून्यवाद एव हि सुगतमत काष्ठा। शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्यनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकत्वादयः, उक्ताः। विज्ञानं वाह्यार्थश्च सर्वे न संति, शून्यमेव तत्त्वम, अभावापत्तिरेव च मोक्षः, इत्येवबुद्धस्याभिप्रायः। तदेव हि युक्तम् शून्यस्याहेतु साध्यतया स्वतः सिद्धेः, सत एव हि हेतु-

ankurnagpal108@gmail.com

रन्वेषणीयः, तच्च सत् भावादभावाच्च नोत्पद्यते, भावात्तावन्न कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा, न हि घटादिरनुपमृदिते पिण्डादिके जायते। नप्यभावादुत्पत्तिः संभवति, नष्टे पिडादिके हि अभावाद्युत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेवस्यात्। तथा स्वतः परतश्चोत्पत्तिर्न संभवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माश्रयदोष प्रसंगात् प्रयोजनाभावाच्च। परतः परोत्पत्तौ परत्वाविशेषात् सर्वेषां सर्वेभ्य उत्पत्तिप्रसंगः। जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः। अतः शून्यमेवतत्त्वम्।

अब सर्व शून्यवादी माध्यमिक सामने आते हैं। शून्यवाद ही सुगत बौद्धमत की चरम सीमा है। केवल शिष्यों की बुद्धि की योग्यतानुसार वाह्य पदार्थ स्वीकारते हुए, क्षणिकवाद आदि का उपदेश दिया गया है। विज्ञान और वाह्य पदार्थ सभी अस्तित्व हीन हैं, शून्य ही एक मात्र वास्तविक तत्त्व है अभावापत्ति (शून्यता प्राप्ति) ही मोक्ष है, यही बौद्ध का अंतिम अभिप्राय है। यही उनकी दृष्टि में उपयुक्त सिद्धान्त है, क्यों कि शून्य, किन्ही भी कारणों की अपेक्षा नहीं करता, अतएव स्वतः सिद्ध है। पदार्थ सत् है वह किस कारण से उत्पन्न होता है, इसका अनुसंधान करना आवश्यक है भाव या अभाव से तो उस सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अधिकृत भाव से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति देखी नहीं जाती, मिट्टी को विना चूर्ण किये घट आदि कभी बनते नहीं। अभाव से भी सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, मिट्टी के ढेले के टूटने पर पदार्थ की अभाव स्थिति होती है, उससे घट आदि भी अभावात्मक हो जाते हैं। स्वतः या किसी अन्य से भी उत्पत्ति संभव नहीं है। अपने से अपनी उत्पत्ति होने से आत्माश्रय दोष और प्रयोजन हीनता सिद्ध होती है। अन्य पदार्थ से उत्पत्ति मानने से, हर पदार्थ से हर पदार्थ की उत्पत्ति संभव हो जावेगी। इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति असंभव सिद्ध होती है उसका विनाश भी असंभव ही है। इसलिए शून्य ही तत्त्व है।

अतो जन्मविनाश सदसदादयो भ्रांतिमात्रम्। न च निरधिष्ठानभ्रमासंभावाद् भ्रमाधिष्ठानं किंचित्पारमार्थिकं तत्त्व-

ankurnagpal108@gmail.com

माश्रयितव्यं दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः। अतः शून्यमेव तत्त्वम्।

जन्म विनाश सत्असत् आदि कार्य भ्रांतिमात्र हैं, वस्तु की सत्ता के ग्राहक नहीं है। किसी एक सत्य पदार्थ के आश्रय के बिना, आधार रहित भ्रम हो नहीं सकता, इसलिए भ्रम के आधार भूत किसी पारमार्थिक (सत्य) तत्त्व को अवश्य स्वीकारना पड़ेगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—दोष और दोषाश्रय तथा ज्ञाता की असत्यता जानते हुए भी जैसे, भ्रम हो जाता है, वैसे ही निराधार भ्रम भी हो सकता है इसलिए शून्य ही एक मात्र तत्त्व है।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—सर्वथानुपपत्तेश्च—इति। सर्वथानुपपत्तेः सर्वशून्यत्वं च भवदभिप्रेतं न संभवति। किं भवान् सर्वं सदिति वा प्रतिजानीते, असदिति वा, अन्यथा वा, सर्वथातवाभिप्रेतं तुच्छत्वं न संभवति। लोके भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनोऽवस्थाविशेषगोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। अतः सर्वं **शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं सदिति प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमान-स्यावस्थाविशेष योगितैव प्रतिज्ञाता भवतीति भवदभिमता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति। किं च कुतश्चित्प्रमाणाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिषाधयिषता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वमभ्युपेत्यम्, तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिति सर्वथा सर्वं शून्यत्वं चानुपपन्नम्।**

इस उपस्थित मत पर सूत्रकार—"सर्वथानुपपत्तेश्च" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हर प्रकार की अनुपपत्ति (असामंजस्य) से तुम्हारा अभिप्रेत शून्य तत्त्व संभव नहीं है। आप सब पदार्थों को सत्असत् अथवा किसी अन्य प्रकार का मानकर शून्य कहते हैं? इनमें से किसी प्रकार से शून्य तत्त्व हो नहीं सकता। जगत में भाव या अभाव शब्द से एवं तद्विषयक प्रतीति से, विद्यमान वस्तु की अवस्था विशेष की प्रतीति होती है। इसलिए तुम्हारा 'सब कुछ शून्य है" यह कथन "सब कुछ सत् है" ऐसी समस्त वस्तुओं की विद्यमान अवस्था विशेष

ankurnagpal108@gmail.com

द्योतक प्रतीत होता है, इस प्रकार आपका अभिमत शून्यवाद किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। यदि किसी प्रमाण की सहायता से शून्यता की उपलब्धि को सिद्ध करने की चेष्टा भी करें तो उस प्रमाण का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, यदि प्रमाण को असत्य मानते हैं तो सारे पदार्थ स्वयं ही असत्य सिद्ध हो जायेंगे (अर्थात् शून्य प्रमाण रहित असत्य हो जायेगा इसलिए हर प्रकार से सर्वशून्यता का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है।

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरण:—

नैकस्मिन्नसंभवात्।२।२।३१॥

निरस्ताः सौगताः। जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो वदंतीत्यनंतरं जैनपक्षः प्रतिक्षिप्यते। ते किल मन्यते जीवाजीवात्मकं जगदेतन्निरीश्वरं, तच्चषड्द्रव्यात्मकं। तानि च द्रव्याणि जीवधर्माधर्म पुद्गलकालाकाशाख्यानि तत्र जीवाः, बद्धाः योगसिद्धाः, मुक्ताश्चेति त्रिविधाः। धर्मोनाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो-जगद्व्यापी। अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतोव्यापी। पुद्गलो नाम वर्ण-गंधरसस्पर्शवद्द्रव्यम्। तच्चद्विविधं-परमाणुरूपं तत्संघातरूपं च पवनज्वलनसलिलधरणीतनुभुवनादिकम्। कालस्तु अभूदस्ति-भविष्यतीति व्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्य विशेषः। आकाशोऽप्येकोऽनंत-प्रदेशश्च। तेषुचाणुव्यतिरिक्त द्रव्याणि पंचास्तिकाया इति च संगृह्यंते—जीवास्तिकायः, धर्म्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः, पुद्गला-स्तिकायः, आकाशास्तिकायः, इति। अनेकदेशवर्त्तिनि द्रव्येऽस्तिकाय-शब्दः प्रयुज्यते।

सौगत बौद्धों का निराकरण कर दिया गया। जैन भी परमाणुओं को जगत का कारण मानते हैं, इसलिए उनके मत का भी निराकरण करते हैं उन लोगों की मान्यता है कि—जीव और अजीवमय यह जगत अनीश्वर है, जो कि जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश, काल आदि छः द्रव्यों वाला हैं। जीव बद्ध, योगसिद्ध और मुक्त तीन प्रकार के हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वर्ग, नरक गामी प्राणियों में स्वर्ग के हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम धर्म हैं तथा स्थिरता का हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम अधर्म है। रूप-रस-गंध-स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को पुद्गल कहते हैं, जो कि दो प्रकार के हैं, परमाणु और अपरमाणु पुंज। वायु-तेज-जल-पृथ्वी-शरीर-स्वर्ग आदि सभी पुद्गल हैं। भूत-भविष्य और वर्त्तमान व्यवहार का हेतुभूत द्रव्य विशेष ही काल है। आकाश एक और अनंत स्वरूप है। इन द्रव्यों से अणुरहित द्रव्य पांच अस्तिकाय कहलाते हैं जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। अनेक स्थानवर्त्ती द्रव्य को अस्तिकाय शब्द से प्रयोग करते हैं।

जीवानां मोक्षोपयोगिनमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति—जीवाजीवास्रवबंधनिर्जरसंवरमोक्षाः, इति। मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च ग्रहीतः। स च सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः। तत्रजीवस्तु-ज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणः। अजीवश्च जीवभोग्यवस्तुजातम्। आस्रवः तद्भोगोपकरणभूतमिन्द्रियादिकं बंधश्चाष्टविधः घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्मचतुष्टयंचेति। तत्राद्यंजीवगुणानांस्वाभाविकानां ज्ञानदर्शवीर्यसुखानां प्रतिघातकरम्। अपरंशरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितित्प्रयुक्तसुखदुःखोपेक्षा हेतुभूतम्। निर्जरम् मोक्षसाधन महंदुपदेशावगतंतपः। संबरोनामेन्द्रियनिरोधः समाधि रूपः। मोक्षस्तुनिर्वत्तरागादिक्लेशस्य स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः।

वे लोग जीवों के मोक्षोपयोगी साधनों का भी संग्रह करते हैं, जो कि—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, निर्जर, संवर और मोक्ष नामक हैं। इन मोक्ष संग्रहों के साथ मोक्षोपायों को भी ग्रहण करते हैं जो कि—सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र आदि तीन प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य संपन्न को जीव कहते हैं। जीव भोग्य समस्त वस्तुओं को अजीव कहते हैं। जीव के योग्य उपकरण भूत इन्द्रियों का नाम आस्रव है। वंध आठ प्रकार का है—घातिकर्म चतुष्टय और अघातिकर्म चतुष्टय। जीव के स्वाभाविक, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखा-

ankurnagpal108@gmail.com

त्मकगुण, जिनसे प्रतिहत हों उन्हे घातिकर्म कहते हैं। जिन कर्मों से शरीर, शरीराभिमान, शरीरस्थित और शरीर संबंधी सुख दुःख आदि में उपेक्षा बुद्धि को अघातिकर्म कहते हैं। मोक्ष के साधन रूप, अर्हत द्वारा उपदिष्ट तप को निर्जर कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय निरोधक समाधि को संवर कहते हैं राग आदि क्लेशों के निवृत्त हो जाने पर, स्वाभाविक आत्म स्वरूप के आविर्भाव को ही मोक्ष मानते हैं।

पृथिव्यादिहेतुभूताश्चाणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः। अपित्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणाम कृतः। सर्वं च वस्तुजातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिकमिच्छंति, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिचनास्ति च—स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यम् च स्यानास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभंगीनयावतारात्। सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपादयंति, पर्यायात्मना च तद्विपरीतं, पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्था विशेषाः, तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्वासत्वादिकं सर्वं उपपन्नमिति।

ये लोग वैशेषिकों की तरह पृथिवी आदि के परमाणुओं को चार प्रकार का नहीं मानते, अपितु सबको एक स्वभाव का मानते हैं। केवल परिणाम से ही उनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि भेद मानते हैं। उनके मत से, सारी ही वस्तुएं, सत्य-असत्य नित्य-अनित्य भिन्न-अभिन्न तथा अनैकांतिक (अनियत) हैं। अर्थात् स्यात् हैं, स्यात् नहीं हैं, स्यात् हैं भी नहीं भी, स्यात् अव्यक्त हैं, स्यात् हैं और अवक्तव्य हैं, स्यात् नहीं है और अवक्तब्य हैं, स्यात् हैं और नहीं हैं और अवक्तव्य हैं, इत्यादि सप्त भंगी न्याय से प्रस्तुत करते हैं। सभी वस्तुए द्रव्य पर्याय भूत द्रव्यात्मक इसलिए, द्रव्य रूप से वह सत्य, नित्यत्व और एकत्व आदि धर्मों का उपपादन करती हैं। स्वतः पर्याय रूप से, उससे विपरीत उपपादन करतीं हैं। द्रव्यों की अवस्था विशेष ही पर्याय है, जो कि भाव अभाव वाली अवस्था है इसीलिए सत्व' असत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म, समस्त वस्तुओं में उत्पन्न होते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्राभिधीयते—"नैकस्मिन्न संभवात्" इति। नैतदुपपद्यते, कुतः ? एकस्मिन्न संभवात्—एकस्मिन् वस्तुनि अस्तित्वेन अन्नास्तित्वादेर्विरुद्धस्य छायातपवद् युगपदसंभवात्। एतदुक्तं भवति—द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्पदार्थत्वात् नैकस्मिन्‌विरुद्धधर्मं समावेशः संभवति इति। तथाहि-एकेनास्ति त्वादिनाऽवस्थाविशेपण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्विपरीत-नास्तित्वादि विशिष्टत्वं संभवति। उत्पत्ति विनाशाख्यपरिणामविशेषास्पदत्वं च द्रव्यस्यानित्यत्वम्, तद्विपरीत च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवैति, विरोधिधर्माश्रयतत्त्वं च भिन्नत्वम्, तद्विपरीतंचाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवैति। यथाऽश्वमहिषत्वयोर्युगपदेकस्मिन् न संभवः।

उक्त जैन मत पर सूत्रकार "नेकस्मिन्" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उक्त मत असंभव है, एक ही वस्तु में विपरीतता, धूप और छांह की तरह हो नहीं सकती, अस्तित्व और नास्तित्व, ये विरुद्धतायें एक साथ हो नहीं सकती। कथन यह है कि—विशेष द्रव्य की और उसके विशेषण रूप, पर्याय शब्दाभिधेय अवस्था विशेष (अस्तित्व नास्तित्व) की, स्वभावत पृथकता होने से, एक में ही विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असंभव है। अस्तित्व आदि किसी एक विशेषण से वस्तु, तत्काल उसके विपरीत, नास्तित्व आदि विशेषण से विशेषित हो जाय, ऐसा संभव नहीं है। उत्पत्ति विनाश वाले परिणाम को प्राप्त द्रव्य की, अनित्य अवस्था में, उसके नितांत विपरीत नित्यता कैसे हो सकती है? विरोधी धर्मों की आश्रयता ही तो भिन्नता है, उससे विपरीत अभिन्नता होती है, दोनों बातें एक में कैसे संभव हैं? जैसे कि एक ही जीव में अश्वत्व और महिष्यत्व दोनों एक साथ संभव नहीं हैं।

अयमर्थः पूर्वमेव भेदभेदवादि निरसन समये "तत्तुसमन्वयात्" इत्यत्र प्रपंचितः। कालस्य पदार्थं विशेषणतयैव प्रतीतेस्तस्य

ankurnagpal108@gmail.com

पृथगस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहर्त्तव्याः। कालोऽस्तिनास्तीयि व्यवहारो व्यवहर्त्तॄणां जात्याद्यस्तित्वनास्तित्व-व्यवहार तुल्यः। जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयंत इति, पूर्वमेवोक्तम्।

उक्त तत्त्व को हम भेदाभेदवाद के निरसन के समय "तत्तु समन्वयात्" सूत्र में विस्तृत रूप बतला चुके हैं। काल की जब पदार्थ विशेष रूप से ही प्रतीति होती है, तब उसके पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व को कहने और उसके खंडन करने का प्रश्न ही नहीं उठना, काल के अस्तित्व नास्तित्व का व्यवहार करना, व्यवहार करने वालों की अपनी जाति आदि के अस्तित्व नास्तित्व के व्यवहार के समान है। जाति आदि धर्मों की प्रतीति भी, द्रव्य के विशेषण रूप से ही होती है, ऐसा पहिले ही बता चुके हैं।

कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति श्रोत्तियैरुच्यते? सर्व चेतनाचेतनशरीरत्वान् सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सत्यसंकल्पस्य पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम्। शरीरशरीरिणोः तद्धर्माणां च अत्यंत वैलक्षण्यमप्युक्तम्। किं च जीवादीनांषण्णां द्रव्याणामेकद्रव्य पर्यायत्वाभावात्तेषु द्रव्यैकत्वेन पर्यायात्मना चैकत्वानैकत्वादयो दुरुपपादाः? अथोच्येत्-षडैतानि द्रव्याणि स्वकीयैः पर्यायैः स्वेनत्वेनचात्मना तथा भवंति इति। एवमपि सर्वं मेनैकान्तिक-मित्यभ्युपगम विरोधः अन्योन्यतादात्म्याभावात्। अतो न युक्तमिदं जैनमतं। ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वोक्त दोषास्त थैवावतिष्ठंते।

यदि कहो कि—वेदज्ञ लोग एक ही ब्रह्म में सर्वात्मकता कैसे बतलाते हैं? भाई वह तो उसे समस्त जडचेतन शरीर वाला, सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न, सत्यसंकल्प पुरुषोत्तम कहते हैं। शरीर और शरीरी इन दोनों के धर्मों में अत्यंत विलक्षणा होती है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

जीव आदि छहो द्रव्यों का एक पर्यायत्व न होने से, उसमें एक द्रव्यपर्यायिता मानकर, एकता अनेकता का प्रतिपादन करना कठिन है। यदि कहो कि–ये छहो अपने अपने पर्याय होकर, स्वतन्त्ररूप से अपने अपने स्वरूपानुसार' भिन्न अभिन्नरूप वाले होते हैं। ऐसा मानने पर भी, सारे पदार्थों में जो अनेक रूपता मान रक्खी है,उससे विरुद्धता हो जावेगी, क्यों कि–उनमें परस्पर तादात्म्य तो है नहीं। इसलिए यह जैनमत असंगत है। ईश्वर रहित परमाणु कारणवाद पर जिन दोषों का आरोपण हो चुका है, वे सब, इस मत में भी उसी प्रकार आरोपित होंगे।

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ।२।२।३२॥

एवं भवदभ्युपगमे सति आत्मनश्चाकार्त्स्न्यं प्रसज्यते जीवोऽसंख्यात प्रदेशो देह परिभागा इति हि भवतां स्थितिः। तत्रहस्त्यादि-शरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलकादि शरीरे प्रवेशितोऽल्पदेशव्यापित्वेनाकार्त्स्न्यं प्रसज्यते- अपरिपूर्णता प्रसज्यत इत्यर्थः।

यदि आपके अभिमत, शरीर परिमित सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो आत्मा की अपूर्णता निश्चित होती है, जीव असंख्य स्थलों में देह परिमाण के अनुसार घटता बढ़ता हुआ स्थित रहता है, यह आपका मत है हाथी के शरीर वर्त्तमान आत्मा का यदि चींटी के शरीर में प्रवेश होगा तो अल्पदेशव्यापी होने से उसमें, अपरिपूर्णता होगी।

अथ संकोच विकास धर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दाभिधेयावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिह्रियत इत्युच्यते, तत्राह–

यदि, संकोच और विकास को आत्मा का धर्म मानकर,पर्याय शब्द-वाच्य अवस्थान्तर प्राप्ति से उक्त अपूर्णता का परिहार करते हो, तो सुनो

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।२।२।३३॥

न च संकोच विकास रूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहर्तुं शक्यते, विकार तत्प्रयुक्तानित्यत्वादि दोष प्रसक्तेर्घटादितुल्यत्व प्रसंगात्।

ankurnagpal108@gmail.com

संकोच विकास रूप अवस्थान्तर प्राप्ति को मानकर भी विरोध का परिहार नहीं कर सकते, ऐसा मानने से विकार और विकाराधीन अनित्यता आदि दोष संभावित होंगे, जिसके फलस्वरूप आत्मा, घट आदि की तरह विकृत पदार्थ हो जायगा।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।२।२।३४॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणम् मोक्षावस्थागतं, तस्य पश्चाद्देहान्तर परिग्रहाभावात् अवस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभयोर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति पूर्वमपि तस्मादविशेषः स्यात्। अतो देह परिमाणत्वात्मनो न स्यादित्यसंगतमेवेदमार्हतमतम्।

जीव का जो मोक्षकालीन अंतिम परिमाण होगा, वह निश्चित ही संकोच विकास रहित स्थिर परिमाण होगा, क्यों कि उसके बाद तो देहान्तर प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा और आत्मा का मोक्षकालीनपरिमाण दोनों ही नित्य हैं, इससे निश्चित होता है कि—वही आत्मा का स्वाभाविक परिमाण होगा, उसके पूर्व के परिमाणों का कोई महत्त्व नहीं है। इस से सिद्ध हो गया कि—आत्मा का परिमाण कभी देहानुसार नहीं होता। यह अर्हत मत नितांत असंगत है।

७ पशुपत्यधिकरणः—

पत्युरसामंजस्यात्।२।२।३५॥

कपिलकणाद सुगतार्हतमतानामसामंजस्यात् वेदबाह्यात्वाच्च निश्श्रेयसार्थिभिरनादरणीयत्वमुक्तम्, इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधाद सामंजस्याच्च अनादरणीयतोच्यते। तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः, कापालाः कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च इति। सर्वेचैते वेदविरुद्धां तत्त्वप्रतिक्रियां ऐहिकामुष्मिकनिश्श्रेयससाधनकल्पनाश्चकल्पयंति। निमित्तोपादान-

ankurnagpal108@gmail.com

योर्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते। तथानिश्श्रेयससाधनमपि मुद्रिकाषट्क धारणादिकं-यथाहुः कापालाः "मुद्रिकाषट्क तत्त्वज्ञः परमुद्रा विशारदः भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वानिर्वाणमृच्छति, कठिकारुचकं चैव कुंडलं च शिखामणिः भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते। आभिर्मुद्रित देहस्तु न भूय इति जायते" इत्यादिकम्।

कापिल, कणाद, सुगत, अर्हत् आदि के मत असंगत और वेदबाह्य होने से मुमुक्षुओं के लिए अनादरणीय हैं। अब पशुपति के वेदविरुद्ध असंगत मत की अनादरणीयता बतलाते हैं। इस मत के अनुयायी चार प्रकार के हैं, कापालिक, कालमुख, पाशुपत और शैव। ये सब वेद विरुद्ध तंत्र प्रणाली तथा ऐहिक पारलौकिक मोक्ष साधन की कल्पना करते हैं। निमित्त और उपादान कारणों में भेद तथा पशुपति को निमित्त कारण मानते हैं। तथा मोक्ष की साधनिका छः मुद्राओं को धारण करना मानते हैं, जैसा कि-कापालिक कहते हैं-"छः मुद्रिकाओं को जानने वाले, पर मुद्रा विशारद, अपने को भगासनस्थ रूप में ध्यान करके निर्वाण प्राप्त करते हैं, कंठिका, रुचक, कुंडल और शिखामणि तथा भस्म और यज्ञोपवीत, ये छः मुद्रायें हैं, इन छहों से जिसका देह मुद्रित है, वह पुनः जन्म नहीं लेता। "इत्यादि,

तथा कालामुखा अपि कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नान तत्प्राशन लगुडधारणसुराकुंभस्थापनतदाधारदेवपूजादिकमैहिकामुष्मिक सकलफलसाधनमभिदधति। "रुद्राक्षकंकणंहस्ते जटा चैका च मस्तके, कपालं भस्मनास्नानम् "इत्यादि च प्रसिद्धं शैवागमेषु। तथा केनचित्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि ब्राह्मण्यप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्ति चाहुः "दीक्षा प्रवेश मात्रेण ब्राह्मणो भवतिक्षणात्, कापाले व्रतमास्थाय यतिर्भवतिमानवः "इति।

तथा कालमुख भी, कपालपात्र में भोजन, शवभस्म स्नान, उसी का भक्षण, लगुडधारण, मद्यकुंभस्थापन, उसी से देवता का पूजन आदि को

ankurnagpal108@gmail.com

ऐहिक आमुष्मिक फल का साधन कहते हैं। "हाथ में रुद्राक्ष का कंकण, मस्तकपर एक जटा, नर कपाल ग्रहण और भस्म स्नान "इत्यादि शैवागमों में प्रसिद्ध आचार हैं तथा किन्ही विशेष क्रियाओं से, विजातीयों की भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति और उत्तम आश्रय प्राप्ति बतलाते हैं–"दीक्षा प्रवेश मात्र से तत्काल ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत में स्थित होकर मानव, यति हो जाता है। "इत्यादि,

तत्रेदमुच्यते-"पत्युरसामंजस्यात्"इति। "नैकस्मिन्न संभवात्" इत्यतो "न" इत्यनुवर्त्तते। पत्युः, पशुपतेः, मतं नादरणीयम्। कुतः? असामंजस्यात्। असामंजस्यं च अन्योन्यव्याघातात् वेदविरोधाच्च। मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुंभस्थापन तत्स्थदेवतार्चनं गुढाचारः स्मशानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानानन्यन्योन्य विरुद्धानि वेदविरुद्धं चेदं तत्त्व परिकल्पनमुपासनमाचारश्च।

उक्त मत के निराकरण के लिए "पत्युरंसामजस्यात्" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, "नैकस्मिन् "इत्यादि पूर्व सूत्र से इस सूत्र में भी "न" शब्द का अनुवर्त्तन होगा। पति अर्थात् पशुपति का मत अनादरणीय है, क्यों कि–वह असंगत है। परस्पर विरुद्धता और वेदविरुद्धता होने से इसका तालमेल नहीं बैठता। छः मुद्राओं का धारण करना, भगासनस्थ होकर ध्यान करना, सुराकुम्भ स्थापन करना, उसी से देवार्चन करना गूढ आचार करना, स्मशान भस्म से स्नान करना तथा प्रणवोच्चारण पूर्वक ध्यान करना इत्यादि विरुद्धतायें हैं। तत्त्व परिकल्पना, उपासना और आचार में यह मत, वेदविरुद्ध है।

वेदाः खलु परब्रह्म नारायणमेव जगत्तिमितमुपादानं च वदंति-"नारायणं परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः, नारायणपरोज्योतिरात्मा नारायणः परः "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादयः। परब्रह्मभूत परमपुरुष वेदनमेव च मोक्षसाधनमुपासनं वदंति–"वेदाहमेतं पुरुषं महांतं आदित्यवर्णं तमसस्तुपारे "तमेवविद्वानमृत इह भवति"

ankurnagpal108@gmail.com

नान्यः पन्थाः, अयनाय विद्यते "इत्यादिना एकतां गताः सर्वे वेदांताः, तदितिकर्त्तव्यताभूतं कर्म च वेदविहितवर्णाश्रम संबंधि यज्ञादिकमेव वदंति—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन "एतमेवलोकमिच्छंतः प्रव्राजिनः प्रव्रजंति "इत्यादयः। केवल परतत्त्व प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केषुचिदुपासनादि विधिपरेषु वाक्येषु श्रुताः प्रजापतिशिवेन्द्राकाश-प्राणादिशब्दा इति "शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् "इत्यत्र प्रतिपादितम्। तथा—"एको ह वै नारायण आसीन्नब्रह्मानेशानः" इत्यारभ्य "स एकाकी न रमेत" इति सृष्टिवाक्योदितं स्रष्टारं नारायणमेव समान प्रकरणस्थाः "तदेव सौम्येदमग्रे "इत्यादिषु साधारणाः सद्ब्रह्मादि शब्दाः प्रतिपादयंतीति "जन्माद्यस्ययतः" इति प्रतिपादितम्। अतो वेद विरुद्ध तत्त्वोपासनानुष्ठानाभिधानात् पशुपतिमतमनादरणीयमेव।

वेदों में, परब्रह्म नारायण को ही, जगत का निमित्त और उपादान कारण बतलाया गया है—"नारायण ही परब्रह्म, नारायण ही परं तत्त्व नारायण ही परं ज्योति और नारायण ही परमात्मा हैं "उन्होंने कामना की कि अनेक रूपों में व्यक्त हो जाऊँ" उन्होनें इच्छा की कि—अनेक होकर जन्म लूँ" उन्होने अपनी स्वयं सृष्टि की "इत्यादि। परब्रह्म परमपुरुष के ज्ञान को ही, मोक्ष का साधन, उपासना बतलाया गया है।—"अज्ञान से अतीत, आदित्यवर्ण इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ "साधक पुरुष इस प्रकार जानकर इस लोक में ही अमर हो जाता है" उनको पाने का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इत्यादि रूप से सारे ही वेदांत वाक्य एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। वेदविहित, वर्णाश्रमानुगत यज्ञ आदि को ही, मोक्षोपाय का अंगीभूत कर्म बतलाया गया है "ब्राह्मण, वेदाध्ययन, वेदोक्त यज्ञ दान, तप और भोग निवृत्ति द्वारा, उसको जानने की इच्छा करते हैं" "इसी प्रकार संन्यासी आत्मलोक प्राप्त की कामना से संन्यास ग्रहण करते हैं "इत्यादि। उपासना विधायक किन्ही किन्ही वाक्यों में कहे गए, प्रजापति शिव, इन्द्र, आकाश और प्राण आदि शब्दों

ankurnagpal108@gmail.com

को नारायण ही मानना चाहिए तैत्तरीयोपनिषद् के नारायण अनुवाक से ऐसा ही सिद्ध होता है इसका प्रतिपादन हम "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" सूत्र में कर चुके हैं। तथा—"सृष्टि के पूर्व एक नारायण ही थे, ब्रह्मा, शंकर आदि कोई न थे "इत्यादि से प्रारंभ करके "वह अकेले रमण नहीं करते "इत्यादि सृष्टि वाक्य में जिन नारायण को स्रष्टा बतलाया गया है, उन्हे ही दूसरे सृष्टि प्रकरण में-" हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् ही था "इत्यादि में साधारण सत् शब्द से बतलाया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में इसका विवेचन हो चुका है वेदविरुद्ध तत्त्व की उपासना का प्रतिपादक पाशुपत सिद्धान्त निश्चिय ही अनादरणीय है।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३६॥

वेदवाह्यानामनुमानाद् हि केवल निमित्तेश्वर कल्पना तथा सति दृष्टानुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्त्तव्यम्, न च कुलालादेर्मृदाद्यधिष्ठानवत्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठानमुत्पद्यते, अशरीरत्वात्, सशरीराणामेव हि कुलालादीनामधिष्ठानशक्तिर्दृष्टा, न चेश्वरस्य सशरीरत्वमभ्युपगंतव्यम्, तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च "शास्त्र योनित्वात्" इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात्।

वेदविरुद्ध पाशुपतों के अनुमान से यदि ईश्वर को ही निमित्तकारण रूप से कल्पना करेंगे तो, उन्हें निमित्त कारण रूप से दीखने वाले कुम्हार आदि की तरह ही मानना पड़ेगा। कुम्हार आदि जैसे मिट्टी आदि उपादानों से निर्माण करते हैं वैसे ही पशुपति, प्रधान से निर्माण नहीं कर सकते क्यों कि वह शरीरी नहीं है, शरीर वाले कुम्हार आदि में ही निर्माण शक्ति देखी जाती है, ईश्वर को शरीर वाला कभी माना नहीं जा सकता, क्यों कि, उनका सांगोपांग शरीर मानने से, नित्यता और अनित्यता होगी जिसे कि—"शास्त्रयोनित्वात्" में दोष बतला चुके हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।३७॥

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव दृश्यते, तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्य च प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्-न भोगादिभ्यः पुण्यपापरूपकर्मफलभोगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तदधिष्ठानं तद्वद् पशुपतिरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं प्रसज्येत्, अतो नाधिष्ठान संभवः ।

शरीर होते हुए भी भोक्ता जीव को जैसे, देह और इन्द्रिय आदि से निर्माण करते देखा जाता है वैसे ही महेश्वर भी अशरीरी होते हुए प्रधान से सृष्टि करते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा मानने से भोग आदि की संभावना होगी। जीव का जो देह इन्द्रिय आदि में अधिष्ठान है वह पुण्य-पाप कर्मों के फल भोगने के लिए हैं, वैसे ही पशुपति में भी पुण्यपाप कर्म और उसके फल भोगने की स्थिति होगी। इसलिए पशुपति का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।२।२।३८॥

वाशब्दश्चार्थे, पशुपते पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदंतवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वं असर्वज्ञता च स्यादित्यनादरणीयमेवेदं "विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यात्" इत्यादिना वेदविरूद्धस्यानादरणीयत्वे सिद्धेपि पशुपति मतस्य वेदविरूद्धताख्यापनार्थं "पत्युरसामंजस्यात्" इति पुनरारम्भः। यद्यपि पाशुपतशैवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयंते, तथापि वेदविरूद्ध निमित्तोपादानभेदकल्पनापरावर तत्त्वव्यत्यय कल्पनामूलत्वात् सर्वमसमंजसमेवेति "असामंजस्यात्" इत्युक्तम्।

सूत्रस्थ वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। पशुपति का यदि पुण्य अपुण्य रूप अदृष्ट संबंध स्वीकारेंगे तो, जीव की तरह उनकी भी नाशवान, सृष्टि-संहार और सर्वज्ञता हो जावेगी, इसलिए यह मत अनादरणीय

ankurnagpal108@gmail.com

ही है। "वेद विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है" इस वाक्य के अनुसार अनादरणीय सिद्ध होने पर भी, इस मत की वेद विरुद्धता बतलाने के लिए "पत्युरसामंजस्यात्" सूत्र से उसी बात को पुनः आरंभ किया गया है। यद्यपि पाशुपत और शैवमत की कुछ मान्यतायें, वेद से अविरुद्ध भी प्रतीत होती हैं तथापि-वेद विरुद्ध, निमित्त और उपादान कारणों की भेद कल्पना, पर अपर तत्व की विपर्यय कल्पना ही जब इस मत के मूल सिद्धान्त हैं तो उसीसे सारा मत असंगत हो जाता है, "असामंजस्यात्" से यही बात कही गई है।

८ उत्पत्यसंभवाधिकरणः-

उत्पत्यसंभवात् ।२।२।३९॥

कपिलादितंत्र सामान्याद् भगवदभिहितपरमनिः श्रेयस साधनावबोधिनि पंचरात्रतंत्रेऽप्यप्रामाण्यमाशंक्य निराक्रियते। तत्रैव माशंकते-"परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनोजायते, तस्मादनिरुद्ध संज्ञोऽहंकारो जायते" इति हि भागवतप्रक्रिया। अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा प्रतीयते, श्रुतयो हि जीवस्य अनादित्वं वदंति "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिना।

कपिल आदि तन्त्रों की समानता होने से, स्वयं भगवान द्वारा उपदिष्ट मोक्ष साधन बोधक पंचरात्र तंत्र की भी अप्रामाणिकता की आशंका करके निराकरण करते है-"परमकारण परब्रह्म स्वरूप वासुदेव से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन हुआ, उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार होता है।" ऐसी भागवतों की प्रकिया है। इस पर आशंका करते हैं कि-इसमें जो जीव की उत्पत्ति बतलाई गई है वह वेद विरुद्ध है, वेदों में तो जीव को अनादि वतलाया गया है- "विपश्चित न उत्पन्न होता है न मरता है" इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

न च कर्त्तुः करणम् ।२।२।४०॥

"संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनो जायते" इति कर्त्तुः जीवात् करणस्य मनस उत्पत्तिर्नसंभवति । "एतस्माज्जायते प्राणो मनसः सर्वेन्द्रियाणि च" इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः । अतः श्रुतिविरुद्धार्थं प्रतिपादनादस्यापि तंत्रस्य प्रामाण्यं प्रतिसिध्यत इति ।

"संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन होता है" कर्त्ता जीव से इन्द्रिय रूप मन की जो उत्पत्ति बतलाई गई है वह भी संभव नहीं है । "इससे ही प्राण मन आदि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं" इत्यादि श्रुति में परब्रह्म से ही मन की उत्पत्ति बतलाई गई है । इसलिए श्रुति विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले इस तंत्र की भी प्रामाणिकता, अमान्य है ।

एवं प्राप्त प्रचक्ष्महे—इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४१॥

वा शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि । संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादन परस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यते । एतदुक्तं भवति-भागवत प्रक्रियामजानतामिदं चोद्यं—यज्जीवोत्पत्तिर्विरुद्धाऽभिहिता इति । वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्सलं स्वाश्रित समाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया । यथा पौष्कर संहितायां - "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते, क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि । तच्च चातुरात्म्योपासनं वासुदेवाख्य परब्रह्मोपासनमिति सात्वत् संहितायामुक्तम्—"ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्म वासुदेवाख्ययाजिनाम् विवेकादपरं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदंमहत्" इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

सूत्र वा शब्द पूर्वपक्ष की आपत्ति का निवारक है। विज्ञानादि का तात्पर्य है, सबका कारणीभूत परब्रह्म। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी परब्रह्म के ही स्वरूप हैं, उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिषिद्ध नहीं हो सकती। कथन यह है कि—भागवत संप्रदाय की तत्त्व चिंतन प्रणाली को न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं कि-जीव की उत्पत्ति शास्त्र विरुद्ध है। भागवतों का मत है कि—वासुदेव नामक परब्रह्म ही शरणागत वत्सल रूप से अपने भक्तों को आश्रय प्रदान करने के लिए स्वेच्छा से चार रूप धारण करते हैं। जैसा कि पौष्कर संहिता में वे कहते हैं—जिससे, गुरु शिष्य भावापन्न ब्राह्मण लोग, कर्त्तव्य बुद्धि से चतुर्व्यूह की उपासना करते हैं वही आगम है" इत्यादि। वह चतुर्व्यूह उपासना, वासुदेव नामक परब्रह्म की ही है, ऐसा सात्वत संहिता में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों को विवेक प्रदान करने वाला यही एक मात्र ब्रह्मोपनिषद् है।"

तद् हि वासुदेवाख्यं परंब्रह्म संपूर्णषाड्गुण्यवपुः सूक्ष्मव्यूहविभव भेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक् प्राप्यते। विभवार्चनाद्व्यूहं प्राप्य, व्यूहार्चनात् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वदंति। विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः। व्यूहो वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपश्चतुर्व्यूहः। सूक्ष्मं तु केवल षाड्गुण्य विग्रहं वासुदेवाख्यं परब्रह्म। यथा पौष्करे— "यस्मात् सम्यक् परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्, अस्मादवाप्यते शास्त्रात् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि।

संपूर्ण छः गुणों वाले सूक्ष्म व्यूह रूप विशिष्ट संपत्तिशाली उन वासुदेव नामक परब्रह्म को, भक्तगण अपने अपने अधिकारानुसार, ज्ञान-युक्त कर्म द्वारा अर्चना करके, अच्छी तरह प्राप्त होते हैं। विभवार्चन से व्यूह की प्राप्ति करके, व्यूहार्चन करते हैं उससे परब्रह्म वासुदेव नामक सूक्ष्म तत्त्व को प्राप्य करते हैं। राम कृष्ण आदि अवतार ही विभव हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह हैं। सूक्ष्म तो केवल छःगुण संपन्न, वासुदेव नामक परब्रह्म ही हैं। जैसा कि—पौष्कर संहिता

ankurnagpal108@gmail.com

में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म की प्राप्ति, जिस शास्त्रोपादिष्ट ज्ञान पूर्वी कर्म से होती है" इत्यादि।

अतः संकर्षणादीनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रह रूपत्वात् "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतिसिद्धस्यैवाश्रित वात्सल्यनिमित्त स्वेच्छाविग्रह संग्रहरूपजन्मनोऽभिधानात्तदभिधायि शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः, इति। तत्र जीवमनोऽहंकार तत्त्वाना-मधिष्ठातारः संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दै-रभिधानमविरूद्धम्, यथा आकाश प्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्।

संकर्षण आदि तीन, परब्रह्म के स्वेच्छा विग्रह हैं—"जो जन्मरहित-होते हुए भी, अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं" ऐसा श्रुति प्रसिद्ध मत है, शरणागत वात्सल्य से स्वेच्छा विग्रहों के रूप में उनका प्राकट्य बतलाया गया है, जिससे कि उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता अकाट्य सिद्ध होती है। जीव मन अहंकार के अधिठषाता, संकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है, उन्हें ही जीव आदि शब्दों से बतलाया गया है, जैसा कि—आकाश आदि शब्दों से परब्रह्म का उल्लेख किया गया है।

विप्रतिषेधाच्च।२।२।४२॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपितंत्रे, यथोक्तं परम संहितायाम् "अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रया, त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण संबंधस्तस्याश्च पुरुषस्य च, स हि अनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" इति। एवं सर्वाष्विपि संहितासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पंचरात्रतंत्रे प्रतिषिद्धैव। जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा "नात्मा श्रुतेः" इत्यत्र वक्ष्यते। अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिषिद्धैवेति जीवोत्पत्तिवादनिमित्ताप्रामाण्य शंका दूरोत्सारिता।

ankurnagpal108@gmail.com

जीव की उत्पत्ति तो नारद पांचरात्रतंत्र में भी अस्वीकार की गई है जैसा कि परम संहिता में—"अचेतन परार्थ (पुरुष की भोग साधिका) नित्य और निरंतर विकारशील, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जीवों की कर्म भूमि है, जो कि यथार्थ सा है। व्यापक होने से प्रकृति के साथ पुरुष का दृढ़ संबंध हो गया है, जो कि अनादि अनंत सत्य सा प्रतीत होता है।" ऐसा ही सभी संहिताओं में जीव के नित्यता बोधक वाक्यों से जीव की स्वरूपोत्पत्ति पांचरात्रतंत्र में प्रतिषिद्ध है। जीव के जन्म और मरण आदि का व्यवहार जैसा लोक और वेद में किया जाता है उसे "नात्मा श्रुते:" में दिखलाया है। जीव की उत्पत्ति तो, पांचरात्रतंत्र में भी प्रतिषिद्ध हैं इसलिए जीवोत्पत्तिवाद निमित्तक प्रामाण्य की शंका निराकृत हो जाती है।

यश्चैष केषांचिद् उद्घोषः "सांगेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः शांडिल्यः पंचरात्र शास्त्र मधीतवान् "इति। सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसामनाकलिततदुपवृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्र विजृम्भितः, यथा—"प्रातः प्रातरनृतं ते वदंति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् "इति-अनुदितहोमनिन्दा उदितहोम प्रशंसार्थेत्युक्तम्, यथा च भूमविद्याप्रक्रमे नारदेन "ऋग्वेद् भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमम् "इत्यारभ्य सर्वविद्यास्थानमभिधाय—"सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् "इति भूमविद्याव्यतिरिक्तासु सर्वासु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्ष्माणभूमविद्या प्रशंसार्थंकृतं अथवाऽस्य नारदस्य सांगेषु वेदेषु यत्परतत्त्वं प्रतिपाद्यते, तदलाभनिमितोऽयंवादः, एवमेव शांडिल्यस्येति। पश्चाद् वेदांत वेद्यवासुदेवाख्य परब्रह्म तत्त्वाभिधानादवगम्यते तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञानतया सुखावबोधार्थः शास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते—"अधीता भगवन् वेदाः सांगोपांगाः सविस्तराः, श्रुतानि च मयाऽगानि वाक्यो वाक्ययुतानि च न चैतेष् समस्तेषु संशयेन बिना क्वचित्, श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि

ankurnagpal108@gmail.com

येन सिद्धिर्भविष्यति "इति "वेदांतेषु यथासारं संगृह्य भगवान हरिः, भक्तानुकंपमाविद्वान् संचिक्षेप यथा सुखम् "इति च।

किसी का जो यह कथन है कि–"शांडिल्य ऋषि ने अङ्गों सहित वेदों में पुरुषार्थ निष्ठा न देखकर पांचरात्र शास्त्र का अध्ययन किया" इस वाक्य में वेद वेदांग में पुरुषार्थ निष्ठा की अनुपलब्धि गई है, इसलिए यह तन्त्र वेद विरुद्ध है। उन कहने वालों ने, वस्तुतः वेदों को सूंघा तक नहीं और न वे वेदानुकूल युक्तियों से ही परिचित हैं, उनमें केवल श्रद्धा का अंकुर मात्र ही है, जिसके आधार पर वे वेद की दुहाई देते हुए प्रायः अनर्गल प्रलाप करते हैं। वेद की युक्ति का एक उदाहरण जैसे—"जो सूर्योदय के पूर्व हवन करते हैं, वे नित्य प्रातः काल झूठ बोलते हैं" ऐसी सूर्योदय पूर्व के हवन की निन्दा का तात्पर्य सूर्योदय के बाद के हवन की प्रशंसा ही है। तथा–भूमाविद्या के प्रकरण में नारद ने कहा कि— भगवन्! मैंने ऋग् यजु साम अथर्व चारों वेद पढ़ा तथा पांचवें वेद इतिहास पुराण का भी स्मरण किया" इत्यादि से सभी विद्याओं का उल्लेख करके "हे भगवन्! मैं मन्त्र वेत्ता तो हूँ किन्तु आत्म वेत्ता नहीं हूँ" इत्यादि में, ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त समस्त विद्याओं में आत्म ज्ञान प्राप्ति का अभाव बतला गया, वह एक मात्र भूमाविद्या की प्रशंसा के लिए ही है। अथवा अङ्गों सहित में जो परतत्त्व निहित है, उसको न समझ सकने के कारण नारद ने ऐसा कहा, उसी प्रकार शांडिल्य संबंधी कथन भी है। उक्त शांडिल्य सम्बन्धी कथन के ठीक बाद ही, वेदांत वेद्य वासुदेव नामक पर ब्रह्म तत्त्व का उल्लेख है, उससे यही बात सिद्ध होती है। ऐसे ही वेदार्थ दुर्ज्ञेयता के अनायास बोध के लिए पांचरात्र शास्त्र के प्रारंभ में पर संहिता में कहा गया कि–"भगवन! अंगों सहित वेदों का अध्ययन किया, तथा वाक्ययुक्ति विशिष्ट वेदांगों का भी श्रवण किया, किन्तु उनमें असंशयित ऐसा श्रेयमार्ग नहीं पाया, जिससे कि सिद्धि हो सके "भगवान हरि ने स्वयं वेदों का सारतत्त्व संग्रह करके, भक्तों पर कृपावश, सहज ज्ञान प्राप्ति के लिए संक्षिप्त किया"।

अतः स भगवान् वेदैकवेद्यः परब्रह्माभिधानोवासुदेवो निखिल हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानानं त ज्ञानानंदाद्यपरिमितोदारगुणसागरः सत्यसंकल्पश्चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यव्यवस्थयाऽवस्थितान् धर्मार्थ काम

ankurnagpal108@gmail.com

मोक्षाख्य पुरुषार्थाभिमुखान् भक्तानवलोक्यापारकारुण्यसौशील्य-वात्सल्यौदार्यं महोदधिः स्वस्वरूपस्वविभूति स्वाराधन तत्फल याथात्म्यावबोधिनो वेदान् ऋग्यजुसामाथर्वभेदभिन्नानपरिमितशाखान् विध्यर्थवादमंत्ररूपान् स्वेतर सकलसुरनरदुरवगाहांश्चावधार्य तदर्थ याथात्म्यावबोधि पंचरात्र शास्त्रं स्वयमेव निर्मिमीतेति निरवद्यम्।

सारांश यह है कि-अपार करुणावात्सल्य और सुशीलता के सागर, वेदांत वेद्य, हीनतारहित, महान् गुणों की खान, अनंत ज्ञान आनंद आदि अपरिमितउदार गुणों के सागर सत्यसंकल्प परब्रह्म वासुदेव ने चारों वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था के अनुरूप, अपने भक्तों को, धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए उत्सुक देखकर, अपने स्वरूप, विभूति आराधना और आराधना के फल के प्रतिपादक, ऋग् यजु साम अथर्व आदि रूपों में विभक्त असंख्य शाखावाले, विधि, अर्थवाद और मंत्र वाले वेदों को, अपने से भिन्न देव मनुष्य आदि के लिए दुर्विज्ञेय समझकर सुवोध पंचरात्र शास्त्र का स्वयं ही निर्माण किया। इसलिए यह शास्त्र अनवद्य है।

यत्तु परैः सूत्र चतुष्टयं कस्यचिद्विरुद्धांशस्य प्रामाण्य निषेध परं व्याख्यातम्, तत्सूत्राक्षराननुगुणं, सूत्रकाराभिप्रायविरुद्धं च तथाहि-सूत्रकारेण वेदांतन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभिधाय वेदोपवृहणाय च भारतसंहितां शतसाहस्रिकां कुर्वता मोक्षधर्मे ज्ञानकांडेऽभिहितं-"ग्रहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः, य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत् सः "इत्यारम्भ महता प्रवंधेन पंचरात्र शास्त्र प्रक्रियां प्रतिपाद्य "इदं शतसहस्राद् हि भारताख्यानविस्तरात् आविध्य मति मंथानं दध्नोघृतमिवोद्धृतं, नवनीतं यथा दध्नो, द्विपदां ब्राह्मणो यथा आरण्यकं च वैदभ्यः औषधीभ्योयथाऽमृतम् "इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितं, सांख्य योग कृतांतेन पंचरात्रानुशब्दितम् "इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमं, ऋग्यजुः सामभिर्जुष्टमथर्वांगिरसैस्तथा, भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम् "इति। सांख्ययोगशब्दाभ्यां

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहतौ—यथोक्तं—"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनामिति । भीष्मपर्वण्यापि— 'ब्राह्मणैर्क्षत्रियैर्वैश्यै: शूद्रैश्च कृतलक्षणै:, अर्चनीयश्च, सेव्यश्च पूजनीयश्च माधव: । "सात्वतं विधिमास्थाय गीतसंकर्षणेन य: "इति। कथमेवं ब्रुवाणो वादरायणो वेदविदग्रेसरो वेदांतवेद्य परब्रह्मभूतवासुदेवोपासनार्चनादि प्रतिपादनपरस्य सात्वतशास्त्रस्याप्रामाण्यं ब्रूयात्?

जिन्होनें उक्त चारों सूत्रों की, विरुद्धांश प्रामाण्य निषेध परकव्याख्या की है, वह सूत्रार्थ और सूत्रकार के अभिप्राय के विरुद्ध है। सूत्रकार ने, वेदांत व्याख्या के नियम के प्रकाशक ब्रह्मसूत्रों की रचना करके—वेदों की वास्तविक विवेचना करने वाली, महाभारत के एक लाख श्लोकों की संहिता बनाई उसी के मोक्षधर्म के ज्ञान कांड में "ग्रहस्थ, ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थी और संन्यासी, जो भी सिद्धि प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे किन देवता का अर्चन करें? "इत्यादि से प्रारंभ करके बड़े सुव्यवस्थित ढंग से पंचरात्र शास्त्र का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—"दही से निकले नवनीत की तरह, द्विजातियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण की तरह, वेदो में आरण्यक की तरह, समुद्र से निकले अमृत की तरह, अपनी बुद्धि रूपी मथानी की सहायता से, एकलाख श्लोक वाले आख्यायिका प्रधान महाभारतरूपी दही के समुद्र से, नवनीत की तरह यह पांचरात्र शास्त्र निकाला है। चारों वेदों के सार से युक्त यह महोपनिषद्, सांख्य योग और वेदांत में "पंचरात्र" शब्द से वर्णित है। यही परम कल्याण रूप मोक्ष, यही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ हित तथा यही ऋग् यजु साम और अथर्व वेद के प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रामाणिक अनुशासन करने वाला है। "यहाँ सांख्य और योग शब्द से ज्ञान और कर्म योग समझना चाहिए—जैसा कि—"ज्ञान योग से सांख्य तथा कर्म योग से योग, तात्पर्य है" इस वाक्य से निश्चित होता है। भीष्मपर्व में भी इसी प्रकार कहा गया कि—"ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शुद्रों के लिए, संकर्षण सहित माधव ही, सात्वत विधि के अनुसार पूज्य, सेव्य और अर्च्य कहे गए हैं। "वेदज्ञों के अग्रगण्य भगवान वादरायण ही ऐसा कहें और स्वयं वे ही, वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप भगवान वासुदेव की अर्चना के प्रतिपादन में तत्पर सात्वत शास्त्र को अप्रामाणिक बतलावें ऐसा कैसे संभव है?

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च–"सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने। इत्यादिना साख्यादीनामप्यादरणीयतोच्यते, शारीरके तु सांख्यादीनि प्रतिषिध्यंते, अत इदमपितंत्रं तत्तुल्यम्, नेत्युच्यते, यतस्त्रपोममेव शारीरकोक्तं न्यायमवतारयति "किमेतान्येकनिष्ठानि प्रथङ्निष्ठानिवा? "इति प्रश्नस्यायमर्थः—किं सांख्ययोगपाशुपतवेद पंचरात्राण्येकतत्त्व-प्रतिपादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा? यदैकतत्त्वप्रतिपादन-पराणि, किं तदेकं तत्त्वम्? यदा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि तदैषांपरस्परं विरुद्धार्थं प्रतिपादनपरत्वात् वस्तुनि विकल्पासंभवाच्चैकमेव प्रमाणमंगीकरणीयम्, कितदेकम्–इति। अस्योत्तरं ब्रुवन्–"ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै, सांख्यस्य वक्ता कपिलः "इत्यारम्भ सांख्ययोगपाशुपतानां, कपिलहिरण्यगर्भ पशुपति कृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य "अवांतरतपानामं वेदाचार्यः स उच्यते "इति वेदानामपौरुषेयत्वम-भिधाय–"पंचरात्रस्यकृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् "इति पंचरात्रतंत्रस्य वक्ता नारायणः स्वयंमेवेत्युक्तव्यन्। एवंवदतश्चायमाशयः–पौरुषेयाणां तंत्राणां परस्पर विरुद्ध वस्तु वादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगंधवेदवेद्यवस्तु-विरुद्धाभिधायित्वाच्च यथावस्थितवस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम्। वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः, अतस्तत्तंत्राभिहितप्रधानपुरुष पशुपतिप्रभृतितत्त्वस्य वेदांतवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयमिति।

कहते हैं कि–"सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद पाशुपत, ये सब क्या, एक ही उद्देश्य साधन में पर्यवसित हैं अथवा भिन्न भिन्न साधनों में ? इत्यादि वाक्यों में सांख्य आदि का तो आदर किया गया है, शारीरक ब्रह्मसूत्र में

ankurnagpal108@gmail.com

इन सांख्य आदि का प्रतिषेध किया गया है, यह पांचरात्र तंत्र भी उसी प्रकार प्रतिषिद्ध है। नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं, शारीरक सूत्रों की युक्तियों की तरह उक्त वाक्य में भी युक्ति पूर्ण प्रस्तावना की गई है। "किमेतान्येक निष्ठानि" इत्यादि प्रश्न का तात्पर्य है कि–सांख्य, योग, पाशुपत, वेद पांचरात्र आदि शास्त्र, क्या एकही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा भिन्न भिन्न तत्त्वों का? यदि एक का ही प्रतिपादन करते हैं तो वह एक तत्त्व क्या है? यदि भिन्न भिन्न का प्रतिपादन करते हैं तो, उन सब में प्रमाण रूप से किसी एक को ही स्वीकारा जा सकता है, सो वह स्वीकार्य तत्त्व कौन सा है? इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया गया कि-ये विभिन्न मतानुयायियों के ज्ञान के फलस्वरूप उद्भूत प्रक्रियायें हैं, उनमें सांख्य के वक्ता कपिल हैं "इत्यादि से प्रारंभ करके–सांख्य योग और पाशुपत मतों की कपिल, हिरण्यगर्भ और पशुपति प्रणीत पौरुषेयता का प्रतिपादन करके–"वे (नारद) ही अपान्तरतपा नामक वेदाचार्य कहलाते हैं "इत्यादि से वेदों की अपौरुषेयता दिखलाकर "संपूर्ण पांचरात्र स्वयं नारायण ने कहा"इत्यादि से स्वयं नारायण को ही पंचरात्र तंत्र का वक्ता बतलाया। इतना कहने का आशय यह है कि–पौरुषेय मतों के परस्पर विरुद्ध तत्त्व प्रतिपादन के तथा अपौरुषेय होने से, वेद वेद्य तत्त्व, प्रमादादि समस्तदोषों से रहित है, इसलिए जीव की प्रकृति से, विरुद्ध सा प्रतीत होता है, वस्तु की यथार्थता में इनको प्रमाण रूप से स्वीकारना बड़ा कठिन सा है। वेदवेद्य तत्त्व नारायण ही हैं, इसलिए सांख्य आदि शास्त्रोपदिष्ट, प्रकृति पुरुष, पशुपति आदि तत्त्वों को वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायणात्मक रूप से ही स्वीकारा जायेगा।

तदिदमाह च–"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः "इति। "यथागमं यथान्यायम् "इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्त वस्तुपरामृशतो नारायण एव सर्वस्यवस्तुनो निष्ठेति दृश्यते, ब्रह्मात्मकतया तत्तंत्राभिहितानां तत्त्वानां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "विश्वं नारायणः "इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसंदधानस्यनारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त आशय को स्पष्टतः कहा भी है–"समस्त ज्ञान शास्त्र में, शास्त्र और युक्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि–प्रभुनारायण ही निष्ठा (तत्त्व की परमसीमा) हैं। ' इसमें "यथागमं यथान्यायम्" का तात्पर्य है कि–न्यायानुमोदित, समस्त वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है कि सारे शास्त्रों के पदार्थ अब्रह्मात्मक हैं, नारायण ही सब वस्तुओं में निष्ठा हैं। यह सब ब्रह्मस्वरूप है। सारा जगत नारायण स्वरूप है "इत्यादि से निश्चित होता है कि-सारीवस्तुएं ब्रह्मात्मक हैं नारायण ही सबकी निष्ठा हैं।

अतोवेदांत वेद्यः परब्रह्मभूतोनारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य-कृत्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तंत्रमिति च तस्मिन्नितर तंत्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुंशक्यम्। अतस्तत्रैवेदमुच्यते–"एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च, परस्परांगान्येतानि पंचरात्रं तु कथ्यते" इति। सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगम्, वेदाश्चारण्यकानि च वेदारण्यकम्, परस्परांगान्येतानि एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पंचरात्रमिति कथ्यते।

वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायण ही, स्वयं संपूर्ण पंचरात्र के वक्ता हैं, उनका प्रणीत शास्त्र उनका ही स्वरूप है और उनकी उपासना का विधायक है, अन्यान्यशास्त्र उसकी समानता नहीं कर सकते। उस महाभारत में वहीं कहा गया कि–"सांख्य-योग, वेद-आरण्यक सब परस्पर अंगांगीभाव से पांचरात्र शास्त्र में वर्णन किये गए हैं। "सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक, एकही तत्त्व के प्रतिपादक होने से एक हैं, ये शास्त्र ही संगठित होकर पंचरात्र नामक एक शास्त्र कहलाते हैं।

एतदुक्तं भवति–सांख्योक्तानि पंचविंशतितत्त्वानि, योगोक्तं च यमनियमाद्यात्मकं योगं, वेदोदितकर्मस्वरूपाण्यंगीकृत्य तत्त्वानां ब्रह्मात्मकत्वम्। योगस्य च ब्रह्मोपासन प्रकारत्वं कर्मणां च तदाराधनरूपतामभिदधति ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयंत्यारण्यकानि।

ankurnagpal108@gmail.com

एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन स्वयमेव पंचरात्रतंत्रे विशदीकृतम्-इति ।

कथन यह है कि-सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व, योगोक्त यमनियमादि साधन आदि वेदोदित कर्मो को, ब्रह्मात्मभाव से स्वीकारा गया है, आरण्यक भी, योग को ब्रह्मोपासना का विषय, तथा कर्मों को ब्रह्म का ही आराधनात्मक बतलाकर, ब्रह्मात्मक बतलाते हैं। इसी बात को परब्रह्म नारायण ने स्वयं, पंचरात्र तंत्र में, विस्तृत रूप से बतलाया है।

शारीरके च सांख्योक्त तत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतं न स्वरूपम्। योगपाशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तिकारणता, परावरतत्त्व विपरीत कल्पना, वेदवहिष्कृताचारो निराकृतः न योग स्वरूपं पशुपति स्वरूपं च। अतः "सांख्यं योगः पंचरात्रम् वेदाः पाशुपतंतथा, आत्मप्रमाणान्येतानि न हंतव्यानि हेतुभिः। "इत्यपि तत्तदभिहित तत्तत्स्वरूपमात्रमंगीकार्यम्, जिनसुगताभिहिततत्त्ववत् सर्वं न बहिष्कार्यमित्युच्यते यथागमम्-"यथान्यायंनिष्ठानारायणः प्रभुः "इत्यनेनैकार्थ्यात्।

शारीरक शास्त्र में-सांख्योक्त तत्त्वों की अब्रह्मात्मकता मात्र का निराकरण किया गया है, उसके स्वरूप का नहीं। योग और पाशुपत मत की, केवल ईश्वरनिमित्तकारणता, परावर तत्त्व की विपरीत कल्पना, वेद बहिष्कृत आचार प्रणाली का ही निराकरण किया गया है, योग या पाशुपत के स्वरूप का नही। "सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद, पाशुपत ये सब आत्मप्रमाणक शास्त्र हैं, तर्क द्वारा इनका खंडन करना उचित नहीं है" इत्यादि वाक्य भी, उन शास्त्रों के पदार्थो में से, केवल अस्तित्वांश को ही स्वीकारता है, जैन बौद्ध की तरह संपूर्ण को त्याज्य नहीं मनता। "यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभु" इत्यादि वाक्य से इन सबकी समानता परिलक्षित होती है।

॥ द्वितीय अध्याय द्वितीयपाद समाप्त ॥

ankurnagpal108@gmail.com

[द्वितीय अध्याय]

[तृतीयपाद]

१ वियदधिकरणः—

न वियद श्रुतेः ।२।३।१॥

सांख्यादिवेदवाह्यतंत्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चासमंजस्यमुक्तम्, इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिषेधादिदोषाभावख्यापनाय ब्रह्मकार्यतया अभिमत चिदचिदात्मक प्रपंचस्य कार्यता प्रकारो विशोध्यते।

वेद वाह्य सांख्य आदि तंत्रों में जो युक्तियाँ दिखलाई गई वे सब मुक्तयाभास मात्र हैं, विरुद्धार्थ का ही प्रतिपादन करती हैं इसलिये उनकी असंगति दिखलाई गई। अब अपने मत में, वह सब विरुद्धतायें नहीं हैं, इस बात को बतलाने के लिये, ब्रह्म के कार्यरूप से अभिप्रेत, जडचेतनात्मक जगत की उत्पत्ति प्रणाली की निर्दोषता का प्रतिपादन करेंगे।

तत्र वियदुत्पद्यते न वा ? इति संशय्यते । किं युक्तम् ? न वियदुत्पद्यत इति । कुतः ? अश्रुतेः, संभावितस्य हि श्रवण संभवः, असंभावितस्य तु गगनकुसुम वियदुत्पत्यादेः शब्दाभिधेयत्वं न संभवति । न खलु निरवयवस्य सर्वगतस्याकाशस्य आत्मनः, इवोत्पत्तिर्निरूपयितुं शक्यते, अत एव उत्पत्यसंभवात् छांदोग्ये सृष्टि प्रकरणे तेजः प्रभृतीनामेवोत्पत्तिराम्नायते "तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इति । तैत्तरीयकाथर्वणादिषु "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च

ankurnagpal108@gmail.com

खंवायुर्ज्योतिरापः" इत्यादिषु श्रूयमाणा वियदुत्पत्तिः, अर्थविरोधाद्-बाध्यते—इति ।

सर्व प्रथम—आकाश की उत्पत्ति है या नहीं? ऐसी शंका करते हैं। कहें कि उत्पत्ति नहीं होती, सो कैसे ? श्रुति में उसका उल्लेख नहीं मिलता, जो वस्तु संभावित होती है, श्रुति में उसी का उल्लेख किया जाता है, असंभावित गगन कुसुम और आकाश की उत्पत्ति आदि कभी शब्दोल्लेख के योग्य हो नहीं सकते। आत्मा की तरह निरवयव और सर्व व्यापी आकाश की उत्पत्ति का निरूपण संभव नहीं है, इसीलिए इसकी उत्पत्ति को असंभव मानकर छांदोग्य के सृष्टि प्रकरण में तेज आदि तीन तत्त्वों की ही उत्पत्ति बतलाई गई है—"उन्होंने सोचा अनेक रूपों में जन्म लूं, अतः उन्होंने तेज की उत्पत्ति की।" आथर्वणिक तैत्तरीयोप निषद में—"उस आत्मा से आकाश हुआ" "इन्हीं से प्राण-मन-इन्द्रियाँ, आकाश-वायु तेज और जल हुआ" इत्यादि में आकाश की उत्पत्ति बतलाई भी गई है, जो कि—उक्त मत की बाधक हो रही है।

सिद्धांतः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—उक्त संशय पर कहते हैं—

अस्तितु ।२।३।२॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः, अतीन्द्रियार्थविषया हि श्रुतिः प्रमाणान्तराप्रतीतामपि वियदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थैव । न च श्रुति प्रतिपन्नेऽर्थे तदविरोधिनिरयवत्वादि हेतुकमनुत्पत्त्यनुमानमुदेतु-मलम्, आत्मनोऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्व प्रयुक्तेति वक्ष्यते ।

आकाश की उत्पत्ति होती है, अतीन्द्रिय विषय बोधिका श्रुतियाँ, निश्चित ही, अन्य प्रमाणों से अज्ञेय, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। अवयव रहित आकाश की उत्पत्ति न होने के विषय में जो अनुमान है, वह भी श्रुतियों से प्रतिपाद्य अर्थ का विरोधी होकर, समक्ष उपस्थित नहीं हो सकता। आत्मा की उत्पत्ति न होने का कारण, एकमात्र निरवयवता ही नहीं है, इसका आगे विवेचन करेंगे।

ankurnagpal108@gmail.com

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ।२।३।३।।

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि वियदुत्पत्ति श्रुतिर्गौणीति कल्पयितुं युक्तम् "तत्तेजोऽसृजत्" इति सिसृक्षोः ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेज उत्पत्ति प्राथम्येन वियदुत्पत्ति प्रतिपादनासंभवात्, "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इति वियतोऽमृतत्व शब्दाच्च ।

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुति को गौणार्थ बोधिका मानना ही युक्ति संगत होगा "उन्होंने तेज की सृष्टि की" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म ने सर्व प्रथम तेज की उत्पत्ति की, ऐसी तेज उत्पत्ति की प्राथमिकता से, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना संभव नहीं है । "वायु और आकाश ये दोनों अमृत (नित्य) हैं" ऐसी आकाश की अमरता भी कही गई है ।

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया, गौणत्वम्, अग्न्याद्यपेक्षया मुख्यत्वमिति चेत्—तत्राह—

एक ही संभूत शब्द का आकाश के लिए गौणार्थ तथा अग्नि आदि के लिए मुख्यार्थ होना कैसे संभव है ? इस पर कहते हैं ।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।२।३।४।।

एकस्यैव "तस्माद्वा एकस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्याकाशे मुख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य संभूतशब्दस्य "वायोरग्निः" इत्यादिष्वनुषक्तस्य मुख्यत्वंस्यादेव, ब्रह्मशब्दवत् यथा ब्रह्म शब्दः "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इत्यत्र प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्तस्मिन्नेव प्रकरणे" तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते., इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयुज्यते, तद्वत् । अनुषंगे च श्रवणावृत्ताविवाभिधानावृत्तिर्विद्यत एवेत्यर्थः ।

ankurnagpal108@gmail.com

"उस आत्मा से आकाश हुआ" इस वाक्य में प्रयुक्त एक ही संभूत शब्द, आकाश में मुख्यार्थ बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि–उसी वाक्य में गौणरूप से प्रयुक्त संभूत शब्द का "वायु से अग्नि" इत्यादि में संबंध होने से मुख्यार्थ ही होना निश्चित है। ब्रह्म शब्द की तरह इसकी व्यवस्था है। जैसे कि–ब्रह्म शब्द–"इस ब्रह्म से नाम रूप और अन्न उत्पन्न हुए" इस वाक्य में जैसे गौण रूप से प्रयुक्त होते हुए भी उसी प्रकरण में "तप द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है" उसी से अन्न होता है इस वाक्य में उसका मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है, वैसे ही संभूत शब्द की भी व्यवस्था है। अनुषंग में पदानुवृत्ति की तरह, पदार्थ की अनुवृत्ति भी निश्चित होती है।

परिहरति—उक्त तथ्य का परिहार करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ।२।३।५॥

छांदोग्य श्रुत्यनुसारेणान्यासांवियदुत्पत्तिवादिनीनांश्रुतीनांगौणत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छांदोग्य श्रुत्यैव वियदुत्पत्तिरंगीकृता, "येनाश्रुतं श्रुतं" इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानात्। तस्या हि प्रतिज्ञायाः, अहानिराकाशस्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति ।

छांदोग्य श्रुति के अनुसार आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली अन्य श्रुतियों की गौणार्थ कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि—छांदोग्य श्रुति ही आकाश की उत्पत्ति स्वीकारती है। "जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है" इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म के ज्ञान से समस्त के ज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, इससे निर्णय होता है कि - ब्रह्म से यदि आकाश की उत्पत्ति मानी जावे तो, ब्रह्म का कार्य आकाश, ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है, जिससे कि—उक्त प्रतिज्ञा में हानि नहीं होती।

शब्देभ्यः ।२।३।६॥

इतश्च वियदुत्पत्तिः छांदोग्ये प्रतीयते, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणशब्दात् "ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्" इत्येवमादि शब्देभ्यश्च कार्यत्वेनब्रह्मणोऽव्यति-

ankurnagpal108@gmail.com

रेकप्रतीतेः । न च "तरोजोऽसृजत्" इति तेजस उत्पत्ति श्रुतिर्वियदुत्पत्तिं वारयति । वियदुत्पत्तिवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं श्रुत्यंतरप्रतिपन्नां वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम् ।

इसलिए भी आकाश की उत्पत्ति छांदोग्य में प्रतीत होती है कि–"हे सौम्यः सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था" इस वाक्य में सृष्टि से पूर्व, एकता को बतलाने वाला शब्द है तथा "यह सब कुछ आत्म्य ही है" इत्यादि में ब्रह्म से अभिन्न सब कुछ कहा गया है, जिससे आकाश की भी अभिन्नता सिद्ध होती है। "उन्होंने तेज की सृष्टि की" तेज की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति, आकाश की उत्पत्ति का निराकरण नहीं करती। केवल आकाश की ही उत्पत्ति की बात होती तो हम उक्त श्रुति को निवारिका मानते पर अन्य तत्व भी तो हैं इसलिए तेज की उत्पत्ति से यहाँ तेज की सृष्टि की प्राथमिकता दिखलाई गई है । अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति का भी उल्लेख है यह श्रुति उसका निवारण तो कर नहीं सकती।

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।२।३।७।।

तु शब्दश्चार्थे "ऐतदत्म्यमिदंसर्वम्" इत्यादिभिराकाशस्य विकारत्ववचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभाग–उत्पत्तिरप्युक्तैव । लोकवत् यथा लोके एते सर्वेदेवदत्त पुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचित्तत उत्पत्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्तास्यात् तद्वत् । एवं च सति "वायुश्चांतरिक्षंचैतदमृतम्" इति सुराणामिव चिरकाल स्थायित्वाभिप्रायम् ।

सूत्र में तु शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। "यह सब कुछ आत्म्य है" इत्यादि वाक्य में, आकाश भी विकृत रूप से सब में सम्मिलित बतलाया है, जिससे कि–ब्रह्म से आकाश की भिन्नता और उत्पत्ति भी कह दी गई। जैसे कि लोक में "ये सब देवदत्त के पुत्र हैं" इतना कहकर किसी एक की उत्पति का उल्लेख कर दिया गया तो, सभी पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख

ankurnagpal108@gmail.com

हो गया वैसे ही आकाश की बात भी है । "वायु आकाश अमर हैं" इत्यादि तो केवल, देवताओं की तरह, चिरकाल स्थिति का ही द्योतक है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।८॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता । वियन्मातरिश्वनोः पृथग्योगकरणं "तेजोऽतस्तथाह्याह "इति मातरिश्वपरामर्शार्थम् ।

उक्त विवेचन से मातरिश्वा (वायु) की उत्पत्ति की भी व्याख्या हो गई । आकाश और वायु की उत्पत्ति के लिए अलग से निर्देश करने का अभिप्राय यह है कि-"तेजोऽतस्तथा "इत्यादि में एकमात्र मातरिश्वा का ही निर्देश किया गया है ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।६॥

तु शब्दोऽवधारणार्थं, असंभवः-अनुत्पत्तिः । सतः- ब्रह्मण एव, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्नसंभवति, अनुत्पत्तेः एतदुक्तं भवति-वियन्मातरिश्वनोरुत्पत्ति प्रतिपादनमुदाहरणार्थन् उत्पत्त्यसंभवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः । तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्पवनादिकस्य प्रगेचस्यैक बिज्ञाने न सर्व विज्ञान प्रतिज्ञादिभिरवगतकार्यभावस्यानुत्पत्तिर्नेपिपद्यत इति ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है । असंभव शब्द, उत्पत्ति की असंभावना का बोधक है । सत् ब्रह्म से ही जब उत्पत्ति है तब उनसे अतिरिक्त अन्य किसी की भी अनुत्पत्ति संभव नहीं है, कहने का तात्पर्य यह है, कि-आकाश और वायु की उत्पत्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, वह तो उदाहरण मात्र है । जब सत् स्वरूप परमकारण परब्रह्म ही हैं तब उत्पत्ति असंभव है कही एक की जानकारी से समस्त

ankurnagpal108@gmail.com

की जानकारी होती है, इस प्रतिज्ञा से जब यह निर्णय हो गया कि अव्यक्त-महत्तत्व-अहंकार-तन्मात्रा-इंद्रियाँ-आकाश-वायु आदि सब ब्रह्म के ही कार्य रूप हैं. तब इन सब प्रपंचों की अनुत्पत्ति को सिद्ध ही नहीं किया जा सकता।

२ तेजोधिकरणः—

तेजोऽतस्तथाह्याह ।२।३।१०॥

ब्रह्म व्यतिरक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, इदानी व्यवहित कार्याणां किं केवलात्तत्तदनंतरकारणभूताद्वस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित् तदरूपाद् ब्रह्मणः? इति चिन्त्यते। किं युक्तम् केवलास्तदवस्तुन इति। कुतः? तेजस्तावत् अतः मातरिश्वन एवोत्पद्यते "वायोरग्निः इतिह्याह।

पिछले अधिकरण में बतलाया गया कि, ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ ब्रह्म का ही कार्य है। अब विचार किया जाता है कि-सृष्टि के बाद में जो कार्य होते हैं वे, कार्यों से उत्पन्न होते हैं अथवा परब्रह्म ही उनके भी कारण हैं? कहते हैं कि-बीते हुए कार्यों से ही अग्रिम कार्य उत्पन्न होते हैं, "वायु से अग्नि हुआ" ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

आपः ।२।३।११॥

आपोऽपि अतः—तेजस एवोत्पद्यंते, "अग्नेरापः" "तदपोऽसृजत "इतिह्याह।

जल भी-तेज से उत्पन्न होता है,"अग्नि से जल हुआ "फिर जल की सृष्टि की "इत्यादि वाक्यों से ऐसा ही ज्ञात होता है।

पृथिवी ।२।३।१२॥

पृथिवी अद्भ्य उत्पद्यते—"अद्भ्यः पृथिवी "ताअन्तमसृजन्त "इतिह्याह।

ankurnagpal108@gmail.com

पृथवी जल से होती है, ऐसा–"जल से पृथिवी हुई "उन जलों ने अन्न की सृष्टि की इत्यादि वाक्यों में कहा गया है।

नन्वन्न शब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते? अतआह—

अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं—

अधिकार रूपशब्दान्तरेभ्यः ।२।३।१ ३।।

महाभूतसृष्ट्यधिकारात् पृथिव्येवान्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते। अदनीयस्य सर्वस्य पृथिवी विकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः। तथा वाक्य शेषे भूतानां रूपसंशब्दने "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य "इत्यप्तेजसोः सजातीयमेवान्नशब्द-वाच्यं प्रतीयते। शब्दांतरं च समानप्रकरणे–"अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी "इति श्रूयते। अतः पृथिव्यवान्नशब्देनोच्यत इत्यद्भ्यः एव पृथिवी जायते। उदाहृतास्तेजः प्रभृतयः प्रदर्शनार्थाः। महदादयोऽपि स्वानंतर वस्तुन एवोत्पद्यंते यथाश्रुत्यभ्युपगमाविरोधात्। "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च, खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी "तस्मादेतत्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः "तत्तेजोऽसृजत इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यंत इति।

महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में "अन्न" शब्द से पृथ्वी का उल्लेख ही प्रतीत होता है। सारे भोज्य पदार्थ, पृथ्वी के ही विकार हैं, इसलिए कारण को ही कार्य शब्द से कह दिया गया प्रतीत होता है। उक्त वाक्य के अंत में रूप शब्द से इसी बात की पुष्टि की गई है–"अग्नि का जो –रोहित रूप है वह तेज का ही है, जो शुक्लता है वह जल की है तथा कृष्णता अन्न (पृथ्वी) की है "इसमें जल और तेज के सजातीय रूप से जो अन्न का उल्लेख किया गया है उससे अन्न का अर्थ पृथ्वी ही प्रतीत होता है। इसी के समान दूसरे प्रकरण में–"अग्नि से जल, जल से पृथिवी हुई इत्यादि में पृथ्वी शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि-अन्न

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द पृथ्वी का ही बोधक है। जो जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाई गई उसका तात्पर्य पृथिवी की उत्पत्ति से ही है। तेज आदि की उत्पत्ति का जो प्रसंगतः वर्णन किया गया वह केवल उदाहरण मात्र है। श्रुतिसम्मत सिद्धांत के विरोध की निवृत्ति के लिए समझना चाहिए कि–महत् आदि तत्त्व अपनी पूर्ववर्त्ती वस्तुओं से, उत्पन्न होते हैं। "इस ब्रह्म से–प्राण, मन, इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वाधार पृथ्वी हुई" इस ब्रह्म से नाम, रूप और अन्न हुए "इस परमात्मा से आकाश हुआ "उसने तेज की सृष्टि की "इन वाक्यों में कहे गए तत्त्वों के पारस्परिक संबंधानुसार ब्रह्म की कारणता स्वीकारने से, श्रुतियों की संगति हो जाती है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात सः ।२।३।१४॥

तु शब्दात् पक्षोव्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनंतरवस्तु शरीरकः स एव पुरुषोत्तमः कारणम्। कुतः? तदभिध्यानरूपात् तल्लिगात्, अभिध्यायनम्, बहुस्यामिति संकल्पः "तत्तेज ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति" ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्यामः प्रजायेमहि" इत्यात्मनो बहुभवन संकल्परूपेक्षणश्रवणान्महदहंकाराकाशादीनामपि कारणानां तथा विधेक्षापूर्विकैव स्वकार्यसृष्टिरिति गम्यते, तथाविधं चेक्षणं तत्तच्छरीकस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते। श्रूयते च सर्व शरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्यब्रह्मणोऽन्तर्यामिब्राह्मणे "य पृथिव्यां तिष्ठन्" योऽप्सुतिष्ठन्" यस्तेजसि तिष्ठन्" यो वायौ तिष्ठन्" य आकाशे तिष्ठन्" इत्यादि। सुवालोपनिषदि च–"यस्य पृथिवी शरीरम् "इत्यारभ्य–"यस्याहंकारः शरीरम्" "यस्य बुद्धिः शरीरम्" यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि।

सूत्रस्थ तु शब्द से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति होती है। महद् आदि के भी पूर्ववर्त्ती कार्यों के शरीरी, वह पुरुषोत्तम ही, कारण हैं, उनका सृष्टित्व ज्ञापक अभिध्यान इस बात की पुष्टि करता है। "बहुत हो जाऊं" ऐसा संकल्प ही अभिध्यान है। "उस तेज ने संकल्प किया कि

ankurnagpal108@gmail.com

बहुत होकर जन्म लूं" "उन जलों ने संकल्प किया कि-बहुत होकर उत्पन्न हो जावे" इस आत्मबहुभाव प्राप्ति विषयक, संकल्प रूप ईक्षण बोधक श्रुति, से ज्ञात होता है कि—महद् अहंकार और आकाश आदि की जो कार्य रूपा सृष्टि है, वह भी परमात्मा के संकल्प से ही होती है, उन कारण वस्तुओं के शरीरी परमात्मा ही ऐसा संकल्प कर सकते हैं, अचेतन जड, तेज आदि में ईक्षण की शक्ति संभव नहीं है । अन्तर्यामी ब्राह्मण में-"जो पृथ्वी में स्थित होकर" जो जल में स्थित होकर "जो तेज में स्थित होकर" इत्यादि परब्रह्म का सर्व शरीरी और सर्वान्तिर्यामी होना बतलाया गया है । तथा सुबालोपनिषद् में भी ऐसे ही-"पृथिवी जिनका शरीर है" इत्यादि से प्रारम्भ करके "अहंकार जिनका शरीर है" इत्यादि से वही दिखलाया गया है ।

यथोक्तं-"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु श्रूयमाणा ब्रह्मणः प्राणादि सृष्टिः, परंपरयाप्युपपद्यत इति—अत्रोच्यते—

जो यह कहा कि—"एतस्माज्जायते" इत्यादि में कही गई ब्रह्म की प्राणादि सृष्टि, परस्पर संबद्ध होकर उत्पन्न होती है-उस पर कहते हैं-

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।२।३।१५।।

तु शब्दोऽवधारणार्थः अव्यक्तमहदहंकाराकाशादि क्रमाद् विपर्ययेण यः सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मान्तर्ग रूपः क्रमः "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिषुप्रतीयते स च क्रमस्तत्तादरूपात् ब्रह्मणः तत् तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते । परम्परया कारणत्वे हि आनंतर्य श्रवणमुपरूध्येत् । अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि कमपि सर्वस्य ब्रह्मणः साक्षात्संभवस्योत्तंभनम् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है । अव्यक्त महत् अहंकार आकाश आदि के उत्पत्ति क्रम से विपरीत भाव से जो "उस से

ankurnagpal108@gmail.com

प्राण'' इत्यादि में वर्णित ब्रह्मोत्पत्ति क्रम की, असंगति प्रतीत होती है, उससे ज्ञात होता है कि–उत्पादन भूत वस्तु रूपता को प्राप्त ब्रह्म, से ही, उन पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण सृष्टि ब्रह्मात्मक ही है, इसलिए उत्तरोत्तर जो कार्य होते हैं; वे भी ब्रह्मात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है। परस्पर कारणता मानने से कारण रूप में वर्णित ब्रह्मानंतर्य (ब्रह्म ही साक्षात् कारण है) बाधित हो जायेगा। इसलिए समझना चाहिए कि– ''एतस्माज्जायते'' इत्यादि में, सब की, ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति बतलाई गई है।

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्न विशेषात् ।२।३।१६।।

विज्ञान साधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यंते; यदुक्तं– "एतस्माज्जायते" इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनंतरकार्यत्वं श्राव्यते, अतश्चनेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण उत्पत्तिरभिध्यानलिंगावगतोत्तम्भ्यत इति, तन्नोपपद्यते, क्रमविशेष परत्वादस्य वाक्यस्य, अत्रापि सर्वेषां क्रम प्रतीतेः खादिषु तावत् श्रुत्यंतरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि प्रतीयते, तैः सह पाठलिंगात् भूतप्राणयोरन्तराले विज्ञान मनसी अपि क्रमेणोत्पद्येते इति प्रतीयते। अतः सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण एव संभवस्योत्तंभनमिदंवाक्यं न भवतीति चेत् तन्न, अविशेषात्– "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनाविशेषात्। विज्ञान मनसोः खादीनां च "एतस्माज्जायते" इत्यनेन साक्षात्संभव रूपसंबंधस्याभिधेयस्य सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यंतानामविशिष्टत्वात् स एव विधेयः, नः क्रमः। श्रुत्यंतरसिद्धक्रमविरोधाच्च नेदं क्रमपरम्—"पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यारभ्य "तमः एकीभवति" इत्यंतेन क्रमांतर प्रतीतेः। अतोऽव्यक्तादिशरीरकात् परस्माद् ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः तेजः प्रभृतयश्च शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति।

ankurnagpal108@gmail.com

विज्ञान की साधन होने से इन्द्रियों को विज्ञान शब्द से उल्लेख किया गया है। "एतस्मात्" इत्यादि वाक्य से, सारा जगत्, ब्रह्म के साक्षात कार्य रूप से हुआ, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए अन्यान्य वाक्यों में समस्त वस्तुओं के साक्षात् संबंध से ही, ब्रह्म से उत्पत्ति कही गई हैं, उक्त वाक्य में उसी का समर्थन किया गया हो, सो बात नहीं है। अपितु यह वाक्य उत्पत्ति के क्रम विशेष का बोधक है, तथा अन्य वाक्यों में भी संपूर्ण सृज्य पदार्थों का उत्पत्ति क्रम ही प्रतीत होता है, अर्थात् अन्य श्रुतियों में जो आकाशादि का उत्पत्ति क्रम है, उसी की पुनरूक्ति "एतस्मात्" इत्यादि में की गई है। क्रम से उत्पन्न आकाश आदि के साथ उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि–इन्द्रिय और मन भी, भूतवर्ग और प्राणों के मध्य में क्रमशः उत्पन्न हुए। इसलिए सब की ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति हुई, ऐसा नहीं कह सकते अस्तु। तुम्हारा उक्त तर्क असंगत है–"इसी से प्राण हुआ" इस वाक्य में कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। अर्थात् "एतस्माज्जायते" वाक्य के प्रतिपाद्य—विज्ञान, मन और आकाशादि की जो साक्षात् संबंध से उत्पत्ति है, वह प्राण से लेकर पृथ्वी तक, सभी के लिए समान रूप से अभिधेय है, क्रमशः ही हो, ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। इस वाक्य का क्रम अन्य श्रुतियों के क्रम से अविरूद्ध ही हो ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है, "पृथ्वी जल में लीन होती है" से प्रारम्भ करके" अन्धकार में एकीभूत हो जाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, क्रम में अंतर प्रतीत होता है। इसलिए अव्यक्त आदि शरीरी ब्रह्म से ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हुई है, यह मानना पड़ेगा। तेज आदि शब्द तदात्मक होने से, ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।

नन्वेदं सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचित्वेसति तैस्तैः शब्दैः तत्तद्वस्तुव्यपदेशो व्युत्पत्ति सिद्धः उपरूध्येत–तत्राह—

सारे ही शब्द यदि ब्रह्मबाचक हैं, तो शब्द शास्त्रानुयामी नियम सिद्ध जो विशेष अर्थ बोधन की प्रक्रिया है, उसमें बाधा होगी? इस पर कहते हैं–

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव भावित्वात्
।२।३।१७।।

ankurnagpal108@gmail.com

तु शब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः । निखिलजगमस्थावरव्यपाश्रयस्तत्तच्छब्दव्यपदेशः भाक्तः, वाच्यैकदेशेभज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तु प्रकारिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् वेदांतश्रवणात् प्राक् प्रकार्यप्रतीतेः, प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च तत्पर्यवसानस्य लोके तत्तद्वस्तु मात्रे वाच्यैक देशे ते ते शब्दाः भंक्त्वाभंक्त्वा व्यपदिश्यंते ।

सूत्रस्थ तु शब्द उठाई गई शंका के समाधान के लिए प्रयुक्त है। स्थावरजंगात्मक संपूर्ण वस्तु विषयक जो विशेष विशेष व्यवहार है वह भाक्त अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश मात्र का ग्राहक है। अभिप्राय यह है कि—समस्त पदार्थ ब्रह्म के प्रकार हैं और ब्रह्म उनके प्रकारी हैं। प्रकारी भूत ब्रह्म अपने प्रकार भूत पदार्थों में, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं, वेदांतो वाक्यों से ही उनकी प्रकार्य प्रतीति होती है। प्रकारी की प्रतीति होने से, उसके प्रकार की प्रतीति की, परिसमाप्ति हो जाती है। लोक में तो अलग-अलग वस्तुओं के लिए, एक-एक विशेष शब्द नियत हैं।

अथवा तेजः प्रभृतिभिः शब्दैः तत्तद्वस्तुमात्र वाचितया व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्यपदेशो भाक्तः स्यात्, अमुख्य स्यादित्याशंक्य—"चराचरव्यपाश्रयस्तु" इत्युच्यते । चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिशब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव, कुतः? ब्रह्मभाव भावित्वात् सर्वशब्दानां वाचक भावस्य, नामरूपव्याकरण श्रुत्याभ्यागतम् ।

अलग अलग नामों से निर्दिष्ट तेज आदि शब्दों का ब्रह्मनाम से निर्देश करना ही भाक्त अर्थात् गौण है, इस आशंका पर सूत्रकार कहते हैं—"चराचरव्यपाश्रयस्तु" अर्थात् ब्रह्म से जो चराचर का व्यपदेश है अभाक्त अर्थात् मुख्य है, गौण नहीं। क्यों कि—ब्रह्मभाव से भावित होने से ही, समस्त शब्दों की वाचकता है, ऐसा, भगवान की नामरूप में व्याकृत होने वाली श्रुति से ज्ञात होता है।

ankurnagpal108@gmail.com

३ आत्माधिकरणः–

नात्माश्रुतेः नित्यत्वाच्चताभ्यः ।२।३।१८॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्तिनेति संशय्यते, किं युक्तम्? अस्तोति, कुतः? एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयश्च संति–"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् "प्रजापतिः प्रजा असृजत्"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यतोवा इमानि भूतानि जायंते" इति, एव सचेतनस्य जगदुत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः, प्रतीयते ।

आकाशादि समस्त की उत्पत्ति ब्रह्म से बतलाई गई । अब, जीव की उत्पत्ति होती है या नहीं? ऐसा संशय करते हैं। कह सकते हैं कि–होती है, क्योंकि–एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है, इस नियम से सृष्टि के पूर्व सब कुछ अद्वैत था, इस कथन से सिद्ध होता है कि-जीव की भी उत्पत्ति हुई । आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियाँ भी हैं । जैसे कि–"जिनसे जगत की प्रसूति हुई एवं जो पृथ्वी में जीवों की सृष्टि करते हैं "प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की" "हे सौम्य! यह सारी प्रजा सत् से ही उत्पन्न, सत् में ही स्थित, सत् आयतन वाली है" ये सारे भूत उन्हीं से उत्पन्न होते हैं । इत्यादि सचेतन जगत् की उत्पत्ति के वर्णन से, जीव की उत्पत्ति भी प्रतीत होती है ।

न च वाच्यं–ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमात् जीवस्य नित्यत्वम्–इति । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "इत्येवमादिभिर्वियदादेऽपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्व प्रसक्तेः । अतो जीवोऽपि वियदादिवदुत्पद्यत इति ।

यह नहीं कह सकते कि–ब्रह्म नित्य है, इसलिए–तत्त्वमसि आदि जीव ब्रह्म की एकता बतलाने वाले वाक्यों के अनुसार, जीव भी नित्य है । ऐसे तो "यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है "यह सब ब्रह्म हैं इत्यादि के

ankurnagpal108@gmail.com

अनुसार ब्रह्मात्मक आकाशादि भी नित्य हो जावेंगे। इसलिए यही मानना चाहिये कि आकाश आदि की तरह जीव की भी उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नात्मा श्रुतेः, इति। नात्मोत्पद्यते कुतः? श्रुतेः "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" ज्ञाज्ञौ द्वावजौ "इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्ति प्रतिषेधो हि श्रूयते। आत्मनो नित्यत्वं च ताभ्यः श्रुतिभ्यः एवावगम्यते "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" "अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे "इत्यादिभ्यः अतश्चनात्मोत्पद्यते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं "नात्माश्रुतेः अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती. श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है-"विद्वान का जन्म और मरण नहीं होता "अल्पज्ञ और सर्वज्ञ-दो अजन्मा हैं" इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का निषेध ज्ञात होता है। आत्मा की नित्यता भी उन्हीं श्रुतियों से ज्ञात होती है—"जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, तथा एक-होकर भी, अनेक कामनाओं की पूर्त्ति करते हैं "यह आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुराण (चिरन्तनर) है जो कि शरीर के मरने पर भी नहीं मरता" इत्यादि। इससे निश्चित हुआ कि—आत्मा अजन्मा है।

कथं तर्हि एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपद्यते? इत्थं उपपद्यते—जीवस्यापि कार्यत्वात् कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च। एवं तर्हि वियदादिवदुत्पत्तिमत्त्वमंगीकृतं स्यात्? नेत्युच्यते—कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः,? तज्जीवस्याप्यस्त्येव। इयांस्तुविशेषः वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो, न तादृशो जीवस्य, ज्ञान संकोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभावः, वियदादेस्तु स्वरूपान्यथा भावलक्षणः। सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिः जीवे प्रतिषिध्यते।

फिर, एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कैसे उपपन्न होगी? जीव को भी ब्रह्म का कार्य तथा कार्य कारण की एकता मानने से हो

ankurnagpal108@gmail.com

जावेगी। इसका मतलब तो यह हुआ कि आपने आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति स्वीकार ली? ऐसा नहीं कह सकते-एक ही द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्य कहलाती है, वही स्थिति जीव की भी है। आकाश आदि अचेतन द्रव्य भी, अवस्थान्तर प्राप्त कार्य हैं, पर जीव की अवस्थान्तर प्राप्ति, उनसे भिन्न कुछ विशिष्ट है। जीव का जो अन्यथा भाव है वह ज्ञान संकोचविकास लक्षण वाला है। (अर्थात् ज्ञान के संकोच विकास के कारण ही वह ब्रह्म से भिन्न है तथा आकाश आदि का अन्यथा भाव, स्वरूपान्यथा भाव है (अर्थात् आकाशादि स्वरूप से ही भिन्न हैं) उक्त स्वरूपान्तरित उत्पत्ति को ही जीव में नहीं माना गया है।

एतदुक्तं भवति–भोग्यभोक्तृनियंतृन् विविक्त स्वभावान् प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तरि प्रतिषिध्य, तस्यनित्यतां च प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तृगतंचापुरुषार्थाश्रयत्वं नियन्तरि प्रतिषिध्य, तस्य नित्यत्वं–निरवद्यत्वं–सर्वदासर्वज्ञत्वं-सत्यसंकल्पत्वं–करणाधिपाधिपत्वं-विश्वस्यपतित्वं च प्रतिपाद्य सर्वावस्थयोश्चिदचिदोस्तं प्रतिशरीत्वं तस्य चात्मत्वम् प्रतिपादितम्।

कथन यह है कि–विभिन्न स्वभाव वाले, भोग्य (जागतिक पदार्थ) भोक्ता (जीव) और नियंता (ब्रह्म) का निरूपण इस प्रकार किया गया है–भोग्यगत उत्पत्ति आदि का भोक्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता का प्रतिपादन करके–भोग्यगत उत्पत्ति आदि और भोक्तागत जागतिक आसक्ति का नियन्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता निर्दोषता, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता, करणाधिपाधिपता–विश्वाधिपत्यता का प्रतिपादन करके समस्त अवस्था वाले जडचेतन को उनका शरीर तथा उन परमात्मा को सबका अंतर्यामी बतलाया गया है।

अतः सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म, तत्कदाचित् स्वस्माद् विभक्तव्यपदेशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरे तिष्ठति, तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरम्, तच्च कार्यावस्थम्। तत्र कारणावस्थस्य

ankurnagpal108@gmail.com

कार्यावस्थापत्तावचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति। चिदंशस्य च कर्मफलविशेष भोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञानविकास रूप विकारो भवति। उभय प्रकार विशिष्टे नियंत्रंशे तदवस्थतदुभय विशिष्टतारूप विकारो भवति कारणावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः।

इसीलिए–जड़चेतन रूपों में ब्रह्म की निरंतर स्थिति होने से, जागतिक पदार्थों और जीवों को, ब्रह्म का ही प्रकार कहा गया है जब वह ब्रह्म अपने से भिन्न न कहलाने योग्य अति सूक्ष्म दशा को प्राप्त जड़चेतन रूप शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कारणावस्थ ब्रह्म कहते हैं। वही ब्रह्म जब, विभक्त नाम रूप वाले जड़चेतनमय शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कार्यावस्थ ब्रह्म कहते हैं। कारणावस्था का जड़ भाग, शब्दादि हीन होने से भोग्य नहीं होता; भोग्यता संपादन के लिए ही–उस जड़ भाग की, कार्यावस्था में भोगने योग्य शब्दादि रूपी, अन्यथाभाव विकृति होती है। कारणावस्था के चेतन भाग की, कर्मफल विशेष मुक्ति के लिए, उसी के अनुरूप तारम्यानुसार, ज्ञान विकास रूपी, विकृति होती है। दोनों प्रकारों से विशिष्ट, नियंत्रंश में, दोनों (कार्य कारण) अवस्थाओं से विशिष्ट, विकार होता है। कारणावस्था में जो अवस्थान्तरापत्ति विकार होता है वह, दोनों प्रकारों और प्रकारी में, समान रूप वाला होता है।

अत एवैकस्यावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया "येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायमृदादि दृष्टांतो "यथा सौम्येकेन" इत्यादिना निदर्शितः। ईदृशज्ञानसंकोचविकास-करतत्तदेह संबंध वियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः "प्रजापतिः प्रजाअसृजत" इत्याद्याः श्रुतयः। अचिदंशवत् स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्ति प्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववा-दिन्यश्च 'न जायतेम्रियते" इत्याद्याः "नित्योनित्यानां" इत्याद्याश्च श्रुतयः। स्वरूपान्यथात्वज्ञानसंकोचविकास रूपोभयविधानिष्ट

ankurnagpal108@gmail.com

किराभावाभिधाया: "सवाएषमहानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म 'नित्योनित्यानां" इत्याद्या: परविषया: श्रुतय: । एवं सर्वदाचिदचिद् वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मण: प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागा भावादुपपद्यते । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्याम् व्याक्रियत इति हि नामरूपविभागाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति इति ।

एक ही की अवस्थान्तरापत्ति रूप विकार स्थिति के विषय में "येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्यादि से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा का सिद्धान्त बतलाकर, मिट्टी आदि के दृष्टान्त की "यथा सौम्यैकेन" इत्यादि श्रुति से दिखालाया गया है । ज्ञान के संकोच विकास के साधक विशेष विशेष देहों के संबंध और वियोग जन्य, जीवों की उत्पत्ति और विनाश के बोधक-"प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की" इत्यादि वाक्य हैं । उत्पत्ति प्रतिषेधक और नित्यता के बोधक-"न जायतेम्रियते"नित्योनित्या-नाम इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय यह है कि-अचिदंश की तरह चिदंश की, स्वरूपान्यथाभाव स्थिति नहीं होती । पर-तत्त्व विषयक "सवाएव महानज" नित्याना नित्यो"इत्यादि श्रुतियों का अभिप्राय यह है कि-संकोच विकास रूप चेतन विकाश उसमें (परतत्त्वमें) नहीं होते । सदा जड़चेतन-मय होते हुए, सृष्टि के पूर्व नाम रूपों की विभक्ति से रहित होने से, ब्रह्म का एक त्वावधारण भी उपपन्न हो जाता है । "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, सृष्टि के समय नाम रूप वाला हो गया "इत्यादि श्रुति भी, नाम रूप विभाग के सद्भाव और असद्भाव के अनुसार-एकता और अनेकता बतलाती है ।

येत्वविद्योपाधिकं जीवत्वं वदंति, ये च पारमार्थिकोपाधिकृतं, ये च सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेण त्रिधावस्थितं वदंति, सर्वेऽप्येते अविद्याशक्तेरुपाधिशक्तेर्भोक्तृभोग्यनियंतृशक्तीनां च प्रलयकालेऽवस्थानेऽपितदानीमेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावादे-वोपपादयंति ।

ankurnagpal108@gmail.com

जो लोग (शांकर) जीव को अविद्योपाधिक कहते हैं, और जो लोग (भास्कर आदि) पारमार्थिक उपाधिकृत मानते हैं, तथा जो लोग (श्री निवास आदि) एकमात्र सत् स्वरूप ब्रह्म को ही, स्वयं भोक्ता–भोग्य -और नियंता रूप तीन अवस्थाओं वाला मानते हैं; वे सब अविद्याशक्ति–उपधिशक्ति–भोक्ता–भोग्य और नियंतृशक्ति संपन्न, नाम रूप विभाग रहित एकत्वावधारण (एकता) का ही, प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं।

"वैषम्यनैर्घृण्ये च सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति सूत्राभ्यां-जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्यचानादित्वाभ्युपगमाच्च। इयान्विशेषः, एकस्यानाद्य-विद्यया ब्रह्मस्वयमेव मुह्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानाद्युपाधिना ब्रह्म स्वरूपमेव बध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात्। अपरस्य ब्रह्मैव विचित्राकारेण परिणमते, कर्मफलानिचानिष्टानि भुंक्ते, नियंत्रंशस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि, सर्वज्ञत्वात्स्वसमादभिन्नं भोक्तारमनु संदधातीति स्वयमेव भुंक्ते।

"वैषम्य नैर्घृण्ये" न कर्माविभागादिति "इत्यादि दोनों सूत्रों से, जीव का भेद और उसका कर्म प्रवाह तथा उन दोनों की अनादिता तो, वे लोग भी स्वीकारते हैं–पर उनके मानने का अपना विशेष ढंग है–एक के मत में,–अनादि अविद्या से ब्रह्म स्वयं ही मोहित होता है। दूसरे के मत में–पारमार्थिक अनादि उपाधि से ब्रह्म का स्वरूप आवद्ध होता है। तीसरे के मत में– ब्रह्म ही स्वयं विचित्र आकारों में परिणत होकर कर्म फल तथा अनिष्टों का भोग करता है, भोक्तृत्व का अभाव होते हुए भी, सर्वज्ञनियंता, भोक्ता को अपने से अभिन्न मानकर–स्वयं ही भोग करते हैं।

अस्माकं तु स्थूल सूक्ष्मावस्थचिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्म कारणो भयावस्थावस्थितमपि सर्वदा निरस्त निखिल दोषगंधं सत्यसंकल्प-त्वाद्यपरिमितोदार गुणसागरभवतिष्ठते। प्रकारभूतचिदचिद् वस्तुगताः, अपुरुषार्थाः, स्वरूपान्यथाभावश्चेति, सर्वं समंजसम्।

ankurnagpal108@gmail.com

हमारी दृष्टि से तो, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, जड़चेतनमय शरीरी ब्रह्म, कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में स्थित रहते हुए भी, निर्दोषता, सत्य संकल्पना आदि अपरिमित उदार विशेष गुणों सहित विराजते हैं। ऐसा मानने से ही, ब्रह्म की ही प्रकार, जडचेतन वस्तुओं की अपुरुषार्थना और स्वरूपान्यथाभाव आदि की संगति हो जाती है।

४ ज्ञाधिकरण:-

ज्ञोऽत एव।२।३।१९॥

वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम्। तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपं निरूप्यते। किं सुगतकपिलाभिमत चिन्मात्रमेव आत्मनः स्वरूपं, उत् कणभुगभिमतपाषाणकल्प स्वरूपमचित् स्वभावमेवागंतुक चैतन्यगुणकम्, अथ ज्ञातृत्व मेवास्य स्वरूपमिति। किं युक्तम्? चिन्मात्रमिति, कुतः? तथा श्रुतेः। अन्तर्यामि ब्राह्मणे हि-"य आत्मनि तिष्ठन्" इति। माध्यंदिनीयपर्यायस्य स्थाने "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति काण्वाअधीयते। तथा-"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इति कर्त्तुरात्मनो विज्ञानमेव स्वरूपं श्रूयते। स्मृतिषु च-"ज्ञानस्वरूपमत्यंतनिर्मलं परमार्थतः" इत्यादिष्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते। अपरस्तु-जीवात्मनो ज्ञानत्वे—ज्ञातृत्वे च स्वाभाविकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धि प्रसंगात्। करणानां च वैयर्थ्यात्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मनश्चैतन्यानुपलब्धेः जाग्रतः सामग्र्यां सत्यां ज्ञानोत्पत्ति दर्शनादस्य न ज्ञानं स्वरूपं नापि ज्ञातृत्वं, आगंतुकमेव चैतन्यम्, सर्वगतत्वं चात्मनोऽवश्याभ्युपेत्यम् सर्वत्र कार्योपलब्धेः सर्वत्रात्मनः सन्निधानाभ्युपगमाच्छरीरगमनेनैव कार्य संभवेसति, गति कल्पनायां प्रमाणाभावाच्च। श्रुतिरपि सुषुप्ति वेलायां ज्ञानाभावं दर्शयति-"नाहं खल्वयमेवं संप्रत्या-

ankurnagpal108@gmail.com

त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि "इति । तथा मोक्षदशायां ज्ञानाभावं दर्शयति–"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । "ज्ञानस्वरूपम्" इत्यादि प्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारण गुणत्वेन लाक्षणिक इति ।

आकाशादि की तरह, जीव की उत्पत्ति नहीं होती यह बतला चुके, अब प्रसंग से, जीव के स्वरूप का निरूपण करेगे । जीवात्मा का स्वरुप बुद्ध और कपिल के मतानुसार चिन्मात्र, ही है ? अथवा कणाद का अभिमत, पत्थर सा जड़ स्वभाव, आगंतुक चैतन्यगुण वाला है ? अथवा ज्ञातृत्व ही इसका रुप है ? इन तीनों में कौन सा वेदांत अभिमत है ? कहते हैं कि—चिन्मात्र रूप ही है, श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञात होता है । अन्तर्यामी ब्राह्मण में–"जो आत्मा में स्थित है" इस वाक्य के ही पर्यायरुप "जो विज्ञान में स्थित है" "काण्व वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञात होता है । तथा–"विज्ञान ही यज्ञ करता है तथा कर्मों का भी संपादन करता है', इत्यादि में आत्मा को बिज्ञान स्वरुप ही सुना जाता है । स्मृति में— "वस्तुत: आत्मा ज्ञान स्वरुप और अत्यंत निर्मल है" इत्यादि से आत्मा की ज्ञानस्वरुपता प्रतीत होती है । इस पर कणाद का कथन है कि–जीव को यदि ज्ञानस्वरुप और ज्ञातृस्वरुप मानेगे तो सर्वगत उस जीव की, सदा सब जगह उपलब्धि संभव होगी तथा भोग साधिका इन्द्रियों की प्रयोजनीयता भी समाप्त हो जायेगी । विशेष रूप से सुषुप्ति और मुर्छावस्था में आत्मा के रहते हुये भी उसकी चैतन्योपलब्धि न हो पावेगी। जागरित अवस्था में तो, ज्ञान के साधन रहते हैं, इसलिए ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है इन सबसे ज्ञात होता है कि, जीव का वास्तविक स्वरूप न ज्ञान है न ज्ञातृत्व । अपितु चैतन्य ही उसका गुण है, वह भी आगंतुक है। जीव की सर्वव्यापकता अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि सभी जगह उसका कार्य देखा जाता है, इसलिए उसकी सर्वत्र अवस्थिति भी माननी पड़ेगी । शरीर के जाने पर ही, जीव द्वारा सब जगह कार्य होना संभव हो सकता है, बिना शरीर के तो, जीव के जाने का, प्रमाण कहीं मिलता नहीं (इससे सिद्ध होता है कि—जीव चैतन्य रूप ही है जब वह जागरित रहता है तभी शरीर के आश्रय से चल फिर कार्य करता है, यदि ज्ञान स्वरुप होता तो बिना चले फिरे भी सब जगह की बात जान लेता) श्रुति भी सुषुप्ति

ankurnagpal108@gmail.com

अवस्था में ज्ञानाभाव बतलाती है—"निश्चय ही यह सोया हुआ व्यक्ति, मैं अमुक हूं ऐसा ज्ञान नहीं रखता तथा इन सब जागतिक वस्तुओं को भी नहीं जानता।" मोक्षदशा में भी ज्ञानाभाव श्रुति ही से ज्ञात होता है—प्रयाण के बाद संज्ञा ज्ञान नहीं रहती" इत्यादि। जीव के लिए किया गया "ज्ञानस्वरूपम्' प्रयोग तो लाक्षणिक है, जो कि—उसका असाधारण गुण है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-ज्ञोऽत एव ज्ञ एव-अयमात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप एव, न ज्ञानमात्रम्, नापि जडस्वरूपः, कुतः ? अतएव श्रुतेरेवेत्यर्थः। "नात्माश्रुतेः" इति प्रकृता श्रुतिः, अत इति शब्देन परामृश्यते। तथा छांदोग्ये प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" मनसैवेतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म लोके "सत्यकामः सत्यसंकल्प." नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् अन्यत्रापि—"न पश्यो मृत्युंपश्यति" तथावाजसनेयके—"कतम आत्मा इति पृष्ट्वा "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिः पुरूषः" तथा—"एष द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मंता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मापुरूषः" एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः" इति।

उक्त कथन पर "ज्ञोऽत एव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह जीवात्मा ज्ञातृव स्वरूप ही है, ज्ञान स्वरूप या जड़ स्वरूप नहीं है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में जो श्रुति उल्लिखित है, इस सूत्र में, अंतः शब्द से उसी का संबंध जानना चाहिए। छांदोग्योपनिषद् के प्रजापति वाक्य में मुक्त और अमुक्त आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—"मैं इसे सूंघता हूं, इस तथ्य को जो जानता है"वही" आत्मा है ' ब्रह्मलोक में जो काम्य विषय हैं, आत्मा, मन की सहायता से उन सबका अनुभव करके प्रसन्न होता है" आत्मा सत्काम और सत्यसंकल्प है ' इत्यादि। और जगह भी जैसे—"आत्म दर्शी कभी मृत्यु को नहीं देखता" वृहदारण्यक में भी जैसे—"आत्मा कौन है? ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया-"हृदय के भीतर प्राणों में स्थित प्रकाशस्वभाव विज्ञानमय पुरुष ही आत्मा है" और भी जैसे-"अरीमैत्रेयी।

ankurnagpal108@gmail.com

इस विज्ञाता को और कैसे जानना चाहती है? "यह पुरुष ज्ञाता ही है" यह विज्ञानात्मा पुरुष, निश्चित ही दृष्टा-श्रोता-मंता-आघ्राता, आस्वाद कर्त्ता, बोद्धा और कर्त्ता है "इस प्रकार इस द्रष्टा की सोलह कलायें हैं" इत्यादि।

यत्तूक्तं ज्ञातृत्वे स्वाभाविके सति सर्वगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिः प्रसज्यत् इति–तत्रोच्यते–

जो यह कहा कि–आत्मा का ज्ञातृत्व मान लेने से, सर्वगत उस आत्मा की, सदा सर्वत्र उपलब्धि होगी—इसका उत्तर देते हैं—

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।२।३।२०॥

नायं सर्वगतः, अपित्वणुरेवायमात्मा कुतः? उत्क्रांतिगत्यागतीनां श्रुतेः, उत्क्रांतिस्तावच्छ्रूयते–"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः" इति। गतिरपि–"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छंति" इति। आगतिरपि–"तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति। विभुत्वे हि एता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन्।

यह आत्मा सर्वगत नहीं है, यह तो अणु है, उत्क्रांति गति औरआगति वाली श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञान होता है उत्क्रांति जैसे–"यह विज्ञानात्मा-उस प्रकाशमान रूप से, चक्षु–मूर्धा अथवा किसी अन्य मार्ग से निष्क्रमण करता है। "गति जैसे–"जो इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चंद्रमंडल में ही जाते हैं। "आगति जैसे- "उस लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में आते हैं। "इत्यादि जीव को विभु मानने से, उत्क्रांति आदि का होना संभव नहीं हैं।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।२।३।२१॥

च शब्दोऽवधारणे। यद्यपि शरीर वियोग रूपत्वेनोत्क्रांतिः स्थितस्याप्यात्मनः कथंचिदुपपद्यते, गत्यागती तु न कथंचिद् उपपद्येते। अतस्ते स्वात्मनैव संपाद्ये।

ankurnagpal108@gmail.com

सूत्रस्थ च शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है। विभु स्वरूप जीवात्मा की, शरीर वियोग रूप उत्क्रांति, किसी प्रकार हो भी जावे पर गति और अगति तो किसी प्रकार संभव नहीं है। ये दोनों कार्य तो उसके स्वायत्त हैं। (इसलिए जीवात्मा विभु नहीं हैं)

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२२॥

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति जीवं प्रस्तुत्य, "स वा एष महानज आत्मा" इति महत्त्व श्रुतेः, नाणुर्जीवः, इति चेन्न, इतराधिकारात्–जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात् यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः तथापि "यस्यानुवितः प्रतिबुद्धआत्मा" इति मध्येपरः प्रतिपाद्यत इति, तत्संबंधोदं महत्वं न जीवस्य ।

"इद्रियों में जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि में जीवको प्रस्तुत करके "वह महान् अज आत्मा है' इत्यादि में उसकी स्वरूपगत महत्ता दिखलाई गई है, इसलिए जीव, अणु नहीं प्रतीत होता। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रसंग में तो पर तत्त्व प्राज्ञ परमात्मा का वर्णन है, यद्यपि जीव का नहीं उपक्रम में जीव को प्रस्तुत किया गया है, परंतु उक्त उपक्रम के बाद, मध्य में "प्रतिबुद्ध आत्मा जिससे ज्ञात होता है" इत्यादि में, परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उपसंहार के वाक्यांश में जो महान् शब्द का प्रयोग है, वह परमात्मा के लिए ही है, जीव के लिए नहीं।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२३॥

साक्षादणुशब्द एव श्रूयते–"एषोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" इति। उद्धृत्यमानं उन्मानं, अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते–"बालाग्र शतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवस्य विज्ञेयः,, इति। आराग्रमात्रो हि अवरोऽपिदृष्टः" इति च। अतोऽणुरेवायमात्मा।

ankurnagpal108@gmail.com

श्रुति में—साक्षात् अणु शब्द का ही प्रयोग किया गया है—"यह अण आत्मा चित्त से ही जाना जा सकता है, पांच प्रकार के प्राण जिसमें प्रवेश करते है उदाहरण के द्वारा ही जिसका परिमाण बतलाया जा सके उसे उन्मान कहते हैं। अणु के समान वस्तु का उदाहरण दे कर जीव का स्वरूप निरूपण किया गया है—जैसे—' बाल के अग्रिम भाग के सौवें के भी सौवें हिस्से के बराबर ही जीव स्वरूप हो सकता,है आत्मा महान है, पर इसका दूसरा रूप (जीव) आरा की धार के सामान सूक्ष्म हैं। इत्यादि से जीवात्मा की अणुता ही ज्ञात होती है।

अथस्यात्—आत्मनोऽणुत्वे सकल शरीर व्यापिनी वेदना नोपपद्यत इति, तत्रमतांतरेण परिहारमाह—

शंका करते हैं कि—यदि आत्मा को अणु मानते हैं तो, सारे शरीर में होने वाली वेदना की जो प्रतीति होती है। वह न होनी चाहिए इसका अन्य उदाहरण से परिहार करते हैं—

अविरोधश्चन्दनवत् ।२।३।२४।।

यथाहरिचन्दनविंदुर्देहैकदेश वर्त्यपिसकलदेहव्यापिन माह्लादं-जनयति, तद्वदात्मापि देहैकदेशवर्त्ती सकल देशवर्तिनीं वेदनामनुभवति ।

जैसे की—मलयागिरीचंदन की एक विन्दु देह के एक स्थान में स्थित होकर सारे शरीर को आहलादित करती है, वैसे ही आत्मा, देह के एक स्थान में ही ठहरकर सारे शरीर की वेदना की अनुभूति करता है।

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदिहि ।२।३।२५।।

हरिचन्दनविन्द्वादेर्देहदेशविशेषावस्थित विशेषात्तथा भावः आत्मनस्तु तन्न विद्यत इति, चेन्न आत्मनोऽपिदेहदेश विशेषे स्थित्यभुपगमात्, हृदयदेशस्यहि आत्मनः स्थितिः श्रूयते "हृदि हि अयमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम् " इति, तथा "कतम आत्मा" इति प्रकृत्य "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मनो देश विशेषस्थिति ख्यापनाय चंदन दृष्टान्तः प्रदर्शितः, नतु चंदनस्य देशविशेषापेक्षा ।

मलयागिरी चंदन तो देह के विशेष स्थान में स्थित होकर, शरीर को आह्लादित करता है, यह तो ठीक है, किन्तु जीवात्मा के लिए तो कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान में ही रहता है, ऐसी शंका करना ठीक नहीं ,आत्मा की भी देह के विशेष स्थान में स्थिति बतलाई है गई है । आत्मा की स्थिति हृदय में बतलाई गई है–यह आत्मा हृदय में स्थित रहता है, जहाँकि–एक सौ नाड़िया है' "आत्मा कौन है ? "ऐसा प्रश्न करने पर "जो कि-विज्ञानमय इद्रियों के मध्य में हृदयान्तर्गत ज्योति है "इत्यादि में, आत्मा की स्थिति विशेष बतलाई गई है । इसी स्थिति विशेष को समझने के लिए ही, चंदन का दृष्टान्त दिया गया है । चंदन के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि–वह देह के अमुक स्थान विशेष में ही स्थित हो, तभी शरीर को आह्लादित करेगा जीवात्मा के तो स्थान विशेष का ही उल्लेख है ।

एक देश वर्त्तिनः सकलदेहव्यापिकार्यकरत्वं प्रकारं स्वमतेनाह-

जीवात्मा की, एक देशवर्त्ती हो कर सर्वदेह व्यापी कार्यक्षमता को अपने मत से, स्पष्ट करते हैं—

गुणाद्वाऽलोकवत् ।२।३।२६॥

वा शब्दो मतान्तरव्यावृत्यर्थः, आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन, सकलदेहं व्याप्यावस्थितः, आलोकवत्-यथा मणिद्युमणि-प्रभृतीनामेकदेशवर्त्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते तद्वद् हृदयस्थ-स्यात्मनो ज्ञान सकल देह व्याप्यवर्त्तते, ज्ञातुः प्रभास्थानीयस्य ज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र वृत्तिर्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथम सूत्रे स्थापितम् ।

सूत्र में वा शब्द अन्य मत के परिहार का द्योतक है । जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान के आश्रय से, संपूर्ण शरीर मे व्याप्त हो कर स्थित है । जैसे कि–एक देशवर्ती सूर्य कान्त आदि मणि का अलोक चारो

ankurnagpal108@gmail.com

ओर देखा जाता है, वैसे ही हृदयस्थ आत्मा का ज्ञान, समस्तशरीर व्यापी होता है। मणि प्रभा की तरह, ज्ञाता आत्मा का जो प्रभास्थानीय ज्ञान है, वह आश्रय (आत्मा) के अलावा भी रहता हैं। ऐसा पहिले सूत्र में बतला चुके है।

ननूक्तं ज्ञानमात्रमेवात्मेति, तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूप व्यतिरिक्त-गुणत्वमुच्यते ? तत्राह—

जब यह कहा गया कि-आत्मा ज्ञान मान ही है तब उस ज्ञान को स्वरूप से भिन्न गुणवाला कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं।

व्यतिरेको गंधवत्तथाच दर्शयति।२।३।२७॥

यथा पृथिव्याः गंधस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः तथा जानामीति, ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्यात्मनो व्यतिरेकः सिद्धः, दर्शयति श्रुतिः " जानात्येवायं पुरुषः" इति।

गुण रूप से प्रतीयमान गंध जैसे–पृथ्वी से भिन्न है वैसे ही "मैं जानता हूं' ऐसा, गुण से प्रतीयमान ज्ञाता का ज्ञान भी, आत्मा से भिन्न है ,श्रुति भी यही कहती है "यह पुरुष निश्चय ही जानता है।

पृथगुपदेशात्।२।३।२८॥

स्वशब्देनैव विज्ञानं, विज्ञातु पृथगुपदिश्यते "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते "इति।

"विज्ञाता (जीव) का विज्ञान कभी विलुप्त नहीं होता" इस श्रुति में विज्ञान और विज्ञाता का स्पष्ट रूप से पृथक् निर्देश किया गया है।

यत्तूक्तं "यो विज्ञानेतिष्ठन्" विज्ञानं यज्ञं तनुते" ज्ञानस्यरुप मत्यंतनिर्मलम्" इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति-तत्राह-

जो यह कहा कि–जो विज्ञान में अवस्थान करता है "जो विज्ञान और यज्ञ का प्रकाश करता है "जो ज्ञान स्वरूप अत्यंत निर्मल है "इत्यादि में तो आत्मा को ज्ञान स्वरुप ही कहा गया है। इस पर कहते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

तद्गुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२।३।२९।।

तुशब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, तद्गुणसारत्वात् विज्ञान गुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतोगुणः यथा प्राज्ञस्यानंदः सारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनंदशब्देन व्यपदिश्यते" यदेष आकाश आमन्दो व स्यात्" आनंदो ब्रह्मेतिव्यजानात्" इति । प्राज्ञ-स्यहि आनन्दः सारभूतोगुणः "स एको ब्रह्मण आनंदः", आनंदं-ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इति । यथावा– "सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म" इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञान शब्देन व्यपदेशः। "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यः सर्वज्ञः" इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं सारभूतो गुण इति विज्ञायते ।

सूत्रस्थतु शब्द पुर्वोक्त आशंका का निराकरण करता हैं तद्गुणसा-तत्व का तात्पर्य विज्ञान की गुणसारता से है । आत्मा को ही विज्ञान शब्द से निर्देश किया गया हैं, विज्ञान ही आत्मा का सारभूत गुण है जैसे कि–प्राज्ञ परमात्मा का, सारभूत गुण आनंद है इसी से प्राज्ञ का आनंद-शब्द से निर्देश किया गया है । "यह अकाश आनंद नही,है, आनंद को ही ब्रह्मजनो "इत्यादि । आनंद प्राज्ञ का ही सारभूत गुण है, ऐसा–ऐसा–"एक मात्र ब्रह्म ही आनंद है "ब्रह्मानंद को जानकर विज्ञपुरुष किसी से नहीं डरता" इत्यादि से निश्चित होता है । तथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म "में विपश्चित प्राज्ञ ज्ञान शब्द से भी उल्लेख किया गया है "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" य सर्वज्ञः इत्यादि वाक्यों में, ज्ञान को, प्राज्ञ का सारभूत गुण कहा गया है ।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ।२।३।३०।।

विज्ञानस्य आत्मभाविधर्मत्वात्तेन तद् व्यपदेशो न दोषः, तथा च-खण्डादयोयावत् स्वरूपभाविगोत्वादि धर्म शब्देन 'गौरिति" व्यप दिश्यमाना दृश्यंते स्वरूपनिरूपण धर्मत्वादित्यर्थः चकारात् ज्ञानवदा-त्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चि-नोति।

ankurnagpal108@gmail.com

विज्ञान ही, आत्मा का नियत सहभावी धर्म (गुण) है इसलिए विज्ञान शब्द से उसका उल्लेख दोषावह नहीं है। जैसे कि सांड़ आदि, गौ के समान स्वरूप वाले होने से ही गौ कहलाते हैं। अर्थात् स्वरूप निरुपक धर्म होने से ही गौ कहलाते हैं। सूत्रस्थ च शब्द का तात्पर्य है कि ज्ञान जैसे स्व प्रकाश है आत्मा भी वैसे ही स्व प्रकाश है, इस लिए विज्ञान रूप से आत्मा का निर्देश, दोषावह नहीं है

यच्चोक्तं सुषुत्प्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य स्वरूपानुवंधिधर्मत्वं इति तत्राह—

जो यह कहा कि सुषुप्ति मूर्छा आदि में, ज्ञान का अभाव होने से, ज्ञान, कभी आत्मा का स्वाभाविक गुण हो हीं नही सकता इसी का उत्तर देते हैं हैं—

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात् ।२।३।३१।।

तुशब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः। अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिष्वपि विद्यमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्ति संभवात् स्वरूपानुवंधि धर्मत्वोपपत्तिः पुंस्त्वादिवत्—यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य धातोर्बाल्यावस्थायां सतोऽप्यनभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंसस्तद्वत्ता न कादाचित्कीभवति। सप्तधातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुवंधि- "तत् सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" इति शरीर स्वरूप व्यपदेशात्। सुषुप्त्यादिष्वपि अहमर्थः प्रकाशत इति प्रागेवोक्तम्। तस्य विद्यमानस्य ज्ञानस्य विषय गोचरत्वं जागर्यादावु प्रलभ्यते, एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयोधर्माः प्रागेवोपादिताः। अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। सचायमात्माऽणुपरिमाणः।

सूत्र का तु शब्द, की गई शंका का निवारक है। यह ज्ञान सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी रहता है, जागरित अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। इससे उसकी स्वाभाविक धर्मता सिद्ध होती है, जैसे कि-मनुष्य पुंसत्व रूप से, यौवन में ही प्रस्फुरित होता हैं, बाल अवस्था में वह अनभिव्यक्त रहता है, एकाएक ही उसका विकास नहीं होता। सप्त-

ankurnagpal108@gmail.com

धातुमय शरीर का वर्णन इस प्रकार मिलता है-"सात धातु—तीन मल-दो योनि और चार प्रकार के आहारों के विकार वाला यह शरीर है। "सुषुप्ति आदि में भी "अहं" की स्थिति रहती है, उस ज्ञान की विद्यमानता से ही, जागरित अवस्था में वह ज्ञान देखा जाता है। आत्मा के ज्ञातृत्व आदि गुणों का प्रतिपादन तो हो ही चुका। इसलिये यही मानना चाहिए कि-ज्ञातृत्व ही जीवात्मा का स्वरूप है, और अणु ही आत्मा का परिमाण हैं।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यपि न मुक्तस्यज्ञानाभावउच्यते, अपितु "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थायतान्येवानुविनश्यति" इति संसारादशायां यद्भूतानुविधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादि दर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते, "न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वदाः। "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं" "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते "इत्यादि श्रुत्यैकार्थ्यात्।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" वाक्य में भी, मुक्त जीव का ज्ञानाभाव नहीं दिखलाया गया है, अपितु-"जीव इन समस्त भूतों से उठकर, उनके अनुसार ही नष्ट माना जाता है" ऐसा जो संसार दशा में, जीव का जन्म मरण दृष्टि गोचर होता है' वह मुक्त जीव का नहीं होता, यही उक्त वाक्यांश का तात्पर्य है। "मुक्त जीव मृत्यु नहीं देखता, न रोग और दुःख ही देखता है, बाकी सब कुछ देखता और सब कुछ प्राप्त करता" है उसे अतिनिकटस्थ इस शरीर का भी स्मरण नहीं रहता है मन से ही समस्त है 'इत्यादि श्रुतियाँ एक स्वर से उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है।

संप्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वेदूषणमाहा-

अब, ज्ञानात्मवादे की दृष्टि से जीव की विभुता का दूषण-बतलाते हैं।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतर नियमोवाऽन्यथा ।२।३।३२॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे, तस्य ज्ञानमात्रत्व पक्षे च नित्यनुपलब्ध्यनुपलब्धी सहैव प्रसज्येयाताम्; अन्यतरनियमो वा नित्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त नहीं मानोगे तो, जीव की विभुता और ज्ञानमात्र स्वरूपता की एक साथ सदा, उपलब्धि और अपलब्धि और अनुपलब्धि होगी अथवा दोनों में से एक ही बात होगी अथवा नित्य उपलब्धि होगी या नित्य अनुपलब्धि होगी।

एतदुक्तं भवति-लोकेतावद्वर्त्तमानयोरात्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुः स्यात् उपलब्धेरेव वा, अनुपलब्धेरेव वा, उभय हेतुत्वे, सर्वदा सर्वत्रोभगं प्रसज्येत्, यद्यप्युपलब्धेरेव, सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात्। अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा, सर्वत्रोपलब्धिर्न स्यात् इति। अस्माकं शरीरस्यांतरेवावस्थित-त्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यबस्था सिद्धिः करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वतत्वेन सदैः करणैः सर्वदाः संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमादुक्त दोषः समानः।

कथन यह कि–व्यवहार क्षेत्र में साधारण रूप से ज्ञानात्मा, जब स्वयं ही, उपलब्धि और अनुपलब्धि का कारण हो जावेगा तो, या तो उसकी उपलब्धि होगी, अथवा अनुपलब्धि ही होगी। यदि दोनों का ही कारण होगा, तो दोनों ही सदा सर्वत्र साथ साथ रहेंगी। पर जहाँ उपलब्धि रहेगी, वहाँ सबकी, सदा, सर्वत्र अनुपलब्धि नहीं हो सकती, तथा अनुपलब्धि की स्थिति में, सबकी, सदा, सर्वत्र उपलब्धि नहीं हो सकती। हमारे मत से आत्मा जब तक शरीर में रहेगा, तब तक, उसकी शरीर रूप से उपलब्धि होती रहेगी, कोई अड़चन न पड़ेगी सारी बात बन जायगी। विषयोपलब्धि को इंद्रियाधीन मानने से भी, सब आत्मायें जब विभु और इंद्रियों से सदा संयुक्त हैं, उनका व्यवस्थापक कोई है नहीं, तब फिर वही बात उपस्थित होगी जो कि सर्वथा दोष ही है।

५ कर्त्ताऽधिकरणः—

कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात्।२।३।३३॥

अयमात्मा ज्ञाता, सचाणुपरिमाण इत्युक्तम्। इदानीं किं स एव कर्त्ता, उत स्वयमकर्त्तैव सन्नचेतनानां गुणानां

ankurnagpal108@gmail.com

कर्त्तृत्वमात्मन्यध्यस्य तीति चिन्त्यते । किं युक्तम् ? अकर्त्तैवात्मेति, कुतः? आत्मनो ह्यकर्त्तृत्वं गुणानामेव च कर्त्तृत्वमध्यात्म शास्त्रेषु श्रुयते । तथाहि कठवल्लीषु जीवस्य "न जायते म्रियते" इत्यादिना जरामरणादिकं सर्वं प्रकृतिधर्मं प्रतिषिध्य हननादिषु क्रियासु कर्त्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते-"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते"इति । हंतार आत्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः । तथा च भगवता स्वयमेव जीवस्य अकर्त्तृत्वं स्वरूपम्, कर्त्तृत्वाभिमानस्तु व्यामोह इत्युच्यत–"प्रकृतः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते 'नान्यगुणेभ्यः कर्त्तारं यदाद्दष्टाऽनुपश्यति" कार्य कारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते "इति च अतः पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्त्तृत्वम् इति ।

यह आत्मा ज्ञात और अणु परिमाण वाला है यह बतला चुके अब क्या वह कर्ता भी है? अथवा स्वयं अकर्त्ता होकर अचेतन गुणों के कर्त्तृत्व की (बुद्धि) से अपने में अध्यास (आरोपित) कर लेता है? इस पर विचार करते हैं, कह सकते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, अध्यात्म शास्त्र में आत्मा का अकर्त्तृत्व और गुणों का कर्त्तृत्व बतलाया गया है। जैसे कि– कठबल्ली में जीव के जन्ममरण आदि समस्त धर्मो का–"न जायते म्रियते" इत्यादि से निषेध करके, हनन आदि क्रियाओं का भी निषेध करते है–"मारने वाला यह समझे कि मैंने मारा' तथा मरने वाला समझे कि–मैं मारा गया, ये दोनों ही तथ्य को नहीं जानते' क्योंकि–न वह मारता है, न यह मरता है "अर्थात् जो, अपने को मारने वाला समझते हैं वे, वस्तुतः आत्मा को नहीं जानते । स्वयं भगवान भी जीव का अकर्त्तृत्व तथा कर्त्तृत्वाभिमान को व्यामोह बतलाते हैं–" प्राकृतिक गुणो द्वारा क्रियमाण संपूर्ण कर्मों को अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति " मैं करता हूं" ऐसा अभिमान करता है, बुद्धिमान सूक्ष्म दृष्टि वाला, गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्त्ता नहीं मानता । कार्य और कारण के कर्त्तृत्व का हेतु, प्रकृति कहा गया है तथा-सुख दुःख आदि भोक्तृत्व पुरुष का बतलाया गया है। इस प्रकार पुरुष की भोक्तृता और प्रकृति की कर्त्तृता बतलाई गई है।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः-एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" इति आत्मैव कर्त्ता न गुणाः, कस्मात्? शास्त्रार्थवत्वात्। शास्त्राणि हि "यजेत स्वर्गकामः" "मुमुक्षुब्रह्मोपासीत्" इत्येवमादीनि स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारेमेव कर्त्तृत्वे नियुंजते, नहि अचेतनस्य कर्त्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते। शासनाच्च शास्त्रं शासनं च प्रवर्त्तनम्, शास्त्रस्य च प्रवर्त्तकत्त्वं बोधजननद्वारेण, अचेतनं च प्रधानं न बोधयितुं शक्यम्। अतः शास्त्राणामर्थवत्त्वं भोक्तुश्चेतनस्यैव कर्त्तृत्वे भवेत्। तदुक्तं-"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से-"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता है गुण नहीं है' शास्त्र से ऐसा ही निश्चित होता है। शास्त्रों में "स्वर्णाभिलाषी यज्ञ करता है" मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करता है, इत्यादि में, स्वर्गमोक्ष आदि फल के भोक्ता को ही कर्त्ता कहा गया है, अचेतन प्रकृति को कर्त्ता नहीं कहा गया है। शासन करने ही से शास्त्र कहलाता है·कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त रहना ही शासन का प्रयोजन है शास्त्र, बोधजनक वाक्यो से जीवों को सत्कर्म में प्रवृत्त कराते हैं; अचेतन प्रकृति को कर्म प्रवृत्त कराया नहीं जा सकता। शास्त्रों की सार्थकता, चेतन भोक्ता के लिए ही है। ऐसा ही कहा भी गया है-"कार्य कर्त्ता को ही शास्त्रोक्त क्रिया का फल मिलता है"

यदुक्तं-"हन्ताचेन्मन्यते" इत्यादिना हननक्रियायामकर्त्तृत्वमात्मनः श्रूयत इति, तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते यच्च "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादिना गुणानामेव कर्त्तृत्वं स्मर्यत इति, तत्सांसारिक प्रवृत्तिष्वस्य कर्त्तृता सत्त्वरजस्तमोगुण संसर्गकृता, न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेनगुणानामेवकर्त्तृतेत्युच्यते। तथा च तत्रैवोच्यते-"कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु इति। तथा तत्रैवात्मनश्च कर्त्तृत्वमभ्युपेत्पोच्यते-"तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः, पश्यत्यकृत् बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः" इति। "अधिष्ठानं तथा कर्त्ताकरणं च पृथग्विधम्,

ankurnagpal108@gmail.com

विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्" इत्यधिष्ठानादि दैवपर्यन्त सापेक्षे सत्यात्मनः कर्त्तृत्वे य आत्मानमेव केवलंकर्त्तारं मन्यते न स पश्यतीत्यर्थः ।

जो यह कहा कि-"हंताचेन्मन्यते" इत्यादि में आत्मा की अकर्त्तृता बतलाई गई है; सो बात नहीं है, वहाँ पर आत्मा की नित्यता बतलाते हुए, उसकी हंतव्यता का निषेध किया गया है। और जो यह कहा कि— "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादि से, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, सो बात भी नहीं है-वहाँ एक मात्र सांसारिक प्रवृत्तियों में ही, सत्त्वरजतम संसर्ग कृता कर्त्तव्यता बतलाई गई है वास्तविक कर्त्तृता नहीं बतलाई गयी है। भोक्ता, जीवात्मा की उच्चावच. भाव को बतलाने वाली, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, जैसा कि-उक्त प्रसंग में ही गीता में कहा गया है—"सत् असत् योनियों में, जन्म का कारण गुणों की आसक्ति ही हैं।" उसी प्रसंग में आत्मा की कर्त्तृता का भी उल्लेख है- "जो केवल आत्मा को ही कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति अकृत बुद्धि होने के कारण, यथार्थता को नहीं समझ पाता "अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता (जीव) पृथक् पृथक् करण (इन्द्रियाँ) विभिन्न प्रकार की चेष्टायें और दैव, ये पांच कारण हैं।" इस प्रकार आत्मा का कर्त्तृत्व, अधिष्ठान से लेकर दैव तक, पाँचो से सापेक्ष माना गया है, इसलिए जो लोग, एकमात्र आत्मा को कर्त्ता मानते हैं, वे निश्चित ही आत्मा को नहीं जानते। यही उक्त कथन का तात्पर्य है।

उपादानाद विहारोपदेशाच्च ।२।३।३४॥

"स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य "एवमेवैष एतान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" इति प्राणानामुपादाने विहारे च कर्त्तृत्वमुपदिश्यते।

"जैसे कि वह महाराज" ऐसा कहकर "यह आत्मा भी उसी प्रकार, समस्त प्राणों (इन्द्रियों) को ग्रहण करके, अपने शरीर में यथेच्छ विहार करता है" इत्यादि में प्राणों के ग्रहण और विचरण में आत्मा की कर्त्तृता का उपदेश दिया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३५॥

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च" इति लौकिक वैदिक क्रियासु कर्त्तृत्व व्यपदेशाच्च कर्त्ता । विज्ञानशब्देन नात्मनो व्यपदेशः, अपित्वंतः करणस्य बुद्धेरिति चेत् एवं सति निर्देश विपर्ययः स्यात् बुद्धेः करणत्वाद् विज्ञानेनेति करणविभक्तिनिर्देशः स्यात् ।

"विज्ञान यज्ञ और कर्मों का संपादन करता है" इत्यादि में लौकिक वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा का कर्त्तृत्व स्पष्ट बतलाया गया है, इसलिए उसी का कर्त्तृत्व निश्चित होता है । यदि कहो कि–विज्ञान शब्द से आत्मा का व्यपदेश नहीं है अपितु अंतःकरण की अंग रूप बुद्धि का व्यपदेश है । यदि इन्द्रियों का व्यपदेश मान लेगे तो कथन का तात्पर्य ही विपरीत हो जायेगा । यदि विज्ञान शब्द से बुद्धि अर्थ सापेक्ष होता तो "विज्ञानं" के स्थान पर "विज्ञानेन" ऐसा करण विभक्ति, का निर्देश किया गया होता ।

उपलब्धिवदनियमः ।२।३।३६॥

आत्मनोऽकर्त्तृत्वे दोष उच्यते । यथाऽत्मनोविभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्तः, तद्वदात्मनोऽकर्त्तृत्वे प्रकृतेश्चकर्त्तृत्वे तस्याः सर्व पुरूषसाधारणत्वात् सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः, नैव वा कस्यचित् । आत्मनां विभुत्वाभ्युपगमात् सन्निधानमपि, सर्वेषामविशिष्टम् । अत एव चान्तःकरणादीनामपि नियमो नोपपद्यते, यदायत्ताव्यवस्था स्यात् ।

आत्मा को कर्त्ता न मानने से दोष बतलाते हैं । जैसे कि—आत्मा की विभुता मानने से "नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि की समस्या उपस्थित होती है" इत्यादि वाक्य से उपलब्धि की अनियमितता कही गई, वैसे ही—आत्मा का अकर्त्तृत्व और प्रकृति का कर्त्तृत्व मानने से, सर्व सुलभ प्रकृति के सारे कर्म, सभी के लिए, भोग के साधन हो जावेगे भोग की विषमता का कोई नियम ही न रह जायेगा । आत्माओं को

ankurnagpal108@gmail.com

विभु मानने से, आत्माओं का प्रकृति सानिध्य भी, समान हो जायेगा, इस प्रकार अंत: करणों के नियमों की भी कोई विशेषता न रह जायेगी, जिससे कि—कर्म भोग की विलक्षणता घटित होती है।

शक्तिविपर्ययात् ।२।३।३७।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे कर्त्तुरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्वशक्तिरपि तस्या एव स्यादित्यात्मनो भोक्तृत्वशक्तिर्हीयते। भोक्तृत्वं च बुद्धेरेव संपद्यत इति आत्म सद्भावे प्रमाणाभावश्च स्यात् । "पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्" इति हितेषामभ्युपगमः।

बुद्धि का कर्त्तृत्व मानने से; कर्त्ता से भोक्तृता को भिन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए भोक्तृता भी, बुद्धि की ही माननी पड़ेगी इस प्रकार आत्मा की भोक्तृत्व शक्ति समाप्त हो जायेगी तथा बुद्धि की भोक्तृता निश्चित होने से, आत्मा के अस्तित्व के प्रमाणों का ही अभाव हो जायेगा। "भोक्तृभाव से ही वह पुरुष है" यह वाक्य भी फिर बुद्धि परक ही माना जायेगा।

समाध्यभावाच्च ।२।३।३८।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे,मोक्षसाधनभूत समाधावपि सैव कर्त्री स्यात् । स च समाधिः "प्रकृतेरन्योऽस्मि" इत्येवं रूपः, न च प्रकृतेरन्योऽस्मीति प्रकृतिः समाधातुमलम् । अतोऽप्यात्मैव कर्त्ता।

बुद्धि की कर्त्तृता होने से, मोक्ष की साधननिका समाधि क्रिया भी बुद्धि की ही होगी। समाधि अवस्था क्रिया में "मैं प्रकृति से भिन्न हूं" ऐसी अनुभूति होती है। यदि समाधि को बुद्धिकृत मानते हैं तो "प्रकृति से अन्य हूँ" ऐसा समाधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का ही स्वरुप है, वह स्वयं तो अपने को निवृत्त कर नहीं सकती इसलिए, आत्मा को ही, कर्त्ता मानना पड़ेगा।

नन्वात्मनः कर्त्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा कर्त्तृत्वान्नोपरमेतेत्यत्राह—

आत्मा का कर्त्तृत्व स्वीकारने से, आत्मा की कर्त्तृता कभी समाप्त ही न होगी ? इस शंका का समाधान करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

यथा च तक्षोभयथा ।२।३।३९॥

वागाधिकरण संपन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति, यदा तुनेच्छति, तदा न करोति, यथा तक्षा वाश्याधिकरण सन्निधानेऽपि इच्छाऽनुगुण्ये न करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्त्तृत्वे तस्याः भोगवांच्छदिनियमकारणाभावात् सर्वदा कर्त्तृत्व-मेव स्यात् ।

वागादि इंद्रियों वाला जीवात्मा, जब इच्छा होती है, तभी कार्य करता है, जब नहीं होती तब नहीं करता, जैसे कि-बढ़ई, वसूला हथौड़े आदि साधनों से अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है और अनिच्छा होने पर नहीं करता । बुद्धि तो अचेतन है, उसमें भोग आदि की इच्छा तो होती नहीं, यदि उसे कर्त्ता मानेंगे तो सदा कार्य चालू ही रहेगा (जैसे कि मशीन चालू कर दी जाय तो सदा चलती ही रहेगी) ।

६ परायत्ताधिकरणः—

परात्तु तच्छ्रुतेः ।२।३।४०॥

इदं जीवस्य कर्त्तृत्वं किं स्वातंत्र्येण? उतपरमात्माऽयत्तमिति? किं प्राप्तम्? स्वातंत्र्येणेति । परमात्माऽयतत्वे हि विधि निषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येत् । यो हि स्वबुद्धया प्रवृत्ति निवृत्यारंभ शक्तः, स एव नियोज्यो भवति । अतः स्वातंत्र्येणास्य कर्त्तृत्वम् ।

अब विचार होता है कि-जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? कह सकते हैं कि-स्वायत्त है । परमात्मायत्त मानने से तो, विधि निषेध के विधायक शास्त्रीय वाक्यों का कोई अर्थ ही न रह जायगा । परमात्मा सब समर्थ हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार प्रवृत्ति निवृत्ति करने की शक्ति रखते हैं, वही नियोजक भी हो सकते हैं, इसलिए कर्त्तृत्व में उनका अधिपत्य संभव नहीं है । इसलिए जीव का तो, स्वतंत्र ही कर्त्तृत्व है [अर्थात्-यदि परमात्मायत्त कर्त्तृत्व होता तो शास्त्रों के

ankurnagpal108@gmail.com

उपदेश की क्या आवश्यकता थी, सर्व समर्थ परमात्मा जैसा चाहते वैसा करते, शास्त्र में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश दिया गया है इसलिए जीवात्मा का कर्त्तृत्व सिद्ध होता है]।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—"परात्तुतच्छ्रुतेः" इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, तत्—कर्त्तृत्वं अस्य—जीवस्य—परात् परमात्मन एव हेतोर्भवति, कुत.? श्रुतेः 'अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम् य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति। स्मृतिरपि—"सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानिमायया "इति।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "परात्तुतच्छ्रुतेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है। इस जीव का कर्त्तृत्व परायत्त अर्थात् परमात्मायत्त ही है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है "जो कि-जीवों का सर्वान्तर्यामी शासक है" जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर, सयंमन करता है, आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है, वह संर्वान्तर्यामी अमृत है। "इत्यादि-स्मृति में भी जैसे-"मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही, स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होता है"ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी माया से यंत्र की तरह सभी प्राणियों को घुमाता रहता है।"

नन्वेवं विधिनिषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येतेत्युक्तम्—तत्राह—

ऐसा मानने से-विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं। इसका उत्तर देते हैं—

कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४१॥

सर्वासु क्रियासु पूरुषेण कृतं प्रयत्नं उद्योगमपेक्ष्यांतर्यामी परमात्मा तदनुमति दानेन प्रवर्त्तयति। परमात्मानुमति मंतरेणास्य

ankurnagpal108@gmail.com

प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । कुत एतत्? विहित प्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यंते । यथा द्वयोः साधारणे धने परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमंतरेण नोपपद्यते, अथापीतरानुमतेः स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति । पापकर्मसु निवर्त्तनशक्तस्याप्यनुमंतृत्वं न निर्दयत्वमावहतीति सांख्य समय निरूपणे प्रतिपादितम् ।

सभी क्रियाओं में पुरुषकृत प्रयत्न ही होता है, मनुष्य के उद्योगानुसार, अन्तर्यामी परमात्मा, उसे तद्विषयक बुद्धि प्रदान करके उसमें संलग्न करते हैं। अर्थात् परमात्मा की अनुमति के बिना इस जीवात्मा की कार्यक्षमता और प्रवृत्ति हो नहीं सकती। ऐसा कैसे समझा? विधि और निषेध की अनिवार्यता से ही यह बात प्रतीत होती है। प्रभु का निग्रह अनुग्रह आदि भी उसके प्रमाण हैं। जैसे कि–दो व्यक्तियों के साझे के धन में, व्यय आदि कार्यों में परस्पर अनुमति आवश्यक है पर यदि कोई व्यक्ति, दूसरे की अनुमति बिना, स्वतः ही दान आदि करे तो, उसके, पाप पुण्य आदि का फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा, वैसे ही जीवात्मा संसार के कार्यों में, परमात्मा की साझेदारी भूलकर स्वयं ही अपने को कर्त्ता मान बैठता है, उसी के फलस्वरूप उसे भोग भोगने पड़ते हैं, अनुमति दाता परमात्मा चुपचाप, उसकी करतूतों को देखते रहते हैं। पाप कर्मों से वह जीवों को बचा सकते हैं, फिर उसके पाप कर्म की अनुमति क्यों देते है, यह तो उनकी निर्दयता है, इसका उत्तर हम सांख्यमत के निरूपण के समय दे चुके हैं।

नन्वेवम् "एष हि एव साधु कर्मकारयन्ति तं यमधोनिनीषति" इत्युन्निनीषयाऽधोनिनीषया च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी कारयतीत्येतन्नोपपद्यते। उच्यते–एतन्नसर्वसाधारणम्, यस्त्वतिमात्र परमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तमनुगृह्णन भगवान् स्वयमेव स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मस्वेव रुचि जनयति। पश्चातिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तं निगृह्णन्

स्वप्राप्तिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसुरुचिं जनयति। यथोक्तं भगवता स्वयमेव—"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इति मत्वा भजंते मां बुधाभाव समन्विताः" इत्यारभ्य "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांतिते "तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति। तथा—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् "इत्यादि "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्य सूयकाः "इत्यन्तमुक्त्वा "तानहंद्विषतः क्रूरान् संसारेषुनराधमान्, क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु "इत्युक्तम्।

"परमात्मा उसी से उत्तम कर्म कराते हैं, जिसे उठाना चाहते हैं तथा जिसे गिराना चाहते हैं, उससे नीच कर्म कराते है "इत्यादि से भगवान द्वारा ही उत्तम निकृष्ट कर्म कराने की बात सिद्ध होती है, जिससे कि-उपर्युक्त मत का सामंजस्य नहीं बैठता। इसका उत्तर देते हैं यह बात सर्वसाधारण के लिए नहीं है, अपितु जो लोग एकमात्र परमपुरुष परमात्मा के आश्रित होकर उन्हीं की अनुमति के अनुसार कार्य करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, परमात्मा, उन पर कृपा करके अपनी प्राप्ति के उपायभूत कल्याणमय कर्मों में उसकी रुचि प्रकट करते हैं, तथा जो लोग भगवत् प्राप्ति से विपरीत कर्मों में संलग्न रहते हैं, उन पर वे परमात्मा अकृपा करते हुए अपनी प्राप्ति के प्रतिकूल, अधोगति के उपायभूत कर्मों में आसक्त कर देते हैं। जैसा कि—भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं "ऐसा समझ कर भाव समन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं" उन, निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करने वाले भक्तों को मैं, प्रीतिपूर्वक ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे, मुझे प्राप्त कर सकें, "उन्हीं पर अनुग्रह करके मैं, उनमें आत्मभाव से स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न उनके अंधकार को, प्रज्वलित ज्ञान दीप के द्वारा नाश कर देता हूँ "इत्यादि। तथा "जो यह कहते हैं कि-जगत असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है" मेरी निन्दा करने वाले, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर की निंदा करते हैं "इत्यादि से सर्वसाधारण व्यक्तियों का रूप बतलाकर

ankurnagpal108@gmail.com

"उन द्वेष करने वाले, क्रूर अशुभ नराधमों को मैं, संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ "इत्यादि विशिष्ट गति कही है।

७—अंशाधिकरणः—

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथापि दाश कितवादित्वमधीयतएके२।३।४२॥

जीवस्य कर्त्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम्। इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यंतभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रांतम्, उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम्, अथ ब्रह्मांश? इति संशय्यते, श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः

जीव का कर्त्तृत्व, परमपुरुषायत्त है, यह बतलाया गया अब विचार करते हैं कि-जीव परमात्मा से अत्यंत भिन्न है,अथवा अज्ञानाच्छन्न भ्रांत ब्रह्म ही है, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म का अंश है? ऐसा संशय परस्पर भिन्न श्रुतियों के आधार पर होता है।

ननु "तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः "अधिकं तु भेदनिर्देशात् इत्यत्रैवायमर्थो निर्णीतिः। सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुति विप्रतिपत्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णीयते, यावद् हि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम्, तावज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणः—तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति।

"तदन्यत्वमारंभण" अधिकं भेद "इत्यादि दोनों सूत्रों में ही इस विषय का निर्णय हो चुका था। ठीक है अब परस्पर भिन्न श्रुति वाक्यों के अनुसार संशय उपस्थित करके, जीव की ब्रह्मांशता का समर्थन करके विशेष निर्णय करते हैं। जब तक जीव की ब्रह्मांशता का, निर्णय नहीं किया जाता, तब तक उसकी ब्रह्म की ब्रह्म से अनन्यता या उससे श्रेष्ठता, सिद्ध नहीं हो सकती।

किं तावत् प्राप्तम्? अत्यंतभिन्न, इति, कुतः? "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "इत्यादिभेदनिर्देशात्। ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्तु "अग्निना सिंचेत् "इति वद् विरुद्धार्थ प्रतिपादनादौपचारिक्यः।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त प्रकार में से जीव का कौन सा रूप हो सकता है? कहते हैं कि जीव अत्यंत भिन्न है, क्योंकि-"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" इत्यादि में स्पष्ट भेद निर्देश किया गया है। ज्ञाता और अज्ञाता की अभिन्नता को बतलाने वाले वाक्य तो "अग्नि से सींचता है" के समान विरुद्धार्थ प्रतिपादक औपचारिक मात्र हैं।

ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न साधीयः, एकवस्तु एकदेशवाचोहि अंश शब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे, तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः। न च ब्रह्म खंडो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः, खंडनानार्हत्वात् ब्रह्मणः प्रागुक्तदोष प्रसंगाच्च। तस्मादन्यंत भिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम्। यद्वा भ्रांतं ब्रह्मैव जीवः, कुतः "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्यक्षादि सिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथा। सिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते। अयत्रा ब्रह्मैवानाद्युपाध्यवच्छिन्नं जीवः। कुतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। न चायमुपाधिभ्रांतिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, बंधमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः, इति।

जीव, ब्रह्म का अंश है, यह बात भी सहज साध्य नहीं है एक वस्तु की, एक स्थानीय वस्तु को ही अंश शब्द से निर्देश किया जाता है इस प्रकार जीव की ब्रह्मैकदेशता सिद्ध होती है, जिससे कि एक देशस्थानीय जीव के दोष, ब्रह्म में भी हो सकते हैं। जीव, ब्रह्म के खंड के रूप में अंश माना गया हो सो बात नहीं है, ब्रह्म का खंड तो किया ही नहीं जा सकता वह तो अखंड है। खंड मानने से तो निश्चित ही उक्त दोष का प्रसंग होगा ही। ब्रह्म से अत्यंत भिन्न मानकर जीव की अंशता का समर्थन भी सहज नहीं है। "तत्वमसि" "अयमात्मा" इत्यादि ब्रह्मात्मभाव को बतलाने वाले वाक्यों से, भ्रांतब्रह्म ही जीव है, ऐसी धारणा वाले द्वैतपरक श्रुति वाक्यों को मानने से यह भ्रांति होती है कि-निश्चित ही विरूद्धता होगी और वे "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत परक वाक्य व्यर्थ हो जावेगे। इसलिए ये प्रत्यक्ष में दीखने वाली विभिन्नता और इसके प्रतिपादक श्रुति वाक्य

ankurnagpal108@gmail.com

मिथ्या हैं। अथवा- ब्रह्मात्मभाव के उपदेश के आधार पर जो "ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है" ऐसा मानने वाले हैं, वे उपाधि को भ्रांति कल्पित तो कह नहीं सकते, क्योंकि बंध मोक्ष आदि की व्यवस्था न हो पावेगी।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, कुतः? नानाव्यपदेशात् अन्यथा च- एकत्वेन व्यपदेशात्। उभयथा हि व्यपदेशो दृश्यते। नानात्वव्यपदेशः तावत्स्रष्टृत्वसृज्यत्वनियंतृत्वनियाम्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्व स्वाधीनत्वपराधीनत्व शुद्धत्व कल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतपतित्वशेष त्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथा च अभेदेन व्यपदेशोऽपि "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म इत्यादिभिर्दृश्यते। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः" इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशाकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्व जीवव्यापित्वेनाभेदोव्यपदिश्यत् इत्यर्थः। एवमुभय व्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं-ब्रह्मणोऽंश इत्यभ्युपगंतव्यः।

इस पर स्वमत प्रकट करते हैं कि—जीव, ब्रह्म का अंश ही है, ऐसा उन दोनों की एकता बतलाने वाले वाक्यों से ही ज्ञात होता है। द्वैत और अद्वैत दोनों का ही वर्णन मिलता है। भेद के वर्णन में, सृष्टि कर्त्तृत्व—सृज्यत्व, नियंतृत्व—नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व-अज्ञत्व, स्वाधीनत्व-पराधीनत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व, कल्याण गुणाकरत्व-पतित्व और शेषत्व आदि विपरीत भावनायें पाई जाती हैं। "तत्वमसि" अयमात्मा 'ब्रह्म इत्यादि में अभेद का वर्णन मिलता है। वेद की एक शाखा में-" ब्रह्म ही दाश है, ब्रह्म ही दास है, ब्रह्म ही कितब है" इत्यादि से ब्रह्म का दास कितब आदि भाव भी मिलता है। वह सब जीवों में व्यापक होने से अभिन्न हैं, यह बात इससे ज्ञात होती है।

न च भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्व-तत्संहार्यत्व तदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ-

ankurnagpal108@gmail.com

भात्त्वादय स्तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनान्यथा-सिद्धः। अतोन जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानुवादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम् ।

यह नहीं कह सकते कि-प्रत्यक्ष में दीखने वाले भेद अकारण हैं-क्यों कि-ब्रह्म की सृज्यता, ब्रह्म की नियामकता, ब्रह्म की देहता ब्रह्मांगता, ब्रह्म की पाल्यता, ब्रह्म की संहारकता, तथा ब्रह्मोपासना और ब्रह्मानुग्रह से प्राप्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ औरउससे होने वाला जीव ब्रह्म का भेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, इसलिए अकारण नहीं है। जगत् की सृष्टि आदि को बतलाने वाली श्रुतियाँ, अभेद परक श्रुतियों के समक्ष, केवल कथन मात्र हैं, यह बात उक्त वर्णन से सिद्ध नहीं होती।

न चा खंडैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणाऽत्मनोऽतद्भावानुसंधानं, वहुभवन संकल्पपूर्वकवियदादिसृष्टि, जीवभावेन तत् प्रवेशं, विचित्रनामरूपव्याकरणं, तत्कृतानंतविषयानुभवाः मित्त सुखदुःख भागित्वम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्नियमनेनान्तर्यामित्व, जीव भूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसधानं, ससारमोक्षं, तदुपदेश शास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितध्यमित्युपदिश्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपित त्वापातात् ।

और न अखंड एक रस चिन्मात्र, स्वरूप ब्रह्म के साथ, जीवात्मा की अतिसूक्ष्म भिन्नता, अनेक रूपों में अविभूत होने के लिए संकल्प-पूर्विका आकाश आदि की सृष्टि, जीवभाव से उनमें प्रवेश, विचित्र नाम रूपों की अभिव्यक्ति, उस अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होने वाली विषयानुभवजनित सुख दुःख आदि द्विविधायें, अभोक्तारूप से जीव में स्थिति और संर्वान्तिर्यामी रूप से उनकी नियामकता, जीव का अपने में कारण रूपी ब्रह्मात्मभाव का अनुसंधान, संसार का मोक्ष, आदि के उपदेश देने वाले शास्त्रों के कर्त्ता को भ्रामक उपदेश देने वाला नहीं कह सकते, ऐसा कहना तो पागल का प्रलाप मात्र है।

ankurnagpal108@gmail.com

उपाध्यवच्छिन्नंब्रह्म, जीव इत्यपि न साधीयः, पूर्वनिर्दिष्ट नियंतृत्व, नियाम्यत्वादिव्यपदेशबाधादेव। नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान्नियंतृनियाम्यभावादिसिद्धिः। अत उभय व्यपदेशो पपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपेत्यम्।

ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है, इसको सिद्ध करना भी कठिन है। जो नियंतृत्व नियाम्यत्व आदि द्विविधायें बतलाई गई वह ऐसा मानने में बाधक होगी। एक ही देवदत्त, घर आदि नाम वाला लेकर, नियंता और नियम्य दोनों नहीं हो सकता। इसलिए भेदाभेद की व्यवहारिकता की सिद्धि के लिए, इस जीव को ब्रह्म का अंश मानना पड़ेगा।

मंत्रवर्णात् ।२।३।४३।।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इतिमंत्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंशो जीवः। अंशवाची हि पादशब्दः। "विश्वाभूतानि" इति जीवानां बहुत्वाद बहुवचन मंत्रे, सूत्रेऽपिअंश इत्येक वचनं जात्यभिप्रायम्। "नात्माश्रुतेः" इत्यत्राप्येक वचनं जात्यभिप्रायम् "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादि श्रुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकारः आत्ममाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते "अजंततेश्चा व्यतिकरः इत्यनंतरमेववचात् बहुत्वं वक्ष्यति।

"साराभूत समुदाय इनके एक चरण में हैं, इनके तीन चरण अविकृत रूप से प्रकाशमय अमृत हैं" इस वैदिक मंत्र से भी, जीव, ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है। मंत्र में वर्णित पाद शब्द, अंशवाची ही है। "विश्वाभूतानि" शब्द जीवों की बहुलता का बोधक बहुवचन है। सूत्र में प्रयुक्त "अंश" शब्द का एक वचन प्रयोग, जीव की जातिगत एकता का बोधक है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में किया गया एक वचन का प्रयोग भी, जातिगत एकता के अभिप्राय से ही है। "जो नित्यों का नित्य, चेतनों का

ankurnagpal108@gmail.com

चेतन, अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है" इत्यादि में ईश्वर जीव का भेद, अभेद और नित्यता की विज्ञप्ति से भी, जीव की अंशता सिद्ध होती है। इस प्रकार जब नित्य आत्माओं की बहुलता सिद्ध हो जाती है, तब समस्त आत्माओं की ज्ञानस्वरूप एक रूपता होते हुए भी जो परस्पर आकार भेद है, उससे आत्मगत यथार्थ वेदन क्षमता ज्ञात होती है [अर्थात् अपने अपने शुभाशुभकर्मानुसार सबकी अपनी अपनी विभिन्न अनुभूतियाँ और भोग होते हैं, ऐसा ज्ञात होता है] "अंशतः" आदि सूत्र में आत्मा बाहुल्य का वर्णन करेंगे।

अपिस्मर्यते ।२।३।४४।।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंशः ।

"जीवों में मेरा ही सनातन अंश, जीव रूप से रहता है" ऐसी जीव की पुरुषोत्तमांशता स्मरण भी की गई है। इसलिए जीव अंश रूप ही है।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण एवेत्याशंक्याह–

अंश होते हुए भी, ब्रह्मैकदेशीय जीव के दोष, ब्रह्म के माने जावेंगे यह आशंका करते हुए उत्तर देते हैं –

प्रकाशादिवत्तु नैवंपरः ।२।३।४५।।

तुशब्दाश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोंऽशः यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशांऽशोभवति, यथा-गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः, तद्वत् । एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणां-

ankurnagpal108@gmail.com

शोऽयम् विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशंति । विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाव वैलक्षण्यं दृश्यते । एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वाभावभेदश्चोपपद्यते । तदिदमुच्यते नैवं परइति । यथा भूतो जीवः, न तथाभूतः परः । यथैवहिप्रभायाः प्रभावानन्यथा भूतः तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः एवं जीवपरयोर्विशेषण विशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेद निर्देशाः प्रवर्त्तन्ते, अभेदनिर्देशास्तु प्रथक्सिद्धयनर्हविशेषणानांविशेषपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते । "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त शंका का निवारक है। प्रकाशादि की तरह, जीव, परमात्मा का अंश है, जैसे कि-अग्नि आदित्य आदि का उद्दीप्त प्रकाश, उनका ही अंश होता है। विशेषणीभूत गोत्व आदि जाति धर्म, विशिष्ट गो अश्व जैसे शुक्ल कृष्ण आदि वस्तु के अंश हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्म का अंश है, तथा देह जैसे, देहधारी मनुष्य देवता आदि का अंश है, वैसे ही, जीव भी ब्रह्म का अंश है । एक वस्तु का एकदेशीय, अंश होता है, अतः, एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण, उसका अंश ही कहलायेगा । विवेचक लोग भी, विशेषण युक्त पदार्थ का ऐसा ही विवेचन करते हैं कि– "यह अंश विशेषण है, यह अंश विशेष्य है" । विशेषण विशेष्य का अंशांशी संबंध होते हुए भी, स्वाभाविक भेद भी होता है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा "नैवं परः" अर्थात् जैसा जीव है, वैसा ही परमात्मा नहीं हैं । जैसे कि प्रभा सेप्रभावान् की भिन्नता होती है, वैसे ही अपने अंश जीव से परमात्मा भिन्न है । इसी प्रकार-जीव की विशेषण-विशेष्य कृत स्वाभाविकी भिन्नता के आधार पर, भेद का निर्देश किया गया है । अभेद का निर्देश तो, स्वतंत्ररूप से स्थित होने में असमर्थ विशेषणों की, विशेष्य पर्यन्तता का द्योतक है, मुख्य रूप से अभेद नहीं हो सकता । "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म" इत्यादि में तत् शब्द के पर्याय-

ankurnagpal108@gmail.com

वाची ब्रह्म शब्द की तरह, त्वम-अयं-आत्मा आदि शब्द भी जीव शरीरी ब्रह्मवाची अनेकार्थं बोधक हैं, ऐसा पहिले भी विवेचन कर चुके हैं।

स्मरंति च ।२।३।४६।।

एवं प्रभा प्रभावद्‌रूपेण शक्तिशक्तिमद् रूपेण शरीरात्मभावेन चांशांशि भावं जगद्‌ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरंति- "एकदेशस्थित-स्याग्नेर्ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा, परस्यब्रह्मणः शक्तिः तथेदमखिलं जगत" यत्किंचित् सृज्यते येन सत्वजातेन वै द्विज, तस्य सृज्यस्य संभूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः इत्यादिना। चकाराच्छ्रुतयोऽपि- "यस्यात्माशरीरम्" इत्यादिना आत्म-शरीरभावेनंशांशित्वं वदंतीत्युच्यते।

पराशर आदि ऋषि भीप्रभा और प्रभावान्, शक्ति और शक्तिमान शरीर और शरीरी की तरह जगत् और ब्रह्म का अंशांशी भाव मानते हैं जैसेकि" एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जैसे चारो ओर फैलती है, पर ब्रह्म की शक्ति भी वैसे ही, निखिल जगत के रूप में विस्तृत है। "प्राणियों द्वारा जो कुछ भी निर्माण कार्य होता है, वह सब हरि का ही शरीर है।" इत्यादि सूत्रस्थ च शब्द, श्रुति का भी ऐसा ही कथन है, यह द्योतन करता है। श्रुति भी-"यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि से, शरीर शरीरी भाव से, अंशांशी भाव, बतलाती है।

एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे ब्रह्म प्रवर्त्यंत्वे, ज्ञत्वे च सर्वेषां समाने केषांचिद् वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारः, केषांचिद्दर्शनस्पर्श नाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु-कथमुपपद्यत इत्याशंक्याह —

ऐसे ब्रह्मांशत्व ब्रह्मनियामत्व, एवं ज्ञातृत्वादिधर्म यदि जीवमात्र के समान होंगे तो, शास्त्रों में किसीको वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों की अनुमति दी गई हैं और किसी को नहीं दी गई किसी को मूर्त्ति के दर्शन स्पर्श की आज्ञा दी गई है किसी को नहीं दी गई यह बात कैसे बनेगी? ऐसी शंका कर के उत्तर देते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

अनुज्ञा परिहारौ देह संबंधात् ज्योतिरादिवत्।२।३।४७।।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य शूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेह संबंधनिवंधनानुज्ञापरिहारावुपपद्यते ज्योतिरादिवत् यथाग्नेरग्नित्वेनैकरुपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते स्मशानादेस्तु परिह्रियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभिशप्तादेस्तुपरिह्रियेत ।

सभी जीव ब्रह्म के अंश और ज्ञातृत्व धर्म वाले हैं यह बात सही हैं, उनमें जो भेद हैं वह, ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि शरीर संबंध से शुचि अशुचि माना गाया है इसी आधार पर शास्त्रों में आज्ञा और निषेध का विधान किया गया है जैसे कि–अग्नि स्वरूपतः एक है पर, पवित्र याज्ञिक की अग्नि लाने की आज्ञा तथा स्मशान आदि अपवित्र स्थानों की अग्नि का निषेध किया गया है। तथा जैसे –याज्ञिक के यहाँ के अन्न लेने की आज्ञा तथा निंदित व्यक्ति के अन्न का निषेध किया गया है।

असंततेश्चाव्यतिकरः ।२।३।४८।।

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकिरोऽपि न भवति । भ्रांतब्रह्म जीववादे चोपहित ब्रह्म जीववादेच, जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वदोषाः संतीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकाराभावः उक्तः ।

ब्रह्मांशता आदि कारणों से जीवों की एकता होते हुए भी, जीवों के पारस्परिक भेद तथा अणुरूप से प्रतिशरीर में भिन्नता होने से भोग व्यतिकर अर्थात् एक दूसरे के भोग में, मिलावट नहीं हो पाती। भ्रांतब्रह्म जीववाद तथा उपहित ब्रह्म जीववाद में तो जीव और परमात्मा एवं जीवों में परस्पर–भोग व्यतिकर की संभावना है, इसीलिए अपने मतानुसार भोग व्यतिकराभाव दिखलाया गया है।

ननु भ्रांतब्रह्म जीववादेऽपि अविद्याकृतोपाधिभेदाद्भोग्य व्यवस्थादयः उपपद्यंते-अत आह–

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि-भ्रांतब्रह्मवाद में भी, अविद्या कृत उपाधि मान कर, भेद स्वीकारने से, भोग्यव्यवस्था हो सकेगी-उसका उत्तर देते हैं-

आभास एव च ।२।३।४९।।

अखंडैकरस प्रकाशमात्र स्वरूपस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधि-भेदोपपादन हेतुराभास एव । प्रकाशैकस्वरूपस्य, प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम् । " आभासा एव" इतिवापाठः तथा सति हेत व आभासाः । चकारात्" पृथगात्मानं प्रेरितारम् च मत्वा" "ज्ञाज्ञौ द्वौ" तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्ति" इत्यादि श्रुतिविरोधश्च । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधिभिरु-पहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमात् भोगव्यतिकरस्तदवस्थ एव ।

अखंड एक रस, एक मात्र प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाले उपाधि भेद के समर्थन में जो हेतु उपस्थित किया जाता है, वह हेत्वाभास मात्र है । प्रकाशवान् के प्रकाश का तिरोधान होना तो प्रकाश नाश ही है, ऐसा बतला चुके हैं ।

सूत्र में " आभासा एव" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसके अनुसार अर्थ किया जाता है कि–जितने भी हेतु उपस्थित किए जाते हैं, वे सब आभास हैं । पर सूत्र में, च के विशेष योग मानने से "पृथगात्मानं प्रेरितारं" ज्ञाज्ञौ" तयोरन्यः पिप्पलं" इत्यादि भेद निर्देशक श्रुतियों से विरोध उपस्थिति की बात भी निश्चित होती है । अविद्या परिकल्पित उपाधि भेदवाद में भी, उपाधियों से ब्रह्म के स्वरूप के उपहित होने पर भी, एकत्व स्वीकारने में जो भोग का व्यतिकर होता है वह भी रहता ही है, यही चकार के प्रयोग का तात्पर्य है ।

परमार्थिकोपाध्युपहितब्रह्म जीववादेऽप्युपाधिभेद हेतु भूता-नाद्यदृष्टवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशंक्याह—

पारमार्थिक उपाधि उपहित ब्रह्म जीववाद में भी उपाधि भेद के कारणभूत, अनादि अदृष्ट कर्म ही व्यवस्थापक होंगे । इसका उत्तर–

ankurnagpal108@gmail.com

अदृष्टानियमात् ।२।३।५०॥

उपाधिपरस्पराहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाश्रयत्वेन नियमहेत्वभादव्यवस्थैव उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसंबंधेन ब्रह्मस्वरूपच्छेदा संभवात् ।

उपाधि उपहितब्रह्म के अंशगत भेद को मानने पर भी, ब्रह्म का जो अंश और उपाधि के साथ संबंध होने के नाते, उपाधिकृत भोग, केवल उस अंश में ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि-सारी उपाधियों का अदृष्ट परमात्मा से आत्मीय संबंध है, इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में भी उनका होना संभव है ।

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ।२।३।५१॥

अदृष्ट हेतुभूताभिसंध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियमएव ।

इसी प्रकार अदृष्ट हेतुभूत अभिषन्धि आदि में भी अनियम ही होगा (अर्थात् "एकोऽहं वहुस्या" इत्यादि ब्रह्माभिषंधि, जीव से संबंधित हो जायगी)

प्रदेशभेदादितिचेन्नान्तभावात् ।२।३।५२॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानर्हं नानाविधोपाधिभिः संबंध्यते-तथाप्युपाधिसंबंधिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोगव्यवस्थेति चेत्-तन्न-उपाधीनां तत्र तत्र गमनात् सर्वं प्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावात् व्यतिकरस्तदवस्थ एव । प्रदेशभेदेन संबंधेऽपि सर्वस्यब्रह्मप्रदेशत्वात्तत्तत्प्रदेशसंबंधि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात् । पूर्वत्र "नित्योपलब्धिअनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा" "उपलब्धिवदनियमः" इत्याभ्यां सूत्राभ्यां भेदवादिनां सर्वगत जीववादिनां दोष उक्तः, अत्र तु "आभास एव च" इत्यादिभिः सूत्रैः भेदाथलंविनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते ।

ankurnagpal108@gmail.com

यद्यपि ब्रह्म स्वरूपत: एक तथा उपाधि संबंध होते हुए भी अविभक्त ही है, फिर भी उपाधियों के साथ, ब्रम्र के विभिन्नांशों का संबंध होने से भोग व्यवस्था अवश्य ही होगी। ऐसा नहीं है-कि जो जो उपाधियाँ हैं वे सब परमात्मा की अंश होने से एक ही हैं ठीक है; ब्रह्मांश के दोषों का, इसी नाते ब्रह्म में भी संश्लेष हो ही जायगा अंशों के दु:ख ब्रह्म के ही दु:ख माने जावेंगे। "नित्योपलब्ध्युपलब्धि" "उपलब्धिवदनियम:" इत्यादि दोनों सूत्रों से वेदबाह्य सर्वगत जीव वादी कपिल आदि मतों का दोष बतला चुके हैं। यहाँ "आभास एव च "इत्यादि सूत्रों से वेदावलंबी अद्वैत वादियों का दोष बतलाया गया।

॥ द्वितीय अध्याय तृतीयपाद समाप्त ॥

ankurnagpal108@gmail.com

[द्वितीय अध्याय]

[चतुर्थ–पाद]

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणः—

तथा प्राणाः ।२।४।१॥

ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुक्तायां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता, तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपंशोधितम् । संप्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादि प्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत् उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ?

ब्रह्म से भिन्न समस्त आकाशादि पदार्थों की कार्यरूप से उत्पत्ति बतलाते हुए, जीव की कार्यरूप होते हुए भी, अन्यथा भाव उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया। प्रसंग से ही जीव के स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया। अब जीव की उपकरणरूप इंद्रियों तथा प्राण की उत्पत्ति के प्रकार का विश्लेषण करते हैं। विचार करते हैं कि–इंद्रियों की कार्यता जीव की तरह है अथवा आकाश आदि की तरह है?

जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी "तथा प्राणाः" इति। प्राणा इंद्रियाणि यथा जीवो नोत्पद्यते तथा इन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यंते। कुतः? श्रुतेः यथा जीवस्यानुत्पत्तिः श्रुतेरवगम्यते तथा प्राणानामप्यनुत्पत्तिः श्रुतेरेव अवगम्यते । तथा प्राणा इति प्रमाणमप्यतिदिश्यते ।

उक्त विचार पर पूर्वपक्ष वाले, "तथा प्राणाः" सूत्र से जीव के समान कार्यता का समर्थन करते हैं। प्राणाः अर्थात् इन्द्रियां, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति है वैसे ही इन्द्रियों की भी है। श्रुतियों से ही इसका ज्ञान

ankurnagpal108@gmail.com

होता है, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति श्रुति से ज्ञात होती है, वैसे ही प्राणों की अनुत्पत्ति भी श्रुतियों से ही ज्ञात होती है। तथा प्राणाः से, शास्त्रीय प्रमाणों की ओर ही अतिदेश (इशारा) किया गया है।

का पुनरत्र श्रुतिः? 'असद् वा इदमग्रआसीत्तदाहुः कि तदासीदिति ऋषयो वावते अग्रे सदासीत् तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणावाव ऋषयः "इति जगदुत्पत्तेः प्रागिन्द्रियाणां सद्भावः श्रूयते। प्राणशब्दे बहुवचनादिंद्रियाण्येवेति निश्चीयते। न चेयं श्रुतिः वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" सैषाऽनस्तमिता देवतायद्वायु "इतिवच्चिरकालावस्थायित्वेन परिणेतुंशक्या" असद् वा इदमग्र आसीत्" इति कृत्स्नप्रपंचप्रलयवेलायामप्यवस्थिततत्व श्रवणात्। उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति।

इस विषय की कौन सी श्रुति है? सो बतलाते हैं-कि-"सृष्टि के पूर्व यह जगत् अव्यक्त था, जिज्ञासा हुई कि-उस समय था क्या? ये सारे ऋषि थे, वे ऋषि कौन हैं? प्राण ही ऋषि हैं। "इस श्रुति में जगत् उत्पत्ति के पूर्व, इंद्रियों का अस्तित्व सुना जाता है। प्राण शब्द के बहुवचन के प्रयोग से, इंद्रियों का अर्थ निश्चित होता है। "वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं "ज्ञात होता है कि वायु अविनाशी देवता है "इत्यादि श्रुतियों की तरह उक्त श्रुति का चिरस्थायित्व अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि-"सृष्टि के पूर्व यह सब अव्यक्त था इत्यादि से समस्त जगत के प्रलय काल में भी, प्राणों की उपस्थिति इसमें बतलाई गई है। प्राणों की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों को, जीवोत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों के अनुसार ही मानना चाहिए।

सिद्धान्ता-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वियदादिवदेव प्राणाश्चोत्पद्यंते, कुतः? "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् "इत्यादिषु प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात्" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इतीन्द्रियाणामुत्पत्ति श्रवणाच्च प्रागवस्थानासंभवात्।

ankurnagpal108@gmail.com

नचात्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रियोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः, आत्मवदुत्पत्ति प्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वे श्रुतीनां चादर्शनात्।

उक्त पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि–आकाश आदि की तरह प्राणों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा "हे सौम्य। सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत् ही का ! आत्मा ही एकमात्र का ! इत्यादि सृष्टि के पूर्व एक ही वस्तु की सत्ता के वर्णन से ही, निश्चित होता है। तथा "इसी से प्राण, मन और इंद्रियाँ हुई" इत्यादि में स्पष्ट रूप से बतलाई गई श्रुतियों की उत्पत्ति के वर्णन से भी, ऐसा ही निश्चित होता है कि–इंद्रियाँ सृष्टि के पूर्व नहीं थीं। जीवोत्पत्ति की प्रतिपादक श्रुतियों की तरह, इंद्रियों की उत्पत्ति प्रतिपादिका श्रुतियों का तात्पर्य हो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि–आत्मा की तरह इन्द्रियों की उत्पत्ति और नित्यता को बतलाने वाली, एक भी श्रुति नहीं मिलती।

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते। "सर्वाणि ह्वा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इति प्राणशब्दस्य परमात्म्यपि प्रसिद्धेः। "प्राणा वा ऋषयः" इति ऋषि शब्दश्च सर्वज्ञे तस्मिन्नेव युज्यते। न स्वचेतनेष्विद्रियेषु।

"असत् वा" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य में भी प्राण शब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है। "ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं तथा प्राणों से ही निर्गमन करते हैं" इत्यादि वाक्य में प्राण शब्द का, परमात्मा अर्थ ही प्रसिद्ध है। "प्राणा वा ऋषयः" में कहे ऋषि शब्द से भी, सर्वज्ञ उसपरमात्मा का अर्थ करना ही युक्ति संगत होगा। अचेतन इन्द्रिय परक अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है।

ऋषयः प्राणाः, इति बहुवचन श्रुतिः कथमुपपद्यत इति चेत् तत्राह—

ऋषयः प्राणाः इस बहुवचनांत श्रुति की संगति कैसे होगी? इस संशय का उत्तर देते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

गौण्य संभवात्तत्प्राक् छुतेश्च ।२।४।२॥

वहुवचन श्रुतिर्गौणी, वह्वर्थासंभवात् तस्यैवपरमात्मनः सृष्टेः प्रागवस्थानुश्रुतेरेव ।

ब्रह्म के लिऐ वहुवचन का प्रयोग असंभव है, इसलिए वहुवचन का प्रयोग गौण मानना चाहिए, परमात्मा की सृष्टि-पूर्विका स्थिति को बतलाने वाली ' सोम्येदमग्र" इत्यादि श्रुति से ही ऐसा निश्चित होता है। वही प्रधान श्रुति है ।

तत्पूवकत्वाद्वाचः ।२।४।३॥

इतश्च प्राणशव्दः परमात्मावचनः, वाचः परमात्मव्यतिरिक्त विषयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतवियदादिसृष्टि पूर्वकत्वात् । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावात्तदानीं वागादीन्द्रिय कार्याभावाचतानि न संतीत्यर्थः ।

इसलिए भी प्राण शब्द परमात्मा वाची है कि—परमात्मा से भिन्न आकाश आदि की सृष्टि के बाद ही, उनका नाम करण हुआ है (इससे यह सिद्ध होता है कि-प्राण शव्द का इंद्रिय परक नाम भी बाद में ही पड़ा है) "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, वही, नामरूप वाला हुआ "इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि-सृष्टि के पूर्व नाम रूप वाला कुछ नहीं था, वागादि इंद्रियों के कार्य का भी अभाव था, इसलिए वो नहीं थीं ।

२. सप्तगत्याधिकरणः—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।४॥

तानि इंद्रियाणि किं सप्तैव स्युः, उत एकादशेति ? चिन्त्यते । श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः। किं प्राप्तम् ? सप्तेति । कुतः ? गतेर्विशेषितत्वाच्च । गतिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन न जीवेन

ankurnagpal108@gmail.com

सह लोकेषु संचरण रूपा सप्तानामेवश्रूयते "सप्त इमे लोका येषु चरंति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त इति"। वीप्सा पुरुष भेदाभिप्राया विशेषिताश्चते गतिमंतः प्राणाः स्वरूपतः" यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्" इति । शरीरान्तः संचरणं विहाय मोक्षार्थ-गमनं परमा गति । एवं जीवेन सह जन्म मरणयोः सप्तानामेव गति श्रवणात् योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणबुद्धिर्मनांसि सप्तैवेति गम्यते । यानि त्वितराणि विषयाणां ग्राहकत्वेन "अष्टौ ग्रहाः" सप्तवै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववांचौ" इत्यादिषु चतुर्दश पर्यन्तानि प्राण प्रतिपादक वाक्येषु वाक्याणिपादपायूपस्थाहंकारचित्ताख्यानि इन्द्रियाणि प्रतीयंते, तेषां जीवेन सह गतिश्रवणाभावज्जीवस्याल्पापकारकत्व-मात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः ।

इन्द्रियाँ सात हैं या ग्यारह ? इस पर विचार करते हैं-श्रुतियों में दोनों मतों का उल्लेख है इसलिए संशय होता है। गति और विशेषोक्ति से तो सात ही प्रतीत होती हैं । जायमान और म्रियमाण जीव के साथ लोकों में भ्रमण करने वाली सात का ही वर्णन मिलता है- जैसे कि-"ये सात लोक (इन्द्रियों के सात द्वार उसी से उत्पन्न होते हैं) जिनमें प्राण विचरते हैं, हृदय की गुहा में शयन करने वाले ये, सात सात के समुदाय सभी में स्थित हैं । भिन्न भिन्न अर्थ के द्योतन के लिए, सप्त पद की वीप्सा की गई है । जब, ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर होकर बुद्धि को भी स्थिर करती हैं, उसे ही योगी लोग, परमगति कहते हैं । इस प्रकार गति शील प्राणों का स्वरूप, विशेष रुप से बतलाया गया है। परम गति का अर्थ है, शरीर के अंदर संचरण का परित्याग करते हुए, मोक्ष की ओर अभिमुख होना । ऐसे मुमुक्षु जीव के साथ सातों की गति सुनी जाती है । "ज्ञानानि" विशेषण होने से कर्ण' त्वक्, चक्षु- जिह्वा, घ्राण, बुद्धि, मन आदि सात की ही, योग दशा में स्थिति रहती है ऐसा

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतीत होता है, अर्थात् ये सात ही जीव की क्रिया साधिका हैं। "इसके अतिरिक्त और जो प्राण प्रतिपादक आठ ग्रह हैं, उनमें सात शीर्ष स्थानीय, दो अधो स्थानीय हैं" इत्यादि वाक्यों में चौदह इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, जिससे. वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, अहंकार और चित्त इत्यादि सात का भी इन्द्रियत्व ज्ञात होता है, किन्तु इन सब की जीव के साथगति का उल्लेख नहीं मिलता। जीव की, बहुत अल्प परिमाण में साधिका होने से, इन सबका भी गौण रूप से, प्राणशब्द से व्यवहार किया गया है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।५।।

न सप्तैवेन्द्रियाणि, अपित्वेकादश, हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवे, तस्यभोगोपकरत्वात्, कार्यभेदाच्च। दृश्यते हिश्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि कार्य भेद आदानादिः, अतस्तेऽपि संत्येव। अतो नैवम्-अतो हस्तादयो न संतीत्येवं न मंतव्यामित्यर्थः। अध्यवसायाभिमान चिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्धयहंकार चित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत, इत्येकादशेन्द्रियाणि। अतः "दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः "इति आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते। इन्द्रियाणिशैकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः" तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवावैकारिका दश, एकादशंमनश्चात्र "इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रिय संख्या स्थिता। अधिक संख्यावादाः, मनोवृत्तिभेदाभिप्रायाः न्यूनव्यपदेशास्तु तत्र तत्र विवक्षितगमनादिकार्य विशेष प्रयुक्ताः।

सात ही इन्द्रिया नहीं हैं, अपितु ग्यारह हैं हस्त आदि इन्द्रियां भी शरीर में स्थित जीव के भोग का कार्य संपादन करती हैं, ज्ञान इन्द्रियों से इनके कार्य में भी भेद रहता है। कान आदि इन्द्रियों की तरह हाथ आदि इन्द्रियाँ भी, पकड़ना आदि कोई न कोई उपयोगी कार्य करती हैं। हाथ आदि नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अध्यवसाय (निश्चय)

ankurnagpal108@gmail.com

अभिमान और चिन्तन आदि वृत्तियों के भेद से, मन ही- बुद्धि, अहंकार और चित्त नाम से व्यवहृत होता है। इसलिए इन्द्रियाँ ग्यारह ही हैं। "जीव में दश प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा है "इस वाक्य में आत्मा शब्द मन के लिये प्रयोग किया गया है। "इन्द्रियाँ दस और एक ग्यारह हैं, और इन्द्रियों के पांच विषय हैं" इन्द्रियों को तैजस (राजस) कहा गया है, उनके अधिष्ठाता दस देवताओं को वैकारिक (सात्विक) कहा गया है, मन ग्यारहवाँ है" इत्यादि श्रुतिस्मति वाक्यों से इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही निश्चित होती है अधिक संख्या बतलाने वाले वाक्य, मनोवृत्ति के बोधक हैं तथा कम संख्या बतलाने वाले वाक्य, गमन आदि कार्य भेद के बोधक हैं।

३. प्राणाऽणुत्वाधिकरण—

अणवश्च ।२।४।६।।

"त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनंताः" इत्यानंत्य श्रवणाद्-विभुत्वं प्राणानाम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते" प्राणमनूत्क्रांतं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामति "इत्युत्क्रांत्यादि श्रवणात् परिमितत्वे सिद्धे सत्युत् क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः। आनंत्ये श्रुतिस्तु" अथ यो हैतानंतानुपास्ते" इत्युपासन श्रवणादुपास्य प्राण विशेषण भूत कार्य बाहुल्याभिप्रायाः।

"ये इन्द्रियाँ सभी समान और अनंत हैं" इत्यादि में इन्द्रियों की अनंतता बतलाई गई है, इसलिए, ये इन्द्रियाँ विभु हैं। इस संशय पर अपना मत बतलाते हैं कि-" प्राण पर अनुगमन करने पर सारे ही प्राण अनुगमन करते हैं "ऐसे उत्क्रांति के वर्णन से इनकी परिमिति सिद्ध होती है, निकट में उपस्थित व्यक्ति भी इनकी उत्क्रांति आदि को नहीं जान पाते इसलिये ये अणु ही हैं अनंतता को बतलाने वाली श्रुति "जो इन अनंत प्राणों की उपासना करते हैं" इत्यादि से उपासना विधान बतलाया है, इसीलिए उपास्य प्राण में श्रेष्ठता सूचक बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

श्रेष्ठश्च ।२।४।७।।

प्राण संवादे शरीरस्थिति हेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्य प्राणः "आनीदवातं स्वधया तदेकं "इति महाप्रलय समयेस्वकार्यभूत प्राणन सद्भाव श्रवणात् "एतस्माज्जायते" इति जन्मश्रवणस्य जीवजन्मश्रवणवदुपपत्तेर्नोत्पद्यत इत्याशंक्य प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादि विरोधात् "एतस्माज्जायते प्राणः "इति पृथिव्यादितुल्योत्तपति श्रवणात्, उत्पत्ति निषेधाभावाच्च, जायत एवश्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते। "आनीदवातम्" इति तु न जैवं श्रेष्ठम् प्राणमभिप्रेत्योच्यते, अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते। "अवातम्" इति तत्रैव श्रवणात्। पुर्वेणैवतुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग् योगिकरणमुत्तरचिन्तार्थम्।

छांदोग्य में प्राण संवाद के प्रस्ताव में, पंचवृत्ति विशिष्ट मुख्य प्राण ही, शरीर स्थिति के श्रेष्ठ कारण बतलाये गए हैं। "वायुहीन स्वधा सहित एक प्राण ही था" इस वाक्य में महा प्रलय के समय भी मुख्य प्राण का अस्तितव माना गया है। अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि प्राणोत्पत्ति बोधक श्रुति को भी जीवोत्पत्ति श्रुति की तरह गौणार्थ कह सकते हैं-इस पर कहते हैं कि-श्रेष्ठ प्राण निश्चित ही उत्पन्न होता है-ऐसा न मानने से सृष्टि पूर्व की अद्वैतस्थिति से विरोध होता है।"एतस्माज्जायते" इत्यादि श्रुति पृथ्वी आदि द्रव्यों की तरह, प्राण की उत्पत्ति का भी कथन करती है, उत्पत्ति के निषेधपरक वाक्यों का कहीं अभाव नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि–श्रेष्ठ प्राण की उत्पत्ति होती है। "आनीतवातम्" वाक्य श्रेष्ठ जीववाची प्राण का बोधक नहीं है, अपितु-एकमात्र परब्रह्म की विद्यमानता का द्योतक है। इसमें जो "अवातम्" विशेषण दिया गया है, वही उक्त बात की पुष्टि करता है। [क्योंकि–प्राण तो वायुरूप ही है]।

४ वायुक्रियाधिकरणः—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।८।।

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महाभूतद्वितीयवायुमात्रम्, तस्य

ankurnagpal108@gmail.com

वा स्पंदनरूपक्रिया, अथवा वायुरेव कंचन विशेषमापन्नः, इति विशये वायुरेवेति प्राप्तम् "यः प्राणः स वायुः" इति व्यपदेशात् । यद् वा वायुमात्रे प्राणत्व प्रसिद्ध य भावादुच्छ्वासनिश्वासादि वायुक्रियायां प्राणशब्द प्रसिद्धेश्च तत् क्रियैव ।

वह श्रेष्ठ प्राण, पंचभूतों में द्वितीय स्थानीय वायुमात्र है, अथवा वायु की स्पंदनात्मक क्रियामात्र है, अथवा अन्य किसी प्रकार की वायु की अवस्था विशेष है? इस संशय पर-वायु ही है ऐसा "जो वायु है वही प्राण है" इत्यादि से निश्चित होता है । अथवा-केवल वायु को ही, प्राण कहा नहीं गया है अपितुश्वास-प्रश्वास रूप क्रिया को प्राण कहा गया है, इसलिए प्राण शब्द उक्त क्रिया विशेष का ही वाचक है ।

सिद्धान्तः-इति प्राणेन-वायुमात्रम्, न च तत्क्रियेत्युच्यते, कुतः? पृथगुपदेशात्-"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः" इति तत् एव पृथगुपदेशात् वायुक्रियापि न भवति प्राणः, न हि तेजः प्रभृतीनां क्रिया तैः सहप्रथग् दृव्यतयापदिश्यते "यः प्राणः सः वायुः" इति तु वायूरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः न तेजः प्रभृतिवत्तत्वान्तरमितिज्ञापनार्थम्। उच्छ्वासविश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति द्रव्य एव प्राण शब्द प्रसिद्धिः, एव न क्रियामात्रे ।

इस पर कहते हैं कि-न वायुमात्र ही है, उसकी न क्रिया ही है, क्योंकि-प्राण और वायु दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है-"इससे प्राण, मन, इन्द्रियां ख और आकाश होते हैं "इत्यादि में प्राण और वायु का पृथक् पृथक् स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए वायु या वायु की क्रिया रूप प्राण नहीं है । तेज आदि की क्रियाओं का कहीं पृथक् उल्लेख मिलता भी नहीं । "जो प्राण है, वही वायु है" इत्यादि में दिखलाया गया है कि-वायु ही भिन्न अवस्था को प्राप्त प्राण है, तेज आदि की तरह, प्राण कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, इसी बात के ज्ञापन के लिए ही ऐसा कहा गया है । उच्छ्वास प्रश्वास में भी "प्राण स्पंदन करते हैं "ऐसे क्रियावान् द्रव्य की ही, प्राण शब्द से प्रसिद्धि बतलाई गई है, क्रियामात्र की नहीं ।

ankurnagpal108@gmail.com

किमयं प्राणो वायोर्विकारः सन्नग्निवद्भूतान्तरम्? नेत्याह–

यह प्राण, वायु का विकार रूप से अग्नि की तरह एक स्वतंत्र भूत नहीं हो सकता इसको बतलाते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।२।४।९।।

नायं भूतविशेषः, अपितु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः। तच्चोपकरणत्वमुपकरणभूतैरिन्द्रियैः सह शिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते। चक्षुरादिभिस्सहायं प्राणः शिष्यते, प्राणसंवादादिषु तत् सजातीयत्वे हि तैः सहशासनं युज्यते। प्राणशब्द परिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्दे गृह्यते "अथह य एवायं मुख्य प्राणः" योऽयंमध्यमः प्राणः इत्यादिषु विशिष्याभिधानात्।

यह प्राण, भूत-विशेष वायु नहीं है। अपितु नेत्र आदि की तरह जीव का उपकरण विशेष है। उपकरण भूत इन्द्रियों के साथ इसकी भी उपकरणता, शास्त्रोपदेशों से ही ज्ञात होती है। प्राण संवाद आदि प्रकरण में, नेत्र आदि के साथ ही, इस प्राण का भी एक साथ उल्लेख किया गया है, इन्द्रियों का सजातीय होने से, इसका एक साथ उल्लेख होना उपयुक्त भी है। प्राण शब्द से कही जाने वाली इन्द्रियों में इसका विशिष्ट स्थान है, यही सूत्रस्थ आदि शब्द का तात्पर्य है। "यही मुख्य प्राण है" यही मध्यम प्राण है" इत्यादि वाक्यों में, विशिष्ट रूप से इसका उल्लेख मिलता है।

चक्षुरादिवदस्यापिकरणत्वे तद्वदस्यापि जीवं प्रत्युपकार विशेषरूप क्रियाया भवितव्यम्। सातु न दृश्यते, अतो नायं चक्षुरादिवद् भवितुमर्हतीति चेत्–तत्राह–

यदि कहो कि– नेत्र आदि की तरह, इसे भी कारण नहीं मान सकते, क्यों कि–जीव के लिए, नेत्र आदि से जो विशेष विशेष उपकार रूप क्रियायें होती हैं, वो प्राण में तो पाई नहीं जातीं, इसलिए प्राण कभी नेत्र आदि की तरह, उपकरण नहीं हो सकता। इस पर कहते हैं

ankurnagpal108@gmail.com

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।२।४।१०।।

अकरणत्वात्-करणं क्रिया, अक्रियत्वात् अस्य प्राणस्य जीवं प्रत्युपकार विशेषरूपक्रिया रहितत्वाच्च यो दोष उद्‌भाव्यते, स नास्ति, यत् उपकारविशेषरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति श्रुतिः "यस्मिनुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः श्रेष्ठः" इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेऽपि शरीरस्येन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानात् । अतः प्राणापानव्यानोदानसमानाकारेण पंचधाऽवस्थितोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीवस्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्वकरणत्वम् ।

कारण का अर्थ क्रिया हैं, क्रिया राहित्य ही इसका हेतु है, अर्थात् जीव के प्रति, इस मुख्य प्राण की, किसी प्रकार की उपकरण साधन रूप क्रिया नहीं होती, जो यह दोषारोपण किया जाता है, यह आरोप ठीक नहीं, क्यों कि-श्रुति ही शरीर और इन्द्रियों को धारण करना आदि, प्राणकृत, उपकार विशेषों का उल्लेख करती है -" जिसके निकल जाने पर यह शरीर अतिपापी की तरह दीखने लगता है, वह श्रेष्ठ प्राण ही है "ऐसा कह कर वाक् आदि इन्द्रियों के उत्क्रमण करने पर भी शरीर की अवस्थिति बतलाकर, प्राणोत्क्रमण करने पर ही शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता बतलाई गई है। इसलिए, प्राण अपान-उदान-व्यान समान आदि पांच रूपों में विभक्त यह प्राण, शरीर इन्द्रिय आदि को धारण पोषण करने वाला, नेत्र आदि की तरह ही उपकारी साधन है।

नन्वेवं नामभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणापानादयः तत्त्वान्तराणि स्युः, तत्राह-

नामगत एवं कार्यगत भेद होने से, प्राण आदि पांचों पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं ? इस संयश पर कहते हैं-

पंचवृत्तिर्मनोवद्‌व्यपदिश्यते ।२।४।११।।

यथा कामादि वृत्ति भेदे तत्कार्यभेदेऽपि न कामादिकं मनसः तत्त्वान्तरं "कामःसंकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-

ankurnagpal108@gmail.com

रित्येतत्सर्वं मन एव' इति वचनात् । एवं "प्राणापानोदान-व्यानसमाना. इत्येतत सर्वं प्राण एव" इति वचनात् अपानादयोऽपि प्राणस्यैव वृत्ति विशेषाः न तत्त्वांतरमित्यवगम्यते ।

जैसे कि-कामादिवृत्तियों के भेद होने से, काम आदि, मन से पृथक् नहीं माने जाते "काम-सकल्प-विचिकित्सा-श्रद्धा-अश्रद्धा-धृति-अधृति ह्री-धी-भी-आदि सभी मन हैं" इत्यादि से ऐसा ज्ञान होता है। वैसे ही—"प्राण-अपान-उदान-व्यान-समान आदि सब प्राण ही हैं" इत्यादि से अपान आदि सभी, प्राण की ही वृत्ति सिद्ध होते हैं, भिन्न नहीं ज्ञात होते ।

अणुश्च ।२।४।१२।।

अणुश्चायम् पूर्ववदुत्क्रांत्यादि श्रवणात् "तमुत्क्रामंते प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादिषु । अधिकाशंका तु "समएभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" सर्वं हीदं प्राणेनावृतम् इत्यादि श्रवणात् महापरिमाण इति ।

ये प्राण भी अणु परिमाण वाला है, पूर्व की तरह इसके भी उत्क्रमण का वर्णन मिलता है " उस जीवात्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं" इत्यादि । विशेष शंका ये होती है कि " प्राण, इस त्रिलोकी के समान हैं, और सबके समान हैं' "प्राणों में ही सब स्थिति" है ये सब कुछ प्राण से ही आवृत है, इत्यादि श्रुतियों से तो, प्राण, महा परिमाण का प्रतीत होता है ।

(सिद्धांत) परिहारस्तु- उत्क्रांत्यादिश्रवणात् परिच्छिन्नत्वे निश्चिते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादोपपत्तिः इति

उक्त शंका का परिहार करते हैं कि-उत्क्रमण आदि से प्राण की परिमिति निश्चित हो जाती है, प्राणिमात्र की स्थिति प्राणाधीन है, इस तथ्य को बतलाने के लिए ही प्राण की प्रभुता बतलाई गई है ।

ankurnagpal108@gmail.com

६ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण :—

ज्योतिराद्यधिष्ठानंतु तदामननात्प्राणवता शब्दात् ।२।४।१३।।

सर्वश्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मउत्पत्ति इयत्ता परिमाणं चोक्तम् । तेषां प्राणानामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव । "अभिमानव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इत्यनेन सूत्रेण प्रसंगादुपपादितम्, जीवस्य च स्वभोगसाधनानामेषामधिष्ठातृत्वं लोकसिद्धम् "एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामंपरिवर्तते" इत्यादि श्रुति सिद्धञ्च । तदिदं जीवस्य अग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं उत परमात्मवत्वमिति? विशये नैरपेक्ष्यात्-स्वायत्तम् ।

मुख्य प्राण सहित समस्त प्राणों की उत्पत्ति ब्रह्म से बतला कर उनका परिमाण निश्चित किया गया । उन प्राणों की अग्निआदि देवताओं से अधिष्ठातृता भी "अभिमान व्यपदेशस्तु" सूत्र से प्रसंगतः बतलाई गई । इन प्राणों की, जीवाधिष्ठातृता तो, भोग साधन रूप से लोक व्यवहार में प्रसिद्ध ही है तथा "यह जीव इन प्राणों के आश्रय से अपने शरीर में यथेष्ट भोगों की अनुभूति करता है" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है । इस जीव का अग्निआदि देवताओं का जो प्राणविषयक अधिष्ठान हैं, वह स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? इस विषय में कहते हैं कि-जीव को अपने यथेष्ट भोगों में परमात्मा की अपेक्षा दृष्टिगत नहीं होती, इसलिए स्वायत्त ही है ।

सिद्धान्तः—इति—प्राप्ते—उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति । प्राणवता जीवेन सह, ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं, तदामननात् तस्य परमात्मनः, आमननाद् भवति । आमननं आभिमुख्येन मननं, परमात्मनः संकल्पादेव भवतीत्यर्थः । कुतएतत्? शब्दात—इंद्रियाणां साभिमानदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परम पुरुषमननायत्तत्व शास्त्रात् ।

ankurnagpal108@gmail.com

यथान्तर्यामिब्राह्मणादिषु "योऽग्नौ तिष्ठन् अग्नेरन्तरो यमग्निर्नवेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमंतरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृत." यो वायौ तिष्ठन्" यो आदित्येतिष्ठन्" यो आत्मनितिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि। यथा च—"भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः "इति। तथा- "एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि। सूर्याचंद्रमसी विधृतौः तिष्ठतः" "इत्यादि।

उक्त संशय पर कहते कि– प्राणवान जीव के साथ, ज्योति आदि देवताओं का जो प्राण विषयक अधिष्ठान है, वह परमात्मा के आमनन से होता है। अभिमुख्य मनन को आमनन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के संकल्प से होता है, ऐसा शास्त्र से ही ज्ञात होता है। इंद्रिय और इंद्रियाभिमानी देवताओं तथा जीवात्मा के अपने अपने कार्यों में परमपुरुष परमात्मा की, इच्छा शक्ति की ही प्रेरणा रहती है, ऐसा शास्त्र का मत है। जैसा कि–अन्तर्यामी ब्राह्मणादि का वचन है–"जो अग्नि में स्थित होकर भी अग्नि से भिन्न हैं, अग्नि उन्हे नहीं जानता, अग्नि ही उसका शरीर है, वे अग्नि का अंतर्यामी रूप से शासन करते हैं वे अंतर्यामी परमात्मा अमृत है" जो वायु में स्थित "जो सूर्य में स्थित "जो आत्मा में स्थित" जो नेत्रों में स्थित" इत्यादि। और भी जैसे–"इनके भय से वायु चलता है, इनके भय से सूर्य उदय होता है, इनके भय से अग्नि, चंद्र और पांचवा मृत्यु भी दौड़ता है" तथा–"हे गार्गी! इसके प्रशासन में सूर्य और चंद्र स्थिर हैं। इत्यादि।

तस्य च नित्यत्वात्।२।४।१४॥

सर्वेषां परमात्माऽधिष्ठितत्त्वस्य नित्यत्वात् स्वरूपानुबंधित्वेन नियतत्वाच्च तत्संकल्पादेवैषामधिष्ठितृत्वमवर्जनीयम्। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादिना परमपुरुषस्य नियंतृत्वेन सर्वंचिदचिद्वस्तुअनुप्रवेशः स्वरूपानुबंधी

ankurnagpal108@gmail.com

श्रूयते, स्मर्यते च–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति ।

सभी का परमात्मा के साथ जो अधिष्ठान है, वह नित्य है, अर्थात् परमात्मा जीवात्मा आदि के अंतःकरण में निश्चित स्थित हैं, तथा उन्हीं के संकल्प से सारा कार्य जीवादि कर पाते हैं, इससे परमात्मा का अधिष्ठान अनिवार्य सिद्ध होता है । "उसकी रचना कर उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हुए" इत्यादि वाक्यों में, परम पुरुष से नियंतृत समस्त जड़चेतन में अनुप्रवेश स्वरूपानुबंधी (वास्तविक रूप से अभिन्न रूपवाला) कहा गया है । जैसा कि– स्मृति में भी–"मैं एकांश से सारे जगत में परिव्याप्त हूँ । इत्यादि,

७ इन्द्रियाधिकरणः—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१५।।

किं सर्वं प्राण शब्दनिर्दिष्टा इद्रियाणि, उत श्रेष्ठ प्राणव्यतिरिक्ता एवेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात्, करणत्वाच्च सर्वं एवेन्द्रियाणि ।

एवं प्राप्ते उच्यते-श्रेष्ठ व्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि कुतः? श्रेष्ठादन्येष्वेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात्–"इंद्रियाणि दशैकं च पंचचेंद्रिय गोचराः" इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इंद्रियशब्दो व्यपदिश्यते ।

शंका की जाती है कि-सारे ही प्राण इन्द्रियवाची हैं अथवा श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त अन्य प्राण इन्द्रिय वाची हैं? इस पर कहते हैं कि–सभी प्राण इंद्रियवाची हैं भोग के साधन होने से ये इन्द्रियवाची हैं ।

इसका समाधान करते हैं कि—श्रेष्ठ प्राण से अतिरिक्त प्राण ही इंद्रियवाची हैं, श्रेष्ठ से अन्य प्राणों के लिए ही, इन्द्रियरूप से उल्लेख मिलता है-"इन्द्रियाँ ग्यारह हैं तथा पांच उनके विषय हैं" इत्यादि वाक्यों में चक्षु आदि दस और मन को ही इंद्रिय कहा गया है ।

ankurnagpal108@gmail.com

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।२।४।१६॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य पृथक् श्रवणात् प्राणव्यतिरिक्तानामेवेन्द्रियत्वमवगम्यते। मनसः पृथक् श्रवणेऽपि तस्यान्यत्रेन्द्रियान्तर्भाव उक्तः "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि "इत्यादौ। वैलक्षण्यं च चक्षुरादिभ्यः श्रेष्ठ प्राणस्योपलभ्यते, सुषुप्तौ हि प्राणस्य वृत्तिरुपलभ्यते, चक्षुरादीनां तु वृत्तिर्नोपलभ्यते। कार्यं च चक्षुर्वागादीनां समनस्कानां ज्ञानकर्मं साधनत्वम्, प्राणस्य तु शरीरेन्द्रियधारणम्, प्राणाधीनधारणत्वात् इन्द्रियेषु प्राणशब्दव्यपदेशः तया च श्रुतिः-"त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायंते" इति। रूपमभवन्-शरीरमभवन्-तदधीन प्रवृत्तयोऽभवन्नित्यर्थः।

"इस परमात्मा से, प्राण–मन और इंद्रियाँ हुईं," इत्यादि में इन्द्रियों और प्राण का पृथक् उल्लेख है, जिससे कि–प्राण भिन्न इन्द्रियता की प्रतीति होती है। उक्त वाक्य में मन का भी पृथक् रूप से उल्लेख है पर "मनः षष्ठेन्द्रियाणि" इत्यादि वाक्य में मन की इन्द्रियों में ही गणना कर दी गई है इससे वह पृथक् नहीं सिद्ध होता। इन्द्रियों से प्राण की विलक्षणता भी पाई जाती है, सुषुप्तावस्था में श्वास प्रश्वास के रूप में प्राण की वृत्ति पाई जाती है पर इन्द्रियों की वृत्ति नहीं पाई जाती, तथा –नेत्रादि मन सहित इन्द्रियाँ, ज्ञान कर्म का साधन करती और प्राण शरीर इंद्रियों को धारण करता है। प्राणाधीन धारकता होने से ही, इन्द्रियों में प्राण शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा ही श्रुति का वचन है–"वे इन्द्रियाँ, प्राण स्वरूप हैं, इसीलिए इनमें प्राण शब्द का प्रयोग होता है।" रूप होने का तात्पर्य है–शरीरस्थानीय होना, अर्थात् मुख्य प्राण के अधीन ही इन सबकी प्रवृत्ति होती है।

८ संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरण—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात् ।२।४।१७॥

भूतेन्द्रियादीनां समष्टिसृष्टिः, जीवानां कर्तृत्वं च परस्माद्

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मणः, इत्युक्तं पुरस्तात् । जीवानां स्वेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमितिचानंतरं स्थिरीकरणाय स्मारितम् । यात्वियं नामरूपव्याकरणात्मिकाप्रपंचव्यष्टिसृष्टिः, सा किं समष्टि जीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत्तेजः प्रभृतिशरीरकस्य परस्याबादिसृष्टिवद् हिरण्यगर्भशरीकस्य परस्य ब्रह्मणः? इदानीं चिन्त्यते ।

भूतों और इंद्रियों की समष्टि सृष्टि तथा जीवों का कर्त्तृत्व परमात्मा के अधीन है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं । जीवों की अपनी इन्द्रियों की अधिष्ठातृता भी परमात्मायत्त है, इसे बतलाते हुए पुनः उक्त मत को ही दृढ़ किया गया । अब विचार किया जाता है कि—जो यह नामरूपवाली प्रपंच व्यष्टि सृष्टि हैं, वह समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की कृति है, अथवा हिरण्यगर्भ के शरीरी परमात्मा की सृष्टि है?

किं युक्तम्? समष्टि जीवस्येति, कुतः? "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि" इति जीवकर्त्तृत्वश्रवणात्, न हि परादेवता स्वेनरूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैक्षत, अपितुस्वांशभूतेन जीवरूपेण "अनेन जीवेनाऽत्मना" इति वचनात् ।

उक्त संशय पर, समष्टि जीव का ही कर्त्तृत्व समझ में आता है, क्योंकि—"जीव रूप से प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" इस श्रुति में जीव कर्त्तृत्व ही प्रतीत होता है । परमात्मा स्वयं ही नामरूप में व्यक्त होने की इच्छा नहीं कर सकते, अपितु अपने अंश रूप जीव से ही, इच्छा करते हैं, ऐसा "अनेन जीवेनात्मना" पद से परिलक्षित हो रहा है ।

नन्वेवं चारेणानुप्रविश्य परबलं संकलयानीतिवत् "व्याकरवाणि"इत्युत्तमपुरुषः कर्त्तृस्थ क्रियश्च प्रविशति लाक्षणिकः स्यात् । नैवम्—तत्रराजचारयोः स्वरूपभेदालाक्षणिकत्वं, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपस्वात्तेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न लाक्षणिकत्वप्रसंगः । न च सहयोगलक्षणेयं तृतीया,

ankurnagpal108@gmail.com

कारकविभक्तौ संभवन्त्यामुपपदविभक्तेरन्याय्यत्वात् । न च करणे तृतीया, ब्रह्मकर्तृकयोः प्रवेशव्याकरणयोर्जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। न च जीवस्य कर्त्तृत्वं प्रवेशमात्रे पर्यवस्यति। नामरूपव्याकरणं तु ब्रह्मण एवेति शक्यवक्तुम्, क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्व प्रतीतेः। जीवस्व स्वांश वेन स्वरूपत्वेऽपि परस्वरूपव्यावृत्यर्थः "परेण जीवेन" इति परात्वेन परामर्शः। अतो हिरण्यगर्भं कर्तृकेयं नामरूपव्यक्रिया। अतएव च स्मृतिषु चतुर्मुखकर्तृक सृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याकरणं सकीर्त्यते—"नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपंच न वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इत्यादौ।

तर्क करते हैं कि-यदि ऐसा है तो-"गुप्तचर के रूप से घुसकर शत्रुओं की सेना की संख्या का संकलन करूँगा" इत्यादि लाक्षणिक वाक्य की तरह उक्त वाक्यगत "व्याकरवाणि" में जो, उत्तम पुरुष (अहं) का एवं कर्त्तृ निष्ठ "प्रविश" धातु का प्रयोग है वह भी लाक्षणिक हो जायेगा? ऐसा नहीं होगा, क्योंकि राजा और गुप्तचर में स्वरूप भेद होने से लाक्षणिकता है, पर उक्त वाक्य में तो, जीव के, अपने अंश स्वरूप होने से, उसके रूप से प्रवेश और व्यक्तीकरण अपना ही कहलावेगा। इसलिए इसमें लाक्षणिकता का प्रसंग ही नहीं है। यहाँ सहयोग लक्षण वाली तृतीया विभक्ति भी नहीं है जिससे कि-जीव के साथ ऐसा अर्थ किया जा सके। कारक विभक्ति (अभेद में तृतीया) के संभव होने पर उपपद विभक्ति (सहार्थ में तृतीया) की कल्पना करना व्याकरण नियम से अनुचित भी है। यहाँ करण निमित्तक तृतीया भी नहीं है, जिससे कि-"जीव के द्वारा" ऐसा अर्थ संभव हो। ब्रह्म कर्तृक प्रवेश और अभिव्यक्ति में, जीव में साधकता का अभाव है, इसलिए करण निमित्तक विभक्ति नहीं है। जीव का कर्तृत्व प्रवेश मात्र से ही पर्यवसित नहीं हो सकता, नामरूप की अभिव्यक्ति में ब्रह्म का ही कर्त्तृत्व हो सकता है। नामरूप की अभिव्यक्ति की शक्ति जीव में तो देखी नहीं जाती क्योंकि-"क्त्वा" प्रत्यय से दोनों कार्य एक के ही द्वारा संपन्न होते हैं, ऐसा निश्चित होता है। ब्रह्म का अंश होने से, जीव को ब्रह्म का अंश मान भी लिया जाय तो भी उसकी, परब्रह्मभाव निवृत्ति के लिए "अनेन जीवेन" से

ankurnagpal108@gmail.com

भिन्नता बतलाई गई है, इसलिए हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) कर्त्तृक ही यह नाम-रूप विक्रिया है ऐसा निश्चित होता है। जैसा कि-स्मृति में-चतुर्मुख कर्त्तृक सृष्टि प्रकरण में-नामरूप के व्याकरण का उल्लेख भी है-"हिरण्य-गर्भ ने सृष्टि के प्रथम वैदिक शब्दों के आधार पर देव आदि भूतों के नामरूप तथा कर्त्तव्य विधि सृष्टि की'; इत्यादि।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-"संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु" इति तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः, नामरूपव्याकरणम् तत् त्रिवृत् कुर्वतः, परस्यैवब्रह्मणः, तस्यैवनामरूपव्याकरणोपदेशात् त्रिवृत्करणं कुर्वत एव हि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते-"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रोदेवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति समानकर्त्तृकत्व प्रतीतेः। त्रिवृत् कारणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वर्त्तिनो न संभवति, त्रिवृत्कृतैः तेजोबन्नैर्हि अण्डमुत्पाद्यते, चतुर्मुखस्य चाण्डे संभवः स्मर्यते-"तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः" इति। अतस्त्रिवृत्करणं परस्यैवब्रह्मणः, तत्समानकर्त्तृकं नामरूप व्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते।

उक्त कथन पर सूत्र रूप से सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है-"संज्ञामूर्त्ति "इत्यादि। सूत्र में तु शब्द पूर्व पक्ष के निराकृति का सूचक है। संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति अर्थात् नामरूप का व्याकरण उसको त्रिवृत् करते हुए परब्रह्म से ही संभव है, उसी से नामरूप व्याकरण, त्रिवृत् करते हुए बतलाया गया है-"इस देवता ने संकल्प किया कि-जो यह तीन देवता हैं इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूँ और इन तीनों को तीन-तीन रूपों में व्यक्त करूँ" इत्यादि में परब्रह्म की ही समान कर्त्तृता बतलाई गई है। ब्रह्माण्ड से होने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा में त्रिवृत् करण की क्षमता नहीं है, त्रिवृत् कृत पृथ्वी जल और तेज से ही तो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, चतुर्मुख की अण्डोत्पत्ति स्मृति प्रसिद्ध है-"सबके पितामह ब्रह्मा उस ब्रह्माण्ड से हुए" इत्यादि से सिद्ध होता है कि-त्रिवृत् करण परब्रह्म का

ankurnagpal108@gmail.com

ही कार्य है तथा उसी के समान, नामरूप व्याकरण भी उन्हीं का कार्य है।

कथं तर्हि "अनेन जीवेन" इति संगच्छते "आत्मनाजीवेन" सामानाधिकरण्यात् जीव शरीरं परंब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयते यथा—"तत्तेज ऐक्षत्" तदपोऽसृजत् "त आप ऐक्षन्त"ता अन्नमसृजत" तेजप्रभृतिशरीरकं परमेवब्रह्माभिधीयते। अतो जीवसमष्टिभूतहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्यैवब्रह्मणः कर्म नामरूप-व्याकरणम्।

(प्रश्न) "अनेन जीवेन" की संगति कैसे होगी? (उत्तर) "आत्मन जीवेन" इस समानाधिकरण वाक्य से, जीव शरीरी परब्रह्म ही जीव शब्द से कहा गया, प्रतीत होता है। जैसेकि-"उस तेज ने इच्छा की" इत्यादि में तेज आदि के शरीरी परब्रह्म का ही, उल्लेख है। इसलिए जीव समष्टि भूत हिरण्यगर्भ के शरीरी परब्रह्म ही नामरूप व्याकरण के कर्त्ता हैं।

एवं च "प्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इति प्रविशतिउत्तम-पुरुषश्चाक्लिष्टौ मुख्यार्थावेव भवतः। प्रवेशव्याकरणयोः समानकर्त्तृकत्वमप्युपपद्यते। अतः"सेयं देवता"इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः, इमाः तेजेऽबन्नरूपाः त्रिस्रो देवताः,अनेन जीवेन-जीवसमष्टिविशिष्टेन -आत्मानाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि-देवादिविचित्रसृष्टितन्ना-नमधेयानि च करवाणि। तदर्थंमन्योन्यसंसर्गप्राप्तानामेषां तेजोबन्नानां विशेष सृष्ट्यसमर्थानां तत्सामर्थ्यायैकैकां त्रिवृतं करवाणि-इति। अतः परस्यैवब्रह्मणः कर्मेदंनामरूपव्याकरणम्।

तथा—"प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा" इस वाक्य में "प्रविश्य" पद से ही उत्तम पुरुष (मैं) का बोध सहजरूप से हो जाता है। प्रवेश और अभिव्यक्ति ये दोनों समानकर्त्तृत्व का बोध कराते हैं। चतुर्मुख कर्त्तृक सृष्टि प्रकरण के, नामरूपव्यक्तीकरण के उपदेश से ज्ञात होता है कि-यह देवादिकों कीविचित्र सृष्टि,चतुर्मुख के शरीरी परब्रह्म की ही कृति है। "सेयं देवता" इत्यादि वाक्य का अर्थ है कि—इमाः—तेज जल

ankurnagpal108@gmail.com

पृथ्वी रूप तीन देवता "अनेन जीवेन" –जीवसमष्टि विशिष्ट आत्मा वाले इनमें प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा अर्थात्–देवादि विचित्र सृष्टि और उनका नामकरण करूँगा। नामरूप की अभिव्यक्ति में, एक दूसरे से संसर्ग हीन, विशिष्ट कार्य रचना में असमर्थ इन तीनों को, पृथक्–पृथक् कार्य सामर्थ्य के लिए तीन तीन करूँगा। इससे सिद्ध होता है कि-नामरूपाभिव्यक्तीकरण कर्म, परब्रह्म परमात्मा का ही है।

अथ स्यात्-नामरूपव्याकरणस्य त्रिवृत्करणेनैककर्तृकत्वात्पर-मात्मकर्तृकमिति न शक्यतेवक्तुम्, त्रिवृत्करणस्यापि जीवकर्तृकत्वसंभवात्। अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टि जीवेषु त्रिवृत्करण-प्रकार उपदिश्यते-"यथा तु खलु सोम्येमास्त्रिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति" अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं भवति योमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्मनः" इत्यादिना। तथा पूर्वस्मिन्नपिवाक्ये "यदग्नेरोहितं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्ट्याग्न्यादित्यचंद्रविद्युत्सु त्रिवृत्करणं प्रदर्श्यते नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च त्रिवृत्करणं श्रूयते। "सेयं देवतेमास्त्रिस्रो देवताः, अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति। तत्राह—

(शंका) ऐसा हमने मान लिया कि-नामरूप अभिव्यक्ति और त्रिवृत् करण परमात्मा की कृति है, त्रिवृत् करण; एकमात्र परमात्मा की ही कृति है ऐसा नहीं मान सकते, त्रिवृत्करण, जीव कर्तृक भी हो सकता है ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने सृष्टि जीवों में त्रिवृत्करण का इस प्रकार उपदेश दिया-"हे सौम्य! ये तीनों देवता, पुरुष को प्राप्त कर कैसे तीन तीन हो जाते हैं, यह मुझसे समझो, खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है, उसका स्थूल भाग पुरीष, मध्यम भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है।" इत्यादि, इसी के पूर्व के वाक्य में जैसे-"अग्नि में जो रक्तिमा है वह तेज की, जो धवलिमा है वह जल की तथा श्यामता पृथ्वी की है।" इत्यादि में चतुर्मुख से सृष्ट अग्नि चंद्र

ankurnagpal108@gmail.com

और विद्युत् में त्रिवृत् करण दिखलाया गया है। नाम रूप अभिव्यक्ति के बाद भी त्रिवृत् करण का वर्णन मिलता है—"यही देवता, तीनों देवताओं में जीवात्मा रूप के प्रवेश करके, नामरूप को अभिव्यक्त कर त्रिवृत्करण करते हैं।—"इसका उत्तर देते हैं—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।१८॥

यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवतादिविशेषोऽयं "तासां त्रिवृतत्रिवृतमेकेकामकरोत्" इति, त्रिवृत्करणोपदेश, इति तन्नोपपद्यते "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यत्र मांसमनसो पुरीषादणुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुविधायित्वेनाप्य तैजसत्वप्रसंगात् "आपः पीताः" इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः स्थविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसंगात् । न चैवमिष्यते, मांसादिभौममिष्यते पुरीषवन्मांसमनसी अपि भौमे पार्थिवे इष्यते "अन्नमशितं त्रेधा" इति प्रक्रमात् । यथाशब्द-इतरयोश्च इतरयोरपि "आपः पीताः" "तेजोऽशितम्" इति पर्याययोर्यथाशब्दं विकारा इष्यंते । "आपः पीतास्त्रेधा विधीयंते" इत्यपामेव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते तथा—"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते" इत्यपि तेजस एव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते, अतः पुरीषमांसमनांसि पृथिवी विकाराः मूत्रलोहितप्राणाः अब्विकाराः, अस्थिमज्जावाच-स्तेजोविकाराः, इति प्रतिपत्तव्यम्, "अन्नमयं हि सौम्यमनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक् "इति वाक्यशेषाविरोधाच्च। अतः "तासां त्रिवृत् त्रिवृतमेकैकामकरोत् 'इत्युक्तास्त्रिवृत्करण प्रकारः 'अन्नमशितम्' इत्यादिना न प्रदर्श्यंते, तथा सति मनप्राणवाचां त्र्याणामप्यणीयस्त्वेन तेजसत्वात् "अन्नमयं हि सोम्यमनः" इत्यादिर्विरुध्येत प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्रासानाम् "अन्नमशितम्" इत्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते । अण्ड-

ankurnagpal108@gmail.com

सृष्टेः प्रागेव च तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम्, अत्रिवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात्। अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भसामर्थ्यम् तदेव हि त्रिवृत्करणम्। तथा च स्मर्यते— "नानावीर्याः पृथग् भूतास्ततस्ते संहतिं बिना, नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः, समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाश्रयाः, महदाद्या विशेषान्ता अंडमुत्पादयंतिते" इति। अतएव च—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्"तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत् पाठक्रमोऽर्थक्रमेण बाध्यते। अंडान्तवर्त्तिष्वग्न्यादित्यादिषु-त्रिवृत् करणप्रदर्शनं श्वेतकेतोः शुश्रूषोरंडान्तर्वर्त्तित्वेन, तस्य वहिष्ठ वस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात् त्रिवृत्कृतानां कार्येषु अग्न्यादित्यादिषु क्रियते।

जो यह कहा कि—ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख द्वारा सृष्ट, देवता आदि का "तासां त्रिवृत्" इत्यादि में त्रिवृत् करण का उपदेश किया गया है। यह बात असंगत है, क्योंकि—" भुक्त अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है" इस वर्णन में मांस और मन को, पुरीष से, अणु और अणीयस कहा गया है, जो कि—कारण के अनुकूल कार्य है, यदि सृष्टि के बाद त्रिवृत् करण मानेंगे तो, जल और तेज भी, इसके कारण माने जावेंगे। "पिये हुए जल" इत्यादि में भी, मूत्र और प्राण, रूप स्थूल और सूक्ष्म में, पृथ्वी और तेज, कारण रूप से उपस्थित हो जावेंगे। इसलिए उक्त बात नहीं कह सकते। मांस आदि भौम ही कहलावेंगे, अर्थात् पुरीष की तरह मांस और मन भी भौम ही कहलावेंगे, "अन्नं त्रेधा" से ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसे ही "आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इत्यादि में कहे गए विकारों को भी उक्त वेदोक्त रीति से ही मानना होगा। "पिया हुआ जल तीन रूप का हो जाता है" इस वेद मत्र से तीन रूप वाले परिणाम की स्पष्ट प्रतीति होती है। उक्त वैदिक नियम के अनुसार-पुरीष-मांस-मन -पार्थिव विकार, मूत्र-रक्त-प्राण-जलीय विकार, अस्थि-मज्जा-वाणी-तैजस -विकार हैं। 'हे सौम्य! यह मन अन्नमय है" जलमय प्राण तथा तेजोमयी वाणी है" इस प्रकरण के अंतिम वाक्य से यही बात निर्विरोध सिद्ध होती

ankurnagpal108@gmail.com

है। "उनको प्रत्येक को तीन तीन किया" में कहा गया त्रिवृत् करण का प्रकार "भुक्त अन्न" के प्रकार की तरह नहीं है, यदि उसी प्रकार का मानेंगे तो, मन, प्राण और वाणी रूप अति सूक्ष्म तैजस रूपों की "हे सौम्य! मन अन्नमय है" इत्यादि से विरुद्धता होगी पहिले से ही तीन रूपों में विभक्त पृथ्वी आदि के पुरुष रूप को प्राप्त होजाने पर "भुक्त अन्न" आदि का ही त्रेधा परिणाम होता है, यही उक्त प्रसंग में कहा गया है। सृष्टि के पूर्व ही, पृथ्वी जल तेज आदि की तीन रूपों में विभक्ति हो सकती है, यदि वे प्रथम से ही तीन रूपों में विभक्त न रहें तो, उनमें कार्यारम्भ की क्षमता नहीं हो सकती। एक दूसरे से मिलकर ही उनमें कार्य की क्षमता संभव है। इन तीनों का पारस्परिक सम्मेलन ही त्रिवृत् करण कहलाता है वैसा ही स्मृति का भी मत है– 'ये सारे भूत विभिन्न प्रकार की शक्ति वाले पृथक् पृथक् हैं, उन सबकी संहति के बिना, प्रजा की सृष्टि संभव नहीं है, महत्तत्व से लेकर विशेष तक, परस्पर संयुक्त होकर पारस्परिक आश्रय से ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं। "ब्रह्म, जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप में अभिव्यक्त होता है. उसीने, प्रत्येक को तीन तीन किया" ऐसा वेदोक्त पाठ्यक्रम, उक्तस्मार्त्तअर्थ-क्रम से बाधित होता है। ब्रह्माण्ड मध्यवर्त्ती अग्नि और आदित्य आदि के त्रिवृत् करण का जो उपदेश है, उसका कारण यह है कि-शुश्रुषु श्वेतकेतु के लिए सृष्टि के पूर्ववर्त्ती त्रिवृत् करण का उपदेश सुबोध्य न होगा, इसलिए उसे त्रिवृत् कृत भूत कार्य आदि का त्रिवृत्करण बतलाया गया। इस प्रकार समझने से, वेदोक्त पाठ्यक्रम की संगति हो जाती है।

स्यादेत् "अन्नमशितम्" आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोऽन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथमन्नामापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति–तत्राह–

(शंका) हमने ऐसा मान लिया कि-उपदेश की सुबोधता के लिए ऐसा किया गया, परंतु त्रिवृत् कृत अन्न आदि के जो तीन तीन रूप हैं, उनका जो "अन्नमशितम्" आपः पीताः" तेजोऽशितम्" इत्यादि में अन्न-जल और तेज नाम से पृथक् निर्देश है, उसकी कैसे संगति होगी? इसका उत्तर देते हैं–

ankurnagpal108@gmail.com

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।१६।।

वैशेष्या—विशेषभावः । त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैक-स्मिन्नन्नाद्याधिक्यात्तत्रतत्रान्नादिवादः । द्विरुक्तिरध्याय समाप्तिं द्योतयति ।

सूत्रस्थ वैशेष्य का अर्थ है, विशेष भाव अर्थात् वैशिष्ट्य त्रिवृत् करण द्वारा, प्रत्येक तीन रूप होते हुए भी, एक-एक में, अन्न-जल-तेज आदि भाव की अधिकता है, इसलिए उन्हें अन्न आदि नामों से निर्देश किया गया है । पद की द्विरुक्ति, अध्याय समाप्ति की द्योतिका है ।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

ankurnagpal108@gmail.com

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणः—

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहतिसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेननिखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगंधपरिमितोदारगुणसागरं सकलेतरविलक्षणं परंब्रह्म, मुमुक्षुभिरुपास्यतया वेदांता प्रतिपादयंतीत्ययमर्थः स्मृतिन्यायविरोध परिहार परपक्षप्रतिक्षेपवेदांतवाक्यपरस्परविरोधपरिहार रूपकार्यं स्वरूप संशोधनैः तद्दुर्धर्षणत्वहेतुभिः सह स्थापितः, अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितम् । उत्तरेणेदानीं तत्प्राप्त्युपायैः सह प्राप्तिप्रकारश्चिन्तयितुमिष्यते । तत्र तृतीयाध्याये उपायभूतोपासन विषया चिन्तावर्त्तते । उपासनारभाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तु व्यतिरिक्तवैतृष्ण्यमप्राप्यतृष्णाचेति, तत्सिद्धयर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु संचरतो जाग्रतस्वपतःसुषुप्तस्यमूर्छतस्य दोषाः, परस्यब्रह्मणस्तदरहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्रथमद्वितीययोः पादयोः प्रतिपाद्यन्ते ।

पिछले दो अध्यायों में, समस्त जगत के एक मात्र कारण, निर्दोष असीम उदार गुणों के सागर, सबसे विलक्षण, परब्रह्म ही मुमुक्षुओं के उपास्य रूप से वेदांत वाक्यों के प्रतिपाद्य हैं, इस सिद्धान्त की स्थापना के लिए, स्मृति और तर्कों का विरोध करते हुए, विरोधी पक्षों का परिहार-तथा परस्पर विरोधी वेदांत वाक्यों की संगति दिखलाते हुए उक्त सिद्धान्त की विशुद्ध रूप से स्थापना की गई। इससे निश्चित होता है

ankurnagpal108@gmail.com

कि उन दो अध्यायों में ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। इसके बाद अब उन परमात्मा की प्राप्ति के उपायों से, प्राप्ति के प्रकार पर विचार करते हैं। इस तृतीय अध्याय में, उपाय रूप उपासना पर विचार किया गया है। उपासना में सर्वप्रथम, प्राप्तव्य से भिन्न वस्तुओं में वितृष्णा और प्राप्य के प्रति तीव्र आवेग, ये दो हितकर उपाय बतलाए गए हैं, इन दोनों की पुष्टि के लिए, प्रथम और द्वितीय पाद में, लोकान्तर संचरणशील जीव के, जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति और मूर्छा आदि अवस्थाओं से संबंधी दोष तथा परमात्मा में दोषों का अभाव तथा कल्याणमय गुणों की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है।

तत्र देहात् देहान्तरंगच्छन्नयंजीवो देहान्तरारंभहेतुभिर्भूत-सूक्ष्मैः संपरिष्वक्त एव गच्छति उत न? इति चिन्तायां यत्र यत्र जीवो याति, तत्र तत्र भूतसूक्ष्माणां सुलभत्वादसंपरिष्वक्तो यातीति प्राप्तम्। पश्चादपि पूर्वपक्षबीजान्युपन्यस्य निरसिष्यति।

यह जीव, एक देह से दूसरे में जाते समय, देहान्तर के आरंभ के कारणभूत सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित रहता है या नहीं? इस पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि-जीव जहाँ-जहाँ जाता हैं वहाँ-वहाँ उसे, सारे सूक्ष्म भूत सुलभ हो जाते हैं, इसलिए वह इन्हें साथ नहीं ले जाता। इसके बाद उक्त पक्ष की मूल बातों का विश्लेषण करते हुए खंडन करेंगे।

सिद्धान्तः—तत्र सिद्धान्तमाह—तदंतरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति" इति मूर्ति शब्देन देहः प्रस्तुतः, स तच्छब्देन परामृश्यते। तदन्तर प्रतिपत्तौ—देहान्तर गमने भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति—गच्छतीत्यर्थः। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्यां। पंचाग्निविद्यायामेवं प्रश्न प्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलारुणेयं पांचालः प्रवाहणः कर्मिणांगन्तव्यदेशं, पुनरावृत्ति प्रकारं देवयानपितृयाणपथव्यावर्त्तने, अमुष्य लोकस्याप्रापूरं च वेत्थेति पृष्ट्वेदमपि पप्रच्छ—"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो

ankurnagpal108@gmail.com

भंवति' इति। तमिमं पश्चिमं प्रश्नं प्रतिब्रुवंश्च द्युलोकमग्नित्वेन रूपयित्वा" तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुह्वति, तस्या आहुतेः सोमोराजा संभवति" इत्यादिना—देवाख्याः जीवस्य प्राणाः अग्नित्वेन रूपिते द्युलोके श्रद्धाख्यं वस्तु प्रक्षिपंति, सा च श्रद्धा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण परिणमते, तं चामृतमयं देहं त एव प्राणाः पर्जन्येऽग्नित्वेनरूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति, तच्चान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्व रूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र रेतो भवति, तच्चान्नं त एव योषायामग्नित्व रूपितायां प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा आह—"इति तु पंचम्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवचसो भंवति" इति। एव पंचम्यामाहुतो हुतायामापः पुरुषशब्दाभिलप्यां भवंतीत्यर्थः एवमुक्ते पूर्वाष्वप्याहुतिष्वनुवर्त्तमानानामेवापां सूक्ष्मरूपाणामिदानीं पुरुषाकारत्वं भवतीत्युक्तं भवति। अत एवं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देह-हेतुभूतैः सूक्ष्मैः सह तत्र तत्र यातीति गम्यते।

उस पर सिद्धांत कहते हैं, "संज्ञामूर्त्ति" इत्यादि सूत्र में मूर्त्ति शब्द देह का वाचक है, इस प्रस्तुत सूत्र में उसे ही" तत्" शब्द से बतलाया गया है। "तदनंतर प्रतिपत्तौ" का अर्थ है कि-यह जीव देहान्तर प्राप्त करने पर सूक्ष्म भूतों से संसक्त होकर "रंहति" अर्थात् गमन करता है। ऐसा निर्णय प्रश्नोत्तरों से हो जाता है। पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में, इससे संबंधित प्रश्न—उत्तर किये गए, पंचाल राज प्रवाहण ने आरुणिश्वेकेतु से कर्म योगियों का गतिस्थान, पुनः आवृत्ति का प्रकार, देवयान पितृयान मार्ग का वर्णन, इत्यादि स्वर्ग आदि लोकों में जाने की इच्छा से पूछा "क्या तुम जानते हो कि पांच आहुतियों को प्राप्त कर ही जीव का पुरुष नाम होता है?" इस द्वितीय प्रश्न के पूछने पर द्युलोक को अग्नि रूप बतलाते हुए कहा कि- "इस अग्नि से देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं, उस आहुति से सोमराज उत्पन्न होते हैं" इत्यादि से बतलाया गया है कि- द्युरूप अग्नि में सर्वप्रथम श्रद्धा की आहुति होती है वही श्रद्धा

ankurnagpal108@gmail.com

अमृतरूप में परिणत हो जाती है, वे प्राण उस अग्निरूप से कल्पित पर्जन्य में निक्षिप्त होकर वर्षारूप में परिणत होते है। वे ही पृथ्वी रूप अग्नि में निक्षिप्त होकर अन्न रूप में परिणत होते हैं, वह अन्न, जीव के देह रूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर वीर्य रूप से परिणत हो जाताहै. उस वीर्य को अग्नि रूप स्त्री योनि मार्ग से धारण कर गर्भाकार में परिणत करती है। "इस प्रकार पांचवीं आहुति को प्राप्त कर ही वह पुरुष नाम धारी होता है" अर्थात् इस पांचवी आहुति को प्राप्त जल ही वह पुरुष नाम वाला होता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि-देह के उपादानरूप भूतसूक्ष्मों के सहयोग से ही जीव उन स्थानों में जा पाता है।

ननु "आपः पुरुषवचसः" इत्युक्ते अपांपुरुषाकारपरिणाम प्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वंगः प्रतीयते, अतः कथं सर्वेषां भूतसूक्ष्माणां परिष्वंग इति? तत्राह—

"जल ही पुरुष पद वाच्य होता है" इस कथन से तो, जल की ही पुरुषाकार परिणित बतलाकर उसका ही सहचर्य मात्र बतलाया गया है, फिर अन्य सूक्ष्म भूतो के साहचर्य की बात कैसे संगत होगी? इसका उत्तर देते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।

तु शब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, देहारंभकाणामपांकेवलानां न देहारंभसंभवः। देहाद्यारंभाय हि—"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति त्रिवृत्करणम्। केवलानामपां श्रवणं तु तासां भूयस्त्वात्। देहे च लोहितादिभूयस्त्वेनारंभकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। देहारंभ का कारण केवल जल ही देहरचना में समर्थ नहीं हो सकता देहारंभ में तो "उन तीनों में प्रत्येक को तीन तीन करता है" ऐसा त्रिवृत् करण ही, कारण होता है। केवल जल का ही जो वर्णन मिलता है वह, उसकी बहुलता का

ankurnagpal108@gmail.com

ही द्योतक है, देह में रक्तवीर्य आदि, जल रूप में ही, बाहूल्य से होते हैं, इसलिए जल के बाहुल्य का वर्णन किया गया है।

प्राणगतेश्च ।३।१।३।।

इतश्च भूतसूक्ष्म परिष्वक्तस्य गमनमिति गम्यते उत्क्रामति जीवे प्राणानां तदनुगतिः श्रूयते "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामंतं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामंति" इति। स्मर्यंते च-"मनः षष्ठाणीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति, शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" इति। न च निराश्रयाणां गतिरुपपद्यत इति तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगंतव्या।

इससे भी भूत सूक्ष्मों संसक्त गमन ज्ञात होता है कि उत्क्रण करते हुए जीव के साथ प्राणों का अनुगमन बतलाया गया है-"उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी अनुत्क्रमण करते हैं।" स्मृति में भी जैसे -"जीव सुषुप्ति और मृत्यु के समय, मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियों को आकृष्ट करके स्थित रहता है। देहाधिपति जीव जिस समय शरीर ग्रहण करता है और जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय इन इन्द्रियों को अपने साथ उसी प्रकार ले जाता है, जैसे कि-वायु गंध को ले जाता है" इत्यादि। निराश्रित इन्द्रियों का कभी स्वतः गमन संभव नहीं है, इसलिए उनके आश्रयभूत भूतसूक्ष्मों की भी उनके साथ गति माननी होगी।

अग्न्यादिगतिश्रुतिरितिचेन्न भाक्तत्वात् ३।१।४।।

'यत्रास्यपुरुषस्यमृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः चक्षुरादित्यम्" इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिष्वप्यय श्रवणात् न तेषां जीवेन सह गमनमिति गतिश्रुतिरन्यथा नेयेति चेत् न भाक्तत्वात्-अग्न्यादिष्वप्ययश्रवणस्य। कथं भाक्तत्वं? 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" इत्यनपियद्भिः लोमादिभिः सह श्रवणात्। अतश्चक्षुराद्यप्ययश्रुतिरधिष्ठातृदेवतोपक्रमणपरा।

ankurnagpal108@gmail.com

"मृत पुरुष की बाणी अग्नि को, प्राण वायु को, नेत्र सूर्य को प्राप्त होते हैं" इत्यादि में तो, जीव के मरण काल में, अग्नि आदि की प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे, जीव के साथ गमन करने वाली श्रुति अन्यथा सिद्ध होती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए यह श्रुति तो गौण है, "लोम ओषधि में, केश वनस्पति में, इत्यादि गौण श्रुति के साथ ही उक्त श्रुति का पाठ है इसलिए यह भी गौण है। चक्षु आदि के लीन होने की बात तो, केवल उनके अधिष्ठाता देवताओं से देह से, वर्हिर्गमन की ही बोधिका है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव हि उपपत्तेः ।३।१।५॥

यदुक्तमद्भिः सूक्ष्माभिर्भूतान्तरसंसृष्टाभिः परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविषये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाश्रवणात् "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुहवति" इति श्रद्धैवहोम्यत्वेन श्रुता। श्रद्धानाम जीवस्य मनोवृत्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा। अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्, न यतः ताः आप एव श्रद्धाशब्देन तत्राभिधीयंते, कुतः? प्रश्न प्रतिवचनोपपत्तेः।

जो यह कहा कि–प्रश्नोत्तरों से ज्ञात होता है कि–अन्यान्य भूतों से संसक्त सूक्ष्म जल ही जीव के साथ गमन करता है, सो बात समझ में नहीं आती क्योंकि–द्युलोक रूपी अग्नि में प्रथम हवन के रूप में जल की हवनीयता नहीं सुनी जाती। जीव की मनोवृत्ति विशेष ही श्रद्धानाम से प्रसिद्ध है, इसलिए जल वहाँ पर होम्य नहीं हो सकता। यह शंका उपयुक्त नहीं है, जल ही यहाँ श्रद्धा शब्द से उल्लेख्य है, प्रश्नोत्तरों से ऐसा ही निश्चित होता है।

"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति प्रश्न प्रतिवचनोपक्रमेहि श्रद्धाद्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रुता, तत्रयदि श्रद्धा शब्देनापो नोच्येरन्, ततोऽन्यथाप्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमिति असंगतम् स्यात्। "इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः" इति प्रतिवचन

ankurnagpal108@gmail.com

निगमनं च श्रद्धाया अप्त्वमेव सूचयति "वेत्थ यथा" इति हि प्रश्नगतः प्रकारः "इति तु पंचम्याम्" इतीति शब्देन परिहारे निगम्यते। श्रद्धासोमराजवर्षान्नरेतोगर्भरूपेणापां परिणाममुक्त्वा हि एवमापः पुरुषवचस इति निगम्यते। श्रद्धाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते–"अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः" इति। श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति" इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते अतो भूतान्तरसंसृष्टाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो जीवोरंहतीत्युपपन्नम्।

"क्या तुम जानते हो कि–पांचवीं आहुति को प्राप्त, पुरुषवाची वह कैसे होता है? "इस प्रश्न के उत्तर के प्रारंभ में ही द्युलोकाग्नि के हवनीय पदार्थ के रूप में श्रद्धा का उल्लेख किया गया है। यदि उक्त प्रसंग में श्रद्धा का अर्थ जल नहीं करेंगे तो अन्यथा प्रश्न का अन्यथा उत्तर होगा, जो कि–असंगति होगी। "पांचवीं आहुति में पुरुषवाची होता है" इस उत्तर के कथन से श्रद्धा ही जल रूप से प्रतीत होती हैं। "वेत्थ यथा" इत्यादि प्रश्न के प्रकार का स्वरूप, "इति पंचम्याम्" वाक्य के "इति" शब्द से परिहार किये जाने पर ही स्पष्ट होता है। श्रद्धा-सोमराज-वर्षा-अन्नवीर्य-गर्भ आदि रूपों में जल का क्रमशः परिणाम बतलाकर, उस जल को ही पुरुषवाची बतलाया गया हैं। श्रद्धा शब्द का जल नाम से वैदिक प्रयोग भी मिलता है "अप का प्रणयन करने वाला श्रद्धा ही जल है" इत्यादि। "श्रद्धा का हवन करते हैं, इस आहुति से सोमराज होते हैं" इसमें जल का सोमाकार परिणाम सिद्ध किया गया है, इसलिए यह मानना चाहिए कि–अन्य भूतों से संसक्त होकर–जल विशिष्ट संसक्त जीव, गमन करता है।

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।३।१।६॥

यत् पुनरुक्तं अद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो याति इत्ययमर्थ एतस्माद्वाक्यादवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, अस्मिन् वाक्ये जीवस्याश्रवणात्। अत्राहि श्रद्धादय एवाम्बुव्यवस्थाविशेषा होम्यत्वेन

ankurnagpal108@gmail.com

श्रुता:, ननु जीवस्तत्परिष्वक्त इति चेत्, तन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः, अस्मिन्नेववाक्ये हि उत्तर ब्रह्मज्ञानविधुरेष्टापूर्त्तदत्ताकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानोभवंति, पुण्यकर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवंतीत्युच्यते" अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवति "इत्यारभ्य" पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चंद्रमसमेष सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयंति "तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति " इति । अत्रापिद्युलोकाग्नौ "श्रद्धांजुह्वति तस्या आहुतेस्सोमोराजा संभवति " इति तदेकार्थत्वात् श्रद्धावस्थदेहविशिष्टः सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्युक्तमिति गम्यते । देहस्य जीवविशेषणतैक स्वरूपस्य वाचकः शब्दो विशेष्ये जीव एव पर्यवस्यति, अतः संपरिष्वक्तोजीवो यातीत्युपद्यते।

पुनः जो यह कहा कि–जलों से संसक्त जीव के गमन का अर्थ ही उक्त वाक्य में प्रतीत होता है, सो यह कथन असंगत है, क्योंकि–इस वाक्य में तो जीव का उल्लेख ही नहीं है। इस प्रसंग में तो, केवल जल ही अवस्था विशेष श्रद्धा आदि, हवनीय द्रव्य के रूप में कहा गया है, उससे समन्वित जीव का तो उल्लेख है नहीं। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिए उक्त प्रसंग में इष्टापूर्त्त करने वालों का वर्णन किया गया है, इस वाक्य के शेषांश में ही कहा गया है कि–ब्रह्मज्ञान से रहित, केवल इष्टापूर्त्त करने वाले पुरुष द्युलोक में जाकर सोमराजा होते हैं और पुण्यकर्मो की समाप्ति हो जाने पर, पुनः गर्भ में आते हैं। कहते हैं कि– "जो ग्रहस्थ, प्रथम इष्टापूर्त्त और दत्त, इन तीन कर्मों के उपासक हैं, वे धूम्र दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त होते हैं" पितृलोक से आकाश, से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं, ये ही सोमराजा, देवताओं के अन्न हैं, इन्हें ही देवता भक्षण करते हैं " जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक चन्द्र लोक में रुक कर पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं।" जो जो प्राणी अन्न खाकर वीर्य सिंचन करते हैं, उन्हीं में इनका जन्म होता है।" इत्यादि यहाँ पर भी द्युलोक रूपी अग्नि में " श्रद्धा की आहुति देते हैं" इस आहुति

ankurnagpal108@gmail.com

से सोमराजा होते हैं" इस प्रसंग में उक्त अर्थ की ही प्रतीति होने से, श्रद्धावस्थ देह विशिष्ट ही, सोमरूप देह विशिष्ट होता है, ऐसा ज्ञात होता है। यह देह, जीव का ही विशेषण है देहवाचक शब्द भी, अपने विशेष्य जीव में ही पर्यवसित होगा यह स्वाभाविक है। इसलिए जीव भूतसूक्ष्म से संसक्त होकर ही गमन करता है, यह बात संगत हो जाती है।

ननु च "ते देवा भक्षयंति" इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनात् "सोमोराजा" इति न जीव उच्यते, जोवस्यानदनीयत्वात्। तत्राह–

(शका) "उसे देवता खाते हैं" ऐसे देवत्व के भक्षणत्व से ज्ञात होता है कि–"सोमोराजा" जीव के लिए नहीं कहा गया हैं, क्योंकि– जीव कोई भक्ष्य पदार्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं–

भाक्तंवानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति ।३।१।७।।

वाशब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति। इष्टादिकारिणोऽनात्मवित्वात् स देवानां भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्त्ततेइहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति, आराधनप्रीतैर्देवैर्दत्तममुंलोकंप्राप्य तत्रतत्समानभोगः तदुपकरणं भवति "यथा पशुरेवं स देवानाम्" इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति श्रुतिः। स्मृतिरप्यात्मविदां ब्रह्मप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यांति मामपि" इति। अतो जोवस्य देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्वेन भक्ष्यत्ववचनं अतस्तद्भाक्तम्, तेनतृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एत देवामृतं दृष्टवा तृप्यन्ति" इति। तस्माद्भूतसूक्ष्मैसंपरिष्वक्तं जीवो रंहतीति सिद्धम्।

सूत्रस्थ वा शब्द तर्क का समाधान करता है। यज्ञ करने वालों में आत्मज्ञान का अभाव रहता है, इसलिए वे इस लोक और परलोक में

ankurnagpal108@gmail.com

देवताओं के भोग्य होते हैं। इस लोक में, यज्ञ करके उनकी आराधना करते हुए उनका भोग साधन करते हैं, आराधना से प्रसन्न देवताओं से प्राप्त परलोक में उनके अनुरूप भोगोपकरण होते हैं। जैसे कि— "यह देवताओं का पशु है" इत्यादि श्रुति, अनात्मविद पुरुष को देवताओं का उपकरण बतलाती है। स्मृति भी आत्मविदों की ब्रह्म प्राप्ति तथा अनात्मविदों की देव भोग्यता का वर्णन करती है "देवों की आराधना करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं, और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार जीवों को, देवों का भोगोपकरण बतलाने के लिए ही भक्षणीय अन्न बतलाया गया है, जो कि गौण कथन है। देवताओं की तृप्ति ही देवताओं का भोजन है जैसे कि-"वे देवता न खाते हैं न पीते हैं, वे तो अमृत पदार्थ को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।" इत्यादि से सिद्ध होता है कि-जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से संसक्त होकर ही गमन करता है।

२. कृतात्ययाधिकरणः-

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवंच ।३।१।८।।

केवलेष्टापूर्त्तदत्ताकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा गमनं कर्मफलावसानेन पुनरावर्त्तनं चाम्नातं "यावत् संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानंपुनर्निवर्तन्ते" इति। तत्र प्रत्यवरोहम् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति उतनेति संशय्यते। किं युक्तम्? कर्मणः कृत्स्नस्योपभुक्तत्वात् नानुशयवानिति प्राप्तम्। अनुशयो हि उपभुक्तशिष्टंकर्म। तच्च कृत्स्नफलोपभोगे सति नावशिष्यते। "यावत्संपातमुषित्वा" इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च ज्ञायते। संपतंत्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते। श्रुत्यंतर च "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम्, तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

जो केवल इष्टापूर्त्त और दत्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे धूम आदि पितृमार्ग से गमन करते हैं, और कर्मफल के समाप्त हो जाने पर पुनः लौट आते हैं ऐसा— "जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक भोगने के बाद उसी मार्ग से लौट आते हैं" कहा गया। इस पर संशय होता कि—लौटने वाला जीव, सानुशय लौटता है अथवा नहीं? विवेचना से ज्ञात होता है कि–जब वह समस्त कर्मों को भोग चुकता है तब अनुशय रहित होकर लौटता है। उपभोग से बचे हुए कर्म को अनुशय कहते हैं वह संपूर्ण फल भोग के बाद तो बच नहीं सकता। "यावत् संपातमुषित्वा से संपूर्ण भोग ही ज्ञात होता है। जिससे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ऐसे कर्म को ही संपात कहते हैं। इसी प्रकार की दूसरी श्रुति भी है— "जीव इस जगह जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्म के शेष हो जाने पर, उन कर्मों से प्राप्त लोकों से पुनः यहीं लौट आता है" इत्यादि।

सिद्धान्तः— एवंप्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-इति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्यां-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावद् "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते, रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिं आपद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा" इति प्रत्यवरूढान प्रतिश्रूयते। अमुष्माल्लोकात् प्रत्यवरूढेषु रमणीय कर्माणो रमणीयां ब्राह्मणादि योनिं प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः, कुत्सित कर्माणः कुत्सितां श्वशूकरचाण्डालादि योनिं प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरूढानां पुण्यपापकर्मयोगं दर्शयति। स्मृतिरपि- "वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा प्रेत्य कर्मफलमनुभूयतः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विश्वंचोविपरीता नश्यंति हि" इति। तथा —"ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिरूपंवर्णंबलमेधांप्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तच्चक्रवद् उभयोर्लोकयोः सुख एव वर्त्तते" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—जीव सानुशय लौटता है ऐसा श्रुतिस्मृति से निश्चित होता है। श्रुति जैसे "इस लोक में जो शुभ कर्म करते हैं, वे शीघ्र ही शुभ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य योनियों को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ कर्म करते हैं वे शीघ्र ही, शूकर-कूकर-चांडाल आदि अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं।" ऐसा सानुशय प्रत्यावर्त्तन का वर्णन करती है। परलोक से रमणीय शुभ कर्मों से युक्त लौटने पर ही शुभ ब्राह्मण आदि शुभ योनियाँ प्राप्त होती हैं तथा अशुभ कर्मों के आचरण से शूकर आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं, इत्यादि लौटने वालों को ही पुण्य पाप कर्मों को बतलाया गया है। स्मृति में इसी प्रकार कहते हैं कि-"वर्ण और आश्रम कर्मों का भलीभाँति पालन करने वाले, मरणोपरान्त कर्मफलों का अनुभव करके अंत में विशिष्ट-देश-जाति-कुल-रूप-आयु-विद्या-धन-प्रतिष्ठा-सुख—आदि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इससे विपरीत आचरण करने वाले विपरीत नष्ट फल प्राप्त करते हैं।" तथा—"उसके बाद लौटने पर शेष कर्मफलानुसार जाति-रूप-वर्ण—बल-मेधा—प्रज्ञा—धन-धर्म के अनुष्ठान आदि को प्राप्त करते हैं, ऐसा करते हुए वे दोनों लोकों में सुख प्राप्त करते हैं" इत्यादि।

"यावत्संपातम्" इति फलदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयम्, "यत् किंचेहकरोत्ययम्" इतीदमपि तद्विषयमेव। अभुक्तफलानामकृतप्रायश्चितानां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवान्नाशोऽप्यनुपपन्नः। अतोऽमुंलोकं गताः सानुशय एव यथेतमनेव च पुनर्निवर्त्तन्ते-आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्त्तन्ते इत्यर्थः, आरोहणं हि धूमरात्रिपरपक्षदक्षिणायणषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवरोहणं तु चन्द्रमसःस्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघ क्रमेण। तत्राकाशावरोहणाद्यथेतम्, वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्चानेवम्

"यावत् संपातम्" श्रुति का तात्पर्य है कि—जो कर्म, फल देने के लिए उन्मुख हैं, उन्हीं का भोग होगा, "यत्किंचित् करोत्ययम्" श्रुति भी यही बात कहती है। जिन कर्मों का फल न भोगा गया हो तथा वे प्रायश्चित से भी विनष्ट न हो पाये हों, उनका, अन्य कर्मों के फलभोग से नाश होना असंभव है। इसलिए चन्द्रगत पुरुष का सानुशय आरोहण

ankurnagpal108@gmail.com

और सानुशय अवरोहण होता है, ऐसा ही मानना चाहिए। आरोहण के अनुसार या प्रकारान्तर से भी अवरोहण होता है। अरोहण क्रमशः धूम—रात्रि–कृष्णपक्ष दक्षिणायन—पितृलोक-आकाश-चन्द्रलोक तक होता है। अवरोहण चंद्रलोक से-आकाश-वायु–धूम -मेघ क्रम से होता है। आकाश आदि में तो अवरोहण समान होता है, किन्तु वायु आदि में अवरोहण का क्रम बदल जाता हैं, उसमें पितृलोक आदि की प्राप्ति नहीं होती।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।९।।

"रमणीय चरणाः" "कपूयचरणाः" इति न चरणशब्देन पुण्य पापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः, लौकिकाः खलु चरणमाचारः शीलंवृत्तमिति पर्यायानभिमन्यते, वेदे च- "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि " इति चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते, अतः चरणात्शीलात् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुशयादिति चेत्, तत्र, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारात् सुखदुःखप्राप्त्यसंभवात् । सुखदुःखेहि पुण्यपापरूप कर्मफले।

"रमणीय चरणाः" कपूय चरणाः" इत्यादि में चरण शब्द से पाप पुण्यरूप कर्म अभिधेय नहीं हैं, चरण शब्द की तो लोक और वेद में आचार रूप से ही प्रसिद्धि है। लोग, प्रायः चरण शब्द को, आचार–शील–कुल आदि का पर्यायवाची मानते हैं। वेद में जैसे-"जो निर्दोष कर्म हैं वे ही आचरणीय हैं" "जो मेरे सुचरित हैं, वे ही तेरे लिए आचरणीय हैं" इत्यादि में चरण और कर्म दोनों का भिन्न रूप से उल्लेख है। यह नहीं कह सकते कि-चरण से ही योनि विशेष की प्राप्ति होती है। चरणविषयक श्रुति, कर्मोपलक्षणार्थक है। ऐसी आचार्य कार्ष्णाजिनि की मान्यता है कि केवल आचार से ही सुख–दुःख की प्राप्ति संभव नहीं है। सुख–दुःख तो, पाप–पुण्य रूप कर्म के ही फल होते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

आनर्थक्यमिति चेन्नतदपेक्षत्वात् ।३।१।१०॥

एवं तर्हि अफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्-तन्न-तदपेक्षत्वात् पुण्यस्यकर्मणः। आचारवत् एवं पुण्यकर्मस्वधिकारः "संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" "आचारहीनं न पुनंति वेदाः" इत्यादि वचनेभ्य अतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिने भिप्रायः।

यदि कहें कि-ऐसा मानने से तो, निष्फलत्व हेतु स्मृति शास्त्रोक्त आचार निरर्थक हो जावेंगे? सो बात नहीं है, क्योंकि- सारे पुण्यकर्म सदाचार सापेक्ष ही होते हैं। जैसे कि-"संध्याहीन अपवित्र व्यक्ति सभी कर्मों में अयोग्य माना गया है" आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं करपाते" इत्यादि वचनों से ऐसा ही निश्चत होता है। इसलिए चरण श्रुति कर्मफलक्षणार्थक—ही है, ऐसा कार्ष्णाजिनि का अभिप्राय है।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।३।१।११॥

"पुण्यं कर्माचरति" पापं "कर्माचरति" इति कर्मणि चरतेः प्रयोगात् प्रथङनिर्देशस्य च प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धाचारानुमितश्रुतिसिद्धविषयत्वेन गोवलीवर्दन्यायेनोपपत्तेः। मुख्ये संभवति न लक्षणा न्याय्येति सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दाभिधेये, इति बादरिराचार्यो मन्यते। अत्र बादरिमतमेव स्वमतम्, आचारानुमितश्रुतिविहित संध्यावंदनादेः कर्मान्तराधिकारसंपादनं फलमिति तु स्वीकृतम्। अतः सानुशया एव प्रत्यवरोहंति।

"पुण्य कर्म का आचरण करता है,, पाप कर्म का आचरण करता है" इत्यादि कर्माचरण के प्रयोग से, कर्म के अर्थ में "चर" धातु का प्रयोग-गोवलीवर्द न्याय (सांड जैसे गो से भिन्न होते हुए भी गो जाति का होने से गो शब्द से पुकारा जाता है) के अनुसार-उचित ही प्रतीत होता है मुख्यार्थ से ही जब कार्य चल जाय, तो लक्षणार्थ करना न्याय्य नहीं है, इसलिए जब पाप और पुण्य में ही जब चरण शब्द अभिधेय है

ankurnagpal108@gmail.com

तब लक्षणा से अर्थ करना उचित नहीं है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। यह बादरि का मत ही अपना मत है। आचारानुमित श्रुतिविहित–संध्यावंदन आदि कर्म का जो, अन्यान्य कर्मों में अधिकार संपादन रूप-फल स्वीकारा गया है, वही उचित है। इससे सानुशय अवरोहण ही निश्चित होता है।

अनिष्टादिकार्याधिकरण:—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२॥

केवलेष्टापूर्तदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव निवर्त्तन्ते इत्युक्तम्, इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छंति, नेति चिन्त्यते, ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, त उभयेऽपि पापकर्मणोऽनिष्टादिकारिणः। किं युक्तम्? तेऽपि चंद्रमसं गच्छंतीति, कुतः? तेषामपि हि तद्गमनं श्रुतं "ये वैकेचास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गति श्रवणात्।

केवल इष्टापूर्त और दत्त कर्म करने वाले ही चान्द्रमसी गति को प्राप्त कर सानुशय लौटते हैं, यह बतलाया गया। अब अनिष्ट आदि के करने वाले की चान्द्रमसी गति होती है या नहीं? इस पर विचारते हैं। जो शास्त्र विहित कर्म नहीं करते और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म करते हैं, वे दोनों ही पापकर्म करने वाले, अनिष्टकर्मी हैं। कह सकते हैं कि वे भी चांद्रमसी गति को प्राप्त होते हैं उनकी भी वैसी ही गति सुनीजाती है जो भी इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रमस को प्राप्त होते हैं", इत्यादि में सभी की गति का वर्णन है।'

एवं तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिः स्यात् नेत्याह।

ऐसा मानने से तो पाप और पुण्यकारी दोनों की ही एक सी गति होगी? ऐसा नहीं होता, यही बतलाते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात् ।३।१।१३।।

तु शब्दः शंकांव्यावर्त्तयति, इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रावरोहावरोहौ संयमने-यम शासने तत्प्रयुक्त यातना अनुभूयैव, नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात्-दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्यतया तद्गमनम् " अयं लोको नास्ति न पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" वैवस्वतं संगमनम् जनानां यमं राजानम्" इत्यादिषु ।

तु शब्द शंका का समाधान करता है, अनिष्ट कर्म करने वाले लोगों का, चन्द्रमा में आरोहण तभी होता है, जब कि वे यम के शासन में नारकीय यातनाओं की अनुभूति कर चुकते हैं । अन्यथा उनकी चान्द्रमसी गति संभव नहीं है । उनकी गति का ऐसा ही वर्णन मिलता है " जो ऐसा सोचते हैं कि-दृश्य लोक ही सब कुछ है, परलोक कुछ भी नहीं है, वे लोग बार बार मेरी अधीनता प्राप्त करते हैं " लोगों को यम का दर्शन और यमालय में जाना पड़ता है ।" इत्यादि ।

स्मरंति च ।३।१।१४।।

स्मरंति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः "सर्वे चैते वशं यांति यमस्य भगवन् किल्" इत्यादिषु ।

पराशर आदि, सभी की यमवश्यता बतलाते हैं- "ये सभी यम की वश्यता प्राप्त करते हैं" इत्यादि ।

अपि सप्त ।३।१।१५।।

पापकर्मणां गंतव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरंति ।

पापकर्म करने वालों के लिए, रौरव आदि सात नरकों का भी, गंतव्यस्थान के रूप से वर्णन करते हैं ।

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।।

तेष्वपि सप्तसु यमाज्ञयैव गमनादविरोधः । अतोऽनिष्टादि-

ankurnagpal108@gmail.com

कारिणामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मानुरूपं यातनाश्चानुभूय पश्चात् चंद्रावरोहावरोहौ स्तः ।

उन सात रौरवादि नरकों में भी यम की आज्ञा से ही गमन होता है । इससे निश्चित होता है कि-अनिष्टकारी भी यम लोक को प्राप्त कर अपने कर्मानुरूप यातनाओं को भोगकर बाद में चन्द्र पर आरोहण अवरोहण करते हैं ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३।१७॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः अनिष्टादिकारिणामपि चंद्रप्राप्तिरस्तीत्येतन्नोपपद्यते । कुतः?विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वाद् देवयान पितृयाणयोः । एतदुक्तं भवति-अनिष्टादिकारिणां यथा विद्या विधुरत्वात् देवयानेन पथा गमनं न संभवति, तद्वदेव इष्टापूर्तदत्त-विधुरत्वात् पितृयानेन चंद्रगमनमपि न संभवति, इति । देवयान पितृयाणयोः विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति चेत्—प्रकृतत्वात्तयोः । प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म "यद्यइत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" इत्युक्त्वा "तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः" इत्यादिना देवयानवचनात् । "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तेदत्तमित्युपासते" इत्युक्त्वा-"ते धूममभिसंभवंति" इत्यादिना पितृयान वचनाच्च "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसेव ते सर्वे गच्छंति" इत्येदपि वचनं "य इष्टादिकारिणः ते सर्वे" इति परिणेयम् ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत का व्यावर्त्तक है । अनिष्ट कारियों की भी चांद्रमसी गति होती है, है ऐसा कथन उपयुक्त नहीं है, विद्या और कर्म के फलस्वरूप ही देवयान और पितृयान मार्ग से गति होती है ।

ankurnagpal108@gmail.com

कथन यह है कि-जैसे कि-अनिष्टकारी, अध्यात्मविद्या की उपासना के बिना देवयान में नहीं जा सकते, वैसे ही-ईष्टापूर्त्तदत्त कर्म के बिना, पितृयान मार्ग से भी चांद्रमसी गति असंभव है। यदि कहें कि- देवयान और पितृयान की विद्या विषयता और पुण्यकर्म विषयता कैसे ज्ञात हुई? दोनों शास्त्रों में ही वर्णन किया गया है। देवयान के लिए उपासना और पितृयान के लिए कर्म का ही उल्लेख है। "जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, अरण्य में जो श्रद्धा पूर्वक तप करके उपासना करते हैं" वे अर्चिरादिगति को प्राप्त कर, दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से देवयान का तथा "जो ग्राम में इष्टापूर्त्तदान से इनकी उपासना करते है" वह धूममार्ग को प्राप्त करते है" इत्यादि से पितृयान का उल्लेख किया गया है। "जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सब चान्द्रमसी गति ही प्राप्त करते हैं" इस वचन को भी "जो इष्टादिकारी हैं वे सब" इत्यादि की तरह ही समझना चाहिए।

ननु पापकर्मणां चंद्रगमनाभावे पंचमाहुत्यसंभवात् शरीरारंभ एव नोपपद्यते, "पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति हि शरीरारंभः श्रूयते, सा चाहुतिश्चंद्र प्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम्, अतः शरीरारंभायैव तेषामपि चंद्रारोहावरोहाववश्याभ्युपेत्याविल्यत आह-

तर्क-यदि पाप करने वालों की चान्द्रमसी गति न होगी तो वे पांच आहुतियों को भी न प्राप्त होंगे, फिर उनका शरीरारंभ भी न होगा क्योंकि-"पांचवीं आहुति प्राप्त कर पुरुष नाम वाला होता है" ऐसा शरीरारंभ का वर्णन मिलता है, इसमें चंद्र प्राप्तिपूर्विका आहुति ही दिखलाई। गई है इसलिए शरीरारंभ के लिए, उनका भी चंद्रारोहण अवरोहण स्वीकारना होगा। इस तर्क का परिहार करते हैं—

न तृतीयोपलब्धेः ।३।१।१८॥

तृतीयस्थानस्य शरीरारंभाय न पंचम्याहुत्यपेक्षा, कुतः? तथोपलब्धेः, तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माण उच्यन्ते, तेषां देहारंभे पंचमाहुत्यमपेक्षत्वमुपलभ्यते "वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्यते" इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्नकतरेण च

ankurnagpal108@gmail.com

तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनिभूतानिभवंति जायस्वम्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यंते" इति तृतीय स्थानस्य द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोका संपूर्त्तिंवचनादस्य तृतीय स्थानस्य शरीरारम्भाय न पंचमाहुत्यपेक्षा। "पंचम्याहुतौ" इति चापां पंचमाग्निसंबंधस्य पुरुषवचस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति, नान्यन्निवारयति, अवधारणाश्रवणात्।

तृतीय स्थानीय पापी के लिए पांच आहुतियों की अपेक्षा नहीं होती ऐसा ही शास्त्र में पाया जाता है। तृतीय स्थान शब्द से केवल पाप करने वालों का ही उल्लेख है, उनके लिए पंच आहुतियों की अनपेक्षा का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"क्या तुम जानते हो कि-यह द्युलोक भर क्यो नहीं जाता? "इस प्रश्न के उत्तर में-' बार बारआने जाने वाले क्षुद्रव्यक्तियों का इन दोनों में से किसी भी मार्ग से आना जाना नहीं होता, उनकी तो यहीं मरने जीने की तीसरी गति होती, है इसलिए द्युलोक नहीं भरता "ऐसे तृतीय स्थान का उल्लेख किया गया है, जिसमें द्युलोक के गमनागमन का अभाव रहता है इस वचन से तृतीय स्थानीय की, शरीरारंभ में, पंचाहुति अनपेक्षा ज्ञात होती है। "पंचम्यामाहुतावापः" इत्यादि श्रुति तो केवल पंचाग्नि संबंधी जल को ही, पुरुष के स्वरूप का समुत्पादक सिद्ध करती है, अन्य कारणों का प्रतिषेध भी नहीं करती। श्रुति में ऐसा कोई निश्चयात्मक शब्द भी नहीं है।

स्मर्यतेऽपि च लोके ।३।१।१९॥

पुण्यकर्मणामपि केषांचित्पंचमाहुत्यनपेक्षया देहारंभोलोके स्मर्यंते द्रौपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतीनाम्।

स्मृतियों में-पुण्य करने वालों में भी, किसी किसी का देहारंभ, पांचआहुतियों के बिना बतलाया गया है, द्रौपदी धृष्टद्युम्न आदि का इसी प्रकार का है।

दर्शनाच्च ।३।१।२०॥

श्रुतावपिदृश्यते केषांचित् पंचमाहुत्यनपेक्षयादेहारंभः 'तेषां

ankurnagpal108@gmail.com

खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवंति आंडजंजीवजमुद्भिजम्" इति, एवमुद्भिजस्वेदजयोः भूतयोः पंचमाहुतिमंतरेणोत्पत्तिर्दृश्यते ।

श्रुति में भी किसी किसी का पंचआहुति के बिना देहारंभ दिखलाया गया है–"इन भूतों में तीन ही प्रकार के बीज होते हैं अंडज, जीवज और उद्भिज" उद्भिज स्वेदज की उत्पत्ति, पांच आहुतियों के बिना ही दिखलाई गई है।

ननुस्वेदजानामत्र न संकीर्त्तनमस्ति "त्रीण्येव बीजानि" इति वचनात् तत्राह–

यहां स्वेदजों का तो उल्लेख ही नहीं है "त्रीण्यैवबीजानि" ऐसा ही उल्लेख है? इसका समाधान करते हैं–

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि "आडजंजीवजमुद्भिजम्" इत्यत्र तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रहो विद्यत इत्यर्थः । अतः केवल पापकर्मणां चंद्रप्राप्तिर्नसंभवति ।

"अण्डजंजीवजमुद्भिजम्" में कही गइ तीसरी उद्भिज सृष्टि में ही स्वेदज का भी, उल्लेख हो जाता है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि–केवल पाप करने वालों की, चान्द्रमसी गति नहीं होती।

४–तत्स्वाभाव्यापत्यधिकरणः—

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपद्यतेः ।३।१।२२॥

इष्टादिकारिणोभूतसूक्ष्मपरिष्वक्ताः सानुशयाश्चन्द्रमसोऽवरोहंतीत्युक्तम्, अवरोहप्रकारश्च "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशम् आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वा अभ्रंभवति, अभ्रंभूत्वा मेघोभवति, मेघोभूत्वा प्रवर्षंति" इति वचनात्। "यथेतमनेवं च" इत्युक्तम् तत्रास्याकाशादि प्रतिपत्तौ

ankurnagpal108@gmail.com

देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः, उत् तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति विशये श्रद्धावस्थस्यसोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः

इष्टादिकारी, भूतसूक्ष्म से परिष्वक्त होकर सानुशय चंद्रमार्ग से अवरोहण करते हैं, तथा अवरोहण का प्रकार "उसी मार्ग से लौटते हैं–आकाश से वायु–वायु से धूम-धूम से अभ्र–अभ्र से मेघ होकर वर्षते हैं इस प्रकार बतलाया गया। इस पर संशय होता है कि–जीव, मनुष्यादि देह की तरह होकर आकाश आदि से होकर आता है अथवा, आकाश आदि सदृशरूप बनकर आता है?. इस पर समझ में आता है कि श्रद्धावस्था में जैसी सोमभाव की प्राप्ति होती है, वैसा ही आकाशादि भाव भी होता है।

सिद्धान्तः– इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते। तत्स्वाभाव्यापत्तिः, तत्साहृदृश्यापत्तिरित्यर्थः। कुत एतत्? उपपत्तेः सोमभावमनुष्यभावदौ हि सुखदुःखोपभोगाय तद्भावः, अत्रत्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावाद् तद्भावानुपपत्तेस्तदापत्ति वचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्यभिप्रायम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–उसकी स्वाभाव्यापत्ति का उल्लेख है, स्वाभाव्यापत्ति का तात्पर्य है तत्सदृशता प्राप्ति। सोमभाव मनुष्यभावादि की प्राप्ति सुखदुःख के उपभोग के लिए ही होती है, आकाशआदि में सुखदुःख के भोग का अभाव रहता है, इसलिए तदापत्ति या आकाश आदि कहने का अभिप्राय यह है कि-आकाश के साथ मिलकर आकाश आदि का सा रूपधारण करता है।

५ नातिचिराधिकरणः—

नातिचिरेण विशेषात् ३।१।२३॥

आकाश प्राप्ति प्रभृति यावद् व्रीह्यादि प्राप्ति कि तत्र तत्र नातिचिरं तिष्ठति, उतानियम इति विशये, नियमहेत्वभावादनियमः।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्यते उच्यते—नातिचिरेण—इति । कुतः? विशेषात् उत्तरत्र व्रीह्यादि प्राप्तौ "अतोवैखलु दुर्निष्प्रपतरम्" इति विशिष्टकृच्छ्र निष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वग्रह्याकाशाद्रिप्राप्तावचिर-निष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमितिच्छान्दसः त शब्दलोपः दुर्निष्प्रपतरं—दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

आकाश आदि प्राप्ति से लेकर धान्य आदि की प्राप्ति तक जीव, थोड़ा ही समय व्यतीय करता है, अथवा उसके समय का कोई नियम नहीं है? इस शंका पर विचार करने पर नियम का कोई हेतु तो समझ में आता नहीं इसलिए अनियम ही होगा ।

इस पर सिद्धान्त रूप से "नातिचिरेण" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। इसका तात्पय है कि—अधिक समय नहीं लगता, व्रीहि आदि रूप प्राप्ति का जो उल्लेख है, उससे ऐसा ही ज्ञात होता है । "बड़े कष्ट से निकलना होता है" ऐसे विशेष कष्टपूर्ण निष्क्रमण से ज्ञात होता है कि—इसके पूर्व के आकाश आदि रूप का, बहुत थोड़े समय में, निष्क्रमण हो जाता है। "दुर्निष्प्रपतरम्" इस शब्द में वैदिक व्याकरण के अनुसार द्वितीय "त" शब्द का लोप हो गया है, जिससे अर्थ होता है, दुःखपूर्णनिष्क्रमण वाला ।

६ अन्याधिष्ठिताधिकरणः—

अन्याधिष्ठितेपूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।।

अवरोहन्तो जीवाः व्रीह्यादिभावेन जायंत इति श्रूयते-"मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायंते" इति । ते किमन्यैर्भोक्तृभिर्व्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान् व्रीह्यादीनां श्लिष्यंति उत ते भोक्तारो व्रीह्यादिशरीरा जायंत इति विशये- "जायंते" इति वचनात् देवो जायते मनुष्यो जायते इतिवद् व्रीह्या-दिशरीरा एव—

लौटने वाले जीव, धान्य आदि भाव से उत्पन्न होते हैं — "मेघ होकर वर्षते हैं, वे ही जौ-चावल-औषधि-वनस्पति-तिल-उर्द होकर

ankurnagpal108@gmail.com

होते हैं" इस श्रुति से ज्ञात होता है। इस पर शंका होती है कि-ब्रीहि आदि शरीरधारी अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदि के साथ संश्लेष मात्र होता है, अथवा वे स्वयं ही ब्रीहि आदि शरीर में उपभोग करते हैं। इस संशय पर विचारने पर "जायंते" पद के अनुसार तो, "देवो जायते मनुष्यो जायंते" इत्यादि की तरह, ब्रीहि आदि शरीरों में ही जन्म लेते हैं ऐसा निर्णय होता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते— अन्याधिष्ठिते— इति। जीवान्तरेणाधिष्ठिते ब्रीह्यादि शरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव। कुतः? पूर्ववदभिलापात्—आकाशादिमेघपर्यन्तवत्केवलतद्भावाभिलापात्। यत्र हि भोक्तृत्वमभिप्रेतम्, तत्र तत्साधन भूतंकर्माभिलप्यते "रमणीयचरणाः" "कपूयचरणाः" इति इह चाकाशादिवन्नाभिलप्यते कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलस्येष्टादेः कर्मणः स्वर्गोपभोगादेव समाप्तत्वात्, अनारब्धस्य "रमणीयचरणाः—" कपूय—चरणाः" वक्ष्यमाणत्वात् मध्येकर्मान्तराभावाच्च। अत आकाशादि भाववचनवद् ब्रीह्यादि भावे तज्जन्म वचनमौपचारिकम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-जीव, अन्याधिष्ठित होकर ही लौटता है। ब्रीहि आदि के शरीर में उनका संश्लेष मात्र होता है आकाश से लेकर मेघ तक, उनका केवल तद्भाव मात्र बतलाया गया है, जहाँ उनका केवल भोक्तृत्व ही अभिप्रेत है, वहाँ उनके साधन भूत कर्म भी बतलाये हैं "रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः" आदि। यहाँ आकाश आदि की तरह साधन रूप कर्म का तो उल्लेख है नहीं। वस्तुतः फलोन्मुख स्वर्गोपभोग्य, शुभ कर्मों की भुक्ति तो, स्वर्गोपभोग से ही समाप्त हो जाती है जिनकर्मों के फल आरंभ ही नहीं होते, "रमणीय चरणाः कपूय चरणाः" श्रुति में, उन्हीं की चर्चा की गई है। इसलिए कोई ऐसा कर्म समझ में नहीं आता कि जिसके फलस्वरूप, जीवों का ब्रीहि आदि शरीरी होना माना जाय। आकाश आदि भाव के वचन की तरह, ब्रीहि आदि भाव के वचन को भी, औपचारिक समझना चाहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५॥

नैतदस्ति–यदन्याधिष्ठते ब्रीह्यादिशरीरे संश्लेषमात्रम्, भोक्तृत्व हेत्वभावान्न ब्रीह्यादि भावेन जन्म-इति भोक्तृत्वहेतुसद्भावात् स्वर्गोपभोग्यफलमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम्-पापमिश्रम्, अग्नीषोमीयादि-हिंसायुक्तत्वात् । हिंसा च "हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषिद्धत्वात् पापमेव । न चात्र पदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावः संभवति भिन्न विषयत्वात् । अग्नीषोमीयहिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकार-कत्वं बोधयति "न हिंस्यात्" इति तु हिंसायाः प्रत्यवाय फलत्वम् ।

ब्रीहि आदि में अधिष्ठित जीव का संश्लेष मात्र ही होता है भोक्तृत्व के कारण का अभाव होने से, ब्रीहि आदि जन्म नहीं होता। यह कथन ठीक नहीं है । वहाँ पर भोग का कारण रहता है–, स्वर्ग में जिनका फलभोग होता है, वे यज्ञ आदि कर्म ही, अशुद्ध और पापमिश्रित रहते हैं, अग्निसोमीय यज्ञ हिंसायुक्त होते हैं, "प्राणिमात्र की हिंसा मत करो" इत्यादि में हिंसा का निषेध किया है, अतः हिंसा करना पाप ही है । यहाँ पर पदाहवनीयादि की तरह, उत्सर्गापवाद भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषय ही भिन्न है । अग्निषोमीय हिंसा विधि तो, हिंसा की यज्ञोपकारकता की ही बोधक है, " न हिंस्यात्" इत्यादि में तो सामान्यतः हिंसा की पाप जनकता बतलाई गई है ।

अथोच्येत-अग्नीसोमीयादिषु विधितः प्रवृत्तेर्नतद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, राग प्राप्तविषयत्वात्तस्येति । नैवम्-इहापि रागप्राप्तेरविशिष्टत्वात् । "स्वर्गकामो यजेत्" इत्येवमादौ हि कामिनः कर्त्तव्यतया चागाद्युपदेशाद्यागादेः स्वर्गादिसाधनत्व-मवगम्य फलरागत एव यागादौ प्रवर्त्तते अग्नीषोमीयादिष्वपि तेषांफलसाधनभूतस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव । प्रवर्त्तते लौकिक्यामपि हिंसायां केनचित् प्रमाणेन हिंसायाः स्व

ankurnagpal108@gmail.com

समीहित साधनत्वमवगम्य रागात् प्रवर्त्त त इति न कश्चन् विशेषः तथा नित्येष्वपिकर्मसु "सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परम परिमितं सुखम्" इत्यादि वचनात् फलसाधनत्वमवगम्य रागादेव प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धि युक्तत्वम्। अत इष्टादीनां पापमिश्रत्वेनाशुद्धियुक्तानां स्वर्गेऽनुभाव्यंफलं स्वर्गेऽनुभूयहिंसाशस्यफलं व्रीह्यादिस्थावरभावेनानुभूयते स्थावरभावं च पापफलं स्मरंति-" शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति। अतो व्रीह्यादिभावेन भोगायानुशयिनो जायंत इति चेत्।

यदि कहें कि अग्नीषोमीय आदि हिंसा कार्य में, जो लोगों की प्रवृत्ति होती हैं वह शास्त्र विधि सम्मत है, अतः "न हिंस्यात्" वाक्य उस वैध प्रवृत्ति का बाधक नहीं हो सकता, इस वाक्य में तो, रागवश या स्वाभाविक हिंसा का ही विरोध किया है। सो ऐसी बात नहीं है- यहाँ भी राग के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है। "स्वर्ग कामोयजेत्" इत्यादि वाक्यों में, सकाम व्यक्तियों के लिए जो कर्त्तव्य रूप से याग का उपदेश दिया गया है, जिससे कि लोग, स्वर्ग प्राप्ति की कामना से ही, याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अग्नि सोमीयआदि में भी, फल प्राप्ति की ही कामना रहती है। लौकिकी हिंसा में भी, किसी न किसी अंश में, अपनी अभीष्ट फलसिद्धि मानकर ही,रागपूर्वक हिंसा प्रवृत्ति है, वैदिक हिंसा में, इससे विशेष कोई बात नहीं समझ में आती। वैसे ही नित्यकर्मों में भी "अपने धर्मानुष्ठान में सभी वर्णों को अपरिमित सुख होता है" इत्यादि से फल साधनता की अवगति होने पर ही, राग वश लोगों की स्वकर्म में प्रवृत्ति होती है। नित्यकर्म भी, सकाम होने से अशुद्ध ही समझे जावेंगे। यज्ञ आदि, अनुष्ठान तो, सकाम होने से, पाप-अशुद्ध हैं ही, उनका फल स्वर्ग में अनुभूत हो जाने पर, अवशिष्ट हिंसा के फल को भोगने के लिए, व्रीहि आदि स्थावर शरीरों की प्राप्ति होती है। जिनमें उस फल का भोग हो जाता है स्थावर भाव, पाप के फल स्वरूप ही होता है, ऐसा स्मृति का प्रमाण भी है-"शारीरिक कर्म के दोषों से मनुष्य स्थावर होता है" इत्यादि इससे सिद्ध होता है कि- जीव,

ankurnagpal108@gmail.com

चन्द्रलोक से भोगानुशायी होकर लौटते समय, ब्रीहि आदि स्थावर योनियो में, उत्पन्न होता हुआ आता है।

तन्न, कुतः? शब्दात्– अग्नीसोमीयादेः संज्ञपनस्य स्वर्गलोक प्राप्ति हेतुतया हिंसात्वाभावः, शब्दात्। पशोर्हि संज्ञपन निमित्तां स्वर्गलोक प्राप्तिवदंतं शब्दमामनंति "हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्ग लोकमेति" इत्यादिकम्। अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतोव्यापारोऽल्प दुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत् रक्षणमेव। तथा च मंत्रवर्णः–"न वा उ एतस्मिनम्रियसे न रिष्यसि देवान इदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र यंति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु" इति। चिकित्सकं च तादात्विकाल्पदुखकारिणमपि रक्षकमेव वदति, पूजयंति च तज्ज्ञाः।

जैसा तर्क उपस्थित किया गया, बात वैसी नहीं है-उक्त मत शास्त्र सम्मत नहीं है। अग्नीसोमीय आदि जो हिंसा की विधि है, वह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है, इसीलिए उसे अहिंसा शब्द से प्रयोग किया गया है। पशु के विधिपूर्वक वध करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख, श्रुति में है "हिरण्य (स्वर्णमय) शरीर धारण करके, ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक प्राप्त करता "इत्यादि। अत्यंत अभ्युदय की साधन रूपा क्रिया, थोड़ी दुःखदायी भी हो तो उसे हिंसा नहीं कहते अपितु वह रक्षण ही है। वैदिकमंत्र में भी जैसे–"हे पशु। इस प्रकार के वध से तुम मरते नहीं, और न हिंसित ही होते हो, तुम सरल रीति से देवमार्ग को प्राप्त हो रहे हो। जहाँ पुण्यवान् ही जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस स्थान में सवितादेव तुम्हें पहुँचावें।"इत्यादि चिकित्सक भी,चिकित्सा के समय रोगी को थोड़ा बहुत दुःख देते ही हैं फिर भी,समझदार लोग उन्हें रक्षक कहकर पूजते हैं।

रेतः सिग्योगोऽथ।३।१।२६॥

इतश्चौपचारिकं व्रीह्यादिजन्मवचनं, व्रीह्यादिभाववचनानंतरं "योह्यन्नमत्ति योरेतः सिंचति तद्भूय एव भवति" इति रेतः

ankurnagpal108@gmail.com

सिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद् व्रीह्यादिभावोऽपीत्यर्थः ।

व्रीहि आदि के जन्म की बात तो औपचारिक ही है, व्रीहि आदि भाव के बोधक वाक्यों के बाद "जो जो अन्न खाते हैं जो रेतसिंचन करते हैं बहुलांश में वही होते हैं" इत्यादि श्रुति में, दिखलाया गया है कि- शुक्र सिंचनभाव से जीव का, रेत सिंचक के साथ जैसा संबंध होता है, व्रीहि आदि भाव में भी वैसा ही संश्लेष होता है ।

योनेः शरीरम् ३।१।२७॥

योनि प्राप्तैः पंचादेवानुशयिनां शरीर प्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोपभोग सद्भावात् । ततः प्रागाकाशादि प्राप्ति प्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः ।

कर्मभोगानुशायी जीवों को, योनि से ही शरीर प्राप्ति होती है, तभी सुख:दुःख उपभोग होते हैं उसके प्रथम आकाश आदि में तो केवल जीव का योग मात्र होता है ।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

ankurnagpal108@gmail.com

द्वितीय पाद्

१ संध्याधिकरणः—

संध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं स्थापितं इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते-"न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानो भवंति, अथारथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवंति, अथानंदान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवंत्यो भवंति, अथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति तत्र संशयः, किमयं रथादिसृष्टिर्जीवेनैव क्रियते, आहोस्विदीश्वरेण? इति किं युक्तम्? संध्येसृष्टिर्जीवेनेति । कुतः? संध्यं स्वप्नस्थानमुच्यते "संध्यं तृतीयंस्वप्नस्थानमिति वचनात् । सा तु जीवेनैव क्रियते "सृजते स हि कर्त्ता" इत्यादि हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ।

कर्मानुरूप आवागमन जन्म आदि योग से जाग्रत जीव को, दुःख प्राप्ति बतला दी गई । अब जीव की स्वप्नावस्था का विश्लेषण करते हैं । स्वप्न के विषय में श्रुति में कहा गया है कि-"न वहाँ रथ, न रथ का संसर्ग, न मार्ग होते हैं, अपितु, रथ, अश्व, मार्ग आदि की सृष्टि करता है । न वहाँ आनंद, मोद और प्रमोद ही रहते हैं, अपितु आनंद-मोद-प्रमोद की सृष्टि करता है । वहाँ छोटे जलाशय, पुष्करिणी और नदियाँ भी नहीं होतीं, अपितु वेशांत, पुष्करिणी और नदियों की सृष्टि करता है। वही उसका कर्त्ता है ।" इस पर संशय होता है कि-यह सृष्टि जीव कृत है अथवा ईश्वर कृत? विचार करने पर सन्ध्य कृत सृष्टि जीव कृत ही ज्ञात होती है । संधि स्वप्न स्थिति को ही कहते हैं-"संध्या तीसरा स्वप्नस्थान

ankurnagpal108@gmail.com

है "इत्यादि । 'जो रचे सो कर्त्ता'' इस वाक्य से स्वप्न को देखने वाला जीव ही, स्वप्न सृष्टि का कर्त्ता प्रतीत होता है ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२॥

किंच—एनं जीवं स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति, पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यंते, नेच्छामात्रम्, पुवत्र हि "सर्वान् कामान् छंदतः प्रार्थयस्व" "शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इति पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः। अतोरथादीन् जीवः स्वप्ने सृजति जीवस्य च सत्यसंकल्पत्वं प्रजापति वाक्ये श्रुतम्, अतः उपकरणाद्यभावेऽपि सृष्टिरुपपद्यते ।

किसी किसी वेद की शाखा में जीव को स्वप्नदृश्य "कामों" का निर्माता भी कहा गया है-"नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला पुरुष सोता हुआ भी जागता है" । पुत्र आदि ही वहाँ पर काम्य वस्तुओं के रूप में निर्देश किये गये हैं, केवल इच्छा मात्र ही, उसका अभिप्राय नहीं है । उक्त वाक्य के पूर्व के वाक्य में कहा गया है कि—"सभी कामों को इच्छानुसार मांग लो "सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो" इनमें पुत्रादि को ही काम रूप से बतलाया गया है । इससे निश्चित होता है कि-रथ आदि की स्वप्न रचना जीव ही करता है । जीव की सत्यसंकलपता भी, श्रुति के प्रजापतिवाक्य में कही गई है । इसलिए बिना साधन के भी जीव में सृष्टि रचना की क्षमता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, स्वप्नरथपुषकिरिण्याद्यर्थजातं मायामात्रं परं पुरुषसृष्टमित्यर्थः । मायाशब्दोहि आश्चर्यवाची "जनकस्य कुलेजातादेवमायेवनिर्मिता" इत्यादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि—"न तत्र रथा, न रथयोगा न पंथानः" सकलेतरपुरुषानु-

ankurnagpal108@gmail.com

भाव्यतया न भवंतीत्यर्थः। "अथरथान् रथयोगान्पथः सृजते" स्वप्रदृगनुभाव्यतया तत्काल मात्रावसानान् सृजत् इत्याश्चर्यरूपत्वमेवाह एवं विधाश्चर्यरूपा सृष्टिः सत्यसंकल्पस्य परमपुरुषस्यैवोपपद्यते, न जीवस्य, तस्य सत्यसंकल्पत्वादि युक्तस्यापि संसारदशायाम् कात्स्न्येंनानभिव्यक्तस्वरूपत्वान्न जीवस्य तथाविधाश्चर्यसृष्टिरूपपद्यते।

तु शब्द, पक्ष का निवारक है। स्वप्नदृष्ट रथपुष्करिणी आदि केवल माया मात्र हैं जो कि-परमपुरुष की ही सृष्टि है। मायाशब्द आश्चर्यवाची है जैसा कि-"जनक के कुल में देवमाया ने ही मानों जन्म लिया" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। स्वप्न प्रसंग में भी- 'न रथा" इत्यादि में जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है, वो साधारण पुरुषों के अनुभव में न आने वाली दुर्लभ वस्तुएं है। यही दिखलाया गया है। 'रथ घोड़े मार्ग आदि की सृष्टि करता है" इत्यादि स्वप्न में दृष्टिगत ये वस्तुएं, उस कालमात्र में ही समाप्त हो जाती हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। ऐसी आश्चर्यमयी सृष्टि सत्यसंकल्प परमात्मा द्वारा ही संभव है, जीव द्वारा नहीं। जीव सत्यसंकल्प होते हुए भी; संसारदशा में उसका वह गुण पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं रह पाता इसलिए आश्चर्यमयी स्वप्न सृष्टि उससे स्वयं संभव नहीं है।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति च परमपुरुषमेवनिर्मितार-माह-"य एषु सुप्तेषु जागर्ति" तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते, तस्मिन्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन् "इत्युपक्रमोपसंहारयोः परमपुरुषासाधारण स्वभाव प्रतीतेः। अथ "वेशान्तान पुष्करिण्यः स्रजन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति च तया श्रुत्यैकार्थ्यात् परमपुरुषमेव कर्त्तारमाह।

"कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इत्यादि वाक्य भी, परमपुरुष परमात्मा के लिए ही, कहा गया है तथा "जो यह सोने पर भी जागता है" "वही परं विशुद्ध तत्त्व, परं ब्रह्म अमृत कहलाता है, उसी में संपूर्ण लोक

ankurnagpal108@gmail.com

आश्रित रहते हैं, उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" ऐसे उपक्रमोप संहार वाक्यों से भी, परमपुरुष परमेश्वर के असाधारण स्वभाव की प्रतीति होती है। "छोटे-छोटे कुंड और सरोवर नदी आदि की जो रचना करता है, वही उसका कर्त्ता है" इस श्रुति पूर्व और श्रुति की एकवाक्यता होने से, स्वप्न सृष्टि, परमपुरुष की ही कृति निश्चित होती है।

स्वाभाविमं चेज्जीवस्वयापहतपाप्मत्वादिकं, कुतस्तन्नाभिव्यज्यत् इत्यत् आह—

निर्दोषता आदि धर्म यदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं तो स्वयं प्रकाशित क्यों नहीं हो पाते? इस पर कहते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्यबंधविपर्ययौ ।३।२।४॥

तु शब्दः शंकाव्यावृत्यर्थः, पराभिध्यानात्-परमपुरुषसंकल्यात् अस्य जीवस्य स्वाभाविकंरूपं तिरोहितम्। अनादिकर्मपरम्परया कृपापराधस्य ह्यस्य स्वाभाविकं कल्याणरूपं परमपुरुषस्तिरोधापयति, ततः सत्यसंकल्पादेव हि अस्य जीवस्य बंधमोक्षौ श्रुतो 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति "एषह्येवानंदयति" "भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिषु।

तु शब्द शंका का निवारक है। पराभिध्यान अर्थात् परं पुरुष के संकल्प से इस जीव का स्वाभाविक रूप तिरोहित रहता है। अनादि कर्म परम्परा से अपराध करने वाले इस जीव के स्वाभाविक कल्याणमय रूप को, परमात्मा तिरोहित कर देते हैं, उस परमात्मा के सत्यसंकल्प से ही जीव का बंधन मोक्ष होता रहता है, ऐसा श्रुति का मत है—"जब कभी यह जीव, अदृष्ट, निराकार, अकथ्य, स्वाश्रय, परब्रह्म परमात्मा में निर्भयता पूर्वक, स्थिति प्राप्त करता है, तब वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है। जब तक यह थोड़ा भी परमात्मा से वियुक्त रहता है, तब तक उसे भय होता रहता है" यह परमात्मा ही सबको आनंद प्रदान करते हैं "इन्ही के भय से पवन चलता है "इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

देहयोगाद्वा सोऽपि ।३।२।५।।

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्ति योगद्वारेण वा, सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद् भवति प्रलयकाले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद् न वस्तुयोगात् । अतोऽनभिव्यक्तस्य रूपत्वात् स्वप्ने जीवोरथादीन् संकल्पमात्रेण स्रष्टुं शक्नोति । "तस्मात्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन् "इति सर्वेषु सुप्तेषु जागरणं सर्वलोकाश्रयत्वमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव संभवंति । अतो जीवानामल्पाल्पकर्मानुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्यानर्थानुत्पादयति ।

जीव का स्वरूप तिरोभाव, देहयोग और सूक्ष्मजडशक्ति द्वारा होता है । सृष्टि के समय, देह में स्थित जड़ वस्तु के संयोग से होता है, और प्रलय काल में नामरूप से अविभक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़ वस्तु के योग से होता है । इसलिए निर्दोषता आदि अनभिव्यक्त स्वरूप वाला जीव, स्वप्न में, संकल्प मात्र से रथ आदि सृष्टि कर ले ऐसा संभव नहीं है । "उसी में संपूर्ण लोक आश्रय पाते है,उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" इत्यादि में जो विशेषतायें बतलाई गई हैं, वह परमपुरुष परमात्मा में ही संभव हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मों के अनुसार, फलों का भोग कराने के लिए उतने ही समय में समाप्त होने वाले, एकमात्र जीव के अनुभव में आने वाले स्वाप्निक पदार्थों, को, परमात्मा सृष्टि करते हैं; ऐसा ही निश्चित होता है ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।६।।

इतश्चस्वा प्नार्थान जीवसंकल्पपूर्वकाः, यतः स्वप्नोऽभ्युदयानभ्युदयोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते"यदाकर्मसुकाम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने"इति"अथस्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतंपश्यति स एनं हंति "इत्यादेश्च । स्वप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते । सूचकत्वं च स्वसंकल्पायत्तस्य

ankurnagpal108@gmail.com

नोपपद्यते, तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्यसूचकमेव सृष्ट्वा पश्येत् अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ।

इसलिए भी स्वाप्न विषय, जीव के संकल्पित नहीं हो सकते-कि श्रुतियों में- अभ्युदय और पतन के सूचक स्वप्नों का उल्लेख है जैसे कि- "जब किसी अनुष्ठान में संलग्नव्यक्ति, स्वप्न में स्त्री का दर्शन करता है तो उससे उसकी समृद्धि समझनी चाहिए" तथा "स्वप्न में यदि, काले दांत वाले काले पुरुष का दर्शन होता है तो वही पुरुष स्वप्न दृष्टा को मारता है" इत्यादि। स्वप्नाध्याय के ज्ञाताओं ने, स्वप्न को शुभाशुभ सूचक कहा है। यह वस्तु अपने संकल्प के अधीन नहीं होती, अशुभता तो किसी को अभीष्ट होती नहीं, इसलिए शुभ सूचक स्वप्न की ही सृष्टि करके स्वयं देखने की बात समझ में नहीं आती। इससे स्वप्न सृष्टि परमात्मा की सिद्ध होती है।

२ तदभावाधिकरणः-

तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७॥

इदानीं सुषुप्ति स्थानं परीक्ष्यते । इदमाम्नायते-"यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदानाडीषु सुप्तो भवति" इति तथा-"अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति तथा-"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति" इति । एवं नाड्यः पुरीतत् ब्रह्म च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रूयंते, किमेषा विकल्पः समुच्चयोवेत्ति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतेः युगपदनेकस्थानवृत्त्यसंभवाच्च विकल्पः ।

अब सुषुप्ति अवस्था पर विचार करते हैं। ऐसी श्रुति है कि-"ये जीव, जिस, समय इन्द्रिय संबंध से रहित होकर एवं पूर्ण प्रसन्नता प्राप्तकर, किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब इन नाडियों में सोता है" "जब वह सोता है तब उस समय वह किसी के विषय में कुछ नहीं जानता,

ankurnagpal108@gmail.com

बहत्तर हजार हिता नाडियाँ जो कि-हृदय के पुरीतत स्थान से निकलती हैं उन्हीं के द्वारा चलकर वह पुरीतत में जाकर विश्राम करता है "पुरुष जिस समय सोया समझा जाता है, उस समय वह सद्ब्रह्म से संसक्त रहता है "इत्यादि वाक्यों में-नाडियाँ, पुरीतत और ब्रह्म को सुषुप्ति स्थान बतलाया गया है। अब संशय होता है कि-तीनों ही सुषुप्ति स्थल हैं अथवा इसमें से कोई एक है ? विचार करने पर ऐसा समझ में आता है कि-एक ही समय में अनेक स्थानों में रहना तो संभव है नहीं, तीनों एक दूसरे से सापेक्ष भी नहीं प्रतीत होते, इसलिए इनमें से किसी एक ही में स्थिति हो सकती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते-तदभावः, इति। तदभाव-स्वप्नाभावः सुषुप्तिः, नाडीषुपुरीतत्यात्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः त्रयाणां स्थानत्व श्रुतेः। न च कार्यभेदेन समुच्चये संभवति, पाक्षिकबाधगर्भविकल्पोन्याय्यः। संभवति च प्रासादखट्वापर्यंकवन्नाड्यादीनां कार्यभेदः। तत्रनाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म तु पर्यंकस्थानीयम्। अतोब्रह्मैव साक्षात् सुषुप्तिस्थानम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं कि—स्वप्न का अभाव ही निद्राहै-सुषुप्ति तीनों स्थानों में होती है, ऐसी श्रुति की विज्ञप्ति है। कार्य में भेद होने से ही समुच्चय नहीं होता, एककार्यता होने से ही समुच्चय संभव है, किसी एक की कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसा करने से पाक्षिक बाध होगा। इन तीनों में महल, खाट, गोद का सा भेद है। नाडी और पुरीतत को महल और खाट समझना चाहिए तथा ब्रह्म की गोद में ही शयन समझना चाहिए। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम्, अतः-अस्मात् ब्रह्मणः एषां जीवानां प्रबोधः श्रूयमाण उपपद्यते—"स त आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि- ब्रह्म को ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान कहा गया है वैसे, ब्रह्म से ही, जीवों के जागरण की बात भी कही गई है। "सत् ब्रह्म के निकट से लौटने पर, जीव नहीं समझ पाता कि मैं सत् के पास से आ रहा हूँ "इत्यादि।

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरण:—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।३।२।६॥

किं सुषुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति उतान्यः? इति संशये अस्य सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्यब्रह्मणि संपन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राचीनशरीरेन्द्रियादिसंबंधाभावादन्यः ।

क्या सोने वाला ही, जागता है, या कोई और जागता है? इस पर विचारने से, समझ में आता है कि-सुषुप्त व्यक्ति जब संपूर्ण उपाधियों से रहित ब्रह्म से संसक्त रहता है तो वह मुक्त पुरुष से तो किसी प्रकार कम है नहीं, क्योंकि-वह प्राक्तन शरीर इंद्रिय आदि से रहित हो जाता है। इसलिए जागने वाला कोई अन्य ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते-"स एव तु" इति। तुशब्द पक्षं व्यावर्त्तयति, एवोत्तिष्ठति, कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। कर्म-तावत्सुषुप्तेन पूर्वंकृतं पुण्यपापरूप तत्त्वज्ञानात्प्राक्तेन नैव भोक्तव्यम्। अनुस्मृतिरपि-"य एवाहं सुप्तः स एव प्रबुद्धोऽस्मि" इति। शब्दोऽपि सुषुप्तप्रबुद्धः स एवेति दर्शयति-"त इह व्याघ्रो वा, सिंहो वा, वृको वा वराहो वा, कीटो वा, पतंगो वा, दंशो वा, मशको वा यद्यद् भवंति तथा भवंति" इति। विधयश्च मोक्षार्थाः सुषुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकाः स्युः। न चासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त आविर्भूत स्वरूपः "तद् यत्रैतत् सुषुप्तः" इति सुषुप्तं प्रकृत्य" नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहम-स्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति वचनात्। मुक्तस्य च-"परं ज्योतिरुपसंपद्यस्वेन रूपे-

ankurnagpal108@gmail.com

णाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वज्ञत्वादि श्रूयते। अतः सुषुप्तः संसरन्नेव आयस्तसर्वकरणो ज्ञानभोगाद्यशक्तो विश्रामस्थानं परमात्मानमुपसंपद्याश्वस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–वही उठता है। तु शब्द उक्त तर्क का निवारक है। कर्म-अनुस्मृति–शब्द और विधि से, उसी की उठने की बात सिद्ध होती है। सुषुप्त व्यक्ति को जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता, तब तक, पुण्यपापरूप पूर्वकृत कर्म, उसे भोगने ही पड़ेंगे, ऐसी कर्मसंबंधी व्यवस्था है। " जो मैं सोया था, वही मैं उठ आया " ऐसी जगने वाले व्यक्ति की पूर्वानुस्मृति होती है। सोना और जागना एक ही व्यक्ति का होता है, ऐसा श्रुति शब्दों से भी ज्ञात होता है, जैसे कि-" जो जो सोने के पूर्व, व्याघ्र-सिंह-वृक-वाराह-कीट-पतंग-मच्छर आदि देखे जाते हैं, जागने बाद उनकी वैसे ही अनुभूति होती है।" इत्यादि सुषुप्ति से ही यदि मुक्ति होजाती तो, मोक्षविधायक शास्त्रों की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। यह जीव सुषुप्ति के समय, उपाधियों से रहित आविर्भूत स्वरूप नहीं रहता। "जीव जिस समय सोता है" ऐसी उसकी सुषुप्ति बतलाकर-" उस समय वह जीव " मैं ऐसा हूँ " ऐसी अनुभूति नहीं कर पाता दृश्य मान पदार्थों को भी नहीं जानता, विनष्ट पदार्थों को भी नहीं जानता, मेरी लिए भोग्य क्या है, उसे ऐसा भान भी नहीं रहता" इत्यादि में उसकी तात्कालिक परिस्थिति का विवेचन किया गया है। मुक्त रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है- " परम ज्योति को प्राप्त कर अपने ज्योतिर्मय रूप में अभिव्यक्तहोता है।" वह मुक्त पुरुष उस अवस्था मेंभक्षण-क्रीडा-और रमण करता हुआ विचरण करता है "वह स्वच्छंद हो जाता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती है।" "तत्त्वदर्शी सब कुछ देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है" इत्यादि में मुक्त पुरुष की ही सर्वज्ञता का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि–सुषुप्त व्यक्ति संसारी होते हुए भी, समस्त इन्द्रियों की चेष्टाओं से रहित, विषयों की उपलब्धि और भोग आदि से असक्त

ankurnagpal108@gmail.com

होकर विश्रामस्थल परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर, आश्वस्त होता है, और पुनः भोग के लिए उठ बैठता है।

मुग्धाधिकरण :—

४ मुग्धेऽर्ध संपत्तिः परिशेषात् ।३।२।१०॥

मुग्धमधिकृत्य चिंत्यते, किमियं मूर्च्छा सुषुप्त्यादिष्वन्यतमावस्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुषुप्त्यादीनां अन्यतमावस्थायामेव मूर्च्छा प्रसिद्धि उपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था।

अब मूर्छा पर विचार करते हैं, विचार होता कि यह मूर्छा क्या सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का ही कोई प्रकार है अथवा, कोई स्वतंत्र अवस्था है? इस पर समझ में तो ऐसा आता है कि– सुषुप्ति आदि किसी एक में ही, इसका अन्तर्भाव हो सकता है, इसकी पृथक कल्पना करने का कोई कारण समझ में नहीं आता, यह उन्हीं में कोई एक अवस्था है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्ते उच्यते–"मुग्धेऽर्धसंपत्तिः" इति। मुग्धे पुरुषे यातस्यावस्था सा मरणायार्धसंपत्तिः। कुतः? परिशेषात्-न तावत् स्वप्नजागरौ, ज्ञानाभावात्। निमित्तवैरूप्यादाकारवैरूप्याच्चन्ने न सुषुप्तिमरणे निमित्तं हि मूर्छाया अभिघातादिः। परिशेष्यात् मरणायार्धसंपत्ति मूर्छा, मरणं हि, सर्वप्राणदेहसंबंधोपरतिः, सूक्ष्म प्राणदेह संबंधावस्थिति मूर्छा।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि–मूर्छा आधी मृत्यु है। मुग्ध पुरुष की जो अवस्था होती है वह मरण की आधी अवस्था होती है। स्वप्न और जागृति में तो उसका अन्तर्भाव कर नहीं सकते, क्योंकि–इसमें ज्ञान का अभाव रहता है। कारण की विभिन्नता और आकृति की विभिन्नता से इसे सुषुप्ति और मरण में भी अंतर्भाव नहीं कर सकते। सांघातिक चोट आदि मूर्च्छा के कारण होते हैं। इसलिये मूर्च्छा को सबसे भिन्न ही मानना चाहिए, वह मरण की अर्द्ध अवस्था है। मरणावस्था में

ankurnagpal108@gmail.com

समस्त प्राणों सहित जीव का संबंध विच्छेद हो जाता है। मूर्छा में, जीव की, प्राणों की सूक्ष्म अवस्था सहित, देहस्थिति रहती है।

५. उभयलिंगाधिकरण :—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि ।३।२।११।।

दोष दर्शनाद् वैराग्योदयाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिता:, इदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णा जननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणोनिर्दोषत्व कल्याण गुणात्मकत्व प्रतिपादनायारभते। तत्रजागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रांतिषु स्थानेषु तत्तत्स्थान प्रयुक्ता जीवस्य ये दोषा: ते तदंतर्यामिण: परस्य ब्रह्मणोऽपितत्रतत्रावस्थितस्य संति नेति विचार्यंते। किं युक्तम् ? संतीति, कुत: ? तत्तादवस्थशरीरेऽवस्थानात्।

अवस्थागत दोषों की अवगति से वैराग्य का उदय होता है, इस लिए सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन किया गया। अब ब्रह्म प्राप्ति की तृष्णा को बढ़ाने के लिए, प्राप्य ब्रह्म, के निर्दोषता, कल्याण-गुणमयता आदि गुणों के प्रतिपादन का प्रयास करते हैं। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्छा और मृत्यु आदि अवस्थाओं के दोष जीव में संचरित होते हैं, वे सब परमात्मा में भी होते हैं या नहीं ? ऐसा संशय होता है। कह सकते हैं कि-होते हैं क्योंकि-उन अवस्थाओं, में शरीर में उसकी भी तो स्थिति रहती है।

ननु "संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" स्थित्यदनाभ्यां च "इत्यादिषु परस्याकर्मवश्यत्वेन दोषाभाव उक्त:, तत्कथमकर्मवश्यस्य परस्यब्रह्मण: तत्तत्स्थानसंबंधाद् दोष उच्यते; इत्थमुच्यते-कर्माण्यपि देहसंबंधमापादयन्त्यपुरुषार्थं जननानि भवंति, इति। "देहयोगाद्वा" इत्यत्रोक्तम् तच्च देहसंबंधस्यापुरुषार्थत्वेन भवति। इतरथा कर्माण्येव दु:खं जनयिष्यंति। किम् देहसंबंधेन, अतोऽकर्मवश्यत्वे सत्यपि नानाविधाऽशुचिदेहसंबंधोऽपुरुषार्थ एव, अतस्तन्नियमनार्थं स्वेच्छया तत्प्रवेशेऽप्यपुरुषार्थसंबंधोऽवर्जनीय:, पूयशोणितादि मज्जनं

ankurnagpal108@gmail.com

हि स्वेच्छाकारितमप्यपुरुषार्थं एव। अतो यद्यपि जगदेककारणं सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणाकरं च ब्रह्म, तथापि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनि तिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन् "यो तेजसितिष्ठन्" इत्यादि वचनात् तत्रतत्रावस्थितस्य तत्तत्संबंधरूपापुरुषार्थाः संति इति।

प्रश्न होता है कि–"संभोग प्राप्तिरिति" तथा "स्थित्यदनाभ्यां च" इत्यादि सूत्रों से जब, परब्रह्म की कर्मवशता संबद्ध दोषों का अभाव बतला चुके, तब उन अवस्थाओं से संबद्ध परब्रह्म को उन अवस्थाओं के दोषों से संसक्त कैसे कहा जा सकता है? ऐसे कह सकते हैं कि–कर्मों में, देह संबंध को स्थापित करने पर, पुरुषार्थ संपादन की क्षमता नहीं होती ऐसा "देहयोगाद्वा" सूत्र से सिद्ध कर चुके हैं। वे कर्म देहसंबंधित होने से अपुरुषार्थ जनक होते हैं। वे कर्म ही जब दुःख जनक होते हैं, इसलिए देह संबंध से क्या होता है? जैसे कि-यह विचार समीचीन है, वैसे ही, कर्मवश न होते हुए भी, विविध अपवित्रताओं से संबद्ध शरीर से संबंधी होने से अपुरुषार्थता (दुःख) होना स्वाभाविक ही है। उस शरीर को नियमन करने के लिए, स्वेच्छा से उसमें प्रवेश, करने पर, शारीरिक दुःखों का संश्लेष भी अनिवार्य होजाता है, पूयशोणित आदि में, स्वेच्छा से प्रवेश करना भी तो, अपुरुषार्थ (दुःख) है। यद्यपि ब्रह्म, जगत् के एक मात्र कारण, सर्वज्ञता आदि कल्याणमय गुणों के भंडार हैं फिर भी "पृथ्वी में" "आत्मा में" नेत्रो में "तेज में" इत्यादि में जो उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है, उससे उन–उन वस्तुओं से उनका संबंध निश्चित होता है जो कि अपुरुषार्थ (दुःख) ही है।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–"न स्थानतोऽपिपरस्य" इति। न पृथिव्यात्मादिस्थानतोऽपि परस्यब्रह्मणः अपुरुषार्थ गंधः संभवति। कुतः "उभयलिंगं सर्वत्र हि"–यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु पर ब्रह्म, उभयलिंगं, उभय लक्षणमभिधीयते। निरस्तनिखिलदोषतत्व कल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतमित्यर्थः "अपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः "समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद् धृतभूतसर्गः" तेजो बलैश्वर्य महावबोध

ankurnagpal108@gmail.com

सुवीर्यशक्त्यादि गुणैकराशिः, परः पराणां सकलान् यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे "समस्त रहितं विष्णवाख्यं परमंपदम्" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः, उभयलक्षण हि ब्रह्मावगतम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि पृथिवी आदि में स्थित रहते हुए भी, परब्रह्म परमात्मा में अपुरुषार्थ की गंध तक नहीं आती । श्रुति और स्मृतियों में, परब्रह्म को उभयलक्षणों वाला बतलाया गया है। अर्थात् उनमें, दोषहीनता और कल्याणगुणाकरता दोनों विशेषतायें हैं । जैसे कि-"वह, निर्दोष, अजर, अमर, शोक-भूख-प्यास रहित, सत्य काम और सत्य संकल्प हैं" वह समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त, अपनी अंश रूप शक्ति से संपूर्ण जगत को धारण किये हुए हैं, तेज-बल-ऐश्वर्य-विशुद्ध ज्ञान उत्कृष्ट वीर्य और शक्ति आदि गुणों के एक मात्र पात्र, श्रेष्ठों के श्रेष्ठ हैं, उनमें बड़े छोटे किसी प्रकार के दोष नहीं हैं "समस्त हीन ताओं से रहित, विष्णु नामक परंदेव हैं ।" इत्यादि श्रुति स्मृतियों में उभयगुणवाले ब्रह्म का उल्लेख है ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२॥

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यापि देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगः, तथान्तर्यामिणः परस्यापि सतोऽपहतपाप्मत्वाद्युभयलिंगस्यतत्तदेवादि शरीरयोगरूपावस्थाभेदाद-पुरुषार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्, तन्न, प्रत्येकमतद्वचनात्-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु प्रतिपर्यायं "सत आत्माऽन्तर्यामृतः" इत्यन्तर्यामिणोऽमृतत्ववचनेन तत्र तत्र स्वेच्छाया-नियमनंकुर्वतस्तत्तत्संबंधप्रयुक्ता पुरुषार्थप्रतिषेधात् । जीवस्य तु तत्स्वरूपं तिरोहितमिति "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" इत्यत्रोक्तम् ।

यदि कहें कि-प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि-जीव में भी निर्दोषता आदि उभय विध गुण विद्यमान हैं, पर उसमें देव मनुष्य आदि देहयोग की अवस्थाओं के भेद से, अपुरुषार्थ अनिवार्य होता है । वैसे ही अन्तर्यामी परब्रह्म के भी, उभयविध गुण होते हुए भी अपुरुषार्थ होगा

ankurnagpal108@gmail.com

ही। सो बात नहीं है क्योंकि परमात्मा की प्रत्येक में स्थित और अनासक्ति बतलाई गई है। "जो पृथ्वी में स्थित होकर" "जो आत्मा में स्थित होकर" "इत्यादि में निर्दिष्ट पर्यायों में "वही तुम्हारे अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा हैं" ऐसे अमृतत्त्व निर्देश द्वारा, स्वेच्छा से नियमन करने वाले परमेश्वर के, विशेष-विशेष दोषों का प्रतिषेध किया गया है। जीव का उभयविध गुणों वाला स्वरूप तो तिरोहित रहता है "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" सूत्र से यह बतला चुके हैं।

ननु स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुषार्थं संबंधो अवर्जनीय इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्, नहि अचिद्वस्वस्त्वपि स्वभावतोऽपुरुषार्थस्वरूपम्, कर्मवश्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुषसंकल्पादेकमेववस्तु कालभेदेनपुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति, वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु तादरूप्ये सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्, न चैवं दृश्यते, तथाचोक्तं "नर्कस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम, यस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः, तदेव प्रीतये भूत्वा पुन दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते, तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च कंचित् सुखात्मकम्" इति। अतोजीवस्य कर्मवश्यत्वात्तत्तद् कर्मानुगुण्येन तत्तद्वस्तु संबंध एवापुरुषार्थः स्यात् परस्य। तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव संबंधस्तत्तद् विचित्रनियमनरूपलीला रसयैव स्यात्।

परमेश्वर स्वेच्छा से कार्य करते हुए भी, वस्तुओं के स्वभाव से आयत्त होने के कारण उनका अपुरुषार्थ अनिवार्य हो जाता है, ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं है। जडवस्तु भी स्वभाव से अपुरुषार्थ स्वरूप नहीं होती अपितु कर्माधीन होने से अपने ही स्वभावानुसार एक ही वस्तु परमेश्वर के संकल्प से काल भेद और पुरुष भेद से सुखकर और दुःखकर होती है। वस्तुओं में यदि सुख और दुःख स्वाभाविक होते तो, सभी वस्तुएं तद्रूप होने से या तो सुखी रहतीं या दुःखी ही रहतीं। ऐसा तो

ankurnagpal108@gmail.com

होता नहीं। जैसा कि–कहा भी गया है कि–"हे द्विजोत्तम! पाप और पुण्य ही, नरक और स्वर्ग नाम से कहे जाते हैं। एक ही वस्तु सुखकर दुःखकर, ईर्ष्याजनक और कोपजनक होती है, इसलिए उसका वास्तविक स्वरूप कैसे जाना जाय? जो वस्तु प्रीतिजनक होकर पुनः दुःखदायी हो जाय और वही कोप और प्रसन्नता की भी कारण हो जाय तो उससे पता चलता है कि-न कोई वस्तु दुःखात्म है न सुखात्मक।" इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है कि-कर्माधीन होने से, कर्मानुसार वस्तुओं का संबंध ही, जीव के लिए अपुरुषार्थ होता है तथा स्वाधीन परब्रह्म के वे ही संबंध, विचित्र नियमन रूप लीला रस के कारण होते हैं।

अपिचैवमेके ।३।२।१३॥

अपि च एके शाखिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्त दीप्तिप्रयोगं च स्वशब्देनाभिधीयते-"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्नं पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति" इति।

श्रुति की एक शाखा में भी, एक ही देह संयोग में, जीव के अपुरुषार्थ और परमेश्वर में उसके अभाव और नियमन रूप ऐश्वर्य से अधीन स्वप्रकाश का विवेचन किया गया है "सहयोगी, समान स्वभाव वाले दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें से एक पके हुए कर्मफल का भोग करता है, दूसरा साक्षी रूप से देखता मात्र है।"

अथ स्यात्-"अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "इति ब्रह्मात्मकं जीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्वं चास्ति ततश्च "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि विधिनिषेधशास्त्रगोचरत्वेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमिति तत्राह—

(शंका) ऐसा होते हुए भी "मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" ऐसी ब्रह्मात्मक अभिव्यक्ति तदात्मक होने से

ankurnagpal108@gmail.com

 6893

देव मनुष्यादि के नामरूपों वाली होती है तथा "ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि निषेधात्मक वाक्यों से परमात्मा की कर्माधीनता अनिवार्य हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।१४।।

देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन रूपेण युक्तमप्यरूपवदेव तत् ब्रह्म-रूपरहिततुल्यमेव, जीववच्छरीरित्वनिबंधनं कर्मवश्यत्वमस्य न विद्यत् इत्यर्थः। कुतः? निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात्। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निवहिता ते यदन्तरातद्ब्रह्म" इति सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्यास्पर्शेन नामरूपयोर्निर्वोढृत्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति। ननु तच्छरीरकत्वेन तदन्तर्यामित्वे कथमरूपवदिति रूपसंबंधरहित तुल्यत्वमुच्यते? इत्थं यथाजीवस्य तत्तज्जन्य सुखदुःखभाक्त्वेन तत्तद्रूपसंबंधः तथा तदभावात् परस्यारूपवत्वम्। विधिनिषेध-शास्त्राण्यपि कर्मवश्यमेवाधिकुर्वन्ति तस्मादरूपतुल्यमेव परंब्रह्म। **ततश्चान्तर्यामिरूपेणावस्थितमपि ब्रह्म निरस्तनिखिलदोषत्व कल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिंगमेव।**

देवादि शरीरों में अनुप्रवेश करते हुए, उन उन रूपों से मुक्त होकर भी, ब्रह्म, निश्चित ही निराकार की तरह ही रहता है, अर्थात् उसमें जीव की सी कर्माधीनता नहीं रहती। क्योंकि उसकी, निर्वाहक रूप से प्रधानता बतलाई गई है। "आकाश ही नामरूप का निर्वाहक है, ये नाम और रूप जिसमें स्थित हैं, वही ब्रह्म है" यह श्रुति उसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म, सब में प्रविष्ट होकर भी नामरूप जन्य किसी भी प्रकार के कार्यों से संस्पृष्ट नहीं होता, और उसकी नाम रूप निर्वाहकता भी साध्य होती है [प्रश्न] देवादिकों के शरीर से, अतंर्यामी रूप से संबद्ध होते हुए भी उसे "अरूपवद्" कैसे कहा गया? (उत्तर) जैसे कि-जीव के कर्मों से होने वाले सुखदुःखों के भोग से, परब्रह्म की अरूपता होती है। विधिनिषेध शास्त्रों में भी, कर्माधीन के लिए ही अधिकार बतलाते हैं, इसलिए वह अरूपतुल्य ही है। इसलिए अंतर्यामी रूप से अवस्थित होते हुए भी,

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्म के-समस्तदोष राहित्य और कल्याण गुणाकरत्व, रूप दोनों लक्षण सिद्ध होते हैं।

ननु च "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैक-स्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वजगत्कारणत्व-सर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं "नेति नेति" इत्यादिभिः प्रतिषिध्यमानत्वे न मिथ्याभूतमित्यवगंतव्यम्, तत्कथं कल्याणगुणा-करत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वरूपोभयलिंगत्वम् ब्रह्मण इति, अत आह–

(प्रश्न) "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों से, निर्विशेष एकमात्र प्रकाशस्वरूप, ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्यत्र–सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता, सर्वात्मकता, आदि का "नेति नेति" इत्यादि से प्रतिषेध किया गया है, जिससे ये सारे गुण मिथ्या से ज्ञात होते हैं, तब कल्याण गुणाकरत्व और निर्दोषत्व आदि दोनों रूपों वाला कैसे कह सकते हैं? इस पर कहते हैं

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३।२।१५।।

यथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यै वैयर्थ्यात् प्रकाशस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तथा सत्यसंकल्पत्वसर्वज्ञत्व-जगत्कारणत्व सर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषत्वाद्यभिधा-यिवाक्यैवैयर्थ्यादुभयलिंगमेव ब्रह्म ।

"ब्रह्म-सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है" इत्यादि वाक्यों की सार्थकता के लिए जैसे-ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वीकारी जाती है, वैसे ही सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता सर्वात्मकता, अविद्या आदि दोष राहित्य आदि के बोधक वाक्यों की सार्थकता के लिए, उभय विध लिंग वाला ब्रह्म मानना होगा।

आह च तन्मात्रम् ।३।२।१६।।

किं च "सत्यंज्ञानमनंतं" इत्यादि वाक्यं ब्रह्मणः प्रकाश स्वरूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसंकल्पत्वादिकं वाक्यान्तरा-

ankurnagpal108@gmail.com

वगतम् निषेधति, "नेति नेति" इति च निषेधविषयोऽनन्तरमेव वक्ष्यते ।

"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म की प्रकाशरूपतामात्र का प्रतिपादक है सत्यसंकल्पता आदि के बोधक अन्यवाक्यों के विषय का विरोध नहीं करता, "नेति नेति" निषेध विषयक वाक्य तो दूसरे प्रकरण का है ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।३।२।१७।।

दर्शयति च वेदांतगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदोषत्वं च "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्यकश्चिज्जनिता न चाधिपः, । न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यज्ञानमयं तपः । भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । एको ब्रह्मणः आनन्दः । यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह । आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्नविभेति कुतश्चन । निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं । "इत्यादि ।

वेदांत वाक्य परमात्मा की कल्याण गुणाकरता और निर्दोषना का स्पष्टतः उल्लेख करते हैं– "वह ईश्वरों के ईश्वर परम महेश्वर, देवाधिदेव हैं । कारण और इन्द्रियों के भी कारण और अधिपति हैं, उनका कोई कारण और जनक नहीं है । उनमें कार्य और कारण नहीं है और न कोई उनके समान या अधिक है । उनकी पराशक्ति स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक प्रकार की है । वह सर्वज्ञ और सर्वविद है, ज्ञानमय उनका तप है । उनके भय से वायु चलता है तथा सूर्य उदय होता है । वह ब्रह्म ही एक मात्र आनन्द हैं । मन सहित वाणी उनको न पाकर लौट आती है । आनन्द ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता । वह परमात्मा अखण्ड, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है ।" इत्यादि ।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मर्यंते च—"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरं। विष्ट- भ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद् हि विपरिवर्त्तते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः। सर्वज्ञः सर्वकृत् सर्वशक्तिज्ञानवलर्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नाधिमान् वशी। क्लमतंद्राभयक्रोध कामादिभिरसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तेर्निर्दिष्टोऽक्षरः क्रमः"। इत्यादि, अतः सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिंगत्वात्तत्तत्स्थान प्रयुक्ता दोषा न परंब्रह्म स्पृशन्ति।

स्मृतियाँ भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती हैं—"जो मुझे अज, अनादि और लोकाधिपति जानते हैं मैं एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। मेरी ही अध्यक्षता में प्रकृति इस जडचेतनमय जगत का प्रसव करती है, इसी से जगत का चक्र चलता रहता है। उत्तमपुरुष परमात्मा, जीवात्मा से भिन्न विशेष है। वह ईश्वर त्रिलोकी का अन्तर्यामी रूप से भरण करता है। वह सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता, सर्वशक्ति, ज्ञान और बल ऐश्वर्य वान, ह्रास और वृद्धिरहित, स्वाधीन अजन्मा, वशी क्लेश, आलस्य, भय क्रोध और कामादि रहित निर्दोष, अप्राप्य, अनाश्रित और नित्य है।" इत्यादि, इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता कि ब्रह्म व्यापक होते हुए भी, दोनों प्रकार के गुणो से युक्त होने के कारण, उन उन स्थानीय दोषों से अनस्पृष्ट ही रहता है।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्।३।२।१८॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत् प्रयुक्त दोषभाक्त्वम्, अतएव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत् परमात्मा तत्रतत्राऽवस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेषूपमा क्रियते— "आकाशमेकं हि यथा घटादिषुपृथग् भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्थो

ankurnagpal108@gmail.com

जलाधारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः दृश्यते जल चंद्रवत् ।"इत्यादिषु ।

परब्रह्म, अनेक स्थानों में स्थित होकर भी, उन स्थानों के दोष से अस्पृष्ट रहते हैं, इनको शास्त्रों में, जलदर्पण आदि में प्रतिबिंबित सूर्य आदि की उपमा से समझाया गया है—"एक ही आकाश जैसे घट आदि में भिन्न हो जाता है तथा एक ही सूर्य जैसे विभिन्न जलाशयों में अनेक रूपों में प्रतिबिंबित होता है, वैसे ही एक ही परमात्मा सर्वान्तर्यामी रूप से हरेक भूतों में, जलाशयों में स्थित चंद्र की तरह है ।" इत्यादि ।

अत्र चोदयति—इस दृष्टांत को दूषित बतलाते हैं—

अंबुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१६॥

तु शब्दश्चोद्यंद्योतयति । अंबुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः । अंबुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते, न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते । अभ्व्वादिषुहि सूर्यादयोभ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यन्ते न परमार्थतः तत्रस्थाः इहतु "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" "योऽप्सुतिष्ठन्" "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते । यतः सूर्यादिरम्बुदर्पणादि-प्रयुक्तदोषाननुषंगस्तत्रतत्र स्थित्यभावादेव । अतो न तथात्वं-दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत पर तर्क प्रस्तुत करना है । अंबुवद् पद में सप्तम्यंत वत् प्रत्यय है । उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि जल दर्पण आदि में जैसे, सूर्य मुख आदि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, पृथ्वी आदि में, परमात्मा का वैसा प्रतिबिम्ब तो दृष्टिगत होता नहीं । भ्रांतिवश ही जल आदि में सूर्य आदि की उपस्थिति मान ली जाती, है वास्तव में तो वे वहाँ रहते नहीं । "जो पृथ्वी में स्थित हैं" "जो जल में स्थित है" इत्यादि वर्णनों में तो परमात्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है । सूर्य आदि की जो जल आदि से अनस्पृष्टता है,वह तो स्थिति के अभाव से

ankurnagpal108@gmail.com

है। परमात्मा की तो वैसी है नहीं। इसलिए उपमा उपमेय की तुल्यता न होने से उक्त द्रष्टान्त स्वीकार नहीं है।

परिहरति—उक्त वक्तव्य का परिहार करते हैं—

वृद्धिह्लासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसांमंजस्यादेवं दर्शनाच्च।३।२।२०।।

पृथिव्यादिस्थानोन्तर्भावात् स्थानिनः परस्यब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादि स्थानगतवृद्धिह्लासादि दोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादि दृष्टांतेन निवर्त्यते। कथमिदमवगम्यते? उभयसामंजस्यादेवम्-उभयदृष्टांत सामंजस्यादेवमिति निश्चीयते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषुपृथग् भवेत्"-"जलाधारेष्विवांशुमान्" इति दोषवत् स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चो-भयस्य दृष्टांतस्योपादान हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्व-निवर्त्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समंजसं भवति।

पृथिव्यादि स्थानों में अन्तर्यामी होते हुए भी, परब्रह्म स्वरूप और गुण से, पृथ्वी आदि स्थानगत वृद्धि ह्लास दोषों से, कहने मात्र को ही संलग्न हैं, यही सूर्य आदि के दृष्टान्त से बतलाया गया है। "एक ही सूर्य भिन्न जलाधारों में भिन्न दीखता है" एक ही आकाश भिन्न घड़ों में भिन्न भिन्न हो जाता है "ये दोनों दृष्टान्त, केवल परब्रह्म के, पृथिव्यादिगत दोष संस्पर्श राहित्य मात्र के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार इन दृष्टान्तों का सामंजस्य हो जाता है।

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्लासभाक्षु पृथक् पृथक् संयुज्यमानं अप्याकाशं वृद्धिह्लासादिदोषैर्न स्पृश्यते, यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानोऽशुमान् तद्गत् वृद्धिह्लासादिभिर्न स्पृश्यते, तथाऽयम् परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषुचेतनेषु च स्थितः तदगत् वृद्धिह्लासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्रवर्त्तमानोऽप्येकएवास्पृष्ट दोषगंधः कल्याणगुणाकर एव। एतदुक्तं भवति-यथा जलादिषु

ankurnagpal108@gmail.com

वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वंगः तथापृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वाभावान्न दोषसंबंध, इति। दर्शनाच्च-दृश्यते चैवं सर्वात्मना साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितांशसाधर्म्यात् दृष्टांतोपादानं "सिंहइव माणवकः" इत्यादौ। अतः स्वभावतोनिरस्तनिखिलाज्ञानादि-दोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि न दोष संभवः।

घट करवा इत्यादि बड़े छोटे पात्रों में पृथक्-पृथक् स्थित आकाश जैसे वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है तथा–विभिन्न जलाधारों में प्रतिबिंबित सूर्य जैसे–उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है, वैसे ही यह परमात्मा, पृथिव्यादि विभिन्न आकार वाले अचेतनों और चेतनों में स्थित रहते हुए भी उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित हैं, सर्वत्र व्याप्त होकर भी एक और निर्दोष और कल्याण गुणों के भंडार हैं। कहने का तात्पर्य है कि–जैसे–जलादि में अवस्थित सूर्य कारण के अभाव से जलादिगत दोषों से अनासक्त रहता है, वैसे ही पृथिव्यादि में स्थित परमात्मा तदाकार न होने से, दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं। ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। हर प्रकार की समानता न होते हुए भी, केवल अभिप्रेत अंशमात्र समानता के आधार पर दृष्टान्त दिया जाता है–"यह बालक सिंह के समान है" इसलिए यह निश्चित होता है कि–स्वभाव से निर्दोष समस्त कल्याणमय गुणों के भंडार परमात्मा, पृथिव्यादि स्थानों में स्थित होकर भी उनके दोषों से रहित हैं।

अथस्यात्–"द्वे वावब्रह्मणोरूपेमूर्त्तंचामूर्त्तमिव च" इति प्रकृत्य समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपंचंब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्यरूपं यथा महारजनं वासः" इत्यादिना आकारविशेषंचाभिधाय "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः प्रकारमिति शब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य सर्वंविशेषाधिष्ठानं

ankurnagpal108@gmail.com

सन् मात्रमेव ब्रह्म, विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूपमजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति, अतः कथमुभयलिंगत्वं ब्रह्मण इति-अत्राह-

आपत्ति की जाती है कि-"ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप प्रसिद्ध हैं" इत्यादि भूमिका में, स्थूल सूक्ष्म सारे जगत को, ब्रह्म का रूप बतलाकर "उस परमात्मा का रूप हरिद्रारंजित वस्त्र के समान है" इत्यादि से आकार विशेष बतलाकर-"कहा गया कि-वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इससे कोई उत्कृष्ट नहीं, इससे पृथक् कुछ और नहीं" इत्यादि से ब्रह्म के सारे प्रकारों को इति शब्द से बतलाकर, उन सबका प्रतिषेध कर यह दिखलाया गया है कि-समस्त विषयों का आश्रयभूत केवल सत् स्वरूप ब्रह्म ही है तथा सारी विशेषतायें अपने स्वरूप को न जानने वाले ब्रह्म से कल्पित हैं। इसलिए ब्रह्म की उभयलिंगता संभव नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः ।३।२।२१॥

नैतदुतपपद्यते-यद् ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यत इति, तथासति भ्रांतजल्पितायमानत्वात् । न हि ब्रह्मणो विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तद्विशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवानुन्मत्तः प्रतिषेधति । यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तर प्रसिद्धाः, तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं च अज्ञातम्। अतस्तेषामनुवादासंभवादत्रैवोपदिश्यंते । अतस्तन्निषेधो नोपपद्यते । यस्मादेवं, तस्मात् प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधतीदं वाक्यम् । ये ब्रह्मणोः विशेषाः प्रकृताः, तद् विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता "नेति नेति" इति प्रतिषिध्यते । "नेति नेति" नैवं नैवं उक्त प्रकारमात्र-विशिष्टं न भवति ब्रह्म, उक्त प्रकार विशिष्टतया ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता, साऽत्र इति शब्देन परामृश्यत इत्यर्थः ।

ऐसा नहीं हो सकता-"नेति नेति" श्रुति से तो ब्रह्म की वास्तविक विशेषता का निषेध किया गया है। यदि उक्त तात्पर्य मानेंगे तो शास्त्रों

ankurnagpal108@gmail.com

की भ्रांतजल्पता होगी। जिन विशेषणों से ब्रह्म की विशेषता बतलाई गई, उनके अतिरिक्त किन्हीं अन्य प्रामाणों से तो उनकी विशेषता ज्ञात होती नहीं, विशेषता बतलाकर उसी का निषेध करना तो पागलों का ही कार्य हो सकता है। यद्यपि निर्दिष्ट विशिष्टताओं में, कुछ अन्य प्रामाणों में भी प्रसिद्ध हैं तथापि अन्य वाक्यों से ब्रह्म की प्रकारता ज्ञात नहीं होती। और न अन्य पदार्थों के स्वरूप को ही, ब्रह्म के प्रकार रूप से बतलाया गया है। इसलिए "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपं" इत्यादि वाक्य को, ब्रह्म की विशेषता बतलाने वाले वाक्यों का अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता। यही मानना होगा कि–इस वाक्य में ब्रह्म की प्रकारता का विशेषोल्लेख है। "नेति नेति" से उसका निषेध नहीं हो सकता। जैसी इसकी विशेषता बतलाई गई है उस पर विचारने से तो यही ज्ञात होता है कि–"नेति नेति" वाक्य, परब्रह्म की इयत्ता का ही प्रतिषेध करता है। जो ब्रह्म की स्वाभाविक विशेषतायें हैं उससे ब्रह्म की जो विशिष्ट रूप से प्रतीत होने वाली इयत्ता है "नेति नेति" में उसी का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्–ब्रह्म जैसा विशिष्ट प्रकार का बतलाया गया है उतना मात्र ही नहीं है "नेति नेति" से उसी का प्रतिषेध किया है उक्त प्रकार से प्रस्तुत ब्रह्म की विशिष्ट इयत्ता को इति शब्द से बतलाया गया है।

यतश्च निषेधानंतरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं प्रतिषेधति। ब्रवीति हि भूयो गुणजातं "न ह्येतस्मादितिनेत्मन्यत् परमस्त्यथनामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। अयमर्थः इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितम् तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः। तस्य ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयं। तस्य च निर्वचनं–"प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्" इति। प्राणशब्देन प्राणसाहचर्यात् जीवाः परामृश्यन्ते, तेतावत्सत्यम्, वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूप परिणामाभावात्-तेषामेव सत्यम्-तेभ्योऽप्येष परमपुरुषः सत्यम्। जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचविकासौ विद्येते। परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्म-

ankurnagpal108@gmail.com

नस्तौ न विद्येते, अतस्तेभ्योऽप्येष सत्यम्। अतश्चैवं वाक्यशेषोदित-गुणजातयोगात् "नेति नेति" इति ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिषिध्यते, अपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रम्। अत उभयलिंगमेव परंब्रह्म।

निषेध के बाद भी, ब्रह्म के अधिक गुणों का वर्णन किया गया है जिससे निश्चित होता है कि– ब्रह्म की प्रस्तुत, विशिष्ट इयत्तामात्र का ही प्रतिषेध किया गया है। पुनः विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार का है–"नेति से जो ब्रह्म का निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य है कि–उस ब्रह्म से कुछ अतिरिक्त भिन्न नहीं है, उस ब्रह्म का नाम सत्यों का सत्य है अर्थात् सत्यस्वरूप प्राणों में वही सत्य है "इत्यादि। इस वाक्य का तात्पर्य है कि "नेति नेति" से जो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उससे कुछ परे नहीं है अर्थात् परमात्मा से कोई गुणों में उत्कृष्ट नहीं है। इसीलिए वह सत्यों का सत्य है। प्राण शब्द से प्राणों के सहचारी जीवों का उल्लेख है अर्थात् वे भी सत्य हैं। उनका आकाश आदि की तरह स्वरूप का अन्यथाभाव परिणाम नहीं होता इसलिए वे सब सत्य हैं उनमें भी यह ब्रह्म सत्य हैं। इससे निश्चित होता है कि–"नेति नेति" ब्रह्म की सविशेषता का प्रतिषेध नहीं करता अपितु प्रस्तुत इयत्तामात्र का प्रतिषेधक है। इसलिए वह ब्रह्म दोनों प्रकार की विशेषता वाला सिद्ध होता है।

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगोचरत्वेन तत्संबंधितया मूर्त्तामूर्त्तादि रूपानुवादेन तन्निषेधासंभवात् प्रकृतेयत्ताप्रतिषेध उक्तः, तदेव प्रमाणान्तरा गोचरत्वं दृढयति।

ब्रह्म जब अन्य किन्हीं प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं तब उन्हें मूर्त्तअमूर्त्त बतलाकर प्रतिषेध करना भी संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रसंग में इयत्ता का प्रतिषेध ही निश्चित होता, इस बात को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करते हैं।

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२२।।

तत्–ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते आह हि शास्त्रं "न संदृशे

ankurnagpal108@gmail.com

तिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "इत्यादि ।

वह ब्रह्म किन्हीं अन्य प्रमाणों से वाच्य नहीं है, जैसा कि-शास्त्र का वचन है-"इसका स्वरूप दृष्टि पथ पर आरूढ़ नहीं होता, कोई इसे इन नेत्रों से देख नहीं सकता "वह नेत्र और वाणी से ग्राह्य नहीं है" इत्यादि ।

हेत्वन्तरं चाह-और कारण भी बतलाते हैं-

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२३॥

अपि च संराधने-सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारः । नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमानः" इति श्रुतिः ।

स्मृतिरपि-"नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया" भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" । इति,

भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनं तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम अतो निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् "द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादि शास्त्रं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवदितुं क्षमम् ।

संराधन अर्थात् प्रेमाभक्ति रूप निदिध्यासन से ही साक्षात्कार होता है, अन्य उपायों से नहीं ऐसा श्रुति स्मृतियों से ही निश्चित होता है । जैसे कि-"यह परमात्मा, प्रवचन-बुद्धि या अधिक शास्त्राभ्यास से लभ्य नहीं है, जिसे वह स्वयं वरण करते हैं, उसे ही वह मिलते हैं, वे अपने को उसके समक्ष प्रकट कर देते हैं "पहिले ज्ञान प्रसाद द्वारा चित्त

ankurnagpal108@gmail.com

शुद्ध होता है, बाद में ध्यान करते-करते उस अखंड स्वरूप का दर्शन होता है "इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं।

स्मृति में भी जैसे-"मैं वेद-तप-दान-यज्ञ आदि किसी से भी दृष्ट नहीं हूँ एकमात्र अनन्य भक्ति से ही मुझे इस प्रकार देखा जा सकता है' एकमात्र भक्ति से ही मुझे देखा या समझा जा सकता।" इत्यादि

उक्त प्रकार की भक्तिरूपता को प्राप्त उपासना को ही संराधन कहते हैं। उस परमात्मा की प्रियता ही महत्व रखती है ऐसा हम प्रथम ही बतला चुके हैं। इस प्रकार के निदिध्यासन के लिए-ब्रह्म के स्वरूप का "द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादि से उपदेश दिया गया है। यह शास्त्रवचन निदिध्यासन के लिए मूर्त्त अमूर्त्त दो रूपों का वर्णन करता है, इसे अनुवाद मात्र नहीं कह सकते।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२४।।

इतश्च प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति, न मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वम्, यतः साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवत्, ज्ञानानंदादिस्वरूपवन्मूर्त्तादिप्रपंचविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशेष्यं प्रतीयते "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहंमनुरभवं, सूर्यश्च" इत्यादि। ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानंदादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधनात्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते। तद्वच्चाभ्यस्तत्संराधनानां तेषां मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयत इत्यर्थः।

इसलिए भी इयत्ता का प्रतिषेध किया गया प्रतीत होता है कि-वामदेव आदि ऋषियों के साक्षात्कार में अनुभूत प्रकाशादि अर्थात् ज्ञान आनंद आदि स्वरूप की तरह, मूर्त्त अमूर्त्त आदि की विशिष्टता भी, जो कि ब्रह्म की गुणरूप है, इसकी कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती-"वामदेव ने ब्रह्म का दर्शन कर विचार किया कि-मैं ही मनु हुआ था, एवं मैं ही सूर्य हुआ था।"इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि-ब्रह्म के स्वरूपभूत प्रकाश आनंद आदि, वामदेव आदि के साधनात्मक कर्म में, अभ्यास से ही प्राप्त

ankurnagpal108@gmail.com

हुए। उसी प्रकार संराधन में अभ्यस्त. उन लोगों के समक्ष मूर्त अमूर्त आदि जगतात्मभाव समानरूप से अनुभूत होता है।

उक्तं ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपसंहरति—

उक्त ब्रह्म की उभयलिंगता का उपसंहार करते हैं—

अतोऽनंतेन तथाहि लिंगम् ।३।२।२५॥

अतः, उक्तैर्हेतुभिर्ब्रह्मणः, अनंतेनकल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम्। तथाहि सत्युभयलिंगम् ब्रह्मोपपन्नं भवति।

ऊपर कहे गए हेतुओं से,ब्रह्म की अनंत कल्याणगुणों की विशिष्टता सिद्ध होती है और इसी से ब्रह्म की उभयलिंगता भी सिद्ध होती है।

६ अहिकुंडलाधिकरणः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२६॥

मूर्त्तामूर्त्तात्मकस्य अचित् प्रपंचस्यब्रह्मणोरूपत्वं "द्वे वावब्रह्मणो रूपे" इत्यादिनोपदिश्यते "अथात आदेशो नेति नेति" इति मूर्त्तामूर्त्ताचिद्वस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिषिध्यते। "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नह्यस्तीति प्रतिपादितम्। तदुपपादनाय "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येष सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादि संकोचाभावादुक्तम्"। तथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः" "पतिं विश्वेश्वरस्यात्मेश्वरम् "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादि श्रुतेश्चायमर्थोऽवगम्यते। तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिध्यर्थम्—किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुंडलन्यायेन, उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन, उत जीवस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेन इति। इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभावमंगीकृत्य

ankurnagpal108@gmail.com

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टांतानुपरोधात्" तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम् ।

मूर्त्त अमूर्त्त जगत् प्रपंच को, ब्रह्म का रूप "द्वेवाव ब्रह्मणो" में बतलाया गया है। "अर्थात आदेशो नेति नेति" श्रुति से मूर्त्त अमूर्त्त जड़वस्तुरूप ब्रह्म की इयत्ता का निषेध किया गया है। तथा-"नहि एतस्मात्" श्रुति से कहा गया है कि–उस ब्रह्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। उसके समर्थन के लिए "अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति" इत्यादि श्रुति से प्राण शब्द वाच्य चेतन जीवों की अपेक्षा, परमात्मा की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा को परम सत्य इसलिए बतलाया गया है कि उसकी ज्ञान शक्ति का कभी संकोच नहीं होता। "प्रकृति पुरुष का भी वह ईश्वर और गुणाधिपति है "उस जगत के पति और आत्मा के स्वामी को" उस नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन को" इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त तात्पर्य की बोधिका हैं। ब्रह्म की निर्दोषता सिद्ध करने के लिए यहाँ, उसी अचित् वस्तु की ब्रह्मरूपता के प्रकार का विचार करते हैं कि–इसकी ब्रह्मरूपता अहिकुंडल की तरह, प्रभा और प्रभावान की तरह एक जातीय है? अथवा-जीव की तरह विशेषण विशेष्यभूत अंशांशी भाववाली है? विशेषण विशेष्य भाव ही यहाँ स्थापित करना होगा, इस पक्ष को स्वीकार करके-प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टांता-नुपरोधात्" और "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इन दो सूत्रों में, सूक्ष्म चेतनअचेतन विशिष्ट ब्रह्म से, स्थूल चेतन अचेतन वस्तु विशेष की उत्पत्ति और अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

किं युक्तम्? अहिकुंडलवदिति, कुतः? उभयव्यपदेशात्-"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इति तादात्म्यव्यपदेशात् "हंताहमिमास्तिस्रोदेवताः "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि भेदव्यपदेशाच्च अहेः कुंडलभाव-ऋजुभाववत् तस्यैव ब्रह्मणः संस्थान विशेष एवाचिद्वस्तूनि ।

ऊपर का कौन सा पक्ष युक्तिपूर्ण है? इस पर विचारने से अहिकुंडल की तरह ही, ब्रह्म और मूर्त्त अमूर्त्त जगत का संबंध प्रतीत होता है। "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" ऐसे तादात्म्यपरक अभेद के उल्लेख से तथा

ankurnagpal108@gmail.com

"इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रवेश करके" इत्यादि भेद के उल्लेख से, सर्प के कुंडलभाव और सीधेसपाट भाव की तरह सारी जड़ वस्तुएं, ब्रह्म की संस्थान विशेष रूप सिद्ध होती हैं।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२७॥

वा शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिताभवेयुः, अतो यथा तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रयोरपितादात्म्यम्, एवमचित्प्रपंचस्य ब्रह्मणोरूपत्वमित्यर्थः ।

पूर्व पक्ष के सिद्धान्त का निवारक सूत्रस्थ वा शब्द है। स्वरूपतः ब्रह्म ही यदि अचेतन पदार्थों के रूप में स्थित माने जावेंगे तो भेद और अपरिणामता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ निरर्थक हो जावेंगी, इसलिए तेजस्वितारूप से, प्रभा और उसके आश्रय का जैसा तादात्म्य होता है, वैसी ही अचेतन प्रपंच की भी, ब्रह्मरूपता है।

पूर्ववद् वा ।३।२।२८॥

वा शब्दः पक्षद्वयव्यावृत्यर्थः । एकस्यैव द्रव्यस्यावस्था विशेषयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यरूपत्वात् उक्तदोषादनिर्मोक्षः । अथप्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्बृंहत्वजातियोगमात्रम्, एवंतर्हि अश्वत्वगोत्वत् ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द उक्त दोनों पक्षों का निवारक है। यदि एक ही द्रव्य की अवस्था विशेष योगिता मानी जाय तो ब्रह्म स्वरूप की ही अचिद् वस्तु रूपता सिद्ध हो जावेगी, जिससे कि पूर्वोक्त दोष से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। यदि प्रभा और उसके आश्रय की तरह, अचेतन और ब्रह्म में केवल, ब्रह्मत्व जातिमात्र का ही संबंध मानते हैं तो अश्वत्व और गोत्व आदि जातियों की तरह, ईश्वर एवं चेतन अचेतन वस्तु से अनुगत ब्रह्म भी एक सामान्य जाति मात्र रह जायगा, जो कि-सभी श्रुति-स्मृति शास्त्रीय मत के विरुद्ध है।

ankurnagpal108@gmail.com

पूर्ववदेव "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तुनैवंपरः" इति जीववत् पृथक् सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचित्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम् विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारोमुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। तदेवं प्रकाशजाति गुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः -प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणविशेषणतया यथांशत्वम्, तथेह जीवस्याचिद्-वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम्।

इसलिए पूर्व मत के अनुसार "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" इन दो सूत्रों में जीव की जैसी ब्रह्मांशता बतलाई गई है वैसी ही यहाँ भी, ब्रह्म से भिन्न न कहलाने योग्य अचित् वस्तु की भी ब्रह्मांशता सिद्ध होती है। विशिष्ट वस्तु के एकदेशीय होने से, मुख्य रूप से अभेद व्यवहार होता है, तथा विशेषण विशेष्य में स्वरूप का भेद होने से, मुख्यरूप से भेद का व्यवहार होता है, इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। इससे निश्चित होता है कि-जैसे-प्रकाश-ज्योति-गुण और शरीर जैसे मणि-व्यक्ति-और गुणी आत्मा को छोड़ कर अलग टिक नहीं सकते, यही उनकी अपृथक् सिद्ध विशेषता है, इसीसे वे, मणि आदि अंश हैं, वैसे ही, जीव और जड़ वस्तु की, ब्रह्मांशता है।

प्रतिषेधाच्च ।३।२।२९॥

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः "नास्यजरयैतत् जीर्यति इत्यादिभिः ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधाच्च" विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इत्यर्थः। अतः सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुविशिष्टं कारण भूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति, कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम्। कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्यज्ञाततेत्यादि सर्वमुपपन्नं, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याणगुणाकरत्वेन। चोभयलिंगत्वमपि सिद्धम्।

ankurnagpal108@gmail.com

"यह आत्मा महान् अज और जरा मरण रहित है" इसका शरीर जरा से जीर्ण नहीं होता "इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म के अचित् धर्मों का प्रतिषेध किया गया हैं, जिससे अचित् और ब्रह्म का विशेषण विशेष्य भावरूप अंशांशितभाव निश्चित होता है। सूक्ष्म चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कारण स्वरूप है तथा स्थूल चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कार्य स्वरूप है, इसलिए कारण से कार्य की अनन्यता है। कारण ब्रह्म के जान लेने से कार्य की जानकारी आदि सभी बातों का समाधान हो जाता है तथा निर्दोषता भी सुरक्षित हो जाती है इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और कल्याण गुणाकरता ये दोनों सिद्ध हो जाती है।

७ पराधिकरणः—

परमतः सेतून्मानसंबंधभेदव्यपदेशेभ्यः।३।२।३०॥

इदानीमस्मात्परस्मात्जगन्निमितोपादानरूपपरमकारणात् परब्रह्मणः परमपि किंचित्तत्वमस्तीति कैश्चित् हेत्वाभासैराशंक्य निराक्रियते। अस्योपास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वस्थेम्ने। तत्रेयमाशंका यदिदं परं ब्रह्मोभयलिंगं, एतस्मान्निखिलजगत्कारणात् परमपि किंचित्तत्वमस्ति। कथम्? "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इत्यस्यपरस्य सेतुव्यपदेशात्। सेतु शब्दस्य च लोके कूलान्तर प्राप्तिहेतौ प्रसिद्धेरितोऽन्यदनेन प्राप्यमस्तीति गम्यते। तथा—एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्नंधो भवति" इति तरितव्यतया चास्याभिधीयते अतश्चान्यत्प्राप्यमस्ति। उन्मानव्यपदेशाच्च—उन्मितं परिमितम् इदं परंब्रह्म "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" इत्युन्मानव्यपदेशात्। स चायमुन्मानव्यपदेशः तेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तितां द्योतयति। तथा संबंधव्यपदेशश्च सेतु सेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणोदृश्यते "अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलं "अमृतस्यैष सेतुः" इति। अतश्च परात्परमस्ति।

ankurnagpal108@gmail.com

भेदेन च परात्परं व्यपदिश्यते—"परात्परं पुरुषमुपैति" परात्परं यन्महतो महान्तम्" इति च । तथा—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति । अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्मणः परमपि किंचिदस्तीति गम्यत इति ।

अब जगत के निमित्तोपादान परम कारण इस परब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व अवश्य है, ऐसी हेत्वाभास की दृष्टि से शंका करके उसका निराकरण करते हुए, ब्रह्म के उपास्य रूप की निर्दोषता और अतिशय कल्याणगुणाकरता की सिद्धि करते हैं ।

आशंका यह है कि—यदि यह ब्रह्म दोनों प्रकार का है, तो संपूर्ण जगत का कारण कोई और ही तत्त्व निश्चित होता है । "यह जो आत्मा है, वही सब लोकों का विधारक सेतु है" इत्यादि से किसी दूसरे की सेतुता का ही निर्देश प्रतीत होता है, क्योंकि—लोक में सेतु शब्द इस पार से उस पार तक पहुँचाने वाले, आधार रूप पुल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए कोई अन्य प्राप्तव्य ही प्रतीत होता है तथा—"इस सेतु को पार कर अन्धा भी अनन्धा हो जाता है" ऐसी पार करने वाली बात स्पष्ट कही गई है । उन्मान के व्यपदेश से भी यही बात निश्चित होती है उन्मित अर्थात् ब्रह्म परिमित है जैसा कि—"ब्रह्म चतुष्पद है" सोलह कला वाला है" इत्यादि उन्मान बोधक वाक्यों से ज्ञात होता है । ऐसा उन्मान का व्यपदेश सेतु द्वारा प्राप्य अनुन्मित के अस्तित्व का द्योतन करता है । इन वाक्यों में प्राप्य प्रापक तथा सेतु—सेतुमान का संबंध दिखलाया गया है । "जली हुई लकड़ी के समान अमृत के सेतु को" तथा "यह अमृत का सेतु है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि—परब्रह्म से भी कोई पर है । पर से पर की भिन्नता भी—"पर को अपेक्षा भी पर को प्राप्त करता है "वह पर से भी पर और महान् से महान है" इत्यादि वाक्यों में बतलाई गई है । तथा—"उस पुरुष द्वारा ही सब परिपूर्ण है, जो कि—अतिशय परवर्त्ती, नीरूप, निरामय है" इत्यादि से भी, परब्रह्म से भी कोई पर है ऐसी प्रतीति होती है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

इस शंका पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

सामान्यात्तु ।३।२।३१।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात् परात्परमस्तीति तन्नोपपद्यते । न ह्ययमत्र किंचित्प्राप्यं प्रति सेतु रुच्यते "एषां लोकानामसंभेदाय" इति सेतु सामान्येन सर्वलोका-संकरकरत्वश्रुतेः । सिनोतिवध्नातिस्वस्मिन् सर्वं चिदचिद् वस्तुजातं असंकीर्णमिति सेतुरुच्यते । "एतं सेतुं तीर्त्वा" इति तरतिश्च प्राप्तिवचनः । यथा "वेदान्तं तरति" इति ।

तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । जो लोग यह कहते हैं कि-सेतु के उल्लेख से पर से भी किसी अन्य पर तत्त्व का बोध होता है, वह उनकी मिथ्या धारणा है । इस प्रसंग में किसी प्राप्य के लिए, सेतु का साधन रूप से उल्लेख नहीं किया गया है । "इस समस्त जगत के असंभेद (असांकर्य) के लिए" इत्यादि वाक्य में सेतु के समान परब्रह्म की भी, सांकर्य निवारकता बतलाई गई है । जो अपने में चेतन अचेतन समस्त को असंकीर्ण भाव से बन्धन करे उसे ही सेतु कहते हैं [षिधातु से सेतु शब्द बना है, यह धातु बंधन अर्थ का द्योतन करती है] "इस सेतु को पार करके "इत्यादि तृ धातु प्राप्ति बोधक है, जैसे कि-"वेदांतं तरति" का अर्थ-"वेदांत को प्राप्त करता है" किया जाता है ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३२।।

योऽयं "चतुष्पाद ब्रह्म" षोडशकलम्" पादोऽस्यविश्वाभूतानि" इत्युन्मानव्यपदेशः स बुद्ध्यर्थः-उपासनार्थः । "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म "इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् स्वत उन्मितत्वासंभवात् । जगत्कारणत्वं हि तस्यैव श्रूयते । "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयति" इति । अतो यथा-"वाक्पादः प्राणः-पादः चक्षुः पादो मनः पादः" "इत्यादिना ब्रह्मणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह "चारपादवालाब्रह्म "षोडशकलावाला" इसके एक पाद में संपूर्ण विश्व है" इत्यादि में उन्मान का व्यपदेश है वह बुद्धि अर्थात् उपासना के लिए है। "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि से जगत के कारण ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता प्रतीत होने से, उसका वास्तविक उन्मान संभव नहीं है। ब्रह्म की जगत कारणता का भी उक्त प्रसंग में स्पष्ट उल्लेख है– "उस ब्रह्म से आकाश हुआ "उसने कामना की अनेक होकर जन्म लूँ" इत्यादि। "वाणीरूपपाद, चक्षुरूपपाद, प्राणरूपपाद मनरूपपाद "इत्यादि में वाणी आदि को ब्रह्म का चरण कहा गया है, वह केवल उपासना के लिए है; यही उक्त उन्मान का भी तात्पर्य है।

स्वयमनुन्मितस्यकथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मान संभवः? तत्राह—

जब वह स्वयं अनुन्मित है तो उपासना के लिए उनकी उन्मान कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हैं—

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत्।३।२।३३।।

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्संबंधितयोन्मित-त्वानुसंधानं संभवति। यथा प्रकाशादेर्विततस्य वातायनघटादि-स्थानभेदैः परिच्छिन्नानुसंधानसंभव इत्यर्थः।

जैसे कि-व्यापक प्रकाश, खिड़की घट आदि विभिन्न स्थानों में प्रविष्ट होकर, उन उन स्थानों वाला कहलाता है, उसकी उनमें खोज की जाती है, वैसे ही अनुन्मित विभु परमात्मा भी, वागादि इन्द्रियों में अनुस्यूत होने से, उन इन्द्रियों में खोजा जाता है।

उपपत्तेश्च।३।२।३४।।

यदुक्तम्–"अमृतस्यैष सेतुः" इति प्राप्यप्रापकसंबंधव्यपदेशात् प्रापकात् परं प्राप्यमस्तीति, तन्न, प्राप्यस्यपरंपुरुषस्य स्वप्राप्तौ स्वस्यैवोपायत्त्वोपपत्तेः। "नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमैवेषवृणुतेतेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इत्यनन्योपायत्वश्रवणात्।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि—"अमृतस्यैषसेतुः" श्रुति से प्राप्य प्रापक संबंध बतलाया गया है जिससे प्रापक सेतु भिन्न, किसी अन्य प्राप्य की प्रतीति होती है। सो बात नहीं है, प्राप्य परं पुरुष स्वयं ही, प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है, जैसा कि—"यह परमात्मा, प्रवचन-मेधा या विशेष शास्त्राभ्यास से लब्ध नहीं है, जिसे यह स्वयं वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है, उसके समक्ष स्वयं अपने को व्यक्त कर देना है।" इस वाक्य में परमात्मा को प्राप्ति का अनन्य उपाय बतलाया गया है।

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।३।२।३५।।

यत्पुनरुक्तं—"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात्परतः परः" इत्यादि भेदव्यपदेशात् परात्परमस्तीति—तन्नोपपद्यते-तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्—"यस्मात्परं नामरमस्ति निचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्" इति। यस्मादपरं परं नास्ति किंचित्—न केनापि प्रकारेणपरमस्तीत्यर्थः। तथा-अन्यत्रापि "नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति "इति। इति नेति निर्दिष्टादेतस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्परं न ह्यस्तीत्यर्थः। तथा—"न तस्येशे कश्चन् तस्य नाममहद्यशः" इति। तत् हि जगदुपादानकारणतयाऽनन्तरमुक्तं—"सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि "स आपः प्रदुघे उभे इमे" इत्यादिना। "अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" इति च जगत् कारणं पुरुषमेनं प्रत्यभिज्ञापयति।

और जो यह कहा कि-"ततो यदुत्तरतरं" परात्परं पुरुषम् "अक्षरात् परतः परः" इत्यादि भेद परक वाक्यों से, परब्रह्म से पर किसी अन्य तत्त्व की प्रतीति होती है, सो यह कथन भी भ्रामक है, क्योंकि उसी प्रसंग में, परमात्मा से अन्य किसी श्रेष्ठ परतत्त्व का स्पष्ट निषेध किया गया है—"जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है तथा जिनसे सूक्ष्म और वृहत् भी कोई दूसरा नहीं है" इत्यादि, इसमें जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है का तात्पर्य है कि—किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसंग में

ankurnagpal108@gmail.com

भी "जैसे-"न हि एतस्मादिति नेति अन्यत परमस्ति" कहा गया, जिसका तात्पर्य है कि-इस ब्रह्म की अपेक्षा, कुछ और श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जैसे-"कोई भी उसका शासक नहीं है, उसका नाम ही महद्‌यश है" इत्यादि के बाद ही उसे जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है-"उस पुरुष से ही समस्त काल और विद्युत उत्पन्न होते हैं "उस परमात्मा ने इन स्वर्ग और अंतरिक्ष दोनों से जल का दोहन किया "जल से हिरण्यगर्भ हुआ" इत्यादि। सभी श्रुतियाँ परं पुरुष के ही जगत का परं कारण बतलाती हैं।

"ततो यदुत्तरतरं" इति किमुच्यत इसि चेत्? पूर्वत्र-"वेदाहमेतं-पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽनाय" इति परस्यब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवामृतत्वसाधनं, नान्योऽमृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय "यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् "वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेणसर्वम् "इति पुरुषस्य परत्वं, तद् व्यतिरिक्तस्य परत्वासंभवं-च प्रतिपाद्य-"ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् य एतद्‌विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियंति" इति पूर्वोक्तमर्थं हेतुतो निगमयति -यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवारूपमनामयं यतः, ततो य एतत् पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवामृता भवंति, अथेतरे दुःखमेवापियंति इति। अन्यथोपक्रमविरोधोऽनन्तरोक्ति विरोधश्च। "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति पूर्वत्र "अक्षरात् परतः परः" इति अक्षरात्-अव्याकृतात् यः परः, समष्टिपुरुषः तस्मात् परो योऽदृश्यत्वादिगुणकः सर्वज्ञः परमपुरुषः, स एवेहापि" परात्परः" इति समष्टिपुरुषात् परत्वेनोच्यते।

यदि कहो कि-"ततोयदुत्तरतरं" का क्या उत्तर दोगे? तो सुनो-उक्त प्रसंग के पूर्व में ही-"अंधकार से रहित आदित्य की तरह ज्योतिर्मय इस महापुरुष को मैं जानता हूँ, जीव उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण

ankurnagpal108@gmail.com

करता है, मोक्षधर्म में जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में, महापुरुष परब्रह्म संबंधी वेदन को ही, अमृतत्व प्राप्ति का साधन रूप, अन्यतम मार्ग बतलाकर उसके समर्थन के लिए "जिसकी अपेक्षा उत्कृष्ट या अपकृष्ट कुछ और नहीं है तथा जिससे अतिसूक्ष्म या महान् भी कुछ और नहीं है वह वृक्ष की तरह स्तब्ध अकेला ही स्वर्ग में स्थित है, उस पुरुष से ही यह सारा जगत परिपूर्ण है" इस प्रकार पुरुष की परता और उससे भिन्न किसी अन्य की परता को असंभव बतलाकर "ततो यदुत्तरतरं" इत्यादि वाक्य में उसी पूर्वोक्त कथन के लिए पुनरुल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"वह परब्रह्म परमात्मा आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से रहित है, जो इस परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो-जाते हैं, इस रहस्य को न जानने वाले अन्य लोग दुःख कोही प्राप्त होते हैं" इत्यादि। उक्त प्रसंग की ऐसी संगति करने से उपक्रम से विरुद्धता होगी तथा परवर्ती वाक्य से भी विपरीतता होगी। "अक्षरात् परतः परः में" अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से पर जो समष्टि पुरुष है, उससे भी पर या उत्कृष्ट अदृश्यता आदि गुणों से विशिष्ट सर्वज्ञ परंपुरुष को ही "परात् परं "इत्यादि वाक्य में, परात् अर्थात् समष्टि पुरुष से पर अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया गया है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६॥

अनेन ब्रह्मणा सर्वगतत्वम्-सर्वस्यजगतोव्याप्तत्वम्, आयाम-शब्दादिभ्यः-सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्य-वगमयति। आयामशब्दस्तावत् "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् "यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, यद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः "आदिशब्दात्" ब्रह्मैवेदं सर्वम्" आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादयो गृह्यन्ते। अत इदं परं ब्रह्मैव सर्वास्मात्परम्।

सर्वव्यापकता के बोधक आयाम आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि—सारा जगत् ब्रह्म से परिव्याप्त है। ऐसी सर्वगतत्व की प्रतीति ही, ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करती है। आयाम शब्द

ankurnagpal108@gmail.com

का व्याख्यान जैसे—"सारा जगत उस पुरुष से ही पूर्ण है" इस जगत में जो कुछ भी दृष्ट श्रुत है, नारायण उन सभी में बाहर भीतर व्याप्त हैं 'धीरलोग—नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, उस भूतयोनि को भलीभाँति देखते हैं।" इत्यादि "यह सब कुछ ब्रह्म है" यह सब कुछ आतम्य है" इत्यादि वाक्य ही, सूत्रस्थ आदि पद से अभिप्रेत हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—परब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

८ फलाधिकरणः—

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३७।।

उक्तमुपासिसिषोपजननार्थं जीवस्य सर्वावस्थासु सदोषत्वं, प्राप्यस्य च परं पुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं, सर्वस्मात् परत्वं च, अतः परमुपासनं विवक्षन्मुपासीनानां परस्मादेवास्मात् पुरुषात्तत्प्राप्तिरूपमपवर्गाख्यं फलमिति संप्रति ब्रूते ।

उपासना में उत्साह बढ़ाने के लिए, जीवों की सदोषता और प्राप्य परं पुरुष की निर्दोषता-कल्याणगुणाकरता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है अब उपासना के प्रतिपादन के उद्देश्य से बतलाते हैं कि-उपासकों को परं पुरुष की कृपा से ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष भी प्राप्त होता है।

तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकमपि फलम्, अतएव परस्मात् पुरुषात् भवतीति सामान्येन "फलमतः" इत्युच्यते । कुत एतत्? उपपत्तेः, स एवहि सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्महोदारो यागदानहोमादि-भिरुपासनेनचाराधित ऐहिकामुष्मिक भोगजातं, स्वस्वरूपावाप्ति-रूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; नहि अचेतनं कर्म क्षणध्वंसिकालान्तर भाविफलसाधनं भवितुमर्हति ।

शास्त्रीय ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही फल, परं पुरुष परमेश्वर से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा "फलमत" शब्द से बतला रहे हैं। यह बात उपपत्तेः अर्थात् विवेचन से ही ज्ञात होती है। सर्वज्ञ,सर्वशक्ति निरतिशय,

ankurnagpal108@gmail.com

उदार प्रकृति वे परमात्मा ही—दानयज्ञ आदि क्रियाओं और उपासना द्वारा आराधित होकर, ऐहिक और पारलौकिक अनेक प्रकार के भोगों और सारूप्य मुक्ति प्रदान करने में, समर्थ हैं। अचेतन क्षणध्वंसी कर्म, कभी भी कालान्तरभावी फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकता।

श्रुतत्वाच्च ।३।२।३८॥

"स वा एष महानज आत्माऽन्नादोवसुदानः" "एष एव हि आनंदयाति" इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव ददातीति हि श्रूयते।

"ऐसा यह महान् अजन्मा परमात्मा ही अन्न और धन का दाता है "यही सबको आनंदित करता है" इत्यादि श्रुतियों में भी परमात्मा को ही, भोग और अपवर्ग का दाता बतलाया गया है।

धर्मं जैमिनिरत एव ।३।२।३९॥

अत एव उपपत्तेः, शास्त्राच्च, यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिराचार्यो मन्यते । लोके हि कृष्यादि कर्मं, दानादिकं च कर्मं, साक्षाद् वा, परम्परया वा स्वयमेवफल साधनं दृष्टम्, एवं वेदेऽपि यागदानहोमादीनां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्व द्वारेण फलसाधनत्वमुपपद्यते। तथा—"यजेत् स्वर्गकामः "इत्यादि शास्त्रमपि सिषाधयिषित स्वर्गस्यकर्त्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्यथानुपपत्त्या अपूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमवगमयति।

आचार्य जैमिनि, पूर्वोक्त प्रकार की युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर, दान—यज्ञ और उपासना रूप धर्म-कर्म को ही फलप्रद मानते हैं। जगत में कृषि आदि और दान आदि कर्मों को ही, साक्षात् या परंपरा से स्वयं ही, फल साधन करते देखा जाता है। वेद में भी, यज्ञ दान होम आदि कर्म साक्षात् फल साधक न होते हुए भी, परम्परा या पुण्य रूप अपूर्व समुत्पादन द्वारा, फल साधक कहे गए हैं। "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि विधि परक शास्त्र वाक्य भी, स्वर्ग की कामना के लिए कर्त्तव्य रूप से किये जाने वाले यागादि कर्मों की अवहेलना नहोने पावे, इसलिए अपूर्व द्वारा ही फलसाधनता बतलाते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ।३।२।४०।।

तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, पूर्वोक्तं परंपुरुषस्यैव फलप्रदत्त्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः? हेतुव्यपदेशात्-"यज्देवपूजायाम्" "इति देवताराधनभूतयागाद्याराध्यभूताग्निवाय्वादि देवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिन् तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेशात् । "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामोवायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेवस्वेनभागधेयो-नोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" इत्यादिषु कामिनः सिष धयिषितफलसाधनत्व प्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशंकायुक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका न सहंते ।

इस सूत्र में तु शब्द पक्ष का निवारक है । पूर्वोक्त परं पुरुष की ही फल प्रदानता भगवान बादरायण को मान्य है । वे ऐसा, हेतु के उल्लेख के आधार पर मानते हैं । "यज्" धातु देव पूजा के अर्थ में प्रयोग की जाती है । देवता के आराधन रूप यागादि कर्मों के आराध्य, अग्नि वायु आदि देवताओं को ही, फलों के हेतु रूप से, वाक्यों में उल्लेख किया गया है । "वायु देवता को श्वेत बकरा की बलि प्रदान करो वायु क्षिप्रगामी देवता कहे गए हैं, वायु अपने भाग्य से ही दौड़ सकते हैं, वायु उसे ऐश्वर्य प्रदान करते हैं" इत्यादि में-फलाभिलाषी व्यक्ति की, अभीप्सित फल की साधना प्रणाली को बतलाने के लिए, विधि की अपेक्षा बतलाई गई है । इसमें इससे अतिरिक्त कोई और तात्पर्यार्थ की, कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार अपेक्षित फल साधनता के प्रकार की, शास्त्रावगति हो जाने के बाद भी उसको न मानना अथवा अश्रुत अपूर्व की कल्पना करना, विवेचकों को कदापि सह्य नहीं हो सकता ।

लिंगादयोऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्त्तृव्यापार साध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति, नान्यद लौकिकमिति प्रागेवोक्तम् । तदेवं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दात्वाय्वादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते। वाय्वाद्यात्मना च परमपुरुषएवाराध्यतया फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति श्रूयते –"इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा." इति। अन्तर्यामि ब्राह्मणे च "यो वायौ तिष्ठन् यस्यवायुः शरीरम्" योऽग्नौ तिष्ठन्" य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रूयते।

विधिलिंग के प्रत्यय और यज् आदि धातु के सहयोग से ही विधि परक वाक्यों का विवेचन किया जा सकता है। लिंग आदि भी, देवताराधन के साधन भूत याग आदि, यज् धातु के अर्थ की, शास्त्र सम्मत यौगिक अर्थ के अनुसार, कर्तृव्यापार संपादनीयता का ही समर्थन करते हैं। किसी अलौकिकता का प्रतिपादन नहीं करते, ऐसा कह भी चुके हैं। इसी प्रकार "वायु शीघ्रगामी देवता है" इत्यादि से वायु की फलप्रदानता प्रतीत होती है। वायु आदि के रूप से ही, परम् पुरुष आराध्य होकर-फलप्रदान करने के लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा श्रुति प्रमाण है–"जगत के नाभिस्वरूप इष्टापूर्त्त आदि कर्म के फलस्वरूप, जाय और जायमान इस विश्व को धारण करते हैं, वही वायु अग्नि, वही सूर्य और चंद्र हैं। इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी जैसे–"जो वायु में स्थित हैं वायु जिनका शरीर है "जो अग्नि में स्थित हैं" जो आदित्य में स्थित हैं" इत्यादि।

स्मर्यंते च–"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेवविदधाम्यहम्" सा तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते, लभते च ततः कामान् मयैव विहितान हिं तान्" इति "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च "इति। प्रभुः फलप्रदायीत्यर्थः। "देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्ति मामपि" यान्तिमद्याजिनोऽपिमाम् "इति च।

स्मृति में भी इसी प्रकार–"जो जोभक्त श्रद्धापूर्वक जिस जिस मूर्त्ति की अर्चना करते हैं, मैं उन भक्तों को तदनुसार ही श्रद्धा प्रदान करता हूँ। वे लोग वैसी ही श्रद्धावाले होकर उन रूपों की आराधना का प्रयास करते हैं और मेरे द्वारा प्रदत्त अभीष्ट कामनायें प्राप्त करते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ "प्रभु का तात्पर्य है फल प्रदायी। "देवताओं के उपासक देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं" "मेरे उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं।" इत्यादि।

लोके च कृष्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् संपाद्यतैः राजानं भृत्य द्वारेण साक्षाद्वाऽर्चयन्ति, अर्चितश्च राजा तत्तदर्चनानुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते। वेदांतास्त्वतिपतितसकलेतरप्रमाण संभावनाभूमि निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधं स्वाभाविकानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं पुरुषोत्तमं प्रतिपाद्य, तादाराधनरूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कारकीर्त्तनार्चनध्यानानि च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद् भोगापवर्गरूपं फलं च, वदंतीति सर्वं समंजसम्।

लोक में भी देखा जाता है कि—कृषि आदि द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन करके, स्वयं या भृत्य द्वारा उस अर्जित उत्पादन से राजा की अर्चना की जाती है, अर्चित होकर राजा अर्चना के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। वेदांत शास्त्र जो कि—शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य से ज्ञेय नहीं है, ऐसे अविद्यादि दोषों से शून्य स्वाभाविक सर्वातिशायी, निरवधि अपार कल्याणमय गुणों के सागर उन पुरुषोत्तम को ही—उनके आराधनात्मक याग—दान होम आदि क्रियाओं तथा—स्तुति नमस्कार कीर्त्तन, अर्चना, ध्यान रूप आराधना के अनुसार, भोग मोक्ष रूप फल प्रदाता बतलाते हैं। यही सुसंगत सिद्धान्त है।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद

१ सर्व वेदांत प्रत्ययाधिकरणः—

सर्व वेदांत प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१।।

उक्त ब्रह्मोपासिसिषोपजननाय वक्तव्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम् इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहार विकल्पनिर्णयाय विद्याभेद चिन्ताप्रस्तूयते । प्रथमं तावदेकस्या वैश्वानर विद्यादिकाया अनेक शाखासु श्रूयमाणायाः किमेक विद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति । चिन्त्यते । अविशेष पुनः श्रवणस्य प्रकरणांतरस्य च भेदकत्वाच्छाखांतरे चोभयोरवर्जनीयत्वाद्विद्याभेद इति प्राप्तम् । **अतएव "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" इति शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियमुपपद्यते । विद्यैक्ये हि विद्यांगस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शाखिनां प्राप्ते र्नियमो नोपपद्यते ।**

ब्रह्मोपासना में अभीप्सा बढ़ाने के लिए, ब्रह्म की फलदातृता तक का वर्णन कर दिया गया । अब अनेक प्रकार की ब्रह्मोपासना संबंधी, गुण-संबंधी उपसंहार और विषय के निर्णय के लिए विद्या के भेदों पर विचार प्रस्तुत करते हैं । विभिन्न शाखाओं में वर्णित वैश्वानर आदि विद्यायें, एक ही हैं अथवा भिन्न इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि–विभिन्न प्रकरणों में एकही विद्या का जो एकसा ही वर्णन मिलता है, वह निश्चित ही किसी विशेष अभिप्राय से होगा, वैसे विद्या में भेद है । 'उसे ही ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिए जो विधिवत शिरोव्रत का पालन करने वाला हो "इत्यादि में शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही, विद्योपदेश का नियम बतलाया गया है । यदि विद्यायें एक होती तो

ankurnagpal108@gmail.com

विद्याओं के अंगभूत शिरोव्रत का सभी विद्याओं में, सामान्य रूप से नियम कहा जाता, उक्त वाक्य तो विद्याविशेष के लिए उक्त व्रत के उपदेश का नियम बतलाता है। इससे विद्याओं में भेद है, ऐसा निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्त उच्यते-सर्ववेदांतप्रत्ययमेकमुपासनामिति। कुतः? चोदनाद्यविशेषात् चोदनातावत् "उपासीत्" "विद्यात्" इत्येवं जातीयको धात्वर्थं विशेष विधिः। आदिशब्देन "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या विशेषात्" इति कर्मकाण्डशाखान्तराधिकरण-सूत्रोक्ताः संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते। एषां चोदनादीनामविशेषात् सैवेयं विद्येति शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञायते तथाहि-छांदोग्यवाजसनेयकयोः "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदनातावदेकरूपा, वेद्यैकनिरूपणीय-स्वरूपस्य विदिपर्यायस्योपासेर्वैद्यभूतवैश्वानरैक्याद्रूपमप्यविशिष्टम्, आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टाः फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः। अतएभिः प्रत्यभिज्ञानात्शाखान्तरेऽपि विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-सभी वेदांतों में एकही उपासना प्रतीत होती है। ऐसा प्रेरणादायक आदि वाक्यों के वर्णन से ज्ञात होता है। "उपासना करनी चाहिए "जानने से" इत्यादि क्रिया विशेष के बोधक विधि वाक्य ही प्रेरणादायक वाक्य हैं। आदि शब्द से यहाँ-"फल संयोग, रूप, विधि और नाम में कोई भेद नहीं है" इत्यादि कर्मकांडीय शाखान्तराधिकरण सूत्र में उल्लेख्य संयोग-स्वरूप-और नाम, अभिप्रेत हैं। इन प्रेरणा दायक वाक्यों और संयोग आदि के सामान्यवर्णन से, शाखान्तरों में वर्णित "यह वही विद्या है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

छांदोग्य और वाजसनेयक में-"वैश्वानर की उपासना करो" ऐसी एक ही प्रकार की प्रेरणा की गई है, दोनों में जो, वेद्य का स्वरूपनिरूपण किया गया है, उससे भी वेद्य तत्त्व की एकता प्रतीत होती है। समानार्थक उपासना में जब, वेद्य वैश्वानर एक ही तत्त्व है तो उसकी उपासना भी, एक ही रूप की होगी, नाम भी उसका वैश्वानर ही है, फल और संयोग

ankurnagpal108@gmail.com

भी, दोनों स्थानों में ब्रह्म प्राप्तिरूप ही बतलाया गया है। इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं से, शाखान्तरीय विद्या एक ही प्रतीत होती है।

यत्तूक्तमविशेषपुनः श्रवणात् प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति-तदनुभाष्य परिहरति—

जो यह कहा कि-एक ही प्रकार का दो स्थलों पर पुनः उल्लेख किया गया है, इससे विद्या भेद की प्रतीति होती है, इसलिए विद्या की एकता नहीं है; उसे ही उपस्थित कर परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३।३।२॥

अविशेष पुनः श्रुत्या प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न, विद्यैक्यमिति चेत्–एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपतृभेदात्पुनः श्रुतिः प्रकरणान्तरं चोपपद्यते । यत्रह्येकस्मित् प्रतिपत्तरि पुनः श्रुतिप्रकरणान्तरं च विद्यते, तत्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदात् विद्याभेदः, प्रतिपतृभेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया पुनः श्रुत्याद्युपपत्तेस्तत्र न विधेयान्तर संभवः ।

यदि कहो कि–एक से पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद से विधेय का भेद प्रतीत होता है, इसलिए विद्या एक नहीं है। तो एकही विद्या में, प्रतिपादन के भेद से, पुनरुल्लेख और प्रकरणान्तर का होना असंभव नहीं है। जहाँ श्रोता एक होते हुए भी, पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद है, वहाँ उपदेष्टा के भेद होने से विधेय (विद्या) का भेद हो गया है। श्रोता के भेद में तो समझाने के लिए पुनरुल्लेख हो जाना स्वाभाविक ही है। विधेय में भेद होना संभव नहीं है।

यच्चोक्तं शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियम-दर्शनात् विद्याभेदः प्रतीयत इति तत्राह—

और जो यह कहा कि–शिरोव्रत करने वाले आथर्वणिकों के लिए ही विद्योपदेश का नियम किया गया है, इससे विद्या भेद प्रतीत होता है। इस पर कहते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्चसववच्च तन्नियमः ।३।३।३॥

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयति-इति शिरोव्रतस्य विद्यांगत्वाभावात् । स्वाध्यायस्यतथात्वे हि तन्नियमः स्वाध्यायस्य तथात्वसिद्धयर्थं, तज्जन्यसंस्कारभाक्त्वसिद्धयर्थं हि शिरोव्रतोपदेशनियमः, न विद्यायाः । कुत एतत्? "नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीत् "इति तस्याध्ययन संयोगात् समाचारेऽधिकाराच्च-समाचाराख्येग्रन्थे-"इदमपिवेद व्रतेनव्याख्यातम्" इत्यतिदेशात् । "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यायां वदेत्" वेदविद्यामित्यर्थः । सववच्च तन्नियमः, यथाहि-सवहोमाः सप्तसूर्यादयः शतोदनपर्यन्ता आथर्वणिकैकाग्नि संबंधिनस्तत्रैव भवंति न त्रेताग्निषु ।

शिरोव्रत के आधार पर जो विद्या का भेद बतलाते हो वह भी निराधार है, शिरोव्रत की विद्यांगता का कहीं भी उल्लेख नहीं है । विद्या सिद्धि के लिए स्वाध्याय का वैसा प्रकार बतलाया गया है अर्थात् स्वाध्याय की तत्वार्थ सिद्धि के लिए शिरोव्रत संस्कार से संपन्न होना आवश्यक है, इसलिए शिरोव्रत की अनिवार्यता बतलाई गई है, विद्या के लिए नहीं । "व्रतानुष्ठान रहित व्यक्ति इसका अध्ययन न करे "इस श्रुति में शिरोव्रत के साथ अध्ययन का संयोग दिखलाया गया है तथा-सदाचार को बतलाने वाले ग्रन्थों में, सदाचार के अधिकार की बात का स्पष्ट उल्लेख है कि-"उन लोगों को ही इसविद्या का उपदेश दो" अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दो । इससे भी उक्त मत पुष्ट होता है । जैसे कि-आथर्वणिक एकाग्नि संबंधी, सूर्य आदि शतोदन पर्यन्त सात, सवहोम उसी में संपन्न होते हैं, त्रेताग्नि संपूर्ण में नहीं होते वैसे ही इस शिरोव्रत का पालन अथर्ववेदाध्ययन के लिए ही आवश्यक है, संपूर्ण विद्या के लिए नहीं है ।

दर्शयति च ।३।३।४॥

दर्शयति च श्रुतिरूपासनस्य सर्ववेदांत प्रत्ययत्वम्-तथाहि-

ankurnagpal108@gmail.com

छांदोग्ये—"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्युक्त्वा—"किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्" इति प्रश्नपूर्वकं अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टक-विशिष्टः परमात्मा तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम्। तैत्तरीयके तु छांदोग्यस्थ प्रतिनिर्देशमुपजीव्य "तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्त-स्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इति गुणाष्टक विशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुच्यते, तदुभयत्र विद्यैकत्वेन गुणोपसंहारादेवोपद्यते।

स्वयं श्रुतिभी—उपासना की दृष्टि से, विभिन्न वेदांतों में उल्लेख्य विद्या की एकता बतलाती है। जैसा कि—"उसमें जो निहित है वही अन्वेषणीय है "ऐसा कहकर—"इसमें ऐसा क्या है जिसका अन्वेषण किया जाय" ऐसा प्रश्न करते हुए, निर्दोषता आदि आठगुणों वाले परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है। तैत्तरीयक में इन्हीं छांदोग्योक्त गुणों का प्रतिनिर्देश किया गया है—"वहाँ जो दहराकाश है उसके अंदर निहित तत्त्व की उपासना-करनी चाहिए" इसमें भी आठगुणों वाले परमात्मा की ही उपासना बतलाई गई है इस प्रकार के गुणोपसंहार से, दोनों शाखाओं में एक ही विद्या का समर्थन प्रतीत होता है।

तदेवशाखान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विद्यैक्यं स्थिरीकृत्य तत्प्रयोजनमाह—

इस प्रकार विभिन्न शाखाओं के अधिकरणों में उल्लेख्य विद्या की एकता का निर्णय करके उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

उपसंहारोऽर्थाभेदात् विधिशेषवत्समाने च।३।३।५॥

एवं सर्ववेदांतेषु समाने सत्युपासने वेदांतांतराम्नातानां गुणानां वेदांतांतर उपसंहार कर्त्तव्यः, कुतः? विधिशेषवदर्थाभेदात्-यथै-कस्मिन्वेदांते श्रुतो वैश्वानरदहरादिविधिशेषो गुणस्तद्विद्यासंबंधात् तदुपकाररूपप्रयोजनसिद्ध्यर्थमनुष्ठीयते, तथा वेदांतांतरोदितोऽपि तद् विद्यासंबंधित्वेन तदुपकाराविशेषादुपसंहर्त्तव्य इत्यर्थः। च शब्दोऽवधारणे।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रकार जब सभी वेदांतों में एक ही उपासना है, तो विभिन्न वेदांतों में कहे गए उपास्य के गुणों का भी उपसंहार करना चाहिए। विधि विशेष की तरह अर्थ का भी, प्रयोजन से अभेद होता है। जैसे कि–एक वेदांत में श्रुत, वैश्वानरोपासना विधि के अनुरूप गुण, उसविद्या से संबद्ध होने के कारण उसके उपकार रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अनुष्ठित होते हैं, वैसे ही विभिन्न वेदांतों में कहे गए गुण भी, उसी विद्या के उपकारक हैं, ऐसा मान कर ही उनका उपसंहार करना चाहिए। सूत्रस्थ च शब्द, अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है।

२ अन्यथात्वाधिकरणः–

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नविशेषात् ।३।३।६॥

एवं चोदनाद्य विशेषात् विद्यैकत्वं, एकत्वे च गुणोपसंहारः कर्त्तव्य इत्युक्तम् अतः परं काश्चन् विद्याअधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूत-चोदनाद्यविशेषोऽस्ति नेति निरूप्यनिर्णीयते।

ऊपर प्रेरणा आदि की सामान्यता के आधार पर विद्यैकता और एकता में गुणोपसंहार कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया। इसके बाद अब कुछ विद्याओं के उदाहरण प्रस्तुत कर, प्रत्यभिज्ञा के हेतु प्रेरणा आदि की, सामान्यता, उनमें है या नहीं? इसका निरूपण कर, सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे।

अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छंदोगानां च। वाजिनां तावत् –"द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इत्यारभ्य–"तेह देवा ऊचुः हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामः" इत्युद्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनः पर्यन्तदृष्टौ असुरैरभिभवमुक्त्वा "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा–"भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद" इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। एवं छंदोगानामपि–"देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य–"तद् ह

ankurnagpal108@gmail.com

देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम: "इत्युद्गीथेनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तद्वदेवोद्गीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय–"अथ ह य एवायं मुख्य: प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" –इत्यादिना उद्गीथे प्राण दृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा "यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति शत्रुपराभवाय उद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। वेदनविषयविधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि फलसाधनत्व श्रवणात् वेदनविषयोविधि: कल्प्यते उद्गीथ विद्याया: क्रत्वर्थत्वेन क्रतु सादगुण्यफलत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तदविरुद्धं ग्राह्यमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपादितम्।

उद्गीथ विद्या वाजसनेयी और छांदोग्य दोनों में है। वाजसनेयी में जैसे–"प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे देव और असुर "यहाँ से प्रारंभ करके–"उनमें से देवताओं ने कहा हम यज्ञ में उद्गीथ द्वारा असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि से असुरों के ध्वंस की प्रतिज्ञा दिखलाकर, वाक् से मन पर्यन्त प्राणों की उद्गीथ दृष्टि करने पर भी–असुरों ने, उन देवों को पराभूत कर दिया, ऐसा बतलाकर "फिर अपने निकटस्थ प्राण से कहा" इत्यादि में, उद्गीथ में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर "जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापति रूप से स्थित होता है, और उससे द्वेष करने वाले भ्रातृव्य का पराभव होना है" इस प्रकार शत्रु पराजय फलवाली उद्गीथ में प्राण दृष्टि दिखलाई गई है। इसी प्रकार छांदोग्य में भी–"देवता और असुर जब आपस में लड़ रहे थे "यहाँ से प्रारंभ करके-"उन देवताओं ने उद्गीथ को लक्ष्य बनाकर यज्ञ किया, इसके द्वारा हम इन्हे हरा देंगे" इस प्राकार उद्गीथ द्वारा असुरों के पराभव की प्रतिज्ञा दिखलाकर, पूर्व की तरह उद्गीथ में वागादि दोषों को दिखलाकर–"जो यह मुख्य प्राण है, उद्गीथ रूप से उसी की उपासना की" इत्यादि से उद्गीथ में, प्राण दृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "खनित्र (छेनी) जैसे पत्थर से टक्कर खाकर टूट जाती है, ठीक उसी प्रकार जो उद्गीथस्थ पुरुष के संबंध में पापाचार करता है वह भी नष्ट हो जाता है" ऐसी शत्रु पराभवरूप फलसिद्धि के लिए उद्गीथ में प्राणदृष्टि का विधान किया गया। उद्गीथ

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकरण में उपासना विषयक विधि वाक्य के न होते हुए भी, उपासना की फलोत्पादकता कही गई है, जिससे उपासना विधि की स्वतः कल्पना हो जाती है। उद्गीथ विद्या यज्ञ की उपकारिका है, यज्ञोत्कर्ष करना ही उसका फल है, फिर भी जो अर्थवाद फल कहा गया है वह विरुद्ध नहीं है वह भी ग्राह्य है, ऐसा देवताधिकरण में बतला भी चुके हैं।

तत्र संशय्यते—किमत्र विद्यैक्यम्, उत नेति? किं युक्तं? विद्यैक्यमिति कुतः,? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्व-श्रवणाच्चोदनाद्य विशेषात्। फलसंयोगस्तावच्छत्रु परिभवरूपो न विशिष्यते। रूपमप्यध्यस्त प्राणभावोद्गीथाख्योपास्यैक्यादि-विशिष्टम्। चोदना च विदिधात्वर्थंगताऽविशिष्टा। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा! अत्र राद्धान्तिच्छायया परिचोद्य परिहरति। "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्" इति।

अब संशय होता है कि—दो शाखाओं में वर्णित ये उद्गीथ विद्या एक है अथवा भिन्न है? विचारने पर ज्ञात होता है कि-एक है क्योंकि-दोनों शाखाओं में प्राणभाव आरोपण पूर्वक उद्गीथ को ही उपास्य बतलाया गया है, दोनों में—विधि आदि में भी ऐक्य है। शत्रु पराभव रूप फल संबंध में भी प्रथकता नहीं है। प्राणभाव से आरोपित उपास्य उद्गीथ में पृथकता न होने से, विद्या में पृथकता नहीं है। विदि धातु का अर्थ भी दोनों जगह सामान्यतः वेदन ही है तथा दोनों जगह "उद्गीथ" नाम भी एकसा है। इस सिद्धान्त पर आपत्ति पूर्वक परिहार करते हैं— "अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्"

यदुक्तं विद्यैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदात्, रूपान्यथात्वं शब्दादेव हि प्रतीयते। वाजसनेयकेहि—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्युगानस्य कर्त्तरि प्राणदृष्ट्याऽसुरपराभवमुक्त्वा "य एवं वेद" इतिकर्त्तर्येव प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते। छांदोग्ये—"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्गानस्य कर्म-

ankurnagpal108@gmail.com

व्युद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुर पराभवमुक्त्वा—"य एवं विदि पापं कामयते" इत्येवं शब्दात् कर्मण्येवोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। अथ एकत्र कर्त्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम्। रूपान्यथात्वेच विधेय भेदे सति केवल चोदनाद्यविशेषोऽकिंचित्कर इति विद्याभेद इतिचेत्—तन्न अविशे--षात्—अविशेषेण हि उभयत्र उद्गीथ साधनकपरपराभव उपक्रमे प्रतीयते। वाजसनेयके—"ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथे-नात्याम" इत्युपक्रमे श्रूयते, छांदोग्येऽपि—"तदह देवा उद्गीथ माजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम." इति। अथ उपक्रमाविरोधाय—"तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" इत्यध्यस्त प्राणभाव उद्गीथ उद्गान कर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादिवत् सौकर्यातिशयविवक्षया कर्तृत्वेनोच्यते, अन्यथो पक्रमगत उद्गीथ शब्दः कर्त्तरिलाक्षणिकः स्यात् अतोविद्यैक्यम्।

विद्या की जो एकता बतलाते हो, वह सिद्ध नहीं होती क्योंकि-दोनों स्वरूपगत में पार्थक्य है। स्वरूपगत पृथकता शब्दों से ही प्रतीत होती है। जैसे कि वाजसनेयी में—"अथ हेममासन्यं" इत्यादि,से उद्गाता कर्त्ता में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर—"यं एवंवेद" वाक्य कहा, इस वाक्य के एवं शब्द से प्राण दृष्टि से उद्गाता की ही प्रतीति होती है। छांदोग्य में—"अथ ह य एवायं" इत्यादि में उद्गाता के कर्मभूत उद्गीथ में प्राणदृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर "य एवं विदि-पापं" इत्यादि में—एवं शब्द से कर्मभूत उद्गीथ में ही प्राण दृष्टि का निर्देश है। इस प्रकार एक जगह कर्त्ता में तथा दूसरी जगह कर्म में, प्राण दृष्टि का निर्देश है। जिससे विद्या का स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाता है। स्वरूप भेद और विधेय भेद होने से तथा केवल विधि आदि के अविशेष और अकिंचित्कर होने से—विद्या भेद निश्चित होता है [विवाद] उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि—दोनों में कोई विशेष बात नहीं है, जिसके आधार पर भेद माना जा सके, दोनों ही जगह प्रारंभ में, उद्गीथ साधना का, शत्रु पराभवरूप फल बतलाया गया।

ankurnagpal108@gmail.com

बृहदारण्यक के उपक्रम में जैसे—"ते ह देवा ऊचुः" इत्यादि तथा-छांयोग्य में—"तद्हदेवा" इत्यादि कहा गया तथा उपक्रम के अविरोध के लिए—"तेभ्य एष प्राण उगद्ायत्" इत्यादि में प्राणभाव का अभ्यास दिखलाया गया उद्गीथ का उद्गान ही उसका कर्म होता है जैसे कि पके हुए भात को सुविधावश चावल कह देते हैं, वैसे ही-कहने की सरलता से, उद्गीथ का कर्त्तृत्व बतला दिया गया। उपक्रम में उल्लेख्य उद्गीथ शब्द कर्त्ता में लाक्षणिक है। इसलिए विद्या एक ही है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७॥

नवेति पक्षं व्यावर्त्तयति, नचैतदस्ति, तद्विद्यैक्यमिति कुतः ? प्रकरण भेदात् "ओमित्येतदक्षरं उद्गीथमुपासीत्" इति प्रकृतं उद्गीथावयवभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य "एतस्य वाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति" "देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य—"अथ ह य एवायं मुख्यः—प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इत्युद्गीथावयवभूतप्रणव-विषयमुपासनं छंदोगा अधीयते, वाजिनस्तु तादृशप्राचीन प्रकरणा-भावात् हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" इति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्यादिकृत्स्नोद्गीथ-विषयमधीयते अतः प्रकरणभेदेन विधेय भेदः, विधेयभेदे च रूपभेद इति न विद्यैक्यम्।

नवा शब्द उक्त पक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या में भेद नहीं है। विद्या एक है, क्योंकि दोनों में प्रकरण का भेद है। "ॐ इस उद्गीथाक्षर की उपासना करो" इत्यादि में प्रस्तावित उद्गीथ के अंग विशेष प्रणव का उल्लेख करके "इस अक्षर का उपव्याख्यान होता है" देवता और असुर जहाँ संग्राम करते थे" इत्यादि से प्रारंभ करके "इसके बाद जो मुख्य प्राण हैं, उसकी उद्गीथ रूप से उपासना की।" इत्यादि में उगद्गीथ

ankurnagpal108@gmail.com

की अवयवरूप प्रणवोपासना छांदोग्य में बतलाई गई है। वाजसनेयी में उक्त प्रकार के प्राचीन प्रकरण का अभाव है इसलिए "हम लोग उद्गीथ असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि में समस्त उद्गीथोपासना का ही उपक्रम करके मुख्य प्राण के लिए कहा गया कि-"तुम हमारे लिए उद्गान करो" इत्यादि, इससे निश्चित होता है कि-इसमें संपूर्ण उद्गीथोपासना का ही निर्देश है प्रकरण में भेद होने से, विषय में भी भेद होता है तथा विषय भेद से स्वरूप भेद होता है। इसलिए विभिन्न प्रकरणों की उद्गीथ विद्या एक नहीं है।

किं च-"अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे" इति पूर्वप्रकृत उद्गीथावयवभूतः प्रणव एवाध्यस्त प्राणभावः छंदोगानामुपास्यः। वाजिनांतु कृत्स्नस्योद्गीथस्यकर्त्तोद्गाथा प्राणदृष्ट्योपास्य इति। "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत" इत्युद्गातरि प्राणाध्यासं निर्दिश्य "य एवं वेद" इत्युदगातैवाध्यस्त प्राणभाव उपास्यो विधीयते। अतश्च रूपभेदः। न चोद्गातर्युपास्ये विहितं "उद्गीथेनात्ययाम" इत्याख्यायिकोपक्रमविरोधः शंकनीयः, उद्गातुरुपासने उद्गीत-स्योद्गानकर्मभूतस्यावश्यापेक्षितत्वात्तस्यापि परपरिभवाख्यं फलं प्रति हेतुत्वात्। अतोरूपभेदात् विद्याभेद इति चोदनाद्यविशेषेऽपि न विद्यैक्यम्। परोवरीयस्त्वादिवत्-यथैकस्यामपि शाखायामु-द्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टि विधानसाम्येऽपि हिरण्मय-पुरुषदृष्टिविधानात् परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्टदृष्टिविधान-मर्थान्तरभूतम्।

तथा-"इस मुख्य प्राण की उद्गीथ रूप से उपासना की" इत्यादि में, पूर्ण प्रस्तावित उद्गीथांश प्रणव में प्राणात्मभाव का आरोप किया गया है। वही छांदोग्य का उपास्य है। वृहदारण्यक में-संपूर्ण उद्गीथ का कर्त्ता उद्गाता ही प्राण रूप से उपास्य माना गया है। "इसके बाद निकटवर्ती मुखस्थ प्राण से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान

ankurnagpal108@gmail.com

करो, उसने तथास्तु कहकर उनके लिए उद्गान किया" इत्यादि से, उद्गाता कर्त्ता में ही प्राण भाव का आरोप करके "जो इस प्रकार जानते हैं इत्यादि में-आरोपित प्राणस्वरूप उद्गाता को ही उपास्य बतलाया गया है। इस प्रकार भी उद्गाता में स्वरूपगत भेद है। उद्गाता के उपास्य रूप से विहित होने से, उसका कर्मभूत उद्गीथ भी अपेक्षित हो जाता है, जिससे शत्रु पराभवरूप फलसिद्ध में, उसकी भी कारणता हो जाती है। स्वरूप भेद से जब विद्या भेद हो जाता है तब विधि आदि की एकता होते हुए भी, विद्या का अभेद नहीं हो सकता— जैसे कि—छांदोग्य की एक ही शाखा में उद्गीथ प्रकरण के मध्य में उद्गीथांश रूप प्रणव के परमात्म दृष्टि से साम्य होते हुए भी, हिरण्मय पुरुष परक दृष्टि का विधान होने से, परोवरीय आदि गुणों से विशिष्ट दृष्टि का विधान, भिन्नता का द्योतक है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८॥

उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यात् तत्–विद्यैक्यमुक्तं चेत्–तत् संज्ञैक्यंविधेयभेदेऽप्यस्त्येव, यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुंडपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथाचोद्गीथविद्येति छांदोग्ये प्रथम प्रपाठकोदितासुबह्वीषु विद्यासु।

"उद्गीथ विद्या" ऐसी नाम की एकता है, ऐसा कथन भी संगत नहीं है, प्रायः विधेय के भेद में भी एक नाम होता है जैसे कि–नित्य अग्निहोत्र और कुण्डपायी अग्निहोत्र, दोनों ही अग्निहोत्र नाम वाले हैं। छांदोग्य के प्रथम प्रपाठक की अनेक विद्यायें, उद्गीथ नामवली हैं।

व्याप्तेश्च समंजसम् ३।३।९॥

छांदोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरांस्वपिविद्यासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य "तदह देवा उद्गीथमाजह्रुः" इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समंजसम्। अवयवे च समुदाय शब्दः पटोदग्धः" इत्यादिषु दृश्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अतश्चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोद्गीथ शब्द निर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः। वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्-गीथ विषय उद्गीथ शब्द इति कृत्स्नोद्गीथस्य कर्त्तोद्गाता प्राण दृष्ट्योपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम्।

छाँदोग्य के प्रथम प्रपाठक में, प्रथमवर्णित–उद्गीथावयव प्रणव की उपासना, परवर्त्ती विद्याओं में भी अनुगत है इसलिए मध्यवर्त्ती— "देवताओं ने उस उद्गीथ का आहरण कर लिया" इत्यादि में उल्लेख्य "उद्गीथ" शब्द का प्रणवार्थ मानना ही संगत होगा। "जला-कपड़ा" इत्यादि उदाहरणों में जैसे—समुदाय वाचक शब्द का उसके अवयव में भी प्रयोग किया जाता है [अर्थात् कपड़े का ढेर जले या एक जले प्रयोग "पटो दग्धः" ही किया जाता है] वैसे ही—उद्गीथ के अंग प्रणव का भी, उद्गीथ शब्द से ही निर्देश किया गया है। उसे ही छांदोग्य में—प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। बृहदारण्यक में तो–संपूर्ण उद्गीथ का बोधक उद्गीथ शब्द है, संपूर्ण उद्गीथ के कर्त्ता उद्गाता को ही प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है। इससे विद्या का भेद ही सिद्ध होता है।

सर्वभेदाधिकरणः—

सर्वभेदादन्यत्रेमे।३।३।१०॥

छांदोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या आम्नायते "योह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति, प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" इत्यादि तत्र ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाकचक्षुः श्रोत्रमनः सुवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्त्वायतनत्वाख्यान् गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्थितित्वेन तदायत्ततत्तकार्यंत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादि संबंधितया श्रुतान्वशिष्ठत्वादीन् गुणांश्च प्राणसंबधितया प्रतिपादयति। एवं छांदोग्यवाजसनेयकयोर्ज्यैष्ठयश्रैष्ठयगुणको

ankurnagpal108@gmail.com

वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते । कौषीतिकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठयश्रैष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः, न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादि संबंधिनो गुणः प्राण संबंधितया प्रतिपादिताः। तत्र संशयः, किमत्र विद्याभिद्यते, उतनेति ? किं युक्तम् ? भिद्यत इति । कुतः ? रूपभेदात् । यद्यप्युभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्य श्रैष्ठ्यगुणक उपास्यः, तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणैर्युक्तः प्राणउपास्यः प्रतीयते, इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः ।

छांदोग्य और वृहदारण्यक दोनों में प्राणविद्या का उपदेश है "जो लोग ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानते हैं, वे स्वयं ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाते हैं, प्राण ही ज्येष्ठ है" इत्यादि । इसमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण संपन्न प्राण की उपास्यता का प्रतिपादन करके-वाक्-चक्षु-श्रोत्र और मन को क्रम से वसिष्ठता, प्रतिष्ठता, समपद रूपता और आयतनता गुणों वाला बतलाया गया है । इसके बाद-वाक् आदि इंद्रियों और देह में स्थित विशेष कार्यों से अधीन प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके-वागादि संबंधी वसिष्ठता आदि गुणों का भी, प्राण संबंधी रूप से ही प्रतिपादन किया गया है। जैसी छांदोग्य वृहदारण्य में ज्येष्ठ श्रेष्ठ-वसिष्ठ आदि गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, वैसी ही कौषीतकि प्राण विद्या में भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, उसमें प्राण संबंधी वागादि इंद्रिय संपर्कित वसिष्ठता आदि गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है। इस पर संशय होता है कि उक्त विद्या एक है या भिन्न ? कह सकते हैं कि-भिन्न, क्योंकि-रूप का स्पष्ट भेद है । यद्यपि दोनों जगह ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण वाले प्राण को ही उपास्य कहा गया है, पर एक जगह वसिष्ठता आदि गुणों से युक्त प्राण की उपास्यता का उपदेश है, दूसरी जगह, उनगुणों से हीन प्राण उपास्य है । इस प्रकार रूप में भेद है । अतः विद्या भिन्न है ।

सिद्धान्तः-इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वाभेदादन्यत्रेमे—नात्रविद्या भेदः, अन्यत्र कौषीतकिनां प्राण विद्यायामपि इमे-वसिष्ठत्वादयो

ankurnagpal108@gmail.com

गुणा उपास्या. संति कुतः ? सर्वाभेदात्—प्रतिज्ञात प्राण ज्येष्ठ्य-श्रैष्ठयोपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात् । तथाहि—छांदोग्यवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम् "एताःहवै देवता अहं श्रेयसे व्यूदिरे "अहंश्रेयसे विवदमानाः" इति चोपक्रम्य वागाद्येकैको-पक्रमणे अन्येषां स प्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थिति तत्तत्कार्यं चाविकलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणं सर्वेषां विशरणमकार्य-करत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां प्राणस्य ज्येष्ठ्यमुपपादितम् । एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य प्राणाधीनत्वं—"अथ हैनंवागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वद् वसिष्ठोऽसि" इत्यादिना वागादिभिरनूद्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—विद्या का भेद नहीं है, कौषतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों का उपास्य रूप से उल्लेख है। प्राण के ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुणों के उपपादन से ही, उन सबकी अभिन्नता प्रतीत होती है। छांदोग्य और वृहदारण्यकीय प्राण विद्या में—"वे देवता (इंद्रियाँ) अपनी-अपनी प्रधानता बतलाने के लिए विवाद करने लगे। "अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के लिए विवाद करते-करते" इत्यादि से प्रारंभ करके—वागादि आदि एक-एक इन्द्रियों का बहिर्गमन तथा प्राणयुक्त इंद्रियों का शरीर में अवस्थान एवं कार्यकारिता का प्रतिपादन किया गया और अंत में—प्राणों के उत्क्रमण से समस्त इन्द्रियों की शिथिलता और अकर्मण्यता का प्रतिपादन करके, प्राण की अधीनता में सबकी अवस्थिति और कार्यकारिता के कारण प्राण की ज्येष्ठता आदि का समर्थन किया गया है। इसी प्रकार वागादि इन्द्रियों की प्राणाधीनता का भी समर्थन करते हुए "वाक् ने कहा जो मेरी वसिष्ठता है वही तुम्हारी भी वसिष्ठता है।" इत्यादि में वागादि से अनूदित किया गया है।

कौषीतकिनां प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्य प्रति-पादनाय वागादिषु वसिष्ठात्वादयः प्रतिपादिताः । "अथ हेमा देवताः प्रजापतिपितरमेत्याब्रुवन् को वै न श्रेष्ठः" इत्यादिना

ankurnagpal108@gmail.com

वागादि गतागुणा वागादयश्च देहश्च प्राणाधीना इति प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिभिः स्वस्वगुणा वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तुनकृतम् । नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादि गुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादि वसिष्ठत्वादि गुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वात् । तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादि गुणयोगित्वं, यद्वागादिवसिष्ठत्वादि हेतुत्वम । अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगात् प्राणो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्या भेदः ।

कौषीतकि प्राण विद्या में भी, प्राण की ज्येष्ठता श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए, वागादि की वशिष्ठता आदि का प्रतिपादन किया गया है। "इन देवताओं ने प्रजापति के पास जाकर कहा—हममें कौन श्रेष्ठ है ?" इत्यादि में वाक् आदि के गुण, वागादि इन्द्रियों और शरीर इत्यादि सबको प्राणाधीन बतलाकर-प्राण की ज्येष्ठता का समर्थन किया गया है। वागादि की एक मात्र गुणों के कारण ही प्राणाधीनता नहीं बतलाई गई अपितु उनको स्वरूपतः भी अभिन्न कहा गया है, क्योंकि जब एक मात्र प्राण ही, इन्द्रियों की वसिष्ठता आदि का कारण है, तब वसिष्ठता आदि गुणों से संपन्न इन्द्रियों की कार्यकारिता स्वतः ही प्राणाधीन सिद्ध होती है। वस्तुतः प्राण की जो, वागादि इन्द्रियगत वसिष्ठता आदि गुण संपादकता है, वह उसकी अपनी ही, वसिष्ठता आदि गुण योगिता है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि-कौषीतकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों से संबंद्ध प्राण की ज्येष्ठता बतलाई गई है। इस प्रकार विद्या में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है।

४ आनंदाद्याधिकरणः—

प्राणविद्यांगविषयमन्यदपि निरूपणमनंतरमेव करिष्यते। यथा प्राणस्य वसिष्ठत्वाद्यनुसंधानेन विना ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसंधानामुपपत्तेरनुक्तानामपि वसिष्ठत्वादीनां कौषीतकि प्राणविद्यायां प्राप्तिः तथा ब्रह्मस्वरूपानुसंधानं यैर्गुणैर्विनानोपपद्यते, ते ब्रह्म-विद्यासु सर्वास्वप्यनुसंधेया इत्ययमर्थ प्रतिपाद्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

प्राण विद्या के अन्य अंगों का भी प्रतिपादन करना होगा, जैसे कि प्राण की वसिष्ठता आदि के अनुसंधान के बिना ज्येष्ठता श्रेष्ठता आदि की प्रतीति नहीं होती इस बात को बतलाये बिना ही, वसिष्ठता आदि गुणों का, कौषीतकि प्राणविद्या में जो उल्लेख है तथा–बिना समस्त गुणों की जानकारी के ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान संभव नहीं है, ब्रह्म विद्याओं में उन गुणों का अनुसंधान आवश्यक है। इत्यादि बातों का प्रतिपादन करते हैं।

आनंदादयः प्रधानस्य ।३।३।११॥

अत्रब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविद्यासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्यते । अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात् प्रकरण श्रुतानामेवोपसंहार इति ।

ब्रह्म के स्वरूपगत गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार है या नहीं इस पर विचार करते हैं। भिन्न प्रकरणों में कहे गये गुणों के उपसंहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए ज्ञात होता है कि–प्रस्तुत प्रकरण में कहे गए गुणों का स्वतः में ही उपसंहार है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः–आनंदादयः प्रधानस्य, अभेदादिति वर्त्तते प्रधानस्यगुणिनोब्रह्मणः सर्वेषूपासनेष्वभेदात् गुण्यपृथग्भावाद्गुणानां सर्वत्रानंदादयस्तद्गुणा उपसंहर्त्तव्या ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–पूर्व सूत्र से "अभेदात्" पद की इस सूत्र में भी अनुवृत्ति है, जिससे अर्थ होता है कि–आनंदादि प्रधान गुणों वाले ब्रह्म का सभी उपासनाओं से अभेद संबंध होने से तथा–गुण और गुणी की अपृथक्ता होने से, आनंदादि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए।

एवं तर्हि–गुण्यपृथक्भावादेवानंदादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि "तस्य प्रियमेवशिरः" इत्यादौ ब्रह्मगुणत्वेन श्रुताः सर्वत प्रसज्येरन्–नेत्याह—

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) ऐसा मानने से तो–गुणी से अभिन्न आनंदादि की तरह आनंद के अंग प्रियशिर आदि जो कि–"तस्यप्रियमेवशिर:" इत्यादि में ब्रह्म के गुण रूप ही कहे गए हैं, उनका भी सब जगह उपसंहार करना होगा इसका निराकरण करते हैं :—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तरुपचयापचयौहि भेदे।३।३।१२॥

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्तावुच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्ति:, तेषामब्रह्मगुणत्वात्, ब्रह्मण: पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम्। अन्यथा शिर: पक्षपुच्छाद्यवयव भेदेसति ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम्। तथाच सति–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विरुध्यते।

ब्रह्म के स्वरूप भूत गुणों की गणना करने में, प्रियशिरत्व आदि गुणों की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि–वे ब्रह्म के गुण नहीं हैं अपितु वे प्रियशिरता आदि, ब्रह्म के अवतार रूप के निरूपण करने वाले अवान्तर गुण मात्र हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शिर–पक्ष–पुच्छ आदि अवयव भेद, ब्रह्म के उपचय अपचय के परिचायक देहगत विकार हो जावेंगे। जो कि–"सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मस्वरूप के विरुद्ध बात होगी।

नन्वेवमेव ब्रह्मसंबंधिनामेवैश्वर्यगांभीर्यौदार्यकारुण्यादीनां गुणानामनंतानां गुण्यपृथक् स्थितत्वमात्रेण तत्राश्रुतानामप्युपसंहारे सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्, आनंत्यादुपसंहाराशक्तिश्च। तत्राह—

इस प्रकार तो ब्रह्म संबंधी, ऐश्वर्य–गांभीर्य–औदार्य–कारुण्य आदि अनंतगुणों की, गुणी से अपृथक्ता होने से, जहाँ गुणों का कथन नहीं है, वहाँ भी समस्त गुणों की उपस्थिति अनिवार्य हो जायेगी? ब्रह्म के अनंत गुणों का उपसंहार संभव भी नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

इतरेत्वर्थ सामान्यात्।३।३।१३॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, इतरेतु आनंदादय:, अर्थसामान्यात् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते। ये त्वर्थसमाना:, अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थ

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतीत्यनुबंधिमः, तेऽर्थस्वरूपवत् सर्वत्रानुवर्त्तन्ते। ते च गुणाः सत्यज्ञानानंदामलत्वानंतानि। "यतो वा इमानि" इत्यादिना जगत्-कारणतयोपलक्षितं ब्रह्म "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" "आनंदो ब्रह्म" इत्यानंदादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते अत उपास्य ब्रह्म स्वरूपाव-गमाय सर्वासु विद्यास्वानंदादयोऽनुवर्त्तन्ते। ये तु निरूपित स्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयोगुणाः प्रतिपन्नाः तेषां गुण्यपृथक् स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबंधित्वाभावात्-ये यत्र श्रुताः ते तत्रोपसंहार्याः, इति निरवद्यम्।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। आनंद आदि सामान्य अर्थ बोधक होने से सभी विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं, जो कि–गुणी के समानार्थक गुण हैं, अर्थात् जो अर्थ स्वरूप के निरूपक होने से एकमात्र अर्थ प्रतीति के कारण ही गुण वाच्य हैं, वे जिस गुणी की अर्थ प्रतीति कराते हैं, उस गुणी की तरह ही, समस्त विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं। वे गुण–सत्य–ज्ञान–आनंद अनंतता आदि ही हैं। "यतो वा इमानि" इत्यादि से, जगत् कारणरूप से उपलक्षित ब्रह्म ही "सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म" आनंदोब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में आनंद आदि रूपवाले निरूपण किये गए हैं। उपास्य ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति के लिए ही सभी विद्याओं में बार-बार अनुवर्त्तन कियागया है। उक्त प्रकार से निरूपित ब्रह्म के कारुण्य आदि प्रसिद्ध गुणों की गुणी से अपृथक् स्थिति होते हुए भी, उन गुणों से एकमात्र ब्रह्म की ही प्रतीति होती हो, अन्य की नहीं, ऐसा कोई अनुबंधन होने के कारण वे कारुण्य आदि गुण जहाँ कहे गए हैं, उनका वहीं उपसंहार होगा, अन्यत्र नहीं।

यत्तूपचयापचयप्रसंगात् प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुष विधत्वरूपणमात्रार्थाः न तु ब्रह्म गुणाः। तर्हि अतथारूपस्यब्रह्मण-स्तथात्वेन रूपणं किमर्थं, क्रियते अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित् प्रयोजनेन भवितव्यम्, यथा–"आत्मानं रथिनंविद्धि" इत्यादिनोपासकस्य तदुपकरणानां च रथिरथादित्वरूपणम्

ankurnagpal108@gmail.com

उपासनोपकरणरूप शरीरेन्द्रियादिवशीकरणार्थं क्रियत इत्युक्तम्। नवेह तथाविधम् किंचित्प्रयोजनं दृश्यते। इति बलात् ब्रह्मगुणत्वं प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम्। तत्राह–

जो यह कहा कि– ब्रह्म के अवतार की ही पक्षिरूप से कल्पना की गई है उसी के लिए प्रियशिरस्त्व आदि कल्पित है, वस्तुतः वे परमात्मा के गुण नहीं हैं। यदि ऐसा ही है तो, ब्रह्म के पक्षिरूप कल्पना का प्रयोजन क्या होगा? असंभव वस्तु की संभवकल्पना का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। जैसे कि–"आत्मा को रथी जानो" इत्यादि कल्पना में उपासक जीव और उसकी साधना के उपकरण इन्द्रिय आदि का, रथीरथ, आदि रूपों से जो निरूपण किया गया है, वह उपासना के साधनभूत शरीरेन्द्रियादि के वशीकरण के लिए है, वही उसका प्रयोजन है। इस प्रकार का कोई भी प्रयोजन, पक्षिरूप की कल्पना में तो दीखता नहीं, इसलिए अगत्या प्रिय शिरता आदि को परमात्मा का ही गुण मानना पड़ेगा। इसका उत्तर देते हैं।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्।३।३।१४॥

प्रयोजनान्तराभावात् आध्यानाय अयं रूपणोपदेशः क्रियते। आध्यानं अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यत्रोपदिष्टाध्यानरूपवेदन सिद्धये हि आनंदमयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमानंदमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिराः पक्षादित्वेन रूपयित्वोपदिश्यते। यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरः पक्षादिभिः "तस्येदमेवशिरः" इत्यादिना बुद्धावारोप्यते, यथा च प्राणमय मनोमयविज्ञानमयाः तस्य प्राण एव शिरः" इत्यादिना प्राणाद्यवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते, एवमेभ्योऽर्थान्तरभूतस्तदंतरात्मा आनंदमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृतित्वेन रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते। एवमानंदमयोपलक्षणत्वात् प्रियशिरस्त्वादीनां न सर्वदाआनंदमय प्रतीतावनुवर्त्तन्ते।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त कल्पना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, केवल आध्यान के लिए ही उक्त कल्पना की गई है आध्यान अर्थात् अनुचिंतन, उपासना को कहते हैं। "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है" इसवाक्य में आध्यान रूप वेदन का उपदेश दिया गया है, उसकी सिद्धि के लिए ही, आनंदमय ब्रह्म का विवेचन, प्रियमोद आदि रूपों से विभक्त करके, शिर पंख आदि रूपों से किया गया है जैसे कि–पुरुष पदवाच्य, अन्नमय स्थूल देह को "यही उसका शिर है" इत्यादि से–शिरपक्षादियुक्त विशिष्ट रूप, से बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई है तथा प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इत्यादि को तस्य प्राणमयः शिरः" इत्यादि से प्राण आदि की बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई वैसे ही अन्नमय आदि से स्वतंत्र, उनके ही अंतरात्मा आनंदमय की, प्रियमोद आदि एक देशीय विशेषताओं की शिर आदि रूपों में आध्यान करने के लिए कल्पना की गई है। आनंदमय के उपलक्षण होने के कारण प्रियशिर आदि, सब जगह आनंदमय की ही प्रतीति कराते हों ऐसा नहीं है, यह ऊपर के विवेचन से निश्चित हो जाता है। वे तो एक मात्र उपासना के लिए ही हैं।

आत्मशब्दाच्च ।३।३।१५।।

"अन्योऽन्तर आत्माऽनंदमयः', इत्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छाऽसंभवात् प्रियशिरस्त्वादयस्तस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं रूपणमात्रमिति गम्यते।

"इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा आनंदमय है" इत्यादि वाक्य में आनंदमय का आत्मा शब्द से निर्देश किया गया है, आत्मा में शिर-पंख पूंछ आदि संभव नहीं हैं, इसलिए उसके प्रियशिरत्व आदि की कल्पना सुख प्राप्ति के लिए, रूपक मात्र ही प्रतीत होते हैं।

ननु 'अन्योऽन्तर आत्माप्राणमयाः" अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः "इत्यात्मशब्दस्यनात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् "अन्योऽन्तरआत्मा आनंदमयः" इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निश्चीयते? तत्राह—

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा प्राणमय है" इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा मनोमय है" इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द का प्रयोग अनात्म–प्राण, मन आदि के लिए भी किया गया है, फिर इन वाक्यों के परवर्ती "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्मा शब्द को परमात्मा विषयक ही कैसे निश्चिय किया जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१६॥

"अन्योऽन्तरआत्माऽनंदमयः इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत्–यथेरत्र–"आत्मावाइदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजै" इत्यादिष्वात्मशब्देन परमात्मन् एव ग्रहणम् । तद्वत । कुत एतत्? उत्तरात्–"सोऽकामयत्बहुस्यां प्रजायेय "इत्यानंदमयविषयात् उत्तराद्वाक्यात् ।

"इससे भिन्न अन्तरात्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्म शब्द परमात्मावाची ही माना जायगा जैसे कि "सृष्टि से पूर्व एक मात्र आत्मा ही था । उसने इच्छा की कि–लोकों की सृष्टि करूं" इत्यादि अन्य वाक्यों में आत्मा शब्द परमात्मावाची ही है । उक्त आनंद-मय विषयक वाक्य के बाद के "उसने कामना की कि अनेक हो कर जन्म लूँ" इत्यादि वाक्य से उस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३।३।१७॥

पूर्वत्र प्राणमयादिष्वनात्मशब्दान्वयदर्शनान्नोतरान्निश्चेतुं शक्यत् इति चेत्–स्यादवधारणात्–स्यादेव निश्चयः, कुतः ? अवधारणात् पूर्वत्रापि–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति परमात्मन एव बुद्धयाऽवधारितत्वात् अन्नमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णातदनंतरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये, ततोविज्ञानमये तत आनंदमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्त-दन्तराभावादुत्तराच्च "सोऽकामयत्" इति वाक्यात् प्रतिष्ठितेत्युप-क्रमेऽप्यपरमात्मनिपरमात्मबुद्धया आत्मशब्दान्वयः, इति निरवद्यम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

यदि कहें कि–पूर्वोक्त प्राणमय आदि अनात्म शब्दों से संबद्ध आनंदमय को परवर्ती वाक्य से निश्चित नहीं किया जा सकता सो बात नहीं है, अवधारण से निश्चित किया जा सकता है। अन्नमय प्राणमय आदि अवधारण से पूर्व भी "इस आत्मा से आकाश हुआ" इस आत्मा में परमात्मा ही बुद्धि में सरलतापूर्वक समझा जा सके इसलिए अन्नमय से भिन्न प्राणमय को सर्वप्रथम परमात्मा बुद्धि से प्रस्तुत किया गया; उसके बाद प्राणमय से भिन्न मनोमय में और फिर आनंदमय में परमात्म बुद्धि की गई। इसके बाद अन्त में कुछ कथ्य ही नहीं है यही एकमात्र सिद्धान्त है इसलिए "उसने कामना की" इत्यादि वाक्य से-आत्म शब्द का परमात्मा अर्थ निश्चित हो जाने पर उपक्रम वाक्य में भी अपरमात्म (अन्नमय आदि) में परमात्म बुद्धि के लिए आत्म शब्द का संबंध दिखलाया गया है इसलिए उक्त मत निर्दोष है।

५ कार्याख्यानाधिकरणः

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८॥

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्याशेषभूतमिदानीं चिन्त्यते। छांदोग्यवाजसनेयकयोः ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभिधीयंते। छांदोग्ये तावत्-"स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुकोहवासो भवत्यनग्नो भवति" इति। वाजसनेयके –"किं मे वास.? "इति प्राणेनपृष्ट्वा वागादय ऊचुः" आपो वास इति तद् विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते "तस्मादेवं विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चानामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति। तत्र संशयः, किं अत्राचमनं विधीयते उत अपां प्राणवासस्त्वानुसंधानमिति? "अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत् "इत्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणात् "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति वेदने विधिप्रत्ययाभावादनग्नता संकीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेश्च भोजनांगस्याचमनस्य

ankurnagpal108@gmail.com

स्मृत्याचार प्राप्तत्वेन विधि प्रत्ययबलात् प्राणविद्यांगमाचमनान्तरं विधीयते ।

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्या के अंगों पर यहाँ विचार करते हैं। छांदोग्य और वृहदारण्यक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण की उपास्यता बतलाकर प्राण के वस्त्र के रूप से, जल का उल्लेख किया गया है। छांदोग्य में जैसे-"उस प्राण ने कहा कोई मेरा वस्त्र होगा? इन्द्रियों ने कहा "जल" होगा। इसीलिए भोजन करने वाले, भोजन के बाद जल द्वारा परिवेष्टन करते हैं, इसी से प्राण वस्त्र धारण करने वाला अनग्न रहता है "वृहदारण्यक में-"मेरा वस्त्र क्या है?" प्राण द्वारा ऐसा पूछने पर वागादि ने कहा-जल ही वस्त्र है। इसलिए शास्त्रमर्मज्ञ भोजन के पूर्व और पश्चात् आचमन करके अपने प्राण को अनग्न करते हैं।"

इस पर संशय होता है कि-उक्त प्रसंग में आचमन का विधान किया गया है, अथवा जल का, प्राण के वस्त्र रूप से अनुसंधान किया गया है? "भोजन के पूर्व और बाद में आचमन करना चाहिए" इस वाक्य में आचमन में विधि प्रत्यय के उल्लेख से, तथा "इसे अनग्न करते हैं" इत्यादि में उपासनापरक विधिप्रत्यय न होने से, एवं अनग्नता दिखलाने केलिए स्तुतिवाद की उपपत्ति से, और स्मृतिशास्त्र के भोजनांग रूप आचमन के सदाचार उपदेश से निश्चित होता है कि-प्राणविद्या के अंगभूत स्वतंत्र आचमन का ही विधान किया गया है।

सिद्धान्तः- इति प्राप्तेब्रूमः, आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसंधानमेवेह-अपूर्वम्-अप्राप्त विधीयते, कार्याख्यानात् -अप्राप्ताख्यानात् अप्राख्यानेशब्दस्यार्थवत्वादित्यर्थः। एतदुक्त भवति -"कि मेवासः" "आपोवासः "अद्भिः परिदधति "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वाक्यापां प्राणवासा दृष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमननूद्याचम-नीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसंधानं विधीयते इति। अतएव छांदोग्ये -"तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चादभिः-परिदधति" इत्यद्भिः परिधानमेवोक्तम् नाचमनम्।

ankurnagpal108@gmail.com

इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि-प्राण के वस्त्ररूप के आचमनीय जल का विधान किया गया है। इसके पूर्व कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता कहीं भी ऐसा आख्यान अर्थात् शब्दार्थ नहीं मिलता। कथन यह है कि- "मेरा वस्त्र क्या है? 'जल वस्त्र है "जल को धारण करता है "इससे ही अनग्न करता है" इत्यादि उपक्रम और उपसंहार के वाक्यों में, जल में प्राण की वस्त्ररूप प्रतीति होने से ज्ञात होता है कि-स्मृति शास्त्र भी, सदाचार रूप आचमनीय जल का उल्लेख करके उस जल में प्राणवस्त्रता के चिन्तन का विधान करता है। "इसीलिए भोजन करने वाले भोजन के प्रथम और बाद में जल को धारण करते हैं इस छांदोग्य वाक्य में जल को केवल परिधान मात्र कहा गया है आचमन नहीं।

६ समानाधिकरणः—

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१९।।

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शांडिल्यविद्याऽम्नाता—"सत्यं–ब्रह्मेत्युपासीत अथखलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः "इत्यारभ्य "स आत्मानमुपासीत मनोमयप्राण शरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशात्मानं" इति। तथा तस्मिन्नेव वृहदारण्यके पुनरपि शांडिल्यविद्याऽम्नायते" मनोमयोऽयंपुरुषोभाः सत्य तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्यवशी सर्वस्ये शानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च" इति। तत्र संशयः किमत्र विद्या भिद्यते उत नेति? संयोगचोदनाख्यानामविशेषेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः।

शुक्लयजुर्वेदीय वृहादरण्यक में अग्निरहस्य के प्रकरण में शांडिल्य विद्या का उपदेश है-"सत्यब्रह्म की उपासना करो, यह पुरुष (जीव) निश्चित ही क्रतुमय है "इत्यादि से प्रारंभ करके" मनोमय प्राणस्वरूप ज्योतिर्मय, सत्यसंकल्प आकाशात्मक उस आत्मा की उपासना करो। "उसी वृहदारण्यक में पुनः शाण्डिल्य विद्या का उपदेश इस प्रकार है"अंतः -करण में ज्योति और सत्यस्वरूप मनोमय पुरुष (जीव) स्थित है जैसे कि -ब्रीहि या यव होते हैं, वैसे ही वह है, वही सर्वज्ञ-वशी-सर्वेश्वर-सर्वाधिपति

ankurnagpal108@gmail.com

तथा सारे विश्व का प्रशासक है" इत्यादि, अब संशय होता है कि-यहाँ विद्या में भेद है या नहीं? फल संयोग, विधिवाक्य और नाम विषयक पृथक्ता न होते हुए भी उपास्यगत वशित्व आदि गुणों का भेद होने से, विद्या भिन्न ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः — इति प्राप्त उच्यते-समान एवमिति। यथाऽग्नि-रहस्ये मनोमयप्राणशरीरभारूपसत्यसंकल्पत्वगुणगणः श्रुतः, एवं वृहदारण्यकेऽपि मनोमयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसंकल्पत्वगुणाभेदान्न रूपभेदः, अतो विद्यैक्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-जैसे कि अग्निरहस्य में मनोमय प्राणशरीर भारूप सत्यसंकल्पता आदि गुणों का उल्लेख है, वैसे ही वृहदारण्यक में भी मनोमयता आदि तो समान हैं ही, वशित्व आदि गुण, सत्यसंकल्पता आदि गुणों की अपेक्षा, समानरूप से अधिक ही हैं। उनमें कोई भेद न होने से रूपभेद नहीं है, इसलिए विद्या एक ही है।

७ संबंधाधिकरणः—

संबंधादेवमन्यत्रापि।३।३।२०॥

वृहदारण्यके श्रूयते "सत्यं ब्रह्म "इत्युपक्रम्य" तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चाऽयं दक्षिणेऽक्षिन् "इत्युपक्रम्य-आदित्य मंडलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्याहृति शरीरत्वेनोपास्यत्वमुक्त्वा "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" इति द्वे उपनिषदौ-रहस्यनामनी उपासन शेषतयाऽम्नायेते, ते किं यथा श्रुतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनियमेनेति संशये सत्यस्यव्याहृति शरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थानयोः संबंधात् उपास्यैक्येन रूपाभेदात् संयोगाद्यभेदाच्च विद्यैक्यादनियमेनेति प्राप्तम्। तदिमुच्यते—"संबंधादेवमन्यत्रापि" इति यथा मनोमयत्वादि गुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदात् विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः,

ankurnagpal108@gmail.com

एवमन्यत्राक्ष्यादित्यसंबंधिनो ब्रह्मणः सत्यस्यैकत्वेन विद्यैक्यादुभयो-रुभयत्रोपसंहारः ।

वृहदारण्यक में "सत्यंब्रह्म "इत्यादि उपक्रम करके-" जो यह सत्य है वही प्रसिद्ध आदित्य है जो कि आदित्य मंडल और नेत्र में स्थित पुरुष है "इत्यादि में आदित्य मंडल और नेत्रों में, सत्यब्रह्म की व्याहृति को शरीर विशिष्ट रूप से उपास्य बतलाकर-"उसका उपनिषद् में अहः ऐसा अधिदैवत नाम है "उसका उपनिषद में अहम् ऐसा अध्यात्म नाम है" इन दो रहस्यमयी उपनिषदों को, उपर्युक्त उपासना के अंगरूप में वर्णन किया गया है। इस पर संशय होता है कि-उक्त दोनों नामों में जिनका जहाँ उल्लेख है, वहीं वह व्यवहार्य हैं, अथवा उनका कोई नियम नहीं है ? इसलिए दोनों जगह व्यवहार होता है? व्याहृति शरीर विशिष्ट सत्य नामक उपास्य ब्रह्म के साथ दोनों ही जगह संबंध होने से, उपास्य की एकता प्रतीत होती है,विद्या की एकता से दोनों नामों का भी, दोनों जगह प्रयोग संबंध होगा। इस पर "संबंधादेवमन्यत्रापि" सूत्र, पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि-मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट का, एक उपास्य होने से, रूप में अभेद तथा एक विद्या होने से गुणोपसंहार होता है। ऐसे ही भिन्न, भिन्न, नेत्र आदित्य संबंधी ब्रह्म के एक होने से, एक विद्या निश्चित होती है। विद्या एक होने से दोनों नामों का दोनों जगह उपसंहार होगा, यह भी निश्चित है।

सिद्धान्तः– एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा विशेषात् ।३।३।२१।।

न वैतदस्ति—यद्विद्यैक्यादुपसंहारः, इति । कुतः? विशेषात् उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमंडलस्थतया उपास्यत्वम्, इतरत्राक्ष्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसंबंधित्व-भेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः । नैवं शांडिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्रहृदयाधारत्वेनोपास्यत्वात । अतोव्यवस्थित इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसी बात नहीं है जैसा कि आप अनुमान कर रहे हैं कि-विद्या की एकता के आधार पर गुणोपसंहार होगा। उपास्य ब्रह्म की स्वरूपगत एकता होते हुए भी स्थान का भेद है, एक जगह आदित्य मंडल में उपास्य की स्थिति बतलाई गई है, दूसरी जगह नेत्रों में। इस प्रकार स्थान भेद से रूप भेद और विद्याभेद है। शांडिल्यविद्या में उपास्यस्थान का भेद नहीं है, दोनों जगह ही हृदयाधार उपासना का उपदेश है। इसलिए जो नाम जहाँ व्यवस्थित हैं, वहीं उसका व्यवहार होगा।

दर्शयति च ।३।३।२२॥

दर्शयति चाक्ष्याधारादित्याधारयोर्गुणानुपसंहारं–"तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्" इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन। स्वतो हि अप्राप्तावति देशेन प्राप्त्यपेक्षा।

"यह अक्षिपुरुष उसी रूप का है, जो पूर्ववर्त्ती आदित्यपुरुष का रूप था" इत्यादि में रूपादि के उल्लेख द्वारा श्रुति भी, नेत्राधार और आदित्याधार में गुणों का अनुपसंहार बतला रही है। जहां स्वतः विषयावगति नहीं होती वहाँ अतिदेश अपेक्षित होता है।

८ संभृत्याधिकरणः—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३॥

तैत्तरीयके नारायणीयानां खिलेषु च "ब्रह्म ज्येष्ठावीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्मभूतानां प्रथमोऽतजज्ञे ते नहिति ब्रह्मणास्पर्धितुं कः" इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां संभृतिः, द्युव्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाम्नातम्। तेषामुपासनविशेषमनारभ्याधीतानां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते---

तैत्तरीय और नारायणीय के खिल कांड में–"ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट वीर्यों के रूप में संचित थे, तथा आदिभूतब्रह्म ही पहिले द्युलोक में व्याप्त थे, ब्रह्म ही सब भूतों में सर्वप्रथम जन्मे थे, इसलिए ब्रह्म के साथ स्पर्धा करने में कौन समर्थ है?" इस प्रकार उत्कृष्ट वीर्यों का संचय और

ankurnagpal108@gmail.com

द्युलोक व्याप्ति आदि गुणों का उल्लेख है, किसी उपासना विशेष का प्रसंग क्रम नहीं हैं, इसलिए सभी विद्याओं में उक्त गुणों का उपसंहार हो सकता है। इस पर कहते हैं—

सिद्धान्तः—"संभृतिद्युव्याप्त्यपि" इति । संभृतिद्युव्याप्तीति समाहार द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः । संभृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अतएवस्थानभेदात् व्यवस्थाप्यम्, न सर्वत्रोपसंहर्त्तव्यम् । कथमनारभ्याधीतानां स्थानविशेष नियतत्वम्? स्व सामर्थ्यात् इति ब्रूमः। द्युव्याप्तिस्तावद् हृदयाद्यल्पस्थानगोचरासु विद्यासु नोपसंहर्त्तुं शक्या, संभृत्यादयोऽपि तत् सहचारिणः तत्तुल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शांडिल्यदहरादिविद्यास्वल्पस्थानविषयासु "ज्यामान् पृथिव्याः" यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः इत्यादयस्तत्रतत्राशक्योपसंहाराः मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादि विशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्य प्रतिपादनपराः ।

सिद्धान्तः—"संभृतिद्युव्याप्ति" पद में समाहार द्वन्द्व समास होने से एक वचन है। जिससे यह तात्पर्य होता है कि—संभृति आदि गुण, प्रकरण विषय नहीं है, इसलिए स्थान भेद के अनुसार उनकी व्यवस्था करनी होगी, सर्वत्र उपसंहार नहीं किया जा सकता। यदि कहें कि जो सर्वत्र उपसंहृत नहीं हो सकते वे स्थान विशेष में ही कैसे होंगे ? (उत्तर) वे अपनी सामर्थ्य से हो सकते हैं । द्युव्याप्ति हृदय आदि अति सूक्ष्म अलक्ष्य विद्याओं में तो उपसंहृत नहीं किये जा सकते। संभृति आदि भी, उनके सहचारी होने से, अति सूक्ष्म स्थानीय विद्याओं की तरह स्थानों में, उपसंहार्य नहीं हैं। शांडिल्य दहर आदि अल्प स्थानीय विद्याओं में—"पृथ्वी से श्रेष्ठ" बाह्याकाश के परिमाण की तरह हृदयाकाश का भी, परिमाण है" इत्यादि उपदेश यद्यपि अशक्य हैं, फिर भी उनका जो वहाँ उपसंहार बतलाया गया है, वह मनोयमता, निर्दोषता आदि गुणों से विशिष्ट उपास्य की महिमा का, प्रतिपादक है ।

९ पुरुष विद्याधिकरणः—

पुरुष विद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४।।

ankurnagpal108@gmail.com

तैत्तरीयके पुरुषविद्याऽऽम्नायते "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यऽऽत्मायजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि वर्हिः" इत्यादिका। छांदोग्येऽपि पुरुषविद्याऽऽम्नायते-"पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि" इत्यादिका। तत्र संशयः किमत्र विद्याभिद्यते उत न? इति। पुरुषविद्येति नाम्यैक्यात् पुरुषावयवेषु यज्ञावयव कल्पनसाम्येन रूपैक्यात् तैत्तरीयके फलसंयोगाश्रवणात्" प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति" इति छांदोग्ये श्रुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात् फलसंयोगस्याप्यविशेषात् विद्यैक्यम्।

कौषीतकि में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार दिया गया है-"ज्ञान संपन्न उस यज्ञ पुरुष का आत्मा ही यजमान है, श्रद्धा उनकी पत्नी है, काष्ठ उसका शरीर है कुश उसके लोम हैं"। छांदोग्य में पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार है-"प्रसिद्ध पुरुष ही यज्ञ है उसकी चौबीस वर्ष की आयु है।" संशय होता है कि-ये दोनों विद्या एक हैं या भिन्न? पुरुष विद्या ऐसी नाम एकता से, पुरुष के अंगो में, यज्ञांगों की कल्पना से रूप एकता से, तैत्तरीय में विद्या के फल का उल्लेख न होने से तथा-छांदोग्योक्त-"जो सोलह सौ वर्ष जीवित रहता है" ऐसे फल निर्देश से विशेष भेद न होने से, विद्या-एक ही प्रतीत होती है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यते-उभयत्राम्नातयोर्विद्ययोः पुरुष विद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव कुतः? इतरेषामनाम्नानात् एकस्यां शाखायां आम्नातानां गुणानामन्यत्रानाम्नानात्। तथा हि—"यत्साय प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानि" इत्यादयस्तैत्तरीयके आम्नाताः छांदोग्ये सवनत्वेन नाम्नायन्ते, त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं छांदोग्ये सवनत्वेनकल्प्यते छांदोग्ये श्रुतानां आशिशिषादीनां दीक्षादित्व कल्पनं तैत्तरीयके न कृतम् यजमान पत्न्यादि परिकल्पनं चान्यथा। अतो रूपमुभयत्र भिद्यते। तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते तैत्तरीयके हि पूर्वानुवाके-"ब्राह्मणेत्वामहस ओमित्यात्मानं युंजीत" इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फलत्वेन "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युक्त्वा "तस्यैवंविदुषः" इत्यादिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्येव ब्रह्म विदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं–दोनों जगह कही गई विद्या में नामैक्य होने हुए भी, विद्या भेद है । एक शाखा के उल्लेख गुणों का दूसरी शाखा में उल्लेख न होने से ही उक्त मत स्थिर होता है । "जो सायं प्रातः और मध्याह्न कालिक है वही त्रिसवन है" इत्यादि तैत्तरीय का वचन है, छांदोग्य में सवन रूप का उल्लेख नहीं है, अपितु त्रेधा विभक्त पुरुष की आयु सवन रूप से कल्पित है । छांदोग्य में–भोजनेच्छा आदि की, दीक्षा रूप से कल्पना की गई है, जो कि तैत्तरीय में नहीं हैं; यजमान पत्नी आदि की कल्पना भी भिन्न प्रकार से की गई है, इस प्रकार दोनों के रूप में भेद है । इसी प्रकार फल संयोग में भी भेद है, तैत्तरीय के पूर्वानुवाक में–"ज्योतिर्मय ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से, ऊँकार से आत्मा को संयोजित करो" इत्यादि से ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर फल बतलाते हैं–"ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है" तस्यैवं पुरुषः से ब्रह्म विद्या का उल्लेख करते हैं । इसी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता की यज्ञरूप कल्पना प्रतीत होती है ।

अतो ब्रह्मविद्यांगत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम्, "फलवत् सन्निधावफलं तदंगम्" इति न्यायात तैत्तरीयकाम्नातापुरुषविद्या ब्रह्मविद्यांगमिति गम्यते । छांदोग्ये त्वायुः प्राप्तिफला पुरुषविद्यत्युक्तम् । अतो रूपसंयोगभेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां गुणानामितरत्रानुपसंहारः ।

इसलिए ब्रह्म विद्या के अंग होने से, ब्रह्म प्राप्ति ही इसका फल है ऐसा समझना चाहिए । "सफल क्रिया के सन्निधान में उक्त फल रहित क्रिया, उस सफल कार्य का ही अंग होती है" इस नियम से ज्ञात होता है कि–तैत्तरीय में पठित पुरुष विद्या ब्रह्म विद्या का ही अंग है । छांदोग्य में दीर्घ जीवन प्राप्ति को ही पुरुष विद्या का फल बतलाया गया है । इस प्रकार स्वरूप और फल संयोग भिन्न होने से, विद्या में भी भेद है; इसलिए एक स्थान के उल्लेख्य गुणों का दूसरी जगह उपसंहार नहीं हो सकता ।

ankurnagpal108@gmail.com

१० वेधाद्यधिकरणः–

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५॥

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे "शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" इत्यादीन्मंत्रानधीयते; सामगाश्च रहस्यब्राह्मणारम्भे–"देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव" इत्याद्यामनंति; काठकास्तैत्तरीयकाश्च "शन्नोमित्रः शंवरुणः" इत्यादिकम्; शाट्यायनिनश्च "श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि" इत्यादिकम्; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते "इंद्रोहवै वृत्रं हत्वा महानभवत्" इत्यादि; कौषितकिनोऽपि महाव्रतब्राह्ममेव "प्रजापतिर्वै संवत्सरः तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतम्" इति; वाजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यब्राह्मं "देवा हवै सत्रं निषेदुः" इत्यादि । तत्र संशयः किमुपनिषदारंभेष्वधीताः "शुक्रं प्रविध्य "शन्नोमित्रः" इत्यादयो मंत्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यांगं उत न ? इति; किं युक्तम्? विद्यांगमिति । कुतः ? सन्निधिसमाम्नानात् विद्यांगत्व प्रतीतेः । यद्यपि "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादिनां मंत्राणां प्रवर्ग्यादेश्च कर्मणः श्रुतिलिंगवाक्यैर्बलवद्भिर्यथायथं कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते । तथापि–"शंन्नोमित्रः" सह नाववतु "इत्यादेर्मंत्रस्यान्यत्र विनियोगाभावात् विद्याधिकाराच्च विद्यांगत्वमवर्णनीयमिति सर्वासु विद्यासु इमे मंत्रा उपसंहर्त्तव्याः ।

आथर्वणिक उपनिषद के प्रारम्भ में–"शुक्र को वेधकर हृदय को वेधकर" इत्यादि मन्त्र का पाठ है, सामवेदीय रहस्य ब्राह्मण के प्रारम्भ में "हे प्रकाशमान सूर्यदेव, यज्ञ का प्रसव करो' इत्यादि पाठ है। तैत्तरीय काठक में–"सूर्य हमारा मंगल करें, वरुण हमारा कल्याण करें" एवं शाट्यायन शाखा में–"हे हरि ! तुम्हीं नील श्वेत अश्व हो" तथा ऐतरेय महाव्रत ब्राह्मण में "इन्द्रवृत्र को मारकर महान हो गये" और कौषीतकि महाव्रत ब्राह्मण में–"प्रजापति ही संवत्सर हैं", वही उसकी आत्मा है, जिसका नाम महाव्रत है इसी प्रकार वाजसनेय प्रवर्ग्यब्राह्मण

ankurnagpal108@gmail.com

में–"देवता गत्र में निमग्न थे" इत्यादि पाठ मिलता है। अब संशय होता है कि–उपनिषदों के आरम्भ में पढ़े गये "शुक्रं प्रविध्य" शंन्नो मित्र" इत्यादि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-विद्यांग हैं या नहीं? कह सकते हैं कि क्योंकि–विद्याओं के साथ ही इनका पाठ है। यद्यपि "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-श्रुति-लिंग-वाक्य आदि पूर्व बलवान प्रमाणों के अनुसार यज्ञादि कर्मों में ही विनियोग प्रतीत होते हैं, फिर भी "शंन्नो मित्र." सहनाववतु" इत्यादि मंत्रों का कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं पाया जाता विद्याधिकार में ही इनका पाठ है इसलिए इनकी विद्यांगता अनिवार्य हो जाती है, सभी विद्याओं में इनका उपसंहार हो सकता है।

सिद्धान्तः - एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–वेदाद्यर्थभेदात्–"शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य" ऋतं वदिष्यामि "सत्यं वदिष्यामि" ऋतमवादिषं सत्यमवादिषं 'तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा विद्विषावहै" इत्यादि-भिर्लिंगैरभिचाराध्ययनादिष्वेषां विनियोगावगमान्न विद्यांगत्वम्। एतदुक्तं भवति--यथा--"हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्रसामर्थ्यात् "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनामभिचारादिशेषत्वमवगम्यते, एवमेव "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामधीतमस्तु" इत्यादि मंत्र सामर्थ्यादेव स्वाध्याय शेषत्वम् "शंन्नोमित्रः" इत्यादि मन्त्राणामवगम्यते, अतो-न तेषां विद्यांगत्वम् इति, "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनां प्रवर्ग्यादि-ब्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकीर्त्यत्वारण्येनुवाक्यत्वकृतः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "वेदाद्यर्थ भेदात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। "शुक्रं प्रविध्य" ऋतंवदिष्यामि" सत्यंवदिष्यामि "तेजस्विनामवधीत मस्तु मा विद्विजावहै" इत्यादि स्थलों में कहे गए अभिचार, अध्ययन आदि के लिंग से ज्ञात होता है कि इनका विनियोग अभिचार आदि में ही है ये विद्या के अंग नहीं हो सकते। कथन यह है कि "हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र के सामर्थ्य से ही "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि की अभिचारादि में ही पूर्ति प्रतीत होती है इसी प्रकार "ऋतं वदिष्यामि" तेजस्विनामवधीत-मस्तु "इत्यादि मत्रों के सामर्थ्य से ही स्वाध्याय की पूर्ति "शंन्नो मित्र:"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादि मंत्रों में प्रतीत होती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये विद्यांग नहीं हैं । "शुक्रं प्रविध्य" इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदिब्राह्मण का जो उल्लेख किया गया है, उसका उद्देश्य है कि दिन में इनका पाठ नहीं होता तथा जंगल में ही इनका पाठ होता है ।

११ हान्याधिकरण:

हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छंद: स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्
।३।३।२६॥

छंदोगा आमनंति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानि" इति, आथर्वणिकाश्च--"तदाविद्वान पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति" इति, शाट्यायनिनस्तु—"तस्यपुत्रा दायमुपयंति सुहृद: साधुकृत्यां द्विषंत: पापकृत्याम्" इत्यादि । कौषीतकिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते तस्य प्रिया ज्ञातय: सुकृतमुपयंति अप्रिया दुष्कृतम्" इति । एवं क्वचिद् पुण्यपापयोर्हानि: क्वचिद्प्रियाप्रियेषु तत्प्राप्ति: क्वचिदुभयं च श्रुतम् । तदुभयमेकैकविद्यायां श्रुतमपि सर्वविद्यांगमास्थेयम, सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवत: पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यम् भावित्वात् प्रहीणविषयत्वाच्चोपासनस्य । तच्चिंतनं च विधीयमानं सर्वविद्यांगं भवितुमर्हति ।

छांदोग्य में पाठ है कि-"घोड़े के रोंयें की तरह पापों को झाड़कर राहु से छूटे हुए चन्द्र की तरह निष्पाप निष्कर्म कृतार्थ आत्मा में निर्मल शरीर धारण कर ब्रह्लोक को प्राप्त करूँगा" इसी प्रकार आथर्वणिक में भी "वह विद्वान पाप-पुण्य को धोकर निरतिशय ब्रह्म की समता प्राप्त करता है" तथा शाट्यायन में भी ऐसे ही "उसके पुत्र सम्पत्ति पाते हैं, मित्र उसका पुण्य पाते हैं और शत्रु उसका पाप प्राप्त करते हैं

ankurnagpal108@gmail.com

"कौषीतकि में भी जैसे—"तब ज्ञानी पुण्य पाप का परित्याग करते हैं उसके प्रिय को मित्रगण तथा अप्रिय को शत्रुगण प्राप्त करते हैं। "इस प्रकार कहीं पुण्य पाप की हानि, कहीं प्रिय अप्रिय की प्राप्ति, कहीं दोनों की प्राप्ति बतलाई गई है। विद्या विशेष में ही त्याग और ग्रहण का उल्लेख होते हुए भी सभी विद्याओं में प्रकारांतर से उन्हें स्वीकारा गया है, क्योंकि—सभी विद्याओं में निष्ठाप्राप्त पुरुष की ही ब्रह्म प्राप्ति बतलाई गई है, उसका पुण्य पाप से हीन होना अवश्यम्भावी है। विषयों की हीनता ही एक मात्र ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है। उक्त वाक्यों में जो चिन्तन की शैली है, उससे ये सब विद्यांग ही हो सकते हैं।

तत्रेदं विचार्यते—हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्प्येरन्, उपसंह्रियेरन्वा ? किं युक्तम् ? विकल्प्येरन्निति। कुतः ? पृथगाम्नानसामर्थ्यात्। समुच्चये हि सर्वत्रोभयानुसंधानं स्यात्, तच्च कौषीतकि वाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राम्नानमनर्थकमेव स्यात्। अतो अनेकत्राम्नानस्य विकल्प एव प्रयोजनम्। नचाध्येतृ-भेदेन परिहर्त्तुं शक्यमनेकत्राम्नानम्, अविशेष पुनः श्रवणं हि अध्येतृभेद परिहार्यम्, अत्रतु हानिरेवद्वयोः शाखयोः उपायनमेव चैकस्याम्। न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् सर्वशेषभूत-मिदमनुसंधानमित्युक्तत्वात्।

इस पर विचार होता है कि-हानि के चिंतन, उपायन के चिन्तन और दोनों के चिन्तन, इसमें से एक का ही विकल्प होगा अथवा सबका उपसंहार होगा ? कह सकते हैं कि—विकल्प होगा क्योंकि अलग-अलग इनका उल्लेख है। विषय का चिन्तन यदि समुच्चय बोधक होता तो सभी जगह पापमोचन और उसका ग्रहण दोनों का ही उल्लेख होता, ऐसा होने से कौषीतकी वाक्य ही सिद्ध होगा अन्य पाठ विरुद्ध हो जावेंगे। इसलिए भिन्न-भिन्न पाठों के अनुसार विकल्प ही प्रयोजनीय प्रतीत होता है। अध्याता के भेद से इन सबका खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि—अनेक उपनिषदों में भिन्न-भिन्न पाठ हैं। अविशेष एक ही प्रकार की पुनरुक्ति में, अध्येता भेद की बात संगत हो सकती है। यहाँ तो दो शाखाओं में हानि तथा एक शाखा में उपायन का वर्णन है। उक्त

ankurnagpal108@gmail.com

चिन्तन को समस्त विद्याओं का अंग कहा गया है इसलिए इनमें विद्या भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सिद्धान्तः—अत्रेदमुच्यते--हानौतूपायनशब्दाशेषत्वात् इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, हानाविति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ केवले चोपायने श्रूयमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावी, कुतः? उपायनशब्दशेषत्वात्--उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात्। उपायनशब्द वाक्यस्य हि हानिवाक्यशेषत्वेमेवोन्वितम्, विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य। प्रदेशान्तराम्नातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तराम्नात शेषत्वे दृष्टांता उपन्यस्यते--कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवदिति। कालापिनः "कुशा वानस्पत्याः "इत्यामनति। शाट्यायिनां तु "औदुम्बर्यः कुशाः" इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्वेनावगताः कुशाः औदुम्बर्य इति विशिषत्तद्वाक्य शेषतामापद्यते। तथा "देवासुराणांछंदोभिः इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसंगे" देवच्छंदासि पूर्वम् "इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्य शेषतां गच्छति। तथा "हिरण्येन षोडशिनः स्योत्रमुपाकरोति" इत्यविशेषेण प्राप्ते "समया विषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोमुपाकरोति" इति विशेष विषयं वाक्यं तद्वाक्यशेषतां भजते। तथा "ऋत्विज उपगायन्ति" इत्यविशेष प्राप्तस्य "नाध्वर्युरुपगायेत्" इति वाक्यमनध्वर्यु विषयतामवगयत्तद्वाक्यशेषत्वमृच्छति, एवं सामान्येनावगतमर्थं विशेषेव्यवस्थापयितुं क्षमस्य वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपच्छद्भिस्त-योरर्थयोर्विकल्पा समाश्रयितव्यः, सच संभवंत्यां गतौन युज्यते, तदुक्तं पूर्वस्मिन् कांडे "अपितु वाक्य शेषस्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधोनामेकदेशः स्यात्" इति। तदेवं केवलहानोपायनवाक्ययोरे-कवाक्यत्वात् केवलस्यहानस्य, केवलस्यचोपायनस्याभावाद् विकल्पो

ankurnagpal108@gmail.com

नोपपद्यते । कौषतकीनां उभयाम्नानमविशेष पुनः श्रवणत्वेन प्रतिपतृभेदादविरुद्धम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "हानौतूपायन" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । हानौ पद तो केवल उदाहरण की प्रस्तुति का बोधक है । केवल हानि या केवल उपायन के उल्लेख से ही दोनों का परस्पर समुच्चय अवश्यम्भावी हो जाता है । हानिवाक्य के शेष होने पर, उपायन शब्द की स्वतः ही उपस्थिति हो जाती है । उपायन वाक्य की हानिवाक्य शेषता स्वाभाविक ही है, पुण्यपापहीन महात्मा के प्रवेश स्थान के वाची उपायन वाक्य की स्वतः प्रतीति हो जाती है (अर्थात् जब पाप पुण्य से छुटकारा मिल गया तब ब्रह्म ही एक मात्र उपायन (प्राप्ति) स्थल है, यह अवश्यम्भावी है, अतः उपायन वाक्य का उल्लेख हो या न हो, उसकी प्रतीत तो हो ही जायगी) ।

एक स्थान में पठित वाक्य, अन्य स्थानीय वाक्य का शेष (अंगभूत) हो सकता है, इसे उपन्यस्त (विस्तृत रूप से) करते हैं । कलाप शाखा में प्रसंग है कि—"कुशवनस्पति है" शाट्यायन का प्रसंग है—"कुश औदुम्बर्य है ।" कलाप वाक्य से कुश की वानस्पत्यता मात्र ज्ञात होती है । शाट्य से कुश की औदुम्बर्यता विशेष रूप से प्रतीत होती है इस प्रकार शाट्य वाक्य, कलाप वाक्य का विशेषज्ञ सिद्ध होता है । इसी प्रकार "देवता और छंदों से" इत्यादि वाक्य सामान्यतः देव असुरों के लिए छंदों के प्रयोग का उल्लेख करता है, जब कि—"देवता छंदों से सर्वप्रथम" वाक्य क्रमविशेष का प्रतिपादन करता है, जिससे वाक्य शेषता प्रतीत होती है । तथा "वह हिरण्य द्वारा षोडशी स्त्रोत का पाठ करता है ।" इस सामान्यवर्णन से "सूर्योदय होने पर षोडशी स्तोत्र का पाठ करेगा" इत्यादि विशेष समय बोधक वाक्य, पूरक है । तथा—"ऋत्विज उपगान करते हैं" इस सामान्य वर्णन से ' अध्वर्यु उपगान न करें" इत्यादि से अनध्वर्यु विषयता ज्ञात होती है जिससे इसकी वाक्यशेषता स्वतः सिद्ध हो जाती है । जो इस प्रकार, सामान्यतः अवगत विषय को विशेषार्थ निरूपण करने में समर्थ वाक्य को, सामान्य का शेषभूत (पूरक) नहीं मानते उनकी दृष्टि में तो दोनों वाक्यार्थों में विकल्प हो सकता है,

ankurnagpal108@gmail.com

किंतु संभव उपाय के होते हुए, ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्व मीमांसा में वैसा भी कहा गया है-"वैध (विधि संबंधी) कर्म का विकल्प करना जहाँ उचित नहीं है, वहाँ (विभिन्न स्थानवर्त्ती) सामान्य-विशेषात्मक वाक्यों में, एक वाक्य अन्य का पूरक माना जायगा, अन्यथा विधि की संपूर्णता न हो सकेगी।" इसलिए-केवल हानि और उपायन वाक्यों में एकवाक्यता न होने से केवल हानि या केवल उपायन के अभाव होने से विकल्प नहीं हो सकता। कौषीतकी में दोनों के पाठ का सामान्य रूप से पुनः उल्लेख होने से श्रोताओं के भेद की प्रतीत होती है, जिससे विरुद्धता समाप्त हो जाती है।

१२. साम्परायाधिकरण :—

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानमुपायनं च सर्वासु विद्यासु चिंतनीयं इत्युक्तम्। तद्हानं किं देहवियोग काले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एव ? इति विशये उभयत्रेति युक्तम्, उभयथा श्रुतत्वात्, एवं हि कौषीतकिनः समामनंति-"स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकं गच्छति" इत्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति। इति वाक्ये अध्वनि सुकृतदुष्कृत हानिः प्रतीयते। ताण्डिनस्तु-"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म लोकमभिसंभवानि" इति। अत्र तु देहवियोग काल इति प्रतीयते (शाट्यायनकेऽपि) "तस्यपुत्रादायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्याम्" इति पुरुषु दायसंक्रांति समकालं सुकृतदुष्कृत संक्रमणं श्रूयमाणं देहवियोगकाल इति गम्यते। अतः सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशो देहवियोगकाले हीयते, शेषस्त्व ध्वनि।

ankurnagpal108@gmail.com

सुकृतदुष्कृत के हानोपायन की सभी विद्याओं में चिंतना करनी चाहिए यह बतला दिया गया । अब विचार होता है कि–वह ज्ञान (पुण्य पाप का त्याग) देह त्याग के समय होता है अथवा देह त्याग के वाद परलोक जाते समय) मार्ग में होता है ? विचारने पर निश्चित होता है कि–दोनों ही स्थिति में हो सकता है, श्रुति में दोनों ही प्रकार का वर्णन मिलता है । कौषीतकी का वचन है कि–"वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक जाता है" ऐसा उपक्रम करके "वह विरजा नदी को प्राप्त कर उसे मनन द्वारा ही पार करता है जिससे पाप पुण्य को दूर कर देता है" इत्यादि वचन से ही मार्ग में ही, पाप पुण्य की हानि प्रतीत होती है । ताण्डीय शाखा के–"घोड़े के रोयों की तरह पाप को झाड़कर, राहु के मुख से छुटे हुए चंद्र की तरह, पाप से मुक्त हो जाता है ।" इस शरीर का परित्याग कर पाप विमोचन पूर्वक शुद्ध निर्मल मति होकर ब्रह्म लोक प्राप्त करूंगा' इत्यादि वाक्य से, देह वियोग काल में ही हानि प्रतीत होती है । शाट्यायन के" उसके पुत्र धन पाते हैं, मित्र पुण्य पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं, इत्यादि वाक्य से–पुत्रों की दाय प्राप्ति मृत्यु के समय तथा पाप पुण्य हानि मृत्यु के बाद बतलाई गई है, जिससे देह वियोग काल की ही प्रतीति होती है । इन सबसे ज्ञात होता है कि–पाप पुण्य का एक अंश तो मृत्यु के समय ही छुट जाता है, बाकी मार्ग में छुटता है ।

इति प्राप्त उच्यते-साम्परार्य-इति । सांपरायं-देहादपक्रमण काले एव विदुषः सुकृतदुष्कृते निरवशेषं हीयते । कुतः ? तर्त्तव्याभावात्-विदुषोदेहवियोगात् पश्चात् सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्य भोगाभावात् । विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्ति व्यतिरेकेण हि सुकृतदुष्कृभ्यां भोक्तव्ये सुखदुःखे न विद्येते । तथाहि अन्ये-देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्त सुखदुःखोपभोगाभावमधीयते" अशरीरं वा वसंतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति ।

उक्त मत पर– 'साम्परायें' इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । देह के छुटते समय ही महात्मा के पुण्य पाप निःशेष हो जाते हैं। देह त्याग के

ankurnagpal108@gmail.com

बाद पाप पुण्य उस ज्ञानी (भक्त) के लिए तारितव्य (पार करने योग्य) नहीं रहते, क्योंकि–उसके संपूर्ण भोगों की समाप्ति हो जाती है। उपासना के फलस्वरूप होने वाली ब्रह्म प्राप्ति से, पाप पुण्य से होने वाले भोक्तव्य सुख दुःख रही नहीं जाते। जैसा कि–अन्य स्थलों में, देह वियोग के बाद ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त, सुख दुःख भोग का अभाव, बतलाया गया है– "अशरीरी हो जाने पर प्रिय अप्रिय उसे स्पर्श नहीं करते" उपासक इस शरीर से उठकर परं ज्योति के सकाश से आत्म ज्योति मे संपन्न हो जाता है उसके वास्तविक मोक्ष में तभी तक का विलम्ब रहता है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता" इत्यादि।

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८॥

एवमर्थस्वाभाव्यात् सुकृतदुष्कृत हानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन-श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छंदतः, यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीयः। कौषीतकीवाक्ये-"तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते" इति चरम श्रुतो वाक्यावयवः "एतं देवयानं पंथानमापद्य" इति प्रथम श्रुतावयवात् प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थः।

इस प्रकार श्रुति के अर्थ की पर्यालोचना करने से सुकृतदुष्कृत हानि का समय निर्धारण हो गया। अब श्रुति और वस्तु की वास्तविकता में विरोध न हो, इस धारणा से, पद समूहों का संबंध निरूपण करते हैं। कौषीतकी वाक्य की–"तब पाप पुण्य को छोड़ता है" इस अंतिम विज्ञप्ति को "देवयान मार्ग को प्राप्त कर" इस प्रथम श्रुत वाक्य के अंग से, पहिले ले जाना होगा, तभी सही अन्वय होगा।

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते–इस पर पूर्व पक्षी आपत्ति करते हैं–

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधे ।३।३।२६॥

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोग काले हानिः, शेषस्य च पश्चादिति उभयथा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्-देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमित्यर्थः। अन्यथा हि विरोधः,देह वियोगकाल एव सर्व

ankurnagpal108@gmail.com

कर्मक्षये सूक्ष्म शरीरस्यापि विनाशः स्यात् , तथासति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते । अत उत्क्रांति समये विदुषो निःशेष कर्मक्षयो- नोपपन्नः ।

पुण्य और पाप का एक अंश, देह त्याग के समय नष्ट माना जाय और अविशिष्ट अंश देवयान मार्ग में विनष्ट माना जाय तभी देवयान मार्ग गति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । अन्यथा विरोध होगा, देह त्याग के समय ही समस्त कर्मों का क्षय स्वीकारने से, सूक्ष्म शरीर का विनाश भी स्वीकारना होगा, सूक्ष्म शरीर के विनष्ट हो जाने पर निराधार आत्मा का गमन तो, संभव नहीं है । इससे अनुमान होता है कि–उपासक के, मृत्यु के समय ही समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता ।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर देते हैं–

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०।।

उपपन्न एवोत्क्रांति कालेसर्वकर्मक्षयः, कथम्? तल्लक्षणा- र्थोपलब्धेः, क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसंबंध लक्षणार्थोप- लब्धेः "परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" स तत्र प्रर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराडभवति तस्य सर्वेषु कामचारो भवति" "स एकधा भवति त्रिधाभवति" इत्यादिषु देहसंबंधाख्योऽर्थो हि उपलभ्यते । अतः क्षीण कर्माणोऽपि सूक्ष्मशरीर मुक्तस्य देव यानेन गमनमुपपद्यते ।

शरीर छूटने के समय ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसा शास्त्र वाक्यों से ही ज्ञात होता है । क्षीण कर्म हो जाने के बाद भी आविर्भूत स्वरूप मुक्त जीवात्मा के स्वयं अपने तेजीय शरीर के सारे लक्षण विद्यमान रहते हैं ऐसा शास्त्र का मत है– 'बह परं ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में व्यक्त हो जाता है" वह स्वच्छंद हो जाता है "उसकी सभी लोकों में स्वच्छंद गति हो जाती है" इत्यादि वाक्यों में, देह सम्बध

ankurnagpal108@gmail.com

का उल्लेख है। क्षीण कर्म हो जाने पर भी सूक्ष्म शरीर का देवयान गमन हो सकता है।

कथं सूक्ष्मशरीरमप्यारंभककर्म विनाशेऽवतिष्ठत इति चेत्? विद्यामाहात्म्यादिति ब्रूमः। विद्या हि स्वयं सूक्ष्म शरीरस्यानारम्भिकापि प्राकृत सुखदुःखोपभोगसाधनस्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषक्षयेऽपि स्वफलभूत ब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय देवयानेन पथैनं गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति। लोकवत्–यथा लोके सस्यादिसमृद्धयर्थमारब्धे तटाकादिके तद् हेतुषु तदिच्छादिषु विनष्टेष्वपि तदेव तटाकादिकमशिथिलं कुर्वन्तस्तत्र पानीयपानादि कुर्वन्ति, तद्वत्।

यदि कहें कि–कर्म ही तो सूक्ष्म शरीरोत्पत्ति के कारण होते हैं, यदि वे कर्म ही समाप्त हो जावेंगे तो सूक्ष्म शरीर रहेगा कैसे? उपासना की महिमा से ही सूक्ष्म शरीर रहता है। विद्या स्वयं सूक्ष्म शरीर की उत्पादिकता नहीं होती, किन्तु प्राकृत सुख दुःखोपभोग के साधन स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर, ब्रह्म प्राप्तिरूप अपने फल प्रदान की सहायता के लिए, देवयान में जाने वाले उपासक के सूक्ष्म शरीर की रक्षा करती है। जैसे कि–खेती की वृद्धि के उद्देश्य से, जलाशय बनाया जाता है, खेती के समाप्त हो जाने पर भी, भलीभाँति रक्षित वह जलाशय, पथिकों के पेय जल की पूर्ति करता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर होता है।

अथस्यात्–ज्ञानिनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातसमये कर्मणो निरवशेषक्षयात् देहपातादूर्ध्वं सूक्ष्मशरीरमात्रं गत्यर्थमनुवर्त्तते, सुखदुःखानुभवो न विद्यत-इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते, वसिष्ठावान्तरतपः प्रभृतीनां साक्षात्कृत परतत्त्वानां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसंगमः, पुत्रजन्म विपरयादि निमित्त सुखदुःदयनुभवश्च दृश्यते–इति–अतउत्तरं पठति।

ankurnagpal108@gmail.com

शंका-ज्ञानी भक्तों द्वारा परतत्त्व का साक्षात् कर लेने पर देहपात के समय ही समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर, देहपात के बाद गति के लिए केवल सूक्ष्म शरीर मात्र रहता है, सुख दुःख नहीं रहते, आपके इस मत को मान लेने से, गति हो नहीं सकती। वसिष्ठ अपान्तरतप आदि परतत्ववेत्ता महात्माओं का शरीरपात के बाद भी देहान्तर संयोग, पुत्र जन्म,-विपत्ति आदि के निमित्त, सुख दुःख आदि के अनुभवों का वर्णन मिलता है इसका उत्तर देते हैं-

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३१॥

नास्माभिः सर्वेषां ज्ञानिनां देहपात समये सुकृतदुष्कृतयोर्विनाश उक्तः, अपितु येषां ज्ञानिनां देहपातानन्तरमर्चिरादिका गतिः प्राप्ता, तेषां देहपातसमये सुकृतदुष्कृत हानिरुक्ता। वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकानां न देहपातानंतरमर्चिरादिगति प्राप्तिः, प्रारब्धस्याधिकारस्य असमाप्तत्वात्। तेषां कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां यावदाधिकारसमाप्ति तदारम्भकं कर्म न क्षीयते। प्रारब्धस्य हि कर्मणोभोगादेवक्षयः। अत आधिकारिकाणां तदारम्भकं कर्म यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां न देहपातादनन्तरमर्चिरादिगति प्राप्तिः।

उक्त महात्माओं के देहपात के समय पापपुण्य के विनाश का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु जिन ज्ञानियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति बतलाई गई है, उन्हीं के पापपुण्य हानि का उल्लेख किया गया है। वसिष्ठ आदि कर्माधिकारियों की देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं हुई थी क्योंकि-उनके प्रारब्ध कर्म की परम्परा समाप्त नहीं हो पाई थी। उन्हें जो कर्मफल का विशेषाधिकार मिला था, उसके समाप्त होने तक उनके प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हुआ। प्रारब्ध कर्म का क्षय तो भोग से ही समाप्त होता है। प्रायः लोगों के आधिकारिक प्रारब्ध कर्म अपने अधिकार की समाप्ति तक अपना सिलसिला चालू रखते हैं, इसलिए उन लोगों की, देहपात के बाद अर्चिरादि गति नहीं होती।

ankurnagpal108@gmail.com

१३—अनियमाधिकरणः—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३२ ॥

उपकोसलादिषु येषूपासनेष्वर्चिरादिगतिः श्रूयते, किं तन्निष्ठानामेव तया ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानामिति संशये । इतरेष्वनाम्नात् 'येचेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" श्रद्धां सत्यमुपासते" इतीतरसकलब्रह्मविद्योपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव ।

उपकोसल आदि उपासनाओं में जो अर्चिरादि गति सुनी जाती है वह उसकोपल आदि के उपासकों की ही होती है अथवा उपासक मात्र की होती है इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि–अन्य उपासकों का वर्णन नहीं मिलता, अपितु "जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इनकी उपासना करते हैं "जो श्रद्धा की सत्य रूप से उपासना करते हैं" इत्यादि वाक्यों में उपकोसल आदि विद्योपासकों की ही विशेषता बतलाई गई है, इसलिए उन उपासनाओं में निष्ठ व्यक्तियों की ही अर्चिरादि गति होती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते-अनियमः, इति । सर्वेषां सर्वोपासननिष्ठानां तयैव गंतव्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । सर्वेषां तयैव हि गमने सति शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोध, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः । श्रुतिस्तावत् छांदोग्यवाजसनेयकयोः,पंचाग्निविद्यायामर्चिरादि मार्गेण सर्व ब्रह्मोपासन निष्ठानां गमनमाह–'यएवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति छांदोग्ये "य इत्थं विदुः" इति पंचाग्निविद्या निष्ठान् "ये चेमे" इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासीनांश्चोद्दिश्यार्चिरादिकागतिरुपदिश्यते "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः । तपः शब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात् सत्यतपः शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । "श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतं "सत्यंत्वेव

ankurnagpal108@gmail.com

"विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपक्रम्य "श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इति। स्मृतिरपि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः" इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमनमित्याह एवं जातीयकाः श्रुतिस्मृतयो बह्वयः संति। एवं सर्वं विद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तैवोपकोसल विद्यादावनूद्यते।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "अनियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सभी विद्याओं के उपासकों की एकमात्र अर्चिरादि गति ही है, एकमात्र उपकोसल आदि के उपासकों की ही उक्त गति होती हो ऐसा कोई नियम नहीं है। सभी की अर्चिरादि गति होती है, यह शास्त्र और अनुमान से निश्चित होता है। शास्त्र जैसे—छांदोग्य और बृहदारण्यक की पंचाग्नि विद्या में अर्चिरादि मार्ग से उपासक मात्र के गमन का उल्लेख है—"जो इस प्रकार इसे जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इसकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि मार्ग से गमन करते हैं" इत्यादि बृहदारण्यक में तथा—"जो इस प्रकार जानते हुए अरण्य में श्रद्धापूर्वक इसकी उपासना करते हैं वे अर्चिरादि गति प्राप्त करते हैं" इत्यादि छांदोग्य का वचन है। "य इत्थंविदुः" से, पंचाग्निविद्यानिष्ठों और "ये चेमे" से श्रद्धालु ब्रह्मोपासकों की अर्चिरादि गति बतलाई गई है। "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि वाक्यों में "सत्य" शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध है। तप और सत्य शब्द एकार्थक हैं। सत्य—तप—श्रद्धा इन तीनों से ब्रह्म ही अभिधेय हैं। श्रद्धापूर्वक ब्रह्मोपासना का "सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः" श्रद्धात्वेवविजिज्ञासितव्यः" इत्यादि में भी उल्लेख है। स्मृति में भी इसी प्रकार—"अग्नि, ज्योति, अह, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, षण्मास के देवयान में गमन करने वाले सभी ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं" इत्यादि में सभी ब्रह्मोपासकों का उक्त मार्ग से गमन कहा गया है। ऐसी अनेक श्रुतिस्मृतियाँ हैं। इस प्रकार सभी विद्याओं के उपासकों के लिए इस असाधारण अर्चिरादि गति का उल्लेख है उपकोसल आदि विद्याओं में इसका अनुवाद मात्र मिलता है।

ankurnagpal108@gmail.com

१४ अक्षरध्यधिकरणः—

अक्षरधियांत्ववरोधःसामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्।३।३।३३॥

वृहदारण्यके श्रूयते—"एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदंति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायवनाकाशम-संगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्र-मनंतरमवाह्यं न तदश्नाति किं च न एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः" इति। तथा आथर्वणे-अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुश्रोत्रं तदपाणि-पादम्" इति। तत्र संशयः, किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्ट ब्रह्म संबंधितया श्रुताः, अस्थूलत्वादयः प्रपंचप्रत्यनीकतास्वरूपाः सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वनुसंधेयाः, उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव-इति। किं युक्तम्? यत्र श्रुतास्तत्रैवेति। कुतः? विद्यान्तरस्य रूपभूतानां गुणानां विद्यान्तरस्य रूपत्वे प्रमाणाभावात्, प्रतिषेधरूपाणामेषामानंदादिवत्स्वरूपावग-मोपायत्वाभावाच्च। आनंदादिभिरवगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि स्थूलत्वादयः प्रपंचधर्माः प्रतिषिध्यंते निलंबनप्रतिषेधायोगात्।

वृहदारण्यक में पाठ है कि—"हे गार्गि! ब्रह्मवादी इस अक्षर को, अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, छायारहित, अंधकार रहित, वायु और आकाश रहित, अनासक्त, रस-गंध नेत्र-कर्ण-मन-तेज -प्राण-सूर्य और चंद्र इस अक्षर के शासन में ही स्थित हैं। "तथा आथर्वण में पाठ है कि—"इसके बाद पराविद्या का उल्लेख है, जिससे उस अक्षर पुरुष की प्राप्ति होती है जो कि—अदृष्ट, अग्राह्य, गोत्र-वर्ण-नेत्र-कर्ण-हस्त-पाद रहित है।" यहाँ संशय होता है कि—अक्षर शब्द निर्दिष्ट ब्रह्म से संबंधित अस्थूलता आदि जगत् विलक्षण प्रपंचों की सभी ब्रह्मविद्याओं में चिन्तना की जायगी, अथवा जहाँ कहे गए हैं वहीं की जायगी? कह सकते हैं कि—जहाँ कहे गए हैं, केवल वहीं की जायगी।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता कि–एकविद्या के स्वरूप भूत गुणों की दूसरी विद्या, के गुणों के रूप में चिन्तना की जाय। तथा अस्थूलत्व आदि निषेधात्मक की, आनंद ज्ञान आदि की तरह, स्वरूपावगति न होने से, इनमें साधनता का भी अभाव है (अर्थात् इन्हें उपासना का आधार नहीं कहा जा सकता) आनंद आदि से अवगत होने वाले ब्रह्म स्थूलता आदि प्रपंच धर्मों का प्रतिषेध किया गया है इसलिए निरवलम्ब का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता [अर्थात् अस्थूलत्व आदि निर्गुणब्रह्म की उपसना के बोधक हैं, जैसे कि–आनंद आदि ब्रह्म की निर्गुण उपासना होती है, वैसे ही अक्षर की भी होती है, जिन विद्याओं में सगुणोपासना का विधान है, वहाँ इनकी चिन्तना कैसे संभव है?]

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-अक्षरधियांत्ववरोधः, इति। अक्षरब्रह्म संबंधिनामस्थूलत्वादिधियां सर्व ब्रह्मविद्यास्ववरोधः, संग्रहणमित्यर्थः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां। सर्वेषूपासनेषूपास्याक्षरस्यब्रह्मः समानत्वाद्स्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपप्रतीतौ भावाच्च। एतदुक्तं भवति-असाधारणाकारेण-ग्रहणं हि वस्तुनो ग्रहणम्। न च केवलमानन्दादि ब्रह्मणोऽसाधारण माकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यप्यानंदादेर्विद्यमानत्वात्। हेय प्रत्यनीको हि आनंदादि ब्रह्मणोऽसाधारणं रूपम्। प्रत्यगात्मस्तु स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसंबंधयोग्यताऽस्ति, हेयप्रत्यनीकत्वं च चिदचिदात्मक प्रपंचधर्मभूतस्थूलत्वादि विपरीत रूपम्। अतोऽसा-धारणाकारेण ब्रह्मणोऽनुसंदधताऽस्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानंदाद्याकारं ब्रह्मानुसंधेयमिति अस्थूलत्वादीनामानंदादिवद् ब्रह्मस्वरूप प्रतीत्यन्त-र्भावात् सर्वासु ब्रह्मविद्यासु तथैव ब्रह्मानुसंधेयमिति गुणानां प्रधानानुवर्त्तित्वे दृष्टांतमाह–औपसदवत्–इति। यथा जामदग्न्यचतूरात्र पुरोडाश्युपसद्गुणभूतः सामवेद पठितः "अग्निर्वै होत्रं वेतु:" इत्यादिको मंत्रः प्रधानानुवर्त्तितया याजुर्वैदिकेनोपांशु-

ankurnagpal108@gmail.com

त्वेन प्रयुज्यते। तदुक्तं प्रथमे काण्डे "गुणमुख्य व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद संयोगः "इति।

उक्त मत पर सिद्धान्तरूप से "अक्षरधियांत्ववरोधः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अक्षर ब्रह्म संबंधी अस्थूलत्व आदि चिन्तनों का सभी ब्रह्म विद्याओं में अवरोध अर्थात् संग्रहण होगा। सभी उपासनाओं के उपास्य अक्षर के ही समान हैं। अस्थूलत्व आदि उन सभी की प्रतीति करा सकते हैं। कथन यह है कि-किसी वस्तु के ग्रहण करने का तात्पर्य है, उसके विशेषाकार का ग्रहण करना। जीव में भी आनंद आदि की स्थिति है, इसलिए केवल ब्रह्म की ही, आनंद आदि असाधारण विशेषतायें नहीं कही जा सकतीं। हीनता से रहित आनंद आदि ही ब्रह्म के असाधारण रूप हैं। जीवात्मा वस्तुतः हीनता से रहित होते हुए भी हीनता से संबंधित होने के अयोग्य नहीं कहला सकता [अर्थात्-अनादि मायावश हीनता से संबद्ध है] जड़चेतनात्मक प्रपंचमयजगत् की स्थूलता आदि से विपरीत रूप ही, हेयप्रत्यनीकता हीनता राहित्य है। इस प्रकार के आसाधारण रूप से, जो ब्रह्म की चिन्तना करते हैं उन्हें अस्थूलत्व आदि रूपों से विशेषित आनंदादि रूप ब्रह्म की चिन्तना करनी ही होगी। आनंदादि की तरह अस्थूलत्व आदि भी, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए सभी ब्रह्म विद्याओं में, उसी प्रकार इनकी भी चिन्तना की जावेगी। गुणी, गुण का अनुवर्त्ती होता है, इसका दृष्टांत उपस्थित करते हैं-जमदग्नि द्वारा अनुष्ठित चतुरात्र नामक याग में जैसे पुरोडाश के संस्कारक औपसद् का अनुवर्त्तन होता है "अग्निर्वैहोत्रंवेतु" इत्यादि मंत्र, सामवेदोक्त होते हुए भी, यज्ञांग होने के कारण, यजुर्वेद में उपांशु रूप से उच्चारित है। पूर्व मीमांसा में कहा भी गया है-जहाँ गुण और गुणी का विरोध उपस्थित हो, वहाँ गुणी के साथ ही वैदिक मंत्र और क्रियाओं का संबंध होता है, क्योंकि-गुणों के लिए ही गुणों की योजना होती है।"

नन्वेवं सर्वासुब्रह्मविद्यासु ब्रह्मणएव गुणित्वादगुणानां च प्रधानानुवर्त्तित्वात् "सर्वकर्मासर्वगंधः सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्य प्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्थास्यात्-तत्राह-

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म ही जब सब विद्याओं का गुणी है और सारे गुण उसके अनुवर्त्ती हैं, "तब सर्वकर्मा, सर्वगंध, सर्वरस" इत्यादि गुणों की जो प्रत्येक विद्याओं में चिन्तन की व्यवस्था की गई है, वह तो अव्यवस्थित हो जायेगी। इसका उत्तर देते हैं—

इयदामननात् ।३।३।३४॥

आमननं-आभिमुख्येनमननं—अनुचिन्तनम्। आमननाद् हेतोरियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसंधेयत्वेन प्राप्तम्, यदस्थूलत्वादि विशेषितमानंदादिकम्। येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसंधानं न संभवति, तदेव सर्वत्रानुवर्त्तनीयम्, तच्चेयदेवेत्यर्थः। इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्त्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यंव्यवस्थिताः।

आभिमुख्य मनन अर्थात् अनुचिन्तन को आमनन कहते हैं आमनन के हेतु—अस्थूलता आदि सहित आनंदादि गुणों की सर्वत्र, चिन्तना बतलाई गई है। जिन गुणों के बिना ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन संभव नहीं है केवल वे ही गुण, सर्वत्र अनुवृत्त होते हैं, और ग्रहण किये जा सकते हैं, ये गुण अस्थूलता आदि ही हैं। अन्य जो सर्वकर्मा आदि गुण हैं, वे गुणी के अनुवर्त्ती होते हुए भी, प्रत्येक विद्याओं में, पृथक् रूप से चिन्त्य बतलाए गए हैं।

१५ अन्तरत्वाधिकरण:—

अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्।
३।३।३५॥

वृहदारण्यके उषस्तप्रश्न एवमाम्नायते "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व" इति। तस्य प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापनिति स त आत्मा" इत्यादि। अतुष्टेन तेन पुनः पृष्ट आह—"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेःश्रोतारं श्रृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञाते

ankurnagpal108@gmail.com

विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्त्तम्" इति। तथा तदनन्तरं कहोल प्रश्ने चैवमाम्नायते–"यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मेव्याचक्ष्व" इति। प्रतिवचनं च– "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवं हैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तैषणायाश्च" "इत्यादि "अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यन्तम्।

वृहदारण्यक में–उषस्त द्वारा ऐसा प्रश्न किया गया कि "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर्यामी आत्मा है मुझे उनका स्वरूप बतलाओ" इसका उसे उत्तर मिला कि–"जो प्राणों के प्राण, जो सर्वान्तरात्मा, अपानों के अपान हैं, वही आत्मा।" इस उत्तर से असंतुष्ट पृष्टा के पुनः प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया कि–"जो तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मंता को, मनन नहीं कर सकते। विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते, तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कुछ आर्त्त (नाशवान) है।" इसके बाद कहोल द्वारा भी इसी प्रकार का प्रश्न किया गया–"जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर-आत्मा है, उसकी व्याख्या करो।" उत्तर मिला कि-"जो, भूख प्यास, शोक, मोह जरा और मृत्यु से परे है, उस आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा और वित्तैषणा" इत्यादि से लेकर–"इससे भिन्न सब आर्त्त है" यहाँ तक उक्त तत्त्व की व्याख्या की गई।

तत्र संशय्यते–किमनयोर्विद्याभेदोऽस्ति, नेति? किं युक्तम् भेद इति, कुतः? रूपभेदात्। प्रतिवचनभेदात् रूपं भिद्यते। प्रश्नस्यैक रूप्येऽपि प्रतिवचन प्रकारो हि भेदेनोपलभ्यते। पूर्वत्रप्राणादीनां कर्त्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते परत्राशनायापिपासादि रहितः। अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनप्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते। परत्र तु तदतिरिक्तोऽशनायापिपासादिरहितः परमात्मा। अतोरूपं भिद्यते। भूतग्रामवतश्च प्रत्यगात्मनस्तस्य भूतग्रामस्य सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम्। यद्यपि प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राम-

ankurnagpal108@gmail.com

मात्रापेक्षत्वे नापेक्षिकम् तथापि तदेव ग्राह्यम्, अन्यथा मुख्यान्तरात्मपरिग्रहलोभात्–परमात्म स्वीकारे प्रतिवचन भेदो नोपपद्यते। प्रतिवचनं हि पूर्वंत्र प्रत्यगात्म विषयम्, परमात्मनः प्राणितृत्वापानितृत्वाद्यसंभवात्। परं च परमात्मविषयं अशनायापिपासाद्यतीत्वात्।

इस पर संशय होता है कि–उक्त प्रसंग में विद्याभेद है या नहीं? कह सकते हैं कि–भेद है, क्योंकि–दोनों में जो उत्तर दिया गया है वह भिन्न है इसलिए दोनों के रूप में भेद है। एक ही प्रकार का प्रश्न है पर उत्तर भिन्न है। पहिले में प्राण आदि के कर्त्ता को सर्वान्तर्यामी कहा गया है, दूसरे में भूखप्यास रहित को सर्वान्तर्यामी कहा गया है। समस्त भूतों में व्याप्त जीवात्मा, भूतों के अन्दर व्याप्त होने के कारण सर्वान्तरयामी है। यद्यपि जीवात्मा की सर्वान्तर्यामिता, सभी भौतिक तत्त्वों में नहीं होती, कुछेक में होने के कारण ही उसे सर्वान्तर्यामी कहा जा सकता है। मुख्यान्तर्यामी परमात्मा को ही यदि, पूर्व उत्तर में भी, सर्वान्तर्यामी मान लेंगे तो भेदात्मक उत्तरों की संगति न होगी। पहिले उत्तर का विषय जीवात्मा संबंधी ही है। प्राण अपान से संबंधित, परमात्मा नहीं हो सकते। दूसरा उत्तर परमात्म विषयक है, क्योंकि उसमें भूख-प्यास आदि से रहित विशेषताओं का उल्लेख है।

तदिदमाशंकते–अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति इति चेत्? अन्तरा सर्वान्तरत्वेन प्रथम प्रतिवचनं भूतग्रामवत् स्वात्मनः, भूतग्रामवान्, तदन्तरः स्वात्मा, प्रत्यगात्मा सर्वान्तर इत्युच्यत इत्यर्थः। अन्यथा–"यः प्राणेन प्राणिति" योऽशनाया पिपासाद्यतीतः" इति प्रतिवचन भेदानुपपत्तिरितिचेत्—

उक्त मत पर शंका करते हैं कि–भूत समुदायों की तरह अपने आत्मा से भिन्न कोई तत्व अन्तर्यामी है, ऐसी भेद प्रतीति "अन्तराभूत् ग्रामवत्" इस सूत्र से होती है? इसका यह तात्पर्य नहीं है अपितु अन्तरा अर्थात् सर्वान्तर रूप से भूतग्रामवत–अपना भूतसमुदाय युक्त आत्मा ही उन भूतसमुदायों का अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् जीवात्मा ही सर्वान्तर्यामी

ankurnagpal108@gmail.com

आत्मा है इत्यादि तात्पर्य है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो–"प्राणों का प्राण" और "जो भूख प्यासादि से रहित है" इन विभिन्न उत्तरों का समाधान नहीं होगा ।

सिद्धान्त–अत्रोत्तरं–नेति । न विद्याभेद इत्यर्थः । उभयत्र पर विषयत्वात् प्रश्नप्रतिवचनयोः । तथाहि–"यत्साक्षादपरोक्षाद्-ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इति प्रश्नस्तावद् परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मा साधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुप-चरित प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावृत्यापरमात्मप्रतिपत्त्यर्थं–"सत्साक्षाद्-ब्रह्म" इति विशेषणं क्रियते । अपरोक्षत्वमपि सर्वदेश सर्वकाल संबंधित्वं "सत्यं ज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते । सर्वान्तरत्वमपि–"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या-अन्तरः" इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव संभवति । प्रतिवचनमपि तथैव परमात्मविषयम् । "यः प्राणेन प्राणिति" इति निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्त्तृत्वं परमात्मन एव । प्रत्यगात्मनः सुषुप्तौ प्राणनं-प्रति कर्त्तृत्वाभावात् एवमजानतोषत्वेन प्राणने कर्तृत्वमात्रमुक्तं मन्वानेन प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणत्व प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्ठस्तंप्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृतं निरुपाधिकत्वेन प्राणस्य कर्त्तारं परमात्मानमाह–"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादिना । इन्द्रियाधीनानां दर्शनश्रवणमननविज्ञानानांकर्त्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्त्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः, तस्य सुषुप्तिमूर्छादौ प्राणनादेरकर्त्तृत्वात् । "को ह्येवान्यात कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदोनस्यात्" इति सर्व प्राणि प्राणन हेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम् । अतः पूर्वप्रश्न प्रतिवचने परमात्मविषये । एवमुत्तरे अपि, अशनायाद्यतीतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वात् ।

ankurnagpal108@gmail.com

उभयत्र—"अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्युपसंहारश्चैकरूपः। प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणन हेतोः परस्यब्रह्मणोऽशनायाद्यतीतत्व प्रतिपादनाय।

सिद्धान्तः—उक्त मत का उत्तर नकारात्मक है, अर्थात् विद्याभेद नहीं है। दोनों जगह प्रश्नोत्तर परमात्म विषयक ही हैं। जैसे कि—"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है" इत्यादि प्रश्न परमात्म विषयक ही है। ब्रह्म शब्द सामान्यतः परमात्मवाची है, कभी-कभी गौण रूप से इसका प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया गया है। उक्त प्रसंग में परमात्मवाची ही है क्योंकि—प्रश्न में "साक्षात् ब्रह्म" ऐसा विशेषण दिया गया है। अपरोक्षता भी सर्वदेश, सर्वकाल संबंधी "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि विशेषताओं वाले अनंत परमात्मा में ही संगत हो सकती है। सर्वान्तरत्व भी—"जो पृथ्वी में स्थित सर्वान्तर्यामी है "जो आत्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी है" इत्यादि में वर्णित, सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही संभव है। उत्तर भी परमात्म विषयक ही प्रतीत होता है। "जो प्राणों का प्राण" ऐसा आधिक्य प्रतिपादन प्राणकर्त्ता परमात्मा के लिए ही संभव है, क्योंकि-जीवात्मा का प्राण सुषुप्तावस्था में, कर्त्तृत्व शक्ति रहित निश्चेष्ट रहता है। इस रहस्य के अज्ञाता उषस्त द्वारा केवल प्राण के कर्त्तृत्व के अनुसार जीवात्मा को प्राणशब्दवाची मान कर, बार-बार आग्रहपूर्वक प्रश्न करने पर "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादि में, जीवात्मा से पृथक, प्राण के निरुपाधिक (सर्वकालीन) कर्त्ता परमात्मा का उपदेश दिया गया। इन्द्रियाधीन-दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान आदि भावों के कर्त्ता जीव को, प्राण का कर्त्ता, नहीं माना जा सकता, क्योंकि—सुषुप्तिमूर्छा में जीवात्मा में, प्राणकर्त्तृत्व का अभाव रहता है" यदि यह आकाश-आनन्द न होता तो प्राणन और चेष्टा कौन कर सकता ?" इस प्रकरणान्तरीय वाक्य में सभी प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परमात्मा का उल्लेख है। इस प्रकार—पूर्व के प्रश्नोत्तरों के विवेचन से, परमात्म-विषयता स्पष्ट हो जाती है। बाद के प्रश्नोत्तरों में भी—भूखप्यासादि से रहित परमात्मा की असाधारणता दिखाई गई है। दोनों ही जगह "बाकी सब आर्त्त है" ऐसा एक सा उपसंहार किया गया है। प्रश्नोत्तरों की

ankurnagpal108@gmail.com

पुनरावृत्ति-समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परब्रह्म की, अनशनादि विशेषताओं के प्रतिपादन के लिए' की गई है।

तत्र दृष्टान्तमाह उपदेशवदिति–यथा सद्विद्यायाम् "उत-तमादेशमप्राक्ष्यः" इति प्रक्रान्ते सदुपदेशे "भगवांस्त्वेवमेतद्-वब्रीत्विति "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इति प्रश्नस्य "एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्" इति प्रतिवचनस्य च भूयोभूय आवृत्तिः सतो ब्रह्मणः तत्तन्माहात्म्यविशेष प्रतिपादनाय दृश्यते तद्वत्। अत एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्यब्रह्मणः कृत्स्नप्राणि-प्राणन हेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपैक्याद् विद्यैक्यम्।

सूत्रकार-उपदेशवत् कहकर इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे–छांदोग्य के सद्विद्या के प्रकरण में–"तुम क्या उस उपदेश की जिज्ञासा करते हो?" इत्यादि से ब्रह्मविद्या का उपक्रम करके–– "पूजनीय! आप मुझे उसे बतलाने की कृपा करें" हे भगवन् पुनः बतलाइए,' इत्यादि प्रश्न करने पर–"वह अत्यन्त अणु जगदात्मक और सत्य स्वरूप है" इत्यादि उत्तर में ब्रह्म और उसकी महिमा विशेष के प्रतिपादन के लिए पुनरावृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त प्रसंग में भी है। समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता एक ही सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अशन आदि के प्रतिपादन के लिए ही पुनरावृत्ति की गई है, इसलिए दोनों विद्यायें एक हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अथ स्यात्–यद्युभये प्रश्नप्रतिवचने परब्रह्मविषये तथाऽपि विद्याभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्यम्, इतरत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्, प्रष्ट्रभेदाच्च, पूर्वत्र उषस्तः प्रष्टा, उत्तरत्र कहोलः, इति। तत्राह–

यद्यपि दोनो प्रश्नोत्तर परब्रह्म विषयक हैं फिर भी, विद्या भेद अपरिहार्य है, क्योंकि–एक जगह ब्रह्म को, प्राणों के हेतु रूप में तथा दूसरी जगह अनशनादि विशेषताओं वाला कहा गया है, जिससे उपास्य के गुणों का स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, इसलिए रूपभेद तो हो ही गया। प्रश्न-

ankurnagpal108@gmail.com

कर्त्ता का भी भेद है, पहिले में उषस्त प्रश्नकर्त्ता है दूसरे में कहोल है। इसका उत्तर देते हैं :—

व्यतिहारो विंशिषंति हीतरवत् ।३।३।३६।।

नात्र विद्याभेदः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपदेनैकवाक्यत्वप्रतीतेः। प्रश्नद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टब्रह्म विषयम्। द्वितीये प्रश्ने "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येवकारश्च पूर्वत्रोषस्तेन पृष्टगुणविशिष्ट ब्रह्मविषयत्वं कहोल प्रश्नस्यावधारयति। प्रतिवचनं चोभयत्र "सत आत्मा सर्वान्तरः" इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषय-मेकरूपमेव। विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते "तस्माद् ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य बाल्यत्वेन तिष्ठासेत्" इति। एव सर्वान्तरात्मत्व-विशिष्टं ब्रह्मैक विषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उषस्तकहोलयोरितरेतरबुद्धि व्यतिहारः कर्त्तव्यः। उषस्तस्य या सर्वान्तरात्मो ब्रह्मणः सर्वप्राणिप्राणन हेतुत्वविषया बुद्धिः, सा कहोलेनापि प्रष्ट्रा कार्या, या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशनायाधतोतत्वविषयाबुद्धिः सा उषस्तेनापि कार्या। एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीव-व्यावृत्तिरवगता भवति। एतं सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त-मवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतोतत्व प्रतिपादनेन विंशिषंति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि। अतोब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वमेवोपास्यगुणः। प्रणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः नोपास्याः।

उक्त प्रसंग में विद्याभेद नहीं है। प्रश्नोत्तरों में एक ही प्रकार के विषय, एक ही प्रकार की विधि से, एकवाक्यता की प्रतीति होती है। दोनों ही प्रश्न सर्वान्तर्यामी ब्रह्म विषयक हैं। द्वितीय प्रश्न में "यदेवसाक्षाद-

ankurnagpal108@gmail.com

परोक्षाद" इत्यादि स उषस्त द्वारा पूछी गई, गुणविशिष्ट ब्रह्म विषयता ही, कहोल के प्रश्न में अनुकृत है। दोनों जगह का उत्तर भी "स आत्मा सर्वान्तरः" सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट ब्रह्म विषयक, एक सा है। उपासना विधायक विधि प्रत्यय "ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य का त्याग कर बाल्य-भाव में स्थित होते है" इत्यादि दोनों के अंत में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार-सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट ब्रह्म कविषयता के, दोनों स्थानों पर निश्चित हो जाने पर-एकही सर्वान्तिर्यामी विशिष्ट उपास्य ब्रह्म के विषय में, उषस्त और कहोल दोनों के चिन्तन को परस्पर विनियमित समझना चाहिए, अर्थात् उषस्ति की जो, सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म की समस्त प्राणियों से संबंधित प्राणहेतु विषयक बुद्धि है, वही कहोल द्वारा पृष्ट है; तथा कहोल की जो अनशन आदि विशिष्ट परमात्म संबंधी बुद्धि है, वही उषस्त द्वारा पृष्ट है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय करने पर सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म की, जीव से भिन्नता, स्पष्ट हो जाती है। सर्वान्तिर्यामी परमात्मा की जीवात्मा से भिन्नता बतलाने के लिए ही, उक्त याज्ञवल्यक्य वाक्य प्राणियों की प्राण धारण हेतुता और अनशन आदि का प्रतिपादन, विशेष रूप से ब्रह्म परक ही करता है। इससे सिद्ध होता है कि-ब्रह्म की सर्वान्तिरात्मकता ही उपास्य गुण है, प्राणन आदि की हेतुता, उपपादक गुण हैं, उपास्य नहीं।

ननूपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेत्--प्राणनहेतुत्वस्य अशनायाद्यतीतत्वस्य च पृष्ट्रोः व्यतिहृत्यानुसंधानं किमर्थम्? तदुच्यते--सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवाद्व्यावृत्ते ब्रह्मण्युषस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असंभावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मव्यावृत्तोऽनुसंधेय इतिकृत्वा पुनः प्रश्नः कृतः। याज्ञवल्क्योऽपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्मनोऽसंभावितमशनायादिप्रत्यनीकत्वमुक्तवान्। अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्धयर्थमुभाभ्यां परस्परबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः। इतरवत्--यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्चतदेव सद्ब्रह्मव्यवच्छिद्यते, न पुनः पूर्वं प्रतिपन्नाद् गुणान्तरविशिष्ट-

ankurnagpal108@gmail.com

तयोपास्यं, प्रतिपाद्यते, तद्वत्।

यदि कहें कि–यदि सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है तो, प्राणनहेतुता और अनशन आदि गुणों के अनुसंधान का प्रश्न करने का क्या प्रयोजन था ? इस पर कथन यह है कि–उषस्त ने जाना कि, समस्त प्राणियों के प्राणाधार के कारण होने से ही, सर्वान्तरात्मा, जीव से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा ही कहोल ने भी माना कि–जीव में जो नितान्त असंभव हैं, ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त सर्वान्तरात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने पुनः प्रश्न किया और याज्ञवल्क्य ने भी–उनका अभिप्राय समझकर, जीवात्मा से असंभाव्य अनशन आदि की गुणातीतता का उपदेश दिया। उपास्य की, जीव से विलक्षणता सिद्ध करने के लिए, उषस्त और कहोल के पारस्परिक बुद्धि व्यवहार का विनिमय करना चाहिए। जैसे कि सद्विद्या में बार बार प्रश्नोत्तरों से. उसी एक सद्ब्रह्म की विशेषता सिद्ध की गई है, पूर्व प्रतिपन्न गुणों से किसी अन्य विशिष्ट गुणों वाले उपास्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग में सर्वान्तरात्मा की विशेषता सिद्ध की गई है।

तत्रापि प्रश्नप्रतिवचदभेदे सति कथमैक्यमवगम्यत इति चेत्--तत्राह--

यदि कहें कि वहाँ सद्विद्या में भी प्रश्न प्रतिवचन में ही जब भेद है तो एकता कैसी जानी जाय–उसका उत्तर देते हैं :—

सैव हि सत्यादयः ।३।३।३७॥

सैव हि सच्छब्दाभिहिता परमकारणभूतापरा देवतैव "सेयं देवतैक्षत" तेजः परस्यां देवतायाम्" इति प्रकृता "तया सोम्य मधु मधुकृतोनिस्तिष्ठंति" इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपद्यते। यतः "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति प्रथमपर्यायोदिताः सत्यादयः सर्वेषु पर्यायेषूपपाद्योपसंहृियंते।

"उसी परा देवता ने इच्छा की" तेज परा देवता में लीन हुआ "इत्यादि स्थलों में जिस परा देववा परब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी को "हे सौम्य ! मधुकर जैसे मधु में चिपकते है" इत्यादि वाक्यों में

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपादन किया गया है। "यह सब कुछ तदात्मक सत्य है वही आत्मा है" इत्यादि में जिस सत्यादि संपन्न उपास्य का उपदेश दिया गया है, परवर्त्ती सभी उपदेशों में, उसी का संग्रह किया गया है।

केचित्तु–"व्यतिहारो विशिषंति हीतरवत्" सैवहि सत्यादयः इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयंवर्णयंति। तत्र पूर्वेण "त्वंवाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसंधानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत इत्याहुः तत् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "तत्त्वमसि" इत्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनीयमपूर्वमस्तीत्यनादरणीयम्। तत्तुवक्ष्यते—"आत्मेतितूपगच्छंति ग्राहयंति च" इति। न च सर्वात्मत्वानुसंधानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसंधानम्, जीवे च परब्रह्मत्वानुसंधानम्, तथ्यं संभवति।

कुछ लोग "व्यतिहारो विशिंषंति हीतरवत्" सैव हि सत्यादयः इन दो सूत्रों को पृथक् अधिकरण रूप से वर्णन करते हैं। प्रथमसूत्र में:—हे भगवन्! तुम मैं हूँ और मैं तुम हो; जो मैं हूँ सो यह है, जो यह है सो मैं हूं" इस वाक्य को प्रस्तुत कर, जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु–"यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है" यह सब आत्म्य है ' वह तू है" इत्यादि से जो सर्वात्मभाव निश्चित किया जा चुका वही, 'तुम मैं हूँ" इत्यादि वाक्य का प्रतिपाद्य षिषय है। इसमें कोई नवीन अर्थ योजना करना ठीक नहीं है। उक्त प्रकार की व्याख्या आदरणीय भी नहीं है। "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" सूत्र में—इस पर विशेष कहेंगे। सर्वात्मकतानुसंघान के बहाने, परब्रह्म में जीवत्व का अनुसंधान तथा जीव में, परब्रह्मत्व का अनुसंधान करना भी सही नहीं है।

उत्तरेण च सूत्रेण "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यंब्रह्म" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चायं

ankurnagpal108@gmail.com

दक्षिणेऽस्मिन्" इत्यादि वाक्य प्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति, तदप्ययुक्तं उत्तरवाक्ये, अक्ष्यादित्यस्थानभेदेन विद्याभेदस्य पूर्वमेव । "न वा विशेषात्" इत्यनेन प्रतिपादितत्वात् ।

द्वितीय सूत्र में—"जो उस प्रथमजात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं" इत्यादि वाक्य की सत्यब्रह्मोपासना और " जो सत्य है वही आदित्य हैं, जो इस आदित्य मंडल का पुरुष है, वही दक्षिणनेत्रस्थ पुरुष है" इत्यादि वाक्य प्रतिपादित उपासना की एकता का प्रतिपादन करते हैं वह भी असंगत बात है। दूसरे वाक्य में नेत्र और आदित्य में स्थान भेद होने से विद्या भेद है, ऐसा "न वा विशेषात्" सूत्र में बतला चुके हैं ।

न च द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादि शरीरकत्वेन रूपवतोः 'हन्तिपाप्मानं जहाति च य एवं वेद' इति पृथक्संयोगचोदनावतोर्द्वयोरुपासनयोः "स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्" इति संयोग रूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वेणैकेनोपासने नाभेदः संभवति।

उक्त दोनों उपासनाओं की व्याहृति आदि शरीर के रूप से भी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि—"जो इस प्रकार जानता है वह पापों को नष्ट करता और छोड़ता है" इत्यादि। पृथक संयोग और विधि वाली दोनों उपासनाओं का "जो उस प्रथम जात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं वह इस समस्त लोक को जीतते हैं" इत्यादि में पृथक् फलोल्लेख होने से, पर वाक्य, पूर्व वाक्य से पूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है, इसलिए दोनों वाक्यो में एक उपासना नहीं हो सकती ।

न च "हंति पाप्मानं जहाति" इति। फलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात्। पूर्वेणैकविद्यात्वंप्रमाणमिति चेत्, न, इतरेतराश्रयत्वात् । एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वे निश्चिते सति संयोग भेदाभावात् पूर्वेण विद्यैक्यमिति इतरेतराश्रयत्वमित्येवमादिभि र्यथोक्त प्रकारमेव सूत्रद्वयम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

"हंतिपाप्मानं जहाति" को उपासना का गौण फल भी नहीं कह सकते इसको गौण मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि कहें कि पूर्व और पर विद्या की एकता ही उसका प्रमाण है सो ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होगा । अर्थात् दोनों को एकविद्या मानने से पूर्व फल की प्रधानता पर के दोनों फलों की गौणता सिद्धि होगी । ऐसा होने से, फल संयोग के भेद का अभाव हो जावेगा, जिससे कि दोनों विद्याओं की एकता घटित होती है । इत्यादि असंगतियों से उक्त दो प्रकरणों की बात मान्य नहीं है । जो प्रकार हमने प्रस्तुत किया है वही समीचीन है ।

१६ कामाद्यधिकरणः—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८॥

छांदोग्ये श्रूयते—"अथ यदिदमस्मिम् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं, वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्यादि वाजसनेयके च "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि । तत्र संशयः, किमनयोर्विद्याभेदः, उतनेति ? किं युक्तम् ? भेद इति कुतः ? रूपभेदात् । अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकविशिष्टं आकाशः छांदोग्ये उपास्यः प्रतीयते । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणविशिष्ट उपास्यः प्रतीयते, अतो-रूपभेदात् विद्याभेदः ।

छांदोग्य में पाठ है कि–"इस ब्रह्मपुर शरीर के अन्दर जो दहर पुंडरीक गृह है, उसके अन्तस्थ आकाश में जो तत्व है वही अन्वेष्टव्य है" इत्यादि । वाजसनेयी में भी इसी प्रकार–"यही वह महान अज आत्मा जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानमय हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें निवास करता है, वह सर्व नियामक और सर्वाधिपति हैं" इत्यादि यहाँ संशय होता है कि–इन दोनों विद्याओं में भेद है कि–अभेद ? कह सकते है कि–भेद है क्योंकि–दोनों में स्वरूपगत भेद है । छांदोग्य में आठ

ankurnagpal108@gmail.com

गुणों वाले विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है तथा वाजसनेयी में आकाश में शयन करने वाले वशित्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है इस प्रकार दोनों में स्वरूपगत भेद है इसलिए दोनों विद्यायें भिन्न हैं।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न भेद इति । कुतः ? रूपाभेदात्—इतरत्रतत्र च कामाद्येव हि रूपम्—वाजसनेयके छांदोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः । कुत एतदवगम्यते ? आयतनादिभ्यः, हृदयायतनत्वसेतुत्वविधारणत्वादि-भिस्तावदुभयत्र सैव विद्येतिप्रत्यभिज्ञायते । वशित्वादयश्च वाजसनेयके श्रुताः छांदोग्ये श्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य सत्यसंकल्पत्वस्य विशेषा एवेति सत्यसंकल्पत्व सहचारिणां सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयंति, अतो रूपं न भिद्यते ।

सिद्धांत बतलाते हैं कि—भेद नहीं है; रूप के अभेद से यह बात स्पष्ट होती है; जैसे—अन्यत्र काम आदि गुणों से संपन्न को उपास्य कहा गया है, वैसे ही वाजसनेयी और छांदोग्य में, सत्यकामादि विशिष्ट को ही उपास्य कहा गया है। आयतन आदि के वर्णन से ही यह बात निश्चित होती है। हृदायतनत्व, सेतुत्व, विधारणत्व आदि रूप से जिसके चिन्तन का विधान किया गया है, उसे ही, इन दोनों स्थलों पर भी उपास्य कहा गया है। यहाँ वही विद्या निश्चित होती है। वशित्व आदि विशेषतायें वाजसनेय में बतलाई गई हैं और सत्यसंकल्पता आदि विशेषतायें छांदोग्य में बतलाई गई हैं। सत्यसंकल्प से लेकर सत्यकामता निष्पापता पर्यन्त सभी विशेषतायें, सत् का अस्तित्व बतलाने वाली विशेषतायें हैं, इसलिए स्वरूप में भेद नहीं है।

संयोगोऽपि 'परं ज्योति संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" "अभयं वै ब्रह्म भवति" इति ब्रह्मप्राप्ति रूपो न भिद्यते । आकाश शब्दः छांदोग्ये परमात्मविषय इति "दहर उत्तरेभ्यः"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यत्र निर्णीतम् । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानस्य वशित्वादिश्रवणात्तस्य तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाधाराभिधायिन आकाशशब्दस्य "तस्यान्ते सुषिरंसूक्ष्मम्" इति हृदयान्तर्गतस्य सुषिरशब्द वाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते अतो विद्यैक्यम् ।

"परं ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से निष्पन्न हो जाता है" निर्भय ब्रह्म हो जाता है" इत्यादि ब्रह्म प्राप्ति रूप, फल संयोग में भी दोनों की अभिन्नता है । छांदोग्य में, आकाश शब्द परमात्म स्वरूप माना गया है, "दहर उत्तरेभ्यः" सूत्र में इसका निर्णय किया जा चुका है। वाजसनेयक में तो, आकाश में शयन करने वाले की वशित्व आदि विशेषताओं का भी उल्लेख है । "तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्" में उल्लेख्य "सुषिर" शब्द आकाशवाची ही निश्चित होता है, इसलिए विद्या एक है ।

अथ स्यात्–यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभिः सह सत्कामत्वादि सद्भावोऽवगम्यते इति, तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र परमार्थतः सद्भावाभावात्, तदभावश्च "मनसैवानुदृष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "एकधैवानुदृष्टव्यं एतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति प्रकृतेन वाक्येन "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्युत्तरेण चोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्व प्रतीतेरवगम्यते, अतो वशित्वादयोऽपि स्थूलत्वाणुत्ववन्निषेध्या इति प्रतीयंते, अत एव छांदोग्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मणः पारमार्थिका गुणा उच्यंते, अतोऽपारमार्थिकत्वादेवंजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थेषूपासनेषु लोप इति–तत्राह—

आपत्ति की जाती है की–वाजसनेयक में जो वशिता आदि गुणों के साथ सत्यकामता आदि गुणों की प्रतीति बतलाई, वह संभव नहीं है। क्योंकि–वहाँ वशिता आदि का परमार्थिक भाव नहीं है। "मन से ही उसे जानना चाहिए, जगत् में कोई भिन्नता नहीं है, जो भिन्नता देखता है वह मृत्यु के बाद मृत्यु प्राप्त करता है" अप्रमेय और ध्रुव इस ब्रह्म को एक ही समझो "इस पारमार्थिक वाक्य से" वही यह आतमा नेति नेति कहा जाता है" इत्यादि परवर्त्ती वाक्य में, निर्विशेषता की प्रतीति होती

ankurnagpal108@gmail.com

है। इसलिए वशिता आदि भी, स्थूलता अणुता आदि की तरह भिन्न ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् इनका अभाव प्रतीत होता है। इससे निश्चित होता है कि–छांदोग्य में भी, सत्यकामता आदि ब्राह्म गुण, पारमार्थिक नहीं हैं। ऐसे अपारमार्थिक गुणों का, मोक्ष संबंधी उपासनाओं में कोई अस्तित्व नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

आदरादलोपः ।३।३।३९॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तरा प्राप्तानां गुणानामेषां सत्यकामत्वादीनां "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेषभूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इत्यादिभिरनयोः श्रुत्योरन्यासु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन सादरमुपदेशादेषामलोपः, अपितूपसंहार एव कार्यः

ब्रह्म के गुण रूप से, इन सत्यकाम आदि गुणों की प्रतीति किन्हीं अन्य प्रमाणों से नहीं होती, अपितु-"उसमें जो अन्तस्थ है वही अन्वेषणीय है" यह आत्मा-निष्पाप, जरा-मृत्य-शोक-भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है "सबको वश में करने वाला सर्वेश्वर है" "यही सर्वेश्वर, भूताधिपतियों क पालक, लोकमर्यादा का रक्षक आधाररूप सेतु है" इत्यादि शास्त्रीय वचनों से ही प्रतीत्य हैं, इन्हें अन्य वाक्यों में भी, मोक्ष संबंधी उपासना के उपास्यगुणों के रूप में, सादर स्मरण किया गया है, इसलिए मोक्षार्थ में इनके अस्तित्व को न स्वीकारना अज्ञान ही है। अपितु मोक्ष के लिए इनका उपसंहार करना चाहिए।

छांदोग्ये तावत्-"तद् य इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सत्यकामत्वादि गुणविशिष्टस्य ब्रह्मणोवेदनमभिधाय "अथ ह इहात्मानमनुविद्यव्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति। तथा-वाजसनेयके-"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद् गुणेष्वादरः प्रतीयते। एवमन्यत्रापि। न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तरा प्रतिपन्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्र परिवर्त्तनेन पूर्वमेव बभ्रम्यमाणान् मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम्।

छांदोग्य में "जो इनकी आत्मरूपता और सत्यकामादि विशेषताओं को जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोकों में यथेच्छ विहार कर सकता है" ऐसे सत्यकामता आदि विशेषताओं वाले परब्रह्म की वेद्यता बतलाकर "जो इस लोक में इनकी आत्मता और सत्यता आदि को न जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोक में यथेच्छ विचरण नहीं कर सकता" इत्यादि से न जानने वालों की अज्ञानता की निंदा करके, इन गुणों से विशिष्ट वेद्य के प्रति आदर प्रकाश किया गया है तथा वाजसनेय में-"सबको वश करने वाला सबका स्वामी है "यही सर्वेश्वर यही भूताधिपतियों का स्वामी भूतपाल है" इत्यादि वाक्यों से बार बार, उपास्य के ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हुए आदर प्रकाश किया गया है। ऐसा ही अन्यत्र भी है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि-हजारों माता पिताओं से भी अधिक वात्सल्य प्रकाश करने वाले शास्त्र प्रतारणा देने वाले शासक की तरह, अपारमार्थिक विरोध करने योग्य प्रमाणांतरों से सिद्ध गुणों का आदरपूर्वक उपदेश देकर, संसारचक्र में पहिले से ही भ्रमित मुमुक्षुओं को पुनः भ्रम में डाल दें।

"नेह नानास्ति किंचन" एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं विधायाब्रह्मणात्मकत्वेन पूर्वसिद्धानानात्वदर्शनं निषेधयतीत्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः। "स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्यत्र नेति शब्देन प्रमाणांतर प्रतिपन्नं प्रपंचाकारं परामृश्य न तथाविधं ब्रह्मेति, सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः

ankurnagpal108@gmail.com

प्रपंचविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते, तदेव चानन्तरमुपपादयति-"अग्राह्यो नहि गृह्यतेअशीर्यो नहि शीर्यते असंगोनहि सज्यते अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति" इति। प्रमाणान्तरग्राह्यविसजातीयत्वान्न विशीर्यते एवमुत्तरत्रानुसंधेयम्। छांदोग्येऽपि-'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतसत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः" इति सर्वविसजातीयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयंते।

"नेहनानास्ति "एकधैवानु" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म के कार्य रूप सारे जगत को तदात्मक अद्वैत बतलाकर ब्रह्मात्मक न मानकर की जाने वाली भिन्नता का निषेध करते हैं, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं।"स एष नेतिनेत्यात्मा" वाक्य में इति शब्द से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से स्थूलसूक्ष्म जगत का उल्लेख करके, ब्रह्म वैसा नहीं है अपितु वह समस्त प्रपंचमय जगत का अन्तर्यामी होते हुए भी, जगत से विलक्षण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। उसी की अनन्तता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि-"ब्रह्म, ग्रहण न करने योग्य अग्राह्य, शीर्ण न होने योग्य अशीर्य, आसक्त न होने योग्य असंग, व्यथित न होने योग्य अव्यथित तथा च्युत न होने योग्य अच्युत है" इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि-शब्दातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञेय वस्तुओं से, यह ब्रह्म, विसजातीय है, इसलिए ब्रह्म की जानकारी में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, वह एकमात्र उसी से ज्ञेय है। जो सारे पदार्थ विसजातीय हैं, वे सब शीर्ण होते हैं, ब्रह्म शीर्ण नहीं होता। इसी प्रकार छांदोग्य में भी वर्णन मिलता है कि-"न यह जरा से जर्जर होता है, न मारने से मरता है, यही सत्स्वरूप ब्रह्म का नगर है, इसीमें सारी कामनायें निहित हैं" इसमें भी सारे जगत को ब्रह्म से विसजातीय बतलाकर उन्हीं में सत्यकामता आदि गुणों को निहित बतलाया गया है।

नन्वेमपि-"तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोक कामो भवति" इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्ट वेदनस्य, परविद्याफलं

ankurnagpal108@gmail.com

च "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इतीदमेव। अतः सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सोर्नोपसंहार्याः इति। अत उत्तरं पठति—

(तर्क) ऐसा होते हुए भी—"तद्य इहात्मानमनुविद्य" इत्यादि वाक्य से—सत्यकामादि गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना के सांसारिक फलोल्लेख होने से इसे मुमुक्षुओं की सगुणोपासना भी नहीं कह सकते। और जो परा विद्या का फल है, वह "परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है" इत्यादि में स्पष्ट कहा गया है। इसलिए जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए, सत्यकामादि गुणों का उपसंहार, उपासनार्थ करना ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्।३।३।४०॥

उपस्थितिः, उपस्थानम्, ब्रह्मोपसंपन्ने सर्वबंधविनिर्मुक्ते स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि, अतएव-उपसंपत्तेरेवहेतोः सर्वेषु लोकेषु कामचार उच्यते "परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्‌रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड्‌भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते। अतः सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वात्। मुमुक्षोः सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः।

उपस्थित का अर्थ है उपस्थापन (प्राप्ति) अर्थात् जो आत्म ब्रह्म संपन्न हैं, वह सब बंधनों से मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हैं। ऐसी ब्रह्म संपन्नता को प्राप्त व्यक्ति के लिए ही कामचार की बात कही गई है—"परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष अपने समीपवर्त्ती स्थूल शरीर को भूलकर, भक्षण, स्त्रीरमण, अश्वादि गमन, ज्ञातिजनों के साथ परिभ्रमण, आदि करते हुए लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है" इस अवस्था का वर्णन चतुर्थ पाद में विशेष रूप से करेंगे। सभी लोकों की यथेच्छ प्राप्ति, मुक्त पुरुष का उपभोग्य फल ही

ankurnagpal108@gmail.com

है इसलिए सत्यकामता आदि का, मुमुक्षुओं के लिए, उपास्यरूप से उपसंहार करना चाहिए।

तन्निर्धारणानियमः तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलम् ।३।३।४१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्मांगभूतोद्गीथादिमुखेन जुह्वादिमुखेन पर्णतादिवत् कर्मांगत्वेन निरुढानुष्ठानानीत्युद्गीथाद्युपासन संबंधिनो "यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति वर्त्तमान निर्देशस्य पर्णतादिसंबंध्यापापश्लोक श्रवणवत् प्रथक्फलत्वकल्पनायोगात् क्रतुषु नियमे नोपसंहार्याणि इति ।

यज्ञ कर्मांगजुहू जैसे पत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही ॐ" अक्षर की उद्गीथावयव के रूप में उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में उद्गीथ को भी कर्मांग उपासना के रूप में विधान किया गया है, यह उपासना कर्मांग उपासना के रूप में ही प्रसिद्ध है। उद्गीथ उपासना के संबंध में "विद्या या उपासना के साथ जो कर्म किया जाता है वही प्रबल होता है" इत्यादि में जो वर्त्तमान कालिक क्रिया "करोति" का प्रयोग किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि-जैसे-"पर्णमयी जुहू" में पापश्लोक (अमंगल-कथन) श्रवण के अभाव की पृथक् फलरूप से कल्पना की गई है, वैसी कल्पना उक्त प्रसंग में नहीं है। इसलिए इस संपूर्ण उपासना का यज्ञकार्य में उपसंहार करना चाहिए।

सिद्धान्तः—"एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—तन्निर्धारणानियमः" इति निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽवस्थापनं, ध्यानमित्यर्थः। तन्निर्धारणानियमः, कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमः, कुतः? तद्दृष्टेः उपलभ्यते हि उपासनानुष्ठानानियमः"तेनोभौ कुरुतोपपश्चैतद्देवं वेद यश्च न वेद" इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात्। न चांगत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते। एवमुपासनस्यानंगत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसत्रन्यायेन वीर्यवत्तरत्वं

ankurnagpal108@gmail.com

कर्मफलात् पृथग्भूतं फलमित्यवगम्यते। किमिदं वीर्यवत्तरत्वं? कर्मफलस्यैवाप्रतिबंधः। प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन तावन्तं कालम् तदभावोऽप्रतिबंधः। स हि अप्रतिबंधः कर्मफलात् स्वर्गादिलक्षणात् प्रथग्भूतमेवफलम्। तदिमुच्यते–पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलमिति। अतः कर्मांगाश्रयाणामपि पृथग्फलत्वाद्गोदोहनादिवत् कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमेनोपसंहारः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। निश्चित मनःस्थिति को निर्धारण अर्थात् ध्यान कहते हैं। यज्ञकर्मों में उद्गीथ आदि उपासना के कर्तव्य का कोई नियम नहीं है। ऐसा ही वर्णन मिलता है–"जो ऐसा जानते हैं और जो लोग नहीं जानते वे दोनों ही कर्म करते हैं" इत्यादि वाक्य में अज्ञाता के लिए भी कर्मानुष्ठान का नियम कहा गया है, इससे उपासना अनुष्ठान का कोई विशेष नियम समझ में नहीं आता। उपासना, यदि कर्मांग होती तो, किसी भी समय उसके अनुष्ठान का, अनियम न होता। उपासना की कर्मांगता अनिश्चित हो जाने पर उपासना विधि की फलाकांक्षा में "रात्रि-सत्रन्याय" के अनुसार यह निश्चित होता है कि–कर्मफल से अधिक प्रबल फलवाली उपासना होती है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है। इसकी प्रबलता क्या है? कर्मफल का प्रतिबंध न होना। प्रबल कर्मों के फल से, सामान्य कर्मों का फल निश्चित काल तक प्रतिबंधित होता है, जब की प्रबल कर्मों का फल अप्रतिबंधित रहता है। यह अप्रतिबंध, कर्म से प्राप्त स्वर्गादि प्राप्तिरूपफल, से निराला ही फल है। इसीलिए इसे पृथक् अप्रतिबन्ध फल कहा गया। इसलिए उद्गीथ आदि उपासना कर्मांगाश्रित होते हुए भी फलश्रुति के अनुसार विशिष्ट फलवाली हैं, "गोदोहनन्याय" के अनुसार संपूर्ण कर्मों में उद्गीथ आदि उपासनाओं का उपसंहार करना चाहिए।

१८ प्रदानाधिकरणः–

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४२॥

दहर विद्यायां 'तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्

ankurnagpal108@gmail.com

कामान् "इति दहराकाशस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वा "एतांश्च सत्यान् कामान्" इति गुणानामपि पृथगुपासनं विहितं तत्र संशयः, गुणचिन्तनेऽपि तद् गुणविशिष्टतया दहरस्यात्मनश्चितन मावर्त्तननीयम्, उत नेति? दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वादीनां गुणित्वात्तस्य च सकृदेवानुसंधातुं शक्यत्वाद् गुणार्थंन्तर्चितनं-नावर्त्तनीयम्।

दहर विद्या में –"जो इस लोक में इस आत्मा को और उसके सत्य-कामादि गुणों को जानकर" इत्यादि में दहराकाश परमात्मा की उपासना बतलाकर "सत्यान् कामान्"से इन गुणों कीभी उपासना का विधान किया गया है। यहाँ संशय होता है कि–गुणों के चिन्तन के समय, उन गुणों से विशिष्ट दहराकाश का चिन्तन भी आवश्यक है या नहीं'? दहराकाश परमात्मा ही जब निष्पापता आदिगुणों के आश्रय हैं, तो उनका एकबार चिन्तन करने से ही कार्य चल सकता है तो गुणों के साथ बार बार चिन्तन करना आवश्यक नहीं है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–"प्रदानवदेव" इति। प्रदानवदावर्त्तनीयमेवेत्यर्थः। यद्यपि दह्राकाश एक एवापहतपाप्मत्वादि-गुणानां गुणी, स च प्रथमं चिन्तितः, तथाऽपि स्वरूपमात्रात् गुणविशिष्टाकास्य भिन्नत्वात् "अपहतपमाप्मा विजरः" इत्यादिना गुणविशिष्टतया चोपास्यत्वेन विहितत्वात्पूर्वंस्वरूपेणानुसंहितस्या-पहतपाप्मत्वादि विशिष्टतयाऽनुसंधानार्थमावृत्तिः कर्त्तव्या–यथा– "इंद्रायराज्ञे पुरोडाशमेकादश कपालं निर्वपेत् "इंद्रायाधिराजा य" इंद्रायस्वराज्ञे" इतीन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि तत्तद्गुण-संबंध्याकारस्य भिन्नत्वात्। प्रदानावृत्तिः क्रियते; तदुक्तं सांकर्षणे–"नाना वा देवता प्रथक्त्वात्" इति।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "प्रदानवदेव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं अर्थात् प्रदान विधि की तरह, बार बार चिन्तन कर्त्तव्य है। यद्यपि

ankurnagpal108@gmail.com

दहराकाश ही एकमात्र निष्पापता आदि विशिष्ट गुणों के गुणी होने से प्रथम चिंतित होते हैं, फिर भी दहराकाश का जो स्वाभाविक रूप है गुणविशिष्ट रूप से वह निश्चित ही भिन्न है। "अपहतपाप्मा" इत्यादि वाक्य में—गुणविशिष्ट रूप से उनकी उपासना का विधान किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—अविशेषित रूप से उपासित दहर का "निष्पाप" आदि विशिष्ट गुणों सहित पुनः चिंतन करना चाहिए। जैसे कि—" राजा इंद्र को ग्यारह पात्रों में पुरोडाश अर्पित करो "अधिराज इंद्र को "स्वराट्इन्द्र को" इत्यादि में राजगुण विशिष्ट इन्द्र को अधिराज, स्वाराज इत्यादि विशिष्ट गुणों से बार बार प्रदान करने की आवृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त चिंतन की बार बार आवृत्ति का विधान है। पूर्वकांड के संकर्षण में कहा भी गया है—"विशेष विशेष आकृतियों की पृथक्ता से देवता की भी पृथक्ता होती है।"

१६—लिंगभूयस्त्वाधिकरण:—

लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।३।३।४३॥

तैत्तरीया दहरविद्यानंतरमधीयते "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्, विश्वं नारायणं देवं अक्षरं परमं प्रभुम्" इत्यारभ्य —"सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इत्यन्तम्। तत्र संशयः, किं पूर्वप्रकृत विद्यैकविद्यात्वेन तदुपास्य विशेषनिर्धारणमनेन क्रियते, उत सर्व वेदांतोदित परविद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति? किं युक्तम्? दहर-विद्योपास्यविशेष निर्धारणमिति। कुतः? प्रकरणात्। पूर्वस्मिन्ननु-वाके दहरविद्या हि प्रकृता-"दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुंडरीकं पुरमध्यसंस्थम्, तत्रापि दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासि-तव्यम्।" इति, अस्मिंश्चानुवाके—"पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इत्यादिना, हृदयपुंडरीकाभिधानमस्यनारायणा-नुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्वलयतीति।

तैत्तरीयोपनिषद् में—दहरविद्या के बाद कहा गया है—"सहस्रशिर-

ankurnagpal108@gmail.com

वाले विश्वदर्शी, विश्वकारण, विश्वात्मक, परंप्रभुनिर्विकार देव नारायण को" इत्यादि से प्रारंभ करके "वही निरतिशय प्रकाशमान अक्षर है" यहाँ तक। इस पर संशय होता है कि-पूर्वप्रस्तावित दहरविद्या के साथ, उसी से संबंधित, उपास्यगत कोई विशेष निर्धारित उपासना है अथवा सभी वेदांतों में कही गई परविद्या के उपास्य विशेष की उपासना का निर्धारण है? कह सकते हैं कि दहरविद्योपास्य का निर्धारिण है, ऐसा उसी प्रकरण में वर्णन है। इसके पूर्व के अनुवाक में दहरविद्या का ही वर्णन है। "निष्पाप दहर अर्थात् सूक्ष्म हृदय ही परमेश्वर का वासस्थान है। जो कि देह में पुण्डरीक नाम से प्रसिद्ध है, उसके मध्य में भी सूक्ष्म आकाश है उसमें जो स्थित है, उसी की उपासना करना चाहिए" इत्यादि इसी-अनुवाक में-"पद्मकोश की आकृतिवाला अधोमुख हृदय है" इत्यादि के उपास्य ही, नारायण अनुवाक में भी उपासनीय हैं।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-लिंगभूयस्त्वात्-इति। अस्य निखिल परविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे भूयांसि लिंगानि दृश्यंते, तथाहि परविद्यास्वक्षरशिवशम्भुपरब्रह्म परज्योतिः परतत्त्वपरमात्मादि शब्द निर्दिष्टमुपास्यं वस्त्विह तैरेव शब्दैरनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते, भूयसीषु विद्यासु श्रुताननूद्य नारायणत्वविधानभूयस्त्वं नारायण एव सर्वविद्यासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानंदादिगुणकं परंब्रह्मेति विशेष निर्णये भूयः बहुतरं लिंग भवति। अत्र लिंग शब्दः चिह्नपर्यायः। चिह्नभूतं वाक्यं बहुतरंमस्तीत्यर्थः। तद् हि प्रकरणाद् वलीयः। तदप्युक्तं प्रथमकांडे-"श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षणात्" इति। यत्तूक्तं-"पद्मकोषप्रतीकाशम्" इत्यादि वचनं दहरशेषत्वमस्योपोद्वलयति-इति। तत्र, बलीयसा प्रमाणेन सर्वविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधूते सति दहरविद्यायामपि तस्यैव नारायणस्योपास्यत्वेन तद्वचनोपपत्तेः।

इस मत पर-"लिंगभूयस्त्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। समस्त पर-विद्या के उपास्य विशेष के निर्धारणता के द्योतक अनेक नाम प्रस्तुत

ankurnagpal108@gmail.com

किए गए हैं, जैसे कि–परविद्याओं में, अक्षर–शिव–शम्भु–परब्रह्म परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्दों से निर्दिष्ट उपास्य, यहाँ उन्हीं शब्दों से अनूदित नारायण रूप से उपास्य कहे गए हैं, परविद्या प्रतिपादन अनेक श्रुतियों में जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे ही सब गुण, यहाँ नारायण के लिए पुनः कहे गए हैं, इससे ज्ञात होता है कि–सभी विद्याओं के उपास्य नारायण ही अस्थूलता आदि विशेषित आनंद गुण वाले परब्रह्म हैं। इसके निर्णय में अनेक "लिंग" हैं। लिंग शब्द चिह्न का पर्यायवाची है, अर्थात् उस चिह्न के अनेक वाक्य मिलते हैं। वाक्य प्रकरण से प्रबल हैं। पूर्वमीमांसा के प्रथम काण्ड में इसका नियम इस प्रकार बतलाया गया है–श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर पूर्व की अपेक्षा पर कारणों से अर्थ करने से विलंब होता है इसलिए पूर्व से पर कारण निर्बल है।" जो यह कहा कि–"पद्मकोश प्रतीकाश इत्यादि वचन दहरोपासना के शेष प्रकरण में आया है अतः उसी का बोधक है, सो बात भी नहीं हैं; बलवान लिंग प्रमाण द्वारा सर्वविद्योपास्यता के निर्णीत हो जाने पर यह समझना चाहिए कि–दहरविद्या में वही नारायण, पद्मकोश में उपास्य कहे गए हैं।

नच "सहस्रशीर्षं" इत्यादि द्वितीया निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासिना संबंध शंकनीयः "तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासित गतेन कृत्प्रत्ययेनोपास्यस्य कर्मणोऽभिहितत्वात् तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः। "विश्वमेवेदंपुरुषः "तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादि प्रथमा निर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या। "अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति निर्देशैः सर्वस्मात् परोनारायण एव सर्वत्रोपास्य इति निर्णीयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते।

सहस्रंशीर्षम् में किये गए द्वितीया विभक्ति के निर्देश के आधार पर पूर्वानुवाक वर्णित उपासना के संबंध की शंका भी नहीं की जा सकती

ankurnagpal108@gmail.com

"तस्मिन्यदंतस्तदुपासितव्यम" इत्यादि वाक्य में जो उपासना में कृत् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है वह कर्मभूत उपास्य का बोधक है द्वितीया विभक्ति का नहीं। इसी प्रकार "सहस्रशीर्षम्" में कर्मपद में द्वितीया विभक्ति नहीं है अपितु प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। जैसे कि—"विश्वमेवेदं पुरुषम् "तत्त्व नरायणः परः" इत्यादि में प्रथमा स्थानीय द्वितीया है। "नारायण ही सब वस्तुओं में बाहर भीतर व्याप्त हैं" उसकी ज्योति में परमात्मा स्थित हैं, वहीं ब्रह्मा-शिव-इंद्र-अक्षर परम और स्वप्रकाश है इत्यादि से सब जगह नारायण ही परम उपास्य के रूप में निश्चित होते हैं कि—उक्त पद में प्रथमा स्थानीय द्वितीया विभक्ति है।

२० पूर्वविकल्पाधिकरणः—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ।३।३।४४॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये मनश्चिनादयोऽग्नयः श्रूयंते "मनश्चितोवाक्चितः प्राणचितः चक्षुश्चितः श्रोत्राचितः कर्मचितोऽग्निचितः"। तत्र संशयः किमेते मनश्चितादयः सांपादिकत्वेन विद्यारूपा अग्न्यः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा आहोस्वित् विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशेन विद्यारूपाएव ? इति विशये क्रियारूपत्वं तावदाह-पूर्व विकल्पः इत्यादिना। चित्याग्नित्वेन संपादितानामेषां मनश्चितादीनां क्रत्वनुप्रवेशसाकांक्षाणां स्वदेशे क्रतुविध्यभावात् पूर्वत्र- "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिनेष्ट कचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात् तस्य च क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतु सन्निधानात्तत्प्रकरण गृहीता मनश्चितादयस्तेनेष्टकचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः क्रिया रूपा एवस्युः। विद्यारूपाणामपि क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपत्वं मानसग्रहवदुपपद्यते। यथाद्वादशाहे अविवाक्ये दशमेऽहनि मानसग्रहस्य मनोनिष्पाद्यग्रहणा-

सादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामय क्रत्वंगतया क्रियारूपत्वं, तथेहापि ।

वाजसनेयक के अग्निरहस्य में मनश्चितादि अग्नियों का ऐसा वर्णन मिलता है–"मनश्चिद्-वाक्चिद्-प्राणचिद्-नेत्रचित्-श्रोतचित्-कर्मचित् और अग्निचित्" इत्यादि । इस पर संशय होता है कि-मनश्चिद् आदि, मानस संकल्प संपादित विद्यारूप अग्नियाँ, क्रियामय यज्ञ संबंधी क्रियायें हैं अथवा ज्ञानमय यज्ञ की अन्तर्भूत विद्या हैं ? इस पर कह सकते हैं कि-क्रियारूप ही हैं "पूर्व विकल्प" इत्यादि सूत्र में उक्त मत का ही प्रतिपादन किया गया है ।

चयन योग्य अग्निरूप से परिकल्पित मनश्चित् आदि यज्ञ विशेष में अंतर्भूत हैं ऐसी आशंका होती है, इनका यज्ञ प्रकरण में तो कोई यज्ञ विधि रूप से उल्लेख मिलता नहीं । प्रकरण के पूर्व के "यह सारा जगत असत् ही था" इत्यादि वाक्य में, इष्टचित् अग्नि का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि–क्रियात्मक यज्ञ के साथ उस अग्नि का अव्यभिचारी (प्राकृत) संबध है । इसलिये उक्त प्रसंग में भी क्रियामय यज्ञ का प्रसंग समझना चाहिये । इस प्रसंग में कही गई मनश्चित आदि भी यज्ञीय अग्नि के साथ प्रकरान्तर से कल्पित हैं, इसलिए क्रियारूप ही हैं । मानस अर्थात् चिन्तामय ग्रह की तरह मनश्चित् आदि ज्ञानात्मक होते हुए भी क्रियात्मक यज्ञ से संबद्ध होने से क्रिया रूप ही कही जावेंगी । जैसे कि-बारह दिन में पूर्ण होने वाले यज्ञ में दसवें दिन मानसग्रह (हवनीय द्रव्याधार पात्र विशेष मन) की कोई विधि (अर्थात मन को कैसे पात्र बनाया जाय) न होते हुए भी; मन से ही ग्रहण-उत्पादन स्तोत्र-शस्त्र (स्तोत्र विशेष प्रत्याहरण और भक्षण का विधान बतलाया गया है तथा विद्यारूप होते हुए भी इसे क्रियामय यज्ञ का अंग होने से क्रियारूप माना गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग है ।

अतिदेशाच्च ।३।३।४५।।

इत्यश्चेष्टकचितेनाग्निना मनस्चितादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं चावगम्यते–"तेषामेकैकएव तावान् यावानसौ पूर्वः." इति पूर्व-

स्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चितादिष्वतिदिष्यते, तेन तुल्यकार्यत्वाद् विकल्पः तश्चेष्टकचित्वत्तत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदंगभूताः मनश्चितादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन, क्रियारूपा एवेति ।

इसलिए भी—इष्टकचित् आदि से—मनश्चित् आदि विकल्पों की क्रियारूपता ज्ञात होती है कि—"इन मनश्चित् आदि में एक एक का उतना ही परिमाण है जितना कि पूर्वोक्त अग्नि का परिमाण है" इत्यादि में—मनश्चित आदि अग्नियों में, पूर्वोक्त यज्ञांग अग्नि का वीर्य अर्थात् फलसाधन शक्ति, अतिदिष्ट है। जब दोनों का एक सा ही कार्य है तो, इनमें तदनुरूप विकल्प भी होगा। इष्टकचित् अग्नि जैसे यज्ञ निर्वाहक है मनश्चित् आदि भी उसी प्रकार यज्ञ निर्वाहक हैं। इसलिए ये क्रिया-रूपा ही है।

एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे—इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४६॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, यदुक्तं मनश्चित्तादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति, नैतदस्ति। विद्यारूपाएवैते—विद्यारूपक्रत्वन्वयिन इत्यर्थः। कुतः ? निर्धारणाद् दर्शनाच्च निर्धारणं तावत—"ते है ते विद्याचित् एव विद्यया हैवैते एवंविद-श्चिता भवंति" इति। वाङ्मनश्चक्षुरादि व्यापाराणामिष्ट कादिवत् चयनानुपपत्तेर्मनसा संपादिताग्नित्वेन विद्यारूपत्वे सिद्धेऽपि "विद्याचित् एव" विद्यया हैवैते" इति चावधारणं विद्यामय क्रत्वन्वयेन विद्यारूपत्वज्ञापनार्थमिति निश्चीयते। दृश्यते चात्रै वैषां शेषी विद्यारूपः क्रतुः "ते मनसैवाधीयन्तमनसैवाचीयन्त-मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवन्तु मनसाशंसन यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किंच यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत" इति। इष्टकचित्तेष्वग्निषु यत् क्रियामयं यज्ञीयं

ankurnagpal108@gmail.com

कर्म क्रियते, तन्मनोनिर्वर्त्येषु मनश्चिताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रियतेति वचनात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते।

तु शब्द पक्ष का व्यावर्तक है। जो यह कहा कि–क्रियामय यज्ञ से संबद्ध होने से क्रियारूप हैं। सो ऐसा नहीं है ये विद्यारूप ही हैं अर्थात् विद्यामय यज्ञ से संबद्ध हैं। ऐसा ही शास्त्रों में उल्लेख है "ये अग्नियाँ विद्याचित् ही है क्योंकि ये ज्ञान संपन्न पुरुष से समाहृत हैं।" वाक्यमनचक्षु आदि की क्रियायें कभी यज्ञीय अग्नि की तरह चयन नहीं की जा सकती, इसलिए इन अग्नियों को मनःकल्पित मानस अग्नि के रूप में ही समझना चाहिए। इस प्रकार इनकी विद्यारूपता सिद्ध हो जाने पर भी पुनः "विद्याचित् एवं" विद्या हैवैते" इत्यादि से इनकी विद्यारूपता का अवधारण किया गया है। जो कि इनकी विद्यामय संबंधी होने की पुष्टिमात्र है। ऐसा ही श्रुतिवाक्यों में अग्नियों के अंगीरूप विद्यात्मक यज्ञ का उल्लेख भी मिलता है–" वे मन से ही अध्ययन करते हैं मन से ही चयन करते हैं मन के सहयोग से ही हवनीय द्रव्यों का संग्रह करते हैं मन से ही स्तव और मन से ही आशंसा करते हैं अधिक क्या यज्ञ में जो कुछ भी कर्त्तव्य हैं वे सब मनोमय चितात्मक मनश्चित् यज्ञ में मनोमय ही होते हैं" इत्यादि में स्पष्ट बतलाया गया कि–इष्टकचित् अग्निमय यज्ञों में जो भी क्रियायें की जाती हैं वो सब मन से संपाद्य मनश्चित् आदि अग्नियों में, मनोमय ही की जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि–यहाँ भी विद्यामय यज्ञ का ही प्रसंग है।

नन्वत्र विधिपदा श्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्चेष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणात् विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपतैषां वाध्यते–नेत्याह–

(तर्क) उक्त प्रसंग में कोई विधिवाची पद या स्वतंत्र फल का निर्देश नहीं है, इसलिए क्रियामय यज्ञ का ही प्रकरण समझ में आता है क्रिया के साथ इनका संबंध भी दिखलाया गया है जिससे विद्यारूपता बाधित हो जाती है। इस तर्क का निरसन करते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४७॥

श्रुतिलिंगवाक्यानां प्रकरणाद्बलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेषां तदन्वयश्च दुर्बलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते। श्रुतिस्तावत् "तेहैते विद्याचित् एव" इति। तां विवृणोति–"विद्या हैवैते एवंविदश्चिता भवंति" इति। विद्यया विद्यामयेन क्रतुनः संबद्धा मनश्चितादयश्चिता भवंतीत्यर्थः "तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति लिंगम्। वाक्यं च "एवं विदे चिन्वंति" इति। समभिव्याहारो वाक्यम्। एवं विदे विद्यामय-क्रतुमते सर्वदा सर्वाणि भूतानि, चिन्वंतीत्यर्थः सर्वभूतकर्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं मनसा संपादितं परिमितकर्तृकाल क्रियाम-येष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुवेप्रश संभवमलभमानं विद्यामय क्रत्वनु-प्रवेशे लिंगं भवति।

श्रुति लिंग वाक्य आदि प्रकरणों के बल से–श्रुत्यादि से ज्ञात यह कदापि बाधित नहीं हो सकता। श्रुति में जैसे–"ये सब विद्यामय ही हैं" इसका और भी विस्तार किया गया है जैसे–"इस प्रकार ज्ञान संपन्न व्यक्ति समस्त अग्नियों को ज्ञान द्वारा ही चयन करता है" अर्थात् ज्ञान-मययज्ञ के साथ संबद्ध मनश्चित् आदि अग्नि, मानस चिन्तन द्वारा ही संपादित होती हैं। इसी अर्थ का बोधक लिंग भी है–"ऐसे ज्ञान संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूतवर्ग सदा, समस्त अग्नियों का चयन करके सोते हैं।" "एवं विदे चिन्वंति" वाक्य भी उक्त लिंग के अर्थ का ही ग्राहक है–अर्थात् ऐसे विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूत समुदाय चयन करते हैं। पद समाप्ति को ही वाक्य कहते हैं। समस्त भूत समुदाय से मन ही मन किया गया अग्निचयन कभी क्रियामय यज्ञ में संभव नहीं है–क्योंकि जिसका कर्त्ता, काल और क्रिया सभी परिमित हैं ऐसा मनः, संपादित चयन, मनश्चित् आदि; विद्यामान यज्ञ का ही लिंग है।

यच्चेदमुक्तं–विधिप्रत्ययाश्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्च क्रिया-मयात्क्रतोरन्यऽत्र विद्यामयः क्रतुर्नसंभवति-इति-तत्राह–

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि–किसी प्रकार की विधि या प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता और न फल विशेष का ही उल्लेख मिलता है इसलिए यह क्रियामय यज्ञ के अतिरिक्त–विद्यामय यज्ञ नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हैं–

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञांतर पृथकत्ववद्दृष्टश्चतदुक्तम् ।३।३।४८॥

इष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात् क्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेन अनुबंधादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगम्यते। अनुबंधाः यज्ञानुबंधिनो ग्रहस्तोत्रशास्त्रादयः "मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवंत मनसाशंसन्" इत्यादिता प्रतिपादिताः। आदि शब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्यन्ते। श्रुत्यादिभिः सानुबंधः विद्यामयक्रतुः पृथगवम्यत इत्यर्थः प्रज्ञांतर पृथकत्ववत–यथाप्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात् क्रतोः पृथग्भूतं श्रुत्यादिभिरवगम्यते, एवमयमपि। एवं चानुबंधादिभिः पृथग्भूते विद्यामये यज्ञेऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते। दृष्टिश्चानुवाद सरूपेषु कल्प्यमानो विधिः। तदुक्तं– "वचनानित्वपूर्वत्वात्" इति। फलं च–"तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः" इत्यतिदेशात् स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यवगम्यते।

इष्टकचित् क्रियात्मक यज्ञ से, यह विद्यामय यज्ञ पृथक् है, ऐसा–पृथक्ता के ज्ञापक अनुबंधादि से ज्ञात होता है। यज्ञ संबंधी ग्रह को अनुबंध कहते हैं जो कि–स्तोत्र शास्त्र आदि हैं। जैसे कि–"मन ही मन ग्रहों का ग्रहण करते हैं तथा–मन ही मन स्त्रोत्र तथा आशंसा करते हैं" इत्यादि सूत्र में–आदि से तात्पर्य श्रुति इत्यादि से है; अर्थात् अनुबंध युक्त श्रुति आदि से–इस विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता ज्ञात होती है। जैसे कि–श्रुतिलिंग आदि प्रमाणों से' दहर आदि अन्य विद्यायें जैसे क्रियामय यज्ञ से पृथक प्रतीत होती हैं, वैसे ही यह भी है। अनुबंध आदि कारणों से विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता सिद्ध हो जाने पर इस विषय में विधि कल्पना भी की जा सकती है। अनुवाद स्वरूप वाक्यों में विधि कल्पना देखी भी जाती है। ऐसा ही उल्लेख भी है–"अपूर्व या प्रमाणांतर प्रसिद्ध विषय के

ankurnagpal108@gmail.com

ज्ञापक सामान्य वचन भी विधिरूप से कल्पित हो सकते हैं। "पूर्ववर्त्ती यज्ञ जिस परिमाण में फलदायक हैं उसी परिणाम में ये सब, एक एक फलदायक हैं" इत्यादि में पूर्वोक्त क्रतुफल के अतिदेश से ज्ञात होता है कि-इष्टकचित अग्नि से जो फल प्राप्त होता है मनश्चित् आदि से भी वही मिलता है।

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात् क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशो अवगम्यत इत्युक्तम्। तत्राह–

और जो यह कहा है कि-अतिदेश से दोनों की तुल्यकारिता प्रतीत होने से मनश्चित् आदि भी क्रियामय यज्ञ संबद्ध ही ज्ञात होते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः।३।३।४९।।

नावश्यमतिदेशादवान्तरव्यापारस्यापि तुल्यतया भवितव्यं येन क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्यमात्रादतिदेशोपलब्धेः। उपलभ्यते हि–"स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मंडलेपुरुषः "इत्यादिषु संहर्तृत्वादिसामान्यमात्रादतिदेशः, नहि तत्र मंडलपुरुषस्य मृत्युवत्तल्लोकापत्तिः, तद्देशप्राप्तिरपि भवति, एवमिहापि मनश्चितादीनामिष्टकचिताग्निवद् भावातिदेशमात्रेणेष्टकचिताग्निदेशरूप क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम्। अत इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादवगम्यते।

अतिदेश के प्रधान कार्य में तुल्यता हो सकती है, उपकार्य में भी तुल्यता हो ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर मनश्चित् आदि को क्रियामय यज्ञ का अंग माना जा सके। किसी न किसी सामान्य सादृश्य में ही अतिदेश होता है। जैसे कि–"यह जो आदित्य मंडल में पुरुष है, यही वह मृत्यु है। "इसमें केवल संहारकर्त्तृत्व के सादृश्य के आधार पर अतिदेश है। मृत्यु का जो देश या काल है मंडल पुरुष उसे प्राप्त भी करे ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार यहां भी मनश्चित्

ankurnagpal108@gmail.com

आदि का इष्टकचित् से साधर्म्य मात्र में ही अतिदेश है; इष्टकचित् अग्नि स्थानीय मनश्चिदादि भी हैं इसलिए क्रियामय यज्ञ में उनकी गणना की जाय ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इष्टकचित् अग्नि की यज्ञ क्रिया से जो फलावाप्ति होती है वही मनश्चिदादि विद्यामय क्रिया से भी सहज प्राप्त हो जाती है, यही उक्त अतिदेश का तात्पर्य है।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबंधः।३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य तादविध्यं—तदविधत्वं, विद्यामय प्रतिपादित्वमवगम्यते। परेण हि ब्राह्मणेन "अयंवावलोक एषोऽग्निचितस्तस्याप एव परिश्रिताः" इत्यादिना "स यो हैतदेवं वेद लोकं पृणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभि-संपद्यते" इति पृथक्फलविद्यैव विधीयते, तथा वैश्वानर विद्यादौ च विद्यैव विधीयते। अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैकविषयत्वं नास्ति। एवं तर्हि विद्यामया मनश्चितादयो वृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः, किमर्थमिहानुबध्यंते, तत्रोच्यतेभूयस्त्वात्त्वनुबंधः, इति। मनश्चिता-दिषु संपादनीयानामग्न्यंगानां भूयस्त्वात्संन्निधाविहानुबंधः कृतः।

परवर्ती ब्राह्मण वाक्य के, मनश्चिदादिबोधक शब्दों से विद्यामय यज्ञ की प्रतिपादकता ज्ञात होती है। जैसा कि-"यह लोक ही अग्निचित् है जल इसे परिवेष्टित किये हैं" जो इसको उक्त प्रकार से जानते हैं वे जागतिक वृतियों को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से पृथक फल विद्या का विधान किया गया है। इसी प्रकार वैश्वानर आदि विद्याओं का भी पृथक निर्देश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि–क्रियानुष्ठान ही अग्नि रहस्य का एकमात्र विषय नहीं है। आप कह सकते हैं कि–यदि ऐसा ही था तो बृहदारण्य में इसका उल्लेख होना चाहिए था, कर्मकाण्ड के प्रकरण में इसके उल्लेख का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर सूत्रकार "भयस्त्वादनुबंधः" इस सूत्रांश से देते हैं अर्थात्–मनश्चिदादि अग्नियों में, यज्ञांग अग्नियाँ, अधिकांश में विद्यमान हैं, इसलिए इनका इस प्रकरण में उल्लेख है।

ankurnagpal108@gmail.com

२१. शरीरेभावाधिकरणः—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५१।।

सर्वासु परविद्यासूपास्योपासनस्वरूपवदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वमुक्तं—"त्र्याणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इति वक्ष्यति चास्य प्रत्यगात्मनः परमात्मकत्वेवानुसंधानम् "आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च" इति। किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाताकर्त्ताभोक्तेहामुत्र-संचारक्षमोऽनुसंधेयः, उत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादि-स्वरूपः ? किं युक्तम् ? ज्ञातृत्वाद्याकारमात्र इत्येके मन्यंते, कुतः ? अस्योपासकस्यात्मनः शरीरेभावात्, शरीरे वर्त्तमानस्य तादृशमेव-रूपम्, तावतैवानुसंधानेन तत्फलसिद्धयुपपत्तेश्च। नहि कर्मस्व-धिकृतानां स्वर्गादिफलार्थिनां ज्ञातृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं रूपं साधनानुष्ठानदशायामनुसंधातव्यम्, तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेरतिरिक्तानुसंधाने प्रयोजना-भावात्, तदविशेषादिहापि तथैव। ननुचात्र "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति विशेषवचनादपहतपाप्म-त्वाद्याकार एवानुसंधातव्य इत्यवगम्यते, मैवम् "तं यथायथोपासते" इत्युपास्यविषयत्वात्तस्य।

सभी परविद्याओं में उपास्य और उपासनाओं के स्वरूप की तरह उपासक के स्वरूप को भी ज्ञातव्य कहा गया है। "तीनों के स्वरूप के विस्तार का प्रश्न किया" इत्यादि से यही मत स्थिर होता है। "आत्मेति-तूपगच्छंति ग्राहयंतिच" सूत्र भी जीवात्मा में परमात्मभाव के चिन्तन का विधान बतलाता है। इस पर संशय होता है कि—यह जीवात्मा ही ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता तथा इहलोक परलोक क्षम कहा गया है अथवा प्रजा-प्रति वाक्य में निष्पापता आदि गुणों वाला कहा गया है? इस पर एक का कथन है कि—ज्ञातृत्वादिविशिष्ट जीवात्मा ही यहाँ विवक्षित है,

ankurnagpal108@gmail.com

क्योंकि–उपासक के शरीर में उसकी सत्ता रहती है, अर्थात् शरीर में उसका अपहतपाप्मता आदि गुणों से संपन्न रूप वर्तमान रहता है ज्ञातृत्व आदि धर्मों का चिन्तन और फलसिद्धि भी शरीर स्थिति में ही होता है। जो कर्मानुष्ठान के अधिकारी और स्वर्गफलाभिलाषी हैं, फलानुभवकाल में उनका जैसा स्वरूप अभिव्यक्त होता है, साधमानुष्ठान काल में वैसे ही स्वरूप का चिन्तन आवश्यक नहीं है। क्योंकि–चिन्तन द्वारा ही जब उनका साधनानुष्ठान और उसका फल संपन्न हो जाता है तो उसके अतिरिक्त चिन्तन का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, वैसे ही उपासक की स्थित भी है कोई विशेष बात नहीं है ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट जीवात्मा के स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए। अब प्रश्न होता है कि–"साधक इस लोक में जैसी उपासना करता है, मरणोपरान्त वैसी ही अवस्था प्राप्त करता है" इत्यादि से तो यही ज्ञात होता है कि–निष्पापता आदि विशिष्ट आकार का ही चिंतन करना चाहिए; सो बात नहीं है, "उसे जैसे-जैसे भजते हैं" इत्यादि में उपास्य विषयक विज्ञप्ति है, उपासक विषयक नहीं।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–इस मत पर सूत्रकार सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५२॥

न त्वेतदस्ति–यत् ज्ञातृत्वाद्याकार एवानुसंधेय इति अस्यात्मनः संसारदशायाः मोक्षदशायां यो व्यतिरेकः, सोऽपहतपाप्मत्वादिकोऽनुसंधेयः, अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं, तादृग्रूप एव उपासन वेलायामात्माऽनुसंधेय इत्यर्थः कुतः ? तद्भावभावितत्वात्तद्रूपाप्तेः। "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" तं यथोयथोपासते तथैव भवति" इति यथोपासनमेव हि प्राप्तिः श्रूयते।

बात उक्त प्रकार की नहीं है अपितु ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट आकार को ही चिन्त्य बतलाया गया है। इस जीव का संसार दशा और

ankurnagpal108@gmail.com

मोक्ष दशा का जो भेद है वह अनुसंधेय निष्पापता आदि विशिष्ट आकार से ही है। अर्थात् इसका मोक्ष दशा का जैसा रूप है, वैसे ही रूप का उपासना के समय आत्मा में अनुसंधान करना चाहिए। उस रूप की प्राप्ति के लिए तद्भावभावित होना चाहिए। "पुरुष इस लोक में जैसा अनुष्ठान करता है मरणोपरान्त वैसा ही होता है "उसको जैसे-जैसे भजता है वैसा ही होता है" इन वाक्यों में उपासनानुसार ही फलावाप्ति बतलाई गई है।

न च परस्वरूपमात्रविषयमेवेदमिति वक्तुं शक्यते, प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्यभूतपरब्रह्मशरीरतयोपास्यकोटिनिक्षिप्तत्वात्। अतः प्रजापतिवाक्योदितापहपाप्मत्वादिगुणकप्रत्यगात्मशरीरपरमात्मोपासनस्य तथारूपमेव प्राप्यमित्युक्तं भवति। अतएव "एवं क्रतुर्हीमुंलोकं प्रेत्यभिसंभवितास्मि" इत्युच्यते। तस्मात् प्रत्यगात्मा प्राप्याकार एवानुसंधेयः।

ऐसा नहीं कह सकते कि यह वाक्य परमात्म विषयक ही है। जीवात्मा, उपास्य परमात्मा का शरीर ही तो है इसलिए उसे भी उपास्य श्रेणी के अंदर ही समझना चाहिए। कथन यह है कि—प्रजापतिवाक्य में उल्लेख्य निष्पापता आदि गुणों वाले जीवात्मा के शरीरी परमात्मा की उपासना का, वैसा (निष्पापता आदि गुणों वाला) ही रूप प्राप्य बतलाया गया है। इसीलिए "मैं यहाँ जैसा संकल्प वाला हूँ परलोक में वैसे ही रूप का होऊँगा" इत्यादि कहा गया। इस श्रुति से ज्ञात होता है कि-जीवात्मा का प्राप्य आकार ही अनुसंधेय है।

उपलब्धिवत्—यथा ब्रह्मोपलब्धिर्विहिता, यथावस्थितब्रह्मस्वरूपविषया, तथात्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूप विषयेत्यर्थः। कर्मस्वात्मस्वरूपानुसंधानं कर्मांगम्" यजेत् स्वर्गकाम इति कर्मानुष्ठानमेव हि फलाय चोद्यते। देहातिरिक्तज्ञातृत्वाद्याकारात्मावगतिः कालांतरभाविफलसाधनकर्माधिकारार्थेति तावन्मात्रमेव तत्रोपेक्षितमिति न किंचिदपहीनम्।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि–ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ रूप से संभव है, वैसे ही आत्मोपलब्धि भी, आत्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ हो सकती है। कर्मानुष्ठान में. आत्मचिंतन कर्म का ही एक अंग है "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में शुद्ध कर्मानुष्ठान ही फलोत्पादन में विहित है। देहातिरिक्त ज्ञातृत्वादिविशिष्ट आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह कालान्तर में होने वाले, फल के उपाय स्वरूप कर्माधिकार की द्योतिका मात्र होती है, वहीं इसकी अपेक्षा रहती है

२२ **अंगावबद्धाधिकरणः**—

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३॥

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" लोकेषुपंचविधंसामोपासीत" उक्थमुक्थमिति वै प्रजावदंति तदिदमेवोक्थम इयमेव पृथ्वी "अयंवाव लोक एषोऽग्निचितः" इत्येवमाद्याः क्रत्वंगाश्रया उपासना भवंति, ताः कि यासु शाखासु श्रूयंते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासूद्गीथादिषु संबध्यंत इति विचारः। सर्ववेदांत प्रत्ययत्वे स्थितेऽपि प्रतिवेदं स्वरभेदादुद्गीथादयो भिद्यंते इति तत्र तत्र व्यवतिष्ठेरन्मिति युक्ता शंका कि युक्तम्? व्यवतिष्ठेरन्निति, कुतः? "उद्गीथमुपासीत" इति सामान्येनोद्गीथ संबंधितया श्रुतायास्तस्यामेवशाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्गीथविशेषस्य सन्निधानातस्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति एवमाद्यास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्निति।

"ओम इस अक्षर की उद्गीथ रूप से उपासना करो" "लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए" प्रजा जिसे उक्थ कहती है, वह उक्थ ही पृथ्वी है"यही लोक में 'अग्निचित् है" इत्यादि यज्ञांग उपासनायें हैं। प्रश्न होता है कि–ये जिन शाखाओं में कही गई हैं वहीं के लिए नियत है, अथवा सभी शाखाओं में उद्गीथ आदि में संबद्ध हैं? कह सकते हैं कि–जहाँ जहाँ वर्णन है वहीं नियत हैं। जैसे–"उद्गीथमुपासीत"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यादि में सामान्यतः उद्गीथ संबंधी उपासना सुनी जाती है, किसी शाखा में स्वरविशेष युक्त उद्गीथ विशेष का उल्लेख मिलता है। इसलिए ऐसी ही अन्यान्य उपासनायें भी अपनी अपनी शाखाओं में ही विशेष उपयुक्त हैं। उपासना का इसी में पर्यवसान उपयुक्त है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"अंगावबद्धास्तु" इति। तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नहि उद्गीथाद्यंगावबद्धा उपासनास्तास्वेव शाखासुव्यवतिष्ठेन्, अपितु प्रतिवेदं संबध्येरन् सर्वासु शाखास्वित्यर्थः। हि शब्दो हेतौ। यस्माच्छुत्यैवोद्गीथाद्यंगमात्रावबद्धा, तस्माद्यथोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र संबंध्येरन् यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथ व्यक्तयोभिद्यन्ते, तथापि सामान्येनोद्गीथ श्रुत्या सर्वाव्यक्तयः सन्निहिता इति न क्वचिद् व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः। अतः सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोः सन्निधानात् क्रत्वंगभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था।

इस पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से "अंगाववद्धास्तु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द शंका का समाधान करता है। उद्गीथ आदि उपासनायें केवल उन्हीं शाखाओं में ही युक्त नहीं हैं अपितु हर श्रुति से संबद्ध हैं अर्थात् सभी शाखाओं से सबद्ध हैं। जिन कारणों से श्रुति में इन्हे शाखामात्र से आबद्ध बतलाया गया है, उन्हीं कारणों से उद्गीथ को भी सभी शाखाओं से संबद्ध कहा गया है। यद्यपि स्वर भेद से प्रत्येक शाखा में उद्गीथ भिन्न भिन्न रूप से वर्णित है फिर भी सामान्य रूप से उद्गीथ नाम सभी शाखाओं में एक ही उपासना का वाचक है उपासना संबंधी व्यवस्था का कहीं कोई प्रमाण नहीं है। "सर्वशाखाप्रत्ययन्याय" से ज्ञात होता है कि—समस्त शाखों का यज्ञ एक है, सभी शाखाओं में एक ही यज्ञ के सानिध्य होने से, उसी यज्ञ की अंगरूप उद्गीथ आदि स्वतः ही वहाँ सन्निहित रहती हैं, इनकी शाखाओं में, कोई स्वतंत्र स्थिति तो रहती नहीं जिससे इनकी भिन्न व्यवस्था की जा सके।

ankurnagpal108@gmail.com

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ।३।३।५४॥

वा शब्दश्चार्थे, आदिशब्देन, जातिगुणसंख्यासादृश्यक्रमद्रव्य कर्माणि गृह्यंते, यथा मंत्रादीनामेकैकशाखास्वाम्नातानामपि शेषिणः क्रतोः सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं श्रुत्यादिभिः सर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते तद्वदिहाप्यविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द च अर्थ में प्रयुक्त है । आदि शब्द, जाति-गुण-संख्या-सादृश्य-क्रम-द्रव्य और कर्म का ग्राहक है । मंत्र आदि का जैसे शाखा विशेष में पठित होते हुए भी, उनके अंगी, प्रधान यज्ञ के, सभी शाखाओं में एक होने से उनका सभी शाखाओं में विनियोग करना विरुद्ध नहीं होता; वैसे ही यहाँ भी उक्त यज्ञांग उपासनाओं का कोई विरोध नहीं होता ।

२३—भूमज्यायस्त्वाधिकरणः—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।३।३।५५॥

"प्राचीनशाल औपमन्यवः" इत्यारभ्य वैश्वानरविद्या आम्नाता, तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यः श्रुतः स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवः, तत्र च द्यौर्मूर्धा, आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशः संदेहः मध्यकाय इत्यर्थः, आपो वस्तिः, पृथ्वीपादावित्यवयवविशेषाः । तत्र संशयः, किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम् उत व्यस्तस्य समस्तस्य च अथ समस्तस्यैवेति? किं युक्तम्? व्यस्तस्येति, कुतः? उपक्रमे व्यस्तोपासनोपदेशात् । तथाहि उपदिश्यते औपमन्यवादयः किलोद्दालकषष्ठाः केकयमश्वपतिमुपसद्य "आत्मानमेवेमंवैश्वानरं संप्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति पप्रच्छुः । स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् द्युप्रभृतीनुक्तवद्भ्यो मूर्धादिषु व्यस्तेषूपासनं तत्र तत्र फलं चोक्तवान् "अत्यन्नं

ankurnagpal108@gmail.com

पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते मूर्धात्वेष आत्मन इति एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः" इत्यादिना। तेषुतेषूपासनेषूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह। अतो व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम्।

"प्राचीनशाल" आदि में जो वैश्वानर उपासना का उपदेश है उसमें, वैश्वानर परमात्मा त्रैलोक्य शरीर वाला उपास्य कहा गया है। उसमें भी-द्यु लोक-आदित्य-वायु-आकाश-पृथ्वी आदि अवयव रूप से बतलाए गए हैं, द्यु लोक उनका मूर्धा, आदित्यनेत्र वायु प्राण, आकाश मध्य शरीर, जल कटि प्रदेश, पृथ्वी चरण स्थानीय है। इस पर संशय होता है कि-त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर के प्रत्येक अंग की पृथक् पृथक् उपासना करनी चाहिए अथवा अवयव और संपूर्ण देह दोनों की करनी चाहिये या केवल समस्तदेह ही की करनी चाहिए? कह सकते हैं कि-अलग अलग अंगों की ही करनी चाहिए, उपक्रम में ऐसा ही उपदेश दिया गया है। उद्दालक को लेकर उपमन्यु आदि छः व्यक्ति कैकेयाधिपति राजा अश्वपति के यहाँ गए और जिज्ञासा की कि-"इस समय केवल आप ही वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, हमें उसके स्वरूप का उपदेशकरिये" इसके बाद उन लोगों ने अपने अपने उपास्य द्यु लोक आदि का उल्लेख किया तब अश्वपति ने उन सब को उन अंगों की उपासना और उसका फल का माहात्म्य बतलाया "वे उपासक, अन्न का भोग करते हैं, प्रियदर्शन करते हैं, उनके वंश में ब्रह्म तेज संपन्न व्यक्ति जन्म लेते हैं, जो ऐसी वैश्वानर की उपासना करते हैं' इत्यादि से उन उपासनाओं में उपास्य, वैश्वानरत्व की ही सिद्धि की। इससे स्पष्ट होता है कि-अलग अलग उपासना ही करनी चाहिए।

परत्र "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-मुपास्ते" इति। द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य मूर्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगंतव्यं अपर आह-एवमेव समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात् "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वेषु भूतेषु स्ववेंष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति। न चैतावता वाक्यभेदः, यथा भूमविद्योपक्रमे नामाद्युपासनं तत्तत्फलंचाभिधाय "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इत्यादिना भूमविद्यामुपदिश्य "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति" इति तत्फलं च व्यपदिशति,तत्र भूमविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्यवान्तरोपासनं तत्तत्फलं चांगीक्रियते, तथा इहापीति।

दूसरी जगह "जो प्रदेशमात्र इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है" इत्यादि में द्युलोक आदि प्रदेश परिच्छिन्न वैश्वानर के संबंध में कही गई उपासना का संक्षेप में उपसंहार किया गया है दूसरा मत है कि-व्यष्टि की तरह समष्टि की भी उपासना करनी चाहिए। उसका पृथक् फल बतलाया गया है "जो व्यक्तिप्रादेश परिमित वैश्वानर की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे सभी लोकों में सभी प्राणियों में, सभी भूतों में अन्न भोग करते हैं।" इत्यादि, समस्त और व्यस्त उपासना मानने पर वाक्य भेद की संभावना भी नहीं है। जैसे कि–भूमाविद्या के प्रकरण में नाम आदि की स्वतंत्र उपासना और उसका फल बतलाने के बाद "जो सत्य-वादी है वही अतिवादी है" इत्यादि से भूमाविद्या का उपदेश करके "वे स्वच्छंद हो जाते हैं, सभी जगह उनकी यथेच्छ गति हो जाती है" इत्यादि से भूमा का स्वतंत्र फल भी बतला दिया गया है। जैसे उसमें भूमा के आनुषंगिक नाम आदि की पृथक उपासना और फल का उल्लेख है, वैसे ही यहाँ इस वैश्वानर विद्या में भी है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–भूम्नः, विपुलस्य समस्तस्यैव ज्यायस्त्वं, प्रामाणिकत्वमित्यर्थः, एकवाक्यत्वावगतेः। तथाहि "प्राचीनशाल औपमन्यवः', इत्युपक्रम्य "उद्दालको ह वै भगवंतो अयमारुणिसंप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हंताभ्यागच्छाम" इति वैश्वानरात्मबुभुत्सयौपमन्यवादयः पंच महर्षयः तमुद्दालक-मुपेत्य तत्रवैश्वानरात्मवेदनमलभमानास्तेन च सहाश्वपतिं केकयं वैश्वानरात्मवेदिनमुपसंगम्य "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि

ankurnagpal108@gmail.com

तमेव नो ब्रूहि" इति पृष्ट्वा तत्सकाशात् परमात्मानं वैश्वानरं स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तशरीरमुपास्यमवगम्य तत्फलं च सर्वलोक सर्वभूत सर्वात्माश्रभूतब्रह्मानुभवमवगतवन्त इत्युपसंहारतो वाक्य-स्यैकत्वमवगम्यते । एवमेक्यवाक्यत्वेऽवगते सत्यवयवविशेषेषू-पास्तिवचनं फलनिर्देशश्च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रमिति निश्चीयते ।

भूमा का तात्पर्य विपुलता अर्थात् समस्त से है, ज्यायता का तात्पर्य प्रामाणिकता अर्थात समस्त प्रसंग की एक वाक्यता है। जैसा कि "प्राचीन शाल" इत्यादि से प्रारंभकर "हे भगवान् अरुण पुत्र उद्दालक ही इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, हम उनके निकट ही गमन करें" इस प्रकार वे उपमन्यु आदि पाँचों ऋषि वैश्वानर विद्या की प्राप्ति की आशा से अरुणि के पास गए वहाँ भी वैश्वानर रहस्य को न पाकर उनके साथ महाश्वपति केकय के पास जाकर जिज्ञासा करते हैं कि— "इस समय वैश्वानर आत्मा को केवल आप ही जानते हैं, आप हमें उसका उपदेश दें" इसके बाद अश्वपति से स्वर्ग से पृथ्वी तक वैश्वानर शरीरी की उपास्यता समझ कर उसके फलस्वरूप, सर्वलोक, सर्वभूत सर्वात्मा का अन्न स्वरूप ब्रह्मानुभव भी किया। इस प्रकार समस्त प्रक-रण की एकवाक्यता है। एकवाक्यता के निश्चित किये जाने पर ही प्रधान अंगी वैश्वानर के अवयवों का पृथक् उपदेश और फल निर्देश किया गया है जोकि-समस्त वैश्वानर उपासना के एकांश का पुनरुल्लेख मात्र ही निश्चित होता है।

क्रतुवत–यथा–"वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत पुत्रे जाते" इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशाः "यदष्टाकपालोभवति" इत्यादि भिरनूद्यंते, तथा समस्तोपासनमेव न्याय्यम् न व्यस्तोपासनम्।

जैसे कि—"पुत्र के जन्म होने पर द्वादशकपालों में वैश्वानर यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में विहित यज्ञ विधिका "यदष्टाकपालो भवति" इत्यादि में–एकांश में अनुवाद मात्र ही किया गया है। वैसे ही उक्त

ankurnagpal108@gmail.com

बात भी है। इसलिए समस्त उपासना ही न्याय्य है व्यस्त उपासना नहीं।

तथाहि दर्शतीयं श्रुतिः व्यस्तोपासने अनर्थं ब्रुवती—"मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" इति "अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः" इत्यादिका। अत इदमप्यपास्तं यन्नामाद्युपासन साम्यमुक्तम्। तत्र हि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न श्रुतः, नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं श्रुतम् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" इति। तत एव तत्र भूमाविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्वं, अन्यथाऽतिशयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविद्यास्तुत्यनुपपत्तेः, अतः समस्तोपासनमेव न्यायम्।

श्रुति भी व्यस्तोपासना की अनिष्टता बतलाती है—"यदि तुम मेरे निकट न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता" यदि तुम न आते तो अंधे हो जाते" इत्यादि। नाम आदि उपासना के साथ साम्य कहा गया है, यह कथन भी उक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है वहाँ जो नाम आदि की उपासना कही गई है, उसका कोई अनिष्ट फल नहीं बतलाया गया है, नाम आदि उपासना के बजाय भूमा उपासना के फलाधिकार का उल्लेख मिलता है। जैसे की—"जो सत्य बोलते हैं वे अतिवादी हैं" भूमा विद्या के प्रतिपादक वाक्य से, नामादि की उपासना और उसका फल विवक्षित है। अन्यथा अतिशयित फल बतलाने वाला अतिवादी वाक्य भूमा विद्या का स्तुत्यवाक्य नहीं हो सकता। इसलिए समस्तोपासना ही न्याय है।

२४. शब्दादिभेदाधिकरणः—

नाना शब्दादिभेदात्।३।३।५६॥

इह ब्रह्मविद्याः सर्वाः ब्रह्मप्राप्तेकरूपमोक्षैकफलाः सद्विद्या-

ankurnagpal108@gmail.com

भूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशांडिल्यविद्यावैश्वानरविद्यानंदमय-विद्याक्षरविद्यादिकाएकशाखागता:शाखांतरगताश्चोदाहरणम्,अन्या: प्राणाद्येकविषयफलाश्च। किमत्र विद्यैक्यम् उत विद्याभेद इति संशय्यते? अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थिते सति एकस्या दहरविद्यादिकाया: सर्ववेदांतप्रत्ययन्याय:। किं युक्तम् विद्यैक्यमिति, कुत:? वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्, वेद्यं हि विद्याया रूपम्, अतोरूपैक्यात् विद्यैक्यमिति।

सद्विद्या–भूमाविद्या–दहरविद्या–उपकोसलविद्या–शांडिल्यविद्या–वैश्वानरविद्या–आनंदमयविद्या–अक्षरविद्या आदि सभी विद्याओं का एकमात्र फल, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष ही है। ये विद्यायें चाहे एक शाखागत हों या विभिन्न शाखागत हों, इस सूत्र में सभी पर विचार किया जायेगा। एक विषयक और एक फल वाली प्राण आदि पर भी विचार प्रस्तुत करेंगे। संशय करते हैं कि–ये विद्यायें एक हैं या भिन्न? इनके परस्पर भेद का समर्थन होने से, दहर विद्या आदि प्रत्येक का सर्ववेदांत प्रत्यय ही न्याय्य है। कह सकते हैं कि–विद्यायें सब एक हैं, क्योंकि सबका उपास्य एक है, वेद्य ही तो विद्या का रूप होता है, इसलिए वेद्यैक्य होने से विद्यैक्य होगा।

सिद्धान्त:—एवं प्राप्तेऽभिधीयते–नाना इति। नानाभूता विद्या:, कुत:? शब्दादिभेदात्–आदिशब्देनाभ्याससंख्यागुणप्रक्रिया नामधेयानि गृह्यन्ते, शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबंध भेदा: दृश्यन्ते, यद्यपि वेदोपासीत्येत्यादय: शब्दा: प्रत्ययावृत्यभिधायिन:, प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषया:, तथापि तत्प्रकरणोदित जगदेक-कारणत्वापहतपाप्मत्वादिविशेषणविशिष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्यबोधिन: प्रत्ययावृत्तिरूपा: विद्या भिन्दंति। ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसंबंध्युपासनविशेषाभिधायीनि न निराकांक्षाणि वाक्यानि प्रति–प्रकरणंविलक्षणविद्याभिधायीनीति निश्चीयते। अस्मिन्नर्थे–

ankurnagpal108@gmail.com

"शब्दान्तरे कर्म भेदः" इत्यादिभिः पूर्वकांडोदितैः सूत्रैः सिद्धेऽपि पुनरिह प्रतिपादनं वेदांतवाक्यानि अविधेयज्ञानपराणीति कुदृष्टि निरसनाय। अतो विद्याभेद इति स्थितम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "नाना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं विद्यायें भिन्न हैं, इनमें नामों का ही भेद है सूत्र में आदि शब्द से अभ्यास-संख्या-गुण-प्रक्रिया-नाम आदि अभिधेय हैं। शब्द भेद आदि के कारण, उपास्य के भेद के ग्राहक, अनुबंध का भी भेद देखा जाता है। यद्यपि "वेद" उपासीत" आदि शब्द ज्ञानात्मक उपासना की पौनः पुन्यता के ही बोधक हैं। तथा-प्रत्यय भी ब्रह्म विषयक ही हैं, फिर भी विभिन्न प्रकरणों में कहे गए जगदेककारणता, निष्पापता आदि विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म विषयक, ज्ञानानुशीलन बोधक, ज्ञानवृत्ति स्वरूप वाक्य, विद्या में भेद कर देते हैं। ब्रह्म प्राप्ति रूप फल के संपादक, उपासना के बोधक, वाक्य प्रत्येक प्रकरण में, निराकांक्ष रूप से वर्णित हैं इसलिए प्रति प्रकरण में, एक विलक्षण विद्या की प्रतीति कराते हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड के "शब्द से कर्म भेद होता है" इस सूत्र से उक्त विषय सिद्धान्त रूप से निर्णीत हो जाता है, फिर भी वेदांत वाक्यों में भिन्न विधि का विधान नहीं मिलता। इसलिए उक्त प्रसंग को उठाया गया, जिससे उक्त विषय में जो भ्रामक दृष्टिकोण है, वह ठीक हो जाय। इसलिये विद्याभेद ही निश्चित होता है।

२५. विकल्पाधिकरणः—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्।३।३।५७॥

ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्यादीनां नानात्वमुक्तम्, इदानीमासांविद्यानामेकस्मिन् पुरुषे प्रयोजनवत्वेन समुच्चयोऽपि संभवति। उत प्रयोजनाभावाद् विकल्प एव? इति विशये किं युक्तम्? समुच्चयोऽपि संभवतीति, कुतः? एकफलानां भिन्नशास्त्रार्थानपि समुच्चयदर्शनात्। दृश्यते हि एकस्यैव स्वर्गादिः

ankurnagpal108@gmail.com

साधनानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां तस्यैव स्वर्गस्य भूयस्त्वापेक्षयैकत्र पुरुषे समुच्चयः, एवमिहापि ब्रह्मानुभवभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि संभवतीति।

ब्रह्म प्राप्ति रूप फलवाली सद्विद्यादहरविद्या आदि की भिन्नता बतला दी गई। अब संशय होता है कि-एक ही पुरुष के लिए, इन विद्याओं के अनुष्ठान का प्रयोजन है या नहीं ? यदि सब के अनुष्ठान का प्रयोजन नहीं है तो एक ही विद्या की साधना से कार्य चल जावेगा। कह सकते हैं कि-सभी उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि-भिन्न शास्त्र वाक्यों में सभी उपासनाओं का एक ही फल बतलाया गया है। जैसे कि-एक ही स्वर्गादि फल के साधन अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों का अनुष्ठान, फल प्राप्ति के लिए करते देखा जाता है। वैसे ही ब्रह्मानुभूतिरूप फल की प्राप्ति के लिए सभी उपासनाओं का अनुष्ठान कर्त्तव्य हो सकता है।

सिद्धान्तः---एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-विकल्प एव-न समुच्चयः संभवतीति। कुतः ? अविशिष्टफलत्वात्-सर्वासां हि ब्रह्मविद्यानामनवधिकातिशयानंद ब्रह्मानुभवः फलमविशिष्ट श्रूयते "ब्रह्मविदाप्नोति परम् "स एको ब्रह्मण आनंदः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिभ्यः। ब्रह्म हि स्वस्य परस्य च स्वयमनुभूयमानमनवाधिकातिशयानंन्दं भवति। स च तादृशो ब्रह्मानुभव एकयाविद्ययाऽवाप्यते चेत्-किमन्ययेति न समुच्चय संभवः स्वर्गादे हि देशतः कालतःस्वरूपतश्च परिमितत्वेन तत्र देशाद्यपेक्षया भूयस्त्वसंभवात्तदर्थिनः समुच्चयः संभववि, इह तु तद्विपरीत स्वरूपे ब्रह्मणि तन्न संभवति। सर्वाश्च विद्याः ब्रह्मानुभवविरोध्यनादि कर्मविद्यानिरसन मुखेन ब्रह्मप्राप्तिफला इत्यविशिष्टफलत्वात् सर्वासां विकल्प एव।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-किसी एक के ही अनुष्ठान का विधान है, सबके अनुष्ठान का नहीं। सभी उपासनाओं का एकसा ही फल होता है, अर्थात् सभी ब्रह्मविद्याओं का अत्यधिक आनंदब्रह्मानुभव रूप फल, सामान्य रूप से बतलाया गया है। "ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है" वह ब्रह्मज्ञ और निष्काम श्रोत्रिय का आनंद है "दिव्यदर्शी पुरुष जब, सुवर्णवर्ण वाले जगत्कर्त्ता और वेद प्रसू पुरुष जगदीश्वर को देख लेता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप से छूटकर निर्दोष होकर, अनिर्वचनीय सर्वोत्तम ब्रह्म की समता प्राप्त करता है।" इत्यादि ब्रह्म स्वयं या दूसरे के द्वारा अनुभूत होने पर अतिशय आनंद प्रदान करता है। उसका वैसा अनुभव जब एक ही विद्या के अनुष्ठान से हो जाता है तो अनेक विद्याओं की उपासना की आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध होता है कि–सभी की उपासना संभव नहीं है। स्वर्ग आदि तो देश काल स्वरूप से परिमित हैं, इसलिए देश कालादि की तरह उनमें वृद्धि ह्रास भी संभव हैं, इसलिए अनेक कर्मानुष्ठानों की आवश्यकता होती है, किन्तु अपरिमित ब्रह्म में तो वैसी संभावना नहीं है। जब सभी विद्यायें, ब्रह्मानुभूति के प्रतिबंधक अज्ञान का निवारण कर ब्रह्मप्राप्ति कराती हैं तो सभी की उपासना के अनुष्ठान का प्रयोजन ही क्या है? अपितु किसी एक के अनुष्ठान से ही फलावाप्ति हो जायगी।

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाविद्याः स्वर्गादिफलकर्मवद् यथेष्टं विकल्पेरन्, समुच्चीयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षाविभवात्। तदाह—

जो विद्यायें, ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न काम्यफल की साधिका हैं, वह तो इच्छानुसार समुच्चय रूप से या वैकल्पिक रूप से अनुष्ठेय हो सकती हैं क्यों कि–उनका तो परिमित फल होता है, अतः उनमें बाहुल्य भी अपेक्षित हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्।३।३।५८॥

अपरिमित फलत्वाभावादित्यर्थः।

ankurnagpal108@gmail.com

काम्य विद्याओं का अनुष्ठान, समुच्चय या विकल्प किसी भी प्रकार किया जा सकता है, क्यों कि इनके अनुष्ठान में अपरिमित फलता का अभाव रहता है। अर्थात् अधिक फल की इच्छा हो तो समुच्चयानुष्ठान करना चाहिए अन्यथा वैकल्पिक करना चाहिए।

२६. यथाश्रयभावाधिकरणः—

अंगेषु यथाश्रयभावः ।३।३।५६।।

उद्गीथादिक्रत्वंगेष्वाश्रिताः "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादिका विद्याः किमुद्गीथादिवत् क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः, उतगोदोहनादिवत् पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये, नियमेनोपादेयाः, इति युक्तम्।

उद्गीथ आदि, यज्ञांगाश्रित अनेक विद्यायें हैं, संशय होता है कि—उद्गीथ की तरह, वो सब भी, यज्ञोपकारक रूप से प्रत्येक यज्ञ में ग्राह्य होंगी, अथवा गोदोहनन्याय की तरह, इच्छानुसार ग्राह्य होंगी? इस पर कहते हैं कि—सभी में ग्राह्य करना ही युक्ति संगत है।

ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबंधः फलम्" इत्यत्र। सत्यम्—तदेव दृढयितुं कैश्चिल्लिंगदर्शनैः युक्तया चाक्षिप्यते। तत्र हि—"तेनोभौ कुरुतः इत्यनियम दर्शनात् पृथक्फलत्वमुक्तम्, उपासनाश्रयभूतोद्गीथादिवदुपासनानामप्यंगतयोपादाननियमे बहवो हेतव उपलभ्यंते नहि अत्र "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत"इत्यादिवदुपासना विधिवाक्येफलसंबंधः श्रूयते। "उद्गीथमुपासीत्" इत्युद्गीथादिसंबंधितयैवोपासनं प्रतीयते।

जब "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र में बतला चुके हैं कि—पुरुषार्थ साधन में, सभी विद्याओं का साधन नियमित नहीं है, तब उक्त बात

ankurnagpal108@gmail.com

कैसे संभव ? ऐसा संशय करना ठीक ही है, अब उसी बात को दृढ़ करने के लिए, विरुद्ध तर्क उपस्थित करके आक्षेप कर रहे हैं। उक्त सूत्रों में तो केवल "तेनोभौ कुरुतः" इस श्रुति की सहायता से, उपासना का अनियम बतलाते हुए, पृथक् फलता का निर्णय किया गया है। परन्तु इस प्रसंग में तो– उपासना की आश्रय उद्गीथ आदि की तरह जब, अन्य उपासनायें भी अंगमात्र ही हैं तब उनको ग्रहण करने में अनेक हेतु मिलते हैं। "पशुसमृद्धि की कामना से गोदोहन करके चरुपाक करना चाहिये" इत्यादि में जैसा काम्य पशु रूप फल विशेष का निर्देश है, वैसी यहाँ तो किसी विशेष फल के निर्देश की बात है नहीं। "उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में उद्गीथ संबंधी उपासना ही प्रतीत होती है।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इति वर्त्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद हि फलसंबंधो ज्ञायते, स्ववाक्येनै वाव्यभिचरितक्रतुसंबंध्युद्गीथादिसंबंधेन निर्ज्ञातक्रत्वंगभावस्य वाक्यांतरस्थवर्त्तमानफलसंबंधनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात् अपापश्लोक श्रवणादिवत्। अतो यथोद्गीथादय उपासनाश्रयाः क्रत्वंगतया प्रयोग विधिना नियमेनोपादीयन्ते, यथातदाश्रिताश्चोपासनास्तन्मुखेन क्रत्वंगभूता इति नियमेनोपादेया एव।

"श्रद्धा और विज्ञान के साथ जो विद्या का अनुष्ठान करता है वही प्रबलतम होता है" वर्त्तमानता मात्र के बोधक इस अन्य वाक्य से भी, उपासना की सफलता ज्ञात होती है, इसलिए उपासना विधायक वाक्य में, केवल यज्ञ संबंधी उल्लेख होने से ही उपासना की यज्ञांगता ज्ञात होती है, अन्य वाक्यों में जो वर्तमान कालीन फल संबंधी उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही, अपापश्लोक श्रवण की तरह अर्थवाद मात्र है। उद्-गीथ उपासना के आश्रय, उद्गीथ आदि जैसे–प्रयोग विधि के अनुसार नियमित यज्ञांग माने जाते हैं, वैसे ही, तदाश्रित उपासनायें भी नियमित रूप से यज्ञांग हैं।

शिष्टेश्च ।३।३।६०॥

शिष्टिः शासनं, विधानमित्यर्थः। "उदगीथमुपासीत्"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्युद्गीथांगतयोपासनविधानाच्चोपादान नियमः । "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवद्विधिवाक्येऽधिकारान्तराश्रवणादुद्गीथांग भाव एव हि विधेय इति गम्यते ।

शिष्टि अर्थात् शासन या विधान से भी उपासना के नियम की सिद्धि होती है । "उद्गीथमुपासीत्" श्रुति में उद्गीथांगरूप से उपासना का विधान बतलाया गया है । "पशु की कामना से गोदोहन द्वारा चरु प्रस्तुत करना चाहिए" इत्यादि में जैसे अन्य क्रिया के अधिकारी से संबंधित गोदोहनाधिकार कहा गया है, वैसा यहाँ तो है नहीं, इससे निश्चित होता है कि— उक्त उपासना, उद्गीथांग रूप से ही विधेय है ।

समाहारात् ।३।३।६१।।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" इत्युपासनस्य समाहार नियमो दृश्यते । दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथं । वेदनहानावन्येन समाधानं ब्रुवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ।

"होतृ षदन से दुरुद्गीथ को परिपूर्ण करता है" इत्यादि श्रुति से उपासना के ग्रहण की आवश्यकता परिलक्षित होती है । दुरुद्गीथ का तात्पर्य है; उपासना विहीन उद्गीथ । उक्त श्रुति में उपासना के अभाव में, अन्य के द्वारा भी परिपूर्ण करने का उपदेश देकर, उस उपासना की अवश्यग्रहणीयता दिखलाई गई है ।

गुणसाधारण्य श्रुतेश्च ।३।३।६२।।

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य "तेनेयंत्रयी विद्या वर्त्तते, ओमित्याश्रवत्योमितिशंसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनसमाहारो गम्यते । "तेन" इति प्रकृतिपरामर्शात् सोपासन एव प्रणवः सर्वत्र संचरति । अत उपासनस्य प्रणवसहभाव नियमदर्शनाच्चोद्गीथाद्युपासनामुद्गीथादिवन्नियमेनोपादानम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

"उसके द्वारा ही ये वेद विद्या प्रवृत्त होती है, जो ॐ कहकर ही हो सुनता है, ॐ कहकर ही प्रशंसा करता है, ॐ कहकर ही उद्गान करता है" इत्यादि में—उपासना के आश्रय रूप प्रणव का समानाधिकरण्य दिखलाया गया है जिससे उपासना की अनुवृत्ति ज्ञात होती है। वाक्य के "तेन" पद से, प्रस्तावित विषय से संबद्ध उपासना के साथ प्रणव की सर्वत्र अनुवृत्ति ज्ञात होती है, केवल प्रणव की ही नहीं। प्रणव सहित उपासना साहचर्य के नियम से ज्ञात होता है कि-उद्गीथ आदि की तरह उपासना का भी हर जगह ग्रहण होगा।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते---

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः।३।३।६३॥

न चैतदस्ति, यदुद्गीथाद्युपासनानां क्रतुषूद्गीथादिवदुपादान नियमः, इति। कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः, उद्गीथांग भावाश्रुतेरित्यर्थः। अंग भावे हि सहभाव नियमो भवति। यद्यपि "उद्गीथमुपासीत" इत्यस्मिन् पद समुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते तथाऽपि तदनंतरमेव "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाःक्रतु वीर्यवत्तरत्वं प्रतिसाधनभावः प्रतिपाद्यते। तेन क्रतुफलात्पृथगभूत फलसाधनभूता विद्या "उद्गीथमुपासीत" इति कर्त्तव्यितया विधीयते। क्रतुफलात् पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगतस्योपासनस्य क्रत्वंगभूतोद्गीथांगतया विनियोगो नोपपद्यते। अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्निहित उद्गीथ आश्रयमात्रं भवति।

यज्ञ में उद्गीथ आदि क्रिया का जैसा अवश्य ग्रहणीयता का नियम है, उद्गीथ आदि उपासना में भी, वैसा नियम नहीं है। ऐसी कोई सत् सहभाव वाली श्रुति नहीं मिलती, अर्थात्-उपासना भी,

ankurnagpal108@gmail.com

उद्‌गीथ आदि की तरह यज्ञांग है, ऐसी कोई श्रुति नहीं मिलती। अंग भाव होने पर ही सहभाव का नियम होता है। यद्यपि "उद्‌गीथमुपासीत' वाक्य में अन्य किसी का अधिकार प्रतीत नहीं होता, फिर भी इस वाक्य के बाद ही "विद्यापूर्वक जो कुछ किया जाता है, वही बलवत्तर होता हैं" इस वाक्य में, विद्या को, यज्ञ से अधिक बलवती रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—उद्‌गीथमुपासीत्" इत्यादि श्रुति में यज्ञ फल से विशेष अधिक फल साधन के लिए, विद्या की कर्त्तव्यता बतलाई गई है। यज्ञ फल से भिन्न ही साधक रूप से जब उपासना की प्रतीति होती है, तब उदगीथांग रूप से उस उपासना का प्रयोग कदापि संगत नहीं हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि—उपासना मात्र, एक आश्रय की अपेक्षा करती है, उद्‌गीथ उपासना में भी एक आश्रय आवश्यक है। सन्निहित उद्‌गीथ ही उपासना मात्र का आश्रय स्थानीय सिद्ध होता है।

उद्‌गीथश्च क्रत्वंगभूत इति क्रतुप्रयुक्तोद्‌गीथाद्याश्रये उपासने क्रत्वाधिकारिण एव क्रतोवीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिदमधिकारान्तरमिति न क्रतुषु तदुपादाननियमः। वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफलस्य प्रबलकर्मान्तरफलेनाप्रतिबंधं इत्युक्तम्। क्रतोरविलंबितफलत्वमित्यर्थः। पर्णतादीनां तु "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापश्लोक श्रवणादिफलं प्रतिसाक्षात्साधनभावो न श्रुत इति क्रत्वंगभूतजुह्वाद्यंगतया विनियोगाविरोधात्तदंगभूतानां फलांतरसाधनभावकल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलश्रुतिरर्थवादमात्रं स्यात्।

उद्‌गीथ, यज्ञ का अंगरूप है, यज्ञ में जिसका अधिकार है उद्‌गीथ साधना में भी उसी का अधिकार है, किन्तु उद्‌गीथ आश्रित उपासना में, अधिकार का कोई नियम नहीं है। यज्ञ का अधिकारी पुरुष यदि चाहे कि, मेरा यज्ञ अधिक बलवत्तर हो ऐसी इच्छा करने पर ही वह उपासना का अधिकारी हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। उद्‌गीथ और उपासना दोनों का एक ही—अधिकारी नहीं हो सकता, ऐसी अधिकार की पृथकता

ankurnagpal108@gmail.com

के आधार पर, उद्गीथ आदि की उपासना की अवश्यकर्त्तव्यता की व्यवस्था नहीं की जा सकती। अन्य किसी प्रबल कर्म फल के द्वारा, उपस्थित कर्मफल में बाधा न होना ही" प्रबलता है, अर्थात् अनुष्ठित यज्ञ फल की प्राप्ति में विलम्ब न होना ही प्रबलता है। यज्ञांग "जुहू" की पर्णमयता के साथ विद्या की समता नहीं की जा सकती क्योंकि—"यदेव विद्यया करोति" इत्यादि वाक्य से जैसी प्रबलता रूप पृथक् फलसाधनता बतलाई गई है, जुहू की पर्णमयता में वैसी, पापश्लोक श्रवणाभाव के फलस्वरूप कोई विशेषता नहीं कही गयी है। यज्ञांग जुहू की पर्णमयता के विनियोग में किसी प्रकार की बाधा न होने से, फलान्तर साधनता की कल्पना करना संभव नहीं है। इसलिए उक्त फल श्रुति को अर्थवाद मानना चाहिए।

दर्शनाच्च ।३।३।६४।।

दर्शयति च श्रुतिरुपासनोपादानानियमम् "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" इति ब्रह्मणो वेदनेन सर्वेषां रक्षणं ब्रुवती। उद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमे सत्येतदुपपद्यते। अनेन लिंगेन पूर्वोक्तानां समाहारादिलिंगानां प्रायिकत्वमवगम्यते। अतोऽनियम एवेति स्थितम्।

"ऐसा ज्ञान संपन्न ब्रह्मा ही, यज्ञ यजमान और समस्त होताओं की सब प्रकार से रक्षा करता है" इत्यादि श्रुति ब्रह्म ज्ञान से ही सब की रक्षा बतलाती है। इससे उद्गाता आदि के ज्ञान के अनियम की प्रतीति होती है, ऐसा मानने से ही उक्त प्रसंग की संगति हो सकती है। इस हेतु वाक्य से ज्ञात होता है कि—पहिले जो समाहार आदि हेतु बतलाए गए हैं, वे प्रायिक मात्र हैं आवश्यक नहीं हैं। इससे अनियम का सिद्धान्त स्थिर होता है।

तृतीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

तृतीय-अध्याय

चतुर्थ पाद

१ पुरुषार्थाधिकरण:-

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१॥

गुणोपसंहारानुपसंहारफला विद्यैक्यत्व नानात्व चिन्ताकृता। इदानीं विद्यातः पुरुषार्थः, उत विद्यांगकारकर्मणः इति चिन्त्यते। किं युक्तम्? अतः विद्यातः पुरुषार्थ, इति भगवान बादरायणो मन्यते, कुतः? शब्दात्-दृश्यते हि औपनिषदः शब्दो विद्यातः पुरुषार्थं ब्रुवन "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात। तमेवं विद्वानमृतइह भवति। नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।" यथा नद्यः स्यन्दमानः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथाविद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्यादि।

उपास्य गुणों का उपसंहार कैसे किया जा सकता है कैसे नहीं, इसके निरूपण के लिए तृतीय पाद में विद्या की एकता और भिन्नता के विषय में विचार किया गया। अब विचार किया जाता है कि-विद्या से पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है अथवा विद्यांग कर्म से होता है? विद्या से पुरुषार्थ होता है-ऐसा भगवान बादरायण का मत, शास्त्र के आधार पर है। उपनिषदों के वचन विद्या से पुरुषार्थ का उल्लेख करतेहैं-"ब्रह्मविद ही परमतत्त्व प्राप्त करते हैं" तम अज्ञान)से अतीत आदित्यवर्ण (ज्योतिर्वर्ण) इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ, उसे जो जानता है वह इस लोक में अमृत हो जाता, है मुक्ति लाभ का और कोई उपाय नहीं है "बहती हुई नदियाँ जैसे नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी, नामरूप को छोड़कर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं" इत्यादि।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते

इस पर पूर्वपक्ष वाले उपस्थित होते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।।

नैतदेवम्—यद्विद्यातः पुरुषार्थावाप्तिः शब्दावगम्यते—इति । न ह्येषः "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"इत्यादि शब्दो वेदनात् पुरुषार्थावाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्यात्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादनपरत्वात् । अतः कर्त्तुः संस्कार द्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र फलश्रुतिः अर्थवादमात्रम्, यथाऽन्येषु द्रव्यादिषु—इति जैमिनिराचार्यो मन्यते तदुक्तं द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।"

शास्त्रों में जो विद्या से पुरुषार्थ प्राप्ति की बात कही गई है, वह उक्त प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा आप समझ रहे हैं। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वचन उपासना से पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं बतलाते अपितु, कर्म कर्त्ता द्वारा किए गए आत्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से-पुरुषार्थ प्राप्ति बतलाते हैं । कर्त्ता के संस्कार के द्वारा जब विद्या,यज्ञांग रूपहै तब विद्या साध्य मोक्ष प्राप्ति की प्रशंसा, केवल अर्थवाद मात्र है, जैसे कि–अन्यशास्त्रीय फल श्रुतियाँ अर्थवाद हैं । ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ; वे कहते हैं कि–"यज्ञीयद्रव्यगुण और संस्कार रूप कर्मों के विषय में जो फल श्रुति है, वह परार्थ होने से अर्थवाद मात्र है"

ननु च कर्मसु कर्त्तृजीवादन्यो मुमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदांतेषु वेद्य उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितम् "नेतरोऽनुपपत्तेः" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्" इत्येवमादिभिः सूत्रैः, तदेव ब्रह्म तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्येन जीवादनतिरिक्तमित्येतदपि "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्येवमादिभिर्निरस्तम् सामानाधिकरण्य निर्देशश्च "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वंखल्विथं ब्रह्म "इति चेतनाचेतन साधारण:" य: पृथिव्यां तिष्ठन् "य आत्मनितिष्ठन् इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबंधन इति-"अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:"इत्यादिभिरुपपादितं, तत्कथंकर्मसु कर्त्तुरात्मनो याथात्म्योपदेशपरा वेदांत शब्दा इति विद्याया: कर्मांगत्वं प्रतिपाद्यते ?

(वाद) वेदांत शास्त्र, कर्त्ता जीव से पृथक् पदार्थ को ही, मुमुक्षुओं के लिए पुरुषार्थ बतलाते हैं, ऐसा 'नेतरोऽनुपपत्ते:" भेदव्यपदेशाच्च "अनुपपत्तेस्तु न शारीर:" इतरपरामर्शात्" इत्यादि सूत्रों में विवेचन हो चुका है। इसके बाद अभेद सूचक "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य के अनुसार, ब्रह्म से जीव की अनतिरिक्तता या जीवस्वरूपता की संभावना का भी "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" आदि सूत्रों में निराकरण हो चुका है। तथा "यह सब आत्म्य है" सब कुछ ब्रह्म है' इत्यादि से जड़चेतन की ब्रह्मता एवं "जो पृथ्वी में स्थित है "जो आत्मा में स्थित है" इत्यादि-से उन उन आकारों में आत्मरूप से अभेद बोधक स्थिति सामानाधिकरण्य के निर्देश के रूप में "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न:" इत्यादि सूत्र में बतलाई गई। तब यहाँ-कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीव के यथार्थ स्वरूप के उपदेश में वेदांत वाक्यों का तात्पर्य बतलाते हुए, विद्या की कर्मांगता का कैसे प्रतिपादन करते हो ?

उच्यते-वेदांतवाक्येष्वेव विद्याया: कर्म प्राधान्यंसूचयद्भिर्लिंगै: तदुपवृंहित सामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदांतशब्दा: देहातिरिक्त जीव स्वरूपयाथात्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनोयमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्राय: ।

इसका उत्तर पूर्वपक्षवाले देते हैं कि-वेदांत वाक्यों में ही विद्या की कर्म प्रधानता को बतलाने वाले लिंग (चिन्ह) हैं, जिनसे कर्म की अपेक्षा विद्या की प्रधानता सूचित होती है, तथा सामानाधिकरण्य के निर्देश से अनिच्छा होते हुए भी स्वीकारना पड़ता है कि-देहातिरिक्त जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करना ही वेदांत वाक्यों का मुख्य तात्पर्य है।

ankurnagpal108@gmail.com

ननु च कर्त्तुसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रत्वनुप्रवेशो न शक्यते वक्तुं लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाव्यभिचरित क्रतुसंबंधित्वात् ।

(वाद) यज्ञादि कर्त्ता जैसे वेदोक्त क्रिया का निर्वाह करता है वैसे ही व्यावहारिक क्रिया का भी निर्वाह करता है; यज्ञ के ही साथ उसका अव्यभिचारी संबंध नहीं रहता। इसलिए यह नहीं कह सकते कि कर्त्ता की संस्कार रूप विद्या, यज्ञांग है।

नैवम्—लौकिकस्य कर्मणः कर्त्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽप्युपपत्तेर्देहातिरिक्तनित्यात्मस्वरूपस्य क्रतावेवोपयोगात्तत्स्वपप्रतिपादनमुखेन क्रत्वनुप्रवेशो न विरुध्यते। अतो विद्यायाः क्रतुशेषत्वान्नातः पुरुषार्थः।

(विवाद) उक्त आपत्ति भ्रामक है; जीवात्मा देह वाला होकर ही, लौकिक क्रिया का कर्त्ता हो सकता है किंतु आत्मा में जब तक नित्य बुद्धि नहीं होगी तब तक, उसकी पारलौकिक फलसाधक वेदोक्त क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यज्ञादि क्रियाओं में-देह से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होना आवश्यक है। इस प्रकार के विवेचन से, यज्ञान्तर्भाव माना जा सकता है। इससे यह निश्चित होता है कि-यज्ञांग होते हुए भी विद्या से पुरुषार्थ सिद्धि नहीं हो सकती।

कानिपुनस्तानि लिंगानि, यदुपवृंहितसामानाधिकरण्य निर्देशेन वेदांतशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णीयन्ते। तत्राह—

वे लिंग कौन से हैं, जिनसे वेदांत वाक्यों की जीवस्वरूप परकता अवधारित होती है? उसी का उत्तर देते हैं—

आचार दर्शनात् ।३।४।३॥

ब्रह्मविदांप्राधान्येन कर्मस्वेवाचारो दृश्यते अश्वपतिः केकयः किल आत्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानृषीन् प्रत्याह—"यक्ष्यमाणो

ankurnagpal108@gmail.com

ह वै भगवंतोऽहमस्मि" इति। तथा जनकादयो ब्रह्मविदग्रेसराः किर्मनिष्ठाः स्मृतिषु दृश्यंते "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः "इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः" इति। अन्ये ब्रह्मविदां कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्तृस्वरूपवेदन रूपत्वेन कर्मांगत्वमेवेति न विद्यातः पुरुषार्थः।

ब्रह्म वेत्ताओं के आचार में, कर्म की ही प्रधानता देखी जाती है, आत्म तत्त्वेच्छ ऋषियों से कहते हैं-"भगवन्! मैं इस समय यज्ञानुष्ठान में संलग्न हूँ।" इसी प्रकार ब्रह्म वेत्ताओं में अग्रगण्य जनक आदि को भी, स्मृतियों में कर्मनिष्ठ बतलाया गया है "जनक आदि ने कर्म से संसिद्धि प्राप्त की" ज्ञाननिष्ठ होते हुए भी उन्होने अनेक यज्ञ किए" इत्यादि। ब्रह्म वेत्ताओं में भी कर्म की स्वरूपानुभूति रूप विद्या, कर्मांग ही है. विद्या से पुरुषार्थ असंभव है।

लिंगमिदं, प्राप्तिरुच्यतामित्यत्राह—

जो विद्या की कर्मांगता बतलावे वही लिंग है, अब उसके उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।।

श्रुतिरेव हि विद्यायाः कर्मांगत्वमाह—"यदेव विद्यया करोति श्रदोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति। नेयं श्रुतिः प्रकरणादुद्गीथमात्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्याः विद्यामात्र विषया हीयं श्रुतिः।

श्रुति में ही विद्या की कर्मांगता दिखलाई गई है-"विद्या, श्रद्धा और ज्ञान के सहयोग से जो कर्म किया जाता है वही प्रबलतम होता है" उदगीथ प्रकरण में पठित होने से यह श्रुति केवल उद्गीथ से ही संबद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते, प्रकरण से श्रुति अधिक बलवती होती है "यदेव विद्यया करोति" श्रुति विद्यामात्र की विषय है, केवल उद्गीथ की ही नहीं।

ankurnagpal108@gmail.com

समन्वारम्भरणात् ।३।४।५॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यं च दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्मांगत्वे सत्येव भवति ।

"विद्या और कर्म व्यक्ति का अनुगमन करते हैं" इत्यादि श्रुति में विद्या और कर्म का साहचर्य दीखता है। इस साहचर्य के वर्णन से भी विद्या की कर्मांगता सिद्ध होती है ।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६॥

विद्यावतः कर्म विधानात् विद्या कर्मांगत्वमित्यनगम्यते "आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्यकुटुंबे शुचौदेशे" इत्यादौ। "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधदर्थावबोधपर्यन्ताध्ययनवत् एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यन्तं हि अध्ययनमिति स्थापितम् अतो ब्रह्मविद्याऽपि कर्मसु विनियुक्ते ति न पृथक् फलायावकल्पते ।

"आचार्य कुल से विधि पूर्वक वेद पढ़कर-गुरु संबंधी कर्त्तव्य कर्मों को समाप्त कर पवित्र कुटुम्ब में प्रवेश करता है" इत्यादि में विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए कर्म का विधान बतलाया गया है-जिससे विद्या की कर्मांगत सिद्ध होती है। "वेदमधीत्य" पद से वेदाध्ययन करने वाले के भी, कर्म का विधान वेदार्थावगति तक बतलाया गया है। अर्थावबोध तक ही अध्ययन कहा गया है, इसलिए ब्रह्म विद्या भी कर्म से अलग रहकर पृथक् फल की साधिका नहीं हो सकती ।

नियमात् ।३।४।७॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यात्मविदः पुरुषायुजस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनियोगात् कर्मण एव फलमित्यवगम्यते विद्या तु कर्मांगमिति ।

ankurnagpal108@gmail.com

इसलिए भी विद्या से पुरुषार्थ संभव नहीं है कि—"कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की आकांक्षा करते हैं" इत्यादि श्रुति आत्मज्ञ पुरुष की, आयुपर्यन्त नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान में नियुक्ति बतलाती है। जिससे, कर्म से ही फलावाप्ति की प्रतीति होती है, विद्या से नहीं। विद्या तो कर्मागं मात्र है।

सिद्धांत—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।३।४।८॥

तु शब्दात् पक्षो व्यावृतः, विद्यात एव पुरुषार्थः, कुतः? अधिकोपदेशात्—कर्मसु कर्त्तुर्जीवाद् हेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वेनाधिकस्यार्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेद्यतयोपदेशात् भगवतो बादरायणस्य विद्यातः फलमित्येवमेव मतम्।

तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या से ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है, अधिकता के उपदेश से ऐसा ही निश्चित होना है। कर्मानुष्ठान के कर्त्ता जीवात्मा से अधिक, स्वतंत्र—उत्तम, सीमा और संख्या से रहित, अति कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म को ही वेद्य कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—उनकी प्राप्ति उपासना से ही होती है, ऐसा भगवान बादरायण का मत है।

लिंगानि तिष्ठन्तु, वेद्यतयोपदेशस्तु तावत्कर्त्तुः प्रत्यगात्मनोऽधिकस्यैव। कथम्? त द्दर्शनात्—प्रत्यगात्मन्यशुद्धे शुद्धेऽप्यसंभावनीयानंतगुणाकरस्य वेद्यस्य निरस्तनिखिलहेय गंधस्य स्वसंकल्पकृत जगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छेद्यानन्दस्य जीवाधिपस्य कृत्स्नस्य प्रशासितुः परस्य ब्रह्मणो वेदनोपदेशवाक्येषु दर्शनात् "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये-

ankurnagpal108@gmail.com

ति तत्तेजोऽसृजत" यः सर्वज्ञः सर्वविद् "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "स एको ब्रह्मण आनंदः" यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारणः "सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः" इत्यादिषु । तस्माद् वेदनोपदेश शब्देषु कर्त्तुः प्रत्यगात्मनः स्वद्योतकल्पस्याविद्यादिहेयसंबंध योगस्य गंधोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृतत्वं तत्र तत्र श्रूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थ इति सुष्ठूक्तम् ।

विद्या की कर्मांगता बतलाने वाले लिगों की बात छोड़िये वेद्यरूप से जिसका उल्लेख है, वह जीवात्मा से अधिक ही है– जैसा कि—"वह निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्य काम, सत्य संकल्प है" उसने इच्छा की बहुत होकर व्यक्त हो जाऊँ "उसने तेज की सृष्टि की" जो सर्वज्ञ और सर्वविद है "पर की ज्ञान-बल-क्रिया आदि स्वाभाविक शक्तियाँ सुनी जाती हैं ' वह एक ब्रह्म का आनंद है'' जहाँ से वाणी मन सहित होकर लौट आती है ऐसे आनंद ब्रह्म को जान कर साधक किसी से नहीं डरता ''वही सर्वेश्वर भूताधिपति भूपाल सबका विधारक सेतु है "वह कारणों का भी कारण, स्वामियों का भी स्वामी है, उसका कोई जनक या स्वामी नहीं है'' हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र स्थित हैं" इसी के भय से वायु चलता है । सूर्य अग्नि चन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है'' इत्यादि से बद्धमुक्त जीवात्मा में असंभव, हीनता से रहित, संकल्प मात्र से सृष्टि स्थिति संहारात्मक लीलामय, सर्वज्ञता, सर्व शक्ति संपन्नता अवाङ्मनस गोचारता, असीम आनन्दरूपता सर्वशासकता, जीवाधिपत्य, आदि वेद्य परब्रह्म की बतलाई गई विशेषताओं से निश्चित होता है । उक्त उपासनोपदेशक वाक्यों में कर्त्ता के

ankurnagpal108@gmail.com

स्वरूप जीवात्मा का, जो कि परमात्मा के समक्ष खद्योत-के तुल्य है, और अविद्या आदि दोषों वाला है, कहीं नाम भी नहीं है। परब्रह्म विषयक विद्या से, जो अनेक स्थानों में ब्रह्म प्राप्ति की बात कहीं गई है, वही विद्या का फल है, इसलिए विद्या से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यही मानना युक्ति संगत है।

लिगान्यपि निरस्यंते

लिंगों का भी निराकरण करते हैं।

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।९॥

यदुक्तं ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद् विद्या-कर्मांगमिति ,तत्र विद्यायाऽनंगत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनैकांतिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात् । दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्मत्यागः "ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादौ । अतोब्रह्मविदां कर्मत्याग दर्शनान्न विद्या कर्मांगम् । कथमिमुपपद्यते ब्रह्मविदांकर्मानुष्ठानमननुष्ठानंच ? फलाभिसंधिरहितस्य यज्ञादिकर्मणोब्रह्मविद्यांगत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुपपद्यते । वक्ष्यति च—सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति । फलार्थस्य तस्यैव यज्ञादेः कर्मणो मोक्षैकफलब्रह्मविद्याविरोधित्वत्तस्याननुष्ठानदर्शनमुपपन्नतरम् । विद्यायाः कर्मांगत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते ।

जो यह कहा कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान देखा जाता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह बात भी असंगत है, विद्या की अनंगता में भी तुल्य आचार देखा जाता है, अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का जो कर्मानुष्ठान देखा जाता है वह अनैकान्तिक नहीं है, उनमें कर्मानुष्ठान का अभाव भी पाया जाता है "कावषेय ऋषि कहते हैं कि—"किसके लिए अध्ययन करें और किसके लिए यज्ञ करें" इत्यादि से—ब्रह्मवेत्ताओं का कर्म के प्रति उपेक्षा भाव निश्चित होने से विद्या कर्मांग नहीं है यह भी निश्चित हो

ankurnagpal108@gmail.com

जाता है। प्रश्न होता है कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग दोनों कैसे संभव हैं ? सो फलाकांक्षारहित यज्ञादि कर्म ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं, इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, ऐसा ही "सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" सूत्र में सूत्रकार ने सिद्ध किया है। यज्ञादि क्रियायें सकाम होने से ही मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्याओं से विरुद्ध है इसीलिए उनका त्याग होता है, यदि विद्या को कर्मांग मानें तो कर्म का त्याग नहीं हो सकता।

यदुक्तं श्रुत्यैव विद्यायाः कर्मांगत्वमवगम्यते–तत्राह–जो यह कहा कि–श्रुति से ही विद्या की कर्मांगता ज्ञात होती है। उसका उत्तर देते हैं–

असार्वत्रिकी ।३।४।१०।।

न सर्व विद्याविषयेयं श्रुतिः, अपितूद्गीथविद्याविषयैव "यदेव विद्यया करोति" इति यच्छब्दस्यानिर्धारित विशेषस्य "उद्गीथमुपासीत्" इति प्रस्तुतोद्गीथविशेष निष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद् विद्ययेति सम्बध्यते, यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमिति विद्यया क्रियमाणं यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते।

उक्त श्रुति-सभी विद्याओं से संबंधित नहीं है, अपितु उद्गीथ विद्या विषयक ही है "यदेव विद्यया करोति" में यत् शब्द अविशेष भाव से प्रयुक्त हुआ है–"उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में प्रस्तुत–उद्गीथ विशेष की निष्ठा निश्चित होती है। "यत्करोति" का अर्थ "वह विद्या के साथ करता है" ऐसा नहीं है, अपितु "विद्या के साथ जो करता है वही प्रबलतम होता है" इतना अर्थ है विद्या के साथ किये जाने वाले कर्म की ही यत् शब्द से निर्दिष्ट वीर्यवत्तरता कही गई है।

यच्चेदमुक्तं "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्मांगमिति–तत्राह–

और जो यह कहा कि–"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" वाक्य में

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या और कर्म का साहचर्य दिखलाया गया है, इसलिए विद्या कर्मांग है। इसका निराकरण कहते हैं—

विभागः शतवत् ।३।४।११ ॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" यत्त्वोक्तेन न्यायेन विद्या-कर्मणोर्भिन्नफलत्वाद् विद्यास्वस्मैफलाय समन्वारभते, कर्म च स्वस्मै फलायेति विभागो दृष्टव्यः। शतवत्—यथाक्षेत्ररत्न-विक्रयिणं शतद्वयमन्वेतोत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतं, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते तथेहापि।

"विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं" इत्यादि से उपरोक्त नियमानुसार विद्या और कर्म का भिन्न फल समझना चाहिए। विद्या अपने फल प्रदान के लिए अनुगमन करती है और कर्म अपने फल प्रदान के लिए ऐसा विभाग है। जैसे कि खेत और रत्न के लिए दो सौ मुद्रा ले जाने वाला एक सौ से रत्न और एक सौ से क्षेत्र खरीदता है; वैसी ही उक्त व्यवस्था भी है।

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविधानादविद्याकर्मांगम्-इतिनैतद्युक्तम्, "वेदमधीत्य" इत्यध्ययनमात्रवतो विधानात्। न चाध्ययन विधिरेवार्थबोधे प्रवर्त्तयति आधानवदध्ययनस्याक्षरराशि ग्रहण-मात्रे पर्यवसानात्। गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्मविवो-धित्वदर्शनात्तन्निर्णयफले तदर्थंविचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवर्त्तते ततः कर्मार्थी कर्मज्ञाने प्रवर्त्तते, मोक्षार्थी च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्मांगम्। यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थविबोधे प्रवर्त्तयति, तथापि न विद्या कर्मांगम् अर्थज्ञानादर्थांतरत्वाद् विद्यायाः। यथा ज्योतिष्टो मादिकर्मस्वरूपविज्ञानात् फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्, तथाऽर्थज्ञानरूपात्ब्रह्मस्वरूप विज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानोपासनादि-

ankurnagpal108@gmail.com

शब्दवाच्या पुरुषार्थसाथनभूता विद्येति न तस्याः कर्म संबंधगंधो विद्यते ।

जो यह कहा कि–विद्वान के लिए भी कर्म का विधान मिलता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह भी असंगत बात है, "वेदमधीत्य" में केवल अध्ययन वाले व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान किया गया है। केवल विधिपूर्वक अध्ययन ही तो अर्थबोध करा नहीं सकता। अक्षर राशि के अभ्यास को ही वेदाध्ययन कहते हैं, अर्थात् वेदाध्ययन से, केवल गुरु के निकट रहकर वैदिक अक्षर की प्राप्ति की बात ही सामने आती है। अर्थज्ञान भी हो जाता हो ऐसी बात निश्चित नहीं होती। वेदाध्ययन से कर्म और उसके फल के निर्देश की जानकारी मात्र होती है, कर्म और कर्मफल के निर्णय के लिए तो वेदार्थ के विचार की आवश्यकता है. वेदार्थ विचार के बाद ही फलाकांक्षी कर्म में प्रवृत्त होते हैं और मुमुक्ष ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि–विद्या कर्मांग नहीं है। यद्यपि अध्ययन की विधि ही अर्थज्ञान की ओर प्रवृत्त करती है, फिर भी विद्या कर्म का अंग नहीं है, क्योंकि–अर्थज्ञान और विद्या नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। जैसे कि–ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के स्वरूप के ज्ञान से, फल का साधक कर्मानुष्ठान, नितान्त भिन्न है। वैसे ही ब्रह्म स्वरूप विषयक ज्ञानात्मक वेदार्थ की प्रतीति से, ध्यान-उपासना आदि शब्द वाच्य, पुरुषार्थ की साधनरूप विद्या, एकदम भिन्न वस्तु है। उसके साथ कर्म का किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

नाविशेषात् ।३।४।१३॥

यच्चोक्तं–"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यात्मविदं ज्ञानाद्व्यावर्त्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति, तन्नोपपद्यते, अविशेषात्- नहि अयं नियमः, फलसाधनभूतस्वतंत्रकर्मविषय इति विशेष हेतुरस्ति विद्यांगभूतकर्मविषयत्याऽप्युपपत्तेः। "कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः" इति च विदुषः त्वाप्रयाणादुपासनस्यानुवर्त्तमानत्वात् ।

ankurnagpal108@gmail.com

जो यह कहा कि-"कर्मों को करते हुए ही" यह श्रुति आत्मवेत्ता के लिए ज्ञान से पृथक् कर्मानुष्ठान का यावज्जीवन पालन करने का उपदेश देती है, यह बात भी असंगत है, उक्त श्रुति में, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बतलाया गया है, जैसा आप समझ रहे हैं। कर्म को विद्या का अंग मानने पर भी उक्त बात बन सकती है। "जनकादि ने कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त की" इस वाक्य से तो, मरणपर्यन्त उपासनानुवर्ती कर्म की बात सिद्ध होती है।

एवमर्थस्वाभाव्येन चोद्यं परिहृत्य "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह—

इस प्रकार उक्त वाक्य का विवेचन करके आपत्ति का समाधान किया गया, अब "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" वाक्य का अर्थ बतलाते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इति विद्या-प्रकरणाद् विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम् विद्या माहात्म्यात् सर्वदा कर्मकुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति। वाक्यशेषश्चैवमेवं दर्शयति "एवं त्वयि नान्यथेतो-ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति। अतो न कर्मांग विद्या।

वा शब्द, अवधारण अर्थ में, प्रयुक्त है। "यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है।" इत्यादि विद्या के प्रकरण से-विद्या की प्रशंसा के व्याज से, सदा कर्मानुष्ठान की अनुमति दी गई है। विद्या के माहात्म्य से सदा कर्म करते हुए भी, कर्मों से लिप्त नहीं होता, ऐसी विद्या की स्तुति की गई है। इसी प्रकरण के अंतिम वाक्य से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है— "तुम मनुष्य होकर भी यदि इस प्रकार विद्या में स्थित रहोगे तो कोई भी कर्म तुम्हें लिप्त न कर सकेंगे।" इससे स्पष्ट है कि-विद्या कर्म का अंग नहीं है।

कामकारेण चैके ।३।४।१५॥

अपि चैवमेके शाखिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य

ankurnagpal108@gmail.com

गार्हस्थ्य त्यागमधीयते "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः" इति। विदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं ब्रुवदिदंवचनं ब्रह्मविद्यायाः कर्मानंगत्वं दर्शयति। यज्ञादिकर्मांगत्वे हि विद्यायाः विद्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न संभवति। अतो न विद्या कर्मांगम्।

किसी एक वेद की शाखा में ब्रह्मविद्यापरायण व्यक्ति के लिए ग्रहस्थ कर्मों के त्याग का भी उपदेश दिया गया है "मैं संतान से क्या प्राप्त करूँगा, इससे मेरे अभीष्ट लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती" यह श्रुति विरक्त विद्वान के गार्हस्थ्य त्याग को बतलाकर यह सिद्ध करती है कि- ब्रह्मविद्या, कर्म का अंग नहीं हैं। विद्या यदि, यज्ञादि कर्म का अंग होती तो, विद्यापरायण व्यक्ति के लिए गार्हस्थ्य कर्मों के त्याग की बात न कही गई होती। इससे स्पष्ट हैं कि-विद्या, कर्म का अंग नहीं हैं।

उपमर्दं च।३।४।१६॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मविद्ययोपमर्दं च प्रतिवेदांतमधीयते। "भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्व संशयाः क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिकम्। तद्विद्यायाः कर्मांगत्वे न संगच्छते।

पुण्य और पाप रूप समस्त सांसारिक दुःखों के मूल कर्म का विद्या से नाश हो जाता है, ऐसा प्रत्येक बेदांत वाक्य का मत है। "परावर ब्रह्म दृष्टि हो जाने पर हृदयस्थ अविद्या ग्रंथि छिन्न हो जातीहै, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म राशियाँ क्षीण हो जाती हैं" इत्यादि। इसलिए विद्या की, कर्मांगत संगत नहीं होती।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि।३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु ब्रह्म विद्यादर्शनात् तेषु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां यावज्जीवाधिकार श्रुतेः, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां चाप्रामाण्यात्। अत आह शब्दे हि-इति। वैदिक एव हि शब्दे ते

ankurnagpal108@gmail.com

दृश्यंते—"त्रयोधर्मस्कन्धाः" ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजंति" इत्यादौ। यावज्जीव-श्रुतिस्त्वविरक्त विषया।

ऊर्ध्वरेतस-ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का चिन्तन विहित है, उनमें अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्मों का अनुष्ठान तो हो ही नहीं सकता, इससे भी स्पष्ट है कि—विद्या, कर्म का अंग नहीं है। यदि कहें कि—ऊर्ध्व रेतस आश्रम होते ही नहीं क्योंकि—"जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र यज्ञ करता है' इत्यादि से—अग्निहोत्र आदि की जीवन पर्यन्त कर्त्तव्यता निश्चित होती है इसलिए जो स्मृति वाक्य, ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का विधान बतलाते हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से अप्रामाणिक हैं। इस पर सूत्रकार "शब्दे हि' कहकर बतलाते हैं कि—वैदिक शब्दों में ही इन आश्रमों का उल्लेख है जैसे—"धर्म की तीन शाखायें हैं "जो जंगल में श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं" प्रव्राजक आत्म-लाभ के लोभ से ही प्रव्रजित होते हैं" इत्यादि। जीवन पर्यन्त कर्म का उपदेश देने वाली श्रुति, ग्रहस्थों के लिए है।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि।३।४।१८॥

यदिदं 'त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस आश्रमदृश्यंते, अतस्ते सन्त्येवेतिनैतद्युपपद्यते, यतः "त्रयो धर्म-स्कन्धाः" इत्यादिषु तेषामाश्रमाणां परामर्शमात्रं क्रियते-अनुवादमात्र-मित्यर्थः। कुत एतत् ? अचोदनात्-अविधानादित्यर्थः। नहि अत्र विधिशब्दः श्रूयते, "त्रयोधर्मस्कन्धाः "इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणवेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते" ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्युपसंहारात्। अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्रक्रियते तेषामाश्रमाणाम्। "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपास्यते" इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाश्रमान्तरविधि संभवः। अपि चापवदति हि श्रुतिमाश्रमांतरम् "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयतें" इत्यादिका। अत ऊर्ध्व रेतस आश्रमा न संति इति जैमिनिराचार्यो मन्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

"त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यादि वैदिक शब्दों में ऊर्ध्व रेतस आश्रमों का उल्लेख मिलता है, इसलिए उन आश्रमों का अस्तित्व है, ऐसा कहना भ्रामक हैं। इन वाक्यों में तो उन आश्रमों का परामर्श मात्र किया गया है, अर्थात् अनुवाद मात्र हैं। शास्त्र में इनकी विधि का उल्लेख न होने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" में तो त्रैमात्रिक प्रणवब्रह्म की उपासना की स्तुति की गई है "ब्रह्मसंस्थव्यक्ति अमृतत्व प्राप्ति करता है" इस प्रसंग के उपसंहार परक वाक्य से यही बात ज्ञात होती है। इस वाक्य से आश्रमपरक अर्थ निकालना तो अनुवाद मात्र ही है। "जो श्रद्धा और तप से वन में उपासना करता है" यह वाक्य भी देवयान विधि परक है, इसमें भी आश्रमविधि का उल्लेख नहीं है। ग्रहस्थ के अतिरिक्त अन्य आश्रमों का स्पष्ट विरोध भी किया गया है "जो अग्नि त्याग करता है वह, देवताओं के वीर्य की हानि करता हैं" इत्यादि। इस विवेचन से निश्चित हो जाता हैं कि–ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं हैं ऐसी जैमिनि आचार्य की मान्यता है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९।।

ग्रहस्थाश्रमवदाश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं भगवान बादरायणो मन्यते। कुतः ? साम्यश्रुतेः, उपादेयतयाऽभिमतग्रहस्थाश्रम साम्यं हि तेषामप्याश्रमाणां श्रूयते। "त्रयोधर्मस्कन्धाः" इत्यारभ्य ब्रह्म-संस्थस्तुत्यर्थतया संकीर्त्तनं ग्रहस्थाश्रमस्येतरेषां च समानम्, अथ ग्रहस्थाश्रमस्यानुवादः प्राप्तौ सत्यामेव संभवतीति तस्य प्राप्ति-रवश्याभ्युपेत्येतिमतम्, तदितरेषामपि समानमन्यत्राभिनिवेशात्।

ग्रहस्थ की तरह अन्य आश्रम भी अनुष्ठेय हैं ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। ग्रहस्थाश्रम की तरह उनकी भी उपादेयता का वर्णन मिलता है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" से प्रारंभ करके जो ब्रह्मसंस्थ की प्रशंसा की गई है, वह-ग्रहस्थ और उन आश्रमों में समान रूप से लागू होती हैं (अर्थात् ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति चाहे ग्रहस्थ हो या उन आश्रमों का हो वह अमृतत्व प्राप्त करेगा) यदि कहें कि–ग्रहस्थाश्रम की प्रशंसा भी अनुवाद मात्र ही है, सो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए उसे

ankurnagpal108@gmail.com

तो अनुवाद मान नहीं सकते। [अर्थात् ग्रहस्थाश्रम में तो, उपासना-ब्रह्मसंस्थता और अमृतत्व प्राप्ति वैध है ही] ग्रहस्थाश्रम के समान अन्य आश्रमों में भी मानना न्याय संगत है।

न च गार्हस्थ्य धर्म एव "यज्ञोऽध्ययनं दानं तपो ब्रह्मचर्यं इति सर्वैः शब्दैरभिधीयते, ब्रह्मचर्यतपसोर्ग्रहस्थस्यैव संभवा-दितियुक्तम्, त्रयोधर्मस्कंधाः" इति त्रित्वेन संगृह्य "प्रथमो-द्वितीय-तृतीय" इति विभागवचनानुपपत्तेः। अतः "यज्ञोऽध्ययनं दानं" इति ग्रहस्थाश्रम उच्यते। अध्ययनशब्दो वेदाभ्यासपरः। तपः शब्देन वैखानसपारिव्राज्ययोर्ग्रहणम्, उभयोः तपः प्रधानत्वात्। तपः शब्दो हि कामक्लेशेरूढः, स च द्वयोरपि समानः। ब्रह्मचारि धर्म एव ब्रह्मचर्य शब्देनाभिधीयते।

केवल ग्रहस्थाश्रम ही वैदिक है तथा "यज्ञ अध्ययन,दान, तप, और ब्रह्मचर्य" इत्यादि साधन केवल ग्रहस्थाश्रम के लिए ही विधेय हैं,ऐसा नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मचर्य और तप ग्रहस्थ के लिए भी विधेय हैं यह बात ठीक है किन्तु "त्रयो धर्मस्कन्धाः" वाक्य में जो तीन का उल्लेख किया गया है वह, उक्त साधनों में प्रारंभिक-प्रथम-द्वितीय-तृतीय के विभाग का बोधक है, इसके अनुसार प्रांरभिक तीन साधन यज्ञ-अध्ययन और दान, ग्रहस्थ आश्रम के अनुष्ठेय-विशेष साधन हैं। अध्ययन का तात्पर्य वेदाध्य-यन से है। "तप" साधन वाणप्रस्थी और संन्यासी के लिए बतलाया गया है क्योंकि-दोनों ही आश्रम तप प्रधान हैं। तप शब्द प्रायः काय क्लेश के लिए ही रूढ है जो कि-दोनों आश्रमों में समान रूप से विहित है। ब्रह्मचर्य शब्द, ब्रह्मचारी की साधना का बोधक है।

"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति परत्र श्रूयमाणो ब्रह्मसंस्थ शब्दो यौगिकः सर्वाश्रमसाधारणः, सर्वेषामाश्रमिणां ब्रह्मसंस्थासंभवात्। ब्रह्मणिसंस्था-संस्थितिः, ब्रह्मसंस्थत्वम्, तच्च सर्वेषां संभवत्येव। ब्रह्मनिष्ठा विकलाः केवलाः केवलाश्रमिणः, पुण्यश्लोकभाजः तेष्वेव ब्रह्मष्ठिोऽमृतत्वभाग्भवति। तदेतद्विस्पष्टमुक्तं भगवता पराशरेण

ankurnagpal108@gmail.com

—"प्राजापत्यं ब्राह्मणानां" इत्यारभ्य "ब्रह्म संन्यासिनां स्मृतम्" "इत्यन्तेन वर्णानामाश्रमाणां च केवलानां ब्रह्मलोक प्राप्त्यंतं फलमभिधाय "एकांतिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यंति सूरयः" इति तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठानां ब्रह्मप्राप्तिमभिदधता। अतो गृहस्थाश्रमतुल्याः, ऊर्ध्वरेतस आश्रमा अपि दृश्यन्त इति, तेऽप्यनुष्ठेयाः। "येचेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इति च अरण्ये इति तपः प्रधानाश्रमप्राप्त्यपेक्षत्वात् देवयान विधानस्य तत्रापि तत्प्राप्तिरंगीकरणीया।

"ब्रह्मसंस्थ व्यक्ति अमृतत्व प्राप्त करता है" इस अंतिम वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्मसंस्थ शब्द यौगिक है, जो कि—सभी आश्रमों के लिए समान रूप से प्रयोग किया गया है। इसलिए सभी आश्रम में ब्रह्मसंस्थता संभव है। ब्रह्म विषयक संस्था अर्थात् सम्यक् स्थिति को ब्रह्मसंस्थता कहते हैं। जो ब्रह्म संस्थता से विहीन केवल आश्रम धर्म का पालन करने वाले हैं, वे सब स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं में जो लोग ब्रह्मसंस्थ होते हैं वे अमृतत्वप्राप्त करते हैं, ऐसा भगवान पराशर ने स्पष्ट कहा है— "ब्राह्मणों को प्राजापत्य लोक मिलता है" से "संन्यासियों को ब्रह्म लोक मिलता है" इस वाक्य तक सभी वर्ण और आश्रमों की वर्णाश्रमानुसार पारलौकिक गति बतलाकर "जो लोग सदा ब्रह्म ध्यान में लीन रहते हैं, उन्हे परंपद प्राप्त होता है, उसे उपासक ही देख पाते हैं" इत्यादि से ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों की ब्रह्म प्राप्ति स्पष्ट बतलाई गई है। इससे ज्ञात होता है कि—गृहस्थ की ही तरह ऊर्ध्वरेतस आश्रम भी हैं, उनका भी पालन करना चाहिए। "ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि वाक्य में "अरण्ये" पद से वाणप्रस्थ और संन्यास आश्रम का निर्देश किया गया है। देवयान के विधान में यह वाक्य अनूदित होते हुए भी इसकी तद्विषयक विधि भी स्वीकारनी चाहिए, अनुवाद की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है।

परामर्शपक्षे विधानपक्षे च गृहस्थाश्रमतुल्यमेषामप्यनुष्ठेयत्व

ankurnagpal108@gmail.com

मित्युपपाद्य विधिरेवायमाश्रमाणां सर्वेषां, नानुवाद इत्युपपादयितुं आह—

परामर्श और विधान के आधार पर ग्रहस्थाश्रम की तरह अन्य आश्रमों की अनुष्ठेयता बतलाकर,अब बतला रहे हैं कि सभी आश्रम वैध हैं अनुवाद मात्र नहीं है—

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः । विधिरेवायमाश्रमाणां, धारणवत्-यथादिष्टाग्निहोत्रे "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्रानुवादसरूपादपि वाक्यादुपरिधारणस्याप्राप्तत्वाद्-विधिराश्रीयते, तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इति, तथाऽत्राप्यप्राप्तत्वाद्विधिरेवाश्रयणीयः "ब्रह्मचर्यं समाप्यगृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" इति जाबालानामा-श्रमविधिमसंतमिवकृत्वैतेष्वन्यपरेष्वपि वाक्येष्वाश्रमप्राप्तिरवश्या-श्रयणीत्येत्युपपादितम् । एवमाश्रमान्तरविधानादृणश्रुतिर्यावज्जीव-श्रुतिपवादश्रुतिश्चाविरक्तविषया एवेति वेदितव्याः । अन्याश्च ब्रह्मविदः कर्मणामप्रयाणादवश्यकर्त्तव्यता विधायिन्यः श्रुतयः स्मृतयश्च स्वस्वाश्रमधर्मविषयः, अत ऊर्ध्वरेतस्सु च ब्रह्मविद्या विधानाद् विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम् ।

वा शब्द अवधारणार्थक है । शास्त्र में सभी आश्रमों की विधि का उल्लेख है । जैसे कि—आदिष्ट अग्निहोत्र यज्ञ के अधस्तात समिधं' इत्यादि में ऊपर धारण'' करने की बात अनुवादमात्र ही है, बिना विधि के, अनुवाद की बात नहीं बनती, इसलिए "धारयति" अनुवाद पद को विधि पद के रूप में "धारयेत" मानना पड़ेगा । जैसे कि—पूर्वमीमांसा के शेष लक्षण मेंकहा भी गया है— 'धारण क्रिया जब कहीं प्राप्त न हो तो धारणा में विधि की कल्पना करनी चाहिए" वैसे ही ऊर्ध्वरेतस आश्रमों

ankurnagpal108@gmail.com

का स्पष्ट उल्लेख न मिलने से अनुवाद से ही विधि की ही कल्पना करनी होगी।

"ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही होवे, गृही होकर बनी होवे, बनी होकर प्रव्रज्या ग्रहण करे, अथवा सामर्थ्य होने पर ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या ग्रहण करे, जहाँ भी वैराग्य का संचार हो वहीं से संन्यासी हो जावे" इस जाबालोपनिषद् में तो आश्रमों की विधि का स्पष्ट उल्लेख भी है। अन्य वाक्यों में भी जहाँ आश्रमों का वर्णन मिलता है, उसमें भी आश्रमों की अवश्य आश्रयता का उपपादन ही समझना चाहिए। इस प्रकार आश्रमों के सद्भाव के प्रमाणित हो जाने पर, ऋषि श्रुति, यावज्जीव श्रुति, अपवाद श्रुति आदि ग्रहस्थ विषयक ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। और जो, श्रुति और स्मृति वाक्य, ब्रह्मवेत्ताओं के संबंध में आमरणकाल तक कर्त्तव्यता का विधान करते हैं, वह उन आश्रमों के धर्म के अनुसार विधान करते हैं। ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में भी जो ब्रह्मविद्या का विधान किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि-विद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

२ स्तुतिमात्राधिकरणः—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१।।

इदमिदानीं चिन्त्यते "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" इति एवं जातीयकानिवाक्यानिक्रत्ववयव भूनोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आहोस्वित् उद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानार्थानीति। अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्वमंगीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थत्वेन क्रतुषूपादाननियम उक्तः। किं युक्तम्? स्तुतिमात्रपराणीति। कुतः? उद्गीथाद्युपादानात्। क्रत्वंगभूतानि हि उद्गीथादीन्युपादाय तेषां रसतमादित्वं प्रतिपादितम्। यथा जुह्वादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो वचनस्य "इयमेव जुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिकस्य तत्स्तुतिमात्रपरत्वं, तथेहापि। तदिदमाशंकते-स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत्-इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उद्गीथाद्युपादानात्तत्स्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत् ।

अब विचार करते हैं कि-"वह रसों का परमरस आठवाँ उद्गीथ नामक रस है" इस प्रकार के वाक्यों को यज्ञांग रूप उद्गीथ के स्तुतिपरक माना जाय अथवा उद्गीथ में रसतम दृष्टि का विधायक कहा जाय? पहिले तो-इसे उपासना परक, तथा उपासना के ही पुरुषार्थ साधक तथा यज्ञ में उपासना की आवश्यकर्त्तव्यता को अनियमित बतला चुके हैं, अब यह विचारना है कि युक्ति संगत क्या है? स्तुतिपरक ही कह सकते हैं, उद्गीथ आदि के उपादान से ऐसा ही समझ में आता है। यज्ञांग रूप उद्गीथ आदि के आधार पर उद्गीथ आदि संबंधी, रसतम आदि भावों का प्रतिपादन किया गया है। जैसकि-यज्ञांगजुहू में आदि के प्रतिपादक "पृथिवी ही जुहू है जो कि स्वर्ग में आहवनीय है" वाक्य जुहू के ही बोधक हैं। इसपर शंका करते हैं कि-संपूर्ण स्तुति के लिए अवलंबन किया गया है अथवा अंश में ही किया गया है? इस पर कहते हैं कि-उद्गीथ आदि का उपादान होने से इन वाक्यों का स्तुतिमात्र ही विवक्षित है।

सिद्धान्तः-अत्रोत्तरं-ना पूर्वत्वात्-इति। न स्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते, कुतः? अपूर्वत्वात्-अप्राप्तत्वात्। न हि उद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण प्रतिपन्नाः, येन तत्प्राशस्त्यबुद्ध्युत्पत्त्यर्थं रसतमादित्वेनानूद्येरन्। न चोद्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः येन "इयमेवजुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिवत्तदेकवाक्यत्वेन ययाकयाचन विधया तत्स्तुतिपरत्वमाश्रीयेत। अतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम्।

सिद्धान्तः—यह वाक्य स्तुतिपरक मात्र नहीं है, ऐसा किसी भी श्रुति में प्रमाण भी नहीं मिलता। उद्गीथ आदि की रसतमता किन्हीं अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है उसमें तो श्रुति ही प्रमाण है इसलिए रसमयता को केवल स्तुतिमात्र नहीं कहा जा सकता। "इयमेव जुहु" की तरह उद्गीथ आदि स्तुतिपरक नहीं है "इयमेव जुहू" इत्यादि में तो,

ankurnagpal108@gmail.com

किसी प्रकार विधिसमानार्थक मानकर स्तुतिपरता की कल्पना की गई है। यज्ञ की प्रबलतम फलावाप्ति की फलश्रुति के आधार पर उद्गीथ आदि की रसमयता स्वीकारना ही न्याय संगत है।

भावशब्दाच्च ।३।४।२२॥

"उपासीत्" इत्यादि भावशब्दाच्च विधिपरत्वमेव न्याय्यम्। विधिप्रत्यय युक्तो हि क्रियाशब्दो विधेयमेव स्वार्थमवगमयति। तस्मादुपासनविधानार्था एताः श्रुतयः।

"उपासीत्" इत्यादि भावात्मक शब्दों के प्रयोग से उद्गीथादि को विधिपरक मानना ही उचित है, विधिप्रत्यययुक्त क्रिया बोधक शब्दों से-अनुष्ठेय विषय का वास्तविक अर्थ प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित होता है कि-ये श्रुतियाँ विधानार्था हैं, केवल स्तुति मात्र नहीं।

३ पारिप्लवाधिकरणः—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३॥

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" श्वेतकेतुर्हारुणेय आस "इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वाख्यानानि किं पारिप्लव प्रयोगार्थानि उत विद्याविशेष प्रतिपादनार्थानीति चिन्तायाम् "आख्यानानिशंसन्ति" इत्याख्यानानां पारिप्लवे विनियोगान्न विद्या प्रधानत्वं न्याय्यम् इति चेत्—

दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के प्रिय भवन में गया" श्वेततकेतु आरुणेय का" इत्यादि वेदांतों के आख्यान, क्या पारिप्लव प्रयोग हैं अथवा विद्या विशेष के प्रतिपादक हैं? इस विचार पर "आख्यायिकाओं का पाठ करो" इस विधि वाक्य के अनुसार तो, पारिप्लव प्रयोग ही प्रतीत होता है, विद्याविशेष मानना उचित नहीं है।

सिद्धान्तः—न सर्वाण्याख्यानि पारिप्लव प्रयोगे विनियोगमर्हन्ति, कुतः? विशेषितत्वात् विनियोगस्य। "आख्यानानिशंसन्ति" इत्युक्त्वा

ankurnagpal108@gmail.com

तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिना मन्वादीनामाख्यानानि विशेष्यन्ते, अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति उच्यते। तस्मान्न सर्वा वेदान्तेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः अपितु विद्या विध्यर्थाः।

सिद्धान्तः—सभी आख्यान, पारिप्लव प्रयोग वाले नहीं माने जाने, प्रयोग के लिए विशेष आख्यानों का ही उल्लेख मिलता है—"आख्यानों का पाठ करो" ऐसा विधान बतलाकर "सूर्यवंश में मनु नामक राजा हुए" इत्यादि में विशेष आख्यानों का उल्लेख किया गया है। इससे निश्चित होता है कि—वेदांतों के सभी आख्यान पारिप्लव प्रयोग के लिए नहीं हैं, अपितु विद्यार्थक भी हैं।

तथाचैकवाक्योपबंधात्।३।४।२४॥

"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादिविधिनैकवाक्यतयोपबंधा चाख्यानानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते, यथा—"सोऽरोदीत्" इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम्, न पारिप्लवार्थत्वम्।

"आत्मा को देखना चाहिए" इत्यादि विधिपरक वाक्यों की एक वाक्यता से ज्ञात होता है कि—उनसे संबद्ध आख्यायिकायें, विद्या विधि की परिपोषक हैं, जैसे कि— 'सोऽरोदीत्" इत्यादि कर्मविधि की पोषक हैं। इससे सिद्ध होता है कि—वेदांतों की आख्यायिकायें, पारिप्लवार्थक नहीं हैं।

४ अग्नीधनाद्याधिकरणः——

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा।३।४।२५॥

स्तुतिप्रसंगादवांतरगसंतिविशेशणार्थद्वयं चिन्तितम् विद्यावंत ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणः संतीत्युक्तम् "ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि" इत्यादिभिः सूत्रैः। इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदंगिका विद्या न संभवतीत्याशंक्याह—अतएव चाग्नीन्धानाद्यनपेक्षा—इति। यत

ankurnagpal108@gmail.com

ऊर्ध्वं रेतस आश्रमिणो विद्यासंबंधित्वेन श्रुत्या परिगृह्यन्ते-"ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति—"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छंतः प्रव्रजन्तः "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरति" इत्यादिकया अतएवोर्ध्वरेतस्सु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा-अग्नींधनम्, अग्न्याधानम्, आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मानपेक्षातेषु विद्या। केवल स्वाश्रमविहित कर्मापेक्षेत्यर्थः।

स्तुति के प्रसंग में दो आवश्यक बातों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। "ऊर्ध्वरेतस्सु शब्दे हि" इत्यादि सूत्रों से ज्ञानी ऊर्ध्वरेतस आश्रम वालों का माहात्म्य बतलाया। उन आश्रम वालों का यज्ञादि कर्मों में अनधिकार है, यज्ञ की पोषिका विद्या में भी अनधिकार है? ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं। "ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व प्राप्त करते हैं "श्रद्धा और तप से अरण्य में उपासना करते हैं" आत्मलोक की प्राप्ति के लिए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं "जिसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का भी विद्या में अधिकार है, ऊर्ध्वरेतसों की विद्या अग्नि इंधन आदि सापेक्ष नहीं है। अग्नींधन का तात्पर्य है, अग्न्याधान, अर्थात् आधान-पूर्वक अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि कर्मों की विरक्त आश्रमवालों को अपेक्षा नहीं होती। केवल अपने आश्रम से विहित कर्मों की ही अपेक्षा होती है।

५ सर्वापेक्षाधिकरणः—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।३।४।२६॥

यदि विद्या यज्ञाध्यनपेक्षैवामृतत्वं साधयति, तर्हि गृहस्थेष्वपि तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादि श्रुतिरपि "विविदिषंति" इति शब्दात् कर्मणो वेदनांगतां न प्रतिपादयतीति।

यदि विद्या, यज्ञादि के बिना ही अमृतत्व का साधन करती है तो गृहस्थों में भी बिना यज्ञादि के अमृतत्व साधन कर सकती है? यज्ञादि

ankurnagpal108@gmail.com

की प्रतिपादिका कर्म को विद्या का अंग नहीं बतलाती ऐसा ही समझना चाहिए।

सिद्धान्तः-अत्राह-सर्वापेक्षा-इति। अग्निहोत्रादिसर्वकर्मापेक्षैव विद्याकर्मवत्सु गृहस्थेषु, कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। "तमेतं वेदानुवचनेन-ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिना याज्ञादयो हि विद्यांगत्वेन श्रूयंते। यज्ञादिना विविदिषंति वेदितु-मिच्छति, यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छंतीत्यर्थः। यज्ञादीनां ज्ञान साधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुमिच्छंतीति व्यपदेश उपपद्यते, यथा असेर्हननसाधनत्वे सति असिना जिघांसतीति व्यपदेशः, अतो यज्ञादीनां, ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते। ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तर-भूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्न स्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणादनुवर्त्तमानं मोक्ष-साधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव, वक्ष्यति च "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादिना। एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनिमित्त कर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिषंतीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते। अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मापेक्षा विद्या। अश्ववत्-यथा गमन साधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरबंधपरिकर्मापेक्षः, एवं मोक्षसाधन-भूताऽपि विद्या नित्यनैमित्तककर्मपरिकरापेक्षा। तदिदमाह स्वयमेव भगवान् "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंत-तम्, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विदंति मानवः" इति।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—गृहस्थों के लिए विद्या, कर्मसापेक्ष है। कर्मयोगी गृहस्थों में, अग्निहोत्र आदि सर्व कर्म सापेक्ष विद्या का विधान है। ऐसा यज्ञादि प्रतिपादिका श्रुतियों से ही सिद्ध होता है। "ब्राह्मण, यज्ञ-दान-तप और अनासक्ति कर्म द्वारा इस आत्मा को

ankurnagpal108@gmail.com

जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि श्रुति, यज्ञ आदि को विद्या का अंग बतलाती हैं। यज्ञादि से विविदिषा करते हैं का तात्पर्य है कि-यज्ञादि से विद्या प्राप्ति की इच्छा करते हैं। यज्ञादि सब ज्ञान के साधक हैं फिर भी यज्ञादि के सहयोग से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है। जैसे कि खड्ग हिंसा का साधन हैं, फिर भी "खड्ग से मारता है" ऐसा प्रयोग किया जाता है जो कि क्रियात्मकता का बोधक है। इस प्रकार यज्ञादिकों की ज्ञान साधकता ज्ञात होती है। उक्त वाक्य में जिस ज्ञान का उल्लेख है वह शास्त्रीय ज्ञान से भिन्न वस्तु है जो कि- ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य, सर्वाधिक प्रिय सुस्पष्ट प्रत्यक्षभावापन्न स्मृति स्वरूप है। यह मृत्यु काल पर्यन्त निरंतर अहर्निश अभ्यास द्वारा उत्कृष्ट होकर मोक्ष साधन करता है, यह बात पहिले ही सूत्र में कही गई है। "आवृति सकृदुपदेशात्" में यही बात सूत्रकार भी कहते हैं परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के उपाय नित्य नैमित्तिक कर्म के, निरंतर अनुष्ठान से, परम पुरुषोत्तम के अनुग्रह के फलस्वरूप ही उक्त ज्ञान का उदय होता है, यही बात "विविदिषंति" इत्यादि में प्रतिपादित है कर्मयोगी गृहस्थों की उपासना निश्चित ही, यज्ञादि कर्म सापेक्ष है। जैसे कि-घोड़ा, गमन का साधन होते हुए भी, अन्यान्य गमनोपयोगी साधनों से सापेक्ष होता है, वैसे ही मोक्ष साधनभूत विद्या, नित्यनैमित्तक आदि सहायक कर्मों से सापेक्ष होती है। भगवान् स्वयं ही उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं-"यज्ञ-दान-तप और कर्म कभी परित्याज्य नहीं हैं, अनुष्ठेय हैं, यज्ञ-दान और तप ही उपासकों को पवित्र करते हैं सारे भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसमें यह सारा जगत व्याप्त है, मानव, अपने कर्त्तव्य कर्म से उसकी उपासना करके उसे प्राप्त करते हैं।"

५. शमदमाद्यधिकरणः—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापितुतद्विधेः तदंगतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् ३।४।२७॥

ग्रहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि उत न ? इति चिन्तायाम् आन्तरवाह्यकरणव्यापाररूपत्वात् कर्मानुष्ठानस्य शमदमादीनां तद्विपरीत रूपत्वाच्चाननुष्ठेयानि।

ankurnagpal108@gmail.com

ग्रहस्थ के लिए शमदम आदि साधन भी अनुष्ठेय हैं या नहीं ? इस संशय पर विचारने पर समझ में आता है कि—कर्मानुष्ठान तो बाह्य और आभ्यंतर साधनों द्वारा साध्य हैं तथा शमदम आदि इसके विपरीत हैं, इसलिए ग्रहस्थों द्वारा वे साध्य नहीं है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—यद्यपि गृहस्थः करणव्यापार-रूप कर्मसु प्रवृत्तः तथापि स विद्वान् शमदमाद्युपेतः स्यात् कुतः ? तदंगतयातद्विधे विद्यांगतया तेषां विधेः "तस्मादेवंविच्छांतो दांत उपरतस्तितिक्षुः समाहितोभूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति। विद्योत्पत्तेश्चित्तसमाधानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्छमादीनां, विद्यानिवृत्तये तेषां, शमदमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्य-प्यनुष्ठेयानि। न च करणव्यापार तद् विपर्ययरूपत्वेनकर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वात् विहितेषु करण व्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति। न च करणव्यापाररूप कर्मसु वर्त्तमानस्य वासनावशाच्छमादीना-मुपादेयत्वसंभवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनतया तत्प्रसाद-द्वारेण निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात् अतो गृहस्थस्य शम-दमादयोऽप्यनुष्ठेयाः।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं-यद्यपि गृहस्थ करणव्यापार रूप कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं फिर भी वे गृहस्थ साधक शमदम आदि साधन कर सकते हैं, विद्या के अंगरूप से उनकी विधि कही गई है—"ऐसे ज्ञानी पुरुष शांत-दांत-उपरति-तितिक्षु और समाहित होकर स्वतः ही आत्म-स्वरूप का दर्शन करते हैं।" ज्ञानोत्पत्ति अर्थात् चित्त समाधानात्मक ज्ञान साधन में, शमदम आदि की प्रत्यक्ष उपयोगिता देखी जाती है। विद्या की उत्पत्ति के लिए शमदम आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता है, इसलिए भी उनका अनुष्ठान आवश्यक है। कर्म और शमदम आदि नितांत विप-रीत विषयक हैं इसलिए, करणव्यापार संपादित कर्म और उससे विपरीत रूप वाले शमदम आदि में परस्पर विरोध नहीं हो सकता। विहित विषयों में इंद्रियों के व्यापार को कर्मानुष्ठान तथा निष्प्रयोजन इंद्रियों

ankurnagpal108@gmail.com

के व्यापार की निवृत्ति को उपशम कहते हैं। ऐसा नहीं है कि—करण-व्यापार रूप कर्मों में लगे रहने के कारण वासनावश शमदम आदि का पालन किया जा सके सारे ही कर्म जब परमपुरुष परमात्मा के आराधन में ही नियुक्त रहते हैं तो उनकी कृपा से सारी ही विपरीत वासनाओं का उच्छेद हो जाता है' इसलिए गृहस्थ से भी शममद आदि अनुष्ठेय हैं।

७. सर्वान्नानुमत्याधिकरण:—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८।।

वाजिनां छंदोगानां च प्राणविद्यायां "न हवा अस्यानन्नं दग्धंभवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" न हवा एवं विदि किंचनानन्नं भवति" इति प्राणविद: सर्वान्नानुमति: संकीर्त्यंते' किमिमं प्राण-विद्या निष्ठस्य सर्वान्नानुमति: सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशयेविशेषादुपादानात् सर्वदा—

वाजसनेयी और छांदोग्य की प्राणविद्या में—"ये प्राणोपासक कुछ भी अभक्ष्य नहीं खाते" प्राणोपासकों के लिए अभक्ष्य नहीं है "इत्यादि में प्राणोपासकों के लिए सर्वभक्षता कही गई है वह सर्वकालिक विधि है या आपत्कालीन ? विचारने पर तो ऐसा लगता है कि—प्राणो-पासकों के लिए जो विशेष निर्देश किया गया है, उससे तो सार्वकालिक ही प्रतीत होती है!

सिद्धान्त:—इति प्राप्त उच्यते-प्राणात्यये-इति । च शब्दोऽवधा-रणे, प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नाभ्यनुज्ञा, किं पुन: प्राणविद: । उषस्ति: किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु दुर्भिक्ष-दूषितोष्वभ्यग्रामे वसन्ननशनेन प्राणसंशयमापन्ने ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकांक्षमाण इभ्यंकुल्माषान् खादन्तं भिक्ष-माणस्तेन च उच्छिष्टेभ्योऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्त: पुनरपि "एतेषां मे देहि" इत्युक्त्वा तेन चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान्

ankurnagpal108@gmail.com

कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमिभ्येनार्थितः "उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात्" इति वदन् चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इभ्येन पर्यनुयुक्तः "न वा अजीविष्यमिमानखादन कामो म उदपानम्" इति कुल्माषा खादने स्वस्यप्राणसंशयापत्तेस्तावन्मात्र-खादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वखादितशेषं जायायै दत्वातया च रक्षितान् अपरेद्युः याजनेनार्जिजीषया जिगमिषुः पुनरपि प्राणसंशयमापन्नः तानेवे-भ्योच्छिष्टान् स्वोच्छिष्टभूतान् पर्युषितांश्चखाद । अतोब्रह्मविदा-मपि प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविदः सर्वान्नीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निश्चीयते ।

सिद्धान्तः—प्राण की रक्षा के लिए आपत् धर्म के रूप में ही अभक्ष्य भक्षण की बात कही गई है। सूत्रस्थ वा शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है जिससे तात्पर्य होता है कि-प्राणान्तक आपत्ति के समय ही सब कुछ ग्रहण किया जाना चाहिए। ब्रह्मोपासक मात्र के लिए प्रणांतक आपत्ति आने पर सर्वभक्षता का उदाहरण मिलता है। केवल प्राणविद्योपासकों के लिए ही ऐसा विधान हो सो बात नहीं है।

ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उषस्ति चाक्रायण वज्र दग्ध कुरुदेश के अकाल पीड़ित होने पर किसी महावतों के गाँव में जाकर बस गए, अनशन से जब उनकी संशयित दशा हो गई, जीवन का भी ठिकाना न रहा तब उन्होंने उर्द खाने वाले किसी महावत से अन्न की आंकाक्षा की, हस्तिपक ने कहा कि—मैं जो खा रहा हूँ उसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है, इस पर ऋषि ने वे झूठे उर्द ही मांग कर खाए, भोजन के बाद जब हस्तिपक उन्हें अपना झूठा जल देने लगा तब उन्होंने कहा कि मुझे झूठा पीने का पाप लगेगा। इस पर हस्तिपक ने पूछा कि—"क्या मेरे उर्द झूठे नहीं थे?" इस पर ऋषि ने कहा कि—यदि मैं उर्द न खाता तो जीवित न रह पाता, इसलिए उसमें दोष नहीं है, परन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, इसलिए उसे ग्रहण करने पर मुझे दोष होगा।

ankurnagpal108@gmail.com

इस प्रसंग में देखा जाता है कि- उर्द भोजन के अभाव में प्राण वियोग की संभावना थी, इसलिए जीवनोपयोगी उर्दों का भक्षण वैध ही रहा परन्तु यदि वह जल पीते तो उन्हें स्वेच्छाचारिता का दोष प्राप्त होता। उन्होंने अपने अर्धभुक्त उर्द स्त्री को दिये उसने उसमें से कुछ खाकर दूसरे दिन के लिए बचा लिये दूसरे दिन भी ऋषि ने उन अवशिष्ट उर्दों से अपने जीवन की रक्षा की। इस प्रसंग से निश्चित होता है कि-ब्रह्मवेत्ता भी प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। इसी प्रकार प्राणोपासक भी अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। प्राणात्यय काल में ही अभक्ष्य भक्षण की वैधता सिद्ध होती है।

अबाधाच्च।३।४।२९।।

"आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति ब्रह्मविद्योत्पत्तावाहारशुद्धि विधानावाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वामापद्विषयमवगम्यते। एवं ब्रह्मविदामतिशयशक्तीनामपि सर्वान्नीनत्व स्यापद्विषत्वात् प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमतिरायद्विषयैव।

"आहार शुद्धि से आत्म शुद्धि तथा आत्म शुद्धि से भगवत्स्मृति होती है।" इत्यादि श्रुति में, ब्रह्मविद्या की सिद्धि के लिए, आहार शुद्धि का महत्त्व बतलाया गया है, भगवच्चिंतन में बाधा न पड़े, इसलिए ब्रह्मवेत्ताओं को प्राणात्यय काल में सर्वभक्षण विहित है। प्राणोपासक तो अत्यल्प शक्तिशाली होते हैं उनके लिए तो उक्तकाल में सर्वभक्षण वैध ही है। आपत्तिकाल में ही अभक्ष्य भक्षण वैध है।

अपि स्मर्यंते।३।४।३०।।

अपि च आपद्विषयमेव सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यंते-"प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति इतस्ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा" इति।

ब्रह्मवेत्ताओं के लिए, ऐसी आपतकालीन सर्वान्नभक्षणता स्मृति से भी विहित है जैसे—"जो जीवन के संशयित हो जाने पर इधर उधर

ankurnagpal108@gmail.com

कहीं से भी प्राप्त कर अन्न खा लेता है, वह कमल के पत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता।"

शब्दश्चातोऽकामकारे ३।४।३१।।

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नीनत्वमापद्विषयमेव, अतएव सर्वेषामकामकारे शब्दः, कामकारस्य प्रतिबोधकः शब्दो वर्त्तते। अस्ति हि कठानां संहितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्द. तस्माद् ब्राह्मण सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा इति पाप्मना संस्पृष्टो न भवानीति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः।

ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त सभी को, आपतकाल में ही सर्वान्न भक्षण की आज्ञा दी गई है। कठ संहिता में स्वेच्छाचरण का स्पष्ट निषेध किया गया है—"मुझे पाप लगेगा ऐसा विचार कर ब्राह्मण सुरा पान नहीं करता।" इसका तात्पर्य है कि—मैं पाप से स्पृष्ट न होने पाऊँ, इसलिए ब्राह्मण सुरापान नहीं करता।

८. विहितत्वाधिकरण:—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।३।४।३२।।

यज्ञादि कर्मांगिकाब्रह्मविद्येत्युक्तम्, तानि च यज्ञादीनि कर्माण्यमुमुक्षुणा केवलाश्रमिणाऽप्यनुष्ठेयानि, उत न? इति चिन्तायां, विद्यांगानां सतां केवलाश्रमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोग विरोधः प्रसंज्यत् इति यज्ञादीनां केवलाश्रमधर्मत्वं न संभवति।

यज्ञादि कर्म, ब्रह्मविद्या के अंग हैं यह बतलाया गया। अब विचारा जाता है कि जो लोग आश्रम धर्म का पालन करते हैं, यज्ञादि कर्म उनके लिए भी विहित है कि नहीं? इस पर विचार करने पर समझ में आता है कि जो लोग विद्योपासक नहीं हैं केवल आश्रम धर्म पालक हैं, वे यदि यज्ञादि कर्म करेंगे तो, नित्यानित्य संयोग रूपी विरोध की उपस्थिति होगी, इसलिए यज्ञादि कर्म केवल आश्रम पालकों के लिए नहीं हो सकते।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आश्रमकर्मापि-इति । आश्रमस्य कर्मापि भवति । केवलाश्रमिणापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः ? "यावज्जीवंमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिना विहितत्वात् जीव निमित्ततया नित्यवत विहितत्वादित्यर्थः ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से आश्रम कर्मापि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् केवल आश्रम धर्म पालन करने वालों के लिए भी यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय हैं । "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए" इत्यादि में, जीवन की दैनिक चर्या की तरह यज्ञादि की नित्यता का विधान बतलाया गया है ।

तथा विद्यांगतया च "तमेतंवेदानुवचनेन" इत्यादिना विहितत्वाद्विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

इसी प्रकार विद्या प्रकरणीय "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में यज्ञांगरूप विद्यानुष्ठान का भी विधान बतलाया गया है । यही बतलाते हैं—

सहकारित्वेन च ।३।४।३३।।

विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्निहोत्रादीनामिव जोवनाधिकारस्वर्गाधिकारवत् विनियोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ।

विद्योत्पादक, विद्या के सहकारी रूप से भी, यज्ञादि अनुष्ठेय हैं, जीवन पर्यन्त होने वाले, स्वर्गादि कामनाओं के प्रदाता, अग्निहोत्रादि की तरह-प्रयोग की पृथकता से-विद्या साधनता और आश्रम साधनता, दोनों ही कार्य अविरुद्ध रूप से हो सकते हैं ।

तद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह—

उसी प्रकार कर्मान्तरता भी न होगी यह बतलाते हैं—

सर्वथापि त एवोभयालिंगात् ।३।४।३४।।

सर्वथा—विद्यार्थत्वे, आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति

ankurnagpal108@gmail.com

प्रतिपत्तव्यम्, न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः। कुतः ? उभय लिंगात्—उभयत्रश्रुतौ यज्ञादि शब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात्। कर्मस्वरूप-भेदे प्रमाणाभावाच्च।

यज्ञादि क्रियायें चाहे विद्यांग हों या आश्रमांग हों, दोनों प्रकार से वह एक ही हैं, उनमें स्वरूपगत कोई भेद नहीं हैं। दोनों प्रकारों को श्रुतियों में यज्ञ ही कहा गया है, उनमें जो पृथकता है वह प्रयोग ही है। कर्म में स्वरूपगत कोई भेद हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अनभिभवं च दर्शयति।३।४।३५॥

"धर्मेणपापमपनुदति" इत्यादिभिश्च तामेव यज्ञादि धर्मं निर्दिश्य तै विद्याया अनभिभवं—पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबंधभावं दर्शयति। अहरहरनुष्ठीयमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्योत्पते। अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः।

"धर्म से पाप नष्ट होते हैं" इत्यादि में उन्हीं यज्ञादि धर्मों का उल्लेख करके, यह बतलाया गया है कि—पाप कर्मों से विद्योत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती। नित्य प्रति किये जाने वाले यज्ञानुष्ठानों से विशुद्ध अन्तःकरण में नित्य विद्योत्पत्ति होती है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विद्या और आश्रम दोनों जगह, यज्ञादि कर्म एक हैं।

६ विधुराधिकरणः—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।३।४।३६॥

चतुर्णामाश्रमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, विद्यासहकारिण आश्रम धर्मा इति चोक्तम्। ये पुनराश्रमानन्तरा वर्त्तन्ते विधुरादयः तेषां ब्रह्मविद्यायामाधिकारोऽस्ति न वा ? इति विशये आश्रम धर्मेति कर्त्तव्यतारूपत्वाद्विद्यायाः अनाश्रमिणां चाश्रमधर्माभावान्ना-स्याधिकारः'

ankurnagpal108@gmail.com

चारों आश्रम वालों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है तथा आश्रम धर्म विद्या के सहकारी हैं, ऐसा निर्णय हो चुका। अब विचार करते हैं कि जो आश्रम रहित विधुर आदि हैं उन्हे ब्रह्म विद्या में अधिकार है या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—आश्रम धर्म वालों के लिए ही विद्या को कर्त्तव्य रूप से बतलाया गया है, इसलिए आश्रम रहित के लिए विद्या का अभाव है अतएव वे उसके अधिकारी नहीं हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अन्तरा चापि तु—इति। तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः, च शब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्त्तमानानाम्—अनाश्रमिणामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव। कुतः? यद्दृष्टेः—दृश्यते हि रैक्व भीष्मसंवर्त्तादीनां अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् न चाश्रम धर्मैरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं वक्तुम्। "यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" इति दानादीनामाश्रमेषु अनैकान्तिकानामप्यनुग्राहकत्व दर्शनात्। यथोर्ध्वरेतस्सु विद्यानिष्ठत्वदर्शनादग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तैरेव विद्यानुग्रह क्रियते, तथाऽनाश्रमिष्वपि विद्यादर्शनादाश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहः शक्यते कर्त्तुम्।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "अन्तरा चापि तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है तथा च शब्द अवधारक है। जिससे निश्चित होता है कि—आश्रम रहित व्यक्तियों को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है, रैक्व, भीष्म, संवर्तक आदि आश्रम विहीन व्यक्तियों की ब्रह्म विद्या निष्ठता प्रसिद्ध है। आश्रम धर्म ही विद्या के उपकारक हैं ऐसा नहीं कह सकते। "यज्ञ दान तप और इन्द्रिय प्रत्याहार द्वारा" इत्यादि वाक्य में, आश्रम विशेष में, अनियत दान आदि धर्म से भी विद्या प्राप्ति की बात कही गई है। जैसे कि - ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में अग्नि होत्र के बिना, केवल ध्यान आदि उपाय ही, विद्या निष्ठता के उपकारी साधन हैं वैसे ही, आश्रम रहित व्यक्ति भी जप उपवास दान देवताराधन आदि उपासना के उपकारी सामान्य साधनों से विद्या निष्ठ हो सकते हैं।

अपि स्मर्यते।३।४।३७॥

अपि च अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते—

ankurnagpal108@gmail.com

"जप्येनापि च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः, कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति । संसिध्येत–जपानुग्रहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः ।

विद्या निष्ठता के जपादि साधनों का, अनाश्रमियों के लिए, स्मृति, में भी उल्लेख है "ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है वह कुछ करे या न करे संसार उसे मैत्र कह कर ही पुकारेगा । "संसिध्येत्" का तात्पर्य है कि वह जपादि परिपोषित विद्या से सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८॥

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यां अयमर्थः साधनीयः, श्रूयतेचानाश्रमनियतैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहा "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानमन्विष्येत्" इति ।

न केवल युक्ति और स्मृति से ही उक्त मत पुष्ट होता है अपितु अनाश्रम नियत धर्म विशेष का श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है "तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मानुसंधान करना चाहिए ।

अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च ।३।४।३९॥

तु शब्दोऽवधारणे, अतः, अनाश्रमित्वात् इतरत् आश्रमित्यमेव ज्याया, अनाश्रमित्वमापद्विषयम्, शक्तस्यत्वाश्रमित्वमेवोपादेयमित्यर्थो । भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् । लिंगाच्च स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते च शक्तं प्रत्याश्रमस्योपादेयत्वम्–"अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः" इत्यादिना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अविराग्ये सति दारालाभ आपत् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है । आश्रमिता ही श्रेष्ठ है, अनाश्रमी रहना तो आपत धर्म है । सामर्थ्यवान के लिए तो आश्रम धर्म ग्रहण करना ही उचित है । अधिक गुण संपन्न और अल्प गुण संपन्न में समान कार्य साधकता तो हो नहीं सकती यह स्वभाव सुलभ बात है ।

ankurnagpal108@gmail.com

ऐसा लिंग अर्थात् स्मृति का प्रमाण भी है "द्विज एक दिन भी आश्रम रहित होकर न रहे" इत्यादि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से निवृत्त हो गया हो अथवा जिसकी पत्नी का देहांत हो गया हो, उसे किसी भी प्रकार स्त्री की प्राप्ति न हो पावे तो वह उसका आपत काल ही है।

११ तद्भूताधिकरण:–

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्य:
।३।४।४०॥

नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकाश्रमेभ्य: प्रच्युतानामपि ब्रह्म विद्यायामधिकारोऽसि न ? इति चिन्तायां, विधुरादिवदनाश्रमैकान्तैर्दानादिभिर्विद्यानुग्रह संभवादस्त्यधिकार:।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से गिरे हुए पतित व्यक्ति को भी विद्या का अधिकार है या नहीं ? इस पर विचारने से ऐसा मत होता है कि जैसे अनाश्रमी विधुर आदि के लिए, दानादि सामान्य धर्मों से परिपुष्ट ब्रह्म विद्या की निष्ठा बतलाई गई है, वैसे ही इन लोगों की भी हो सकती है इसलिए इनका भी अधिकार है।

सिद्धान्त:–इति प्राप्त उच्यते–तद्भूतस्य तु नातद्भाव:, इति। तु शब्द: पक्षव्यावृत्यर्थ:, तद्भूतस्य–नैष्ठिकाद्याश्रमनिष्ठस्य, नासद्भाव:, अतथाभाव:, अनाश्रमित्वेनावस्थानं न संभवति, कुत:? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्–तद्रूपाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि, वेषा: धर्मा इत्यर्थ:, तेषामभावा:, तद् रूपाभाव:, तेभ्य: शास्त्रै र्नियमात्। नैष्ठिकाद्याश्रमप्रविष्टान् स्वाश्रमधर्मनिवृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि "ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्यंतमात्मानमाचार्यंकुलोऽवसादयन्" इति "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति 'संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेत्" इति च। अतो विधुरादिवत नैष्ठिकादीनामनाश्रमित्वे नावस्थाना संभवान्न तानधिकरोति

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मविद्या, जैमिनेरपि–इत्यविगानं दर्शयन्नुक्तं स्वाभिमतं दृढ़यति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से उक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं । सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ व्यक्तियों का अतद्भाव अर्थात् अनाश्रमी होना संभव नहीं है । उन आश्रम के रूपों को धारण करने के बाद उनके त्याग का कहीं भी विधान नहीं है । उनके रूप का तात्पर्य है उनका वेष अर्थात् धर्म का अभाव, उनके विहित शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ हो जाने के बाद उनसे च्युत होने का शास्त्र में निषेध किया गया है । "आचार्य कुलवासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी को सदा आचार्य कुल में ही वास करना चाहिए ।–"अग्नि का त्याग कर उसे पुनः नहीं ग्रहण करना चाहिए ।" अरण्य जाने के बाद पुनः नहीं लौटना चाहिए ।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि–जो आश्रम धर्म से च्युत हो जाते हैं, उन्हें विधुर आदि की तरह ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । जैमिनि की सम्मति के अनुसार सूत्रकार ने अपना भी ऐसा ही दृढ़ मत स्थिर किया है ।

अथ स्यात्–नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात् प्रच्युतानां प्रायश्चित्तात् अधिकारः संभवति, अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितं–"अवकीर्णि पशुश्चतद्वत्" इति, अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्त संभवात् कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति–इति–तत्राह–

प्रश्न होता है कि–ब्रह्मचर्य से च्युत नैष्ठिक आश्रमों का प्रायश्चित्त भी तो हो सकता है, अधिकार लक्षण में उसके लिए प्रायश्चित्त का निरूपण करते हुए कहा भी गया है कि–"व्रतच्युत पशुयाग से शुद्ध होते हैं ।" इस प्रकार प्रच्युत ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मविद्या का अधिकार हो सकता है । इसका उत्तर देते हैं–

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद योगात् ।३।४।४१॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तद्भ्रष्टानां न संभवति, कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात्–नैष्ठिकादीनां प्रच्यु-

ankurnagpal108@gmail.com

तानां पतनस्मृतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासंभवात्—"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः, प्रायश्चितं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति। अतो अधिकारलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितर ब्रह्मचारिविषयम्।

अधिकर लक्षण में जो प्रायश्चित्त का लक्षण है वह ब्रह्मचर्य विच्युत व्यक्तियों के लिए नहीं है, जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट हो जाते हैं वैसे पतितों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उनके लिए प्रायश्चित्त की असंभावना बतलाई गई है "नैष्ठिक आश्रमों में आरूढ़ होने के बाद जो द्विज पतित हो जाता है उस आत्महत्यारे के लिए कोई प्रायश्चित्त दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे कि वह शुद्ध हो सके।" इससे सिद्ध होता है कि जो अधिकार लक्षण में जिस प्रायश्चित्त का विधान है वह नैष्ठिक आश्रमों के लिए नहीं है।

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम्।३।४।४२॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यंप्रच्यवनमुपपूर्वम्—उपपातकम्, महापातकेष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चितस्य भावं विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते, अशनवत्—यथा मध्वदिनिषेधस्त प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम्, तदुक्तं स्मृतिकारैः "उत्तरेषां चैतदविरोधि" इति गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाश्रमाविरोध्युत्तरेषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः तद्वदिहापि ब्रह्मचर्य प्रच्यवने प्रायश्चित्तसंभवाद् ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति।

किसी आचार्य का मत है कि जो नैष्ठिक आदि का पतन है वह उपपातक है, उसकी महापातकों में गणना नहीं है इसलिए उनका प्रायश्चित्त हो सकता है। जैसा कि मधुपान का निषेध और उसका प्रायश्चित्त उपकुर्वाण और नैष्ठिक दोनों के लिए समान है, वैसे ही यहाँ भी प्रायश्चित्त संभव है। जैसा कि स्मृतिकार का मत भी है कि—"यदि विरोधी न हो तो बाद के आश्रमों में भी यही नियम लागू होगा" अर्थात् गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी के लिए जो कहा गया यदि वह आश्रम के विरुद्ध न हो तो

ankurnagpal108@gmail.com

परवर्ती वानप्रस्थ संन्यासी आदि नैष्ठिक में भी संभव है। इसलिए ब्रह्मचर्य से च्युत का प्रायश्चित्त संभव है और ब्रह्मविद्या में अधिकार भी हो सकता है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३।।

तु शब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः, उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते बहिर्भूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः, ब्रह्मविद्यामनधिकृता इत्यर्थः। कुतः ? स्मृतेः पूर्वोक्तात्पतनस्मरणात्। यद्यपि कल्मषनिर्हरणाय कैश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विद्यते तथापि कर्माधिकारानुगुण शुद्धिहेतु प्रायश्चित्तं न संभवति "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा" इति स्मृतेरित्यर्थः। आचाराच्च-शिष्टा हि नैष्ठिकादीन् भ्रष्टान् कृतप्रायश्चित्तानपि वर्जयंति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिकं नोपदिशन्ति, अतस्तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्तमतान्तर का व्यावर्त्तक है। ब्रह्मचर्य स्खलन चाहे उपपातक हो या महापातक किन्तु स्खलित ब्रह्मचारी को ब्रह्मविद्या में अनधिकृत ही माना गया है। पूर्वोक्त स्मृति वाक्य में नैष्ठिक के पतन को जघन्य पातक ही माना है। यद्यपि पापों के प्रायश्चित्त के कुछ वचन प्रायश्चित्ताधिकार में मिलते हैं, फिर भी जिनसे सारा संसार कर्म के अधिकार की शिक्षा प्राप्त करता है उनकी शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है यही "प्रायश्चित्तं न पश्येत्" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है। पतित नैष्ठिकादिकों के प्रायश्चित्त का शिष्ट लोग भी विरोध करते हैं। उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते, इसलिए उन लोगों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

११. स्वाम्यधिकरणः—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४।।

कर्मांगाश्रमाणि उद्गीथादि उपासनानि किं यजमान कर्तृकाणि उत ऋत्विककर्तृकाणि ? इति चिन्तायां—यजमान

ankurnagpal108@gmail.com

कर्त्तृकाणि इति आत्रेयोमन्यते, कुतः ? फलश्रुतेः, वेदांतविहितेषु दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनादिह च क्रतुफलाप्रतिबंधरूपस्योद्गीथोपासनफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादित्यर्थः। न च गोदोहनादिवदंगाश्रयत्वेन यजमानकर्त्तृकत्वासंभवः गोदोहनादिषु हि अध्वर्युकर्त्तृक प्रणयनाश्रयगोदोहनोपादनमन्येनाशक्यम्, इह तु उद्गातृकर्त्तृकेऽप्युद्गीथे तस्योद्गीथादेः रसतमत्वानुसंधानं यजमानेनैव कर्त्तुं शक्यते।

कर्मांगाश्रित उद्गीथ आदि उपासनायें, यजमानकर्तृक हैं अथवा ऋत्विक ? इस पर आत्रेय का मत है कि यजमानकर्त्तृक हैं ऐसी ही फलश्रुति भी है। वेदांत की दहरादि उपासनाओं में उपासक और फलभोक्ता एक ही व्यक्ति कहा गया है। वैसे ही फलावाप्ति यजमान के लिए कही गई है इससे ज्ञात होता है कि-उपासना भी यजमान द्वारा ही होनी चाहिए। यह नहीं कह सकते कि–यज्ञ के अंग गोदोहन आदि कर्म जैसे यजमान द्वारा संभव नहीं हैं वैसे ही कर्मांग उपासनायें भी संभव नहीं हैं। गोदोहन तो अध्वर्यु के लिए ही रुचपाक में विहित है, वह अन्य के द्वारा संभव नहीं है। किन्तु उद्गीथ आदि उपासनाओं में जो क्रियानुष्ठान होते हैं उनमें उद्गाता कर्त्ता होता है फिर भी उद्गीथ की रसतम रूप से होनेवाली उपासना तो यजमान से ही संपादित होती है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते—

इस पर स्वसिद्धान्त बतलाते हैं—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ।३।४।४५।।

आर्त्विज्यम्—ऋत्विजः कर्मोद्गीथाद्युपासनमित्यौडुलोमिराचार्योमन्यते, कुतः ? प्रयोजनाय ऋत्विक् परिक्रियते, फलसाधनभूतस्य सांगस्य क्रतोनुपादानायेत्यर्थः। कर्मविधिषु "ऋत्विजोवृणीते" ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति" इति ऋत्विक् कर्त्तृकत्व-

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्रेण फलसाधनभूतं सांगं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते, तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कर्तृकाण्येव, न च शक्त्यशक्तौ तस्य निबन्धनम्। यद्यपि उद्गीथाद्युपासनं पुरुषार्थः, तथापि क्रत्वधिकृताधिकारत्वात् क्रतोश्च सांगस्य ऋत्विक्कर्तृकत्वात् "यदेव विद्यया करोति तदेव वार्यवत्तरम्" इति ऋत्विक्कर्तृक क्रियोपयोगित्वेन विद्यायास्तदेककर्तृकत्व श्रवणात् ऋत्विक्कर्तृकान्येतानि दहरादिषूपासनेषु ऋत्विक्कर्तृ-कत्वाश्रवणात् "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति न्यायाच्च फलि-कर्तृकत्वमेव।

औडुलोमि आचार्य का मत है कि–उद्गीथ आदि उपासना ऋत्विक कर्तृक है। प्रयोजन सिद्धि के लिए यजमान ऋत्विक् को खरीद लेता है। अर्थात् फल सिद्धि के उपाय रूप कर्म के सांगोपांग संपादन के के लिए उसका वरण करता है। "ऋत्विक् का वरण करता है" "ऋत्विजों को दक्षिणा देता है" इत्यादि कर्मकांडोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि–फलसाधक कर्म और संपूर्ण कर्मांग ऋत्विजों से ही अनुष्ठेय हैं। उन अनुष्ठानों के अंतर्गत जितने भी कायिक मानसिक कर्म हैं वे सभी ऋत्विक कर्तृक हैं, यजमान में उनके करने की शक्ति है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो एकमात्र ऋत्विजों का स्वायत्त कर्म है।

यद्यपि उद्गीथ आदि उपासनायें पुरुषार्थ साधक हैं फिर भी वह जब यज्ञाधिकार से अधिकृत है तो उन पर ऋत्विक का ही अधिकार माना जावेगा "विद्या से जो करता है वह प्रबलतम होता' है" इत्यादि में उपासना को यज्ञ की ही उपकारिणी कहा गया है, इसलिए उसका कर्त्ता ऋत्विक् ही निश्चित होता है। दहर आदि उपासनाओं में भी ऋत्विकोंका कर्तृत्व बतलाया गया है "शास्त्र का फल प्रयोक्ता में ही होता है" इत्यादि नियम से ज्ञात होता है कि–फलभागी ऋत्विक् ही उपासना का कर्त्ता है।

ankurnagpal108@gmail.com

१२. सहकार्यन्त्यधिकरणः

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४६॥

"तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" इत्यत्र बाल्य पांडित्यवन्मौनमपि विधीयते, उत अनूद्यत ? इति विशये मौनपांडित्यशब्दयोःज्ञानार्थत्वात् "पांडित्यं निर्विद्य" इति विहितमेव ज्ञानं "अथ मुनिः" इत्यनूद्यते, विधि शब्दो नह्यत्र श्रूयत इति ।

"ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य से व्युत्पन्न होकर बाल्य में अवस्थान करे और फिर पांडित्य और बाल्य दोनों से अधिगत होकर मुनि हो जाय" इत्यादि में बाल्य और पांडित्य का जैसा विधान है मुनि का भी वैसा ही विधान होगा या नहीं ? इस संशय पर मत होता है कि–मौन और पांडित्य दोनों ही शब्द ज्ञानार्थक हैं "पांडित्य निर्विद्य" में जो ज्ञान अर्थ विहित है "अथमुनिः" में उसी का अनुवाद मात्र कर दिया गया है विधि बोधक शब्द का प्रयोग नहीं है। इसलिए मौन की विधि नहीं है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः, सहकार्यन्तरविधिः, इति। तद्वतः विद्यावतः, विध्यादिवत् विधीयते इति यज्ञादिः सर्वाश्रमधर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते, आदिशब्देन श्रवणमनने गृह्येते, सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि, विधीयत इति विधिः, सहकार्यन्तरं विधिश्चेति सहकार्यन्तरविधिः। एतदुक्तं भवति—यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन" इत्यादिना "शांतो दान्तः" इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिः शमदमादिश्च विधीयते; यथा च "श्रोतव्यो मंतव्यः" इति श्रवणमननेचार्थं प्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते, तथा "तस्माद् ब्राह्मणा पांडित्यं विधीयते इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "सहकार्यन्तर विधिः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। विद्या संपन्न शास्त्रीय यज्ञादि विधि की तरह मौन भी बिहित है। जो विहित हो उसे ही विधि कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे ही आश्रम धर्म और शम दम आदि साधन सभी विधि हैं। आदि शब्द से श्रवण और मनन भी ग्राह्य हैं। विधि शब्द का अर्थ है-विहित बिधि का विषय। सहकार्यन्तरविधि का तात्पर्य है-जो विधि विहित हो। कहने का तात्पर्य यह है कि-जैसे "ब्रह्मनिष्ठ वेदविहित यज्ञ और दान द्वारा आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि और "शान्तो दान्तः" इत्यादि वाक्यों से सहकारी यज्ञ आदि क्रिया एवं शम दम आदि विहित हैं तथा "श्रोतव्यः मंतव्यः" इत्यादि से श्रवण और मनन का विधान बतलाया गया है वैसे ही-"तस्माद ब्राह्मण पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादि वाक्य से पांडित्य बाल्य और मौन तीनों को ही, विद्या के सहकारी रूप से विहित कहा गया है।

मौनं च पांडित्यादर्थान्तरमित्याह-पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोग दर्शनात् मौनंपांडित्यबाल्ययोर्द्वयोः तृतीयम्। यद्यपि "अथ मुनिः" इत्यत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयते, तथापि मौनस्याप्राप्तत्वात् विधेयत्वमंगीकरणीयम्-अथ मुनिः स्यात्-इति। इदं च मौनं श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरमुपासनालंबनस्य पुनः पुनः संशीलनं तद्भावनारूपम्।

मौन और पांडित्य दोनों भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं। मुनि शब्द की प्रकृष्ट मनन शील, व्यास आदि में विशेष प्रयोग देखा जाता है जिससे ज्ञात होता है कि मुनि, पांडित्य और बाल्य से भिन्न तीसरी वस्तु है। यद्यपि "अथ मुनिः" में विधि प्रत्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी अन्यत्र कहीं भी मौन विधि का प्रयोग न होने से इस वाक्यांश में ही विधि प्रत्यय की कल्पना करनी होगी। सुनी हुई वस्तु की धारण के लिए जिस मनन वृत्ति का विधान है, यह मौन उससे भिन्न स्वतंत्र वृत्ति है, यह उपासना के आलंबन की, चिन्ताप्रवाहात्मक उपास्य भावनारूप एक वृत्ति विशेष है।

ankurnagpal108@gmail.com

तदेवं वाक्यार्थः, ब्राह्मणः विद्यावान् पांडित्यं निर्विद्य, उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः। तच्चभगवद्भक्तिकृतसत्त्वविवृद्धिकृतम्। यथोक्तं– "नाहंवेदैः "इत्यारभ्य "भक्त्यात्वनन्यया शक्यः ज्ञातुम्" इति। श्रुतिश्च–"यस्यदेवे पराभक्तिः" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादिका। बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यस्वरूपंचानन्तरमेव वक्ष्यते, बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः स्यात्-बाल्यपांडित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णे ब्रह्मणि मननशीलोभवेत्, निदिध्यासनरूपविद्या प्राप्तये। एवमेव त्रितयोपादानेन लब्धविद्योभवतीत्याह "अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति। अमौनं मौनेतर सहकारि कलापः, तं च मौनं च यथावदुपाददानो विद्याकाष्ठां तदेक निष्पाद्यां लभेतेत्यर्थः। "स ब्राह्मणः केन स्यात्" उक्तादुपायात् किमन्योऽप्युपायोऽस्तीतिपृष्टे "येन स्यात्तेनेदृश एव" इति येन मौन पर्यन्तेन ब्राह्मणः स्यादित्युक्तम् तेनैवेदृशः स्यात् न केनाप्यन्येनोपाये-नेति परिहृतम्! अतः सर्वेष्वाश्रमेषु स्थितस्यविदुषोयज्ञादिस्वाश्रम-धर्मवत् पांडित्यादिकं मौन तृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते।

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि– ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति विद्या-वान, पांडित्य अर्थात् विद्या प्राप्तकर, उपासना द्वारा विशुद्ध परिपूर्ण, उपास्य ब्रह्म तत्त्व को जानकर, श्रवण और मनन से, अप्राप्त वेदन (उपासनात्मक ज्ञान) को प्राप्त करे, जो कि भगवद्भक्तिकृत् सत्व गुण से बढ़ाया गया है। जैसा कि–"नाहं वेदैः" से लेकर "भक्त्या त्वनन्या-शक्यः ज्ञातुम्" तक गीता में और "यस्य देवे पराभक्ति" नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है।

"बाल्यंतिष्ठासेत्" में जो बाल्य का स्वरूप बतलाया गया है उसे आगे बतलावेंगे। "बाल्य ओर पांडित्य को अच्छी तरह जानकर मुनि होते हैं" इत्यादि का तात्पर्य है कि–बाल्य और पांडित्य के रूप में अभ्यस्त

ankurnagpal108@gmail.com

होकर निदिध्यासन रूप विद्या की प्राप्ति के लिए परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में मननशील होवे। इस प्रकार–बाल्य–पांडित्य और मौन के अनुशीलन से आत्मविद्या का ज्ञान होता है यही "अमौन और मौन दोनों से अधिगत होकर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं" इत्यादि वाक्य में दिखलाया गया है। मौन के अतिरिक्त विद्या के सहकारी सभी साधन अमौन हैं। जो व्यक्ति मौन और अमौन को विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं, वे भगवन्निष्ठात्मक विद्या की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रश्न किया गया है कि–"वह ब्रह्मनिष्ठ इन उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय के भी आश्रित होता है या नहीं?" इसका उत्तर दिया गया कि–"येन स्यात् तेनदृश एव" अर्थात् मौन तक जिन साधनों की सहायता से ब्रह्मनिष्ठ होता है वे ही हैं अन्य नहीं। इसलिए सभी आश्रमों में स्थित उपासकों को यज्ञादि आश्रम धर्मों की तरह, पांडित्य बाल्य मौन आदि विद्या के सहकारी साधनों का पालन करना चाहिए।

अथ स्यात् सर्वेष्वाश्रमेषु, स्थितानां विदुषः तत्तदाश्रमधर्म सहकारिणी मौनतृतीय सचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्ति साधनमुच्यते, कथं तर्हि छांदोग्ये–"अभिसमावृत्य कुटुंबे शुचौ देशे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिदर्शनमुपपद्यते। अत आह—

प्रश्न होता है कि यदि सभी आश्रमों में स्थित उपासकों के लिए मौन आदि युक्त विद्या को ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन कहा गया है तो छांदोग्य–में "विद्याध्ययन समाप्त कर पवित्र ग्रहस्थ आश्रम में–"तथा–"वह जीवन पर्यन्त ऐसा करते हुए ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता" इत्यादि से जीवन पर्यन्त ग्रहस्थाश्रम में ही रहने का समर्थन क्यों किया गया है? इसी का उत्तर देते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।३।४।४७।।

तु शब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, कृत्स्नभावात्–कृत्स्नेषु भावात् कृत्स्नेष्वाश्रमेषु विद्यायाः सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्तीति तेनोपसंहारः

ankurnagpal108@gmail.com

तस्मात् सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थो गृहिणोपसंहारः, इत्यभिप्रायः ।

तु शब्द उक्त शंका का व्यावर्त्तक है। सभी आश्रमों में विद्यानुशीलन का अधिकार है, ग्रहस्थ में भी है, इसलिए छांदोग्य में केवल ग्रहस्थ प्रकरण का उपसंहार किया गया है। सभी आश्रम धर्मों का प्रदर्शन करने के लिए ही ग्रहस्थ धर्म में उपसंहार किया गया है।

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये "ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति" इति पारिव्राज्यक्रांत धर्मं प्रतिपाद्य "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य" इत्यादिना पारिव्राज्यधर्मस्थितिहेतुक मौनतृतीय सहकारविधानं प्रदर्शनार्थ मित्याह—

उसी प्रकार इसी वाक्य में "ब्रह्मनिष्ठ पुत्रेषणा, वित्तेषणा, और लोकेषणा से उत्तीर्ण होकर भिक्षाटन करते हैं "इत्यादि पारिव्राजक धर्म का प्रतिपादन करके "तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विध" इत्यादि से पारिव्राजक धर्म के रक्षक मूलभूत मौन आदि सहकारी साधनों का प्रदर्शन किया गया है, ऐसा विवेचन करते हैं—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४८॥

सर्वेषणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वक मौनोपदेशः सर्वेषां आश्रमधर्माणां प्रदर्शनार्थः, कुतः? एवं विधिमौनोपदेशवदितरेषामाश्रमिणां अपि "त्रयो धर्मस्कंधः" इत्यारभ्य "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपदेशात् । उपपादितश्च पूर्वमेव ब्रह्मसंस्थ शब्दः सर्वाश्रमिसाधारण इति । अतः सुष्ठूक्तं—यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मवन्मौन तृतीयः पांडित्यादिर्विद्या सहकारित्वेन विधीयते-इति ।

सभी एषणाओं से मुक्त, भिक्षाटन पूर्वक मौनोपदेश सभी आश्रमों के धर्मों के स्वरूप के प्रदर्शन के लिए है। ऐसे मौनोपदेश की तरह अन्य आश्रमवासियों के लिए "त्रयो धर्मस्कंधाः" से लेकर "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" तक ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मसंस्थ, प्रायः सभी

ankurnagpal108@gmail.com

21283

आश्रमों के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द है, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि—यज्ञादि सर्वाश्रम धर्मों की तरह मौन पांडित्य आदि विद्या सहकारी साधन भी विहित हैं।

१३. अनाविष्काराधिकरण:—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्।३।४।४६॥

"तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र विदुषा बाल्यमुपादेयतयाश्रुतम्। बाल्यस्य भावः कर्म वा बाल्यम् बालभावस्य वयोवस्थाविशेषस्यानुपादेयत्वात् कर्मेवेह गृह्यते। तत्र किं बाल्यस्य कर्म कामचारादिकं सर्वं विदुषोपादेयम् उत् डम्भादि रहितत्वम् एव ? इति विशये विशेषाभावात् सर्वमुपादेयम्, नियम शास्त्राणि च विशेष विधानाऽनेन बाध्यंत इति।

"तस्माद् ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्य में साधक के लिए बाल्य भाव की उपादेयता बतलाई गई है। बाल्य का भाव या कर्म ही बाल्यत्व है, अवस्था विशेष रूप जो बाल भाव है उसका तो स्वेच्छा से पालन किया नहीं जा सकता, इसलिए बाल्य का अर्थ बाल्य कर्म ही समझा जायेगा। बालक की जो स्वेच्छाचारिता है वही साधक के लिए उपादेय है अथवा बालक की जो अहंकार शून्यता आदि है केवल वही उपादेय है ? इस पर विचारने पर मत होता है कि—उक्त वाक्य में कोई विशेषोल्लेख तो है नहीं इसलिए सभी भाव उपादेय हैं। स्वेच्छाचारिता के निवारक जो नियम शास्त्र हैं वे सभी इस विशेष विधि शास्त्र से बाधित हो ही जाते हैं।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अनाविष्कुर्वन्निति। बालस्य यत् स्वभावानाविष्कार रूपं कर्म तदुपाददानो वर्त्तेत विद्वान्। कुतः ? अन्वयात्—तस्यैवान्वयात्। "बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यस्मिन् विधौ तस्यैव ह्यन्वय संभवः, इतरेषां विद्याविरोधित्वश्रवणात् "नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो ना समाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

बालक जो स्वाभाविक अनाविष्कृत कर्म है, वही साधक के लिए उपादेय है। उसी की वाक्य के साथ संगति बैठ सकती है। "बाल्यं तिष्ठासेत्" में उक्त तात्पर्य ही निहित है, अन्य जो स्वेच्छाचारिता आदि हैं, उन सब को तो विद्या विरोधी कहा गया है "जो दुश्चरितों से अशांत नहीं होते, असमाहित नहीं होते, अशांत चित्त नहीं होते, वे ही प्रकृष्ट ज्ञान द्वारा परम पुरुष को प्राप्त करते हैं' आहार शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है' इत्यादि वाक्य में भी बालकोचित स्वेच्छाचारिता आदि कर्मों को विरोधी कहा गया है।

१४ ऐहिकाधिकरणः—

ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे तद्दर्शनात् ।३।४।५०॥

द्विविधा विद्या अभ्युदयफला, मुक्ति फला च। तत्राभ्युदयफला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, उत अनन्तरं कालान्तरे वेत्यनियमः ? इति संशयः। पूर्वकृतैः पुण्यकर्मभिः विद्वान जायते, यथोक्तं भगवता "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन" इति। साधने निवृत्ते विलम्बहेत्वभावात् अनन्तरमेव।

विद्या दो प्रकार की है, एक अभ्युदय फल वाली दूसरी मुक्तिफल वाली। जो अभ्युदय फल वाली विद्या है, वह अपने साधन रूप पुण्य कर्मों द्वारा तत्काल ही फल प्रदान करती है, अथवा कालान्तर में ? इस पर विचारने से मत होता है कि—पूर्वकृत पुण्य कर्मों के प्रभाव से ही लोग विद्वान होते हैं जैसा कि—भगवान ने कहा भी है—"अर्जुन! सुकृत लोग मुझे चार प्रकार से भजते हैं" इत्यादि। कारण के रहते हुए कार्योत्पत्ति में विलम्ब हो यह बेतुकी सी बात है। इसलिए साधना के बाद ही फल मिलता है ऐसा ही मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे—इति ऐहिकमभ्युदयफलमुपासनम्, अप्रस्तुत प्रतिबंधे—अप्रस्तुते प्रबलकर्मान्तरा प्रतिबंधे सत्यनन्तरं, प्रतिबंधे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः

ankurnagpal108@gmail.com

कुतः ? तद्दर्शनात्—दृश्यते हि प्रबलकर्मान्तरेण कर्मफल प्रतिबंधा भ्युपगमः श्रुतौ "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युदगीथविद्यायुक्तस्य कर्मणः फला प्रतिबंध श्रवणात् ।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से "ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अन्य प्रबल प्रतिबन्धक कर्मों के न होने पर ही अभ्युदयजनक विद्या का फल इस शरीर से प्राप्त हो सकता है, प्रतिबंधक कर्मों के क्षय होने पर फलावाप्ति होती है, इस विषय में कोई निश्चित नियम है भी नहीं। देखा जाता है कि—अन्य प्रबल कर्म ही, फलावाप्ति में बाधक हो जाते हैं, तथा प्रबलतर साधन से प्रतिबन्धक कर्मों का नाश भी हो जाता है जैसा कि—"विद्या श्रद्धा और उपनिषद् द्वारा जो किया जाता है वही प्रबलतर होता है" इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। इस वाक्य में उद्गीथ विद्यायुक्त कर्म को फल का अप्रतिबंधी कहा गया है।

१५ मुक्तिफलाधिकरणः—

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५१॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधन भूतैरतिशयित कर्मभिरुत्पत्तावेवमेव फलानियमः, तस्यापि पूर्ववत् प्रतिबंधाभाव प्रतिबंध समाप्तिरूपावस्थावगतेः, अत्रापितस्य हेतोः समानत्वादित्यर्थः ।

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविद्या साधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात् प्रतिबंधासंभव इत्याधिका शंका ।

अत्रापि ब्रह्मविदपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां संभवात् प्रतिबंध संभव इति परिहारः, द्विरुक्तिरध्याय परिसमाप्तिं द्योतयति ।

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या के साधन रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्मों से विद्या की उत्पत्ति हो जाने पर भी उक्त प्रकार की ही अनियमित फल व्यवस्था है. इस स्थिति में भी प्रतिबन्धाभाव होने पर ही फलावाप्ति हो सकती है, प्रबलतम प्रतिबन्धक कर्म ही प्रतिबन्धी कर्मों को नष्ट कर फलोन्मुख कर सकता है इस पर विशेष शंका यह होती है कि फल की साधक–मुक्ति जिस कर्म से प्रकट होती है, वह कर्म अन्यान्य कर्मों से तो निश्चित ही प्रबलतम होता है, इसलिए अन्य कर्म उसके प्रतिबंधक हो सकते हैं ? उपासक का अपकारी कोई प्रबलतम प्राक्तन कर्म ही प्रतिबंधक होता है । सूत्र में की गई द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की द्योतक है ।

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ–अध्याय

प्रथम पाद

१. आवृत्यधिकरणः--

आवृत्ति सकृदुपदेशात् ।४।१।१॥

तृतीय अध्याये साधनैः सह विद्या चिन्तिता । अथेदानीं विद्या स्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चित्यते ।

तीसरे अध्याय में साधनों के साथ विद्या पर विचार किया गया । अब विद्या के स्वरूप पर विमर्श करते हुए विद्या के फल पर विचार करते हैं ।

तत्र "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"–तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"–यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं "इत्यादि वेदांत वाक्येषु ब्रह्मप्राप्ति साधनतया विहितंवेदनं किं सकृत-कृतमेव शास्त्रार्थः उत असकृत् आवृत्तमिति ? संशयः, किं युक्तम् ? सकृतकृतमिति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति वेदनमात्रस्यैव विधानात्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । न चावघातादिवद् वेदनस्य ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति दृष्टोपायत्वाद्यावत् कार्यमावृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादि कर्माणि, वेदांतविहितं च वेदनं परं पुरुषाराधनरूपम्, आराधि-ताच्च परमपुरुषात् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतोज्योतिष्टोमादिवद् यथाशब्दं सकृतकृतमेव शास्त्रार्थः ।

ankurnagpal108@gmail.com

"ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है" उसे जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है" जब दृश्य रुक्मवर्ण को देखता है" इत्यादि वेदांत वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति के साधन रूप से जिस वेदन का विधान बतलाया गया है वह एक बार कर्तव्य है अथवा बार-बार ? ऐसा संशय होने पर विचार होता है कि—"ब्रह्म को जान ब्रह्म ही होता है" इस वाक्य में एक मात्र वेदन का विधान बतलाया गया है, इसलिए एक बार की जानकारी ही विहित है, बार-बार की आवृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता। वेदन ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपाय तो है नहीं जिससे कि—प्रत्यक्ष ब्रह्म में उसे बार-बार स्पर्श कराया जा सके, ब्रह्म और वेदन दोनों ही परोक्ष हैं जो एक बार ही संभव हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और वेदांत विहित वेदन दोनों ही परंपुरुष के आराधनरूप उपाय हैं, इनसे परम पुरुष की आराधना करने पर धर्म-अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा "फलमत उपपत्तेः" में प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्योतिष्टोम आदि की तरह वेदन भी एक शास्त्रीय साधन (शब्द) है जो कि एक बार ही कर्त्तव्य है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-आवृत्तिरसकृत्-इति। असकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः कुतः? उपदेशात्-ध्यानोपासनपर्यायेण वेदनशब्देनोपदेशात्। तत्पर्यायित्वं च विद्युपास्तिध्यायतीनामेकस्मिन् विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते। अथाहि—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इत्युपासनोपक्रांतोऽर्थः "भाति च तपति च कीर्त्या यशसाब्रह्मवर्चसेन स एवं वेद" इति विदिनोपसंहियते। तथा "यस्तद् वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्युपक्रमे विदनोक्त रैक्वस्य ज्ञानम् "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इत्युपासिनोपसंहियते तथा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्य समानार्थेषु वाक्येषु "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं तत ध्यायमानः" इत्यादिषु ध्यायतिना वेदनमभिधीयते ध्यानं च चिन्तनं, चिन्तनं च स्मृति

ankurnagpal108@gmail.com

संततिरूपम्, न स्मृतिमात्रम्, उपास्तिरपि तदेकार्थः एकाग्र चित्तवृत्तिनैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात् तदुभयैकार्थ्यात् असकृदावृत्त सन्ततस्मृतिरिह ब्रह्मवेद "ब्रह्मैव भवति" ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः इत्यादिषु वेदनादिशब्दैरभिधीयते, इति निश्चीयते ।

उत मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि-वेदन पुनः पुनः आवृत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त है। शास्त्रों में ध्यान और उपासना आदि शब्दों के पर्याय रूप से वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदनोपदेश परक वाक्यों में, प्रायः, वेदन ध्यान और उपासना आदि शब्द, एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। जैसे कि-"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में जो उपासना शब्द से अभिधेय है वही "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" इत्यादि में वेदन शब्द से विधेय है। तथा-"यस्तद वेद" इत्यादि वेद शब्द से उल्लेख्य रैक्व के ज्ञान का "अनुमएतां भगवो" में उपासना से उपसंहार किया गया है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" वाक्य के समानार्थक "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" आदि वाक्यों में वेदन अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्यान और चिन्तन समानार्थक हैं, प्रवाहमयी स्मृति को ही चिन्तन कहते हैं, केवल स्मृति को चिंतन नहीं कह सकते, उपासना शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। एकाग्रचित्तवृत्ति और निरन्तर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है इसलिए "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" "ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि में प्रयुक्त वेदन आदि शब्द निरन्तर स्मृतिरूप पुनः पुनः आवृत्ति अर्थ के ही ज्ञापक हैं ऐसा निश्चित होता है।

लिंगाच्च ।४।१।२॥

लिंगं, स्मृतिश्चायमर्थोऽवगम्यते । स्मर्यते हि मोक्ष साधनभूतं वेदनं स्मृति संततिरूपम् "तद्रूपप्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा, तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगैर्निष्पाद्यते तथा" इति तस्माद सकृदा-वृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ।

लिंग का तात्पर्य है स्मृति। इसी अर्थ में स्मृति भी वेदन शब्द का प्रयोग करती है। मोक्ष की साधन रूप प्रवाहमयी स्मृति को ही स्मृति

ankurnagpal108@gmail.com

शास्त्र में भी वेदन कहा गया है, जैसे कि-"तद्रूप प्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगै निष्पाद्यते तथा" इत्यादि। इसलिए वेदन शब्द का अर्थ सकृत आवृत्ति ही निश्चित होता है।

२ आत्मत्वोपासनाधिकरणः—

आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च ।४।१।३।।

इदमिदानीं चिंत्यते-किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्, उतोपासितुरात्मत्वेन-इति। किं युक्तम्? अन्यत्वेनेति कुतः उपासितुः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वाद् ब्रह्मणः अर्थान्तरत्वं च "अधिकं तु भेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात् "नेतेरोऽनुपपत्तेः" इत्यादिषूपपादितम्। यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम्, अयथोपासने हि ब्रह्मप्राप्तिरप्ययथाभूतास्यात्—"यथाक्रतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति न्यायात्। अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति।

अब विचारते हैं कि-उपास्य ब्रह्म की, उपासक से भिन्न मानकर उपासना की जानी चाहिए अथवा उपासक से अभिन्न मानकर? इस पर विचारने से मत होता है कि-भिन्न मानकर ही करनी चाहिए क्योंकि उपासक जीवात्मा की परमात्मा से स्वाभाविक भिन्नता है, "अधिकं तु भेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात्" "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादि सूत्रों में इन दोनों की भिन्नता का समर्थन भी किया जा चुका है। ब्रह्म की उपासना एक निश्चित वस्तु है यदि उपासना को निश्चित नहीं मानेंगे तो, ब्रह्म भी अनिश्चित हो जायेगा, ऐसा ही "जैसा इस लोक में आचरण करता है वैसा ही मृत्यु के बाद होता है" इस नियय से ज्ञात होता है। इसलिए भिन्न मानकर ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-आत्मेति तु-इति। तु शब्दोऽवधारणे, उपासितुरात्मेत्येवोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वयं स्वशरीरस्य यथा आत्मा,तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासोत्यर्थः। कुतः? एवं हि उतगच्छन्ति पूर्वे उपासितारः "त्वं वाअहमस्मि

ankurnagpal108@gmail.com

भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इति। उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथनमप्युपगच्छंतीत्यत्राह-ग्राहयंति च-इति । इममर्थमविरुद्धमुपासितृ न ग्राहयंति शास्त्राणि-तान् प्रत्युपादयंतीत्यर्थः ।

सिद्धान्त–उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं "आत्मेति तु" तु शब्द अवधारणार्थक है उपासक की आत्मा में ही उपास्य का चिन्तन करना चाहिए। उपासक जीवात्मा जैसे अपने शरीर का आत्मा है, वैसे ही उसका आत्मा, परमात्मा है जो कि उपास्य है। ऐसा ही "हे भगवोदेवते! तू ही मै हूँ और मैंही तुम हो" इत्यादि पूर्व उपासकों के भाव से ज्ञात होता है। उपासक से भिन्न परब्रह्म को उपासक, मैं हूँ 'ऐसा कैसे कह सकता है। इस पर सूत्रकार कहते हैं "ग्राहयंति च" अर्थात् उपासक का ही ऐसा भाव नहीं है अपितु इसी अर्थ का शास्त्र भी प्रतिपादन करते हैं।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति तथा-"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं "सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इति च सर्वस्यचिदचिद्वस्तुनस्तज्जातत्वात्तल्लत्वादनत्वात्तन्नियाम्यत्वाच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स आत्मा, अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् "देवोऽहं मनुष्योऽहम्" इत्यनुसंधानं, तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मात्वात् परमात्मनः तस्याप्यहमित्येवानुसंधानं युक्तमिति ।

"जो आत्मा में स्थिर है, जिसे आत्मा नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा का संयमन करता है वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" तथा "हे सोम्य! ये सारी प्रजा सन्मूला सदायतना और सत्प्रतिष्ठा है यह सारा जगत आत्म्य है" यह सब कुछ ब्रह्म है, उसी से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन है "इत्यादि वाक्यों में समस्त चिदचिद् वस्तु को उस परमात्मा से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन बतलाते हुए उसी से नियत और उसका शरीर स्थानीय दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि यह परमात्मा सब की आत्मा है।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि–जीवात्मा अपने शरीर का आत्मा होने के कारण "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि अनुभव करता है वैसे ही जीवात्मा अपने आत्मा परमात्मा में भी "तुम मैं हो" ऐसी अनुभूति करता है तो क्या असंगति है।

एवं शास्त्रैरुपपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमुपगच्छंतः "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिरेकेणोक्तवन्तः, एवं च "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद"–अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत्"–"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यात्मत्वाननुसंधान निषेधः। "पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा" इति पृथक्त्वानुसंधानविधानं चाविरुद्धम् अहमिति स्वात्मतयाऽनुसंधानादन्यत्वानुसंधाननिषेधो रक्षितः, स्वशरीरात्मनोऽधिकत्वानुसंधानवत् स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसंधानात् पृथक्त्वानुसंधानविधानं च रक्षितम्। अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आत्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वात् निषेध वाक्ये "अकृत्स्नो ह्येषः" इत्युक्तम्। अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम्।

"हे भगवो देवते! तुम मैं हूँ, और मैं तुम हो" इत्यादि में जो व्यतिरेक भाव से अभिन्नता दिखलाई गई है, वह सभी बुद्धियों की ब्रह्मैकनिष्ठता और सभी शब्दों की ब्रह्मैकनिष्ठता परिलक्षित करती है तथा "जो देवता की भिन्न भाव से उपासना करते हुए यह विचारता है कि मैं भिन्न हूँ वह नहीं जानता" इत्यादि में आत्मत्व के अनुसंधान न करने का निषेध किया गया है। "आत्मा और प्रेरिता को पृथक मानकर" इत्यादि में जो पृथकता के अनुसंधान का विधान बतलाया गया है वह अविरुद्ध है। अहं से किये गये अपने आत्मा के अनुसंधान से अन्यत्व के अनुसंधान का निषेध हो जाता है तथा अपने शरीर से श्रेष्ठ अपने आत्मा के अनुसंधान की तरह अपने आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा के अनुसंधान के विधान से पृथकता के अनुसंधान की बात भी बन जाती है। परमात्मा जीवात्मा से श्रेष्ठ है तथा जीवात्मा उसका

ankurnagpal108@gmail.com

शरीर है, यही बात "अकृत्स्नो ह्येष" इत्यादि निषेध वाक्य में बतलाई गई है। इससे सिद्ध होता है कि—उपासक के आत्मा के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

३. **प्रतीकाधिकरण:—**

न प्रतीके न हि सः।४।१।४॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते "इत्यादि प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, उत न? इति चिन्तायां" मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इति ब्रह्मोपासनत्वसाम्याद्-ब्रह्मणश्चोपासितुरात्मत्वादात्मेत्येवोपासीतेति।

"मन को ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में जो प्रतीकोपासना बतलाई गई हैं उनमें आत्मत्व का अनुसंधान करना चाहिए या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में ब्रह्मोपासनत्व का साम्य है इसलिए उपासक के आत्मा ब्रह्म की, मन में, आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रतीके—इति। प्रतीके-नात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, न हि सः, न हि उपासितुरात्मा प्रतीकः। प्रतीकोपासनेषु प्रतीकएवोपास्यः, न ब्रह्म। ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम् प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्म दृष्ट्या-नुसंधानम्, तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथाऽनुसंधेयम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "न प्रतीके" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि— प्रतीक में आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, प्रतीक उपासक की आत्मा नहीं है। प्रतीकोपासना में प्रतीक ही उपास्य होता है ब्रह्म नहीं होता। उसमें तो ब्रह्मदृष्टि मात्र होती है अब्रह्म वस्तु में, ब्रह्म दृष्टि के अनुसंधान को ही प्रतीकोपासना कहते हैं। प्रतीक में आत्मत्व का अभाव है इसलिए उसमें उपासक के आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए।

ankurnagpal108@gmail.com

नन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्, ब्रह्मणउपास्यत्वसंभवे मन आदीनामचेतनानामल्पशक्तीनां चोपास्यत्वाश्रवणस्यान्याय्यत्वात्। अतो मन आदि दृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति—अत आह—

(तर्क) प्रतीकों में भी ब्रह्म ही उपास्य है यदि प्रतीकों को ब्रह्म मानकर उपासना नहीं करेंगे तो मन आदि अत्यल्प शक्तिवाले अचेतनों को उपास्य मानना असंगत होगा, इसलिए मन आदि दृष्टि से ब्रह्म को ही उपास्य समझना चाहिए। इस पर कहते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५॥

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता, न ब्रह्मणि मन आदि दृष्टिः ब्रह्मणो मन आदिभ्य उत्कर्षात्, तेषां च विपर्ययात्। उत्कृष्टे हि राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी, भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय।

मन आदि प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि करना ही सुसंगत है ब्रह्म में मन आदि दृष्टि करना संगत नहीं है क्योंकि—ब्रह्म, मन आदि से उत्कृष्ट तत्त्व है, वह मन आदि से श्रेष्ठ व्यापक है। श्रेष्ठ राजा में भृत्य दृष्टि करना अपराध है, भृत्य में राज दृष्टि की जा सकती है वह भृत्य के उत्कर्ष की द्योतिका है।

४. **आदित्यादिमत्यधिकरणः—**

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ।४।१।६॥

"य एवासौ त पति तमुद्गीथमुपासीत्" इत्यादिषु कर्मांगाश्रयेषु उपासनेषु संशयः, किमुद्गीथादौ कर्मांगे आदित्य दृष्टिः कर्त्तव्या उत आदित्यादिषु उद्गीथादि दृष्टिः? इति। उत्कृष्ट दृष्टिर्निकृष्टे कर्त्तव्येति न्यायात् उद्गीथादीनां च फलसाधनभूत कर्मांगत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः।

ankurnagpal108@gmail.com

"य एवासौ तपति" इत्यादि कर्मांगाश्रित उपासनाओं के कर्मांग उद्गीथ आदि में आदित्य दृष्टि करना चाहिए अथवा आदित्य आदि में उद्गीथ आदि दृष्टि करनी चाहिए ? निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करना चाहिए, इस नियम के अनुसार और कर्मांग होने से फलसाधनभूत उद्गीथ आदि आदित्य आदि से उत्कृष्ट ही निश्चित होते हैं इसलिए उद्गीथ आदि दृष्टि ही समीचीन प्रतीत होती है

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—आदित्यादिमतयश्चांगे-इति च शब्दोऽवधारणे, क्रत्वंगे उद्गोथादावादित्यादिदृष्टय एव कार्याः, कुतः उपपत्तेः, आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः, आदित्यादि देवताराधन द्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्, अतस्तद्दृष्टिरुद्गीथाद्यंगे ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "आदित्यादिमतय" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि— क्रत्वंग उद्गीथ आदि में आदित्य आदि दृष्टि ही करना चाहिए, आदित्य आदि ही उत्कृष्ट, निश्चित होते हैं। आदित्य आदि देवताओं के आराधना के द्वारा ही कर्म की फल साधनता होती है, इसलिए उद्गीथ आदि अंगों में उनकी दृष्टि करना ही युक्ति युक्त है।

५. आसीनाधिकरणः—

आसीनः संभवात् ।४।१।७॥

मोक्षसाधनतया वेदांतशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यमसकृदावृतं संततस्मृतिरूपमित्युक्तम्। तदनुतिष्ठन्नासीनः शयानः तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत् ।

मोक्ष साधक होने से, वेदांत शास्त्र विहित-ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य ज्ञान को निरन्तर स्मृति स्वरूप अभ्यास बतलाया गया है, जो कि उठते बैठते चलते फिरते सोते, बिना किसी नियम के ही हो सकता है।

ankurnagpal108@gmail.com

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते--आसीनः, इति। आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् कुतः ? संभवात् आसीनस्यैव हि एकाग्रचित्तता-संभवः, स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयनेन निद्रा संभवात्। पश्चार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाश्रये आसीनः कुर्यात्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं "आसीनः संभवात्" अर्थात् बैठकर ही उक्त प्रकार का अभ्यास संभव हो सकता है, बैठने पर ही चित्त की एकाग्रता हो सकती है, खड़े होकर या चलते-फिरते अभ्यास का होना तो, प्रयास करने पर ही संभव हो सकता है। सोते हुए करना निद्रा के कारण संभव नहीं है। बिना किसी प्रयास और चेष्टा के अभ्यास की सिद्धि तो बैठकर ही हो सकती है, इसलिए बैठकर ही अभ्यास करना चाहिए।

ध्यानाच्च ।४।१।८॥

"निदिध्यासितव्यः" इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकाग्रचित्तताऽवश्यम्भाविनी। ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमित्युक्तम्।

"निदिध्यासितव्यः" कहकर उपासना को ध्यान रूप बतलाया गया है, इसलिए ध्यान रूप उपासना में एकाग्रचित्तता अवश्य होनी चाहिए। ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण न होकर एकमात्र ध्येय का ही अखंड चिन्तन होना ही ध्यान कहलाता है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।६ ॥

निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते, "ध्यायतीव पृथवी, ध्यायतीवांतरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्तीवापो, ध्यायन्तीव पर्वताः" इति। अतः पृथिवीपर्वतादिवदेकाग्रचित्ततया निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव संभवेत्।

ध्यान में निश्चलता अपेक्षित है यही बात "ध्यान करती सी पृथ्वी, ध्यान करता सा आकाश, ध्यान करता सा जल, ध्यान करते से

ankurnagpal108@gmail.com

पर्वत" इत्यादि में दिखलाया गया है। पृथ्वी पर्वत आदि की तरह निश्चल होने पर ही उपासक में एकाग्रचित्तता संभव है जो कि बैठने पर ही हो सकती है।

स्मरंति च ।४।१।१०॥

स्मरंति चासीनस्यैव ध्यानं "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्"—तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः, उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।" इति ।

स्मृति में भी बैठकर ही ध्यान करने का विधान मिलता है—"पवित्र स्थान में न अति ऊँचे न अति नीचे कुश अजिन वस्त्र वाले स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्म शुद्धि के लिए चित्त और इन्द्रियों की चेष्टाओं का संयमन करना चाहिए" इत्यादि ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११॥

एकाग्रतातिरिक्त देशकालविशेषाश्रवणादेकाग्रतानुकूलो योदेशः कालश्च, स एवोपासनस्य देशः कालश्च । "समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते" इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह, न तु देशं नियच्छति "मनोऽनुकूले" इति वाक्यशेषात् ।

मन की एकाग्रता के अनुकूल जो स्थान और समय हो वही उपासना का स्थान और समय है, किसी विशेष स्थान और समय का उल्लेख नहीं मिलता । "सम पवित्र कंकड़ों, बालू अग्नि आदि से रहित स्थान में" इत्यादि वाक्य में जो स्थान का निर्देश किया गया है वह एकाग्रता के अनुकूल स्थान का ही सूचक है किसी स्थानविशेष का निर्धारक नहीं है। उक्त वाक्य के अन्त में "मनोऽनुकूले" कह कर उक्त आशय को स्पष्ट कर दिया गया है ।

ankurnagpal108@gmail.com

६. आप्रयाणाधिकरणः—

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२॥

तदिदमपवर्गसाधनमुक्तलक्षणमुपासनमेकाह एव संपाद्यम्, उत आप्रयाणात्प्रत्यहमनुवर्त्तनीयम् ? इति विशये, एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृतत्वात्तावतैव परिसमापनीयम् ।

मोक्ष साधक यह उपासना एक दिन ही करना चाहिए या जीवन पर्यन्त करनी चाहिए ? इस संशय पर मत होता है कि एक बार ही शास्त्र के अर्थ के द्वारा समझ कर उपासना कर लेना चाहिए बार बार करने की क्या आवश्यकता है ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते-आप्रयाणात्-इति, आमरणादनुवर्त्तनीयम्, कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्, उपासनोद्योग प्रभृत्याप्रयाणान्मध्ये यः कालः तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनम्" स खल्वेवं-वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।" इति ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि-मृत्युपर्यन्त उपासना करनी चाहिए, शास्त्रों में, साधना को जब से प्रारंभ करो तब से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करो, ऐसा उल्लेख मिलता है "वह साधना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है", इत्यादि ।

७. तदधिगमाधिकरणः

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौतद्व्यपदेशात् ।४।१।१३॥

एवं विद्या स्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयतुमारभते । ब्रह्मविद्या प्राप्तौ पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयेते—"तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यंते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते" तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" इत्युत्तराघाश्लेषः "तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं

ankurnagpal108@gmail.com

हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति पूर्वाघविनाशः। एतावश्लेषविनाशौ विद्याफल-भूतावुपपद्येते नेति ? संशयः।

विद्या के स्वरूप पर विचार कर अब, विद्या के फल पर विचार प्रारंभ करते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने पर उपासक के आगत और अतीत पापों का अस्पर्श और विनाश बतलाया गया है-"जिसे जानने वाले से पापों का वैसे ही श्लेष नहीं होता जैसे कि कमलपत्र से जल का संबंध नहीं होता" उस आत्म तत्त्व को जानने वाले के कर्म पाप से लिप्त नहीं होते" इत्यादि में आगत पापों का अश्लेष बतलाया गया है। "जैसे कि सींक का अगला भाग अग्नि में घुसाते ही भस्म हो जाता है वैसे ही उपासक के सारे पाप भस्म हो जाते हैं" उस परावर तत्त्व को जान लेने पर उपासक के सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि में अतीत पापों के विनाश की बात आई है। इस पर संशय होता है कि-यह पापों का अश्लेष और विनाश विद्या के फल स्वरूप होता है या नहीं ?

किं युक्तम् ? नोपपद्येते इति, कुतः ? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादि शास्त्रविरोधात्। अश्लेषविनाश व्यपदेशस्तु मोक्षसाधनभूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथंचिद् विद्यास्तुति प्रतिपादनेनाप्युपपद्यते। न च विद्या पूर्वोत्तराघयोः प्रायश्चित्ततया विधीयते, येन प्रायश्चित्तेनाघ विनाशउच्यते। विद्याहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। अतो विद्यार्थवादोऽयमघविनाशा-श्लेषव्यपदेश इति।

उक्त संशय पर मत होता है कि-विद्या से अश्लेष विनाश नहीं हो सकता "बिना भोगे करोड़ों कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं हो सकता" इस शास्त्र वाक्य से ऐसा ही ज्ञात होता है। मोक्ष की साधन स्वरूप विद्या के विश्लेष वाक्यों के अंत में, पाप के अश्लेष विनाश की बात आई है, जो कि-विद्या की प्रशंसा के लिए कही गई प्रतीत होती है। आगत अतीत पापों का प्रायश्चित्त विद्या से होता है, ऐसा विधान बतलाया

ankurnagpal108@gmail.com

गया हो, यह समझ में नहीं आता। विद्या को तो, ब्रह्म प्राप्ति के उपाय रूप से "ब्रह्मविदाप्नोतिपरं" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है, इसलिए विद्या से होने वाले पापों के अश्लेष विनाश की बात को अर्थवाद मात्र मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—तदधिगमे इति। विद्याप्राप्तौ पुरुषस्य विद्या माहात्म्यादुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते, कुतः एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यवगम्यते "एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" "एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते" इत्यादि व्यपदेशात्।

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से—"तदधिगमे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं; वे कहते हैं कि—विद्या की प्राप्ति हो जाने पर उपासक के सारे पापों का संश्लेष समाप्त हो जाता है जो कि विद्या का ही माहात्म्य है। शास्त्रों में विद्या का ऐसा ही माहात्म्य वर्णन किया गया है-"ऐसा जानकर पाप कर्म से आश्लिष्ट नहीं होता" उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं" इत्यादि।

न च-"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तद् हि कर्मणां फलजननसामर्थ्यद्रढिमविषयम्, एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृतानां पाप्मनां फलजननशक्तिविनाश सामर्थ्यमुत्पस्यमानानां च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबंधकरण सामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयोर्भिद्यते। यथा अग्निजलयो रौष्ण्यतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात् प्रामाण्यम्, एवमत्रापीति न कश्चिद् विरोधः।

"बिना भोग के कर्मों का क्षय नहीं होता" इस शास्त्र वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध भी नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न विषयक वाक्य हैं। यह वाक्य, कर्मों की फलजनन शक्ति की महत्ता का द्योतक है तथा "पापभस्म हो जाते हैं" इत्यादि वाक्य, विद्या की उत्पत्ति होने पर, अतीत पापों की फलजनन शक्ति के विनाश तथा आगत पापों की फल-जनन शक्ति के प्रतिरोध की सामर्थ्य का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार दोनों वाक्य भिन्न विषयक हैं। जैसे कि अग्नि और जल की उष्णता और

ankurnagpal108@gmail.com

शीतलता को प्रमाणित करने वाले, प्रमाणों के विषय में भेद होने से उदाहरणों में विभिन्नता होती है वैसे ही उक्त वाक्यों के विषय में भेद है, इसलिए इनमें परस्पर विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता।

अघस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतु शक्त्युत्पत्ति प्रतिबंधकरणम्। अघानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिक कर्मायोग्यतां सजातीयकर्मान्तरारंभरुचिं, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति। अघस्य विनाशकरणं-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम्। शक्तिरपि परंपुरुषाप्रीतिरेव। तदेवं विद्या वेदितुर्वेद्यात् अर्थंप्रियत्वेन स्वयमपि निरतिशय प्रिया सती वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृताघसंचयजनित परंपुरुषाप्रीतिं विनाशयति, सैव विद्या स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिमित्तपरंपुरुषाप्रीत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति। तदिमष्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मंतव्यम्। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादिभिः शास्त्रैराप्रयाणादहरुत्पद्यमानाया उत्तरोत्तरातिशयभागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात्।

वैदिक कर्मों की ओर से मन को हटाने वाली वासना ही इतनी प्रबलतम शक्ति है जो कि पापों की ओर उन्मुख करती है, उसी के वशीभूत होकार मनुष्य पापों से आश्लिष्ट होते हैं। पापों से मनुष्य, वैदिक कर्मों के प्रति घृणा का भाव तथा पाप कर्मों के प्रति अभिरुचि एवं प्रमाद करने लगता है। ऐसा पाप के विनाश का तात्पर्य है, उस पाप से होने वाली शक्तिशाली प्रवृत्ति का विनाश होना। परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था ही पाप जन्य शक्तिशाली प्रवृत्ति है। ब्रह्म विद्या ऐसी शक्तिशाली बूटी है जो कि आनन्दमयी प्रणाली से परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था का निवारण करके जो कि अतीत पापों के फलस्वरूप होती है, आगत पापों से संभाव्य अनास्था का भी, संहार कर देती है। इस प्रकार विद्या का फल बतलाने वाला जो अश्लेषवचन है वह, प्रमाद के निवारण की बात बतला रहा है यही मानना चाहिए। "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादि शास्त्र वचन से, जीवन पर्यन्त अनुष्ठित

ankurnagpal108@gmail.com

विद्या के प्रभाव से उत्तरोत्तर दुश्चरितों से छुटकारा मिलता है, यही भाव दिखलाया गया है।

८ इतराधिकरणः–

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४॥

उत्तरपूर्वाघयोर्विद्यया अश्लेषविनाशावुक्तौ, इतरस्यपुण्यस्यापि एवम्, उक्तेनन्यायेनाश्लेषविनाशौ विद्ययास्याताम्, विद्याफल विरोधित्व सामान्याद्व्यपदेशाच्च । भवति च व्यपदेशः, उभेसुकृत-दुष्कृते निर्दिश्य "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इति, "तत्सुकृतदुष्कृते-धुनुते" इति च । मुमुक्षोरनिष्टफलत्वात् सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः । सुकृतस्यापि शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य केषांचिदिष्टदर्शनाच्च विद्याया अविरोध शंकां निवर्तयितुमतिदेशः ।

ननु विदुषोऽपि सेतिकर्त्तव्यताकोपासननिर्वृत्तयेवृष्ट्यन्नादि फलानीष्टान्येव, कथं तेषां विरोधात् विनाश उच्यते? तत्राह "पाते तु" इति । शरीरपाते तु तेषां विनाशः, शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानुगुणदृष्टफलानि सुकृतानि नश्यंति, इत्यर्थः ।

आगत् और अतीत पापों के अश्लेष और विनाश की बात कह दी गई। ऐसी ही पुण्य की भी व्यवस्था है, उसी नियम से विद्या के द्वारा आगत अतीत पुण्यों का अश्लेष विनाश होता है शास्त्रों में पुण्य को भी मोक्ष का विरोधी बतलाया गया है। सुकृत और दुष्कृत दोनों का निर्देश करते हुए बतलाया गया कि– उसके सारे पाप विद्या से निवृत्त हो जाते हैं "वह सुकृत दुष्कृत दोनों का परित्याग कर देता है" इत्यादि। मुमुक्षु के लिए पुण्य भी अनिष्टकारी होते हैं, इसलिए उन्हें भी पाप शब्द से निर्देश किया गया है। शास्त्रीय पुण्य कर्मों का उत्तम फल होता है इसलिए किसी प्रकार वे विद्या के सहकारी हो सकते हैं, ऐसी शंका के निवारण के लिए "सुकृतदुष्कृतेधूनुते" ऐसा विशेष निर्देश करा गया है।

ankurnagpal108@gmail.com

(शंका) उपासक के भी कर्त्तव्य रूप से अनुष्ठित पुण्य कर्म प्रतिफलित होते देखे जाते हैं और इष्ट से प्रतीत होते हैं, उन्हे विरोधी कैसे कह सकते हैं, यदि वह विरोधी हैं तो उनका विनाश कब होता है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "पाते तु" अर्थात् शरीरपात हो जाने पर उनका विनाश हो जाता है, शरीरपात के बाद उन पुण्यों का विनाश होता है जो कि विद्या के अनुरूप प्रत्यक्ष फल देते हैं।

९ अनारब्धकार्याधिकरण:--

अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४।१।१५॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उतानारब्धकार्ययोरेव? इति विशये "सर्वेपाप्मानः प्रदूयंते" इति विद्याफलस्याविशेषश्रवणात् विद्योत्पत्त्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालचक्रभ्रमणादिवत् संस्कारवशादप्युपपत्तेरविशेषेण।

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति से, आगत अतीत सुकृतदुष्कृतों का अश्लेष विनाश बतला दिया गया। अब संदेह होता है कि-सभी पापपुण्यों का अश्लेष विनाश होता है अथवा जिनका फल अभी प्रारंभ नहीं हो पाया है उन्हीं का होता है? इस पर मत होता है कि-"सभी पाप भस्म हो जाते हैं" इस वचन से ऐसा ही ज्ञात होता है कि-विद्या से सभी पापपुण्यों का विनाश हो जाता है, जैसे कि कुम्हार का चक्का चलता है तब सभी कुछ उसमें भ्रमित होता रहता है वैसे ही विद्योत्पत्ति के बाद होने वाले सभी आरब्ध अनारब्ध पुण्यपाप, विद्या संस्कार के वश विनष्ट हो कर कुम्हार निर्मित नूतन पात्र की तरह हो जाते हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते--**अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे**--इति, विद्योत्पत्तेः पूर्वे सुकृतदुष्कृते **अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले** एव विद्ययाविनश्यतः, कुतः ? तदवधेः, "तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथसंपत्स्ये" इति शरीरपातविलम्बावधिश्रुतेः न च

ankurnagpal108@gmail.com

पुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रीत्यप्रीतिव्यतिरेकेण शरीरस्थितिहेतुभूत संस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत किया गया "अनारब्ध कार्ये एवतु पूर्वे" अर्थात् विद्या से उन्हीं का विनाश होता है जो कि-विद्योत्पत्ति के पूर्व के हैं जिन्य पुण्यपापों का फल अभी प्रारंभ नहीं हुआ है। जो कर्म फल दे रहे हैं उनके विनाश की अवधि बतलाई गयी है। "उनके विनाश में तभी तक की देर है जब तक इस शरीर से मुक्ति नहीं मिलती" इस शरीर पात विलम्बावधि बोधक श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है। शरीर में विद्या संस्कार से समुत्पन्न संस्कारों को, पुण्य पाप जन्य भगवत् प्रीति अप्रीति के आधार पर प्रमाण नहीं माना जा सकता, इस विषय में तो शास्त्र ही प्रमाण है।

१०. अग्निहोत्राद्यधिकरण:—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६॥

"इतरस्याप्येवमसंश्लेषः" इति विद्याबलात सुकृतस्याप्यसंश्लेष उक्तः अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमधर्माणामपि सुकृतत्वसामान्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽनुष्ठाने ।

"इतरस्याप्यसंश्लेषः" सूत्र से बतालाया गया कि—विद्या के प्रभाव से पुण्यों का भी असंश्लेष हो जाता है। यदि ऐसा ही है तो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्रादि आश्रमधर्म जो कि पुण्य कर्म ही हैं उनका भी असंश्लेष होगा, तो उसके अनुष्ठान में प्रवृत्ति ही क्यों होगी ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—"अग्निहोत्रादि तु" इति । तु शब्दः सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः, अग्निहोत्रादिआश्रमधर्माः फलाश्लेषासंभवादनुष्ठेया एव, तदसंभवश्च तत्कार्यार्थत्वात्तेषाम् विद्याख्य कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् । कथमिदमवगम्यते ? तद्दर्शनात्, दृश्यते हि—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" इत्यादिनाऽग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वम् । विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्याससाधेयातिशयाया

ankurnagpal108@gmail.com

अहरहरुत्पाद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माण्यहरहरनुष्ठेयमेव अन्यथा-ऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तः करणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से अग्निहोत्रादि तु इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् अग्निहोत्र आदि आश्रम धर्मों के फल का असंश्लेष नहीं होता इसलिए उनका अनुष्ठान करना चाहिए, उनका फल विद्या कार्य में सहयोगी ही होता है इसलिए विद्वान उपासक उनका अनुष्ठान करते हैं। "यज्ञ दान तप द्वारा वे परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्रादि को विद्या का साधक बतलाया गया है जीवन पर्यन्त किये जाने वाले विद्या के अभ्यास में, अग्निहोत्रादि कर्मों से उत्कर्ष ही होता है इसलिए आश्रम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए यदि आश्रम कर्मों का लोप हो जायेगा तो उससे अन्तःकरण दूषित होगा, जिससे विद्योत्पत्ति हो ही नहीं सकेगी।

यदि अग्निहोत्रादि साधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्थाः, विद्योत्पत्तेः प्राचीनं च सुकृतं "यावत्संपातमुषित्वा" प्राप्यातं कर्मणः "इत्यनुभवेन विनष्टम्, भुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलं "सुहृदः साधुकृत्याम्, इत्यस्य को विषयः ? तत्राहः—

(शंका) यदि अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों को विद्योत्पत्ति का सहायक मान लेंगे और अतीत पुण्यों को विद्या से विनष्ट मान लेंगे तथा प्रारब्ध फल को शरीरपात तक भोग्य मान लेंगे तो "पुण्य कर्म मित्र को मिलते हैं" इत्यादि वाक्य किन कर्मों के लिए कहा गया है ? इसका उत्तर देते हैं—

अतोऽन्यापि हि एकेषामुभयोः ।४।१।१७॥

अतः--अग्निहोत्रादि साधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि विद्याधिगमात् पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्म प्रतिबद्ध फला साधुकृत्याऽनन्तासंभवत्येव, तद्विषयमिदमेकेषांशाखिनां वचनं "तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्याम्" इति । विद्यया अश्लेषविनाश श्रुतिश्च तद्विषया ।

ankurnagpal108@gmail.com

अग्निहोत्रादि विद्योत्पत्ति के सहायक पुण्यकर्मों से भिन्न विद्या प्राप्ति के पहिले और बाद के पुण्य कर्मों के फल को भी बाध करने वाले कुछ ऐसे प्रबलतम फल दायक कर्म होते हैं जो कि विद्याभ्यास से अवरुद्ध नहीं होते. उन्हीं के लिए वेद की एक शाखा में कहा गया कि- "उस उपासक का दायभाग तो पुत्र प्राप्त करते हैं और पुण्य कार्य मित्र प्राप्त करते हैं। विद्या से अश्लेष विनाश को बतलाने वाली श्रुति तो उक्त विषयक ही है।

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधसंभवं पूर्वोक्तं स्मारयति-

अनुष्ठित कर्मों की फलावरोध की बात का पुनः उल्लेख करते हैं-

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८॥

"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथ विद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधः सूच्यते हि। अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्ध फलविषयं "सुहृदः साधुकृत्याम्" इति शाट्यायनकम्।

"जो विद्या से किया जाता है वह प्रबलतम होता है" इस उद्गीथ विद्या के यज्ञफल की प्रबलता को बतलाने वाले वचन से अनुष्ठित कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है। ऐसे प्रबलतम शुभ कर्मों की प्राप्ति की बात ही "सुहृदः साधुकृत्याम्" में कही गई है। अर्थात् उपासक विद्या के अभ्यास से मुक्त हो जाता है, पर जो अनुष्ठान करता है उसका पुण्य उसे जन्म के चक्र में नहीं डालता उसके (आश्रम धर्मों का) पुण्य सुहृदों को मिल जाता है।

११ इतरक्षपणाधिकरण :—

भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते ।४।१।१६॥

यथोः पुण्यपापयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ताभ्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्यायोनिशरीरावसाने, उत तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा इत्यनियमः ? इति संशये "तस्यतावदेव चिरं

ankurnagpal108@gmail.com

यावन्न विमोक्ष्ये" इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणात्त-दवसाने।

जिन पुण्य पापों के अश्लेष विनाश की बात कही गई उनसे भिन्न जो प्रारब्ध पुण्य पाप हैं जो कि मुक्त होने पर ही छूटते हैं वे कब छूटते हैं ? क्या वे इस शरीर के समाप्त होने पर छूट जाते हैं जिससे विद्या प्राप्त की गई अथवा अन्य शरीर धारण करके भोगने पर छूटते हैं अथवा इसका कोई नियम नहीं है ? इस संशय पर मत होता है कि—"तस्यताव-देव चिरं" से तो ऐसा ज्ञात होता है कि— विद्या प्राप्त होने वाले शरीर से होने वाली उपासना के साथ साथ ही उनसे छुटकारा मिल जाता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—भोगेन तु इति। तु शब्दः पक्ष व्यावृत्यर्थः, इतरेप्रारब्धकार्ये पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमाप्त्यनंतरं ब्रह्म संपद्यते, ते च पुण्यपापे एकशरीरोपभोग्य फलेचेत् तच्छरीरावसाने संपद्यते, अनेकशरीर-भोग्यफले चेत् तदवसाने संपद्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्ध-फलयोः कर्मणोः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते, देहावधि नियमा-श्रवणात्।

तदेवं ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनंतं विद्यामाहात्म्याद् विनश्यति, विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यति, तत्र पुण्य रूपं सर्वविदुषः सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विषन्त इति निरवद्यम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "भोगेन तु" सूत्र प्रस्तुत करते हैं सूत्र में तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है। इतर जो प्रारब्ध पुण्य पाप के फल हैं वह अपने प्रारंभ फल भोग की समाप्ति होने पर ही छूटते हैं

ankurnagpal108@gmail.com

तभी मोक्ष होता है। वे पुण्य पाप यदि एक शरीर में भोगने योग्य होते हैं तो उस शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यदि अनेक शरीरों में भोगने योग्य होते हैं तो मुक्त होने पर अन्य शरीरों के अवसान पर छुटते हैं प्रारब्ध पुण्य पाप कर्मों के फल भोग की बात कही गई है, देह की अवधि का नियम तो बतलाया नहीं गया है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि- ब्रह्मविद्या के प्रथम किये गये जो कर्म हैं जिनका कि फल आरंभ नहीं हुआ है वे, अनादि काल संचित पुण्य पाप कर्म, विद्या के प्रभाव से बिना फलोपभोग के ही नष्ट हो जाते हैं, तथा विद्या प्राप्ति के बाद होने वाले जो भावी पुण्य पाप कर्म हैं उनका फल ही उपासक से आश्लिष्ट नहीं होता अपितु विद्या प्राप्ति के बाद वह जो कुछ भी शुभ कर्म करता है उसका फल उसके मित्रों को तथा अशुभ कर्मों का फल उसके शत्रुओं को प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ अध्याय

द्वितीय पाद

१ वागाधिकरणः—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१।।

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते। प्रथमं तावदुत्क्रांतिश्चिन्त्यते। तत्रेदमाम्नायते "अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" इति। अत्र "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वाचो मनसि संपत्तिश्रुतिः किं वाग्वृत्तिमात्रविषया, उत वाग्विषया? इति विशये वृत्तिमात्र विषयेति युक्तम् कुतः? मनसोवाक् प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूप-संपत्त्यसंभवात्। वागादिवृत्तीनां मनोऽधीनत्वेन वृत्तिसंपत्तिश्रुतिः कथंचिदुपपद्यत इति।

अब उपासक की गति के प्रकार का विचार प्रारंभ करते हैं पहिले उत्क्रांति पर विचारेंगे। श्रुति है कि-"हे सौम्य! इस उपासक के जाते समय वाणी मन से मन प्राण से, प्राण तेज से और तेज पर देवता से संलग्न होता है।" इसमें जो कहा गया कि"वाणी मन से संलग्न होती है" सो यह कथन वाणी की वृत्ति मात्र के लिए है या वाणी के लिए है? इस पर विचारने से तो ऐसा मत होता है कि वृत्तिमात्र के लिए ही है, क्योंकि मन में वाक् प्रकृति का अभाव है इसलिए वाणी का स्वरूप तो उसमें संलग्न हो नहीं सकता, वाणी आदि की वृत्तियाँ मन के अधीन रहती हैं, इसलिए, वृत्ति की संलग्नता की बात ही किसी प्रकार मानी जा सकती है।

ankurnagpal108@gmail.com

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वाङ्मनसि इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि संपद्यते। कुतः? दर्शनात् दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तिः । वृत्तिमात्र संपत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेत् तत्राह-शब्दाच्चेति "वाङ् मनसि संपद्यते" इति वाक्स्वरूप संपत्तावेव हि शब्दः, न वृत्तिमात्रसंपत्तौ । नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते, येन वृत्तिमात्रमेव संपद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक् प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मनसिसंपत्तिर्नोपपद्यत इति, तत् "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वचनान्मनसा वाक् संयुज्यते न तु तत्र लीयत इति परिहर्त्तव्यम् ।

उक्त मत पर "वाङ् मनसि" सूत्र कहते हैं। अर्थात् वाणी का स्वरूप ही मन से संलग्न होता है। ऐसा देखा भी जाता है कि-वागिन्द्रिय के उपरत होने पर भी मन की प्रवृत्ति बनी रहती है। यदि कहें कि-वह तो वृत्तिमात्र की संलग्नता में भी रहती है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "शब्दाच्च" अर्थात् शास्त्र का भी यही कथन है "वाङ्मनसि" में स्पष्ट रूप से वाणी के स्वरूप का उल्लेख किया गया है, वृत्ति की चर्चा भी नहीं है। यह नहीं कह सकते कि वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर वृत्ति का भाव निहित है; ऐसा तो तभी माना जा सकता है जबकि कहीं अन्यत्र भी वृत्तिमात्र के संलग्न होने की चर्चा आई हो, सभी जगह वाणी की संलग्नता का ही उल्लेख है। जो यह कहा कि मन में वाक् प्रकृतित्व का अभाव है इसलिए मन में वाणी की संलग्नता संभव नहीं है, सो "वाङ् मनसि संपद्यते" में वाणी का मन में संयोग मात्र ही बतलाया गया है, लीन होने की बात नहीं कही गई है।

अतएवसर्वाण्यनु ।४।२।२॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः, नतु लयः, अतएव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि संपत्तिश्रुतिरुपपद्यते "तस्मादुपशान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः "इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

जैसे कि वाणी का मन से संलग्न मात्र होना संपत्ति बतलाया गया, लय होना नहीं कहा गया, वैसे ही वाणी के पीछे सभी इन्द्रियों का मन में संलग्न होना श्रुति से ही ज्ञात होता है "इस प्रकार तेज के संलग्न हो जाने पर इन्द्रियों सहित सब के मन में संलग्न हो जाने पर" इत्यादि।

२ मनोऽधिकरण:–

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३॥

तत्-सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणे संपद्यते-प्राणेन संयुज्यते, न मनोवृत्तिमात्रम्, कुतः? उत्तरात्-"मनः प्राणे" इति वाक्यात्।

फिर सभी इन्द्रियों से संसक्त वह मन प्राण में मिल जाता है। "मनः प्राणे" इस उत्तर वाक्य से ज्ञात होता है कि मन ही संसक्त होता है, मनोवृत्तिमात्र का ही संयोग नहीं होता।

अधिकाशंका तु–"अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति वचनान्मनसोऽन्न प्रकृतित्वमवगम्यते, अन्नस्य च "ता अन्नमसृजंत" इत्यन्न–मयत्वं सिद्धम् "आपोमयः प्राणः" इति चाप्प्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो मनः प्राणे संपद्यत इत्यत्र प्राणशब्देनप्राणप्रकृतिभूता अपोनिर्दिश्य तासु मनः संपत्ति प्रतिपादने परम्परया स्वकारणे लय इति संम्पत्तिव चनमुपन्नं भवति–इति।

इस पर विशेष शंका होती है कि-"हे सोम्य! मन अन्नमय है" इस वचन से मन का अन्न प्रकृतित्व ज्ञात होता है "ता अन्नमसृजंत' से उनकी अन्नमयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार" प्राण जलमय हैं इस वचन से प्राण का जल प्रकृतित्व ज्ञात होता है; जो मन की प्राण में संलग्नता बतलाई गई, उसमें प्राण शब्द से प्राण प्रकृति रूप जल का निर्देश करके उसमें मन की संलग्नता दिखलाई गई उससे तो परम्परा से अपने कारण में लय की बात ही संपत्ति द्वारा दिखलाई गई प्रतीत होता है।

परिहारस्तु–"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमुच्यते, न तत्प्रकृतित्वं, आद्भि-

ankurnagpal108@gmail.com

कारिकत्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य। प्राणशब्देन अपां लक्षणा च स्यात्–इति।

समाधान–"हे सौम्य! मन अन्नमय और प्राण जलमय हैं" इत्यादि वाक्य में मन और प्राण का अन्न और जल से संसर्ग बतलाया गया है, अन्न और जल को उनकी प्रकृति नहीं कहा गया है, आहंकारिक होने से मन का अन्नमय होना तथा आकाश के विकार से होने के कारण प्राण का जलमय होना कहा गया है। प्राण शब्द से जल में लक्षणा है, प्राण का अभिधार्थ जल नहीं है।

३ अध्यक्षाधिकरणः–

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः।४।२।४॥

यथा–"वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे" इतिवचनानुरोधेन मनः प्राणयोरेव वाङ् मनसयोः संपत्ति, तथा "प्राणस्तेजसि" इति वचनात् तेजस्येव प्राणः संपद्यते।

जैसे कि-"वाङ्मनसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि मन और प्राण में वाणी और मन की संलग्नता है, वैसे ही "प्राणस्तेजसि" इत्यादि से ज्ञात होता है कि–प्राण की तेज से संलग्नता होती होगी।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–"सोऽध्यक्षे" इति। स प्राणः, अध्यक्षे–कारणाधिपे–जीवे संपद्यते। कुतः? तदुपगमादिभ्यः प्राणस्य जीवोपगमः तावच्छ्रूयते "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायंति" इति। तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रांति श्रूयते–"तमुत्क्रांत प्राणोऽनूत्क्रामति" इति। प्रतिष्ठा च जीवेन सह श्रूयते–"कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामि" इति। एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजः संपत्तिरपि "प्राणस्तेजसि" इत्युच्यते, यथा यमुनायाः गंगया

ankurnagpal108@gmail.com

संयुज्य सागरगमनेऽपि "यमुना सागरं गच्छति" इति वचो न विरुध्यते तद्वत् ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "सोऽध्यक्षे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वह प्राण, अध्यक्ष अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव में संलग्न हो जाता है। प्राण का जीवोपगम बतलाया भी गया है– जब जीव की ऊर्ध्व श्वास चलने लगती है तो सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। तथा प्राण के साथ जीव की उत्क्रांति का भी वर्णन मिलता है "उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं।" जीव के साथ प्राण की प्रतिष्ठा का भी वर्णन मिलता है "किसके निकलने पर मैं निकला हुआ सा हो जाऊँगा, तथा किसके रहने पर मैं स्थित रहूँगा (उसने ऐसा विचार किया) "इसी भाव के अनुसार जीव से संयुक्त प्राण की तेज से संपत्ति बतलाई गई है जैसे कि यमुना गंगा से संलग्न होकर सागर में जाती है, पर यह "यमुना सागर में जा रही है" यह कथन भी–असंगत नहीं वैसे ही, प्राण जा रहे हैं, बात भी है।

४ भूताधिकरणः–

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।४।२।५।।

"प्राणस्तेजसि" इति जीवसंयुक्तस्यप्राणस्य तेजसि संपत्ति-रुक्ता, सा संपत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहतेषु सर्वेषु भूतेषु ? इति संशये तेजोमात्र श्रवणात्तेजसि ।

"प्राण तेज में" इत्यादि में जीव संयुक्त प्राण की तेज में संपत्ति बतलाई गई है। अब प्रश्न होता है कि वह संपत्ति केवल तेज में ही होती है अथवा संयुक्त सभी भूतों में होती है ? तेज का ही नाम आता है, इससे तो केवल तेज में होने की बात ही समझ में आती है।

सिद्धान्तः–इति प्राप्त उच्यते–भूतेषु इति, भूतेषु संपद्यते, कुतः ? तच्छ्रुतेः "पृथिवीमयः, आपोमयः तेजोमयः" इति जीवस्य

ankurnagpal108@gmail.com

संचरतः सर्वभूतमयत्वश्रुतेः ।

उक्त मत पर "भूतेषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं—भूतों में संपत्ति होती है, "पृथिवी मयः आपोमयः तेजोमयः" इत्यादि श्रुति में जीव की सर्वभूतमयता बतलाई गई है ।

ननु तेजः प्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण संपत्तावपि "पृथिवीमयः" इत्यादिका श्रुतिरुपपद्येते—अत आह—

लगता है "पृथिवीमयः" इत्यादि श्रुति, तेज आदि एक-एक की क्रमशः संपत्ति का वर्णन कर रही है । इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात् । दर्शयतो हि अक्षमत्वं श्रुतिस्मृती—"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति नामरूपव्याकरण-योग्यत्वाय त्रिवृतकरणमुपदिश्यते ।" नानावीर्याः पृथग्भूतः ततस्ते संहतिं विना, नाशक्नुवन प्रजाः सृष्टुमसमागम्यकृत्स्नशः । समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयः, महदाद्याविशेषान्ता हि अंडमुत्पादयंति ते" इति । अतः "प्राणस्तेजसि" इति तेजः शब्देन भूतांतरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते । अतो भूतेष्वेव संपत्तिः ।

इन भूतों में अकेले कार्य करने की क्षमता नहीं है । इनकी अक्षमता श्रुति स्मृति में बतलाई गई है—"इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूँ ऐसा विचार करके उसने तीन-तीन का एक-एक यूथ बनाया ।" इसमें नामरूप के विस्तार की योग्यता के लिए त्रिवृत-करण का उल्लेख है । "विभिन्न शक्ति वाले वे बिना मिले, अलग-अलग रहकर समस्त सृष्टि की रचना करने में सक्षम नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से महत आदि से लेकर अंड तक का उत्पादन करते हैं ।" इससे ज्ञात होता है कि—"प्राणस्तेजसि" में तेज

ankurnagpal108@gmail.com

शब्द से, अन्य भूतों से संलग्न तेज ही अभिधेय है। इसलिए भूतों में ही जीव की संपत्ति होती है यही मानना चाहिए।

५ आसृत्युपक्रमाधिकरण:—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।४।२।७॥

इयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, उत अविदुष एव ? इति चिन्तायां, अविदुष एवेति प्राप्तम्, कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्व-वचनादुत्क्रान्त्यभावात्। विदुषो हि अत्रैवामृतत्वं श्रावयति—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्यहृदिस्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति।

ऊपर जिस उत्क्रान्ति की चर्चा आई है क्या ये उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से होती है अथवा अनुपासक की ही होती हैं ? इस पर विचारने से तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि अनुपासक की ही होती है, उपासक तो इस लोक में ही मुक्त हो जाता है जैसा कि—"जब उपासना करते हुए इसकी हृदयस्थ समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य इस लोक में ही मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" इस श्रुति से निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समानाचासृत्युपक्रमात् इति। विदुषोऽप्यसृत्युपक्रमादुत्क्रांतिः समाना। आसृत्युपक्रमात्-आगत्युपक्रमात्—नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः। विदुषो हि नाडीविशेषेणोत्क्रम्य गतिः श्रूयते—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवंति" इति। एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणात् विदुषोऽप्युत्क्रांतिर-वर्जनीया। सा च नाडी प्रवेशात् प्रागविशेषा श्रवणात् समाना। तत्प्रवेशदशायां च विशेषः श्रूयते—"तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति। "शतं

ankurnagpal108@gmail.com

चैका च हृदयस्य' इत्यनया श्रुत्यैकार्थ्यान्मूर्ध्नो निष्क्रमणं विद्वद्-विषयम्, इतरदविद्वद् विषयम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–असृति उपक्रम अर्थात् नाडी प्रवेश के प्रथम तक उपासक अनुपासक दोनों की समान उत्क्रांति होती है। उपासक की नाडी विशेष से गति बतलाई गयी है—"हृदय से संसक्त एक सौ एक नाडियों में से एक मूर्धा की ओर जाती है उसके आश्रय से उपासक ऊपर की ओर जाकर उत्क्रमण करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" इस नाडी विशेष की गति के वर्णन से, उपासक की उत्क्रान्ति तो निश्चित हो ही जाती है। इस नाडी के प्रवेश के प्रथम तो उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से उत्क्रांति प्रक्रिया चलती है। इस नाडी में प्रवेश काल का कुछ विशेष वर्णन मिलता है "उस नाडी में प्रवेश करके यह आत्मा नेत्र मूर्धा या किसी अन्य स्थान विशेष से निष्क्रमण करता है" "शतं चैका च हृदयस्य" इत्यादि से जिसके निष्क्रमण की चर्चा की गई है वह उपासक की ही है, उससे भिन्न जो निष्क्रमण की चर्चा मिलती है वह उपासक के अतिरिक्त सभी की है।

यदुक्तं–विदुषोऽत्रैवामृतत्वं श्राव्यते-इति, तत्रोच्यते अमृतत्वं चानुपोष्य–इति। च शब्दोऽवधारणे। अनुपोष्य शरीरेन्द्रियादि संबंधमदग्ध्वैव, यदमृतत्वम् उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते, तदुच्यते "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादिकया श्रुत्येत्यर्थः। "अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इति च उपासनवेलायां यो ब्रह्मानुभवः, तद्विषय-मित्यभिप्रायः।

जो यह कहा कि–उपासक का इस लोक में ही मोक्ष का वर्णन मिलता है, उस पर सूत्रकार का कथन है "अमृतत्वं चानुपोष्य" अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि का संबंध नहीं छूटता इस स्थिति में भी तो अमृतत्व की बात है वह आगत और अतीत पापों के अश्लेष विनाश की ही बात है अर्थात् अश्लेष विनाश ही मुक्ति है "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादि श्रुति से यही दिखलाया गया है "यहीं ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है" का तात्पर्य

ankurnagpal108@gmail.com

है कि उपासना के समय जो ब्रह्मानुभूति होती है, वही ऐहलौकिक ब्रह्म प्राप्ति है।

तदापीतेः संसार व्यपदेशात् ।४।२।८॥

अवश्यं च तत्–अमृतत्वमदग्धदेहसंबंधस्यैवेति विज्ञेयम्। कुतः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्–अपीतिः–अप्ययः–ब्रह्म प्राप्तिः। साचार्चिरादिनामार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते। आतदवस्था-प्राप्तेः संसारः, देहसंबंधलक्षणो हि व्यपदिश्यते–"तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म-लोकमभिसंभवानि" इति च।

ऊपर जिस अमृतत्व प्राप्ति की चर्चा की गई है, निश्चित ही वह देह संबंध के बिना नष्ट हुए ही मिलती है अर्चिरादिमार्ग से जाने पर जिस देश विशेष की प्राप्ति होती है वही ब्रह्म प्राप्ति है, उस मार्ग में जाने के प्रथम तक देह संबंध रूप संसार का संबंध बना रहता है "उसकी ब्रह्म प्राप्ति में तभी तक का विलंब है जब तक प्रारब्ध भोग कर इस शरीर से नहीं छुट जाता" जैसे कि घोड़ा रोयों को झाड़कर चैतन्य हो जाता है वैसे ही उपासक पापों को झाड़ कर राहु से मुक्त चन्द्रमा के समान स्वच्छ होकर ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।" इत्यादि से उक्त बात निश्चित होती है।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९॥

इतश्च विदुषोऽपि बंधो नात्र दग्धः यत्तत्सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुत इदमवगम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः उपलभ्यते हि देवयानेन पथा गच्छतो विदुषः 'तं प्रतिब्रूयात्" "सत्यंब्रूयात्" इति चन्द्रमसा संवाद वचनेन शरीरसद्भावः। अतः सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते। अतश्च बंधो न दग्धः।

ankurnagpal108@gmail.com

उपासक के शरीर बंधन मुक्ति की बात तो इसलिए भी नहीं मानी जा सकती कि–स्थूल के छूटने पर सूक्ष्म शरीर तो साथ जाता ही है । देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक से चंद्रमा से संवाद होता है ऐसा "तंप्रति ब्रूयात्" "सत्यं ब्रूयात्' इत्यादि वर्णनों से निश्चित होता है संवाद बिनाशरीर के होना संभव नहीं है, इसलिए शरीर का होना तो निश्चित ही है, वह सूक्ष्म शरीर ही है, इसलिए शरीर संबंध के छुटने की बात सही नहीं है ।

नोपमर्देनात :।४।२।१०॥

अतः "यदासर्वेप्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति वचनं न बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति ।

इसलिए "यदा सर्वे" इत्यादि में जिस अमृतत्व की चर्चा है वह शरीर संबंध रहित अमृत्व की नहीं है, यही मानना चाहिए ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।४।२।११।

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्वचिद् विद्यमानत्वोपपत्तेर्विदुषः प्रक्रान्तमरणस्य मरणात् प्रागूष्मा स्थूलेशरीरे क्वचिदु उपलभ्यते । न च स्थूलस्यैव शरीरस्यायमूष्मा अन्यत्रानुपलब्धेः । ततश्चोष्मणः क्वचिदुपलब्धिर्विदुषः सूक्ष्मशरीरस्योत्क्रांति निबंधनेति गम्यते । तस्माद् विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात् समानोत्क्रांति रिति सुष्ठूक्तम् ।

इस सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को जानना हो तो, कभी भी मरणासन्न व्यक्ति के मरण के पूर्व उसके स्थूल शरीर को छूकर ऊष्मा से जाना जा सकता है, वह ऊष्मा स्थूल शरीर की नहीं होती मरणोपरान्त स्थूल शरीर में वह नहीं होती । इस प्रकार की ऊष्मोपलब्धि से यह निर्णय होता है कि उपासक की जो उत्क्रान्ति होती है वह सूक्ष्म शरीर के आश्रित होती है । इसलिए जो यह कहा कि–नाडी विशेष में प्रवेश करने के पूर्व उत्क्रांति सभी को समान होती, यह ठीक ही है ।

ankurnagpal108@gmail.com

पुनरपि विदुष उत्क्रांतिर्न संभवतीत्याशंक्य परिह्रियते—

उपासक की उत्क्रांति नहीं हो सकती, ऐसी पुनः आशंका कर के उसका परिहार करते हैं—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् स्पष्टो हि एकेषाम् ।४।२।१२।।

यदुक्तं—विदुषोऽप्युत्क्रांति समानेति, तन्नोपपद्यते, विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधात् । तथाहि—"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रमति" इत्युपक्रम्य "तेन प्रद्योतेनैषआत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति "इत्यविदुष उत्क्रांति प्रकारमभिधाय "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इति देहान्तरपरिग्रहं चाभिधाय "प्राप्यान्तं कर्मणास्तस्य यत्किंचेह करोत्ययं तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे इति तु कामयमानः" इत्यविद्वद्विषयं परिसमाप्य "अथाकामयमानो योऽकामोनिष्काम आत्मकामः न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" इति विदुष उत्क्रांतिः प्रतिषिध्यते । तथा पूर्वत्र आर्त्तभाग प्रश्नेऽपि विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधो दृश्यते—"अप-पुनर्मृत्युं जयति" इति विद्वांसं प्रस्तुत्य "याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात् प्राणाः क्रामंत्याहो न" इति पृष्टः "नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयंते स उच्छ्वयत्याध्मातो मृतः शेते" इति अतोविद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोति इति चेत् ।

जो यह कहा कि उपासक की उत्क्रांति सभी के समान होती है, वह कथन ठीक नहीं है, उपासक की उत्क्रांति का तो प्रतिषेध किया गया है । जैसा कि प्रसंग आता है कि— "वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को अच्छी तरह ग्रहण करके हृदय में ही अनुत्क्रांत (अभिव्यक्त ज्ञानवान) होता है" यहाँ से प्रारंभ करके " उसके उत्क्रमण करने पर उसको साथ ही प्राण उत्क्रमण करते हैं ।" इत्यादि से अनुपासक की उत्क्रांति का

ankurnagpal108@gmail.com

प्रकार बतलाकर–"दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है" इत्यादि से उसके देहान्तर परिग्रह को बतलाकर "इस लोक में यह जो कुछ करता है उस कर्म का फल प्राप्त कर उस लोक से कर्म करने के लिए पुन: इस लोक में आ जाता है कामना करने वाले पुरुष की ऐसी ही गति होती है" यहाँ तक अनुपासक के विषय में कहकर "जो आकाम निष्काम और आप्तकाम होता है उसको प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि से उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार आर्त्तभाग के प्रश्न में भी उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध मिलता है–" याज्ञवल्क्य ने कहा-पुनर्मृत्यु का पराजय होता है" इत्यादि से उपासक का प्रसंग प्रस्तुत करने पर आर्त्तभाग ने पूछा-याज्ञवल्क्य ! जिस समय यह मरता है उस समय उसको प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा "नहीं-नहीं वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं वह वायु को खींच कर यहीं मृत होकर सोता है।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उपासक इस लोक में ही अमृतत्व प्राप्त करता है।

तन्न, शारीरात्--प्रत्यगात्मनः, प्राणानामुत्क्रांतिरत्र प्रतिषिध्यते, न शरीरात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इत्यत्र तच्छब्देन "अथाकामयमानः" इति प्रकृतः शारीर एव परामृश्यते नाश्रुतं शरीरम्। "तस्य" इति षष्ठ्या प्राणानां संबंधित्वेन शारीरो निर्दिष्टः न तूत्क्रान्त्यपादनत्वेन। उत्क्रान्त्यपादानं तु शरीरमेवेति चेत्, न--अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्संबंधितया श्रुतस्यात्मन एव सन्निहितत्वेनापादानतयापि ग्राह्यत्वात्।

जैसी धारणा की गई बात वैसी नहीं है, उक्त प्रसंग में जीवात्मा के प्राणों के उत्क्रमण का निषेध किया गया है शरीर के अनुत्क्रमण की चर्चा नहीं है "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" इस वाक्य में तत् शब्द से "अथाकामायमानः" में कहे गये जीवात्मा का ही उल्लेख है शरीर का नहीं। "तस्य" इस षष्ठी पद से प्राणों का संबंध दिखलाया है जिससे जीवात्मा का ही निर्देश निश्चित होता है, यदि जीव के शरीर से अलग न होने की बात होती तो अपादान पंचमी का प्रयोग तो शरीर में होता,

ankurnagpal108@gmail.com

शरीर शब्द तो इस वाक्य में लुप्त है (अर्थात् "नतस्य शरीरात् प्राणा उत्क्रामंति" के स्थान पर केवल न तस्य प्राणानुत्क्रामंति" कहा गया है) सो आपका यह कथन भी व्याकरण नियम के विरुद्ध है, यदि लुप्त शरीर शब्द के संबंध की बात होती तो शरीर शब्द से निकटस्थ तत् शब्द में भी अपादान का ही प्रयोग दिखलाई देता (अर्थात् "न तस्मात् शरीरात् प्राणात् उत्क्रामंति" ऐसा प्रयोग किया गया होता,) सो तो है नहीं।

किं च प्राणानां जीवसंबंधितयैव प्रज्ञातानां तत्संबंधकथने प्रयोजनाभावात् संबंधमात्र वाचिन्या षष्ठ्या अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते। यथा "नटस्य शृणोति" इति। न चात्र विवदितव्यं स्पष्टो हि एकेषां माध्यन्दिनानामाम्नाये शारीरो जीव एवापादानमिति--"योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्मात् प्राणा उत्क्रामंति" इति।

(तर्क प्राणों का संबंध तो जीव से ही है इसलिए कोई प्रयोजन तो है नहीं कि जीव का पृथक् निर्देश किया जाता, संबंध मात्र को बतलाने के लिए ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है जो कि अपादान स्थानीय ही है, जैसे कि–"नटस्य शृणोति" इत्यादि में किया जाता है [उत्तर] यहाँ विशेष विवाद की आवश्यकता नहीं है, यहाँ तो माध्यन्दिन आम्नाय की एक शाखा में स्पष्ट रूप से जीव का ही अपादान प्रयोग किया गया है—"जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है, उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते।"

शारीरात् प्राणानामुत्क्रांतिप्रसंगाभावात्तन्निषेधो नोपपद्यत इति चेत्, न "तस्य तावदेव चिरं" इति विदुषः शरीरवियोग काले ब्रह्मसंपत्ति वचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शरीराद् विदुषो वियोगः प्रसज्यते, ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसंपत्तिर्नोपपद्यत इति। "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति" देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्राग्जीवाद् विदुषोऽपि प्राणा न विश्लिष्यन्तीत्युच्यते। आर्तभाग प्रश्नोऽपि यदा

ankurnagpal108@gmail.com

विद्वद्विषयः तदा अयमेव परिहारः, सत्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्न प्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्या प्रसंगादर्शनात्, तत्रहि ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थ स्वभावः, अपामग्न्यन्नत्वं, म्रियमाणस्य जीवस्य प्राण परित्यागः, मृतस्यनामवाच्यकीर्त्यनुवृत्तिः, तस्य च पुण्यपापानुगुण-गतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः। तत्र च "अपपुनर्मृत्युंजयति" इति अपामग्न्यन्नत्व ज्ञानादग्निजय एव मृत्युजय उच्यते। अतो नात्र विदुषः प्रसंगः अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं-स्थूल-देहवत्प्राणा न मुंचंति अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्ति, इति प्रतिपादयतीति निरवद्यम्।

(तर्क) यदि कहें कि-उक्त प्रसंग में जीव से प्राणों की उत्क्रांति का अभाव मान लेंगे तो, उसके निषेध का प्रश्न ही क्या है? (उत्तर) "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि शरीर वियोग काल में उपासक की ब्रह्म संमत्ति बतलाने वाले वचन से ज्ञात होता है कि उपासक का उसी समय प्राणों से भी वियोग होता है, इसीलिए देवयान में ब्रह्मसंपत्ति नहीं होती। "न तस्य प्राणा उत्क्रामंति"-से भी यही बतलाते हैं कि देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक जीव के प्राण भी, ब्रह्म प्राप्ति के पूर्व तक उससे नहीं छूटते। आर्त भाग के प्रश्न में भी यही बात कही गई है वहाँ उपासक जीव का प्रसंग ही नहीं है, वह तो अनुपासक जीव का विषय है, वहाँ प्रश्नोत्तरों में ब्रह्मविद्या को प्राप्त न करने वालों के विषय में उनकी इन्द्रियों और उनके स्वभाव की जलअग्नि अन्नरूपता, म्रियमाण जीव की प्राण परित्याग का प्रकार, मृत जीव का स्वाभाविक अनुवृत्ति का प्रकार, उसके अनुसार पुण्यपापानुरूपगति प्राप्ति इत्यादि का विवेचन किया गया है वहाँ जो "अपपुनर्मृत्युंजयति" कहा गया है वह तो ज्ञान से अग्निजय को ही मृत्युजय कहा गया है। इसलिए उसे उपासक जीव का प्रसंग समझना ही नहीं चाहिए। अनुपासक जीव के प्राणों की उत्क्रांति का जहाँ प्रसंग है, उसमें भी यही दिखलाया गया है कि-स्थूल शरीर की तरह प्राण, उसको एकाएक नहीं छोड़ देते अपितु सूक्ष्मरूप से संसक्त होकर उस जीव के साथ जाते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

स्मर्यंते च ।४।२।१३॥

स्मर्यंते च विदुषोऽपि मूर्धनाड्योत्क्रांति: "ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमंडलं, ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्" इति ।

उपासक की मूर्धा की नाडी से उत्क्रांति की बात स्मृति में भी कही गई है "ऊपर की एक नाडी में स्थित वह जीव, सूर्यमंडल का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्म लोक को भी अतिक्रमण कर परं गति गोलोक की प्राप्ति करता है।"

६ परसंपत्त्यधिकरण:

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१४॥

सकरग्राम:, स प्राण:, करणाध्यक्ष: प्रत्यगात्मा उत्क्रांति वेलायां तेज: प्रभृति भूतसूक्ष्मेषु संपद्यत इत्युक्तम्, सैषा संपत्ति-र्विदुषो न विद्यत इति आशंक्य परिहृतम्, तानि पुनर्जीवपरिष्वक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविद्यं च स्वकार्याय गच्छंति, उत परमात्मनि संपद्यन्ते? इति विशये मध्ये परमात्म संपत्तौ सुखदु:खो-पभोगरूपकार्यदर्शनात् तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविद्यं च गच्छंति ।

इन्द्रिय प्राणों सहित इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा उत्क्रांति के समय तेज आदि सूक्ष्म भूतों से संसक्त रहता है यह बतलाया गया, ऐसी आसक्ति उपासक की नहीं होती ऐसी शंका करते हुए उसका समाधान भी किया गया। अब प्रश्न होता है कि—जीव की मुक्ति हो जाने पर वे सूक्ष्मभूत जीव के कर्मानुसार उसके साथ ही रहते हैं अथवा, परमात्मा में लीन हो जाते हैं? इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे परमात्मा में मिल नहीं सकते क्योंकि परमात्मा में सुखदु:ख के उपभोग नहीं हैं, इसलिए वे जीव में संसक्त रहते हैं।

ankurnagpal108@gmail.com

इति प्राप्त उच्यते-तानि परे इति, तानि परस्मिन्नात्मनि संपद्यंते, कुतः? तथाह्याह श्रुतिः "तेजः परस्यां देवतायाम्" इति। यथाह श्रुतिः तदनुगुणकार्यं कल्प्यमित्यर्थः। सुषुप्तिप्रलयोर्यथा परमात्मसंपत्त्या सुखदुःखोपभोगायासविश्रमः तद्वद् इहापि।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि वे परमात्मा में संसक्त हो जाते हैं, "तेज परमात्मा में चला जाता है" इत्यादि श्रुति में इनकी परमात्मा में मिलने की बात स्पष्टतः कही गई है, इन भूतों के जो कर्मानुसार कार्य होते हैं, वे सृष्टि में ही होते हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है। सुषुप्ति और मूर्छा में जैसे जीवात्मा, आत्मस्थ परमात्मा से संसक्त हो जाता है उस समय उसके सुखदुःखोपभोग के सारे क्रिया कलाप तटस्थ रहते हैं, वैसे ही मुक्तावस्था में भी जीवात्मा के परमात्मा में संसक्त रहते हैं [सृष्टिकाल में वे पुनः जीवात्मा के साथ अपने क्रिया कलाप के विस्तार के लिए सचेष्ट होते हैं]

७ अविभागाधिकरणः—

अविभागोवचनात्।४।१।१५

सेयं परमात्मनि संपत्तिः किं प्राकृतलयवत् कारणापत्तिरूपा, उत "वाङ् मनसि" इत्यादिवत् अविभागरूपा? इति चिन्तायाम्-परमात्मनः सर्वेषां योनिभूतत्वात् कारणापत्तिरूपा।

यह जो भूतों की परमात्मा में संलग्नता की बात कही गई वह किस प्रकार की है, क्या वह प्राकृतलय की तरह कारणापत्तिरूपा अर्थात् कारण में कार्य के मिलने की बात है अथवा "वाङ्मनसि" की तरह तद्रूप होकर चिपके रहने की बात है? इस पर विचारने से-परमात्मा सभी के कारण हैं इसलिए, कारण में कार्य के मिलने की बात, समझ में आती है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यतेः-"अविभागः" इति। अपृथग्भावः पृथग्व्यवहारानर्ह संसर्ग इत्यर्थः। कुतः? वचनात् "तेजः परस्यां देवतायाम्" इत्यत्रापि "वाङ् मनसि संपद्यते" इत्यतः संपद्यत इति

ankurnagpal108@gmail.com

वचनस्यानुषंगात्, तस्य च संसर्गविशेष वाचित्वात्, अनुषक्त स्याभिधानवैरूप्यप्रमाणाभावात्, उत्क्रांतिवेलायां कारणापत्ति प्रयोजनाभावात् पुनस्तत्राव्यक्तादिसृष्टयवचनाच्च।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—इन सूक्ष्म भूतों का परमात्मा से जो सम्मेलन होता है वह इतना सूक्ष्म होता है कि—उसे पृथक् कहना कठिन है। "तेजः परस्यां देवतायाम्" इस वचन से ही उक्त बात समझ में आ जाती है। "वाङ्मनसि संपद्यते" में जो अनुषक्त होने की बात कही गई है, वह विशेष प्रकार के संसर्ग का ही बोध कराती है। परमात्मा में अनुषक्त, इन सूक्ष्म भूतों के नामभेद का तो, उल्लेख मिलता नहीं, और न उत्क्रांति के समय इनका कारण में लीन होने का कोई प्रयोजन ही समझ में आता है, तथा इन अव्यक्त आदि का उस अवस्था में सचेष्ट होकर संचालित होने का प्रमाण ही मिलता है, जिससे इन्हे भिन्न या अभिन्न कुछ कहा जा सके, इनकी तो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीय अभिन्नता ही रहती है।

२ तदोकोऽधिकरणः—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत् प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया।४।२।१६॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वदविदुषोः समानाकार उत्क्रांति प्रकार उक्तः, इदानीं विदुषो विशेष उच्यते, तत्रेदमाम्नायते—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति। अनया नाडीनां शताधिकया मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनं अन्याभिरेव चाविदुषो गमनमित्ययं नियम उपपद्यते, न? इति संशयः किं युक्तम्? नियमो नोपपद्यत इति, कुतः? नाडीनां भूयस्त्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च दुर्विवेचतया पुरुषेणोपादातुमशक्यत्वात्। "तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या

ankurnagpal108@gmail.com

उत्क्रमणे भवंति" इति यादृच्छिकीमुत्क्रांतिमनुवदतीति युक्तमिति ।

नाडी विशेष में प्रवेश करने के प्रथम तक उपासक और अनुपासक की समान उत्क्रांति दिखलाई गई, अब नाडी में प्रवेश करने के बाद उपासक की विशेष प्रकार की उत्क्रांति का वर्णन करते हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया कि-"हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक कपाल की ओर निकली है, उसके सहारे ऊपर के लोकों में जाकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है दूसरी एक सौ नाडियाँ मरण काल में अनेक प्रकार की योनियों में जाने की हेतु होती हैं" इत्यादि । सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य सुषुम्ना नाडी से उपासक की उत्क्रांति तथा अन्य सौ नाडियों से अनुपासक की उत्क्रांति का नियम बतलाया गया है या नहीं? इस संशय पर मत होता है कि-नाडियाँ अनेक और अति सूक्ष्म हैं, उनकी जानकारी बहुत कठिन है जीव के द्वारा उनको ग्रहण करना अति कठिन है "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इत्यादि में सामान्य उत्क्रांति का ही वर्णन है, यही मानना युक्ति युक्त है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-शताधिकया इति । विद्वान् शताधिकया मूर्धन्ययैव नाड्योत्क्रामति । न चास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वं, विद्वान् हि परं पुरुषाराधनभूतात्यर्थं प्रियविद्या सामर्थ्यात् विद्याशेषभूततयाऽत्मनोऽत्यर्थं प्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति, ततश्च तदोकः तस्य जीवस्य स्थानं हृदयं अग्रज्वलनं भवति, अग्रेज्वलनं प्रकाशनं यस्य, अग्रज्वलनम्। परमपुरुषप्रसादात् प्रकाशितद्वारो विद्वान् तां नाडीं विजानातीति, तया विदुषो गतिरुपपद्यते ।

उत मत पर सिद्धान्तरूप से "शताधिकया" आदि सूत्र प्रस्तुत करते हैं-कहते हैं कि-उपासक, सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य नाडी से ही उत्क्रमण करता है। उपासक के लिए नाडियों की जानकारी कठिन नहीं होती। उपासक, परंपुरुष की आराधना रूप प्रिय ब्रह्मविद्या के

ankurnagpal108@gmail.com

सामर्थ्य से, विद्या के फलस्वरूप होने वाली प्रिय इष्ट प्राप्ति को स्मरण कर अत्यंत प्रसन्न होता है, उसे परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, इसलिए उसके हृदय का अग्रभाग (जो कि सुषुम्ना नाडी की ओर जाता है) प्रज्वलित अर्थात् प्रकाशित हो जाता है, प्रभु की कृपा से वह उपासक प्रकाशित मार्ग से नाडी के मार्ग की जानकारी कर लेता है, उसी मार्ग से उपासक की गति होती है।

६. रश्म्यनुसाराधिकरणः-

रश्म्यनुसारी ।४।२।१७।।

विदुषो हृदयाच्छताधिकया मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्यादित्य रश्मीननुसृत्यादित्यमंडलगतिः श्रूयते "अथ यत्रैदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इति। तत्र रश्म्यनुसारेणैवेत्ययं गति नियमः संभवति न वा ? इति चिन्तायां, निशिमृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारासंभवादनियमः। वचनन्तु पक्षपात विषयम्।

हृदय से निसृत एक सौ एक नाडियों में सर्वश्रेष्ठ मूर्धन्य नाडी से निकलकर सूर्य की किरणों का अनुसरण कर सूर्य मंडल में जाने की बात उपासक के विषय में सुनी जाती है-"इस शरीर से उत्क्रमण कर, इन सूर्य की रश्मियों के ही सहारे ऊपर आक्रमित होता है", इस पर विचार होता है कि-क्या सूर्य रश्मियों के सहारे ही इस गति के होने का नियम है, अथवा कोई नियम नहीं है? मनन करने से तो ऐसा कोई नियम समझ में नहीं आता, क्योंकि जब उपासक की मृत्यु रात्रि में होती है तब क्या उसकी ऊर्ध्वगति नहीं होती ? यदि होती है तो कैसे होती है? उक्त वचन पक्ष विशेष के लिए प्रतीत होता है।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यते-"रश्म्यनुसारी" इति, रश्म्यनुसार्येव विद्वानूर्ध्वं गच्छति, कुतः ? "अथैतैरेव रश्मिभिः" इत्यवधारणात् पाक्षिकत्वे ह्येवाकारोऽनर्थकः स्यात्। यदुक्तं निशिमृतस्य रश्म्यसंभवात् रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति, तत्र, निश्यपि

ankurnagpal108@gmail.com

सूर्यरश्म्यनुसारः संभवति, लक्ष्यते हि निश्यपि निदाघ समये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः, हेमन्तादौ तु हिमाभिवाद् दुर्दिन इवोष्मानुपलम्भः, श्रूयते च नाडी रश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः- "तद्यथामहापथ आतत उभौ लोकौ गच्छतीमं चामुं च आमुष्मादादित्यात्प्रतायंते त आसु नाडी सुसृप्ताः आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायंते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" इति। तस्मान्निश्यपि रश्मि संभवान्निशि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि-रश्मियों के सहारे ही उपासक की ऊर्ध्व गति होती है। "उन्हीं रश्मियों के सहारे" इस अवधारक पद से यह बात निश्चित हो जाती है। यदि इस वाक्य को पक्ष विशेष के लिए मानेंगे तो वाक्यगत "एव" पद की व्यर्थता सिद्ध होगी। जो यह कहा कि-रात्रि में मृत उपासक का रात्रि में रश्मि न होने से, रश्म्यनुसार उर्ध्व गमन नहीं हो सकता; सो बात नहीं है, रात्रि में भी रश्म्यनुसार गमन संभव है; गर्मी के दिनों में रात्रि में ऊष्मा होती है जिससे सूर्यरश्मियों का सद्भाव निश्चित होता है, हेमन्त आदि में, हिम से आच्छादित होने के कारण, मेघाच्छादित दिन की तरह ऊष्मा की अनुपलब्धि रहती है। नाडी और रश्मियों का, एक दूसरे से संबंध होने का उल्लेख भी मिलता है। "जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्त्ती) और उस (दूरवर्त्ती) दो गावों को जाता है, वैसे ही सूर्य की किरणें, इस पुरुष और आदित्य मंडल, दोनों में प्रविष्ट हैं। जो निरन्तर उस आदित्य से निकलती हैं वो इन नाडियों में व्याप्त हैं, तथा जो इन नाडियों से निकलती हैं वो आदित्य में व्याप्त हैं।" इत्यादि। इसलिए, रात्रि में भी रश्मियों के सद्भाव के कारण, रात्रि में भी मृत उपासक की, रश्मि अनुसार ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ऐसा मानना चाहिए।

१० निशाधिकरणः—

निशिनेति चेन्न संबंधस्ययावद्देहभावित्वात् दर्शयति च ।४।२।१८॥

इदमिदनानीं चिन्त्यते—विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति,

ankurnagpal108@gmail.com

नेति? यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसंभवाद्रश्म्यनुसारेण गतिर्निशाया-मपि संभवति, तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गर्हितत्वात् परमपुरुषार्थ लक्षण ब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न संभवति। शास्त्रेषु दिवामरणम् प्रशस्तम्, विपरीतं निशामरणम्-"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च, मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्" इति। दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्व विपरीतत्वे चोत्तमाधमगति हेतुत्वेन स्याताम्। अतो निशिमरणमधोगति हेतुत्वान्न ब्रह्म प्राप्तिरिति चेत्।

अब यह विचारते हैं कि- रात्रि में मृत उपासक की ब्रह्म प्राप्ति होती है या नहीं ? यद्यपि रात्रि में भी सूर्य रश्मियों के रहने से, रश्मियों के सहारे रात्रि में भी ऊर्ध्व गमन होता है, फिर भी रात्रि मरण की शास्त्र में गर्हणा की गई है, इसलिए-रात्रि में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति रूप मुक्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिवामरण को प्रशस्त तथा निशामरण को गर्हित कहा गया है-"दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण, मुमुक्षुओं के लिए प्रशस्त हैं, इससे विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन, गर्हित है'' इत्यादि। दिवामरण और निशामरण के प्रशस्त और गर्हित होने की बात उत्तम और अधोगति के अधार पर ही कही गई है इसलिए रात्रि मरण में अधोगति होती है, इस आधार पर ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, ऐसा समझ में आता है।

तन्न, विदुषः कर्मसंबंधस्य यावद्देहभावित्वात्। एतदुक्तं भवति-अनारब्धकार्याणामधोगति हेतुभूतानां कर्मणां विद्यासंबंधेनैव विनाशादुत्तरेषां चाश्लेषाद् प्रारब्ध कार्यस्य च चरमदेहावधित्वाद् बन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धैव। दर्शयति च श्रुतिः "तस्यतावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इति "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम्।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त बात ठीक नहीं है, उपासक का कर्म संबंध तो शरीर के रहने तक ही रहता है। कथन यह है कि-अधोगति को देने वाले अनेकानेक जन्मों के संचित कर्मों का तथा भविष्य में फलित होने वाले कर्मों का तो विद्या के संबंध से ही विनाश और अश्लेष हो जाता है, प्रारब्ध कर्मों के फल का संबंध भी देह की समाप्ति तक ही रहता है, बंधन में डालने वाले कोई कर्म शेष तो रहते नहीं, इसलिए उपासक की रात्रि में मृत्यु होने पर भी, ब्रह्मप्राप्ति तो निश्चित ही है। श्रुति का कथन भी है कि- "उसकी मुक्ति में तभी तक का विलंब है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता।" "दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादि वचन तो अनुपासकों के लिए है।

११. दक्षिणायनाधिकरण:—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।१६।।

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेत दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः यनेसिद्धा।

अधिका शंका तु "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छति" इति दक्षिणायेन मृतस्य चंद्रप्राप्ति श्रवणात् चन्द्रंप्राप्तानां च "तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति पुनरावृत्ति श्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानां उत्तरायणप्रतीक्षा दर्शनाद् दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवति इति।

रात्रि में उपासक की ब्रह्म प्राप्ति में जो कारण बतलाया गया, उसी कारण के आधार पर दक्षिणायन में भी मृत उपासक की ब्रह्मप्राप्ति स्वभाव सिद्ध है।

इस पर विशेष शंका यह होती है कि-"जो लोग दक्षिणायन में मरते हैं वे पितरों की महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का सायुज्य प्राप्त करते हैं" इत्यादि में दक्षिणायन में मरने वाले को चन्द्र प्राप्ति बतलाई

ankurnagpal108@gmail.com

गई है तथा चन्द्र प्राप्त जीव की, "वे जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से पुनः लौट आते हैं" इत्यादि में पुनारावृत्ति बतलाई गई है तथा ब्रह्मविद्या-निष्ठ भीष्म आदि के उत्तरायण की प्रतीक्षा के उल्लेख से ऐसा लगता है कि दक्षिणायन में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं है।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः, विदुषस्तु चंद्र प्राप्तस्यापि "तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति" इति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायन मृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्मप्रपित्सतो विश्रमहेतुमात्रमिति गम्यते, वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बंधहेत्वभावात् विदुषश्चन्द्रप्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरनिवार्या। भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छंदमरणानां धर्म प्रवर्त्तनायोत्तरायण प्राशस्त्यप्रदर्शनार्थस्तथाविधाचारः।

उक्त संशय का परिहार यह है कि—पितृयान से जाकर चन्द्रमसी गति प्राप्ति करने वाले अनुपासक की ही पुनरावृत्ति होती है, उपासक की कभी चान्द्रमसी गति होती भी है तो, "वहाँ से वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करते हैं" इत्यादि वचन से ज्ञात होता है कि, दक्षिणायन में मृत उपासक की वह चंद्र प्राप्ति ब्रह्म मार्ग में जाते हुए विश्राम के लिए होती है। यदि यह वचन न भी हो तो भी उपासना के कारण उसमें बंधन के हेतु का तो अभाव रहता ही है, जिससे चन्द्र प्राप्त उपासक की ब्रह्म प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है। भीष्मादि के उत्तरायण प्रतीक्षा की जो बात है, वह तो उत्तरायण की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए और धर्म प्रवर्त्तन के लिए, योग प्रभाव से स्वच्छंद मरण की बात है।

ननु च विदुषो मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्ति हेतुत्वेन कालविशेष विधिर्दृश्यते "यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभः। अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः। धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्, तत्रचान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते। शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते, एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्ततेपुनः" इति। तत्राह—

ankurnagpal108@gmail.com

मुमुक्षु उपासकों के लिए तो पुनरावृत्ति के हेतु कालविशेष का वर्णन मिलता है? जैसे–"हे भरतर्षभ! जिस समय योगी की आवृत्ति और अनावृत्ति होती है, उसका नियम बतलाता हूँ, सुनो–अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः महीने के दिनों में जाने वाले ब्रह्मविद ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन के छः महीनों में जाने वाले योगी चान्द्रमसी ज्योति को प्राप्त कर पुनः लौटते हैं इस प्रकार की शुक्ल और कृष्ण की गतियाँ, जगत में शाश्वत काल से चली आ रही हैं, जिनमें से एक में जाने पर आवृत्ति होती है। "इत्यादि, इसका समाधान करते हैं—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्त्ते चैते ।४।२।२०॥

नात्र मुमूर्षून प्रति मरण काल विशेषोपादानं स्मर्यते अपितु योगिनः, योग निष्ठान् प्रति स्मार्त्ते-स्मृति विषयभूते स्मर्त्तव्ये देवयान पितृयानाख्ये गती स्मर्येते, योगांगतयाऽनुदिनं स्मर्त्तुम्। तथाहि उपसंहारः–"नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन" इति "अग्निर्ज्योती" "धूमो रात्रिः" इति च देवयान पितृयाणे प्रतिभिज्ञायेते उपक्रमे च "यत्र काले तु" इति काल शब्दः कालाभिमानिदेवतातिवाहिकपरः, अग्न्यादेः कालत्वासंभवात्। अतः "तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति विदितदेवयानानुस्मृतिरत्र विद्यानिष्ठान्प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः।

उक्त प्रसंग में मुमुक्षु उपासकों, के मरण काल विशेष का उल्लेख नहीं है, अपितु कर्म योग में संलग्न व्यक्तियों की गति का उल्लेख है। स्मृतियों में जो, देवयान पितृयान नामक गतियों का उल्लेख है वह, कर्मयोग के अंग विशेष रूप से सदैव ज्ञातव्य है। जैसा कि उक्त प्रसंग के उपसंहार में स्पष्ट कहा गया कि–"हे अर्जुन! उक्त दोनों गतियों को

ankurnagpal108@gmail.com

जानकर कर्मयोगी कभी मोह में नहीं पड़ते, इसलिए तुम सदैव कर्मयोग में संलग्न रहो।" इत्यादि "अग्नि ज्योति" और "धूमो रात्रिः" इत्यादि से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख है। उपक्रम में जो "यत्र काल" कहा गया है, वहाँ काल शब्द कालाभिमानी देवता अतिवाहक का वाचक है, अग्नि इत्यादि में कालत्व नहीं हो सकता है। "तेर्चिषभमिसंभवंति" इत्यादि में, विद्या निष्ठों के लिए, देवयान मार्ग प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। मुमुक्षुओं के मरण काल विशेष का प्रसंग नहीं है।

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ-अध्याय

तृतीय पाद

१ अर्चिराद्यधिकरणः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१॥

विदुष उत्क्रान्तस्यनाडी विशेषेण हार्दानुग्रहात् गत्युपक्रम उक्तः। तस्य गच्छतो मार्ग इदानीं निर्णीयते। तत्र श्रुतिषु मार्ग प्रकारा- बहुधा आम्नायन्ते, छांदोग्ये तावत्–"यथा पुष्कर पलाश आपो नश्लिष्यंते एवमेवंविदि पापकर्म नश्लिष्यते" इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदिश्याम्नायते "अथ यदु चैवस्मिञ्छव्यं कुर्वंति यदु च न अर्चिषमेवाभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः, आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण-पक्षाद्यान् षडुदंगेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-मादित्याच्चंद्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः, एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति। तथाऽत्रैवाष्टमे–"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमा-क्रमते" इति। कौषीतकिनश्च देवयानमार्गमन्यथाऽधीयते "स एतं देवयानं पथानमापद्यग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुण-लोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकम्" इति। तथा वृहदारण्यके–य एवमेतद् विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्य-मुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति अर्चिषोऽहरहः अपूर्यमाणपक्षमापूर्य-माणपक्षद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देव लोकादादित्यलोकं आदित्याद् वैद्युतं वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मलोकान् गमयति" इति। तत्रैव पुनरन्यथा "यदा वैपुरुषोऽस्मांल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा आडम्बरस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्" इत्यादि। तत्र संशयः किमर्चरादिरेक एव मार्ग आभिः श्रुतिभिः प्रतिपद्यत् इति, तेनैव ब्रह्म गच्छति विद्वान् उत् तस्मादन्येऽन्यत्रमार्गा इति तैर्वाऽनेन वेत्यनियमः ? इति। कि युक्तम् अनियम् इति, कुतः ? अनेकरूपत्वान्नैरपेक्ष्याच्चैति।

हृदय की विशेष नाडी के सहारे उत्क्रांत उपासक की गति उपक्रम का वर्णन किया गया। अब उसके जाने वाले मार्ग के विषय का निर्णय करते हैं। श्रुतियों के मार्ग का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि– छांदोग्य में–"जैसे कि कमल का पत्ता जल से पृथक रहता है, वैसे ही उपासक पापकर्म से असाश्लिष्ट रहता है" इस प्रकार उपक्रम करते हुए ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर कहते हैं–"वे जो इस प्रकार जानते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्चि अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को दिवसाभिमानियों से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानियों से जिन छः महीनों से सूर्य उत्तर की ओर जाता है, उन छः महीनों को, उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को, और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं वहाँ एक अमानव पुरुष है जो कि उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं, यह देव मार्ग ब्रह्ममार्ग है इस पथ पर आरूढ़ हुए पुरुष इस मानव देह में लौटकर नहीं आते" इत्यादि तथा इसी के आठवें अध्याय में कहा गया कि–"इन्हीं रश्मियों से ऊपर आकमित होते हैं,' इत्यादि। कौषीतकि में देवयान मार्ग का भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–"जो इस देवयान मार्ग में आरूढ़ होता है वह अग्नि लोक को जाता है, वह वायुलोक को जाता है, वह वरुणलोक को जाता

ankurnagpal108@gmail.com

है, वह आदित्य लोक को जाता है, वह इन्द्रलोक को जाता है, वह प्रजापति लोक को जाता है, वह ब्रह्मलोक को जाता है। "इत्यादि तथा वृहदारण्यक में वर्णन मिलता है–"जो इस प्रकार इसे जानते हैं अथवा जीवन में श्रद्धा से सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवताओं को दिन के अभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी देवता को पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है उन छ. महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, षणमासाभिमानी देवताओं से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, और आदित्य से विद्युत्संबंधी देवताओं को प्राप्त होते हैं उन वैद्युत देवों के पास एक अमानव पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है "इत्यादि उसी उपनिषद में पुनः भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है–" जब पुरुष मर कर इस लोक से जाता है वह वायु को जाता है वहाँ वह वायु छिद्रयुक्त होकर मार्ग दे देता है जैसा कि रथ के पहिए का छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है, वहाँ सूर्य उसके लिए वैसा ही छिद्रउक्त मार्ग देता है, जैसा कि डम्बर का छिद्र होता है, उससे वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह चन्द्र लोक में पहुँच जाता है, वहाँ चन्द्रमा भी उसे छिद्र दे देता है जैसा कि दुदुंभी का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह अशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है उसमें सदा –" इत्यादि। इस पर संशय होता है कि– अर्चिरादि के एक ही मार्ग का इन श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है, जिससे कि उपासक ब्रह्म को प्राप्त करता है, अथवा भिन्न-भिन्न मार्गों का प्रतिपादन है ? अथवा इन भिन्न मार्गों में से किसी से भी जाने का अनियम दिखलाया गया है ? विचारने पर अनियम ही समझ में आता है क्योंकि अनेक मार्गों का उल्लेख कोई विशेष अपेक्षित मार्ग तो बतलाया नहीं गया है।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्तेऽभिधीयते–अर्चिरादिना इति। अर्चिरादिरेक एवं मार्गः सर्वत्र प्रतिपाद्यते। अतोऽर्चिरादिनैव गच्छति। कुतः ? तत्प्रथितेः तस्यैव सर्वत्र प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव मार्गः सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत

ankurnagpal108@gmail.com

इति विद्यागुणोपसहांरवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते। छांदोग्ये तावदुपकोसलविद्यायां पंचाग्निविद्यायां चैकरूप एवाम्नायते, वाजसनेयके च पंचाग्निविद्यायां तथैवार्चिरादिः, अल्पान्तरमाम्नायते, अतस्तत्रापि स एवेति प्रतीयते। अन्यत्रापि सर्वत्राग्न्यादित्यादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "अर्चिरादिना" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। एक ही अर्चिरादि मार्ग का सब जगह प्रतिपादन किया गया है। उपासक अर्चिरादि मार्ग से ही जाता है। उसी मार्ग से उसके जाने की सर्वत्र प्रसिद्धि है। उसी एक मार्ग का सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से वर्णन किया गया है। विद्याओं के गुणोपसंहार की तरह इसका भी अन्यत्र जो उल्लेख है उसका अन्यत्र उपसंहार किया गया है। जैसे कि छांदोग्य की उपकोसल और पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में उक्त मार्ग का एक-सा वर्णन किया गया है, वाजसनेयक की पचाग्नि विद्या में इस अर्चिरादि का कुछ थोड़े से अन्तर से वर्णन है, इसलिए वहाँ भीउसी का वर्णन प्रतीत होता है। अन्यत्र भी अग्नि आदित्य आदि की प्राप्ति प्रायः समान रूप से ही दिखलायी गई है।

२ वाय्वधिकरणः—

वायुमब्दादविशेष विशेषाभ्याम् ।४।३।२॥

अर्चिरादिनैव गच्छंति विद्वांस इत्युक्तम, तत्रार्चिरादिके मार्गे छंदोगाः मासादित्योरन्तराले संवत्सरमधीयेते—"मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" इति। वाजसनेयिनस्तुतयोरेवान्तराले देवलोकं—"मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्" इति। उभयत्रापि मार्गस्यैकत्वादुभयत्रोपसंहार्यौ। तत्र मासादूर्ध्वमभिहितयोः संवत्सर प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः देवलोकयोः पंचम्याभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वे हि—"अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षद्यान् षडुदंगेति मासांस्तान्"

ankurnagpal108@gmail.com

इत्यधिककालानां न्यून कालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात् संवत्सरस्यैव मासादनंतरं बुद्धौ विपरिवृत्तेः संवत्सर एव मासादूर्ध्वं निवेशयितव्य इति तता ऊर्ध्वं देवलोक इति निश्चीयते ।

उपासक अर्चिरादि पथ से जाते हैं यह बतलाया गया। अर्चिरादि मार्ग के वर्णनों में कुछ भेद है उस पर विचार करते हैं जैसे कि-छांदोग्य में मास और आदित्य के बीच संवत्सर का वर्णन है-"मास से संवत्सर संवत्सर से आदित्य।" वाजसनेयी में उन दोनों के बीच देवलोक का वर्णन है—"मासों से देवलोक देवलोक से आदित्य।" मास से ऊपर जिन संवत्सर और देवलोक का पंचमी विभक्ति से उल्लेख किया गया है वह श्रौतक्रम के अनुसार ही है। "अर्चि अभिमानी से दिवसाभिमानी को, दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी को दिवसाभिमानी से उत्तरायण के महीनों को, उत्तरायण के महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से" इत्यादि में जो-समय के न्यूनाधिक क्रम का उत्तरोत्तर वर्णन किया गया है उससे, मास से बाद संवत्सर की स्थिति ही समीचीन प्रतीत होती है मास से संवत्सर में प्रवेश करने की बात ही बुद्धिगम्य होती है, इसके ऊपर देवलोक की स्थिति निश्चित होती है।

अन्यत्र वाजसनेयिनः "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथ चक्रस्य खंतेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यादित्यात्पूर्वं वायुमधीयते। कौषीतकिनस्तु-"स ए देवयानं पंथानमापद्याग्नि लोकमागच्छति स वायुलोकम्"इत्यग्निलोकशब्द निर्दिष्टादर्चिषः परं वायुमधीयते। तत्र कौषीतकिनां पाठक्रमेणार्चिषः परत्वेन प्राप्तस्य वायोः वाजसनेयिनां "तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यूर्ध्वशब्द निर्दिष्ट श्रौतक्रमेण पाठक्रमाद् बलीयसा आदित्यात्पूर्वंप्रवेशो निश्चीयते।

दूसरी जगह वाजसनेयी में "यदावै पुरुषो" इत्यादि में आदित्य के पूर्व वायुलोक प्राप्ति की बात कही गई है। तथा कौषीतकि में-"स एतं देवयानं" इत्यादि में अग्निलोक शब्द से निर्दिष्ट अर्चि के बाद वायु-

ankurnagpal108@gmail.com

लोक के वर्णन से वाजसनेयी का "तेन स ऊर्ध्वं" इत्यादि वर्णन श्रौतक्रम से निर्दिष्ट ऊर्ध्व पद के पाठ के कारण श्रेष्ठ होता है, जिससे आदित्य से प्रथम वायुलोक में प्रविष्ट होना निश्चित होता है।

अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकोवायुश्चप्राप्तौ, तत्रेदं चिन्त्यते, किं देवलोकोवायुश्चार्थान्तरभूतौ यथेष्टक्रमेण विद्वान् अभिगच्छेत् उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं संतं वायुमभिगच्छेत् ? किं युक्तम् ? भिन्नार्थत्वं प्रसिद्धेः। भिन्नार्थत्वेचोर्ध्वंशब्देन पंचम्या चोभयोः संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात् विशेषाभावाच्च यथेष्टम्।

इस प्रकार भिन्न प्रकरणों में संवत्सर के ऊपर आदित्य से प्रथम देवलोक और वायु का उल्लेख मिलता है। इस पर विचार होता है कि-देवलोक और वायु दोनों एक ही हैं जिनसे होकर उपासक जाता है अथवा संवत्सर से ऊपर देवलोक को पार कर वायु को जाता है ? वैसे दोनों की भिन्न अर्थों में ही प्रसिद्धि है, दोनों के लिए ही पंचमी का प्रयोग किया गया है, तथा दोनों की संवत्सर के ऊपर आदित्य के पहिले स्थिति बताई गई है इसलिए दोनों में किसी को भी माना जा सकता है, दोनों को भी माना जा सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—वायुमब्दात् इति वायुं संवत्सरादूर्ध्वमभिगच्छेत्। कुतः ? अविशेष, विशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात्। देवलोक शब्दो हि अविशेषेण, सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुमभिधत्ते। "सवायुमागच्छति तस्मै स तत्र" इति वायुशब्दो विशेषेण वायुमभिधत्ते। अतो देवलोक वायुशब्दाभ्यां अविशेष विशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत्। कौषीतकिना वायुलोक शब्दश्चाग्निलोकशब्दवत् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्या वायुमेवाभिधत्ते। वायुश्चदेवानामावासभूत इत्यन्यत्र श्रूयते—"योऽयं पवत एष देवानां ग्रहाः" इति।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त चिन्तन पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–संवत्सर से ऊपर वायु को ही जाते हैं। देवलोक और वायु का अविशेष और विशेष रूप से वर्णन किया गया है, विशेषता वायु का ही निर्देश है। देवलोक शब्द अविशेष है, देवताओं का लोक इस व्युत्पत्ति के अनुसार वायु का ही देवलोक के रूप में वर्णन किया गया है। "स वायुमागच्छति" इत्यादि में वायु शब्द का विशेषोल्लेख है, इसलिए वायु की बात ही ठीक है। देवलोक और वायु शब्दों के अविशेष और विशेषरूप से उल्लेख होने से संवत्सर से ऊपर वायु की स्थिति ही निश्चित होती है। कौषीतकि में जिस वायु का उल्लेख है, वह अग्नि लोक की तरह वायु लोक का ही है। वायु को देवताओं का आवास स्थान कहा भी गया है–"जो यह वायु है वह देवताओं का आवास स्थ ान है" इत्यादि।

३ वरुणाधिकरणः–

तडितोऽधिवरुणः संबंधात् ।४।३।३।।

कौषीतकिनां "स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम्" इत्याग्निलोक शब्दस्यार्चिः पर्यायत्वेन प्राथम्यविगीतम्। वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्तः। आदित्यस्याप्यत्र प्राप्त पाठक्रमबाधेन "देवलोकादादित्यमादित्याद्-वैद्युतम्" इति वाजसनेयकोक्त श्रुतिक्रमादेवलोक शब्दाभिहिताद्-वायोरुपरि निवेशः सिद्धः। इदानीं वरुणेन्द्रादिषु चिन्ता। किमेते वरुणादयो यथापाठं वायोरूर्ध्वं निवेशयितव्याः, आहोस्वित् विद्युतोऽधीति विशये अर्चिः प्रभृतिषु सर्वेषु "अर्चिषोऽहः" इत्यादि श्रुतिक्रमोपरोधाद् विद्युतः परस्ताच्च "तत्पुरुषोऽमानवः स एवान् ब्रह्म गमयति" इति विद्युतपुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रवणात् सर्वत्रावकाशाभावेना प्राप्तौ च उपदेशा वैयर्थ्यायावश्यं कस्यचिद्

ankurnagpal108@gmail.com

बाध्यत्वे पाठक्रमानुरोधेन वायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः वाय्वादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापती अपि हि अत्रैव निवेशयितव्यौ ।

कौषीतकी में वर्णन आता है—"वह इस देवपथ पर आरूढ़ होकर अग्निलोक पहुँचता है, फिर वह क्रमशः वरुणलोक, आदित्य लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक, होकर ब्रह्मलोक पहुँचता है" इत्यादि। इसमें अग्निलोक शब्द अर्चि का पर्यायवाची है इसलिए उसका सर्वप्रथम वर्णन किया गया है। पहिले वायु का संवत्सर से ऊपर निवेश बतलाया गया है। "देवलोकात् आदित्यम आदित्याद् वैद्युतम्" इत्यादि वाजसनेयी श्रुति क्रम से भी, देवलोक शब्द वाची वायु के ऊपर सूर्य लोक का निवेश निश्चित होता है जब कि उक्त कौषीतकि वाक्य में आदित्य का पाठ्य क्रम भी बदला है इस वाक्य में वरुण इन्द्र आदि का विशेषोल्लेख है इस पर विचारना यह है कि इन वरुण इन्द्रादि को पाठ्यक्रम के अनुसार वायु के ऊपर निविष्ट किया जाय अथवा विद्युत लोक के नीचे ? समझ में तो यही आता है कि—"अर्चिषोहः" में जो क्रम दिया गया है उसके अनुसार तो विद्युत के बाद ही इनका निवेश होना चाहिए "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में जिस अमानवीय विद्युत पुरुष की ब्रह्मलोक तक पहुँचाने की चर्चा आई है उससे तो विद्युत से प्रथम किसी के होने का अवसर ही नहीं है, साथ ही ऐसा न मानने पर उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध होता है, इसलिए पाठक्रमानुसार वायु के बाद ही वरुण को प्रवेश करना चाहिए' तथा वायु और आदित्य के क्रम में बाधा न हो इसलिए इन्द्र और प्रजापति को भी यहीं प्रविष्ट करना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—"तरितोऽधिवरुणः" इति। वरुणः तावद् विद्युत् उपरिष्टात् निवेशयितव्यः। कुतः ? संबंधात्-मेघोदरवर्तित्वात् विद्युतो वरुणेन संबंधो लोक वेदयोःप्रसिद्धः। एतदुक्तं भवति—वरुणादीनामुपदेशावैयर्थ्यायक्वचिन्निवेशयितव्यत्वे सति पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वाद् विद्युतोऽधिवरुणो निवेशयितव्यः, ततश्चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

तस्य च व्यवधानसहत्वात् इन्द्रादेश्चोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागन्तूनामंते निवेशयितव्यत्वाच्च वरुणादुपरीन्द्रादिर्निवेशयितव्य इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए, क्योंकि लोक और वेद में, मेघ के उदर में व्याप्त होने से, विद्युत का वरुण के साथ, प्रसिद्ध संबंध है। कथन यह है कि—वरुण आदि का जो देवयान पथ में उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ न होने पावे, उन्हे कहीं तो स्थान देना ही होगा, इसलिए पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान होता है इस सिद्धान्त के अनुसार वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट करना चाहिए तभी अमानव पुरूष के ले जाने की बात व्यवधान के साथ बन सकेगी। उसका जो व्यवधान है उसी में इन्द्र आदि का निवेश किया जाना चाहिए। वरूण से ऊपर उन सबका उल्लेख किया गया है इसलिए वरुण से ऊपर ही इन्द्र आदि का निवेश होना चाहिए।

४. आतिवाहिकाधिकरणः—

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ।४।३।४॥

इदमिदानीं चिन्त्यते, किमर्चिरादयोः मार्गचिन्हभूतः उत् भोगभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेप्सितामतिवोढारः ? इति किं तावद् युक्तम् ? मार्ग चिन्हभूता इति, कुतः ? उपदेशस्य तथा विधत्वात्, दृश्यते हि लोके ग्रामादीनप्रति गंतृणामेवंविधो दैशिकैरुपदेशः—"इतोनिष्क्राभ्यामुकं वृक्षं अमुकां नदीं अमुकं च पर्वतपार्श्वं गत्वाऽमुकं ग्रामंगच्छ" इति ।

अथवा भोगभूमयएताः स्युः, काल विशेषतया—प्रसिद्धानामहरादीनां मार्गह्लित्वानुपपत्तेरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषामनिधायकत्वात्। भोगभूमित्वं च "एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सराः" इत्यहरादीनां लोकत्ववचनादुपपद्यते।

ankurnagpal108@gmail.com

अतएव च कौषीतकिनः "अग्निलोकमागच्छति" इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीन् पठन्तीति ।

अब यह विचारते हैं कि–यह अर्चिरादि केवल मार्ग के चिह्नमात्र हैं अथवा भोगभूमियाँ हैं अथवा उपासक को ब्रह्म की ओर ले जाने वाले दूत हैं ? मार्ग के चिह्न हो सकते हैं, ऐसा देखा जाता है कि–गाँव की ओर जाने वाले पथिक को प्रायः बतलाया जाता है कि–"यहाँ से निकल कर अमुक वृक्ष पड़ेगा तब आपको एक नदी दीखेगी उससे पर्वत के किनारे किनारे जाकर वो गाँव पड़ेगा" वैसे ही ब्रह्मलोक की ओर जाने वाले उपासक के लिए ये अर्चिरादि परिचायक चिह्नमात्र ही हैं।

अथवा भोगभूमि भी हो सकती हैं। कालविशेष रूप से प्रसिद्ध दिनमास आदि मार्ग के चिह्न नहीं हो सकते, मार्ग– के चिह्नरूप से इनका उल्लेख भी नहीं मिलता भोग्य भूमि के रूप में तो इनका वर्णन आता भी है–"ये रात्रि दिन, मास, ऋतुएं और संवत्सर सब लोक हैं" इत्यादि। इसी प्रकार कौषीतकी में भी-"अग्निलोक में पचहुँता है" इत्यादि से अर्चिरादि को लोक रूप से बतलाया गया है। इसलिए ये सब लोक भोग्य भूमि ही हैं।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्ते ब्रूमः–"आतिवाहिका" इति । विदुषामतिवाहे परंपुरुषेण नियुक्ताः, आतिवाहिकाः देवताविशेषा एते अर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिगात्–अतिवहन लिगात् । अतिवहनं हि गन्तृणां गमयितृत्वम् । गमयितृत्वं च–"तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्युपसंहारे श्रूयमाणं पूर्वेषामप्यविशेष श्रुतानां स एव संबंध इति गमयति । वदंति चार्चिरादयः शब्दाः, अर्चिराद्यात्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् । "तं पृथिव्यब्रवीत्" इतिवत् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से-"आतिवाहिका" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उपासक को ले जाने वाले, परंपुरुष की ओरसे नियुक्त, आतिवाहिक देवताविशेषों को ही अर्चिरादि नाम से बतलाया गया है। अतिवहन का चिह्न भी इनमें पाया जाता है। जाने वाले को ले जाने

ankurnagpal108@gmail.com

के सामर्थ्य को अतिवहन कहते हैं। जैसा कि–"वह अमानव पुरुष इन्हे ब्रह्म की ओर पहुँचाता है "इत्यादि उपसंहार के वाक्य से ज्ञात होता है। अर्चिरादि शब्द, अर्चिरादि के आत्मभूत अभिमानी देवता विशेष के परिचायक हैं। जैसे कि–"उससे पृथ्वी बोली" इत्यादि।

यद्येवं "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति वैद्युतस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रुतेर्विद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमातिवाहिकत्वेनान्वय इत्यत्राह–

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म की ओर पहुँचाता है" में तो केवल, वैद्युत पुरुष को ही ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है, फिर विद्युत से भिन्न वरुणादि का आतिवाहिक के रूप से समन्वय कैसे संभव है?

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।५।

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन–अमानवेनैवातिवाहिकेन विदुषा-माब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्। कुतः? तच्छ्रुतेः "स एनान् ब्रह्म गमयति" इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्युत इति।

विद्युत से ऊपर–उस अमानव आतिवाहक वैद्युत पुरुष की, उपासक को, ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है।, "स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्यादि श्रुति उसका ही आतिवाहकत्व वहाँ पर बतलाती है। वरुण इत्यादि तो उसके अनुग्राहक मात्र हैं इसलिए उनका भी अतिवाहक रूप से अन्वय हो सकता है।

५. कार्याधिकरणः–

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।६।।

अर्चिरादिरेव गच्छति विद्वान्, अर्चिरादिरमानवांतश्च गण आतिवाहिको विद्वांसं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम्। इदं इदानीं चिन्त्यते–किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनान्नयति, उत् परमेव

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्म उपासीनान्, अथ परंब्रह्मोपासीनान् प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मक तयोपासीनांश्च ? इति विशये–कार्यमुपासीनानेव गमयति इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः ? अस्य हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः, न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतम् परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव नित्य प्राप्त परब्रह्म विषयाविद्या निवृत्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम्। कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्त्ति प्राप्त्यर्थं गमनमुपपद्यते। अतोऽर्चरादिरातिवाहिकगणस्तमेव नयति।

उपासक अर्चिरादि द्वारा जाता है, अमानव अर्चिरादि आतिबाहिक गण, उपासक को ब्रह्म तक पहुँचाते हैं' यह बतलाया गया। अब विचार यह होता है कि–अर्चिरादिगण, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के उपासकों को पहुँचाते हैं अथवा परब्रह्म के उपासकों को अथवा उपासकों में उनको ही पहुँचाते हैं जो ब्रह्मात्मक भाव से उपासना करते हैं ? इस संशय पर बादरि आचार्य का मत है कि–कार्यब्रह्म के उपासकों को ही पहुँचाते हैं। हिरण्यगर्भ के उपासक के गमन की बात हो सकती है, परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वगत, सर्वात्मभूत परब्रह्म के उपासकों को उसे प्राप्त करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है, वह तो उन्हें प्राप्त ही है, नित्य प्राप्त परब्रह्म के विषय में जो अविद्या है' उसकी निवृत्ति करना ही तो परविद्या का कार्य है, उसकी निवृत्ति होते ही सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने लगती है। हिरव्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म के उपासक को ही, देश-विशेष ब्रह्मलोक में जाने की बात हो सकती है। अतः अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हीं को ले जाते हैं।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।७।।

"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति" इति लोक शब्देन बहुवचनेन च लोकविशेष वर्त्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते। किं च "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, इति

ankurnagpal108@gmail.com

कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभिसंधत्ते ।

"अमानव पुरुष लेकर ब्रह्म लोक जाता है" इत्यादि वाक्य में जो लोक शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह लोक विशेषवर्ती हिरण्यगर्भ के उपासक को ही ले जाता है, इस भाव का द्योतक है। "प्रजापत्ति के सभामंडल में उपस्थित होते हैं" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से अर्चिरादि द्वारा, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के निकट ले जाने की बात कही गई है।

नन्वेवं "तत्पुरुषोऽमानवः" स एनान् ब्रह्मगमयति" इत्यर्थ निर्देशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भनयने हि "स एनान् ब्रह्माणं गमयति" इति निर्देष्टव्यं स्यात् । अत आह—

"वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है" ऐसा निर्देश नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भ के पास ले जाने के प्रसंग में तो उक्त वाक्य के स्थान पर "वह इन्हें ब्रह्मा के पास ले जाते हैं" ऐसा पाठ होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।८॥

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्म सामीप्यात्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्ति विशेषणादिभिरुक्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ।

"यो ब्रह्माणं विदधाति" इत्यादि में हिरण्यगर्भ का सर्वप्रथम अजरूप से वर्णन किया गया है, तथा ब्रह्म के समीपवर्ती होने से उन्हें भी ब्रह्म ही कहा गया है इसलिए उनके निकट ले जाने की बात कोभी "ब्रह्म के पास ले जाते हैं" ऐसा कहा गया है।

अथ स्यात्—अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ "एषदेवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते "तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति" इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्ति व्यपदेशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भस्य कार्यभूतस्य द्विपरार्ध कालावसाने विनाश शास्त्रात्

ankurnagpal108@gmail.com

"आब्रह्म भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः" इति वचनात् हिरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेरवर्जनीयत्वात्–इति । तत्राह–

यदि अर्चिरादि द्वारा हिरण्यगर्भ की प्राप्ति मानेंगे तो "इस देवमार्ग ब्रह्मपथ को प्राप्त मानव इस संसार में लौटकर नहीं आता" उससे ऊपर जाकर अमृतत्व प्राप्त करता है 'इत्यादि फलश्रुति की संगति नहीं होगी। कार्यभूत हिरण्यगर्भ का तो द्विपरार्ध के अवसान में, शास्त्र से ही विनाश निश्चित है–" हे अर्जुन ! ये ब्रह्मसहित सारेलोक पुनरावर्त्त होते हैं" इत्यादि से, हिरण्यगर्भ को प्राप्त व्यक्ति की पुनरावृत्ति निश्चित हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं–

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।९॥

कार्यस्य–ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण–हिरण्यगर्भेणाधिकारिकेणावसिताधिकारेण विदुषासह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः अतः कार्याद् ब्रह्मलोकात् परंब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्व-प्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानात् "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यंति सर्वे" इति वचनाच्चावगभ्यते ।

कार्य ब्रह्मलोक के अवसान होने पर उसके अध्यक्ष के सहित उपासक भी कृतार्थ होकर अर्चिरादि द्वारा पुनरावृत्ति रहित अमृतत्व प्राप्त करता है ऐसा –"वे ब्रह्मलोक से परार्धकाल में मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं" इत्यादि से ज्ञात होता है।

स्मृतेश्च ।४।३।१०॥

स्मतेश्चायमर्थोऽवगम्यते–"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशंति परं पदम्" इति । अतः कार्यमुपासीनमेवार्चिरादिकोगणो नयतीति बादरेर्मतम् ।

स्मृति से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है–"प्रत्येक प्रलय में वे सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परंपद प्राप्त करते हैं" इसलिए कार्य-ब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादि गण ले जाते हैं, ऐसा बादरि का मत है।

ankurnagpal108@gmail.com

अत्र जैमिनिः पक्षान्तर परिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते—

इस पर उत्तर पक्ष को लेकर जैमिन उपस्थित होते हैं—

परंजैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।११।।

परं ब्रह्मोपासीनानर्चिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? मुख्यत्वात् "तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्म शब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात्। प्रमाणान्तरेण कार्यस्य निश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्व युक्तम्। न च गमनानुपत्तिः प्रमाणम् परस्यब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेश गतस्येवाविद्या निवृत्ति शास्त्रात्। यथा हि विद्योत्पत्तिवर्णाश्रमधर्म शौचाचारदेशकालाद्यपेक्षा—"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि शास्त्रादवगम्यते, तथा निःशेषाविद्यनिवर्त्तनरूपविद्या निष्पत्तिरपि विशिष्ट देशगतिसापेक्षे ति गतिशास्त्रादवगम्यते। विदुष उत्क्रांति प्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिहृतम्।

परब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादिगण ले जाते हैं ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है "तत्पुरुषोऽमानवः" इत्यादि में ब्रह्म शब्द का पर ब्रह्म में ही मुख्यार्थ है। प्रमाणान्तरों से कार्यब्रह्म का जो निर्णय होता है वह लाक्षणिक अर्थ है। जो यह कहा कि—सर्वगत परब्रह्म को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह असंगत बात है, शास्त्र तो विशिष्ट देश की प्राप्ति होने पर ही उपासक की अविद्या निवृत्ति बतलाते हैं। जैसे कि—विद्योत्पत्ति में, वर्णाश्रम धर्म शौच आचार देश काल आदि अपेक्षित है "तमेतं वेदानुवचनेन" से स्पष्ट है, वैसे ही-सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति के लिए विशिष्ट देश की गति अपेक्षित है जो कि गति वर्णन करने वाले शास्त्र से ज्ञात होता है। उपासक की उत्क्रांति के प्रतिषेध आदि का तो पहिले ही परिहार हो चुका है।

यत्तु "ब्रह्मलोकान्" इति लोकशब्द बहुवचनाभ्यां विशेषणात् कार्यभूतहिरण्यगर्भप्रतीतिरिति, तदयुक्तम् निषादस्थपतिन्यायेन

ankurnagpal108@gmail.com

ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वे निश्चिते सति बहुवचनस्य "अदितिः पाशान्" इतिवदुपपत्तेः, परस्यब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसंकल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय न संति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात् ।

जो यह कहा कि–लोक शब्द और बहुवचन के प्रयोग से कार्यभूत हिरण्यगर्भ की ही प्रतीति होती है, यह कथन को असंगत है, निषादस्पति न्याय की तरह कर्मधारय करना ही सुसं- गत है, एकार्थता के निश्चित हो जाने पर "अदितिः पाशान्" की तरह बहुवचन की उपपत्ति हो जायेगी । श्रुतिस्मृति इतिहास पुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि–यह विशिष्ट लोक सर्वगत सत्यसंकल्प, परिपूर्ण परब्रह्म की स्वेच्छित परिकल्पना ही है, इस ब्रह्मलोक से भिन्न कोई भी असाधारण अप्राकृत लोक आत्यंतिक मुक्ति नहीं दे सकते ।

दर्शनाच्च ।४।३।१२।।

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्रह्म प्राप्तिम्–"एष संप्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति ।

मुर्धन्य नाडी से निकलकर देवयान मार्ग से जाने वाले उपासक की ब्रह्मप्राप्ति का श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है "यह जीव इस शरीर से उठकर परब्रह्म की सी ज्योति प्राप्ति कर अपने स्वरूप में आ जाता है ।

यदुक्तं–"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्ये प्रत्यभिसंविद् श्यते इति–तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि–"प्रजापति के सभामंडप को प्राप्त होते हैं" इत्यादि वर्णन से यह निश्चित होता है कि–अर्चिरादि कार्यब्रह्म की ओर ही ले जाते हैं । इसका उत्तर देते हैं—

ankurnagpal108@gmail.com

न च कार्येप्रत्यभिसंधिः ।४।३।१३।।

न चायं प्रत्यभिसंधिः कार्ये हिरण्यगर्भे, अपितु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वाक्यशेषे–"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इति तस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमोक्षपूर्वक सर्वात्मभावाभिसंधानात् "अश्व शरीरमकृतं इवरोमाणि विधूयपापं चंद्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इत्यभिसंभाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्, सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणात् । अतः परमेव ब्रह्मोपासीनमर्चिरादिरातिवाहिको गणोनयतीति जैमिनेर्मतम् ।

उक्त अभिसंधि कार्य हिरण्यगर्भ संबंधी नहीं है अपितु परब्रह्म संबंधी ही है, उक्त वाक्य के अंत में जो यह कहा गया कि–"मैं ब्राह्मणों का यश होता हूँ" इत्यादि, का तात्पर्य परमात्मा से अभिसंधान करने वाले की सारी अविद्या नष्ट हो जाती है और वह सर्वात्मभाव की भूमि पर पहुँच जाता है । "घोड़े की तरह पाप रूपीरोयों को झाड़कर राहु के मुख से मुक्त चन्द्र की तरह शरीर के पापों को धोकर कृतार्थ उपासक को ब्रह्मलोक ले जाता हूँ" इत्यादि में ब्रह्मलोक में जाने वाले के निष्पापता के वर्णन से तथा अविद्या के बंधनों की मुक्ति के वर्णन से यह निश्चित होता है कि परब्रह्म के उपासक को ही, अर्चिरादि आतिवाहिक गण ले जाते हैं, ऐसा जैमिनि का मत है ।

इदानीं बादरायणस्तु भगवान स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मतानुसार सिद्धान्त कहते हैं—

अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ।४।३।१४।।

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यर्चिरादि रातिवाहिकोगण इति भगवान बादरायणो मन्यते, एतदुक्तं भवति- कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षः संभवति, परमेवोपासीनानित्य-

ankurnagpal108@gmail.com

यमपिनियमो नास्ति, न च प्रतीकालंबनानपि नयति, अपितु ये परंब्रह्मोपासते। ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते, तानुभयविधान्नयति। ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तूपासते न तान्नयति। अतः परंब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति–इति।

जो प्रतीकालम्बन नहीं करते, अर्चिरादि आतिवाहिक गण उन्हें ही ले जाते हैं, ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। कहने का तात्पर्य यह है कि–कार्य ब्रह्म के उपासकों को ले जाते हैं यह तो कदापि संभव नहीं है, परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है और न प्रतीकालम्बन वालों को ही ले जाते हैं, अपितु जो पर ब्रह्म के उपासक हैं या प्रकृति वियुक्त अपने आत्मा की ब्रह्मात्मभाव से उपासना करते हैं, इन दोनों को ले जाते हैं। जो लोग, देवदत्त में सिंह आदि दृष्टि की तरह ब्रह्म दृष्टि रखकर, व्यक्ति पूजा करते हैं, उनको नहीं ले जाते [अर्थात् जैसे कि–देवदत्त सिंह है इत्यादि भाव की तरह अमुक व्यक्ति भगवान है ऐसे भाव से जो लोग व्यक्ति पूजा करते हैं] इसका निष्कर्ष यह है कि–परब्रह्म के उपासक को तथा प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्मभाव के उपासक को ही ले जाते हैं।

कुतः ? उभयथा च दोषात्। कार्यामुपासीनान्नयतीति पक्षे "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य" इत्यादिका श्रुतयः प्रकुप्येयुः परमेवोपासीनानिति नियमे–"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति पंचाग्निविदोऽर्चिरादिगणोनयतीति श्रुतिः प्रकुप्येत्। अतः, उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषः स्यात्। तस्मादुभयविधान्नयतीति। तदेतदाह क्रतुश्च-इति। तत्क्रतुः तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः "यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति "तं यथायथोपासते" इति न्यायात्। पंचाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गति श्रवणात्, अर्चिरादिना

ankurnagpal108@gmail.com

गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्ति श्रवणात् । अतएव तत्क्रतुन्यायात् प्रकृतिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धम् । नामादि प्राणपर्यन्त प्रतीकालम्बनानां तूभयविधश्रुतिसिद्धोपासनाभावादचिन्मिश्रोपासने तत्क्रतुन्यायाच्चार्चिरादिना गतिः ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ।

उक्त दोनों मतों में ही दोष है । कार्यब्रह्म के उपासकों को ले जाने वाले पक्ष को मानने से "इस शरीर से उठकर परंज्योति से संपन्न होकर" इत्यादि श्रुतियों से विरुद्धता होती है । तथा परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं इसको मानने पर–"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि, पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं को अर्चिरादि गणों द्वारा पहुँचाने वाली श्रुति से विरुद्धता होती है । इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष है । इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार के उपासकों को ले जाते हैं । उसकी जिस प्रकार उपासना की जाती है, उसकी वैसी ही गति होती है जैसा कि–"इस लोक में जैसी उपासना करते हैं, मरने पर वैसी ही गति पाते हैं" इत्यादि । पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं की भी अर्चिरादि गति का उल्लेख है तथा अर्चिरादिकों द्वारा पहुँचाये जाने पर ब्रह्म प्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती इसका भी उल्लेख मिलता है । इसलिए उपासनानुसार गति होती है इस नियम से, प्रकृतिविनुर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव वाले उपासक की मुक्ति भी सिद्ध है । नाम से लेकर प्राण तक प्रतीक का आश्रय लेकर उपासना करने वालों की अर्चिरादि गति नहीं होती, क्योंकि–जो दो प्रकार की अर्चिरादि गति बतलाई गई है उससे कहीं भी प्रतीकोपासकों की गति का उल्लेख नहीं है ।

तमिमं विशेषं श्रुति रेव दर्शयतीत्याह ।

उसके विषय में विशेष श्रुति का प्रदर्शन करते हैं–

विशेषं च दर्शयति ।४।३।१५।।—

"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" इत्यादिका श्रुतिः नामादिप्राणपर्यन्त प्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमित फलविशेषं च दर्शयति, तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वाचिद्वस्तु ब्रह्म

ankurnagpal108@gmail.com

दृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानातिवाहको गणो नयतीति सिद्धम् ।

"जो नामोपासना करते हैं, वे मरने के बाद यथेच्छ विचरण करते इत्यादि श्रुति नाम से लेकर प्राण तक प्रतीकोपासना करने वालों की गति होने पर परिमित फलविशेष का उल्लेख करती है। इससे यह निश्चित होता है कि-जो लोग अचिद् वस्तु या अचिद्मिश्रित वस्तु में ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते हैं उनको अर्चिरादिगण नहीं ले जाते, अपितु ब्रह्मोपासकों और प्रकृतिवियुक्त में ब्रह्मात्मकभाव के उपासकों को ही ले जाते हैं।

तृतीय पाद समाप्त

ankurnagpal108@gmail.com

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

१ संपद्याविर्भावाधिकरण :—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१॥

परंब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मक-मुपासीनानामर्चिरादिना मार्गेण पुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता, इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते ।

परब्रह्म के उपासकों और प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्म भाव के उपासकों को अर्चिरादि मार्ग से जाने पर पुनः लौटकर नहीं जाना पड़ता यह बतलाया गया । अब मुक्त जीवों के ऐश्वर्य के प्रकार पर विचार प्रारंभ करते हैं ।

इदमाम्नायते--"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । किमस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपन्नस्य देवादि रूपवत्साध्येन रूपेण संबंधोऽनेन वाक्येन प्रतिपद्यते, उत स्वाभाविकस्य स्वरूपस्याविर्भावः ? इति संशये, साध्येन रूपेण संबंध इति युक्तम् । अन्यथा हि अपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशास्त्रस्य स्यात् । स्वरूपस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वदर्शनात् । न हि सुषुप्तौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरेतषु केवल स्यात्मस्वरूपस्य पुरुषार्थसंबंधो दृश्यते, न च दुःखनिवृत्तिमात्रं परंज्योतिरूपसंपन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः, इत्युच्येत् । "स एको ब्रह्मण आनंदः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य"

ankurnagpal108@gmail.com

रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदीभवति" इत्यादिभ्यो मुक्तस्यसुखानंत्या श्रवणात् ।

ऐसी श्रुति है-"यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से आविर्भूत होता है।" संशय यह होता है कि-क्या इस शरीर से उठकर परं ज्योति को प्राप्त जीव को देवादि की तरह साध्य रूप से अपने रूप की प्राप्ति होती है अथवा स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है ? विचारने पर तो साध्यरूप संबंध ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है ? यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शास्त्र, अपुरुषार्थ का बोधक सिद्ध हो जायेगा । अपने स्वरूप को तो अपुरुषार्थ ही बतलाया गया है । सुषुप्तावस्था में जब देह इन्द्रिय आदि की चेष्टायें लुप्त हो जाती हैं केवल आत्मस्वरूप की ही स्थिति रहती है, उसे तो कहीं भी पुरुषार्थ नहीं कहा गया है और न दुःख निवृत्ति मात्र को परंज्योति प्राप्त रूप पुरुषार्थ माना गया है, जिससे कि-स्वरूपाविर्भाव को ही मोक्ष माना जा सके । "निष्काम श्रोत्रिय का वह एक ब्रह्मानंद है" इस रस को प्राप्त कर वह आनंद प्राप्त करता है" इत्यादि से मुक्त जीव के अनंत सुख प्राप्ति की बात ज्ञात होती है उससे भी स्वरूपाविर्भाव की बात समझ में नहीं आती ।

न चापरिच्छिन्नानंदरूपचैतन्यमेवास्य स्वरूपम्, तच्चसंसार-दशायामविद्या तिरोहितं परंज्योतिरूपसंपन्नस्याविर्भवतीति शक्यम् वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य तिरोधानासंभवात । प्रकाश पर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवेति हि पूर्वमेवोक्तम् ।

यह भी नहीं कह सकते कि-अखंड आनंद स्वरूप चैतन्य ही, स्वरूप है जो कि संसार दशा में अविद्या से तिरोहित रहता है, परं-ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत हो जाता है; ज्ञान स्वरूप का तिरोधान नहीं हो सकता । ज्ञान, प्रकाश का ही दूसरा नाम है, प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य है प्रकाश या ज्ञान का नाश, जो वस्तु अविद्या से नष्ट हो चुकी उसके पुनराविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, यह हम पहिले भी कह चुके हैं ।

ankurnagpal108@gmail.com

न च प्रकाशमात्रस्यानंदता संभवति, सुखस्वरूपता हि आनंदस्वरूपता, सुखस्वरूपत्वं ह्यात्मनोऽनुकूलत्वं, प्रकाशमात्रात्मवादिनः कस्यप्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवादिनः कथं चिदप्यानंदस्वरूपता दुरुपपादा। स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्ये स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसंपन्नस्य "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकं स्यात्। अतो अपूर्वेण साध्येन रूपेण संपद्यते। एवं च "अभिनिष्पद्यते" इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति। "स्वेन रूपेण" इत्यप्यानन्दैकांतेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यत इति संगच्छत इति।

प्रकाश मात्र वस्तु में आनंदता संभव भी नहीं है सुखस्वरूपता ही तो आनंद स्वरूपता है, अपनी अनुकूल अनुभूति को ही सुखरूपता कहा गया है, प्रकाशमात्र को आत्मा मानने वालों के प्रकाश की कैसी अनुकूल अनुभूति होती है ? क्या वे बतला सकते हैं ? वे लोग कभी भी, आनंद-स्वरूपता का विवेचन नहीं कर सकते हैं। स्वरूप तो नित्यनिष्पन्न वस्तु है, उसकी निष्पन्नता को बतलाने वाला वाक्य "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" तो अनर्थक ही हो जावेगा, यदि केवल स्वरूपापत्ति को ही मुक्ति मानेंगे। इसलिए अपूर्व साध्य स्वरूप की निष्पन्नता होती है यही मानना चाहिए ऐसा मानने से ही "अभिनिष्पद्यते" वचन की मुख्यार्थता होती है। "स्वेन रूपेण" से भी अपने स्वरूप से भिन्न अखंड आनंदमयता का भाव प्रकट होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—"संपद्याविर्भावः" इति। अयं प्रत्यगात्माऽर्चिरादिना परंज्योतिरुपसंपद्य यंदशाविशेषमापद्यते स स्वरूपाविर्भावरूपः, नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः। कुतः ? स्वेन शब्दात् "स्वेनरूपेण" इति विशेषणोपादानादित्यर्थः। आगंतुक विशेष परिग्रहे हि "स्वेन रूपेण" इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः।

ankurnagpal108@gmail.com

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-यह जीवात्मा अर्चिरादिकों द्वारा परमात्म ज्योति को प्राप्त कर जिस दशा विशेष को प्राप्त करता है वह स्वरूपाविर्भाव रूप ही है, अपूर्व आकारोत्पत्तिरूप नहीं है। श्रुति में स्पष्ट रूप से स्व शब्द का प्रयोग किया गया है "स्वेन रूपेण" इत्यादि। विशेषोउल्लेख से हमारा मत ही सिद्ध होता है। यदि, विशेष अपूर्व रूप प्राप्ति की बात मानेंगे तो, "स्वेन रूपेण" में कहा गया विशेषण अनर्थक हो जायगा यदि उसे विशेषण न भी मानें तो भी, स्वकीय रूपता तो उसकी सिद्ध ही है।

यत्तूक्तं स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात् "संपद्याभिनिष्पद्यते इति वचनमनर्थकम्–तत्रोत्तरम्–

जो यह कहा कि स्वरूप तो नित्य प्राप्त वस्तु है इसलिए "संपद्याभिनिष्पद्यते" वचन अनर्थक हो जायगा–उसका उत्तर देते हैं–

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।।

कर्मसंबंधतत्कृतदेहादिविनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युच्यते। अतो नित्यप्राप्तस्यापिस्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्तिरत्राभिनिष्पत्तिरुच्यते। कुतः ? प्रतिज्ञानात्–सा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता। कुतः इदमवगम्यते ? "य आत्मा" इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरिताद्यवस्थात्रितयविनिर्मुक्तं, प्रियाप्रियहेतुभूत कर्मारब्ध शरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुं–"एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति पुनः पुनरुक्त्वा "एवमेवैषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यभिधानात् अतः कर्मणा संबद्धस्य परंज्योतिरुपसंपद्य बंन्धनिवृत्तिरूपामुक्तिः स्वेनरूपेणाभि निष्पत्तिरुच्यते। स्वरूपाविर्भावेऽप्यभिनिष्पत्तिशब्दो दृश्यते–"युक्त्यायमर्थो निष्पद्यते" इत्यादिषु।

ankurnagpal108@gmail.com

कर्म संबंधी देह आदि से विमुक्त स्वाभाविक रूप से अवस्थित जीव को ही उक्त प्रसंग में "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" पद से कहा गया है। स्वरूप के नित्य होते हुए भी, कर्म रूपा अविद्या से वह तिरोहित रहता है, उस तिरोधान की निवृत्ति होने को ही यहाँ निष्पत्ति कहा गया है। ऐसा प्रतिपादन की शैली से ही ज्ञात हो जाता है। "य आत्मा" से, जागरित आदि तीनों अवस्थाओं से रहित प्रकृत जीवात्मा का निर्देश करके पाप पुण्य के हेतु भूत कर्मारब्ध शरीर से रहित स्वरूप का प्रतिपाद न करने के लिए "इसकी मैं तुझे पुनः व्याख्या करता हूं" इत्यादि पुनःपुनः व्याख्या करते हुए "इस प्रकार यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर स्वरूप संपन्न होता है "इत्यादि विवेचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि-कर्म से संबद्ध इस जीवात्मा को जब परंज्योति की प्राप्ति होती है तब वह, बंधनिवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्त कर अपने स्वाभाविक निष्पन्न रूप को प्राप्त करता है स्वरूपाविर्भाव के अर्थ में अभिनिष्पन्न शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— "युक्ति से यह अर्थ निष्पन्न हुआ" इत्यादि।

यच्चोक्तम्-आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तावपुरुषार्थत्वदर्शनात् स्वरूपाविर्भावे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थावबोधित्वंस्यादिति कृत्वादेवाद्यवस्थावत् सुखसंबंध्यवस्थांतरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति तत्रोत्तरम्-

जो यह कहा कि- सुषुप्तावस्था में भी तो देह इन्द्रियाँ आदि के निश्चेष्ट होने पर स्वरूप स्थिति रहती है उसे तो कोई मुक्ति नहीं कहता तथा स्वरूपाविर्भाव में-मोक्ष शास्त्र की अपुरुषार्थता होती है, इसलिए देवादि अवस्था की तरह सुख संबंधी दूसरी अवस्था की प्राप्ति को ही निष्पत्ति मानना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

आत्माप्रकरणात् ।४।४।३।।

स्वरूपेणैवायमात्मा अपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वपर्यन्त गुणकः प्रकरणादवगम्यते—"य आत्माऽपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति हि प्रजापति वाक्यप्रक्रमः, इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति—

ankurnagpal108@gmail.com

"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो अपहत पाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा संसारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितः स्वरूपः परंज्योतिरुपसंपद्याविर्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनो अपहतपाप्मत्वादयः स्वाभाविक गुणाः परंज्योतिरुप-संपन्नस्याविर्भवंति, नोत्पद्यन्ते । यथोक्तं भगवताशौनकेनापि-"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः, दोषप्रहाणान्न ज्ञान-मात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानकरणात् क्रियते न जलांबरम्, सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः । तथा हेमगुणध्वंसात् अवबोधादयो-गुणाः प्रकाशंते न जन्यन्ते नित्या एव आत्मनो हि ते । "अतो ज्ञानानंदादिगुणानां कर्मणा आत्मनि संकुचितानां परंज्योतिरुप-संपद्य कर्मरूपबन्ध क्षये विकाशरूपाविर्भावो नानुपपन्न इति सुष्ठूक्तं-"संपद्याविर्भाव." इति।

मुक्तावस्था में यह आत्मा स्वरूप प्राप्ति ही करता है, निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पत्व तक इसके स्वरूप गत स्वाभाविक गुणों का उल्लेख प्रकरण में मिलता है—"जो निष्पाप,, अजर, अमर विशोक भूख प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है" यह प्रजापति वाक्य का प्रसंग है, यह प्रकरण जीवात्मा सबंधी है, इसका प्रतिपादन "उत्तराच्चेदावि-र्भूतस्वरूपस्तु" में किया गया है । निष्पापता आदि गुणों वाला यह आत्मा, संसार दशा में कर्म नामक अविद्या से तिरोहित हो जाता है परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत स्वरूप होता है । जीवात्मा के, अपहत पाप्मता आदि स्वाभाविक गुण परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, उत्पन्न नहीं होते । जैसा कि भगवान शौनक ने भी कहा है—"जैसे कि ज्योत्स्ना, मणि का मल प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश से मणि को प्रकाशित करती है, वैसे ही ज्ञान, आत्मा का प्रक्षालन नहीं करता अपितु उसे प्रकाशित मात्र करता है । जैसे कि--जल स्नान से व्यक्ति, शरीर से स्वच्छ हो जाता है, उसकी आत्म शुद्धि नहीं होती, वैसे ही, हेय गुणों के नष्ट होने से ज्ञान आदि गुणों का प्रकाश हो जाता है, उत्पन्न नहीं होते, वे तो आत्मा के स्वाभाविक नित्य गुण हैं ।" अतः

यही मानना होगा कि जीवात्मा के ज्ञान आनंद आदि गुणों का कर्म को आसक्ति से संकुचन हो जाता है, परमात्मज्योति को प्राप्त कर, कर्मरूप बंधन का क्षय हो जाने पर, विकास रूप आविर्भाव नहीं होता, अपितु वे गुण प्रकाशित हो जाते हैं। "सपंद्याविर्भाव:" यह कथन बिलकुल ठीक है।

२ अविभागेनदृष्टत्वाधिकरण:—

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४।।

किमयं परंज्योतिरुपसंपन्नः सर्वबंधविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा, स्वात्मानं परमात्मानं पृथग्भूतमनुभवति, उत्तत्प्रकारतया तदविभक्तम् ? इति विशये—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति "इदं ज्ञानमपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः, सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्यपरेण साहित्य-साम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतमनुभवति ।

क्या यह-परमात्म ज्योति संपन्न बंधन विमुक्त जीवात्मा, अपने को परमात्मा से पृथक् अनुभव करता है, अथवा अपने को उसी का प्रकार मानकर अविभक्त समझता है? इस संशय पर, इस संबंध की श्रुतियाँ सामने आती हैं—"वह ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त करता है" अपने कर्त्ता स्वर्णाभ परम पुरुष परमात्मा को देखकर उपासक, पुण्य पापों को त्याग कर परं निरंजन की समता प्राप्त करता है "मेरे इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर न सृष्टि में जन्मते हैं न प्रलय में नष्ट होते हैं "इत्यादि श्रुति स्मृतियों से, मुक्त जीवात्मा की परमात्मा के साथ, समता और साधर्म्यता ज्ञात होती है जिससे पता लगता है कि वह अपने से पृथक अनुभव करता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अविभागेन—इति । परस्माद् ब्रह्मणः स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्तः । कुतः ? दृष्टत्वात्

ankurnagpal108@gmail.com

परब्रह्मोपसंपत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येनस्वात्मनो दृष्टत्वात्। स्वात्मनः स्वरूपं हि–"तत्त्वमसि" अयमात्माब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण्य निर्देशैः "य आत्मनि, तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम् "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यत्र अतो अविभागेन "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवानु भवति। साम्यसाधर्म्य व्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तत्सममिति देवादि प्राकृतरूप प्रहाणेन ब्रह्मसमान शुद्धिं प्रतिपादयति। सहश्रुति स्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद् विरोधः। ब्रह्म प्रकारतया तदविभागोक्ते हि "संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" इत्यादि न विरुध्यते" अधिकन्तु भेदनिर्देशात् "अधिकोपदेशात्" इत्यादि च।

उक्त मत पर "अविभागेन" इत्यादि सूत्र सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि–मुक्तात्मा, अपने को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है। ब्रह्मोपसंपत्ति से अविद्या के तिरोहित होने पर उसे अपने यथार्थ रूप का परिज्ञान होता है तब वह अपने को, उनके समान पाकर अभिन्न ही मानता है। उसकी अभिन्नता "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सामानाधिकरण निर्देशों से दिखलाई गई है। "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता-जनानाम्" इत्यादि से ब्रह्मात्मक जीवात्मा को, उसका शरीर होने से, उस परमात्मा का प्रकार रूप बतलाया गया है—इसको "अवस्थितेरिति-का शकृत्सनः" सूत्र में निश्चित कर चुके। अतः वह जीवात्मा, अभिन्न रूप से "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अनुभव करता है। जीवात्मा के लिए जो समता और साधर्म्य का निर्देश किया गया है, वह, ब्रह्म के प्रकार भूत जीवात्मा के स्वरूप का, देवादि रूप को छोड़कर, उसके समान शुद्ध होना सिद्ध करता है। जीव ब्रह्म के साहचर्य को बतलाने वाली श्रुति तो ऐसे

ankurnagpal108@gmail.com

शुद्ध जीवात्मा का, प्रकारी ब्रह्म के साथ उसके गुणानुभवों का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह अभिन्नता के विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म का प्रकार जीव अभिन्नता प्रतिपादक श्रुतियों में प्रतिपाद्य है, ऐसा–"संकल्पादेवतच्छ्रुतेः" अधिकंतुभेद निर्देशात् "अधिकोपदेशात्" इत्यादि सूत्रों में दिखला चुके हैं।

३. ब्राह्माधिकरणः—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५॥

प्रत्यगात्मनः परंज्योतिरुपसंपद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भाव एवेत्युक्तम्। तत्र येन स्वरूपेणायमाविर्भवति तत्स्वरूपं श्रुति वैविध्याद् विचर्यते। किमपहतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपामिति तेन रूपेणायमाविर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेनरूपेण, अथोभयोरविरोध इत्युयभरूपेणेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः। अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्म संबंधितया श्रुताः। ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते? उपन्यासादिभ्यः उपन्यस्यते हि ब्रह्म गुणाः, अपहतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनो हि प्रजापतिवाक्ये "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना" सत्यसंकल्पः" इत्यंतेन। आदिशब्देन सत्यसंकल्पत्वादिगुणायत्ता जक्षणादयः "जक्षत्क्रीडन् रममाणः" इत्यादि वाक्यावगता व्यवहारा गृह्यन्ते। अतएभ्य उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्र स्वरूपत्वं न संभवतीति जैमिनेर्मतम्।

जीवात्मा का, परंज्योति से संपन्न होकर, तिरोधान के निवृत्त हो जाने पर, स्वरूपाविर्भाव होता है, यह निश्चित हुआ। वह जिस स्वरूप से आविर्भूत होता है, उसका स्वरूप श्रुतियों में कई प्रकार का वर्णित है, अब उस पर विचार करते हैं कि–क्या अपहतपाप्मता आदि ही इसका आविर्भूत स्वरूप है, अथवा विज्ञान मात्र ही है, अथवा दोनों रूप

ankurnagpal108@gmail.com

एक ही हैं इसलिए दोनों ही उसके आविर्भूत स्वरूप हैं ? इस पर जैमिनि आचार्य का मत है कि-ब्रह्म रूप, उसका स्वरूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि ब्राह्म रूप है। अपहत पाप्मता इत्यादि को दहर वाक्य में ब्रह्म संबंधी बतलाया गया है और इन्हीं का प्रतापति वाक्य में, जीवात्मा के लिए उपन्यास किया गया है, सत्य संकल्पता आदि गुणों से संबद्ध जक्षण आदि भी हैं ऐसा "जक्षन्क्रीडन् रममाणः" इत्यादि वाक्य से अवगत व्यवहार से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यास से निश्चित होता है कि जीवात्मा का स्वरूप विज्ञान मात्र ही नहीं हो सकता, यह जैमिनि का मत है।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।३।।

चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेनरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। कुतः ? तदात्मकत्वात्—तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्यगात्मनः। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "विज्ञानघन एव" इत्यवधारणात् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते। अतोऽस्यगुणान्तराभावात् 'अपहतपाप्मा" इत्यादयः शब्दाः विकार सुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चितितन्मात्ररूपेणाविर्भावइत्यौडुलोमेर्मतम्।

जीव का स्वरूप चैतन्य मात्र ही है वह उसी रूप से आविर्भूत होता है, ऐसी आचार्य औडुलोमि की मान्यता है। इस जीवात्मा का वैसा स्वरूप ही बतलाया गया है— "जैसे कि नमक का डला भीतर बाहर से संपूर्ण रसघन ही है, वैसे ही यह आत्मा अंतर बाह्य भेद से रहित संपूर्ण प्रज्ञान घन है "विज्ञानघन ही है" इत्यादि से, यह जीवात्मा विज्ञान घन स्वरूप वाला ही ज्ञात होता है। इसमें कोई भी दूसरे गुण नहीं हैं। "अपहत पाप्मा" इत्यादि शब्द तो सुख दुःख आदि अविद्यात्मक विकारों का राहित्य बतलाते हैं। जीवात्मा चैतन्य मात्र स्वरूप से आविर्भूत होता है ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है।

ankurnagpal108@gmail.com

संप्रति भगवान बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।४।४।७॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्व प्रतिपादनेन सत्यपि सत्यकामत्वादीनां गुणानामविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात् पूर्वभावात्—औपनिषादात्—"य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्याद्युपन्यासात् प्रमाणात् पूर्वेषां, अपहतकामत्व सत्यकामत्वादीनामपि भावात्—विद्यमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानां इतरेतरबाधो न युज्यत इत्यर्थः ।

आचार्य बादरायण के मत से, मुक्तात्मा के विज्ञान मात्र स्वरूप मानने से, सत्यकामत्व आदि गुणों का कोई विरोध नहीं होता । अपहत पाप्मता आदि गुण उपनिषद् में प्रथम से ही उपन्यस्त हैं, विज्ञान मात्रत्व का भी मुक्त रूप से ही उल्लेख है, दोनों ही तुल्य हैं, बराबर के दो प्रमाणों में बाध नहीं होता ।

न च वस्तुविरोधादपहतपापमत्वादीमविद्यापरिकल्पितत्वं व्याख्यम्, विशेषाभावात्-"विपरीतं कस्मान्न भवति" इति व्याख्यात् । तुल्यबलत्वे हि अशक्यस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव व्याख्यम् । एवमप्यविरोध इत्यभ्युपगम्य वदन ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं नान्यत्किञ्चिदस्तीत्ययमर्थः "विज्ञानघन एव" इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत इति मन्यते । कस्तर्हि—"विज्ञानघन एव" इत्यवधारणस्यार्थः ? कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृतस्वप्रकाशः नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति ।

ankurnagpal108@gmail.com

विज्ञानमात्र और अपहतपाप्मता आदि में नितान्त वस्तु विरुद्धता है अतः अपहत पाप्मता आदि को अविद्या परिकल्पित मान लिया जाय, यह न्याय्य न होगा, क्योंकि दोनों ही स्वरूप समान रूप से बतलाये गए हैं किसी का विशेषोल्लेख नहीं है, अतः इन दोनों में से किसी एक को, किसी भी आधार के बिना अविद्या परिकल्पित नहीं कहा जा सकता। जब समान बल वाले प्रमाण हों उनमें किसी की श्रेष्ठता का अवधारण न हो सके तो, दोनों की विभिन्नरूपता न्याय्य होती है। इसी भाव के आधार पर अविरोध मानकर ज्ञानमात्र ही इसका स्वरूप है, दूसरा कुछ नहीं इस अर्थ का प्रतिपादक "प्रज्ञानघन एव" वाक्य कहा गया, ऐसा मानना चाहिए। "विज्ञानघन एव" इस अवधारणार्थक वाक्य का तात्पर्य है कि यह अखंड आत्मा चैतन्य और स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश किसी अन्य से आयत्त नहीं है: स्वल्प होते हुए भी इसका स्वतंत्र अस्तित्व है यही बात "स यथा सैन्धव.........प्रज्ञानघन एव" इत्यादि में कही गई है।

न चैवं प्रत्यगात्मनो धर्मिस्वरूपस्यकृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽप्यपहतपाप्मत्वसत्यसंकल्त्वादिधर्मसंबंधो वाक्यान्तरावगतो विरुध्यते, यथा सैन्धवघनस्यकृत्स्नस्य रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुराद्यवगताः रूपकाठिन्यादयो न विरुध्यंते। इदमत्रवाक्य तात्पर्यम्—यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्वगादिप्रदेशभेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवघनस्य सर्वत्रैकरसत्वम्, तथाऽत्मनोऽपि सर्वत्र विज्ञान स्वरूपत्वम्, स्वप्रकाशस्वरूपत्वमित्यर्थः।

धर्मी जीवात्मा के, अखंड विज्ञानघनस्वरूप से अन्यवाक्य में कहे गए अपहत पाप्मता आदि धर्मों से विरुद्धता भी नहीं माननी चाहिए, जैसे कि अखंड रस स्वरूप सेंधा नमक की रस रूपता का जिह्वेन्द्रिय से ही परिज्ञान होता है परन्तु नेत्र आदि इन्द्रियों से उसका आकार प्रकार भी जाना जाता है, उसमें कोई विरुद्धता नहीं होती। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जैसे आम के फल में छिलका आदि के भेद से भले ही भेद हो जाय पर, सैन्धव में तो सर्वत्र एकरसता है, वैसे ही जीवात्मा सर्वत्र विज्ञान स्वरूप अर्थात् स्व-प्रकाश स्वरूप ही है।

ankurnagpal108@gmail.com

४. संकल्पाधिकरणः—

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।४।४ ८।।

मुक्तः परं ब्रह्मोपसंपद्य ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्व पर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम्, तमधिकृत्य सत्यसंकल्पत्व प्रयुक्ता व्यवहाराः श्रूयन्ते —"स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इति । किमस्य ज्ञात्यादि प्राप्तिः प्रयत्नान्तर सापेक्षा, उत परमपुरुषस्येव संकल्पमात्रादेव भवति ? इति विशये लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेनव्यवह्रियमाणानां कार्यं निष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा ।

ज्ञान स्वरूप मुक्त जीवात्मा में, परब्रह्म के तेज से संपन्न होकर, निष्पापता सत्य संकलपता आदि गुणों का आविर्भाव होता है यह बतला दिया गया । उसी से संबद्ध "सतत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्" इत्यादि में सत्य संकलपता आदि के व्यवहार का भी वर्णन मिलता है इस पर संशय होता है कि—यह व्यवहार प्रयत्नान्तर सापेक्ष है, अथवा परमात्मा के संकल्प से ही होता है ? इस पर विचारने पर मत होता है, कि जैसे लोक में, राजा आदि के सत्य संकलपता आदि व्यावहारिक कार्य प्रयत्नान्तर सापेक्ष होते हैं, वैसे ही मुक्त जीव के ये व्यवहार भी हैं ।

सिद्धांतः—इति प्राप्त उच्यते—संकल्पादेव—इति । कुतः ? तच्छ्रुतेः "स यदि पितृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठति" इति हि संकल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं श्रूयते । न च प्रयत्नान्तर सापेक्षत्वाभिधायिश्रुत्यन्तरं दृश्यते, येनास्य "संकल्पादेव" इत्यवधारणस्य "विज्ञानघन एव" इतिवद्व्यवस्थापनं क्रियते ।

उक्त मत पर सिद्धान्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं कि संकल्प से ही वे सब व्यवहार होते हैं, उसका श्रुति प्रमाण भी है "वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित हो जाते हैं" इत्यादि में संकल्प मात्र से पितर आदि की उपस्थिति दिखलाई गई है ।

ankurnagpal108@gmail.com

प्रयत्नान्तर सापेक्षता का किसी श्रुति में उदाहरण नहीं मिलता, जिससे कि "संकल्पादेव" इस अवधारण वाक्य की "विज्ञानघन एव" की तरह व्यवस्था करनी पड़े।

अतएव चानन्याधिपतिः ।४।४।९॥

यतो मुक्तः सत्यसंकल्पः अतएवानन्याधिपतिश्च । अन्याधिपतित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वं, विधिनिषेधयोग्यत्वं हि प्रतिहत संकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसंकल्पत्वश्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अतएव "स स्वराड् भवति" इत्युच्यते ।

मुक्तात्मा सत्य संकल्प होने से ही अनन्याधिपति भी है। अन्याधिपतित्व का अर्थ होता है विधि निषेध योग्यता, विधि निषेध की योग्यता में सत्य संकल्पता समाप्त हो जाती है [अर्थात् विधि निषेध के बंधन को मानना ही पराधीनता है, जिस अवस्था में यह बंधन समाप्त हो जाता है वही अनन्याधिपतित्व अर्थात् स्वतंत्रता या मुक्ति की अवस्था होती है] इसलिए सत्य संकल्पता को बतलाने वाली श्रुति से ही, मुक्तात्मा का अनन्याधिपतित्व भी निश्चित होता है। इसीलिए उसके लिए कहा भी गया है कि "वह स्वतंत्र होता है" इत्यादि।

५ अभावाधिकरणः—

अभावं बादरिराह हि एवम् ।४।४।१०॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न संति, उत सन्ति ? अथवा यथा संकल्पं संति न संति च ? इति विशये, शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरि-राचार्यो मन्यते, कुतः ? आह ह्येवं—"न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति शरीरसंबंधे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय "अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह श्रुतिः ।

ankurnagpal108@gmail.com

मुक्त जीव के शरीर इन्द्रियादि होते हैं या नहीं अथवा संकल्प से होते भी हैं नहीं भी होते ? इत्यादि संशय होता है। आचार्य बादरि के अनुसार तो शरीर इन्द्रियादि नहीं होते उस पर वे श्रुति प्रस्तुत करते हैं--"सशरीर व्यक्ति के पाप पुण्यों का नाश नहीं होता, अशरीरी को पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते" इत्यादि में शरीर संबंध में दुःख की अनिवार्यता बतलाकर "इस शरीर से उठकर" इत्यादि में मुक्त जीव का अशरीरत्व दिखलाया गया है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यने कुतः? विकल्पामननात्—विविधः कल्पो विकल्पः, वैविध्यमित्यर्थः–"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा" इत्यादि श्रुतेः। आत्मन एकस्यानेकधाभावासंभवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबंधन इत्यवगम्यते। अशरीरत्व वचनं तु कर्मनिमित्त शरीराभाव परम्, तदेव हि शरीरंप्रियाप्रिय हेतुः।

जैमिनि आचार्य, मुक्त जीव के शरीर इन्द्रिय आदि मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में श्रुति प्रस्तुत करते हैं "वह एक होता है, तीन होता है, पांच, सात होता है" इत्यादि। वे कहते हैं कि इस श्रुति से, जीव के अनेक होने की बात कही गई है जिससे शरीर का अस्तित्व ज्ञात होता है। जो अशरीरत्व की बात है वह तो कर्मनिमित्तक शरीर के लिए है, वही शरीर पाप पुण्य का कारण होता है।

भगवांस्तु बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्त माह—

भगवान बादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं--

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

"संकल्पादेव" इत्येतदतःशब्देन परामृश्यते, अतएव संकल्पात्, उभयविधंसशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान बादरायणो मन्यते, एवं चोभयी श्रुतिरुपपद्यते–द्वादशाहवद्–यथा–"द्वादशाहमृ-

ankurnagpal108@gmail.com

द्धिकामा उपेयुः" द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैति यजति चोदनाभ्यां संकल्पभेदेन सत्वमहीनं च भवति ।

सूत्रस्थ अतः शब्द "संकल्पादेव" अर्थ का द्योतन करता है भगवान बादरायण का मत है कि मुक्तात्मा संकल्प से ही सशरीर और अशरीर होता है, दोनों को प्रमाणित करने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे कि— "द्वादशाह अनुष्ठान समृद्धि कामना से कर्त्तव्य है" सन्तान कामना से द्वादशाह यजन करना चाहिए" इत्यादि में एक ही नियम से, द्विविध प्रकारों का विधान संकल्प भेद से बतलाया गया है, वैसे ही सशरीर अशरीर दोनों संकल्प से ही संभव है।

यदा शरीराद्युपकरणवत्वं, तदातानि शरीराद्युपकरणानि स्वेनैव सृष्टानीति नास्ति नियम, इत्याह—

जब मुक्तात्मा शरीरादि उप करणों से संपन्न होता है, तब उसके वे शरीरादि उपकरण, स्वतः ही सृष्ट होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, यही बतलाते हैं।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३।।

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणै-र्भोगोपपत्तेः सत्यसंकल्पोऽपि स्वयं न सृजति । यथा स्वप्ने— "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यारभ्य "अथ वेशं तान् पुष्करिण्यः सुवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति "य एषु सुप्तेषुजागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन्" इति ईश्वरसृष्टैः रथाद्युपकरणैः जीवो भुंक्ते, तथा मुक्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भुंक्ते ।

स्वयं अपने ही सृष्ट शरीर आदि उपकरणों के अभाव में, पर-मात्मा द्वारा सृष्ट उपकरणों के भोगों की सृष्टि करना सत्य संकल्प होते हुए भी, इस मुक्तात्मा में संभव नहीं है। जैसे कि स्वप्नावस्था में

ankurnagpal108@gmail.com

"रथ रथ के योग्य मार्ग, वागबावड़ी झरने आदि का वही कर्त्ता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि ईश्वर सृष्ट रथ आदि का जीव भोग करता है, वैसे ही मुक्तात्मा भी लीला प्रवृत्त ईश्वर द्वारा सृष्ट पितृलोक आदि लीला रस को भोगता है।

भावे जाग्रत्वत् ।४।४।१४॥

स्वसंकल्पादेव सृष्टतनु प्रभृतिपितृलोकाद्युपकरणभावे जाग्रत पुरुष भोगवन्मुक्तोऽपि लीलारसं भुंक्ते, परंपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादि पितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्म-लीलारसं यथाभुंक्ते तथा मुक्तानामपि स्वलीलायै पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचित्, कदाचिच्च मुक्ताः सत्यसंकल्पत्वात् परं पुरुष लीलान्तर्गतस्वपितृलोकादि स्वयमेवसृजन्तीति सर्वमुपपन्नम्।

मुक्तात्मा, अपने संकल्प से ही सृष्ट शरीर से पितृलोक आदि उप-करणों का जाग्रत पुरुषों की तरह लीला रस का भोग करता है, जैसे कि परंपुरुष लीला के लिए दशरथ वसुदेव आदि पितरों की स्वयं सृष्टि करके मनुष्यों की तरह लीला रस का भोग करते हैं, वैसे ही मुक्तात्मा भी अपनी लीला करने के लिए पितर आदि की सृष्टि करता है और कभी सत्य संकल्प होने के कारण वह मुक्तात्मा परमात्मा की लीला में अपने पितर आदि को स्वयं ही सृजन करते हैं।

नन्वात्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम् कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणो-रात्माभिमानसंभव इत्यत्राह–

आत्मा को अणु परिमाण का बतलाया गया है' संशय होता है कि—वह एक अणु अनेक शरीरों में कैसे व्यापक हो सकता है ? इस पर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वर्त्तमानस्य स्वप्रभया देशांतरावेशः तथात्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन

ankurnagpal108@gmail.com

सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः, तथा चैकस्मिन्नपि देहेहृदयाद्येकप्रदेश वर्त्तिनोऽपि चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्देह आत्माभिमानः तद्वत् ।

इयान्विशेषः, अ क्तस्य कर्मणा संकुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु आत्माभिमानानुगुणाव्याप्तिः "इदम्" ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना । तथाहि दर्शयति—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो जीवः स विज्ञेयः चानन्त्याय कल्पते" इति । अमुक्तस्यकर्मनियामकम्, मुक्तस्य स्वेच्छेति विशेषः ।

जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ दीपक, अपने प्रकाश से अन्य स्थानों को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक देह स्थित आत्मा अपने चैतन्य प्रकाश से सभी शरीरों में आविष्ट नहीं हो सकता । एक ही शरीर मेंहृदय आदि एक स्थान पर स्थित जीवात्मा, अपनी चैतन्य व्याप्ति से सपूर्ण देह में आत्माभिमान कर सकता है, अन्य देहों में वैसा करना संभव नहीं है ।

कर्म से संकुचित ज्ञान वाले बद्ध जीव की अन्य देशों में जाने पर आत्माभिमान के अनुरूप व्याप्ति होती है इसलिये उसे "इदम्" ऐसा कहना कठिन है––जैसा कि श्रुति कहती भी है––"बाल के सौवें हिस्से के भी सौवें हिस्से की कल्पना की जाये तो उसे जीव कहा जा सकता है, वह जीव अनन्त है ।" बद्ध जीव कर्म से आबद्ध है जबकि मुक्त स्वेच्छाचारी होता है ।

ननु परंब्रह्म प्राप्तस्यान्तरवाह्य ज्ञानलोपं दर्शयति श्रुतिः "प्राज्ञेनात्मा संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन् वेदनान्तरम्" इति, तत्कथं मुक्तस्य सार्वज्ञमुच्यते ? तत्रोत्तरम्—

परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त जीवात्मा को तो वाह्यान्तर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता ऐसा श्रुति का मत है—"परमात्मा से संसक्त आत्मा को न कुछ बाह्य ज्ञान रहता है न आन्तरिक" इत्यादि, फिर मुक्त को सर्वज्ञ कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।४।४।१६॥

नेदं वचनंमुक्तविषयम्, अपितु स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षम् ।

ankurnagpal108@gmail.com

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, संपत्तिश्चमरणम्, "वाङ्मनसि संपद्यते" इत्यारभ्य "तेजः परस्यां देवतायाम्" इति वचनात्। तयोश्चावस्थयोः प्राज्ञ प्राप्तिर्निस्संबोधत्वं च विद्येते। अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनं सुषुप्तिमरणयोर्निस्संबोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वं आविष्कृतं हि श्रुत्या "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति सुषुप्तिवेलायां निस्संबोधत्वमुक्त्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य–"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोप" इति सर्वज्ञत्वमुच्यते। तथामरणे च निस्संबोधत्वम्–"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति। अतः "प्राज्ञेनात्मना" इति वचनं स्वाप्ययसंपत्त्य, रन्यतरापेक्षम्।

"प्राज्ञेनात्मना" इत्यादि वचन मुक्तात्मा विषयक नहीं है अपितु सुषुप्ति या मृत्यु से संबद्ध है। "वाङ्मनसि संपद्यते" से लेकर "तेजः परस्यां देवतायाम्" तक मरण का उल्लेख किया गया है, उन दो अवस्थाओं को प्राप्त जीव में ही अज्ञान रहता है। उन्हीं से संबद्ध यह वचन है। सुषुप्ति और मरण की अज्ञानता तथा मुक्त की सर्वज्ञता श्रुति में दिखलाई गई है। जैसे "इस अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि" यह मैं हूं "और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है, यह मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है, इसमें मुझे इष्ट फल नहीं दीखता" इत्यादि में सुषुप्तावस्था की अज्ञानता दिखलाकर उसी वाक्य में मुक्त के लिए—"वह आत्मा इस दिव्य चक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है जो कि इस ब्रह्म लोकमें है" इत्यादि से सर्वज्ञता दिखलाई गई है। इसी प्रकार मरणावस्था की अज्ञानता "एतेभ्योभूतेभ्यः" इत्यादि में दिखलाई गई है। इसलिए "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादिवचन इन्हीं दो में से किसी एक के विषय में है।

ankurnagpal108@gmail.com

१६ जगद्व्यापारवर्जाधिकरणः—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।४।४।१७।।

किमुक्तैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परंपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तदरहितं केवल परमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः किम् युक्तम् ? जगदीश्वरत्वमपीति, कुतः ? "निरंजनः परमंसाम्युपैति" इति परंपुरुषेण परमसाम्यापत्तिः श्रुतेः, सत्यसंकल्पत्वश्रुतेश्च । नहि परमसाम्य सत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारण जगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अतः सत्यसंकल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमिति ।

मुक्त को क्या जगत की सृष्टि आदि का परमात्मा की तरह सर्वेश्वरत्व का असाधारण सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है अथवा केवल परमात्मा की तरह आनंदानुभव मात्र ही प्राप्त होता है ? इस संशय पर मत होता है कि—जगदीश्वरत्व भी प्राप्त हो जाता है "परम निरंजन की समता प्राप्त करता है" इत्यादि से ज्ञात होता है कि उसे परम पुरुष की समता प्राप्त हो जाती है, उसकी सत्य संकलपता बतलाने वाली श्रुति से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। सर्वेश्वर के असाधारण जगन्नियमन के विना, परमसाम्य और सत्यसंकल्पत्व धर्म हो नहीं सकते। परम साम्य और सत्य संकल्पत्व के आधार पर समस्त जगन्नियमन रूप ऐश्वर्य भी मुक्तात्मा में विद्यमान है, ऐसा मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद् व्यापारः निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनम् तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभव रूपं मुक्तैश्वर्यम् कुतः ? प्रकरणात् । निखिल जगन्नियमनं हि परंब्रह्म प्रकृत्याम्नायते—"यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म" इति । यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते, असाधारणस्य हि लक्षणत्वम् ।

तथा-"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्"-ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तदेकं सन्न व्यभजत् तुच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि इन्द्रोवरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान इति" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन् मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत"-"एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्म मेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तरस्थस्यैका कन्यादशेन्द्रियाणि' इत्यादिषु । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" इत्यारभ्य-' "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परम पुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते । असन्निहितत्वाच्च-न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्यसंन्निधानमस्ति, येन जगद्व्यापारः तस्यापि स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि--जागतिक व्यापार से रहित मुक्त का, ऐश्वर्य होता है। समस्त जड चेतन की सृष्टि स्थिति और नियमन आदि को जगद् व्यापार कहते हैं, उससे रहित केवल ब्रह्मानु स्वरूप ही, मुक्तात्मा का ऐश्वर्य होता है। समस्त जगत के नियमन की प्रकृति, केवल परब्रह्म की ही बतलाई गई है—"जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे स्थित और जिसमें विलीन हैं, उसे ही जानो वही ब्रह्म है" इत्यादि। यदि यह जगत् का नियमन कार्य, मुक्तात्माओं से भी साधारण रूप से साध्य हो जाय तो, यह जगदीश्वरत्व रूप से ब्रह्म के लिए नहीं कहा जा सकता, यह तो परमात्मा का असाधारण लक्षण है।

तथा सदेव सोम्येदमग्र ब्रह्म वा इदमेवाग्र" आत्मा वा इदमेक एवाग्र "एकोहवैनारायण आसीत्" इत्यादि एवं "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि में, निखिल जगन्नियमन रूप प्रकृति परमपुरुष

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

की ही बतलाई गई है। ये सारा निखिल जगन्नियमन का प्रसंग मुक्तात्मा के लिए कहा गया है, जिसके आधार पर जागतिक व्यापार उसका भी माना जा सके।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्थोक्तेः ।४।४।१८॥

"स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इति प्रत्यक्षेण श्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते, अतो न जगद्व्यापार वर्जमिति चेत् तन्न, आधिकारिकमंडलस्थोक्तेः; आधिकारिकाः, अधिकारेषु नियुक्ता हिरण्यगर्भादयः, मंडलानि तेषां लोकाः, तत्स्थाः भोगाः मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवतीत्ययमर्थः "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिनोच्यते। अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूति भूताननुभूय यथाकामं तृप्यतीत्यर्थः। तदेवं विकारान्तरवर्तिनः, आधिकारिकमंडलस्थान् सर्वान्भोगान् ब्रह्मविभूति भूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्व्यापारः।

यदि कहो कि--"वह स्वतंत्र हो जाता है उसकी सभी लोकों में स्वच्छंद गति हो जाती है" इत्यादि में, स्पष्ट रूप से मुक्तात्मा का जगद्-व्यापार दिखलाया गया है, इसलिए उसके ऐश्वर्य को जगद् व्यापार रहित नहीं कह सकते। यह कथन भी ठीक नहीं है, यह तो आधिकारिक अर्थात् हिरणगर्भ आदिमंडलों के लोकों के जाने की बात है। जहाँ कर्म-वश्यता नहीं होती "तस्यकामचारो भवति" में यही बतलाया गया है। अर्थात् निष्काम भाव का त्याग कर, मुक्तात्मा, ब्रह्म के विभूति स्वरूप विकृत लोकों का यथेच्छ उपभोग कर तृप्त हो जाता है। उन्हीं विकारा-न्तरवर्ती आधिकारिक मंडलों के समस्त भोगों का जो कि ब्रह्म के विभूति स्वरूप हैं, अनुभव करता है, यही उक्त वाक्य का कथन है, जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है।

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तरवर्त्तिनो भोगान् भुंक्ते, तर्हि बद्धस्येव मुक्तस्यापि अन्तवदेव भोग्यजातं अल्पं च स्यात् तत्राह—

यदि संसारी लोगों की तरह, मुक्त भी, विकारान्तरवर्त्ती भोगों का भोग करता है तो यही मानना चाहिए कि—मुक्तात्मा की सारी भोग्य वस्तुएं, बद्ध की तरह अन्तवान् और अल्प हैं। इसका उत्तर—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ।४।४।१९॥

विकारे—जन्मादिके न वर्तत इति विकारावर्त्ति, निर्धूत-निखिलविकारं, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानंदंपरंब्रह्म, सविभूतिकं, सकलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः। तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्त्तिनां लोकानामपि भुक्तभोग्यत्वम्। तथाहि परस्मिन्ब्रह्मणि निर्विकारेऽनवाधिकातिशयानंदे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—"यदा हि एवैष एतस्मिन्, दृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" "रसो वैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति" इत्यादिका। तद्विभूतिभूतं च जगत्तत्रैव वर्त्तते "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वेतदुनात्येति कश्चन्" इति श्रुतेः। अतः सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन् विकारान्तरवर्त्तिनः, आधिकारिमकमंडलस्थानपि भोगान्भुंक्त इति, "सर्वेषु लोकेषु कामचारः" इत्यादिनोच्यते, न मुक्तस्य जगद्व्यापारः।

जन्मादि विकार उसमें नहीं होते। सारे ही विकारों से रहित समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकतान, अत्यानंदमय परब्रह्म के विभूति सहित सभी कल्याणमय गुणों का, मुक्तात्मा अनुभव करता है उनकी विभूति के अन्तर्गत होने से उन विकारवर्त्ती लोकों के भोगों का भी भोग करता है। निर्विकार अत्यानंदमय परब्रह्म में मुक्तात्मा की अनुभविता के रूप से स्थिति श्रुति में दिखलाई गई है—"जब यह, इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय में प्रतिष्ठित होता है, तब वह अभय हो जाता है" वह रस स्वरूप है उस रस को प्राप्त कर आनंदी होता है इत्यादि। उसका विभूति स्वरूप जगत वहीं रहता है "तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे" इत्यादि में दिखलाया गया है। अतः यही मानना चाहिए कि—सार्वभूतिक ब्रह्मानुभव के लिए विकारान्तरवर्त्ती आधिका-

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

रिक मंडलों के भोगों को भोगता है यही "सर्वेषु लोकेषु कामचारो—" इत्यादि का तात्पर्य है, मुक्तात्मा के जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है।

दर्शयतिश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०॥

अस्य प्रत्यागात्मनोमुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियंतृभूतपरम-पुरुषासाधारणंजगद्व्यापारूपंनियमनं न संभवतीत्युक्तम्, निखिलजगन्नियमनरूपांव्यापारः परमपुरुषासाधारण इति दर्शयतः श्रुतिस्मृती—"भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्चमृत्युर्धावति पंचमः" इति "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादि तथा "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एष लोकानामसंभेदाय" इति च श्रुतिः। स्मृतिरपि "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते" इति "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति च। तथा मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वादिपूर्वकस्याप्यानन्दस्य परमपुरुष एव हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः "एष ह्येवानंदयाति" मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, स गुणान समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च, शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च" इति।

नियम्य इस मुक्त जीवात्मा में, नियंता परमपुरुष की असाधारण जगद्व्यापार रूप नियमन आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। निखिलजगन्नियमन रूप असाधारण विशेषतायें परमपुरुष परमात्मा की ही बतलाई गई है—"इनके भय से ही वायु चलता है, सूर्य उदय होता है, अग्नि, इन्द्र और पांचवां यम दौड़ता है"—हे गार्गि इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चंद्र टिके हुए हैं"—यही सर्वेश्वर हैं "यही भूताधिपति भूतपाल हैं और यही, प्राणियों की मर्यादा को रखने वाले सेतु हैं—" इत्यादि श्रुति तथा "मेरी ही अध्यक्षता में यह प्रकृति चर अचर का

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

प्रसव करती है, मैं इसी के हेतु से जगत का विस्तार करता हूँ-" मैं अकेला विस्तृतरूप से जगत में स्थित हूँ" इत्यादि स्मृति इसकी प्रमाण हैं। इस मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और आनंद के हेतु भी परमात्मा ही हैं, ऐसा श्रुति स्मृति का मत है।" यही आनंदित करता है-"मुझे जो अव्यभिचारि भाव से भजते हैं, वे सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म के समान हो जाते है, अव्यय अमृत मैं ब्रह्म ही शाश्वत धर्म और सुख का एकमात्र आश्रय हूँ" इत्यादि।

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादिः सत्यसंकल्प पर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवाविर्भूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम्, तस्य नित्यस्थितिश्च तदायत्ता, परमपुरुषस्यैतन्नित्यतायाः नित्येष्टत्वान्नित्यतया वर्त्तत इति न कश्चिद् विरोधः। एवमेव परमपुरुष भोगोपकरणस्य लीलोपकरणस्य च नित्यतया शास्त्रावगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथावस्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते। अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुष साम्यं च जगद्व्यापारवर्जम्।

यद्यपि निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पता आदि गुण जीवात्मा के स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होते हैं, पर वे उन गुणों वाले परमात्मा से ही आयत्त होते हैं, उन गुणों की नित्य स्थिति भी परमात्मा के ही अधीन होती है। परमपुरुष में इनकी नित्यता, नित्य इष्ट होने से नित्यरूप से स्थित रहती है। इसीप्रकार परमपुरुष के भोगोपकरण लीलोपकरणों की नित्यता भी शास्त्रों से ज्ञात होती है तथा परमपुरुष के लिए वह नित्य इष्ट होने से सदा उनमें स्थित रहते हैं ऐसा भी शास्त्र से ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि-मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और परमपुरुष की समता, जगद्व्यापार से रहित है।

भोगमात्र साम्यलिंगाच्च।४।४।२१॥

ब्रह्म याथात्म्यानुभवरूप भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च लिंगाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते "सोऽश्नुते सर्वान्

Scanned by CamScanner
ankurnagpal108@gmail.com

कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुष साम्यं सत्यसंकल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमन श्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ।

मुक्तात्मा के ब्रह्म के यथार्थ अनुभवरूप भोगमात्र तथा ब्रह्मसाम्य के प्रतिपादन से, जगद् व्यापार वर्जन ज्ञात होता है–"वह समस्त कामनाओं को ब्रह्म के साथ भोगता है" इत्यादि । मुक्तात्मा की परमपुरुष समता, सत्यसंकल्पता और परमपुरुष के असाधारण जगन्नियमन आदि, शास्त्र के अनुसार ही मानना चाहिये । मुक्तात्मा का ऐश्वर्य जगद् व्यापार से रहित है ।

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतंत्रत्वेन सत्यसंकल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्ति संभवांशकेत्याह—

यदि मुक्त का ऐश्वर्य परमपुरुष के अधीन है तो, सत्य संकल्प होने से मुक्त की पुनरावृत्ति तो संभव है ? उत्तर—

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ।४।४।२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादि कारणं समस्तवस्तुविलक्षणः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः, आश्रितवात्सल्यैकजलधिः, परमकारुणिको निरस्तसमाभ्यधिकसंभावनः परब्रह्माभिधानः परमपुरुषोऽस्तीति, शब्दादवगम्यते । एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीततदुपासनरूपतत्समाराधनप्रीतः उपासीनाननादिकालप्रवृत्तानंतदुस्तरकर्मसंचयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दंप्रापय्य पुनरावर्तयतो त्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च–"स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते" इत्यादिकः तथा च भगवता स्वयमेवोक्तम्–"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्, नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिपरमांगताः । आब्रह्म

Scanned by CamScanner
ankurnagpal108@gmail.com

भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"। इति

जैसा कि—समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकमूर्ति जगत् जन्मादि के कारण, समस्त वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प शरणागतवत्सल, परमदयालु, न्यूनाधिकता रहित सदा एकरस, परब्रह्म परमपुरुष का अस्तित्व शास्त्र से ज्ञात होता है वैसे ही अहर्निश वर्णाश्रम धर्मानुसार अनुष्ठीयमान, उपासना रूप समाधान से प्रसन्न वे परमात्मा जीवात्मा के अनादिकाल संचित दुस्तर कर्मरूप अविद्या का निवारण करके उसे अपने यथार्थ आत्म्यानुभव रूप अत्यानंदमयता की प्राप्ति कराते हैं और पुनः संसार में नहीं जाने देते, यह भी शास्त्र से ही ज्ञात होता है। जैसे कि--"आजीवन वह इस प्रकार आचरण करते हुए ब्रह्म-लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता लौटकर नहीं आता" इत्यादि। भगवान ने स्वयं भी कहा है--"मुझे प्राप्त करके उपासक, इस दुःखालय अशाश्वत संसार को नहीं प्राप्त करता, परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन ! ब्रह्म सहित ये सारे लोक पुनः नष्ट हो जाते हैं पर मुझे प्राप्त करने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता" इत्यादि।

न चोच्छिन्नकर्मबंधस्यासंकुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभवैकस्वभावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्माऽनुभवतोऽन्यापेक्षा-तदर्थारम्भाद्यसंभवात् पुनरावृत्ति शंका।

न च परमपुरुषः सत्यसंकल्पोऽत्यर्थं प्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्त्तयिष्यति, य एवमाह—"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं स च ममप्रियः, उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्, बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति। सूत्राभ्यासः शास्त्र परिसमाप्तिं द्योतयति। इति सर्वं समंजसम्।

कर्मबन्धनों से मुक्त, विकसित ज्ञान, परब्रह्मानुभव स्वभाव, एक-मात्र परमात्मा से ही प्रेम करने वाले, अत्यधिक आनंद में मग्न, एक-

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com

मात्र ब्रह्मानुभव में ही रत, जीव की पुनरावृत्ति की शंका की भी नहीं जा सकती।

और न अत्यंत प्रिय सत्य संकल्प परमपुरुष को प्राप्त कर कभी लौट ही सकता है, जैसा कि कहा गया है—"मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है, और मैं उसे प्रिय हूँ, वैसे सारे ही उपासक उदार हैं, पर ज्ञानी उपासक तो मेरी आत्मा ही है। वह सही मार्ग में स्थित महात्मा मेरी ही गति को प्राप्त करता है, अनेकों जन्मों में ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त करते हैं, जो कि सब कुछ वासुदेव है ऐसा मानते हैं, ऐसे महात्मा बड़े सुदुर्लभ हैं।" इत्यादि। सूत्र में जो दो बार शब्द का अभ्यास किया गया है वह परिसमाप्ति का द्योतक है। सारे समाधान हो गए अस्तु।

चतुर्थं अध्याय चतुर्थं पाद समाप्त

ग्रन्थ पूर्ण

સમરીતિ મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જાયતાઽજાનવી નાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥
Ankur Nagpal

Scanned by CamScanner ankurnagpal108@gmail.com